ओ३म्

अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

(षष्ठसप्तमाष्टमाध्यायात्मकस्तृतीयो भागः)

लेखिका -

पदवाक्यप्रमाणज्ञ स्व० श्री पं० ब्रह्मदत्तजी जिज्ञासु की अन्तेवासिनी

कु० प्रज्ञादेवी व्याकरणाचार्या, विद्यावारिधि

आचार्या-पाणिनि कन्या महाविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक-

रामलाल कपूर ट्रस्ट

सोनीपत (हरियाणा)

रामलाल कपूर ट्रस्ट ग्रन्थमाला–३२

ओ३म्

अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

[षष्ठसप्तमाष्टमाध्यायात्मक तृतीय भाग]

लेखिका–

पदवाक्यप्रमाणज्ञ स्व॰ श्री पं॰ ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु की अन्तेवासिनी

कु॰ प्रज्ञादेवी व्याकरणाचार्या, विद्यावारिधि

आचार्या– पाणिनि कन्या महाविद्यालय, वाराणसी

प्रकाशक–

रामलाल कपूर ट्रस्ट

ग्राम रेवली, पो॰ शाहपुरतुर्क

जि॰ सोनीपत– १३१००१

(हरियाणा)

ट्रस्ट के उद्देश्य-

प्राचीन वैदिक साहित्य का अन्वेषण, उसकी रक्षा तथा
प्रचार एवं भारतीय संस्कृति, भारतीय शिक्षा,
भारतीय विज्ञान और चिकित्सा
द्वारा जनता की सेवा।

प्रकाशक-
रामलाल कपूर ट्रस्ट
ग्राम रेवली, पो० शाहपुरतुर्क
जि० सोनीपत- १३१००१
(हरियाणा)

अष्टम वार- १००० प्रति
आश्विन, सं० २०५९,
सितम्बर, सन् २००२

मूल्यम् - १००.००

मुद्रक-
राधा प्रेस
गांधी नगर, दिल्ली

सम्पादकीय

पाठकों की सेवा में अष्टाध्यायी-भाष्य का तृतीय भाग उपस्थित करते हुए महान् हर्ष हो रहा है। स्वर्गीय पूज्य गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त जी जिज्ञासु ने इस महान् कार्य को अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में आरम्भ किया था, और वे इसकी पूर्णता के लिये कृतसंकल्प थे। दैवयोग से यह उनके जीवनकाल में पूर्ण न हो सका। न केवल मुद्रण ही अपूर्ण रहा, अपितु अष्टाध्यायी-भाष्य के अन्तिम तीन अध्यायों का भाष्य भी वे न लिख सके। हमारे लिये यह कार्य कितना क्लिष्ट और परिश्रमसाध्य था, यह इस विषय के विज्ञ पाठक ही जान सकते हैं। षष्ठ सप्तम अष्टम अध्यायों की व्याख्या लिखकर ग्रन्थ को पूर्ण करना आवश्यक था। अन्यथा ग्रन्थ के अधूरे रह जाने से अष्टाध्यायी के पठन-पाठन की सुगमता के लिये जिस उद्देश्य से पूज्य आचार्यवर ने यह महान् कार्य आरम्भ किया था, वह पूर्ण न होता। अधूरा ग्रन्थ पठन-पाठन के लिये उपयोगी न होता।

आचार्यवर की भावना के अनुसार इस महान् कार्य को पूर्ण करने का भार उनके शिष्यों पर आ गया था। ऐसे समय में श्री प्रज्ञादेवी व्याकरणाचार्या ने इस ग्रन्थ को पूर्ण करने का भार अपने ऊपर लेकर समस्त शिष्यों को उक्त चिन्ता से मुक्त कर दिया। श्री प्रज्ञादेवी का इस ग्रन्थ की रचना में आरम्भ से ही पूर्ण सहयोग रहा था। अतः वे आचार्यवर की भावना और शैली से पूर्णतया विज्ञ थीं। इसलिये उनके द्वारा इस कार्य की पूर्ति होने से ग्रन्थ में एकरूपता भी विद्यमान रही है। रचना-शैली की समानता इतनी पूर्ण है कि यदि इस भाग पर उनका नाम न दिया जाता, तो यह कहना भी कठिन होता कि इस भाग की रचना अन्य व्यक्ति ने की है।

इस महान् कार्य की पूर्ति के द्वारा जहाँ श्री प्रज्ञादेवी जी अपने गुरुचरण के ऋण से उऋण हुईं, वहाँ अष्टाध्यायी के पठन-पाठन में प्रवृत्त छात्रों वा अध्यापकों की भी वे अभिनन्दनीया बनीं।

ग्रन्थ के मुद्रण से पूर्व मैंने इस भाग को भले प्रकार देख लिया है। मैं इस कार्य से पूर्ण सन्तुष्ट हूं। इसमें यत्र-तत्र मैंने कुछ आवश्यक संशोधन

वा परिवर्धन भी कर दिये हैं। आशा है यह भाग भी छात्रों और अध्यापकों के लिए पूर्ववत् ही उपयोगी होगा।

आर्थिक सहयोग

इस भाग के छापने के लिये भी श्री भ्राता महेन्द्रकुमार जी कपूर की प्रेरणा से द्वितीय भाग के प्रकाशन में सहायक माननीय धर्मानुरागी श्री बाबू देवीचन्दजी मेहरा (बम्बई) ने ८०००) आठ सहस्र रुपये की सहायता प्रदान की है। इसके लिये मैं उनका तथा भ्राता महेन्द्र जी का अत्यन्त आभारी हूं, और आशा करता हूं कि ऐसे पवित्र विद्यादानरूपी कार्य में आगे भी इसी प्रकार सहयोग करते रहेंगे।

श्री जिज्ञासु स्मारक निधि

श्रीपूज्य आचार्यवर्य की स्मृति में ५००००) पचास सहस्र रुपये की स्मारक निधि स्थापित करने का जो मैंने संकल्प किया था, उसमें श्री आचार्यवर के भक्तों, शिष्यों वा प्रेमीजनों के सहयोग वा प्रेरणा से अभी तक लगभग ३५७५०) पौने छत्तीस सहस्र रुपया इकट्ठा हो गया है। इसमें माननीय श्री देवीचन्द जी मेहरा ने अष्टाध्यायी-भाष्य के द्वितीय-तृतीय भाग के मुद्रण के लिये १३०००) तेरह सहस्र रुपये प्रदान किये। और माननीया माता श्रीमती भागवन्तीजी धर्मपत्नी श्री हरिश्चन्द्रजी बत्रा (भिवानी) ने संस्कारविधि और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका के मुद्रणार्थ १००००) दस सहस्र रुपये दिये। माननीय राजा श्री गोविन्दलाल बंसीलालजी ने स्वयं तथा अपने भ्राताओं से मिलकर ३०००) तीन सहस्र रुपये प्रदान किये। शेष रुपया अन्य महानुभावों से प्राप्त हुआ। सभी ने अपनी-अपनी श्रद्धा और सामर्थ्य के अनुसार इस निधि को पूर्ण करने में सहयोग दिया है, और दे रहे हैं। मैं सभी सहायक महानुभावों के प्रति कृतज्ञ हूं कि उन्होंने मेरी प्रार्थना पर ध्यान देकर इतना सहयोग प्रदान किया।

शेष द्रव्य—मेरे ५००००) पचास सहस्र रुपये के संकल्प में केवल १४०००) चौदह सहस्र रुपया शेष रहता है। अब दो कार्य मेरे सम्मुख प्रधानरूप से अवशिष्ट हैं। एक तो सत्यार्थप्रकाश का विशिष्ट-संस्करण प्रकाशित करना। दूसरा पूज्य आचार्यवर की लिखी संस्कृत पठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि को, जो कि प्रधानरूप से शिक्षकों के लिये लिखी गई है, उसे छात्रों के लिये उपयोगी बनाना, और उसका द्वितीय भाग लिखना। सत्यार्थप्रकाश के लिये यद्यपि १५०००) पन्द्रह सहस्र रुपये

की आवश्यकता है, पुनरपि यदि कोई धर्मानुरागी महानुभाव १००००) दस सहस्र रुपये भी प्रदान कर दें, तो यह कार्य कथंचित् हो सकता है। द्वितीय कार्य के लिये भी लगभग ३०००) तीन सहस्र रुपया अपेक्षित है।

विशेष—इस भाग की छपाई का व्यय मंहगाई के कारण पूर्व भागों की अपेक्षा २३ प्रतिशत बढ़ गया है और आबन्धन (=जिल्द) का व्यय भी पर्याप्त बढ़ा है। इस भाग की पृष्ठ संख्या भी द्वितीय भाग से लगभग २०० अधिक है, पुनरपि ग्राहकों और विशेषतया अध्ययनार्थियों की वर्तमान आर्थिक कठिनाई को ध्यान में रखते हुए, मूल्य केवल नाम मात्र ही रखा है।

मुद्रणकार्य में सहयोग

तारायन्त्रालय के अधिपति श्री आनन्दशंकर पण्ड्या प्रभृति महानुभावों ने जिस प्रेम-उदारता-परिश्रम और सौजन्य से इस ग्रन्थ को सुन्दर और शीघ्र छापने में, विशेषकर स्वरप्रकरण के उदाहरणों को सस्वर छापने में जो सहायता की है, उसके लिए मैं उनका अतिशय धन्यवाद करता हूं।

श्री पं० विजयपाल जी, विदुषी प्रज्ञादेवी व्याकरणाचार्या, ब्र० वेदप्रकाश आदि और ब्र० सुमेधा ने ग्रन्थ के प्रूफ शोधन के गुरुतर कार्य को सुचारुरूप से सम्पन्न किया है, इसके लिये मैं इन सबके प्रति शुभ कामना करता हूं। वस्तुत यह कार्य इन्हीं का है, और आगे भी इन्हीं को करना है, मैं तो निमित्तमात्र हूं।

पाणिनि महाविद्यालय
मोतीझील, वाराणसी

विदुषां वशंवदः—
युधिष्ठिर मीमांसक

प्राक्कथनम्

अष्टाध्यायी भाष्य-प्रथमावृत्ति के इस तृतीय भाग को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुये मुझे आज जितनो अधिक सन्तोष एवं प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है, उतना ही किसी अभाव-जनित परिताप से हृदय व्यथित भी हो रहा है। लगभग १९६० के आरम्भ में आर्ष-पाठविधि के समुद्धारक परम श्रद्धेय पूज्य गुरुवर श्री पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु जी द्वारा इस कार्य का शुभारम्भ किया गया था। किन्तु दुर्भाग्यवश बीच में ही उनके स्वर्गत हो जाने से इस भाग का लेखनकार्य मेरे द्वारा सम्पन्न हुआ। अष्टाध्यायी-भाष्य के लेखनकार्य में मैं प्रारम्भ से ही पूज्य गुरुवर्य के साथ सहायक रूप में कार्य करती रही। उन दिनों उनकी शारीरिक शक्ति एवं स्वास्थ्य को क्षीण से क्षीणतर होते हुए देखकर, मेरे मन को हठात् यह दुश्चिन्ता आलोकित करती रहती थी कि 'यह कार्य उनके जीवनकाल में पूर्ण कैसे होगा'? मृत्यु से एक वर्ष पूर्व जम्मू में हुये मरणान्तक हृदय के कष्ट के पश्चात् तो वे स्वयं भी इसकी पूर्ति के लिये सशङ्क एवं चिन्तित रहने लगे थे। जम्मू में मृत्यु-शैया पर पड़े हुए भी पूज्य गुरुवर्य के मुख पर दो ही वाक्य थे "ओ३म्, अष्टाध्यायी का काम करना"। स्पष्ट है कि ये दोनों ही बातें उनके जीवन की निचोड़ स्वरूप थीं, जिन्हें उन्होंने मृत्यु समकाल में भी स्मरण किया। अष्टाध्यायी के अध्ययन-अध्यापन के प्रति उनकी गहरी आस्था एवं निष्ठा संस्कृत-जगत् में छिपी नहीं है। इसी कारण तो अन्त्येष्टि क्रिया में आये हुए शोक-सन्तप्त जनों के मुख से उस समय "अष्टाध्यायी का एक युग समाप्त हो गया" ये ही दुःखार्त्त शब्द सुने गये। जीवनभर वे आर्ष पाठविधि की प्रचाररूपी-साधना में रत रहे एवं जीवनोपरान्त भी इस कार्य का विस्तार अधिकाधिक हो, यही उन की अन्तिम कामना रही।

वे शीघ्र ही हम लोगों के बीच से महाप्रयाण कर गये। जीवन की सान्ध्यवेला में ही हम लोग (हम तीनों—मैं, बहिन सुमेधा, एवं भाई सुद्युम्न) उनके श्रीचरणों में आये। लगभग १० वर्षों का ही उनका सान्निध्य हम लोगों को प्राप्त हो सका। अत: उनके विद्यारूपी उदधि से कुछ मुक्ता-कण ही हम सब चुन सके, इसका सन्ताप तो अब सदा ही रहेगा !!!

हमारे पूज्य पिता जी स्व० श्री कमलाप्रसाद जी आर्य, संस्कृत-विद्या के अतीव अनुरागी एवं भक्त थे। अध्यापक पद पर कार्य करते हुए अत्यन्त आर्थिक हीनावस्था में भी प्रायः ग्रीष्मावकाश के समय वे पूज्य गुरुजी के श्रीचरणों में अध्ययनार्थ उपस्थित हुआ करते थे। यद्यपि हम लोग उस समय स्वल्पायु के ही थे, पुनरपि पारिवारिक अत्यन्त विपन्न दशा का कुछ परिज्ञान होने के कारण हमारी पूज्य माताजी एवं पिताजी ने उस समय कितने आर्थिक कष्ट उठाये, यह सोचकर आज भी मन सिहर उठता है। यह सब होने पर भी हमारे पिताजी को पुस्तकें खरीदने एवं स्वाध्याय का तो जैसे व्यसन ही पड़ गया था। अपने पीछे पैतृक सम्पत्ति के रूप में वे लगभग ५०० पुस्तकें, जिनमें महर्षि दयानन्द जी की प्रत्येक पुस्तक, व्याकरण में महाभाष्यादि, तथा कुछ ऐसी भी पुस्तकें सम्मिलित हैं जिनका प्राप्त होना भी सभी पुस्तकालयों में सम्भव नहीं, हम सब के लिये छोड़ गये। आज उन पुस्तकों के पन्ने पलटते हुए मुझे प्रत्येक पृष्ठ में अपनी पूज्य माता जी एवं पिता जी के परिश्रम-जनित स्वेद-कणों के दर्शन होते हैं।

रीवाँ राज्य में रहते हुए हमारे पूज्य पिताजी ने अष्टाध्यायी-पद्धति से व्याकरण सीखने के लिये अति कष्ट उठाया था। ज्येष्ठ की दुपहरी में नङ्गे पैर अथवा पादुका मात्र धारण कर वे ४—५ मील दूर पैदल प्रायः पण्डितजनों से अध्ययन के लिये जाते थे, किन्तु उन सबके सिद्धान्त-कौमुदी-पद्धति से पढ़े होने से, अष्टाध्यायी ठीक प्रकार पढ़ा न सकने के कारण वे कभी भी सन्तोषलाभ नहीं कर पाते थे। वे पण्डितजन सूत्रार्थ को तो कभी हृदयङ्गम करा ही नहीं पाते थे। अतः वे अति व्यथित होकर प्रायः कहते थे मेरे कुल में एक बार संस्कृतविद्या का प्रवेश हो जाये, फिर तो उसे कभी नहीं जाने देंगे। काश ! कि इस समय वे विद्यमान होते, और अपनी इच्छा की पूर्ति देखकर तृप्त हो पाते !! महर्षि दयानन्द सरस्वती का अष्टाध्यायी-भाष्य ३ अध्याय तक ही है, इससे आगे का कार्य भी अवश्य होना चाहिये, ऐसी प्रबल इच्छा पिताजी के मन को बहुधा उत्पीड़ित करती थी। वे मर्माहत से होकर प्रायः कहा करते थे— 'वेदभाष्य तो लोग कर ही रहे हैं, अब तो अष्टाध्यायी-भाष्य होना चाहिये'। इन्हीं सब पैतृक संस्कारों के वशीभूत मुझे इस कार्य को करने में प्रारम्भ से ही अति रुचि रही है।

विधि का विधान अति विचित्र है !!! पूज्य गुरुवर्य के जीवन की ४० वर्ष की साध एवं पूज्य पिताजी के वे अति धूमिल स्वप्न पुस्तकरूप में,

आज साकार हो गये, इसका उस समय चिन्तन भी नहीं हो सकता था। पूज्य गुरुजी की निर्दिष्ट पद्धत्यनुसार ही इस तृतीय भाग की परिसमाप्ति हुई, यह और भी सन्तोष का विषय रहा है। यद्यपि आज शरीरमात्र से दोनों का ही अभाव है, किन्तु उनकी दिवङ्गत आत्माएं अवश्य इस कार्य से प्रसन्न हो सकेंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

प्रथमावृत्ति के इस तृतीय भाग में पहले के दो भागों की अपेक्षा कुछ अन्य विशेषताएं भी हैं, ऐसा तो मैं नहीं कह सकती। क्योंकि इस प्रथमावृत्ति ग्रन्थ का प्रारूप प्रारम्भ में ही अति विचारपूर्वक पूज्य गुरु जी द्वारा तैयार किया गया था। अतः इस भाग में कुछ न्यूनाधिकता करने का कोई प्रश्न ही नहीं था। पुनरपि इतना तो निःसन्दिग्धरूप से कहा जा सकता है कि इस भाग में स्वर एवं अङ्गाधिकार का विषय विशेषरूप से होने से यह भाग पहले की अपेक्षा अधिक परिश्रमसाध्य रहा है। उसमें भी षष्ठाध्याय के स्वर की अपेक्षा अष्टमाध्याय के स्वर एवं प्लुत प्रकरण ने तो मुझे यह सोचने के लिये बाध्य कर दिया कि प्रथमावृत्ति, जो हम सब आज तक बिना पुस्तक का आश्रयण किये पढ़ते-पढ़ाते रहे हैं, उसमें भी विचार की ऐसी बहुत सी बातें हैं, जिन पर आज तक ध्यान ही नहीं जाता रहा। व्याकरण के व्याख्यान-ग्रन्थों में स्वर एवं वेदविषय का कोई भी प्रामाणिक ग्रन्थ अभी तक हमारे सामने न होने से यह कठिनाई और भी अधिक रही है। अतः व्याकरण-विषय के प्राचीनतम उदाहरणों की परम्परा के परिरक्षणार्थ उदाहरण हमने सर्वत्र महाभाष्य एवं काशिका (काशिका के अश्लील उदाहरणों को छोड़कर) के अवश्य ही दिये हैं (यद्यपि इस विषय के अन्य प्रसिद्ध उदाहरण भी दिये जा सकते थे,) अतः हमें न्यास एवं पदमञ्जरी व्याख्या ग्रन्थों का ऐसे स्थलों में विशेषरूप से पर्यनुशीलन करना पड़ा है। जिससे हमें यह अनुभव हुआ कि ऐसे स्थलों में न्यास का व्याख्यान प्रायेण अशुद्ध है। पदमञ्जरी का व्याख्यान यद्यपि ऐसे स्थलों में न्यास की अपेक्षा प्रौढ़ एवं प्रामाणिक है, पुनरपि उसके अति संक्षिप्त होने से वह सर्वत्र हमारे कार्य में पूर्णतया उपयोगी न हो सका। ऐसे स्थलों पर बहुविध पुस्तकें देखकर एवं मननपूर्वक हमने विषय के स्वरूप का ठीक-ठीक दिग्दर्शन, बिना विषय को जटिल बनाये सरल भाषा में करने का यत्न किया है। कहीं-कहीं तो प्रथमावृत्ति के विषय से अधिक हो जाने के भय से इङ्गितमात्र ही किया है।

स्वर-चिह्न एवं स्वर-सिद्धि

प्रत्येक स्वरसूत्र के उदाहरणों में हमने स्वर-चिह्नों का निर्देश किया है। हमारा यह प्रयत्न निःसन्देह स्वर विषयक क्लिष्टता को दूर करने में परम सहायक होगा। स्वरचिह्न युक्त उदाहरणों के आज तक कहीं पर भी अन्यत्र मुद्रित न होने से यह कार्य सर्वथा नवीन है। एवं मुद्रण की दृष्टि से अक्षरों के साथ स्वरचिह्नों के टाइप ढले न होने से यह कार्य हमारे लिये अत्यन्त कष्ट साध्य भी रहा है। अति प्रयत्न करने पर भी दो-तीन स्थलों में छपते-छपते स्वरचिह्न अथवा अक्षर टूट गये हैं, जिन के लिये हम विवश रहे हैं। इसके अतिरिक्त स्वर सिद्धियों में हमने औणादिक शब्दों को व्युत्पन्न मानकर ही उनमें अष्टाध्यायी के सूत्रों की प्राप्ति दर्शायी है, यह जान लेना चाहिये। फिट् सूत्रों को तो आगतिक गति मान कर ही कहीं-कहीं स्वीकार किया है। न्यास एवं पदमञ्जरी में कहीं-कहीं एक ही स्थल पर इस प्रकार की प्रक्रिया का भेद होने से सूत्र-प्राप्ति में अन्तर दिखाई देता है।

वैदिक उदाहरण एवं उनके सन्दर्भ

इस प्रथमावृत्ति के पूर्व के दो भागों में भी वैदिक उदाहरणों के सन्दर्भ देने का कार्य किया था। अतः हमने इस भाग में भी इस कार्य को बड़े मनोयोग से किया है। वैदिक सन्दर्भों के साथ-साथ इस बार काशिका के विभिन्न संस्करणों का भी मिलान करते रहने से यह बात विशेष रूप से सामने आई कि आज तक भी काशिकादि में वैदिक उदाहरण बहुत अधिक अशुद्ध मुद्रित होते रहे हैं, एवं उनके प्रभूत पाठान्तर विभिन्न संस्करणों में हैं। ज्यों-ज्यों मुझे इस विषय के पाठान्तर मिलते गये, त्यों-त्यों शुद्ध मुद्रण की चिन्ता से उदाहरणों के सन्दर्भ खोजने के कार्य में मेरा उत्साह बढ़ता गया। केवल न्यास पदमञ्जरी के आधार पर इन उदाहरणों की शुद्धता की प्रामाणिकता नहीं हो सकती; क्योंकि इन ग्रन्थों का पाठ भी अति भ्रष्ट है। इस दृष्टि से हमारे इस कार्य से उदाहरणों की शुद्धता के निर्णय में एक नया प्रकाश पड़ेगा, ऐसा कहा जा सकता है।[1]

हमने ऐसे सम्पूर्ण सन्दर्भ खोज लिये हैं, ऐसा तो नहीं कहा जा सकता। क्योंकि सूचियों के आधार पर अनेक उदाहरणों का मूल हमें अभी तक प्राप्त नहीं हो सका है, जिनमें बहुत से वेद की विलुप्त

---

१. पाणिनि आफिस इलाहाबाद से प्रकाशित अंग्रेजी वाली काशिका में केवल उदात्त स्वर पर 'उ' चिह्न दिया गया है, किन्तु वह बहुत स्थलों पर अशुद्ध है।

शाखाओं के हो सकते हैं, तथा कुछ उपलब्ध शाखाओं में भी प्राप्त हो सकते हैं, ऐसा मेरा विचार है। क्योंकि सूचियों के ही आधार पर अनुपलब्ध मूल उदाहरण उपलब्ध शाखाओं में नहीं हैं, ऐसा विश्वास पूर्वक नहीं कहा जा सकता। अतः ऐसे उदाहरणों पर बहुत कुछ परिश्रम करना अभी शेष है। हमें कतिपय स्थलों पर वैदिक उदाहरणों की उतनी आंशिक आनुपूर्वी, जिससे सूत्र का प्रयोजन सिद्ध हो जाता था, मिल गई। पुनरपि प्राचीन उदाहरणों के क्रम भङ्ग होने के भय से हमने वह सन्दर्भ नहीं दिखाया है। तद्यथा—**ऊर्णम्रदाः पृथिवी विश्वधायसम्, ससूव स्थविरम् विपश्चिताम्,** इन उदाहरणों में **ऊर्णम्रदाः पृथिवी** (अथ० १८।३।४९); **ससूव स्थविरम्** (ऋ० ४।१७।१०) इतना अंश वेद में प्राप्त है। वस्तुतः ऐसे स्थल अभी कुछ विचार कोटि में हैं। वेद का विषय इतना महान् एवं विशाल है कि इसके विषय में तत्क्षण ही इदमित्थमेव कहा ही नहीं जा सकता। अतः हमें भी ऐसे स्थलों में कहीं-कहीं पाठ विशेष के स्वीकार करने में कोई दृढ़ प्रमाण न होने पर भी किसी पाठ विशेष को रखना पड़ा है। उदाहरणार्थ—**ङ्याप्पोः संज्ञा०** (६।३।६१) के उदाहरण कुमारिदाः उर्विदाः के कई पाठान्तर काशिकादि में प्राप्त होते हैं, लेकिन वेद में सभी अनुपलब्ध हैं। काठक संहिता एवं आप० श्रौत, आदि में **'कुमारीदाः प्रफर्वीदाः'** ऐसा दीर्घान्त पाठ मिलता है। सम्भव है इस उपलब्ध पाठ का ही ह्रस्वान्त पाठ किसी शाखा का हो, जिसके ये सूत्रगत उदाहरण हैं। वेद की कितनी ही शाखाओं के लुप्तप्राय हो जाने से आज तो पाणिनि मुनि प्रणीत **आपो जुषाणो०** (६।१।११४) -सूत्र भी बड़ा ही उद्वेजक हो गया है। इस सूत्र में अम्बिके शब्द से पूर्व अम्बे अम्बाले को प्रकृतिभाव कहा है। काशिका में भी 'अम्बे अम्बाले अम्बिके' के लिये **'यजुषीदमीदृशमेव पठ्यते'** कहा है, किन्तु उपलब्ध वैदिक वाङ्मय में कहीं पर भी ऐसी आनुपूर्वी उपलब्ध नहीं होती। हां, मैत्रायणी संहिता आदि में अम्बे अम्बाल्यम्बिके, अम्बे अम्बिके अम्बाले, ऐसी आनुपूर्वी तो मिलती है। पाणिनि मुनि के सूत्रानुसार उनकी आनुपूर्वी को लुप्तशाखीय ही मानना होगा, जो कि काशिका के काल तक प्राप्त रही। अथवा यह भी सम्भावना हो सकती है कि काशिका ने यह आनुपूर्वी किसी प्राचीन वृत्तिग्रन्थ से ली हो।

उदाहरणों के अर्थ

उदाहरणों के अर्थ देने का कार्य यद्यपि प्रथम भाग से प्रारम्भ किया

गया था, किन्तु आगे चलकर पूर्णरूप से इसका निर्वाह न हो सका था। अतः हमने भी इस भाग में कुछ संशयास्पद स्थलों में ही हिन्दी में अर्थ लिखे हैं, अन्यत्र विग्रहादि से भाव स्पष्ट कर दिया है। हमारा विचार है कि आगे चलकर अष्टाध्यायी के (काशिका महाभाष्य के) सभी उदाहरणों का एक पाणिनि-कोष तैयार किया जावे, जो कि व्याकरण-ग्रन्थ से पृथक् होने से अधिक उपयुक्त रहेगा।

अनुवृत्ति-अधिकार

इस प्रथमावृत्ति में सूत्रार्थ ज्ञान में परम सहायक 'अनुवृत्तियां' तो सर्वत्र दिखाई ही गई हैं, साथ ही दो-तीन अध्याय पर्यन्त जानेवाले लम्बे-लम्बे अधिकार एवं उत्कर्षण, तथा मण्डूक-प्लुति-न्यायवाली अनुवृत्तियों का भी दिग्दर्शन कराया गया है। यह कार्य उपयोगी होते हुए अत्यन्त परिश्रम-साध्य भी रहा है। सच तो यह है कि सिद्धान्त-कौमुदी आदि प्रक्रिया-ग्रन्थों में जितना ही अनुवृत्ति वा अधिकार को उपेक्षित करके सूत्रार्थ को अत्यन्त जटिल बना दिया गया, उतना ही इस प्रथमावृत्ति में अनुवृत्ति वा अधिकार-निर्देश को प्रमुख स्थान देकर सूत्रार्थ को सहज बनाने का प्रयत्न किया गया है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में प्राचीन काल के अध्ययन-अध्यापन की सुगम पद्धति को पुनरुज्जीवित किया गया है। इस परिश्रम का आधार लेकर कालान्तर में पृथक् अनुवृत्ति अधिकारवाली अष्टाध्यायी भी पाठकों की सुविधा के लिये मुद्रित की जा सकती है।

इस प्रकार यह निश्चयरूप से कहा जा सकता है कि प्रथमावृत्ति-ग्रन्थ में प्रथमावृत्ति सम्बन्धी प्रत्येक सूत्र के सातों अङ्गों (सूत्र का पदच्छेद-विभक्ति-समास-अनुवृत्ति-अधिकार-अर्थ-उदाहरण और सिद्धि) पर जो भी कार्य हुआ है, वह व्याकरणज्ञान के लिये अति उपादेय एवं अनूठा है। इससे विद्यार्थी तथा अध्यापक दोनों ही उपकृत हो सकेंगे। यह ग्रन्थ प्रक्रिया-ग्रन्थों की दुरूहता के कारण लोगों में वर्षों से उत्पन्न हुई 'संस्कृत रटने की ही विद्या है' इस भ्रान्त धारणा को भी समाप्त कर सकेगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

कृतज्ञता-प्रकाश

सर्वप्रथम मैं परमपिता परमात्मा की अनन्त अनुकम्पा पर बलिहार जाती हूं, कि जिसकी कृपा के फलस्वरूप यह शुभ कार्य आज परिसमाप्त हो पाया है। तदुपरान्त मैं अपने पितृतुल्य पूज्य गुरुवर्य श्री पं० ब्रह्मदत्त

ज़िज्ञासु जी के असीम उपकारों के प्रति कोटिशः नतमस्तक हूं कि जिनकी कृपा के हेतु ही मैं सच्चे माने में मानव कहलाने की अधिकारिणी हुई। इस छोटे से प्रयास को गुरु-ऋण से मुक्त होने का साधन बताना तो अति धृष्टता होगी। भला कोई अकिञ्चन अपरिमित धनराशि का मूल्य दे ही क्या सकता है ? अतः मेरी दृष्टि में इस कार्य को 'परजनहिताय स्वान्तःसुखाय' समझना ही उचित होगा। इसके अतिरिक्त मैं, विद्वद्वर्य पूज्य पं० शुकदेव झा जी, जिनसे मैं व्याकरण के विविध ग्रन्थ पढ़कर बहुविध लाभ प्राप्त करती रही हूं, एवं जिनकी वात्सल्यपूर्ण कृपा दृष्टि की मैं विशेष पात्र हूं, के प्रति भी अपनी तुच्छ श्रद्धाञ्जलियां अर्पित करती हूं।

पूज्य गुरु जी के निधन के पश्चात् इस कार्य को करने में जिन महानुभावों से मुझे प्रेरणा एवं उत्साह मिला है, उनमें विशेष उल्लेखनीय हैं–पूज्य पं० युधिष्ठिर जी मीमांसक। इस कार्य की पूर्ति के लिये मैंने आपके अन्तस्तल में उतनी ही चिन्ता के दर्शन कई बार किये हैं, जितनी पूज्य गुरु जी में दृष्टिगोचर होती थी। इतना ही नहीं, मुद्रण से पूर्व सम्पूर्ण पाण्डुलिपि को देखकर आपने यथावसर संशोधन करने की कृपा की है, तथा कतिपय स्थलों में विद्वत्तापूर्ण टिप्पणियां देकर ग्रन्थ के स्वरूप को द्विगुणित कर दिया है। मैं उनकी इस महती कृपा की अत्यन्त ही आभारी हूं। प्रकाशनसम्बन्धी प्रत्येक प्रकार का भार भी श्री रामलाल कपूर ट्रस्ट के मुख्य प्रतिनिधि स्वरूप पूज्य पण्डित जी पर ही होने से उस सम्बन्ध में भी मैं अपनी हार्दिक कृतज्ञता आपके प्रति व्यक्त करती हुई विराम लेती हूं।

इसके अतिरिक्त मैं श्री पं० विजयपाल जी शास्त्री बी० एस सी०, जिन्होंने पाण्डुलिपि सम्बन्धी कतिपय उचित सुझावों को देने एवं मुद्रणपत्रादि देखने जैसे कठिन कार्यों में सहयोग किया है, की मैं हृदय से अनुगृहीत हूं। मेरी अनुजा कु० सुमेधा देवी, जो महाभाष्य निरुक्तादि पढ़ चुकी हैं, ने जिस तत्परता लगन एवं परिश्रम से इसके मुद्रणपत्र तथा पाण्डुलिपि देखने में अपना अधिकाधिक समय लगाया है, उसके विषय में अधिक कुछ कहना तो अपनी ही स्वात्म प्रशंसा होगी। अतः इसके प्रति मैं अपनी अशेष शुभ कामनायें व्यक्त करके ही विरत होती हूं।

मेरी पूज्या जननी श्रीमती हरदेवी जी आर्या, जिन्होंने हम लोगों के निर्माणार्थ अति कष्ट उठाये हैं, तथा अनुज प्रिय सुद्युम्न जी शास्त्री को भी कदापि इस क्षण विस्मृत नहीं किया जा सकता। पूज्य गुरु जी के निधन के

पश्चात् सर्वत्र माताओं एवं बहिनों से मुझे जितना अधिक प्रेम विश्वास एवं हार्दिक सम्मान प्राप्त हुआ है, वह मेरे सम्बल को प्रतिक्षण अक्षुण्ण बनाये रखने में परम सहायक रहा है। मेरी ईश्वर से प्रार्थना है कि मेरी बहिनें मुझसे जिस प्रकार की सात्त्विक आशायें रखती हैं; मैं प्रतिपल उस के अनुरूप ही सिद्ध हो सकूं।

मनुष्य स्वल्पज्ञ है, अतएव इस कार्य को सावधानता से करते हुये भी कहीं-कहीं लेखन एवं मुद्रणसम्बन्धी भूल हो जाना सम्भव ही है, विशेषतः जब कि मैं अन्य शोधादि कार्यों में भी व्यस्त रही हूं। अतः इसके लिये भी मैं अपने सुज्ञ पाठकों से क्षमा याचना करती हुई आशा करूंगी कि वे यथा-समय ऐसी भूलों को मुझे सुझाने का यत्न करेंगे, जिससे वे अगले संस्करण में दूर की जा सकें॥

निवेदिका—
कु० प्रज्ञा देवी

मकर संक्रान्ति २०२४ वि०
१५ जनवरी १९६८ ई०

पो० अजमतगढ़ पैलेस
मोतीझील वाराणसी-१

अष्टाध्यायी-भाष्य-प्रथमावृत्ति

[अध्याय ६-७-८]

अथ षष्ठोऽध्यायः

प्रथमः पादः

[द्वित्वप्रकरणम्]

एकाचो द्वे प्रथमस्य ॥६।१।१॥ द्वित्व

एकाचः ६।१॥ द्वे १।२॥ प्रथमस्य ६।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्य एकाचः, बहुव्रीहिः ॥ **अर्थः**—प्रथमस्य एकाचो द्वे भवत इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ **उदा०**—जजागार, पपाच, इयाय, आर ॥

भाषार्थः—[प्रथमस्य] प्रथम [एकाचः] **एक अच्वाले समुदाय को** [द्वे] **द्वित्व हो जाता है । यह अधिकार ६।१।११ सूत्र तक जानना चाहिये ॥ द्वित्व का अभिप्राय है—एक का दो बार उच्चारण करना ॥**

अजादेर्द्वितीयस्य ॥६।१।२॥ द्वित्व

अजादेः ६।१॥ द्वितीयस्य ६।१॥ स०—अच् आदिर्यस्य सः अजादिः, तस्य···
···बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—एकाचः, द्वे ॥ **अर्थः**—अजादेर्द्वितीयस्य एकाचो द्वे भवत इत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ **उदा०**—अटिटिषति, अशिशिषति, अरिरिषति ॥

भाषार्थः—[अजादेः] **अच् है आदि में जिसके ऐसे शब्द के** [द्वितीयस्य] **द्वितीय एकाच् समुदाय को द्वित्व होता है ॥ यह अधिकार भी ६।१।११ तक जानना चाहिये ॥**

यहां 'द्वितीयस्य' ग्रहण सामर्थ्य से 'प्रथमस्य' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता है ॥

न न्द्राः संयोगादयः ॥६।१।३॥ द्वित्व

न अ० ॥ न्द्राः १।३॥ संयोगादयः १।३॥ स०—नश्च दश्च रश्च न्द्राः, इतरेतरद्वन्द्वः । संयोगस्य आदयः संयोगादयः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ **अनु०**—अजादेर्द्वितीयस्य, एकाचः, द्वे ॥ **अर्थः**—अजादेर्द्वितीयस्य एकाचः अवयवभूताः संयोगादयो नकारदकाररेफाः न द्विरुच्यन्ते । पूर्वेण प्राप्तं द्वित्वं प्रतिषिध्यते ॥ **उदा०**—उन्दिदिषति, अड्डिडिषति, अर्चिचिषति ॥

भाषार्थः—अजादि के द्वितीय एकाच् समुदाय के [संयोगादयः] संयोग के आदि में स्थित जो [न्द्राः] न् द् र् उनको द्वित्व [न] नहीं होता ।। पूर्व सूत्र से अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त था। यहां यदि द्वितीय एकाच् समुदाय के संयोग के आदिवाला अक्षर नकार दकार या रेफ हो तो उसे द्वित्व न हो, यह निषेध कर दिया ।।

उन्द् धातु में द्वितीय एकाच् के संयोग का आदि 'न्' है, सो उसे द्वित्व न होकर 'दिस् दिस्' द्वित्व होकर उन्दिदिषति (=गीला करना चाहता है) बना। अड्ड धातु में भी ड् को छोड़कर 'डिस् डिस्' द्वित्व होकर अड्डिडिषति (=अभियोग करना चाहता है) बना। ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) से द् को ड् हो गया है। अर्च धातु से अर्चिचिषति (=पूजा करना चाहता है) में भी इसी प्रकार पूर्व सूत्र से प्राप्त रेफसहित को द्वित्व न होकर, रेफ को छोड़कर 'चिस् चिस्' द्वित्व हुआ है। सन्नन्त की पूरी सिद्धि परिशिष्ट में दिखा दी है ।।

पूर्वोऽभ्यासः ।।६।१।४।।

पूर्वः १।१।। अभ्यासः १।१।। अनु०—द्वे ।। द्वे इति प्रथमान्तमत्र षष्ठ्या विपरिणम्यते। अर्थः—ये द्वे विहिते अस्मिन् प्रकरणे तयोर्यः पूर्वः सोऽभ्याससंज्ञो भवति ।। उदा०—पपाच, पिपक्षति, पापच्यते, जुहोति, अपीपचत् ।।

भाषार्थः—जो इस प्रकरण में द्वित्व कहा है, उन दोनों में जो [पूर्वः] पूर्व है, उसकी [अभ्यासः] अभ्यास संज्ञा होती है ।।

जुहोति की सिद्धि भाग १ परि० १।१।६० में देखें। अपीपचत् की सिद्धि परि० ६।१।११ में देखें। सर्वत्र अभ्यास संज्ञा होने से तत्तत् निर्दिष्ट अभ्यास-कार्य हो जाते हैं ।।

उभे अभ्यस्तम् ।।६।१।५।।

उभे १।२।। अभ्यस्तम् १।१।। अनु०—द्वे ।। अर्थः—ये द्वे विहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे भवतः ।। उदा०—ददति, ददतु, दधतु ।।

भाषार्थः—[उभे] जो द्वित्वरूप से कहे गये, वे दोनों (द्वित्व किये हुये दोनों) [अभ्यस्तम्] अभ्यस्तसंज्ञक होते हैं ।।

यहां से अभ्यस्तम् की अनुवृत्ति ६।१।६ तक जायेगी ।।

जक्षित्यादयः षट् ।।६।१।६।।

जक्ष् अविभक्तिकनिर्देशः ।। इत्यादयः १।३।। षट् १।३।। स०—इति आदिः येषां ते इत्यादयः, बहुव्रीहिः ।। अनु०—अभ्यस्तम् ।। अर्थः—जक्ष इति धातुरित्या-

दयश्चान्ये षट् धातवोऽभ्यस्तसंज्ञका भवन्ति ॥ उदा०—जक्षति, जाग्रति, दरिद्रति, चकासति, शासति, दीध्यते, वेव्यते, दीध्यत् ॥

भाषार्थः—[जक्ष्] जक्ष् इस धातु की, और [इत्यादयः] वह आरम्भ में है जिन [षट्] छः धातुओं के उनकी अभ्यस्त संज्ञा होती है ॥ इत्यादि शब्द से यहां जक्ष से आगे की छः धातुओं का ग्रहण है । सो जक्ष् को लेकर कुल सात धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा होगी ॥

पूर्व सूत्र से द्वित्व किये हुये दोनों की ही अभ्यस्त संज्ञा प्राप्त थी । यहां बिना द्वित्व किये हुये सामान्य धातुओं की अभ्यस्त संज्ञा की है ॥

तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य ॥६।१।७॥ अभ्यास - दीर्घ

तुजादीनाम् ६।३॥ दीर्घः १।१॥ अभ्यासस्य ६।१॥ स०—तुज आदिर्येषां ते तुजादयः, तेषां ·········बहुव्रीहिः ॥ आदिशब्दः प्रकारवाची, तुजप्रकारा इत्यर्थः ॥ अर्थः—तुजादीनां धातूनाम् अभ्यासस्य दीर्घो भवति ॥ उदा० – तूतुजानः । मामहानः । अनड्वान् दाधान । स्वधां मीमाय । दाधार । स तूताव ॥

भाषार्थः—[तुजादीनाम्] तुजादि धातुओं के [अभ्यासस्य] अभ्यास को [दीर्घः] दीर्घ होता है ॥ सूत्र में आदि शब्द प्रकारवाची है । तुज के प्रकारवाली, अर्थात् जिनको दीर्घ कहीं कहा नहीं, पर प्रयोग में देखा जाता है, उनके अभ्यास को दीर्घ होता है ॥

लिटि धातोरनभ्यासस्य ॥६।१।८॥ द्वित्व

लिटि ७।१॥ धातोः ६।१॥ अनभ्यासस्य ६।१॥ स०—अनभ्यासस्येत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य ॥ अर्थः—लिटि परतो धातोरवयवस्यानभ्यासस्य प्रथमस्य एकाचोऽजादेर्द्वितीयस्य वा यथायोगं द्वे भवतः ॥ उदा०—पपाच, पपाठ, प्रोर्णुनाव ॥

भाषार्थः—[लिटि] लिट् लकार परे रहते [धातोः] धातु का अवयव [अनभ्यासस्य] अनभ्यास (अर्थात् जिसकी पहले किसी और निमित्त को मानकर द्वित्व होकर अभ्यास संज्ञा नहीं हुई हो) जो प्रथम एकाच एवं अजादि धातु का अवयव जो द्वितीय एकाच् उसको द्वित्व होता है ॥

पपाच पपाठ पूर्ववत् जानें । ऊर्णुञ् धातु से प्रोर्णुनाव बनेगा । अजादि होने से 'ऊ' को द्वित्व नहीं होगा । तथा न न्द्राः संयो० (६।१।३) से रेफ को द्वित्व न होकर नु नाव द्वित्व होकर प्रोर्णुनाव बन गया ॥

यहां से "धातोरनभ्यासस्य" की अनुवृत्ति ६।१।११ तक जायगी ॥

सन्यङोः ॥६।१।९॥

सन्यङोः ६।२॥ स०—संश्च यङ् च सन्यङौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ **अनु०**—धातोरनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य ॥ **अर्थः**—सन्नन्तस्य यङन्तस्य चानभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचोऽजादेर्द्वितीयस्य वा द्वे भवतः ॥ **उदा०**—पिपक्षति, पिपतिषति, अरिरिषति, उन्दिदिषति ॥ यङन्तस्य—पापच्यते, यायज्यते; अटाटयते, अरार्यते, प्रोर्णोनूयते ॥

भाषार्थः—[सन्यङोः] **सन्नन्त और यङन्त धातु के अनभ्यास अवयव प्रथम एकाच् तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है ॥**

श्लौ ॥६।१।१०॥

श्लौ ७।१॥ **अनु०**—धातोरनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य ॥ **अर्थः**—श्लौ परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्य एकाचोऽजादेर्द्वितीयस्य वा एकाचो द्वे भवतः ॥ **उदा०**—जुहोति, बिभेति, जिह्रेति ॥

भाषार्थः—[श्लौ] **श्लु परे रहते धातु के अनभ्यास अवयव प्रथम एकाच् तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व हो जाता है ॥**

जुहोति की सिद्धि परि० १।१।६० में देखें। ञिभी भये धातु से इसी प्रकार बिभेति (=डरता है), तथा ह्री लज्जायाम् धातु से जिह्रेति (=लज्जा करता है) बनता है ॥

चङि ॥६।१।११॥

चङि ७।१॥ **अनु०**—धातोरनभ्यासस्य, एकाचो द्वे प्रथमस्य, अजादेर्द्वितीयस्य ॥ **अर्थः**—चङि परतोऽनभ्यासस्य धातोरवयवस्य प्रथमस्यैकाचोऽजादेर्द्वितीयस्य वा द्वे भवतः ॥ **उदा०**—अपीपचत्, अपीपठत्, आटिटत्, आशिशत्, आदिदत् ॥

भाषार्थः—[चङि] **चङ् परे रहते धातु के अनभ्यास प्रथम एकाच् तथा अजादि के द्वितीय एकाच् को द्वित्व होता है ॥**

दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च ॥६।१।१२॥

दाश्वान् १।१॥ साह्वान् १।१॥ मीढ्वान् १।१॥ च अ०॥ **अर्थः**—दाश्वान् साह्वान् मीढ्वानित्येते शब्दा निपात्यन्ते छन्दसि भाषायाञ्च सामान्येन ॥ दाश्वानिति—दाशृ दाने इत्येतस्माद् धातोः क्वसुप्रत्ययो भवति, अद्विर्वचनमनिट्त्वञ्च निपात्येते ॥ दाश्वांसो दाशुषः सुतम् ॥ साह्वानिति षह मर्षणे धातोः क्वसुप्रत्ययः, परस्मैपदमद्विर्वचनमनिट्त्वं धातोरुपधादीर्घत्वञ्च निपात्यन्ते ॥ साह्वान् बलाहकः ॥

मीढ्वानिति मिह् सेचने धातोः क्वसुप्रत्ययः, अद्विर्वचनमनिट्त्वं धातोरुपधादीर्घत्वं ढत्वञ्च निपात्यन्ते ॥ मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृडय ॥

भाषार्थः—[दाश्वान्......न्] दाश्वान् साह्वान् [च] तथा मीढ्वान् ये शब्द छन्द तथा भाषा में सामान्य करके निपातन किये जाते हैं ॥

दाश्वान् में दाशृ दाने धातु से लिट् के स्थान में क्वसुश्च (३।२।१०७) सूत्र से क्वसु हुआ है। अब क्वसु को स्थानिवद्भाव से लिट मानकर जो लिटि धातो० (६।१।८) से द्वित्व प्राप्त हुआ, उस द्वित्व का निषेध, तथा वस्वेकाजाद्घसाम् (७।२।६७) से जो इट् प्राप्त था, उसका भी निषेध निपातन से किया जाता है ॥ शेष नुम् आगम दीर्घ आदि कार्य चितवान् की सिद्धि के समान जानें ॥ साह्वान् में षह मर्षणे धातु से पूर्ववत् क्वसु होकर परस्मैपदत्व अद्विर्वचन अनिट्त्व एवं धातु की उपधा को दीर्घत्व निपातन किया गया है। यहाँ षह धातु आत्मनेपदी है। लः परस्मैपदम् (१।४।९८) से (तङ् और आन=को छोड़कर) सब लादेश परस्मैपद होते हैं। इस प्रकार लिट् के स्थान में होने से क्वसु आदेश (लकार) है। सो यह परस्मैपदसंज्ञक होने से परस्मैपदी धातु से ही होगा। अतः यहाँ धातु को परस्मैपदत्व का निपातन करना पड़ा ॥

मीढ्वान् में मिह सेचने धातु से पूर्ववत् क्वसु करके अद्विर्वचन अनिट्त्व, मिह् के उपधा को दीर्घ, तथा हकार का ढकार निपातन है। सूत्रनिर्दिष्ट प्रकृत उदाहरण में 'मीढ्वस्' सम्बुद्ध्यन्त पद है। मीढ्वन् यहाँ मतुवसो रु० (८।३।१) से न् को रु होकर 'मीढ्वर्', विसर्जनीय होकर मीढ्वः, तथा उस विसर्जनीय को पुनः तोकाय परे रहते विसर्जनीयस्य सः (८।३।३४) से सत्व होकर 'मीढ्वस्तोकाय' बना है ॥ दाश्वान्स् जस्=दाश्वांसः यह बहुवचन का रूप है ॥

[संप्रसारणप्रकरणम्] ष्यङ्. - सम्प्रसारण

ष्यङः सम्प्रसारणं पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ॥६।१।१३॥

ष्यङः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ पुत्रपत्योः ७।२॥ तत्पुरुषे ७।१॥ स०—पुत्रश्च पतिश्च पुत्रपती, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अर्थः—पुत्र-पति इत्येतयोरुत्तरपदयोः ष्यङः सम्प्रसारणं भवति तत्पुरुषे समासे ॥ उदा०—कारीषगन्धीपुत्रः, कारीषगन्धीपतिः; कौमुदगन्धीपुत्रः, कौमुदगन्धीपतिः ॥

भाषार्थः—[ष्यङः] ष्यङ् को [सम्प्रसारणम्] सम्प्रसारण होता है, यदि [पुत्रपत्योः] पुत्र तथा पति शब्द उत्तरपद में हों तो, [तत्पुरुषे] तत्पुरुष समास में ॥ यण् के स्थान में इक् करने को (१।१।४४) सम्प्रसारण कहते हैं ॥

कारीषगन्ध्या कौमुदगन्ध्या की सिद्धि परि० ४।१।७४ में दिखा आये हैं। इन

शब्दों से आगे कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः पतिर्वा, कौमुदगन्ध्यायाः पुत्रः पतिर्वा ऐसा विग्रह करके षष्ठीतत्पुरुष (२।२।८) समास किया। तब प्रकृत सूत्र से ष्यङ् के 'य' को सम्प्रसारण होकर कारीषगन्धिपुत्रः बना। सम्प्रसारणस्य (६।३।१३७) से दीर्घ होकर कारीषगन्धीपुत्रः कारीषगन्धीपतिः आदि रूप बन गये॥

यहां से 'ष्यङः' की अनुवृत्ति ६।१।१४, तथा 'सम्प्रसारणम्' की ६।१।३१ तक जायेगी॥

ष्यङ्—सम्प्रसारण बन्धुनि बहुव्रीहौ ॥६।१।१४॥

बन्धुनि ७।१॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ अनु०—ष्यङः, सम्प्रसारणम्॥ अर्थः—बन्धुशब्द उत्तरपदे बहुव्रीहौ समासे ष्यङः सम्प्रसारणं भवति॥ उदा०—कारीषगन्ध्या बन्धुरस्य कारीषगन्धीबन्धुः, कौमुदगन्धीबन्धुः॥

भाषार्थः—[बन्धुनि] बन्धु शब्द उत्तरपद हो तो [बहुव्रीहौ] बहुव्रीहि समास में ष्यङ् को सम्प्रसारण हो जाता है॥

सिद्धि पूर्ववत् जानें। अनेकमन्यपदार्थे (२।२।२४) से यहां समास होगा, यही विशेष है॥ उदा०—कारीषगन्धीबन्धुः (=कारीषगन्ध्या नाम की स्त्री जिसकी बन्धु है), कौमुदगन्धीबन्धुः॥ सम्प्रसारण

वचिस्वपियजादीनां किति ॥६।१।१५॥

वचिस्वपियजादीनाम् ६।३॥ किति ७।१॥ स०—यज आदिर्येषां ते यजादयः, बहुव्रीहिः। वचिश्च स्वपिश्च यजादयश्च वचिस्वपियजादयः, तेषाम्, इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—सम्प्रसारणम्॥ अर्थः—वचिस्वप्योर्यजादीनां च सम्प्रसारणं भवति किति परतः॥ उदा०—वच्—उक्तः, उक्तवान्। स्वप्—सुप्तः, सुप्तवान्। यज्—इष्टः, इष्टवान्। वप्—उप्तः, उप्तवान्। वह्—ऊढः, ऊढवान्। वस्—उषितः, उषितवान्। वेञ्—उतः, उतवान्। व्येञ्—संवीतः, संवीतवान्। ह्वेञ्—हूतः, हूतवान्। वद्—उदितः, उदितवान्। टुओश्वि—शूनः, शूनवान्॥

भाषार्थः—[वचिस्वपियजादीनाम्] वच, ञिष्वप् शये, तथा यजादि धातुओं को [किति] कित् प्रत्यय के परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है। वच से वच परिभाषणे तथा ब्रुवो वचिः (२।४।५३) से विहित वच् आदेश दोनों का ग्रहण है। यजादि के अन्तर्गत यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु से लेकर श्वादिगण की समाप्ति-पर्यन्त धातुओं का ग्रहण है॥

उक्तः उक्तवान् आदि की सिद्धि परि० १।१।४४ में देखें। ऊढः में वह धातु से क्त प्रत्यय तथा सम्प्रसारण होकर 'उह् त' बना। अब हो ढः (८।२।३१) से ह् को 'ढ्', झषस्तथो० (८।२।४०) से त् को 'ध' एवं ष्टुत्व होकर 'उढ् ढ' रहा।

ढो ढे लोपः (८।३।१३) से पूर्व ढकार का लोप, तथा ढ्रलोपे पूर्वस्य० (६।३।१०९) से दीर्घ होकर ऊढः बन गया। क्यवतु में ऊढवान् की सिद्धि भी इसी प्रकार जानें। उषितः,उषितवान् में शासिवसि० (८।३।६०) से षत्व हुआ है। संवीतः हूतः शूनः आदि में हलः (६।४।२) से दीर्घ हुआ है। शूनः शूनवान् में ओदितश्च (८।२।४५) से निष्ठा को नत्व, तथा आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से प्राप्त इट् का श्वीदितो० (७।२।१४) से निषेध भी हुआ है॥

यहाँ से 'किति' की अनुवृत्ति ६।१।१६ तक जायेगी॥

ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङिति च ॥६।१।१६॥ सम्प्रसारण

ग्रहि……भृज्जतीनाम् ६।३॥ ङिति ७।१॥ च अ० ॥ स०—ग्रहि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—किति, सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—ग्रह उपादाने, ज्या वयोहानौ, वेञो वयिरिति वयादेशः, व्यध ताडने, वश कान्तौ, व्यच व्याजीकरणे, ओव्रश्चू छेदने, प्रच्छ ज्ञीप्सायां, भ्रस्ज पाके, इत्येतेषां धातूनां सम्प्रसारणं भवति, ङिति किति च परतः॥ उदा०—ग्रह—गृहीतः, गृहीतवान्। ङिति—गृह्णाति, जरीगृह्यते। ज्या—जीनः, जीनवान्। ङिति—जिनाति, जेजीयते। वय—ऊयतुः, ऊयुः। ङिदभावात् किदेवाश्रीदाह्रियते। व्यध—विद्धः, विद्धवान्। ङिति—विध्यति, वेविध्यते। वश—उशितः, उशितवान्। ङिति—उष्टः, उशन्ति। व्यच—विचितः, विचितवान्। ङिति—विचति, वेविच्यते। ओव्रश्चू—वृक्णः, वृक्णवान्। ङिति—वृश्चति, वरीवृश्च्यते। प्रच्छ—पृष्टः, पृष्टवान्। ङिति—पृच्छति, परीपृच्छ्यते। भ्रस्ज—भृष्टः, भृष्टवान्। ङिति—भृज्जति, बरीभृज्ज्यते॥

भाषार्थः—[ग्रहिज्या…भृज्जतीनाम्] ग्रह उपादाने, ज्या वयोहानौ, वय (वेञो वयिः से जो वय आदेश होता है, उसका यहाँ ग्रहण है), व्यध ताडने, वश कान्तौ, व्यच व्याजीकरणे, ओव्रश्चू छेदने, प्रच्छ ज्ञीप्सायां, भ्रस्ज पाके, इन धातुओं को सम्प्रसारण हो जाता है, [ङिति] ङित् [च] तथा कित् प्रत्यय परे रहते॥ वश धातु को यङ् परे रहते सम्प्रसारण का निषेध न वशः (६।१।२०) से करेंगे। अतः उसके यङ् का उदाहरण नहीं दिया।

लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ॥६।१।१७॥ सम्प्रसारण

लिटि ७।१॥ अभ्यासस्य ६।१॥ उभयेषाम् ६।३॥ अनु०—सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—उभयेषां वच्यादीनां ग्रहादीनां च लिटि परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति॥ उदा०—वच्—उवाच, उवचिथ। स्वप्—सुष्वाप, सुष्वपिथ। यज्—इयाज, इयजिथ। टुवप्—उवाप, उवपिथ। ग्रह—जग्राह, जग्रहिथ। ज्या—जिज्यौ,

जिज्यिथ । वय—उवाय, उवयिथ । व्यध—विव्याध, विव्यधिथ । वश—उवाश, उवशिथ । व्यच—विव्याच, विव्यचिथ । ओव्रश्चू—वव्रश्च, वव्रश्चिथ । प्रच्छ—पप्रच्छ, पप्रच्छिथ । भ्रस्ज—बभ्रज्ज, बभ्रज्जिथ । ग्रहिपृच्छतिभृज्जतीनां सम्प्रसारणासंप्रसारणत्वे उभयथाऽपि रूपयोरविशेषः ॥

भाषार्थः—[उभयेषाम्] दोनों के अर्थात् वचि स्वपि यजादि, तथा ग्रहिज्यादियों के [अभ्यासस्य] अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाता है, [लिटि] लिट् परे रहते ॥

विशेषः—लिट् लकार के असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५) से कित्वत् होने के कारण, लिट् लकार में अभ्यास को पूर्व दोनों सूत्रों से ही सम्प्रसारण हो सकता था, पुनः इस सूत्र के विधान करने का यह प्रयोजन है कि, जहाँ लिडादेश पित्स्थानी होने के कारण पूर्वोक्त सूत्र से कित्वत् नहीं हो सकता, वहाँ कित् परे न होने पर भी अभ्यास को सम्प्रसारण हो जाये । जैसे णल् तथा थल् तिप् सिप् स्थानी होने से पित् स्थानी हैं, अतः कित्वत् नहीं हैं । पुनरपि यहाँ इस सूत्र से सम्प्रसारण हो जाता है ॥

लिट् लकार की सिद्धियां बहुत बार दिखा आये हैं, उसी प्रकार यहाँ भी समझें । सम्प्रसारण रूप ही एक कार्य यहाँ विशेष है, और कुछ नहीं ॥ द्वित्व करने के पश्चात् हलादिः शेषः (७।४।६०) से पहले ही प्रकृत सूत्र से अभ्यास को सम्प्रसारण होता है । ग्रह प्रच्छ भ्रस्ज धातु को द्वित्व तथा सम्प्रसारण होकर 'गृ ग्रह, पृ प्रच्छ, भृ भ्रस्ज' बना । पुनः उरत् (७।४।६६) से अत्व करके 'गर् ग्रह, पर् प्रच्छ, भर् भ्रस्ज' बना । हलादि शेष करके जग्राह पप्रच्छ बभ्रज्ज बन गया । बभ्रज्ज यहाँ इतना और विशेष है कि, झलां जश् झशि (८।४।५२) से भ्रस्ज के स् को द्, एवं पुनः द् को श्चुत्व (८।४।३९ से) होकर ज् हो गया है । यहाँ सम्प्रसारण बिना किये हलादिः शेषः (७।४।६०) से अभ्यास के रेफ की निवृत्ति होकर जग्राह पप्रच्छ बभ्रज्ज रूप बन सकता था, अतः कहा है कि ग्रह प्रच्छ तथा भ्रस्ज धातु में सम्प्रसारण करने एवं न करने में कोई विशेष नहीं है । अर्थात् दोनों में एक जैसा ही रूप बनेगा । सो यह प्रच्छ भ्रस्ज से अतिरिक्त धातुओं के लिये ही सम्प्रसारण का विधान है ॥

स्वापेश्चङि ॥६।१।१८॥

स्वापेः ६।१॥ चङि ७।१॥ अनु०—सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—स्वापेरिति स्वपधातोर्ण्यन्तस्य ग्रहणम् । तस्य स्वापेः चङि परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—असूषुपत्, असूषुपताम्, असूषुपन् ॥

भाषार्थः—[स्वापेः] स्वापि (णिजन्त) धातु को [चङि] चङ् परे रहते

सम्प्रसारण हो जाता है ।। स्वप् धातु का स्वापि यह णिजन्त में निर्देश है। परि० ६।१।११ में की गई अपीपचत् की सिद्धि के समान असूषुपत् की सिद्धि जानें। यहां चङ् परे रहते सम्प्रसारण (व को उ) होता है, यही विशेष है। सम्प्रसारण होकर सुप् सुप् द्वित्व होगा, शेष सिद्धि परि० ६।१।११ के समान जानें। आदेश-प्रत्यययोः (८।३।५९) से षत्व हो जायेगा ।।

स्वपिस्यमिव्येञां यङि ।।६।१।१९।। सम्प्रसारण

स्वपिस्यमिव्येञाम् ६।३।। यङि ७।१।। स०—स्वपि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—सम्प्रसारणम् ।। अर्थः—ञिष्वप् शये, स्यमु शब्दे, व्येञ् संवरणे इत्येतेषां धातूनां यङि परतः सम्प्रसारणं भवति ।। उदा०—सोषुप्यते, सेसिम्यते, वेवीयते ।।

भाषार्थः—[स्वपिस्यमिव्येञाम्] ञिष्वप् स्यमु व्येञ् इन धातुओं को [यङि] यङ् परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है ।। परि० ६।१।९ के समान यङ् की सिद्धि जानें। व्येञ् में व् तथा य् दोनों यण् हैं, सो दोनों को ही सम्प्रसारण हो सकता है, पर न सम्प्रसारणे० (६।१।३६) से सम्प्रसारण परे होने पर पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध करने से विदित होता है कि पहले पर यण् को सम्प्रसारण होता है, तत्पश्चात् पूर्व यण् को उक्त सूत्र से सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है। इस प्रकार यहां पर यण् = 'य्' को सम्प्रसारण होता है। आदेच उपदेशेऽशिति (६।१।४४) से आत्व यहां हो ही जायेगा ।।

यहाँ से 'यङि' की अनुवृत्ति ६।१।२१ तक जायेगी ।।

न वशः ।।६।१।२०।। सम्प्रसारण

न अ० ।। वशः ६।१।। अनु०—यङि, सम्प्रसारणम् ।। अर्थः—वशेर्धातोर्यङि परतः सम्प्रसारणं न भवति ।। उदा०—वावश्यते वावश्येते वावश्यन्ते ।।

भाषार्थः—[वशः] वश धातु को यङ् परे रहते सम्प्रसारण [न] नहीं होता ।। ग्रहिज्यावयि० (६।१।१६) से यङ् ङित् के परे रहते सम्प्रसारण प्राप्त था, उसका निषेध इस सूत्र से हो जाता है ।।

चायः की ।।६।१।२१।। की - आदेश

चायः ६।१।। 'की' लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। अनु०—यङि ।। अर्थः—चायृ पूजानिशामनयोरित्येतस्य धातोर्यङि परतः 'की' आदेशो भवति ।। उदा०—चेकीयते चेकीयेते चेकीयन्ते ।।

भाषार्थः—[चायः] चायृ धातु को यङ् परे रहते [की] 'की' आदेश होता है ।। इस सूत्र में 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता ।।

स्फी = आदेश　　स्फायः स्फी निष्ठायाम् ॥६।१।२२॥

स्फायः ६।१॥ स्फी, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ निष्ठायाम् ७।१॥ अर्थः—स्फायी वृद्धौ इत्यस्य धातोर्निष्ठायां परतः स्फीत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—स्फीतः, स्फीतवान् ॥

भाषार्थः—[स्फायः] स्फायी धातु को [निष्ठायाम्] निष्ठा परे रहते [स्फी] स्फी यह आदेश हो जाता है ॥ इस सूत्र में भी 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं होता ॥

यहाँ से 'निष्ठायाम्' की अनुवृत्ति ६।१।२८ तक जायेगी ॥

सम्प्रसारण　　स्त्यः प्रपूर्वस्य ॥६।१।२३॥

स्त्यः ६।१॥ प्रपूर्वस्य ६।१॥ स०—प्र पूर्वो यस्य स प्रपूर्वः, तस्य··· बहुव्रीहिः ॥ अनु०—निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—प्रपूर्वस्य स्त्याधातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् । प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् ॥

भाषार्थः—[प्रपूर्वस्य] प्र पूर्व में है जिस [स्त्यः] स्त्या=स्त्यै धातु के, उसको निष्ठा परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है ॥ स्त्यै को आदेच उपदेशे०(६।१।४४) से आत्व होकर प्र स्त्या त= प्रस्तित:, हलः (६।४।२) से दीर्घ होकर—प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् बन गया । प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् में निष्ठा के त को म प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् (८।२।५४) से विकल्प से हुआ है ॥

सम्प्रसारण　　द्रवमूर्तिस्पर्शयोः श्यः ॥६।१।२४॥

द्रवमूर्तिस्पर्शयोः ७।२॥ श्यः ६।१॥ स०—द्रवस्य मूर्तिः=काठिन्यं द्रवमूर्तिः, षष्ठीतत्पुरुषः, द्रवमूर्तिश्च स्पर्शश्च द्रवमूर्तिस्पर्शौ, तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—द्रवमूर्तौ=द्रवकाठिन्ये स्पर्शे च वर्त्तमानस्य श्यैङ् गतौ इत्येतस्य धातोः सम्प्रसारणं भवति निष्ठायां परतः ॥ उदा०—द्रवमूर्त्तौ—शीनं घृतं, शीना वसा, शीनं मेदः । द्रवावस्थायाः काठिन्यं गतम् इत्यर्थः । स्पर्शे—शीतं वर्त्तते, शीतो वायुः, शीतमुदकम् ॥

भाषार्थः—[द्रव···योः] द्रवमूर्ति अर्थात् तरल-पदार्थ के काठिन्य में वर्त्तमान, तथा स्पर्श अर्थ में वर्त्तमान [श्यः] श्यैङ् धातु को सम्प्रसारण हो जाता है, निष्ठा के परे रहते ॥

श्योऽस्पर्शे (८।२।४७) से अस्पर्श विषय में निष्ठा के त को 'न' हुआ है । शेष आत्व (६।१।४४), दीर्घत्वादि (६।४।२) सब पूर्ववत् ही जानें ॥ उदा०—

शीनं घृतम् (=कठोर जमा हुआ घी); शीता वसा (=जमी हुई चर्बी)। शीतं वर्त्तते (=शीतल स्पर्श), शीतो वायुः (=शीतल स्पर्शयुक्त वायु) ॥

यहाँ से 'श्यः' की अनुवृत्ति ६।१।२६ तक जायेगी ॥

प्रतेश्च ॥६।१।२५॥

प्रतेः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—श्यः, निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—प्रतेरुत्तरस्य श्याधातोर्निष्ठायां परतः सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—प्रतिशीनः, प्रतिशीनवान् ॥

भाषार्थः—[प्रतेः] प्रति से उत्तर [च] भी श्या धातु को निष्ठा परे रहते सम्प्रसारण हो जाता है ॥ पूर्व सूत्र से ही सम्प्रसारण प्राप्त था, यहाँ द्रवमूर्त्ति तथा स्पर्श विषय से अन्यत्र भी सम्प्रसारण हो जाये, इसलिये यह वचन है ॥ सिद्धि पूर्ववत् ही जानें ॥ उदा०—प्रतिशीनः (=पिघला हुआ द्रव्य), प्रतिशीनवान् ॥

विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य ॥६।१।२६॥

विभाषा १।१॥ अभ्यवपूर्वस्य ६।१॥ स०—अभिश्च अवश्च अभ्यवौ, अभ्यवौ पूर्वौ यस्य स अभ्यवपूर्वः, तस्य द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ॥ अनु०—श्यः, निष्ठायाम्, सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—अभि अव इत्येवं पूर्वस्य श्याधातोर्निष्ठायां परतो विभाषा सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—अभिशीनम्, पक्षे—अभिश्यानम् । अवशीनम्, पक्षे—अवश्यानम् ॥ उभयत्र विभाषेयम्, तेन द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोरपि सम्प्रसारणं विकल्प्यते ॥

भाषार्थः—[अभ्यवपूर्वस्य] अभि अव पूर्वक श्या धातु को निष्ठा परे रहते [विभाषा] विकल्प से सम्प्रसारण होता है ॥ पक्ष में सम्प्रसारण नहीं भी होगा ॥ सिद्धि पूर्ववत् समझें ॥

यह उभयत्र विभाषा है, अतः अभि अव पूर्वक श्या धातु को इस सूत्र से द्रवमूर्त्तिस्पर्श विवक्षा में भी विकल्प होता है, ऐसा समझना चाहिये ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।१।२८ तक जायेगी ॥

शृतं पाके ॥६।१।२७॥

शृतम् १।१॥ पाके ७।१॥ अनु०—विभाषा, निष्ठायाम् ॥ अर्थः—पाके वाच्ये शृतमिति निपात्यते। श्रा पाके इत्येतस्य धातोर्ण्यन्तस्याण्यन्तस्य च क्तप्रत्यये परतः पाकेऽभिधेये शृभावो विभाषा निपात्यते ॥ शृतं क्षीरम्, शृतं हविः ॥ व्यवस्थित-विभाषा चेयम्, तेन क्षीरहविषोर्नित्यं शृभावो भवति, अन्यत्र न भवति । यथा—श्राणा यवागूः, श्रपिता यवागूः ॥

भाषार्थः—[शतम्] शृतम् यह शब्द [पाके] पाक अभिधेय होने पर निपातन किया जाता है। श्रा पाके धातु चाहे वह ण्यन्त हो या अण्यन्त, उसको क्त प्रत्यय के परे रहते पाक अभिधेय होने पर विकल्प से शृभाव निपातन किया किया जाता है॥ इस सूत्र में कही विभाषा व्यवस्थित विभाषा है, ऐसा समझना चाहिये॥

व्यवस्थित-विभाषा उदाहरण-विशेष में विधि, एवं उदाहरण-विशेष में ही निषेध करती है। इसलिये यहाँ भी क्षीर तथा हवि विषय में ही शृ आदेश की विधि, तथा अन्यत्र निषेध (=शृ आदेश का अभाव) होता है। श्राणा श्रपिता का प्रयोग क्षीर हविविषयक पाक से अन्यत्र होता है॥

श्राणा में निष्ठा के तकार को नकार संयोगादेरातो० (८।२।४३) से हुआ है। ४।१।४ से टाप् हो जायगा। श्रपिता णिजन्त श्रा धातु से निष्ठा प्रत्यय होकर बना है। अर्तिह्रीव्लीरी० (७।३।३६) से पुक् आगम हो ही जायगा। घटादयो मितः इस धातुपाठ के सूत्र से 'श्रा' के मित् माने जाने से मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से ह्रस्व हो जाता है। निष्ठायां सेटि (६।४।५२) से णिच् का लोप हो जाता है। श्रा पुक् णिच् इट् त टाप्=श्राप् इ त आ,ह्रस्व होकर श्रपिता बन गया॥

प्यायः पी ॥६।१।२८॥

प्यायः ६।१॥ पी, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ अनु०—विभाषा, निष्ठायाम्॥ अर्थः—ओप्यायी वृद्धौ इत्येतस्य धातोर्निष्ठायां परतो विभाषा 'पी' इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—पीनं मुखम्, पीनौ बाहू, पीनमुरः। पक्षे न च भवति—आप्यान-श्चन्द्रमाः। व्यवस्थितविभाषात्वाद् अनुपसर्गस्य नित्यमादेशः,सोपसर्गस्य तदभावो ज्ञेयः॥

भाषार्थः—[प्यायः] ओप्यायी धातु को निष्ठा परे रहते विकल्प से [पी] पी आदेश होता है॥ यह भी व्यवस्थित विभाषा है, अतः अनुपसर्ग प्या धातु को नित्य 'पी' आदेश होता है, तथा सोपसर्ग को नहीं होता॥ ओदितश्च (८।२।४५) से निष्ठा के त को 'न' पीनं आदि में हुआ है॥

यहाँ से 'प्यायः पी' की अनुवृत्ति ६।१।२९ तक जायेगी॥

लिड्यङोश्च ॥६।१।२९॥

लिड्यङोः ७।२॥ च अ०॥ स०—लिड्यङोरित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—प्यायः पी॥ अर्थः—लिटि यङि च परतः प्यायः 'पी' इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—आपिप्ये आपिप्याते आपिप्यिरे। यङि—आपेपीयते आपेपीयेते आपेपीयन्ते॥

भाषार्थः—[लिड्यङोः] लिट् तथा यङ् परे रहते [च] भी ओप्यायी धातु को 'पी' आदेश होता है॥

आपिप्ये में द्वित्वादि सब कार्य लिट् लकार में की गई सिद्धियों के सामान हैं।

यहाँ केवल 'त' को लिटस्तझयोरेशिरेच् (३।४।८१) से एश् हो जाता है। आवेपीयते भी यङ् की सिद्धि के समान जानें। गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से अभ्यास को गुण हो ही जायेगा।

यहाँ से 'लिड्यङोः' की अनुवृत्ति ६।१।३० तक जायेगी ॥

विभाषा श्वेः ॥६।१।३०॥ सम्प्रसारण – विकल्प

विभाषा १।१॥ श्वेः ६।१॥ अनु०—लिड्यङोः, सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—लिटि यङि च परतः श्विधातोः सम्प्रसारणं भवति विकल्पेन ॥ उदा०—लिटि—शुशाव-शिश्वाय, शुशुवतुः-शिश्वियतुः। यङि—शोशूयते-शेश्वीयते ॥

भाषार्थः—लिट् तथा यङ् परे रहते [श्वेः] टुओश्वि धातु को [विभाषा] विकल्प से सम्प्रसारण हो जाता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।१।४३ में देखें ॥

इस सूत्र में उभयत्र विभाषा है। लिट् लकार में कित् प्रत्यय (द्विवचन बहुवचन) परे रहते वचिस्वपि० (६।१।१५) से श्वि धातु को नित्य सम्प्रसारण प्राप्त था, और अकित् प्रत्यय (एकवचन) परे रहते सम्प्रसारण नहीं प्राप्त था। यङ् परे रहते भी श्वि को सम्प्रसारण की प्राप्ति नहीं थी। उभयत्र विभाषा में न वा अर्थों में से प्रथम न का अर्थ प्रवृत्त होता है। तदनुसार श्वि को लिट् तथा यङ् परे सम्प्रसारण नहीं होता। इस अर्थ द्वारा श्वि को जहाँ कहीं भी (कित् परे रहते धातु को) प्राप्त सम्प्रसारण का निषेध हो गया। (यङ् में तो प्राप्त ही नहीं था, अतः यङ् विषय में न की प्रवृत्ति नहीं होती)। तदनन्तर 'वा' के अर्थ की प्रवृत्ति हुई—श्वि धातु को लिट् और यङ् परे विकल्प से सम्प्रसारण होता है ॥

यहाँ से 'विभाषा श्वेः' की अनुवृत्ति ६।१।३१ तक जायेगी ॥

णौ च संश्चङोः ॥६।१।३१॥ सम्प्रसारण – विकल्प

णौ ७।१॥ च अ० ॥ संश्चङोः ७।२॥ स०—संश्चङोरित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा श्वेः, सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—सन्परे चङ्परे च णौ परतः श्वीत्येतस्य धातोर्विभाषा सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—सन्परे—शुशावयिषति-शिश्वाययिषति। चङ्परे—अशूशवत्-अशिश्वयत् ॥

भाषार्थः—[संश्चङोः] सन् परे हो या चङ् परे हो जिस [णौ] णिच् के ऐसे णि के परे रहते [च] भी टुओश्वि धातु को विकल्प से सम्प्रसारण हो जाता है ॥

यहाँ से 'णौ च संश्चङोः' की अनुवृत्ति ६।१।३२ तक जायेगी ॥

ह्वः सम्प्रसारणमभ्यस्तस्य च ॥६।१।३२॥ सम्प्रसारण

ह्वः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ अभ्यस्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—णौ च

संश्चङोः । अर्थः—सन्परे चङ्परे च णौ परतो ह्वः सम्प्रसारणं भवति, अभ्यस्तस्य निमित्तं यो ह्वयतिस्तस्य च सम्प्रारणं भवति ॥ उदा०—सन्परे—जुहावयिषति जुहावयिषतः जुहावयिषन्ति । चङ्परे—अजूहवत् अजूहवताम् अजूहवन् । अभ्यस्तस्य—जुहाव, जोहूयते, जुहूषति ॥

भाषार्थः—सन्परक चङ्परक णि के परे रहते [ह्वः] ह्वेञ् धातु को [सम्प्रसारणम्] सम्प्रसारण हो जाता है, तथा [अभ्यस्तस्य] अभ्यस्त का निमित्त जो ह्वेञ् धातु उसको [च] भी सम्प्रसारण हो जाता है ॥

विशेषः—'अभ्यस्तस्य च' इस अंश के अर्थ में 'च' से 'ह्वः' का संनियोग होता है। 'अभ्यस्तस्य' तथा 'ह्वः' दोनों षष्ठ्यन्त पद हैं, सो इनका अर्थ, "अभ्यस्त के ह्वेञ् धातु को सम्प्रसारण होता है" यह होगा। अब प्रश्न यह है कि अभ्यस्त का ह्वेञ् धातु क्या है, अर्थात् इनका परस्पर क्या सम्बन्ध है ? सो उसको बताने के लिये अर्थ में निमित्त शब्द जोड़ा गया है—"अभ्यस्त का निमित्त=कारण जो ह्वेञ्" उसे सम्प्रसारण होता है। ऐसा अर्थ करने से यह लाभ होगा, कि जिस ह्वेञ् धातु से परे अभ्यस्त बनाने का अर्थात् द्वित्व करने का निमित्तमात्र (लिट्, सन्, यङ्, आदि) हो, उसको अभ्यस्त बनने से (द्वित्व होने से) पूर्व ही सम्प्रसारण हो जाता है ॥

सिद्धि परि० ६।१।३१ के समान ही जानें। ह्वेञ् को आत्व आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से हो ही जायेगा। जुहाव (लिट्), जोहूयते (यङ्), तथा जुहूषति (सन्) सब में सिद्धि पूर्ववत् जानें ॥

यहाँ से 'ह्वः' की अनुवृत्ति ६।१।३३ तक, तथा 'सम्प्रसारणम्' की ६।१।३६ तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दसि ॥६।१।३३॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—ह्वः सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः छन्दसि विषये ह्वञ्धातोर्बहुलं सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—इन्द्राग्नी हुवे । देवीं सरस्वतीं हुवे । बहुलग्रहणात् न च भवति—ह्वयामि मरुतः शिवान् । ह्वयामि विश्वान् देवान् ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में ह्वेञ् धातु को [बहुलम्] बहुल करके सम्प्रसारण होता है ॥

हुवे-लट् लकार आत्मनेपद का रूप है। 'ह्वे शप् इट्' यहाँ बहुलं छन्दसि (२।४।७३) से शप् का लुक् होकर, तथा प्रकृत सूत्र से सम्प्रसारण होकर हु ए इ रहा। सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) से पूर्वरूप होकर 'हु इ' रहा। (६।४।७७) से 'हु' के 'उ' को उवङ् होकर 'हुव् इ' रहा। पश्चात् टित आत्मने० (३।४।७९) से एत्व होकर 'हुवे' बन गया ॥

यहाँ से 'बहुलम्' की अनुवृत्ति ६।१।३६ तक, तथा 'छन्दसि' की ६।१।३५ तक जायेगी ॥

की - आदेश

चायः की ॥६।१।३४॥

चायः ६।१॥ की, लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अनु०—बहुलं छन्दसि ॥ अर्थः— चायधातोः छन्दसि विषये बहुलं कीत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—विधुना निचिक्युः, नान्यं चिक्युर्न निचिक्युरन्यम् । न च भवति—अग्नेर्ज्योतिर्निचाय्य (य० ११।१) ॥

भावार्थः—[चायः] चायृ धातु को वेदविषय में बहुल करके [की] 'की' आदेश हो जाता है ॥

निचिक्युः, यह निपूर्वक चायृ धातु के लिट् लकार के 'उस्' का रूप है । निचाय्य, यहाँ बहुल कहने के कारण 'की' आदेश नहीं होता । 'निचाय्य' रूप क्त्वा को ल्यप् आदेश होकर बना है । नि चाय् क्त्वा=निचाय् ल्यप्=निचाय्य ॥

अपस्पृधेथामानृचुरानृहुश्चिच्युषेतित्याजश्राताः-श्रितमाशीराशीर्त्ताः ॥६।१।३५॥

अपस्पृधेथाम् तिङ् ॥ आनृचुः तिङ् ॥ आनृहुः तिङ् ॥ चिच्युषे तिङ् ॥ तित्याज तिङ् ॥ श्राताः १।३॥ श्रितम् १।१॥ आशीर् १।१॥ आशीर्त्ताः १।३॥ अनु०—छन्दसि, सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—छन्दसि विषये एते शब्दा निपात्यन्ते ॥ अपस्पृधेथाम्, इत्यत्र स्पर्धधातोर्लङि आथामि द्विर्वचनं रेफस्य सम्प्रसारणम् अकारलोपश्च निपातनात् भवति ॥ अपर आह—अपपूर्वस्य स्पर्धेः लङि आथामि, सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनात् । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६।४।७५), इत्यडागमो न भवति । अस्मिन् पक्षे द्वित्वस्य नास्त्यावश्यकता ॥ इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथाम् । पूर्वस्मिन् पक्षे भाषायाम् अस्पर्धेथाम्, अपरस्मिन् पक्षे अपास्पर्धेथाम् इति भवति । आनृचुः आनृहुरित्यत्र, अर्च पूजायाम् अर्ह पूजायामित्यनयोः धात्वोः लिटि उसि परतः सम्प्रसारणमकारलोपश्च निपातनाद् भवति ॥ य उग्रा अर्कमानृचुः (ऋ० १।१९।४) । न वसून्यानृहुः । आनर्चुः आनर्हुरिति भाषायाम् ॥ चिच्युषे, इत्यत्र च्युङ् गतावित्यस्य धातोः लिटि 'से' (थासः से ३।४।८०) परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणमनिट्त्वञ्च निपातनाद् भवति । चुच्युविषे इति भाषायाम् । तित्याज, इत्यत्र त्यजधातोः लिटि परतोऽभ्यासस्य सम्प्रसारणं निपात्यते । तित्याज । तत्याजेति भाषायाम् ॥ श्राताः, इत्यत्र श्रीञ् धातोर्निष्ठायां परतः श्राभावो निपात्यते ॥ श्रातास्त इन्द्रसोमाः ॥ श्रितम्, इत्यत्र तस्यैव श्रीञ्धातोः निष्ठायां परतो ह्रस्वत्वं निपात्यते ॥ सोमो गौरी अधिश्रितः ॥ आशी, इत्यत्रापि तस्यैव आङ्पूर्वस्य श्रीञ्धातोः

क्विपि परतः शीरादेशो निपात्यते ।। तामाशीरा दुहन्ति ।। आशीर्त्तः, इत्यत्रापि आङ्-पूर्वस्य श्रीञ्धातोः निष्ठायां परतः शीर्भावो निष्ठायाश्च रदाभ्यां निष्ठा० (८।२।४२) इत्यनेन नत्वे प्राप्ते तदभावो निपात्यते ।। क्षीरैर्मध्यत आशीर्त्तः ।।

भाषार्थः—वेदविषय में [अपस्पृ……शीर्त्ताः] अपस्पृधेथाम् आदि शब्द निपातन किये जाते हैं ।। अपस्पृधेथाम्, यहाँ स्पर्ध धातु से लङ् लकार में आथाम् होकर स्पर्ध को द्विर्वचन तथा रेफ को सम्प्रसारण, एवं धातु के 'प्' से उत्तरवर्ती 'अ' का लोप भी निपातन से होता है । स्पर्ध अ आथाम्, द्वित्व होकर, स्पर्ध् स्पर्ध् अ आथाम् रहा । शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) लगाकर, एवं सम्प्रसारण तथा 'प' के 'अ' का लोप होकर प स्पृध् अ आथाम् रहा । आतो ङितः (७।२।८१) से आ को इय्, एवं आद्गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश, तथा लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) में य् का लोप, और अडागम होकर—अपस्पृधेथाम् बना ।। कई लोगों का मत है कि अप पूर्वक स्पर्ध धातु से लङ् लकार में आथाम् परे रहते सम्प्रसारण तथा अकार-लोप ही निपातन है । इस पक्ष में स्पर्ध को द्वित्व करने की आवश्यकता नहीं पड़ती । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि (६।४।७५) से इस पक्ष में अट् आगम का अभाव भी हो जायेगा । शेष पहले के समान ही सिद्धि जानें ।। भाषा में द्वित्व सम्प्रसारण तथा अकारलोप निपातन से नहीं होगा, अतः प्रथम पक्ष में 'अस्पर्धेथाम्', और द्वितीय पक्ष में 'अपास्पर्धेथाम्' रूप बनेगा ।। आनृचुः आनृहुः में 'अर्च पूजायाम्, अर्ह पूजायाम्' धातुओं से लिट् लकार के उस् परे रहते रेफ को सम्प्रसारण तथा अकारलोप निपातन से किया जाता है ।। अर्च् लिट्=अर्च् झि=अर्च उस्, ६।१।८ से द्वित्व होकर अर्च् अर्च् उस्=अ अर्च् उस् रहा । अत आदेः (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ, तथा तस्मान्नुड् द्विहलः (७।४।७१) से नुट् आगम होकर आ नुट् अर्च् उस्=आन् अर्च् उस् रहा । निपातन से अर्च् के अ का लोप तथा सम्प्रसारण होकर आन् ऋच् उस्=आनृचुः बन गया । इसी प्रकार आनृहुः में जानें ।। भाषा में सम्प्रसारण तथा अकारलोप नहीं होगा, तो आनर्चुः आनर्हुः बनेगा ।।

चिच्युषे में 'च्युङ् गतौ' धातु से लिट् लकार के 'से' (थासः से) परे रहते अभ्यास को सम्प्रसारण तथा अनिट्त्व निपातन किया जाता है ।। च्यु च्यु से, निपातन से सम्प्रसारण होकर च् इ उ च्यु से=चि च्यु से=चिच्युषे बन गया । आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त था, निपातन से अनिट्त्व भी कर दिया गया ।। भाषा में चुच्युविषे बनेगा ।।

तित्याज में 'त्यज हानौ' धातु से लिट् के णल् परे रहते अभ्यास को सम्प्रसारण निपातन किया गया है ।। भाषा में तत्याज ही बनेगा ।। श्राता, यहाँ श्रीञ् धातु को निष्ठा (क्त) परे रहते श्रा भाव निपातन है ।। श्रातास्त इन्द्रसोमाः ।।

श्रितम्, यहाँ श्रीञ् धातु को निष्ठा परे रहते ह्रस्वत्व निपातन है । सोमो गौरी अधिश्रितः ॥

आशीर् में आङ् पूर्वक श्रीञ् धातु को क्विप् परे रहते शीर् आदेश निपातन है । तामाशीरा दुहन्ति ॥

आशीर्त्तः, यहाँ भी आङ् पूर्वक श्रीञ् धातु को निष्ठा परे रहते शीर्भाव, तथा रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से प्राप्त निष्ठा के त को न का अभाव निपातन किया गया है । क्षीरैर्मध्यत आशीर्त्तः (ऋ० ८।२।९) ॥

सम्प्रसारण

न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् ॥६।१।३६॥

न अ० ॥ सम्प्रसारणे ७।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ अर्थः—सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यणः सम्प्रसारणं न भवति ॥[1] उदा०—व्यध—विद्धः । व्यच—विचितः । व्येञ्—संवीतः ॥

भाषार्थः—[सम्प्रसारणे] सम्प्रसारण परे रहते [सम्प्रसारणम्] सम्प्रसारण [न] नहीं होता ॥ वाक्य तथा वर्ण दोनों की सम्प्रसारण संज्ञा होती है, यह बात इग्यणः० (१।१।४४) सूत्र में कही गई है । जहाँ सम्प्रसारण कहा हो, वहाँ यदि दो यण् हों, तो दोनों को सम्प्रसारण होना चाहिये, पर इष्ट ऐसा है नहीं ॥ अतः सम्प्रसारण-संज्ञक इक् के परे रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण नहीं होता । अर्थात् पहले परवाले यण् को इक् होगा, उसके परे रहने पर पूर्व को निषेध हो जायेगा । व्यध व्यच आदि में व् य् दोनों सम्प्रसारणभावी यण् थे, सो प्रकृत सूत्र से, पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध होता है । पर यण् (य) को सम्प्रसारण ६।१।१६ से हो गया ॥

व्यध क्त=विध् त, झषस्तथो:० (८।२।४०) लगकर विध् ध् रहा । झलां जश् झशि (८।४।५२) से ध् को द् होकर विद्धः बन गया है ॥

यहाँ से 'न सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी ॥

सम्प्रसारण।

लिटि वयो यः ॥६।१।३७॥

लिटि ७।१॥ वयः ६।१॥ यः ६।१॥ अनु०—न सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—लिटि परतो वयो यकारस्य सम्प्रसारणं न भवति ॥ उदा०—उवाय ऊयतुः ऊयुः ॥

भाषार्थः—[लिटि] लिट् लकार परे रहते [वयः] वय् के [यः] यकार को

१. सम्प्रसारण परे रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण के निषेध से ज्ञापन होता है कि—जहाँ सम्प्रसारणभावी एक से अधिक यण् होते हैं, वहाँ प्रथम पर यण् को सम्प्रसारण होता है ॥

सम्प्रसारण नहीं होता ॥ लिट्यभ्या० (६।१।१७), ग्रहिज्या० (६।१।१६) से सम्प्रसारण प्राप्त था, जिसमें पूर्व सूत्र के ज्ञापन से प्रथम पर यण् को (य् को) सम्प्रसारण प्राप्त हुआ। उसका यह निषेध सूत्र है। यकार को सम्प्रसारण का निषेध हो जाने पर 'व्' को सम्प्रसारण होता है। सिद्धि परि० २।४।४१ में देखें ॥

यहाँ से 'वयो यः' की अनुवृत्ति ६।१।३८ तक, तथा 'लिटि' की ६।१।३९ तक जायेगी ॥

वश्चास्यान्यतरस्यां किति ॥६।१।३८॥

वः १।१॥ च अ० ॥ अस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ किति ७।१॥ अनु०—लिटि वयो यः ॥ अर्थः—अस्य वयो यकारस्य किति लिटि परतो विकल्पेन वकारादेशो भवति ॥ उदा०—ऊवतुः ऊवुः, ऊयतुः ऊयुः ॥

भाषार्थः—[अस्य] इस वय् के यकार को [किति] कित् लिट् परे रहते [वः] वकारादेश [च] भी [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके हो जाता है ॥ असंयोगाल्लिट् कित् (१।२।५) से अतुस् उस् कित्वत् हैं ही, सो ऊवतुः-ऊवुः, ऊयतुः-ऊयुः दो रूप बने ॥ सूत्र में 'अस्य' निर्देश पूर्व सूत्र द्वारा जिस यकार के सम्प्रसारण का निषेध किया है उसका है। अतः निषेध किये हुए सम्प्रसारणवाले यकार के स्थान पर होनेवाले वकार को भी सम्प्रसारण नहीं होता ॥ सिद्धि परि० २।४।४१ में देख लें ॥

वेञः ॥६।१।३९॥

वेञः ६।१॥ अनु०—लिटि, न सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—वेञ् तन्तुसन्ताने, इत्यस्य धातोर्लिटि परतः सम्प्रसारणं न भवति ॥ उदा०—ववौ ववतुः ववुः ॥

भाषार्थः—[वेञः] वेञ् धातु को लिट् परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता ॥ वचिस्वपियजा० (६।१।१५) से कित् परे रहते सम्प्रसारण प्राप्त था, तथा पित्-स्थानी णल् थल् में भी लिट्यभ्यासस्यो० (६।१।१७) से सम्प्रसारण प्राप्त था। उन दोनों का यह निषेधसूत्र है ॥

यहाँ से 'वेञः' की अनुवृत्ति ६।१।४० तक जायेगी ॥

ल्यपि च ॥६।१।४०॥

ल्यपि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—वेञः, न सम्प्रसारणम् ॥ अर्थः—ल्यपि च परतो वेञः सम्प्रसारणं न भवति ॥ उदा०—प्रवाय, उपवाय ॥

भाषार्थः—[ल्यपि] ल्यप् परे रहते [च] भी वेञ् को सम्प्रसारण नहीं होता ॥ स्थानिवत् से ल्यप् कित् माना गया, सो कित् परे होने से वचिस्वपियजा० (६।१।१५)

से सम्प्रसारण प्राप्त था, उसका निषेध हो गया। आदेच उप० (६।१।४४) से वेञ् को आत्व हो ही जायेगा॥
यहाँ से 'ल्यपि' की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी॥

ज्यश्च ॥६।१।४१॥

ज्यः ६।१॥ च अ०॥ अनु०—ल्यपि, न सम्प्रसारणम्॥ अर्थः—ज्याधातोर्ल्यपि परतः सम्प्रसारणं न भवति॥ उदा०—प्रज्याय, उपज्याय॥

भावार्थः—ल्यप् परे रहते [ज्यः] ज्या धातु को [च] भी सम्प्रसारण नहीं होता॥ ग्रहिज्या० (६।१।१६) से सम्प्रसारण प्राप्त था, उसका निषेध कर दिया॥

व्यश्च ॥६।१।४२॥

व्यः ६।१॥ च अ०॥ अनु०—ल्यपि, न सम्प्रसारणम्॥ अर्थः—व्येञ्धातोर्ल्यपि परतः सम्प्रसारणं न भवति॥ उदा०—प्रव्याय॥

भावार्थः—[व्यः] व्येञ् धातु को [च] भी ल्यप् परे रहते सम्प्रसारण नहीं होता॥ व्येञ् को आत्व ६।१।४४ से हो ही जायेगा। पूर्ववत् सम्प्रसारण प्राप्त था, उसका निषेध कर दिया॥

यहाँ से 'व्यः' की अनुवृत्ति ६।१।४३ तक जायेगी॥

विभाषा परेः ॥६।१।४३॥

विभाषा १।१॥ परेः ५।१॥ अनु०—व्यः, ल्यपि, न सम्प्रसारणम्॥ अर्थः—परेरुत्तरस्य व्येञ्धातोर्ल्यपि परतो विभाषा सम्प्रसारणं न भवति॥ उदा०—परिवीय यूपम्। पक्षे—परिव्याय॥

भावार्थः—[परेः] परि उपसर्ग से उत्तर व्येञ् धातु को [विभाषा] विकल्प करके सम्प्रसारण नहीं होता॥ परि व्या ल्यप्, न सम्प्रसारणे० (६।१।३६) के नियम से 'य्' को सम्प्रसारण ६।१।१५ से हुआ। परि व् इ आ य=परिविय, हलः (६।४।२) से दीर्घ होकर परिवीय बन गया॥

[आत्व-प्रकरणम्]

आदेच उपदेशेऽशिति ॥६।१।४४॥

आत् १।१॥ एचः ६।१॥ उपदेशे ७।१॥ अशिति ७।१॥ स०—शश्चासौ इत् च स शित्, न शित् अशित्, तस्मिन् कर्मधारयगर्भ नञ्तत्पुरुषः॥ अर्थः—उपदेशावस्थायां य एजन्तो धातुस्तस्याकारादेशो भवति, शिति प्रत्यये परतस्तु न भवति॥ उदा०—ग्लै—ग्लाता, ग्लातुम्, ग्लातव्यम्। शो—निशाता, निशातुम्, निशातव्यम्॥

भाषार्थः—[उपदेशे] उपदेश अवस्था में जो [एचः] एजन्त धातु, उसको [आत्] आकारादेश हो जाता है, [अशिति] इत्संज्ञक शकारादि प्रत्यय परे हो तो नहीं होता ॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् एच् को ही आत्व होता है ॥ यहाँ लिटि धातो० (६।१।८) से धातोः की अनुवृत्ति मण्डूकप्लुति से जाननी चाहिये ॥

यहाँ से 'आदेचः' की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक, तथा 'उपदेशे' की ६।१।६२ तक जायेगी ॥

न व्यो लिटि ॥६।१।४५॥

न अ०॥ व्यः ६।१॥ लिटि, ७।१॥ अनु०—आदेच, उपदेशे ॥ अर्थः—व्येञ् धातोरेचः स्थाने लिटि परत आकारादेशो न भवति ॥ उदा०—संविव्याय, संविव्यिथ ॥

भाषार्थः—उपदेश में एजन्त जो [व्यः] व्येञ् धातु, उसको [लिटि] लिट् परे रहते आकारादेश [न] नहीं होता ॥ पूर्ववत् द्वित्वादि होकर 'व्ये व्ये णल्' रहा। लिट्यभ्यासस्यो० (६।१।१७), एवं न सम्प्रसारणे० (६।१।३६) के नियम से अभ्यास के पर यण् य् को सम्प्रसारण होकर 'वि व्ये अ' रहा। णल् को मानकर ए को ऐ वृद्धि तथा आयादेश होकर संविव्याय बना। संविव्यिथ में इडत्त्यर्तिव्ययतीनाम् (७।२।६६) से इट् आगम हो जाता है ॥

स्फुरतिस्फुलत्योर्घञि ॥६।१।४६॥

स्फुरतिस्फुलत्योः ६।२॥ घञि ७।१॥ स०—स्फुरति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदेचः ॥ अर्थः—स्फुर स्फुल संचलने इत्येतयोः धात्वोरेचः स्थाने आकारादेशो भवति घञि परतः ॥ उदा०—विस्फारः, विस्फालः। विष्फारः, विष्फालः ॥

भाषार्थः—[स्फुरतिस्फुलत्योः] स्फुर तथा स्फुल धातुओं के एच् के स्थान में [घञि] घञ् परे रहते आकारादेश हो जाता है ॥ स्फुर स्फुल को गुण कर लेने पर जो एच् होता है, उसको आत्व इस सूत्र से होता है। क्योंकि उपदेशावस्था में तो एच् है नहीं, अतः उपदेश की अनुवृत्ति यहाँ, एवं इसी प्रकार अन्यत्र जहाँ उपदेश में एच् न हो, सम्बद्ध नहीं होती। उदाहरणों में विकल्प से षत्व स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः (८।३।७६) से होता है ॥

क्रीङ्जीनां णौ ॥६।१।४७॥

क्रीङ्जीनाम् ६।३॥ णौ ७।१॥ स०—क्री च इङ् च जिश्च क्रीङ्जयः, तेषां इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदेचः ॥ अर्थः—डुक्रीञ् इङ् जि इत्येतेषां धातूनामेचः स्थाने आकारादेशो भवति णौ परतः ॥ उदा०—क्रापयति, अध्यापयति, जापयति ॥

भाषार्थः—[क्रीङ्जीनाम्] डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये, इङ् अध्ययने, जि जये इन धातुओं के एच् के स्थान में [णौ] णिच् परे रहते आकारादेश हो जाता है ॥ भाग १ परि० ३।३।१६६ के 'अध्यापय' के समान ही अध्यापयति की सिद्धि में 'अध्यापि' धातु बनाकर शप् तिप् लाकर सिद्धि जानें ॥ शेष को तथा जि को भी गुण होकर प्रकृत सूत्र से आत्व करके पुक् आगम करके पूर्ववत् सिद्धि जानें ॥

यहाँ से 'णौ' की अनुवृत्ति ६।१।४८ तक जायेगी ॥

सिध्यतेरपारलौकिके ॥६।१।४८॥

सिध्यतेः ६।१॥ अपारलौकिके ७।१॥ परलोकः प्रयोजनमस्येति पारलौकिकः, प्रयोजनम् (५।१।१०८) इति ठक्, अनुशतिकादित्वाच्च (७।३।२०) उभयपदवृद्धिः ॥ स०—अपारलौ० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—णौ, आदेचः ॥ अर्थः—अपारलौकिकेऽर्थे वर्त्तमानस्य षिधुधातोरेचः स्थाने णौ परत आकारादेशो भवति ॥ उदा०—अन्नं साधयति, ग्रामं साधयति ॥

भाषार्थः—[सिध्यतेः] 'षिधु हिंसासंराध्योः' धातु यदि [अपारलौकिके] अपारलौकिक अर्थ में वर्त्तमान हो, तो उसके एच् के स्थान में णिच् परे रहते आकारादेश हो जाता है ॥ अन्नं साधयति (=अन्न को पकाता है) यहाँ उदाहरणों में परलोक को सिद्ध करना अर्थ नहीं है, अतः आत्व हो गया । सिध् को सेध् गुण करके आत्व होता है ॥

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च ॥६।१।४९॥

मीनातिमिनोतिदीङाम् ६।३॥ ल्यपि ७।१॥ च अ०॥ स०—मीनाती० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदेच उपदेशे ॥ अर्थः—मीञ् हिंसायाम्, डुमिञ् प्रक्षेपणे, दीङ् क्षये इत्येतेषां धातूनां ल्यपि विषये चकारादेचश्च विषये उपदेश एवाकारादेशो भवति ॥ उदा०—प्रमाता, प्रमातुम्, प्रमातव्यम् । ल्यपि—प्रमाय । डुमिञ्—निमाता, निमातुम्, निमातव्यम् । ल्यपि—निमाय । दीङ्—उपदाता, उपदातुम्, उपदातव्यम् । ल्यपि—उपदाय ॥

भाषार्थः—[मीनातिमिनोतिदीङाम्] मीञ् डुमिञ् तथा दीङ् धातुओं को [ल्यपि] ल्यप् परे रहते, [च] तथा एच् के विषय में भी उपदेश अवस्था में ही आत्व हो जाता है ॥ एच्विषय में ही अर्थात् एच् बनने की सम्भावना होने पर ही आत्व विधान करने से अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् को आत्व एच् बनने से पूर्व ही हो जाता है[1] । तृच् तुमुन् तव्य प्रत्ययों के परे रहते गुण सम्भव है, अतः ये

---

१. इसका फल यह है कि 'उपदायो वर्तते' में इकारान्तलक्षण (३।३।५६) अच् नहीं होता, घञ् होना है । 'ईषदुपदानम्' में आतो युच् (३।३।१२८) से आकारान्तलक्षण युच् हो जाता है ॥

एच्विषयक है, सो इनका विषय उपस्थित होगा, [यह मानकर] पूर्व ही आत्व हो जाता है। ल्यप् स्थानिवत् से कित् है, अतः यहाँ गुण सम्भव नहीं। सो ल्यप् का पृथक् ग्रहण है॥

यहाँ से 'ल्यपि' की अनुवृत्ति ६।१।५० तक जायेगी॥

विभाषा लीयतेः ॥६।१।५०॥

विभाषा १।१॥ लीयतेः ६।१॥ अनु०—ल्यपि, आदेच उपदेशे ॥ अर्थः—लीङ् श्लेषणे, ली श्लेषणे इति द्वयोरपि ग्रहणम। लीयतेर्धातोर्ल्यपि च एचश्च विषय उपदेश एव विभाषाऽऽकारादेशो भवति ॥ उदा०—विलाता, विलातुम, विलातव्यम। ल्यपि—विलाय। पक्षे—विलेता, विलेतुम्, विलेतव्यम। ल्यपि—विलीय॥

भाषार्थः—लीङ् श्लेषणे तथा ली श्लेषणे दोनों धातुओं का यहां ग्रहण है। [लीयतेः] ली धातु को ल्यप् परे रहते तथा एच् विषय में [विभाषा] विकल्प से उपदेश अवस्था में ही आत्व हो जाता है॥ पूर्व सूत्र के समान यहां भी एच् विषय में अलोऽन्त्यस्य से आत्व होगा, ऐसा जानें॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।१।५५ तक जायेगी॥

खिदेश्छन्दसि ॥६।१।५१॥

खिदेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—विभाषा, आदेचः ॥ अर्थः—खिद दैन्ये धातोरेचः स्थाने छन्दसि विषये विकल्पेन आकारादेशो भवति॥ उदा०—चित्तं चखाद, चित्तं चिखेद॥

भाषार्थः—[खिदेः] 'खिद दैन्ये' धातु के एच् के स्थान में [छन्दसि] वेदविषय में विकल्प से आत्व होता है॥ प्रथम खिद धातु को लिट् में गुण होकर प्रकृत सूत्र से आत्व करने पर द्वित्व एवं अभ्यासकार्य करके चखाद बन गया। पक्ष में चिखेद रहा॥

अपगुरो णमुलि ॥६।१।५२॥

अपगुरः ६।१॥ णमुलि ७।१॥ स०—अपात् गुर् अपगुर्, तस्मात् .... पञ्चमी-तत्पुरुषः॥ अनु०—विभाषा, आदेचः॥ अर्थः—अपपूर्वस्य गुरी उद्यमने धातोर्णमुलि परतः एचः स्थाने विभाषा आकारादेशो भवति॥ उदा०—अपगारमपगारम्, अपगोरमपगोरम्॥

भाषार्थः—[अपगुरः] अपपूर्वक 'गुरी उद्यमने' धातु के एच् के स्थान में [णमुलि] णमुल् परे रहते विकल्प से आत्व हो जाता है॥ उदाहरण में आभीक्ष्ण्ये

णमुल् (३।४।२२) से णमुल् प्रत्यय, तथा आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः (वा० ८।१।१२) वार्त्तिक से 'अपगारम्' 'अपगोरम्' को द्वित्व हुआ है ॥

चिस्फुरोर्णौ ॥६।१।५३॥

चिस्फुरोः ६।२॥ णौ ७।१॥ स०—चिश्च स्फुर् च चिस्फुरौ, तयोः…॥ इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा, आदेचः ॥ अर्थः— चि स्फुर् इत्येतयोर्धात्वोरेचः स्थाने णौ परतो विकल्पेनाकारादेशो भवति ॥ उदा०—चापयति, चाययति । स्फारयति, स्फोरयति ॥

भाषार्थः—[चिस्फुरोः] चि तथा स्फुर धातुओं के एच् के स्थान में [णौ] णिच् परे रहते विकल्प से आत्व हो जाता है। आत्वपक्ष में 'चापयति' में अर्त्तिह्री० (७।३।३६) से पुक् आगम, तथा अनात्व पक्ष में चि को चै वृद्धि एवं आयादेश होकर— चायि अ ति' रहा। पश्चात् गुण एवं अयादेश होकर चाययति बना ॥

यहाँ से 'णौ' की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक जायेगी ॥

प्रजने वीयतेः ॥६।१।५४॥

प्रजने ७।१॥ वीयतेः ६।१॥ अनु०—णौ, विभाषा, आदेचः ॥ अर्थः—प्रजनेऽर्थे वर्त्तमानस्य 'वी' इत्यस्य धातोर्णौ परतो विकल्पेनाकारादेशो भवति ॥ उदा०—पुरो वातो गाः प्रवापयति, प्रवाययति ॥

भाषार्थः—[प्रजने] प्रजन अर्थ में वर्त्तमान [वीयतेः] वी धातु के एच् के स्थान में विकल्प से आकारादेश हो जाता है, णिच् परे रहते । पूर्ववत् आत्व पक्ष में पुक् आगम, तथा अनात्व पक्ष में वृद्धि आदि कार्य जानें ॥ उदा०—पुरो वातो गाः प्रवापयति (=पूर्व दिशा का वायु गौओं को गर्भ धारण कराता है), प्रवाययति ॥

बिभेतेर्हेतुभये ॥६।१।५५॥

बिभेतेः ६।१॥ हेतुभये ७।१॥ स०—हेतोर्भयम् हेतुभयम्, तस्मिन्…पञ्चमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—णौ, विभाषा, आदेचः ॥ अर्थः—हेतुभयेऽर्थे वर्त्तमानस्य 'ञिभी भये' इत्यस्य धातोरेचः स्थाने णौ परतो विकल्पेनाकारादेशो भवति ॥ स्वतन्त्रस्य कर्त्तुः प्रयोजकः (१।४।५५) हेतुरिह गृह्यते ॥ उदा०—मुण्डो भापयते, मुण्डो भीषयते । जटिलो भापयते, जटिलो भीषयते ॥

भाषार्थः—स्वतन्त्र कर्त्ता का जो प्रयोजक, वह 'हेतु' शब्द से यहाँ लिया गया है। ऐसा साक्षात् हेतु जहाँ भय का कारण बन रहा हो, उस अर्थ में अर्थात् [हेतुभये]

हेतु से भय अर्थ में वर्त्तमान [बिभेतेः] ञिभी धातु के एच् के स्थान में णिच् परे रहते विकल्प से आत्व होता है ।। भीषयते की सिद्धि भाग १, पृ० ७१५ में देखें, यह अनात्वपक्ष का रूप है । आत्वपक्ष में पुक् आगम होगा । शेष भीषयते के समान जानें ।।

यहाँ से हेतुभये की अनुवृत्ति ६।१।५६ तक जायेगी ।।

नित्यं स्मयतेः ।।६।१।५६।।

नित्यम् १।१।। स्मयतेः ६।१।। अनु०—हेतुभये, णौ, आदेचः ।। अर्थः—हेतुभयेऽर्थे 'ष्मिङ ईषद्धसने' इत्यस्य धातोरेचः स्थाने णौ परतो नित्यमात्वं भवति ।। उदा०—मुण्डो विस्मापयते, जटिलो विस्मापयते ।।

भाषार्थः—हेतुभय अर्थ में वर्त्तमान [स्मयतेः] ष्मिङ् धातु के एच् के स्थान में णिच् परे रहते [नित्यम्] नित्य ही आत्व हो जाता है ।। यहाँ भी हेतुशब्द का पूर्ववत् अर्थ समझें ।। विस्मापयते में भीस्म्योर्हेतुभये (१।३।६८) से आत्मनेपद, तथा पूर्ववत् पुक् का आगम होता है ।।

सृजिदृशोर्झल्यमकिति ।।६।१।५७।।

सृजिदृशोः ६।२।। झलि ७।१।। अम् १।१।। अकिति ७।१।। स०—सृजि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अकितीत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। अर्थः—सृज विसर्गे, दृशिर् प्रेक्षणे, इत्येतयोः धात्वोरमागमो भवति, झलादावकिति प्रत्यये परतः ।। उदा०—स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम् । द्रष्टा, द्रष्टुम्, द्रष्टव्यम् ।।

भाषार्थः—[सृजिदृशोः] सृज और दृशिर् धातु को [अकिति] कित्-भिन्न [झलि] झलादि प्रत्यय परे हो, तो [अम्] अम् आगम होता है ।। सृज् तृच्, यहाँ अम् आगम मिदचो० (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे होकर 'सृ अम् ज् तृ' रहा यणादेश, तथा व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से षत्व, एवं ष्टुत्व होकर 'स्र ष्टृ' रहा । शेष कार्य तृजन्त की सिद्धि के समान होकर स्रष्टा (=बनानेवाला) बना । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानें ।।

यहाँ से 'झल्यमकिति' की अनुवृत्ति ६।१।५८ तक जायेगी ।।

अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् ।।६।१।५८।।

अनुदात्तस्य ६।१।। च अ० ।। ऋदुपधस्य ६।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। स०—ऋकार उपधा यस्य स ऋदुपधः, तस्य ... बहुव्रीहिः ।। अनु०—झल्यमकिति, उपदेशे ।। अर्थः—उपदेशेऽनुदात्तस्य ऋकारोपधस्य धातोर्झलादावकिति प्रत्यये

परतो विकल्पेनामागमो भवति ॥ उदा०—त्रप्ता, तर्पिता, तर्प्ता । द्रप्ता, दर्पिता, दर्प्ता ॥

भाषार्थः—उपदेश में जो [अनुदात्तस्य] अनुदात्त [च] तथा [ऋदुपधस्य] ऋकार उपधावाली धातु, उसको अम् आगम [अन्यतरस्याम्] विकल्प से अकित् झलादि प्रत्यय परे रहते हो जाता है ॥ तृप दृप धातु को रधादिभ्यश्च (७।२।४५) से इट् भी विकल्प से होता है । सो पक्ष में तर्पिता दर्पिता रूप बनेगा । जब अम् आगम होगा, तो त्रप्ता द्रप्ता, तथा जब पक्ष में अम् तथा इट् नहीं होगा, तो गुण होकर तर्प्ता दर्प्ता बनेगा । तृप् दृप् धातुएं उपदेश में अनुदात्त और ऋकारोपध हैं ॥

शीर्षंश्छन्दसि ॥६।१।५९॥

शीर्षन् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अर्थः—शीर्षन् इति निपात्यते छन्दसि विषये । न पुनरयमादेशः शिरःशब्दस्य, किन्तु शिरःशब्देन समानार्थको भिन्नोऽयं शब्दः[1] ॥ उदा०—शीर्ष्णा हि तत्र सोमं क्रीतं हरन्ति । यत्ते शीर्ष्णो दौर्भाग्यम् ॥

भाषार्थः—[शीर्षन्] शीर्षन् शब्द [छन्दसि] वेदविषय में निपातन किया जाता है ॥ शिरस् शब्द का पर्यायवाची यह शीर्षन् शब्द पृथक् निपातित है; न कि शिरस् को शीर्षन् आदेश निपातित किया है ॥ शीर्ष्णा यह तृतीयान्त, तथा शीर्ष्णः यह षष्ठ्यन्त का रूप है । अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) से यहाँ अकारलोप हुआ है ॥

यहाँ से 'शीर्षन्' की अनुवृत्ति ६।१।६० तक जायेगी ॥

ये च तद्धिते ॥६।१।६०॥

ये ७।१॥ च अ० ॥ तद्धिते ७।१॥ अनु०—शीर्षन् ॥ अर्थः—यकारादौ तद्धिते परतः शिरःशब्दस्य शीर्षन्नादेशो भवति । आदेशोऽयमिष्यते शिरःशब्दस्य[2] ॥ उदा०—शीर्षण्यो हि मुख्यो भवति । शीर्षण्यः स्वरः ॥

भाषार्थः—[ये] यकारादि [तद्धिते] तद्धित के परे रहते [च] भी शिरस् को शीर्षन् आदेश हो जाता है ॥ इस सूत्र में शीर्षन् भिन्न शब्द इष्ट नहीं, किन्तु शिरस् को शीर्षन् आदेश इष्ट है ॥ शिरसि भवः = शीर्षण्यः, यहाँ शरीरावयवाच्च (४।३।५५) से यत् तद्धित प्रत्यय हुआ है । नस्तद्धिते (६।४।१४४) से यहाँ टिलोप ये चाभावकर्मणोः (६।४।१६८) से प्रकृतिभाव होने के कारण नहीं होता ॥

---

१. आदेशनिपातने वेदे शिरसः प्रयोगो न स्यात् । दृश्यते च तस्यापि प्रयोग इति कृत्वा प्रकृत्यन्तरं निपात्यते ॥

२. आदेशविधानात् "शिरस्यः' इति प्रयोगो न भवति । केशेषु तु "वा केशेषु' इति वार्त्तिकेन शीर्षण्यः शिरस्य इत्युभयं भवति ॥

पद्दन्नोमास्हृन्निशसन्यूषन्दोषन्यकञ्छकन्नुदन्नासञ्छस्प्रभृतिषु ॥६।१।६१॥

[पद्दन्नो ... सन्] सर्व पृथक् पृथक् लुप्तप्रथमान्तनिर्दिष्टाः ॥ शस्प्रभृतिषु ७।३॥ स०—शस प्रभृतिः=प्रकारः येषां ते शस्प्रभृतयः, तेषु ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—मण्डूकप्लुतगत्या 'छन्दसि' इत्यनुवर्त्तते ॥ अर्थः—पादि, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज, यूष, दोष, यकृत, शकृत, उदक, आस्य इत्येतेषां स्थाने यथासङ्ख्यं पद्, दत, नस, मास, हृद, निश, असन, यूषन, दोषन, यकन, शकन, उदन, आसन इत्येते आदेशा भवन्ति, छन्दसि विषये शस्प्रभृतिषु प्रत्ययेषु परतः ॥ आदेशानुरूपप्रकृत्याक्षेपात् स्थानिनः परिज्ञानं भवति ॥ उदा०—पद्—निपदश्चतुरो जहि । पदा वर्त्तय गोदुहम् । दत्—या दतो धावति तस्यै श्यावदन् । नस्—शूकरस्त्वखिन्नसा । मास्—मासि त्वा पश्यामि चक्षुषा । हृत्—हृदा पूतेन मनसा जातवेदसम् । निश्—अमावास्यायां निशि यजेत । असन्—असिक्तोऽस्नाविरोहति । यूषन्—या पात्राणि यूष्ण आसेचनानि (ऋ० २५।३६) । दोषन्—यत्ते दोष्णो दौर्भाग्यम् । यकन्—यक्नोऽवद्यति । शकन्—शक्नोऽवद्यति । उदन्—उद्नो दिव्यस्य नो धातः । आसन्—आसनि किं लभे मधूनि ॥

भाषार्थः—यहाँ स्थानी का निर्देश नहीं किया गया, केवल आदेश गिनाये हैं। सो अर्थ के अनुसार आदेश के अनुरूप स्थानी का आक्षेप कर लिया जायेगा। अतः सूत्रार्थ होगा—पाद, दन्त, नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य इन के स्थान में यथासङ्ख्य करके [पद्दन्नो ... सन्] पद्, दत्, नस्, मास्, हृद्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकन्, शकन्, उदन्, आसन् ये आदेश [शस्प्रभृतिषु], शस् प्रकारवाले प्रत्ययों के परे रहते वेदविषय में हो जाते हैं ॥ यूष्णः, दोष्णः, यक्नः, शक्नः, उद्नः ये षष्ठ्यन्त पद हैं। अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) से यहाँ अकारलोप हुआ है। णत्वादिकार्य पूर्ववत् जान लें। अस्ना (३।१) यहाँ अल्लोपोऽनः से लोप जानें। आसनि (७।१), यहाँ विभाषा ङिश्योः (६।४।१३६) से पक्ष में अकारलोप नहीं हुआ है। शेष पद षष्ठ्यन्त तृतीयान्त एवं सप्तम्यन्त हैं, सो सुस्पष्ट ही हैं ॥

धात्वादेः षः सः ॥६।१।६२॥

धात्वादेः ६।१॥ षः ६।१॥ सः १।१॥ स०—धातोरादिः धात्वादिः, तस्य ... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—उपदेशे ॥ अर्थः—धात्वादेः षकारस्य स्थाने उपदेशावस्थायां सकारादेशो भवति ॥ उदा०—षह—सहते । षिच—सिञ्चति ॥

भाषार्थः—[धात्वादेः] धातु के आदि के [षः] षकार के स्थान में उपदेश

अवस्था में [सः] सकार आदेश होता है। सिञ्चति में भी मुचादीनाम् (७।१।५६) से नुम् आगम होता है, पश्चात् श्चुत्व होकर सिञ्चति बनता है॥

यहां से 'धात्वादेः' की अनुवृत्ति ६।१।६३ तक जायेगी॥

णो नः॥६।१।६३॥

णः ६।१॥ नः १।१॥ अनु०—धात्वादेः, उपदेशे॥ अर्थः—धात्वादेर्णकारस्य स्थाने उपदेशावस्थायां नकार आदेशो भवति॥ उदा०—णीञ्—नयति। णम—नमति। णह—नह्यति॥

भाषार्थः—धातु के आदि के [णः] णकार के स्थान में उपदेश में [नः] नकार आदेश होता है॥ णह दिवादिगण की धातु है॥

लोपो व्योर्वलि॥६।१।६४॥

लोपः १।१॥ व्योः ६।२॥ वलि ७।१॥ स०—वश्च यश्च व्यौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः॥ अर्थः—वकारयकारयोर्लोपो भवति वलि परतः॥ उदा०—दिव्—दिदिवान् दिदिवांसौ दिदिवांसः। ऊयी—ऊतम्। क्नूयी—क्नूतम्। गोधेरः। पचेरन्, यजेरन्। जीरदानुः। आस्रेमाणम्॥

भाषार्थः—[व्योः] वकार और यकार का [वलि] वल् परे रहते [लोपः] लोप होता है॥ दिदिवान् क्वसु का रूप है, सो वस् के परे रहते दिव् के वकार का लोप हो जायेगा। तथा सान्तमहतः संयोगस्य (६।४।१०) से दीर्घ होगा। शेष सिद्धि क्तवतु प्रत्ययान्त के समान जानें। क्त के परे ऊयी क्नूयी के यकार का लोप होता है। गोधेरः पचेरन् जीरदानुः आस्रेमाणम् की सिद्धियां भाग १ पृ० ७५३—५४ में देखें॥

यहां से 'लोपः' की अनुवृत्ति ६।१।६८ तक जायेगी॥

वेरपृक्तस्य॥६।१।६५॥

वेः ६।१॥ अपृक्तस्य ६।१॥ अनु०—लोपः॥ अर्थः—अपृक्तस्य वेः लोपो भवति॥ उदा०—ब्रह्महा, भ्रूणहा। घृतस्पृक्, तैलस्पृक्। अर्द्धभाक्, पादभाक्, तुरीयभाक्॥

भाषार्थः—[अपृक्तस्य] अपृक्तसंज्ञक [वेः] वि का लोप होता है॥ 'वि' का सामान्यरूप से निर्देश है अतः क्विप् क्विन् तथा ण्वि आदि सभी का ग्रहण हो जाता है॥ ब्रह्महा भ्रूणहा में ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् (३।२।८७) से क्विप् प्रत्यय जानें। सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें। घृतस्पृक् तैलस्पृक् अर्द्धभाक् इत्यादि की सिद्धि

भाग १, पृ० ७८६—९० में देखें। वि के अनुनासिक इकार का लोप करने पर वह अपृक्तसंज्ञक होता है ॥

लोप

हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल् ॥६।१।६६॥

हल्ङ्याब्भ्यः ५।३॥ दीर्घात् ५।१॥ सुतिसि १।१॥ अपृक्तम् १।१॥ हल् १।१॥ स०—हल् च ङी च आप् च हल्ङ्यापः,तेभ्यः ... इतरेतरद्वन्द्वः । सुश्च तिश्च सिश्च सुतिसि, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—लोपः ॥ अर्थः—हलन्ताद् ङ्यन्ताद् आबन्ताच्च दीर्घात् परं सु ति सि इत्येतदपृक्तं हल् लुप्यते ॥ उदा०—हलन्तात् सुलोपः— राजा, तक्षा,उखास्रत्, पर्णध्वत् । ङ्यन्तात्—कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी । आबन्तात्— खट्वा, बहुराजा, कारीषगन्ध्या । तिलोपः सिलोपश्च हलन्तादेव । तिलोपस्तावत— अबिभर्भवान्, अजागर्भवान् । सिलोपः— अभिनोऽत्र, अच्छिनोऽत्र ॥

भाषार्थः—[हल्ङ्याब्भ्यः] हलन्त ङ्यन्त तथा आबन्त जो [दीर्घात्] दीर्घ, उनसे उत्तर [सुतिसि] सु ति तथा सि जो [अपृक्तम्] अपृक्त [हल्] हल् उनका लोप होता है ॥

यहाँ से 'हल्' की अनुवृत्ति ६।१।६७ तक जायेगी।

लोप

एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः ॥६।१।६७॥

एङ्ह्रस्वात् ५।१॥ सम्बुद्धेः ६।१॥ स०—एङ् च ह्रस्वश्च एङ्ह्रस्वं, तस्मात् ... समाहारो द्वन्द्वः । अनु०—हल्, लोपः ॥ अर्थः—एङन्तात् ह्रस्वान्ताच्च प्रातिपदिकादुत्तरो हल् लुप्यते, स चेत् सम्बुद्धेर्भवति ॥ उदा०—एङन्तात्—हे अग्ने, हे वायो ॥ ह्रस्वान्तात्—हे देवदत्त, हे नदि, हे वधु, हे कुण्ड ॥

भाषार्थः—[एङ्ह्रस्वात्] एङन्त तथा ह्रस्वान्त प्रातिपदिक से उत्तर हल् का लोप होता है, यदि वह हल् [सम्बुद्धेः] सम्बुद्धि का हो तो ॥

लोप

शेश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।६८॥

शेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ अनु०—लोपः ॥ अर्थः—शि इत्येतस्य बहुलं छन्दसि विषये लोपो भवति ॥ उदा०—या क्षेत्रा, या वना । यानि क्षेत्राणि, यानि वनानि ॥

भाषार्थः—[शेः] शि का [बहुलम्] बहुल करके [छन्दसि] वेदविषय में लोप हो जाता है। जश्शसोः शिः (७।१।२०) से जो शि होता है, उसका यहाँ लोप विधान है। लोप करने के पश्चात् प्रत्ययलक्षण से नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२) से नुम् होकर,तथा सर्वनामस्थाने० (६।४।८) से दीर्घ होकर 'या न्' रहा। पश्चात् नलोपः० (८।२।७) से नकार लोप होकर 'या' बना। बहुल कहने से जिस पक्ष में

शि का लोप नहीं होगा, तो पूर्ववत् त्यदादीनामः (७।२।१०२) आदि सूत्र लगकर 'यानि' बना ॥

[तुक्-प्रकरणम्]

ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् ॥६।१।६९॥ तुक

ह्रस्वस्य ६।१॥ पिति ७।१॥ कृति ७।१॥ तुक् १।१॥ अर्थः—पिति कृति परतो ह्रस्वान्तस्य धातोः तुगागमो भवति ॥ उदा०—अग्निचित्, सोमसुत् । प्रकृत्य, प्रहृत्य, उपस्तुत्य ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वस्य] ह्रस्वान्त धातु को [पिति कृति] पित् कृत् परे रहते [तुक्] तुक् का आगम होता है ॥ भाग १,पृ० ७५६ में अग्निचित् सोमसुत् की सिद्धि देखें, तथा भाग १,पृ० ७२९ में प्रकृत्य आदि की सिद्धि देखें ॥

यहाँ से 'ह्रस्वस्य' की अनुवृत्ति ६।१।७१ तक, तथा 'तुक्' की ६।१।७३ तक जायेगी ॥

संहितायाम् ॥६।१।७०॥

संहितायाम् ७।१॥ अर्थः—अधिकारोऽयमनुदात्तं पदमेकवर्जमिति यावत् । प्रागेतस्मात् सूत्राद् यद् वक्ष्यति,तत् संहितायामित्येवं वेदितव्यम् । विषयसप्तमीयम् ॥ उदा०—वक्ष्यति इको यणचि - दध्यत्र, मध्वत्र ॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है, अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२) से पहले-पहले तक जायेगा । अतः इस सूत्रपर्यन्त जितने कार्य कहे जायेंगे, वे सब संहिता के विषय में होंगे । 'संहितायाम्' में विषयसप्तमी है ॥ परः सन्निकर्षः० (१।४।१०८) से संहिता संज्ञा होती है ॥

छे च ॥ ६।१।७१॥ तुक - आगम

छे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—संहितायाम्, ह्रस्वस्य तुक् ॥ अर्थः—छकारे परतः संहितायां विषये ह्रस्वस्य तुगागमो भवति ॥ उदा०—इच्छति, गच्छति ॥

भाषार्थः—[छे] छकार परे रहते [च] भी ह्रस्व को संहिता के विषय में तुक् का आगम होता है ॥ गम् के मकार को इषुगमि० (७।३।७७) से छत्व होकर गच्छति बनेगा। इसी प्रकार इषु धातु में भी छत्व, तुक् आगम, एवं श्चुत्व होकर इच्छति बना है ॥

यहाँ से 'छे' की अनुवृत्ति ६।१।७३ तक जायेगी ॥

तुक्-आगमः

आङ्माङोश्च ॥६।१।७२॥

आङ्माङोः ६।२॥ च अ० ॥ स०—आङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छे, संहितायाम्, तुक् ॥ अर्थः—आङो माङश्च छकारे परतस्तुगागमो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—ईषच्छाया=आच्छाया । आच्छादयति । आच्छायायाः । आच्छायम् । माच्छैत्सीत । माच्छिदत् ॥

भाषार्थः—[आङ्माङोः] आङ् तथा माङ् को [च] भी छकार परे रहते तुक् का आगम होता है, संहिता के विषय में ॥ आङ् के ईषत् (=थोड़ा), क्रियायोग, मर्यादा तथा अभिविधि ये चार अर्थ हैं, तथा माङ् प्रतिषेधवाची है । सो इन अर्थों में तुक् का आगम होता है । तुक् करने के पश्चात् श्चुत्व हो ही जायेगा ॥ उदा०—आच्छाया (=थोड़ी छाया), आच्छादयति (=ढकता है), आच्छायायाः (=छाया से पूर्व पूर्व), आच्छायम् (=छाया तक), माच्छैत्सीत् (=नहीं काटा) ।

तुक्

दीर्घात् पदान्ताद्वा ॥६।१।७३॥

दीर्घात् ५।१॥ पदान्तात् ५।१॥ वा अ० ॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, तस्मात्···षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—छे, संहितायाम्, तुक् ॥ अर्थः—दीर्घादुत्तरो यश्छकारस्तस्मिन् पूर्वस्य तस्यैव दीर्घस्य नित्यं तुगागमो भवति, पदान्ताच्च दीर्घादुत्तरो यश्छकारस्तस्मिन् पूर्वस्य तस्यैव पदान्तस्य दीर्घस्य विकल्पेन तुगागमो भवति ॥ उदा०—दीर्घात्—ह्रीच्छति, म्लेच्छति, अपचाच्छायते, विचाच्छायते । पदान्तात्—कुटीच्छाया, कुटीछाया । कुवलीच्छाया, कुवलीछाया ॥

भाषार्थः—[दीर्घात्] दीर्घ से उत्तर जो छकार है, उसके परे रहते पूर्ववाले दीर्घ को नित्य तुक् का आगम होता है, तथा जो [पदान्तात्] पदान्त में दीर्घ हो उससे उत्तर छकार परे रहते पूर्व पदान्त दीर्घ को [वा] विकल्प से तुक् आगम होता है, संहिता के विषय में । अर्थात् जो अपदान्त में दीर्घ है उसे नित्य तुक् आगम, तथा पदान्त दीर्घ को विकल्प से तुक् आगम होता है ॥ ह्रीच्छति आदि अपदान्त दीर्घ हैं, अतः नित्य तुक् हुआ है । तथा कुटीच्छाया पदान्त दीर्घ है, सो विकल्प से तुक् हुआ है ।

[सन्धि-प्रकरणम्]

इको यणचि ॥६।१।७४॥

इकः ६।१॥ यण् १।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—संहितायाम् ॥ अर्थः—इकः स्थाने यणादेशो भवत्यचि परतः, संहितायां विषये ॥ उदा०—दध्यत्र, मध्वत्र, कर्त्रर्थम्, हर्त्रर्थम्, लृ+आकृतिः=लाकृतिः ॥

भाषार्थः—[इकः] इक्=इ, उ, ऋ, लृ के स्थान में यथासङ्ख्य करके [यण्] य्, र्, ल्, व् आदेश होते हैं [अचि] अच् परे रहते, संहिता के विषय में ॥

यहाँ से 'अचि' की अनुवृत्ति ६।१।१२० तक जायेगी ॥

एचोऽयवायावः ॥६।१।७५॥

एचः ६।१॥ अयवायावः १।३॥ स०—अय् च अव् च आय् च आव् च अयवायावः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अचि, संहितायाम् ॥ अर्थः—एचः स्थाने अय्, अव्, आय्, आव् इत्येते आदेशाः यथासङ्ख्यम् अचि परतो भवन्ति संहितायां विषये ॥ उदा०—चयनम्, लवनम्, चायकः, लावकः ॥

भाषार्थः—[एचः] एच्=ए, ओ, ऐ, औ के स्थान में क्रमशः [अयवायावः] अय्, अव्, आय्, आव् आदेश अच् परे रहते होते हैं, संहिता के विषय में ॥ चे+अन=चयनम् । लो+अन=लवनम् । चै+अक=चायकः । लौ+अक=लावकः ॥

यहाँ से 'एचः' की अनुवृत्ति ६।१।७७ तक जायेगी ॥

वान्तो यि प्रत्यये ॥६।१।७६॥

वान्तः १।१॥ यि ७।१॥ प्रत्यये ७।१॥ स०—वकारोऽन्ते यस्य स वान्तः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—एचः, अचि, संहितायाम् ॥ अर्थः—यकारादौ प्रत्यये परतः संहितायां विषये एचः स्थाने वान्तादेशो भवति ॥ उदा०—बाभ्रव्यः, माण्डव्यः, शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कार्पासः, नाव्यो ह्रदः ॥

भाषार्थः—[यि] यकारादि [प्रत्यये] प्रत्यय के परे रहते एच् के स्थान में संहिता के विषय में [वान्तः] वकार अन्तवाले अर्थात् ओकार के स्थान में अव् तथा औकार के स्थान में आव् आदेश होते हैं। अय् आय् आदेश यकारान्त हैं, अतः वे नहीं होते ॥ बभ्रु शब्द से मधुबभ्र्वोः० (४।१।१०६) से यञ् प्रत्यय, तथा मण्डु शब्द से गर्गादिभ्यो० (४।१।१०५) से यञ् प्रत्यय हुआ है। गुण होकर ओकार को अव् आदेश प्रकृत सूत्र से हुआ है। शङ्कव्यं, पिचव्यः में उगवादिभ्यो यत् (५।१।२) से यत् प्रत्यय हुआ है। नाव्यः में नौ शब्द से नौवयोधर्म०(४।४।९१) से यत् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'वान्तः' की अनुवृत्ति ६।१।७७ तक, तथा 'यि प्रत्यये' की ६।१।८० तक जायेगी ॥

धातोस्तन्निमित्तस्यैव ॥६।१।७७॥

धातोः ६।१॥ तन्निमित्तस्य ६।१॥ एव अ० ॥ स०—तद् निमित्तं यस्य स

तन्निमित्तः तस्य...... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—वान्तो यि प्रत्यये, संहितायाम् ॥ अर्थः—तन्निमित्तः=यकारादिप्रत्ययनिमित्त एव यो धातोरेच्, तस्य यकारादौ प्रत्यये परतो वान्तादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—लव्यम्, पव्यम् । अवश्यलाव्यम्, अवश्यपाव्यम् ॥

भाषार्थः—[तन्निमित्तस्य] तत्-निमित्तक अर्थात् यकारादि-प्रत्यय-निमित्तक [एव] ही जो [धातोः] धातु का एच्, उसको यकारादि प्रत्यय के परे रहते वान्त आदेश संहिता के विषय में होता है ॥ लव्यम् में अचो यत् (३।१।९७) से यत्, तथा अवश्यलाव्यम् में ओरावश्यके (३।१।१२६) से ण्यत् हुआ है ॥

यहाँ से 'धातोः' की अनुवृत्ति ६।१।८० तक जायेगी ॥

निपातन

क्षय्यजय्यौ शक्यार्थे ॥६।१।७८॥

क्षय्यजय्यौ १।२॥ शक्यार्थे ७।१॥ स०—क्षय्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । शक्यश्चासौ अर्थः शक्यार्थः, तस्मिन्...... कर्मधारयः ॥ अनु०—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम् ॥ अर्थः—क्षय्य जय्य इत्येतयोः शब्दयोः क्षि जि इत्येतयोः धात्वोः शक्यार्थे गम्यमाने यति प्रत्यये परतः एकारस्य स्थानेऽयादेशो निपात्यते, संहितायां विषये ॥ उदा०—शक्यः क्षेतुं=क्षय्यः । शक्यो जेतुं=जय्यः ॥

भाषार्थः—[क्षय्यजय्यौ] क्षय्य जय्य ये शब्द निपातित हैं, अर्थात् क्षि जि धातुओं से यत् प्रत्यय परे रहते [शक्यार्थे] शक्य अर्थ में एकार के स्थान में अयादेश निपातन है, संहिता के विषय में ॥ अचो यत् (३।१।९७) से यत् प्रत्यय हुआ है ॥ उदा०—क्षय्यः (=नष्ट किया जा सकता है), जय्यः (=जीता जा सकता है) ॥

निपातन

क्रय्यस्तदर्थे ॥६।१।७९॥

क्रय्यः १।१॥ तदर्थे ७।१॥ स०—तस्य अर्थः तदर्थः, तस्मिन्... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम् ॥ अर्थः—क्रय्यः इत्यत्र क्रीणातेर्धातोस्तदर्थे=क्रयार्थेऽभिधेये यति प्रत्यये परतोऽयादेशो निपात्यते, संहितायां विषये ॥ उदा०—क्रय्यो गौः, क्रय्यः कम्बलः ॥

भाषार्थः—[क्रय्यः] क्रय्य शब्द में डुक्रीञ्-धातु से [तदर्थे] उस अर्थ में, अर्थात् क्रयार्थ अभिधेय होने पर यत् प्रत्यय के परे रहते अयादेश निपातित किया जाता है, संहिता के विषय में ॥ उदा०—क्रय्यो गौः (=क्रय के लिये जो गौ), क्रय्यः कम्बलः (=क्रय के जो लिये कम्बल) ॥ पूर्ववत् यत् प्रत्यय जानें ॥

अयादेश निपातन

भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि ॥६।१।८०॥

भय्यप्रवय्ये १।२॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ स०—भय्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥

अनु०—धातोः, यि प्रत्यये, संहितायाम् ।। अर्थः—ञिभीधातोः प्रपूर्वस्य च वीधातोः यति प्रत्यये परतश्छन्दसि विषयेऽयादेशो निपात्यते, संहिताया विषये ।। उदा०—भय्यं किलासीत्, वत्सतरी प्रवय्या ।।

भाषार्थः—[भय्यप्रवय्ये] भय्य तथा प्रवय्य शब्द [च] भी [छन्दसि] वेदविषय में निपातन किये जाते हैं । ञिभी धातु से तथा प्रपूर्वक वी धातु से यत् प्रत्यय परे रहते अयादेश निपातित है, संहिता के विषय में ।। भय्यः, यहाँ कृत्यल्युटो० (३।३।११३) से अपादान में यत् प्रत्यय पूर्ववत् जानें । बिभेत्यस्मादिति भय्यम् । प्रवय्या स्त्रीलिङ्ग में ही निपातन है ।।

एकः पूर्वपरयोः ।।६।१।८१।।

एकः १।१।। पूर्वपरयोः ६।२।। स०—पूर्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—संहितायाम् ।। अर्थः—अधिकारोऽयम्, ऋत उत् (६।१।१०७) इति यावत् । तत्र पर्यन्तं यद्वक्ष्यति तत् पूर्वस्य परस्य द्वयोरपि स्थाने एकादेशो भवतीति वेदितव्यम् ।। वक्ष्यति आद् गुणः (६।१।८४) इति, तत्राचि पूर्वस्यावर्णाच्च परस्य द्वयोरपि स्थाने गुण एकादेशो भवति ।। तद्यथा—खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः ।।

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है, ऋत उत् (६।१।१०७) तक जायेगा । यहाँ से आगे ६।१।१०७ तक जो भी कहेंगे, उस विषय में [पूर्वपरयोः] पूर्व और पर दोनों के स्थान में [एकः] एक आदेश होगा, ऐसा जानना चाहिये ।। जैसे कि आद् गुणः (६।१।८४) आगे कहेंगे, सो वहाँ अच् से पूर्व अवर्ण, तथा अवर्ण से उत्तर अच् दोनों के स्थान में गुण एकादेश होता है ।।

अन्तादिवच्च ।।६।१।८२।।

अन्तादिवत् अ० ।। च अ० ।। स०—अन्तश्च आदिश्च अन्तादी, इतरेतरद्वन्द्वः । ताभ्यां तुल्यमन्तादिवत्, तेन तुल्यं० (५।१।११४) इति वतिप्रत्ययः ।। अनु०—एकः पूर्वपरयोः ।। अर्थः—अतिदेशोऽयम् । एकः पूर्वपरयोरिति योऽयमेकादेशो विधीयते स एकादेशः पूर्वस्यान्तवद्भवति परस्य चादिवद् भवति ।। उदा०—ब्रह्मबन्धूः, वृक्षौ ।।

भाषार्थः—एकः पूर्वपरयोः के अधिकार में जो पूर्व पर को एकादेश कहा है, वह एकादेश पूर्व से कार्य पड़ने पर पूर्व के [अन्तादिवत्] अन्त के समान माना जाये, तथा पर से कार्य पड़ने पर पर के आदि के समान [च] माना जाये ।। यह अतिदेश सूत्र है ।। ब्रह्मबन्धूः यहाँ ब्रह्मबन्धु + ऊङ् (४।१।६६ से), ऐसी स्थिति में 'उ' तथा 'ऊ' दोनों के स्थान में सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ है । अब यहाँ 'ब्रह्मबन्धु' की तो प्रातिपदिक संज्ञा (१।२।४५ से) है, तथा ऊङ् अप्रातिपदिक (प्रत्यय) है ।

इन दोनों अर्थात् प्रातिपदिक का अवयव उकार तथा अप्रातिपदिक ऊकार के स्थान में हुआ दीर्घ एकादेश प्रातिपदिक का अवयव कैसे माना जाये ? अतः प्रकृत सूत्र से दीर्घ एकादेश को पूर्व का अन्त अर्थात् प्रातिपदिक का अन्तवत् मानकर स्वाद्युत्पत्ति हुई। वृक्षौ, यहां भी वृक्ष का अकार असुप् है, तथा औ सुप् है। इन दोनों असुप् अकार तथा सुप् औकार के स्थान में हुआ एकादेश (६।१।८५ से) 'औ' प्रकृत सूत्र से सुप् (औकार का) आदिवत् माना गया। जिससे सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से सुबन्त मानकर पद संज्ञा हो गई ॥

दो स्थानियों के स्थान में एक आदेश एकः पूर्वपरयोः के अधिकार में होता है। सो वह पूर्व स्थानी के अन्त के समान माना जावे, या पर के आदि के समान माना जावे, इसलिये यह सूत्र बनाया है ॥

षत्वतुकोरसिद्धः ॥६।१।८३॥

षत्वतुकोः ७।२॥ असिद्धः १।१॥ स०—षत्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। न सिद्धः-असिद्धः, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—एकः पूर्वपरयोः ॥ **अर्थः**—षत्वे तुकि च कर्त्तव्ये एकादेशोऽसिद्धो भवति, सिद्धकार्यं न करोतीत्यर्थः ॥ **उदा०**—षत्वविधौ—कोऽसिचत्, कोऽस्य, योऽस्य, कोऽस्मै, योऽस्मै। तुग्विधौ—अधीत्य, प्रेत्य ॥

भाषार्थः—[षत्वतुकोः] षत्व और तुक् विधि करने में एकादेश [असिद्धः] असिद्ध होता है, अर्थात् सिद्ध के समान कार्य नहीं होते ॥ एकादेश को मानकर कोई कार्य प्राप्त हो रहा हो वह न हो, तथा स्थानी को मानकर जो कार्य प्राप्त नहीं हो रहा है वह हो जावे, यही असिद्धत्व विधान का प्रयोजन है ॥ किम् शब्द से सु आकर तथा उसे असिचत् परे रहते अतो रोर० (६।१।१०९) से उत्व एवं आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर 'को असिचत्' रहा। अब एङः पदान्तादति (६।१।१०५) से पूर्वरूप एकादेश होकर 'कोऽसिचत्' बन गया। तब ओकार को अन्तादिवच्च से पर (तिङन्त का) को आदिवत् माना गया, अतः इण् ओकार से उत्तर सिच् (धातु) के सकार को आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से आदेश का सकार होने से [षिच् के ष को स आदेश धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से होता है] षत्व पाया। वह षत्वविधि में पूर्वरूप एकादेश के प्रकृत सूत्र से असिद्ध होने से नहीं होता। क्योंकि असिद्ध होने से 'को असिचत्' ऐसा रूप षत्वकार्य करने में दीखेगा, तो इण् ओकार से उत्तर अकार का व्यवधान होने से षत्व नहीं होगा। को अस्य, यो अस्मै, को अस्मै, यहां भी पूर्ववत् पूर्वरूप एकादेश करके असिद्ध होने से प्रत्यय के सकार को षत्व नहीं हुआ, ऐसा जानें। यहां आदेश-लक्षण प्रतिषेध कार्य हुआ है। अधीत्य, यहां 'अधि इण्' को सवर्णदीर्घ हुआ है। तथा प्रेत्य में 'प्र

इण् को आद्गुणः से गुण एकादेश हुआ है । अब यहाँ क्त्वा को ल्यप् कर देने के पश्चात् ह्रस्वस्य पिति० (६।१।६६) से तुक् आगम नहीं होता, क्योंकि ह्रस्व से उत्तर पित् कृत् नहीं है । तब प्रकृत सूत्र से एकादेश तुक् विधि में असिद्ध मानी गयी, तो 'अधि इ य, प्र इ य, ऐसा ही रूप तुक् करने में समझा गया । अतः ह्रस्व मिल जाने से ल्यप् को तुक् आगम हो गया । यहाँ स्थानिलक्षण कार्य हुआ है ॥

आद् गुणः ॥६।१।८४॥

आत् ५।१॥ गुणः १।१॥ अनु०—एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ अर्थः—अचि पूर्वो योऽवर्णः, अवर्णाच्च परो योऽच्, तयोः द्वयोः पूर्वपरयोः स्थाने एको गुणादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—तव+इदम्=तवेदम् । खट्वा+इन्द्रः=खट्वेन्द्रः, मालेन्द्रः । तव+ईहते=तवेहते, खट्वेहते । तव+उदकम्=तवोदकम्, खट्वोदकम् । तव+ऋश्यः=तवर्श्यः, खट्वर्श्यः, । तवल्कारः, खट्वल्कारः ॥

भाषार्थः—[आत्] अवर्ण से उत्तर, जो अच्, तथा अच् परे रहते जो पूर्व अवर्ण, इन दोनों पूर्वपर के स्थान में अर्थात् अवर्ण और अच् के स्थान में [गुणः] गुण एकादेश होता है, संहिता के विषय में ॥ खट्वल्कारः, तवल्कारः में लकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि (महाभा० १।१।६) इस भाष्यवचन से लृ के स्थान में लपर आदेश होता है । यहाँ आत् पञ्चमी और अचि सप्तमी है । तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य (१।१।६५) के नियम से अच् से पूर्व जो आत् वह षष्ठी विभक्ति में परिणत हो जाता है । और आत् में जो पञ्चमी है, वह तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) के नियम से अचि को षष्ठी रूप मे बदल देती है । यद्यपि विप्रतिषेधे परं० (१।४।२) के नियम से तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) का नियम बलवान् होना चाहिये, परन्तु यहाँ 'पूर्वपरयोः' की अनुवृत्ति होने से दोनों के स्थान में आदेश होता है ॥

यहाँ से 'आत्' की अनुवृत्ति ६।१।६३ तक जायेगी ॥

वृद्धिरेचि ॥६।१।८५॥

वृद्धिः १।१॥ एचि ७।१॥ अनु०—आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवर्णात् परो य एच्, एचि च परतो योऽवर्णस्तयोः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ पूर्वस्यापवादोऽयम् ॥ उदा०—ब्रह्म+एडका=ब्रह्मैडका, खट्वैडका । ब्रह्म+ऐतिकायनः=ब्रह्मैतिकायनः, खट्वैतिकायनः । ब्रह्म+ओदनः=ब्रह्मौदनः, खट्वौदनः । ब्रह्म+औपगवः=ब्रह्मौपगवः, खट्वौपगवः ॥

भाषार्थः—अवर्ण से उत्तर जो एच्, तथा [एचि] एच् परे रहते जो अवर्ण,

इन दोनों पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अवर्ण तथा एच् के स्थान में [वृद्धिः] वृद्धि एकादेश होता है, संहिता के विषय में ॥ पूर्व सूत्र से अच् परे रहते गुण एकादेश प्राप्त था, यहाँ एच् परे रहते तदपवाद वृद्धि एकादेश का विधान है ॥

यहाँ से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति ६।१।८९ तक, तथा 'एचि' की अनुवृत्ति ६।१।८६ तक जायेगी ॥

एत्येधत्यूठ्सु ॥६।१।८६॥

एत्येधत्यूठ्सु ७।३॥ स०—एतिश्च एधतिश्च ऊठ् च एत्येधत्यूठः, तेषु ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वृद्धिरेचि, अचि, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवर्णात् परो य इण् गतौ इत्येतस्य एच्, एध वृद्धौ ऊठ् इत्येतयोश्च योऽच्, एतेषु च पूर्वो योऽवर्णस्तयोः पूर्वपरयोरवर्णाचोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—उपैति, उपैषि, उपैमि । उपैधते, प्रैधते । प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा, प्रष्ठौहे ॥

भाषार्थः—यहाँ 'एच्' इण् धातु का ही विशेषण बन सकता है, क्योंकि 'एध' धातु तो सर्वदा एच् आदिवाली ही है। तथा ऊठ् एच् आदिवाला हो ही नहीं सकता ॥

[एत्येधत्यूठ्सु] इण् गतौ धातु के एच् से पूर्व, तथा एध् एवं ऊठ् के अच् से पूर्व जो अवर्ण, तथा उस अवर्ण से उत्तर जो इण् का एच् एवं एध तथा ऊठ् का अच्, इन दोनों पूर्व पर के स्थान में संहिता के विषय में वृद्धि एकादेश होता है ॥ इण् धातु गुण करने पर एजादि हो जाता है ॥ ऊठ् परे रहते आद् गुणः (६।१।८४) से गुण प्राप्त है। तथा एति एधति परे रहते एङि पररूपम् (६।१।९१) से पररूप प्राप्त है, यह सूत्र इन दोनों का अपवाद है ॥ उप+एति=उपैति । उप+एधते= उपैधते । प्रष्ठौहः, यहाँ प्रष्ठ उपपद रहते 'वह' धातु से वहश्च (३।२।६४) से ण्वि प्रत्यय हुआ है। वह् को वाह् वृद्धि तथा ण्वि का सर्वापहारी लोप होकर 'प्रष्ठवाह्' बना। ङस् विभक्ति आकर वाह ऊठ् (६।४।१३२) से सम्प्रसारणसंज्ञक ऊठ्, वाह् के यण् के स्थान में अर्थात् व् को होकर 'प्रष्ठ ऊठ् आह् ङस्', सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) लगकर 'प्रष्ठ ऊह् अस्' रहा। अब प्रकृत सूत्र से वृद्धि एकादेश होकर प्रष्ठौहः बन गया। 'टा' विभक्ति में प्रष्ठौहा, तथा 'ङे' में प्रष्ठौहे बनता है ॥

आटश्च ॥६।१।८७॥

आटः ५।१॥ च अ०॥ अनु०—वृद्धिः, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ अर्थः—आटः परो योऽच्, अचि च पूर्वो य आट्, तयोः पूर्वपरयोराडचोः स्थाने

वृद्धिरेकादेशो भवति, संहितायां विषये ।। उदा०—ऐक्षिष्ट, ऐक्षत, ऐक्षिष्यत । औभीत् । आर्ध्नोत् । औब्जीत् ।।

भाषार्थः—[आटः] आट् से उत्तर [च] भी जो अच् तथा अच् से पूर्व जो आट् इन दोनों आट् तथा अच् (पूर्व पर) के स्थान में वृद्धि एकादेश होता है, संहिता के विषय में ।। लुङ् लकार में 'आट् ईक्ष् इट् सिच् त' रहा । प्रकृत सूत्र से वृद्धि एकादेश होकर 'ऐक्षिस्त' रहा । षत्व और ष्टुत्व होकर ऐक्षिष्ट बन गया । लङ् लकार में आट् ईक्ष् शप् त=ऐक्षत, तथा लृङ् में ऐक्षिष्यत जानें । उभ धातु से औभीत्, तथा उब्ज धातु से औब्जीत् की सिद्धि भाग १, परि० १।१।१ में दर्शाई हुई अलावीत् की सिद्धि के समान जानें । ऋधु धातु से लङ् लकार में स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३) से श्नु विकरण करके आर्ध्नोत् की सिद्धि जानें । यहाँ रपरत्व विशेष है । सर्वत्र आडजादीनाम् (६।४।७२) से हुये आट् को वृद्धि एकादेश होता है ।।

उपसर्गादृति धातौ ।।६।१।८८।।

उपसर्गात् ५।१।। ऋति ७।१।। धातौ ७।१।। अनु०—वृद्धिः, आत्, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ।। अर्थः—अवर्णान्तादुपसर्गाद् ऋकारादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरेकादेशो भवति, संहितायां विषये ।। आद् गुणः इत्यस्यापवादोऽयम् ।। उदा०—उप+ऋच्छति=उपार्च्छति । प्र+ऋच्छति=प्रार्च्छति । उप+ऋध्नोति=उपार्ध्नोति ।।

भाषार्थः—अवर्णान्त [उपसर्गात्] उपसर्ग से परे जो [ऋति धातौ] ऋकारादि धातु, इन दोनों के पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अवर्ण एवं धातु के ऋकार के स्थान में संहिता के विषय में वृद्धि एकादेश होता है । आद् गुणः का अपवाद यह सूत्र है । वृद्धि एकादेश करने पर रपरत्व हो ही जायेगा ।।

यहाँ से 'उपसर्गात् धातौ' की अनुवृत्ति ६।२।९१ तक, तथा 'ऋति' की ६।१।८९ तक जायेगी ।।

वा सुप्यापिशलेः ।।६।१।८९।।

वा अ० ।। सुपि ७।१।। आपिशलेः ६।१।। अनु०:—उपसर्गादृति, धातौ, वृद्धिः, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ।। अर्थः—सुबन्तावयव ऋकारादौ धातौ परतोऽवर्णान्तादुपसर्गात् पूर्वपरयोः स्थाने संहितायां विषये आपिशलेराचार्यस्य मतेन वृद्धिरेकादेशो वा भवति ।। उदा०—उपर्षभीयति, उपार्षभीयति । उपल्कारीयति, उपाल्कारीयति ।।

भाषार्थः—[सुपि] सुबन्त अवयववाले ऋकारादि धातु के परे रहते अवर्णान्त उपसर्ग से उत्तर पूर्व पर के स्थान में अर्थात् अवर्ण एवं ऋकार के स्थान में संहिता के विषय में [आपिशलेः] आपिशलि आचार्य के मत में [वा] विकल्प से वृद्धि एकादेश होता है ।। पक्ष में आद् गुणः से गुण एकादेश होगा ।। सुबन्त धातु कभी नहीं हो सकता, अतः सुबन्तावयव=सुबन्त से बना नामधातु ऐसा अभिप्राय जानना चाहिये ।। ऋकारलृकारयोः सवर्णसंज्ञा वक्तव्या (वा० १।१।९) वार्त्तिक से ऋकार लृकार की परस्पर सवर्ण संज्ञा कही है। अतः ऋकार से लृकार का भी ग्रहण होकर उपल्कारीयति आदि उदाहरण बनेंगे । यहाँ "लृकारस्य लपरत्वं वक्ष्यामि' (महाभा० १।१।९) इस भाष्यवचन से लृकारादेश को लपर भी हो जाता है ।। 'ऋषभमिच्छतीति ऋषभीयति' की सिद्धि भाग १, पृष्ठ ८५७ के पुत्रीयति के समान जानें । 'अम्' विभक्ति के बीच में आने से 'ऋषभीय' सुबन्तावयववाला धातु है । 'उप' अवर्णान्त उपसर्ग से उत्तर वृद्धि एकादेश हो गया है । इसी प्रकार लृकारमिच्छति लृकारीयति में भी जानें ।।

ओतोऽम्शसोः ।।६।१।९०।।

आ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। ओतः ५।१।। अम्शसोः ७।२।। स०—अम् च शस् च अम्शसौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ।। अर्थः—ओकारान्ताद् अम्शसोः अचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने आकार एकादेशो भवति, संहितायां विषये ।। उदा०—गां पश्य, गाः पश्य; द्यां पश्य, द्याः पश्य ।।

भाषार्थः—[ओतः] ओकारान्त से [अम्शसोः] अम् तथा शस् विभक्ति के अच् परे रहते पूर्व पर के स्थान में अर्थात् ओकार और अम् शस् के अकार के स्थान में [आ] आकार एकादेश संहिता के विषय में होता है ।। गो अम्=आकार एकादेश होकर—गाम् द्याम् बना । शस् में—गाः द्याः बन गया ।।

एङि पररूपम् ।।६।१।९१।।

एङि ७।१।। पररूपम् १।१।। अनु०—उपसर्गात् धातौ, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ।। अर्थः—अवर्णान्तादुपसर्गाद् एङादौ धातौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति, संहितायां विषये ।। उदा०—उप+एलयति=उपेलयति, प्रेलयति । उप+ओषति=उपोषति, प्रोषति ।।

भाषार्थः—अवर्णान्त उपसर्ग के पश्चात् [एङि] एङ् (=ए ओ) आदिवाले धातु के परे रहते पूर्व पर के स्थान में [पररूपम्] पररूप (अर्थात् पर का जो रूप) एकादेश होता है । वृद्धिरेचि (६।१।८५) का यह अपवादसूत्र है ।। उप+एलयति,

यहाँ 'अ' तथा 'ए' को पर का रूप 'ए' ही हो गया । प्रोषति में 'ओ' हो गया ॥

यहाँ से 'पररूपम्' की अनुवृत्ति ६।१।९६ तक जायेगी ॥

ओमाङोश्च ॥६।१।९२॥

ओमाङो: ७।२॥ च अ० ॥ स०—ओम् च आङ् च ओमाङौ, तयोः ..... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पररूपम्, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—ओमि आङि च परतोऽवर्णात् पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—कन्या+ओम्=कन्योम् इत्यवोचत् । आ+ऊढा=ओढा— अद्य+ओढा=अद्योढा, कदोढा, तदोढा ॥

भाषार्थः—अवर्ण के पश्चात् [ओमाङोः] ओम् तथा आङ् परे रहते [च] भी पूर्व पर के स्थान में पररूप एकादेश होता है, संहिता के विषय में ॥ वृद्धिरेचि (६।१।८५) का यह अपवादसूत्र है ॥ आ+ऊढा, यहाँ पहले आङ् के आ तथा ऊढा के ऊ को आद् गुणः से गुण एकादेश करके 'ओढा' बनाया । तत्पश्चात् 'आङ् एवं अनाङ् का एकादेश पूर्व का अन्तवत् होकर आङ् के ग्रहण से गृहीत हो जाता है' इस न्याय से ओढा में आङ् माना गया, तो कदा के 'आ' और 'ओढा' के 'ओ' के स्थान में पररूप अर्थात् 'ओ' हो गया ॥

उस्यपदान्तात् ॥६।१।९३॥

उसि ७।१॥ अपदान्तात् ५।१॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, न पदान्तः अपदान्तः, तस्मात्, ... पूर्वं षष्ठीतत्पुरुषस्ततो नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—पररूपम्, आत्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अपदान्तादवर्णाद् उसि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ आद्गुणापवादः ॥ उदा०—भिन्द्या+उस्=भिन्द्युः, छिन्द्युः । अदा+उस्=अदुः, अयुः ॥

भाषार्थः—[अपदान्तात्] अपदान्त अवर्ण से उत्तर [उसि] उस् परे रहते पूर्व पर के (=अवर्ण और उस् के उ के) स्थान में पररूप एकादेश होता है, संहिता के विषय में ॥ भिदिर् धातु से विधिलिङ् में श्नम् विकरण, यासुट् आगम, एवं झि होकर 'भि श्नम् द् यासुट् झि=भिनद् यास् झि' रहा । झेर्जुस् (३।४।१०८) से झि को जुस्, श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से 'न' के अकार का लोप, एवं लिङः सलोपो० (७।२।७९) से यासुट् के सकार का लोप होकर 'भिन्द्या उस्' रहा । अब प्रकृत सूत्र से पररूप एकादेश होकर—भिन्द्युः बन गया । डुदाञ् धातु से लुङ् में अदुः की सिद्धि, गातिस्था० (२।४।७७) से सिच् लुक्, एवं आतः (३।४।११०) से झि को

जुस् होकर जानें। या धातु से लङ् में अयुः बना है। लङः शाकटाय० (३।४।१११) से यहाँ झि को जुस् हुआ है॥ आद् गुणः का यह अपवादसूत्र है॥

यहाँ से 'अपदान्तात्' की अनुवृत्ति ६।१।६४ तक जायेगी॥

अतो गुणे॥६।१।६४॥

अतः ५।१॥ गुणे ७।१॥ अनु०—पररूपम्, अपदान्तात्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम्॥ अर्थः—अपदान्तादकारात् गुणे परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति, संहितायां विषये॥ उदा०—पचन्ति, यजन्ति, पठन्ति, पचे, यजे॥

भाषार्थः—अपदान्त [अतः] अकार से उत्तर [गुणे] गुण अर्थात् गुणसंज्ञक अ ए ओ के परे रहते पूर्व पर के स्थान में संहिता के विषय म पररूप एकादेश होता है॥ पचन्ति यजन्ति की सिद्धि भाग १ पृ० ६७०, तथा पचे की सिद्धि पृ० ६७१ में देखें। पचन्ति में अकः सवर्णे० (६।१।९७) की प्राप्ति थी, तथा पचे में वृद्धिरेचि (६।१।८५) की प्राप्ति थी, तदपवाद यह सूत्र है॥

अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ॥६।१।६५॥

अव्यक्तानुकरणस्य ६।१॥ अतः ५।१॥ इतौ ७।१॥ स०—अव्यक्तस्य अनुकरणम् अव्यक्तानुकरणं, तस्य ... षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—पररूपम्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम्॥ अर्थः—अव्यक्तमपरिस्फुटवर्णं, तस्याव्यक्तानुकरणस्य योऽच्छब्दस्तस्मादितौ परतः पूर्वपरयोः स्थाने पररूपमेकादेशो भवति, संहितायां विषये॥ उदा०—पटत्+इति=पटिति। घटत्+इति=घटिति। झटत्+इति=झटिति। छमत्+इति=छमिति॥

भाषार्थः—[अव्यक्तानुकरणस्य] अव्यक्त के अनुकरण का जो [अतः] 'अत्' शब्द, उससे उत्तर [इतौ] इति शब्द परे रहते पूर्व 'अत्' तथा पर 'इ' के स्थान में, पररूप एकादेश होता है, संहिता के विषय में॥ अव्यक्त अपरिस्फुट=अनभिव्यक्त वर्ण को कहते हैं। किन्तु अव्यक्त का जो अनुकरण=प्रतिशब्द=नकल वह परिस्फुट अभिव्यक्त वर्णवाला होगा। क्योंकि वह अव्यक्त की ध्वनि की सदृशता को लेकर किसी शब्दविशेष से व्यक्त किया जायेगा। यथा वस्त्रादिप्रक्षालन के समय जो पटत् पटत् अव्यक्त वर्णवाली ध्वनि निकलती है, उसका अनुकरण किसी ने सादृश्य से 'पटत्' इस व्यक्त वर्ण से किया। अव्यक्तानुकरण 'पटत्' के पूरे 'अत्' भाग को इति परे रहते पूर्व पर को पररूप प्रकृत सूत्र से हो गया, तो पर का रूप पट् इ ति=पटिति झटिति आदि बन गये॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।९६ तक जायेगी॥

नाम्रेडितस्यान्त्यस्य तु वा ॥६।१।९६॥

न अ० ॥ आम्रेडितस्य ६।१॥ अन्त्यस्य ६।१॥ तु अ० ॥ वा अ० ॥ अनु०—अव्यक्तानुकरणस्यात इतौ, पररूपम्, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—आम्रेडितसंज्ञकस्याव्यक्तानुकरणस्य योऽच्छब्द इतौ परतस्तस्य पररूपं न भवति, परम् इतौ परतस्यस्याम्रेडितस्य योऽन्त्यस्तकारस्तस्य विकल्पेन पररूपमेकादेशो भवति ॥ पटत्पटदिति, उदा०—पटत्पटेति करोति ॥

भाषार्थः—[आम्रेडितस्य] आम्रेडितसंज्ञक जो अव्यक्तानुकरण का, 'अत्' शब्द, उसे 'इति' परे रहते पररूप एकादेश [न] नहीं होता, [तु] किन्तु जो उस आम्रेडित का [अन्त्यस्य] अन्त्य तकार उसको [वा] विकल्प से पररूप एकादेश होता है, संहिता के विषय में ॥ पूर्वसूत्र से 'अत्' शब्द को पररूप प्राप्त था, उसका निषेध करके अन्त्य तकार को विकल्प से विधान कर दिया ॥ 'पटत् पटत्' ऐसा द्वित्व नित्यवीप्सयोः (८।१।४) से होता है । तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२) से परवाले पटत् की आम्रेडित संज्ञा हो गई । तो 'इति' परे रहते 'त्' को पररूप कर देने से 'पटत्पट इति' ऐसा रहा । तब आद् गुणः (६।१।८४) लग कर पटत्पटेति बन गया ॥

अकः सवर्णे दीर्घः ॥६।१।९७॥

अकः ५।१॥ सवर्णे ७।१॥ दीर्घः १।१॥ अनु०—अचि, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अकः सवर्णेऽचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घ एकादेशो भवति संहितायां विषये ॥ उदा०—दण्ड+अग्रम्=दण्डाग्रम्, दधीन्द्रः, मधूदके, होतृ+ऋश्यः=होतृश्यः ॥

भाषार्थः—[अकः] अक् प्रत्याहार से उत्तर [सवर्णे] सवर्ण अच् परे हो, तो पूर्व और पर के स्थान में [दीर्घः] दीर्घ एकादेश संहिता के विषय में होता है ॥ दण्ड+अग्रम् में दोनों अकार परस्पर सवर्ण हैं, सो दीर्घ एकादेश हो गया है । इसी प्रकार औरों में जानें ॥

यहाँ से 'अकः' की अनुवृत्ति ६।१।१०३ तक तथा 'दीर्घः' की ६।१।१०२ तक जायेगी ॥

प्रथमयोः पूर्वसवर्णः ॥६।१।९८॥

प्रथमयोः ७।२॥ पूर्वसवर्णः १।१॥ स०—पूर्वस्य सवर्णः पूर्वसवर्णः, षष्ठी-तत्पुरुषः ॥ अनु०—अकः दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ अर्थः—

प्रथमायां द्वितीयायां च विभक्तावचि अकः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो भवति ॥ उदा०—अग्नी, वायू । वृक्षाः, प्लक्षाः । वृक्षान्, प्लक्षान् ॥

भाषार्थः—अक् प्रत्याहार के पश्चात् [प्रथमयोः] प्रथमा और द्वितीया विभक्ति के अच् के परे रहते पूर्व पर के स्थान में [पूर्वसवर्णः] पूर्व जो वर्ण उसका सवर्ण दीर्घ एकादेश हो जाता है ॥ यहाँ 'प्रथमयोः' द्विवचनान्त कहने से प्रथमा तथा द्वितीया दोनों विभक्ति ले ली जाती हैं। 'अचि' की अनुवृत्ति आने से प्रथमा तथा द्वितीया विभक्ति के तीनों वचनों में जो अजादि प्रत्यय होगा, वहीं यह सूत्र प्रवृत्त होगा ॥ 'अग्नि औ', यहाँ पूर्व वर्ण 'इ' है, सो पूर्व पर के स्थान में पूर्व सवर्ण दीर्घ 'ई' एकादेश हो गया। इसी प्रकार 'वायु औ'=वायू में जानें। द्वितीया विभक्ति के द्विवचन में भी ये ही रूप हैं। जस् विभक्ति परे रहते वृक्षाः तथा शस् में वृक्षान् बनेगा ॥

यहाँ से 'पूर्व सवर्णः' की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक जायेगी ॥

तस्माच्छसो नः पुंसि ॥६।१।९९॥

तस्मात् ५।१॥ शसः ६।१॥ नः १।१॥ पुंसि ७।१॥ अनु०—पूर्वसवर्णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—तस्मात् पूर्वसवर्णदीर्घादुत्तरस्य शसोऽवयवस्य सकारस्य नकारादेशो भवति पुंसि ॥ उदा०—वृक्षान्, अग्नीन्, वायून्, कर्तॄन्, षण्डकान्, स्थूरकान्, अररकान् ॥

भाषार्थः—[तस्मात्] पूर्व सूत्र से दीर्घ किये हुये पूर्वसवर्ण दीर्घ से उत्तर [शसः] शस् के अवयव सकार को [नः] नकार आदेश [पुंसि], पुंल्लिङ्ग में होता है ॥ 'शसः' में षष्ठी अवयव सम्बन्ध में होने से सकार के स्थान में नकार होता है ॥

नादिचि ॥६।१।१००॥

न अ० ॥ आत् ५।१॥ इचि ७।१॥ अनु०—पूर्वसवर्णः, दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवर्णाद् इचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घो न भवति ॥ उदा०—वृक्षौ, प्लक्षौ । खट्वे, कुण्डे ॥

भाषार्थः—[आत्] अवर्ण से उत्तर [इचि] इच् प्रत्याहार परे रहते पूर्व पर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश [न] नहीं होता ॥ वृक्ष+औ, यहाँ इच् प्रत्याहार 'औ' के परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ का, जो कि प्रथमयोः पूर्वसवर्णः से प्राप्त था, निषेध होकर वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर वृक्षौ बन गया ॥ इसी प्रकार खट्वा+औ=खट्वा शी (७।१।१८ से)=खट्वे में जानें ॥

यहाँ से 'इचि' की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक, तथा 'न' की ६।१।१०१ तक जायेगी ॥

दीर्घाज्जसि च ॥६।१।१०१॥

दीर्घात् ५।१॥ जसि ७।१॥ च अ०॥ अनु०—न इचि, पूर्वसवर्णः, दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ **अर्थः**—दीर्घात् जसि इचि च परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशो न भवति ॥ उदा०—कुमार्यौ, कुमार्यः। ब्रह्मबन्ध्वौ, ब्रह्मबन्ध्वः ॥

भाषार्थः—[दीर्घात्] दीर्घ वर्ण से उत्तर [जसि] जस् तथा [च] चकार से इच् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं होता ॥ पूर्वसूत्र में अवर्ण से उत्तर ही कहा था। यहाँ दीर्घ से उत्तर कहने से दीर्घ ईकार-ऊकार से उत्तर निषेध हो गया। पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश का निषेध होने पर यणादेश होकर कुमार्यौ इत्यादि रूप बनते हैं ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१०२ तक जायेगी ॥

वा छन्दसि ॥६।१।१०२॥

वा अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—दीर्घाज्जसि च, इचि, पूर्वसवर्णः, दीर्घः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—दीर्घात् जसि इचि च परतः पूर्वपरयोः स्थाने छन्दसि विषये पूर्वसवर्णदीर्घो वा भवति ॥ उदा०—मारुतीश्चतस्रः। पिण्डीः। मारुत्यश्चतस्रः। पिण्ड्यः। वाराही, उपानही। वाराह्यौ, उपानह्यौ ॥

भाषार्थः—दीर्घ से उत्तर जस् तथा इच् प्रत्याहार परे रहते [छन्दसि] वेद विषय में पूर्वपर के स्थान में पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश [वा] विकल्प से होता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्यनिषेध प्राप्त था, उसका विकल्प करने से यहाँ विकल्प से पूर्वसवर्ण दीर्घ होता है ॥ मारुतीः, पिण्डीः आदि में जस् परे रहते पूर्वसवर्ण दीर्घ हुआ है। तथा मारुत्यः पिण्ड्यः आदि में पक्ष में पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं हुआ, सो यणादेश हो गया। 'औ' परे रहते वाराही उपानही के वाराह्यौ उपानह्यौ रूप बने हैं ॥

अमि पूर्वः ॥६।१।१०३॥

अमि ७।१॥ पूर्वः १।१॥ अनु०—अकः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अकः अमि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति ॥ उदा०—वृक्षम्, प्लक्षम्, अग्निम्, वायुम् ॥

भाषार्थः—अक् प्रत्याहार से उत्तर [अमि] अम् विभक्ति परे रहते [पूर्वः] पूर्वरूप एकादेश होता है ॥ वृक्ष+अम्, यहाँ पूर्व 'क्ष' का उत्तरवर्ती 'अ' है। सो दोनों के स्थान में पूर्वरूप अकार एकादेश हो गया है। अग्निम् में 'इ' तथा वायुम् में 'उ' है, सो इकार उकार एकादेश हुआ ॥

यहाँ से 'पूर्वः' की अनुवृत्ति ६।१।१०६ तक जायेगी ॥

सम्प्रसारणाच्च ॥६।१।१०४॥

सम्प्रसारणात् ५।१॥ च अ०॥ अनु०—पूर्वः, एकः पूर्वपरयोः, अचि, संहितायाम् ॥ अर्थः—सम्प्रसारणादचि परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—यजि—इष्टम् । वपि—उप्तम् । ग्रहि—गृहीतम् ॥

भाषार्थः—[सम्प्रसारणात्] सम्प्रसारणसंज्ञक वर्ण से उत्तर अच् परे हो, तो [च] भी पूर्व पर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश होता है, संहिता के विषय में ॥

वाक्य तथा वर्ण दोनों की सम्प्रसारण संज्ञा होने से यहाँ 'सम्प्रसारणसंज्ञक वर्ण से उत्तर' यह अर्थ होता है ॥ सिद्धियाँ भाग १, पृ० ७१४ में देखें ॥

एङः पदान्तादति ॥६।१।१०५॥

एङः ५।१॥ पदान्तात् ५।१॥ अति ७।१॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, तस्मात् —षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—पूर्वः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—पदान्तादेङः अति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपमेकादेशो भवति,संहितायां विषये ॥ उदा०—अग्नेऽत्र, वायोऽत्र ॥

भाषार्थः—[पदान्तात्] पदान्त में जो [एङः] एङ् प्रत्याहार है, उसके पश्चात् जो [अति] अकार उन दोनों पूर्व पर के स्थान में संहिता के विषय में पूर्वरूप एकादेश होता है ॥ अग्ने+अत्र=अग्नेऽत्र, वायो+अत्र=वायोऽत्र, यहाँ पूर्वरूप एकादेश हो गया है । अकार को पूर्वरूप हुआ है, यह दिखाने के लिये 'ऽ' ऐसा चिह्न रखा जाता है ॥[1]

यहाँ से 'एङः, अति' की अनुवृत्ति ६।१।११८ तक जायेगी ॥

ङसिङसोश्च ॥६।१।१०६॥

ङसिङसोः ६।२॥ च अ०॥ स०—ङसि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—

---

१. यह साम्प्रतिक व्यवहार है । वैदिक वाङ्मय में जहाँ दो अच् अव्यवहित प्रयुक्त होते हैं, उसे 'विवृत्ति' कहते हैं। ऐसे दो अव्यवहित स्वरों के मध्य में 'ऽ' चिह्न प्रयुक्त होता है । अतः इसका वास्तविक नाम 'विवृत्ति-चिह्न' है। यथा—कर्मणऽआप्यायध्वमघ्न्याऽइन्द्राय (य० १।१) ।

एङः अति, पूर्वः, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—एङ उत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वमेकादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—अग्नेः, वायोः ॥

भाषार्थः—एङ् से उत्तर [ङसिङसोः] ङसि तथा ङस् का अकार हो, तो [च] भी पूर्वपर के स्थान में पूर्वरूप एकादेश संहिता के विषय में होता है ॥ अग्नि+ङसि यहाँ घेर्ङिति (७।३।१११) से अग्नि को गुण होकर अग्ने+अस् रहा। अब प्रकृत सूत्र से पूर्वरूप होकर अग्नेः बना। ङस् परे रहते भी इसी प्रकार जानें। तथा वायु से इसी प्रकार वायोः की सिद्धि जानें ॥

यहाँ से 'ङसिङसोः' की अनुवृत्ति ६।१।१०८ तक जायेगी ॥

ऋत उत् ॥६।१।१०७॥

ऋतः ५।१॥ उत् १।१॥ अनु०—ङसिङसोः, अति, एकः पूर्वपरयोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—ऋकारान्तादुत्तरयोर्ङसिङसोरति परतः पूर्वपरयोः स्थाने उकार एकादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—पितुः, होतुः ॥

भाषार्थः—[ऋतः] ऋकार से उत्तर ङसि तथा ङस् का अकार परे हो, तो पूर्वपर के स्थान में संहिता के विषय में [उत्] उकार एकादेश होता है ॥ होतृ+ङसि=होतृ अस्, यहाँ ऋकार एवं अकार दोनों के स्थान में उकारादेश करने से उरण् रपरः (१।१।५०) से रपरत्व भी होकर होतु र् स् रहा। रात्सस्य (८।२।२४) से संयोगान्त सकार का लोप होकर होतु र् रहा। रेफ को विसर्जनीय होकर होतुः पितुः बन गया ॥

यहाँ से 'उत्' की अनुवृत्ति ६।१।११० तक जायेगी ॥

ख्यत्यात् परस्य ॥६।१।१०८॥

ख्यत्यात् ५।१॥ परस्य ६।१॥ स०—ख्यश्च त्यश्च ख्यत्यं, तस्मात् ...... समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्, ङसिङसोः, अति, संहितयाम् ॥ अर्थः—ख्य् त्य् इत्येताभ्यां परस्य ङसिङसोरतः स्थाने उकारादेशो भवति ॥ उदा०—सख्युः। पत्युः ॥

भाषार्थः—[ख्यत्यात्] ख्य् और त्य् से [परस्य] परे ङसि तथा ङस् के अकार के स्थान में उकार आदेश होता है, संहिता के विषय में ॥ सखि तथा पति शब्द को ङसि एवं ङस् विभक्ति परे रहते यणादेश होकर 'सख्य् अस्, पत्य् अस्' रहा। अब यहाँ ख्य् तथा त्य् से परे अकार को उकार होकर सख्युः पत्युः बन गया ॥

अतो रोरप्लुतादप्लुते ॥६।१।१०९॥

अतः ५।१॥ रोः ६।१॥ अप्लुतात् ५।१॥ अप्लुते ७।१॥ स० - अप्लुतात्, अप्लुत, उभयत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—उत्, अति, संहितायाम् ॥ अर्थः - अप्लुतादकारादुत्तरस्य रो रेफस्याप्लुतेऽकारे परत उकारादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—वृक्षोऽत्र, प्लक्षोऽत्र ॥

भाषार्थः—[अप्लुतात्] अप्लुत [अतः] अकार से उत्तर [अप्लुते] अप्लुत अकार परे रहते [रोः] रु के रेफ को उकार आदेश होता है संहिता के विषय में ॥ 'वृक्ष रु अत्र=वृक्ष र् अत्र', यहाँ 'क्ष्' का उत्तरवर्ती 'अ' प्लुत भिन्न है, तथा अत्र का 'अ' भी प्लुत भिन्न अकार है। अतः रु के रेफ को उत्व होकर 'वृक्ष उ अत्र' बना। पश्चात् आद् गुणः (६।१।८४) से गुण होकर 'वृक्षो अत्र', पश्चात् एङः पदान्तादति (६।१।१०५) लगकर वृक्षोऽत्र बन गया ॥

यहाँ से 'अतः रोः' की अनुवृत्ति ६।१।११० तक जायेगी ॥

हशि च ॥६।१।११०॥

हशि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—अतः रोः, उत्, संहितायाम् ॥ अर्थः—हशि च परतोऽत उत्तरस्य रो रेफस्योकारादेशो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—पुरुषो याति, पुरुषो हसति, पुरुषो वदति ॥

भाषार्थः—[हशि] हश् प्रत्याहार परे रहते [च] भी अकार से उत्तर रु के रेफ को उकारादेश होता है, संहिता के विषय में ॥ पूर्व सूत्र से अकार परे रहते ही प्राप्त था, हश् परे रहते भी विधान कर दिया ॥ पुरुष सु=पुरुष रु=पुरुष र् याति, उत्व तथा आद् गुणः (६।१।८४) लगकर 'पुरुषो याति' बन गया ॥

प्रकृत्यान्तःपादम् ॥६।१।१११॥

प्रकृत्या ३।१॥ अन्तःपादम् अ० ॥ स०—अन्तः=मध्ये पादस्य अन्तःपादम्, तस्मिन् अन्तःपादम्, अव्ययीभावः। विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः (२।१।६) ॥ ततः सप्त-

---

१. 'अतः अति' दोनों में तपर होने के कारण ह्रस्व अकार का ही ग्रहण होगा, प्लुत का हो ही नहीं सकता। फिर भी 'अप्लुतात्, अप्लुते' ग्रहण इस लिए है कि अष्टमाध्याय पाद २ सूत्र ८२-१०८ तक जो प्लुत विधान है वह इस प्रकरण के प्रति 'पूर्वत्रासिद्धम्' (८।२।१) के नियम से असिद्ध होते पर एकमात्रिक माना जाने पर भी प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति न हो।

स्यामुत्पन्नस्य ङेस्तृतीयासप्तम्यो०(२।४।८४) इत्यनेनाम्भावः ।। अन्तःशब्दोऽव्ययमधिकरणभूतं मध्यममाचष्टे । अनु०—एङः अति, संहितायाम् ।। अर्थः—पादमध्यस्थेऽति परत एङ् प्रकृत्या भवति, संहिताकार्यं न भवतीत्यर्थः ।। एङ इति यत् पञ्चम्यन्तमनुवर्त्तते, तदर्थादिह प्रथमान्तेन विपरिणम्यते ।। उदा०—ते अग्रे अश्वमायुञ्जन् । ते अस्मिन् जवमादधुः । सुजाते अश्वसूनृते (ऋ० ५।७९।१) । उपप्रयन्तो अध्वरम् (ऋ० १।७४।१) शिरो अपश्यम् । अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम् ।।

भाषार्थः—[अन्तःपादम्] पाद के मध्य में वर्तमान अकार के परे रहते एङ् को [प्रकृत्या] प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् जैसा है वैसे ही रहता है, सन्धि-कार्य नहीं होते ।। अन्तः अव्यय शब्द यहाँ मध्यवाची है । अव्ययं विभक्ति०(२।१।६) से विभक्त्यर्थ में अन्तःपादम् में समास हुआ है । समास करने के पश्चात् उत्पन्न सप्तमी विभक्ति के एकवचन को अव्ययादाप्सुपः (२।४।८२) से लुक् न होकर, तृतीयासप्तम्यो० (२।४।८४) से 'अम्' होता है ॥ ऊपर से आ रहा 'एङः' पञ्चम्यन्त पद यहाँ अर्थ के अनुसार प्रथमा विभक्ति में बदल जाता है ।। उपर्युक्त सारे उदाहरणों में पाद के मध्य में अकार है । अतः 'ते, सुजाते, उपप्रयन्तो' आदि के एङ् को प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् एङः पदान्तादति (६।१।१०५) से प्राप्त पूर्वरूप नहीं होता ।।

विशेषः—यद्यपि इस प्रकरण में 'छन्दसि' का निर्देश नहीं है, तथापि इस प्रकरण के अधिकांश सूत्र वेदविषयक ही हैं । क्योंकि लौकिक पादबद्ध पद्यों में यह कार्य नहीं देखा जाता है । सूत्र ६।१।११८ में पठित 'सर्वत्र' पद से भी यही ध्वनित होता है ।।

यहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक, तथा 'अन्तःपादम्' की ६।१।११२ तक जायेगी ।।

अव्यादवद्यादवक्रमुरव्रतायमवन्त्ववस्युषु च ।।६।१।११२।।

अव्या···स्युषु ७।३।। च अ० ।। स०—अव्या० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—प्रकृत्या, अन्तःपादम्, एङः अति, संहितायाम् ।। अर्थः—अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमुः, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इत्येतेष्वति परतोऽन्तःपादमेङ् प्रकृत्या भवति ।। उदा०—अग्निः प्रथमो वसुभिर्नो अव्यात् । मित्रमहो अवद्यात् (४।४।१५) । मा शिवासो अवक्रमुः (ऋ० ७।३२।२७) । ते नो अव्रताः । शतधारो अयं मणिः । ते नो अवन्तु पितरः । कुशिकासो अवस्यवः (ऋ० ३।४२।९) ।।

यद्यप्यत्र पूर्वसूत्रेणैव प्रकृतिभावः सिद्धः, तथापि 'अव्यात्' आदिषु परतः पुनः

प्रकृतिभावविधानाज्ज्ञाप्यते यत् पूर्वसूत्रेऽवकारयकारपरेऽति प्रकृतिभावो न विधीयत इति ॥

भाषार्थ:—[अव्या ... स्युषु] अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमु:, अव्रत, अयम्, अवन्तु, अवस्यु इन शब्दों में जो अकार उसके परे रहते पाद के मध्य में जो एङ् उस को [च] भी प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् सन्धि नहीं होती ॥

यद्यपि इस सूत्र के उदाहरणों में पूर्वसूत्र से ही प्रकृतिभाव प्राप्त था, पुनरपि इस सूत्र की रचना से ज्ञात होता है कि पूर्वसूत्र में वकार यकार परे हैं जिस अकार के, उसके परे प्रकृतिभाव नहीं होता। सूत्र ६।१।११८ में पठित "सर्वत्र" पद से भी यह भाव प्रकट होता है। एङ: पदान्ता० (६।१।१०५) से प्राप्त सन्धि-कार्य उदाहरणों में नहीं हुआ है ॥

यजुष्युर: ॥६।१।११३॥

यजुषि ७।१॥ उर: १।१॥ अनु०—प्रकृत्या, एङ:, अति, संहितायाम् ॥ अर्थ:—यजुषि विषये एङन्त उर: शब्दोऽति परत: प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—उरो अन्तरिक्षम् ॥

भाषार्थ:—[यजुषि] यजुर्वेद विषय में [उर:] उर: शब्द जो एङन्त उसे प्रकृतिभाव होता है, अकार परे रहते ॥ 'उरस्' के स् को पहले रुत्व करके पश्चात् अतो रोरप्लु० (६।१।१०६) से 'र्' को 'उ' हुआ। तत्पश्चात् आद् गुण: (६।१।८४) लगाकर 'उरो' एङन्त बन गया। तब अन्तरिक्षम् का अकार परे रहते प्रकृतिभाव हो गया ॥

यहाँ से 'यजुषि' की अनुवृत्ति ६।१।११७ तक जायेगी ॥

आपोजुषाणोवृष्णोवर्षिष्ठेअम्बेअम्बाले अम्बिकेपूर्वे ॥६।१।११४॥

आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे, अम्बे, अम्बाले इत्येतान्यनुकरणपदान्यविभक्त्यन्तानि ॥ अम्बिकेपूर्वे ७।१॥ स०—अम्बिकेशब्दात् पूर्वे अम्बिकेपूर्वे, पञ्चमीतत्पुरुष: ॥ अनु०—यजुषि, प्रकृत्या, अति, संहितायाम् ॥ अर्थ:—आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे इत्येतानि पदानि अम्बिकेशब्दात् पूर्वे अम्बे अम्बाले इत्येते च पदे तानि यजुषि अति परत: प्रकृत्या भवन्ति ॥ उदा०—आपो अस्मान् मातर: शुन्धयन्तु (य० ४।२)। जुषाणो अप्तुराज्यस्य (य० ५।३५)। वृष्णो अंशुभ्यां गभस्तिपूत: (य० ७।१)। वर्षिष्ठे अधि नाके। अम्बे अम्बाले अम्बिके ॥

भाषार्थ:—[आपो ... अम्बिकेपूर्वे] आपो, जुषाणो, वृष्णो, वर्षिष्ठे ये पद, तथा अम्बिके शब्द से पूर्व अम्बे अम्बाले ये दो पद यजुर्वेद में पठित होने पर अकार

परे रहते प्रकृतिभाव से रहते हैं ।। सर्वत्र एङः पदान्ता० (६।१।१०५) से प्राप्त सन्धिकार्य नहीं होता ।। आपो जुषाणो आदि सारे पद अनुकरणरूप अविभक्त्यन्त सूत्र में पढ़े हुये हैं ।।

अङ्ग इत्यादौ च ॥६।१।११५॥

अङ्गे ७।१।। इत्यादौ ७।१।। च अ० ।। स०—इति=अङ्गशब्दः, तस्यादिः, तस्मिन्······षष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—यजुषि, प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ।। अर्थः—यजुषि विषये अङ्गशब्दे य एङ् स अति परतः प्रकृत्या भवति, तदादौ चाति परतो यः कश्चिद् एङ् पूर्वः, सोऽपि प्रकृत्या भवति ।। उदा०—ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे निदीध्यत् (य० ६।२०) । ऐन्द्रः प्राणो अङ्गे अङ्गे अशोचिषम् ।।

भाषार्थः—यजुर्वेद विषय में [अङ्गे] अङ्ग शब्द में जो एङ् उसको अकार के परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है, [च] तथा [इत्यादौ] उस अङ्ग शब्द के आदि में जो अकार उसके परे रहते पूर्व एङ् (किसी शब्द में स्थित) को प्रकृतिभाव होता है, अर्थात् सन्धि नहीं होती ।। इति शब्द से यहाँ अङ्ग शब्द का ही प्रत्यवमर्श किया गया है ।। चकार से दो वाक्यार्थ होते हैं—प्रथम तो अङ्ग शब्द के एङ् को प्रकृतिभाव होता है, किसी शब्द में स्थित अकार के परे रहते । अर्थात् अङ्ग शब्द में स्थित ही अकार परे हो यह आवश्यक नहीं । अतः 'अङ्गे अशोचिषम्' में प्रकृतिभाव सिद्ध हो जाता है । द्वितीय वाक्यार्थ में कहा है कि—तदादि=अङ्ग शब्द के अकार के परे रहते कोई भी एङ् पूर्व हो उसे भी प्रकृतिभाव होता है । अर्थात् यह आवश्यक नहीं रहा कि अङ्ग शब्द का ही एङ् हो, किसी भी शब्द में स्थित एङ् हो । अतः 'प्राणो अङ्गे' में 'प्राणो' के ओकार को प्रकृतिभाव सिद्ध हो जाता है ।।

अनुदात्ते च कुधपरे ॥६।१।११६॥

अनुदात्ते ७।१।। च अ० ।। कुधपरे ७।१।। स०—कुश्च धश्च कुधौ, कुधौ परौ यस्मात् स कुधपरः, तस्मिन्······द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ।। अनु०—यजुषि, प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ।। अर्थः—यजुषि विषयेऽनुदात्ते चाति कवर्गधकारपरे परत एङ् प्रकृत्या भवति ।। उदा०—अयं सो अग्निः (य० १२।४७) । अयं सो अध्वरः ।।

भाषार्थः—यजुर्वेद विषय में [कुधपरे] कु=कवर्ग धकारपरक [अनुदात्ते] अनुदात्त अकार के परे रहते [च] भी एङ् को प्रकृतिभाव होता है ।। अग्नि शब्द की स्वर सिद्धि भाग १, पृ० ७७५ में देखें । यह अनुदात्तादि शब्द है, तथा अकार के परे कवर्ग 'ग्' है ही, अतः प्रकृतिभाव हो गया है । अध्वर शब्द भी प्रातिपदिक स्वर

से अन्तोदात्त हैं। अतः अनुदात्तं० (६।१।१५२) लगकर अनुदात्तादि हैं, अकार से परे वकार है ही, अतः प्रकृतिभाव हो गया है ॥

यहाँ से 'अनुदात्ते' की अनुवृत्ति ६।१।११७ तक जायेगी ॥

अवपथासि च ॥६।१।११७॥

अवपथासि ७।१॥ च अ०॥ अनु०—अनुदात्ते, यजुषि, प्रकृत्या, एङः अति, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवपथाःशब्दे योऽनुदात्तोऽकारः तस्मिन् परत एङ् प्रकृत्या भवति, यजुषि विषये ॥ उदा०—श्री रुद्रे भ्यो अवपथाः ॥

भाषार्थः—[अवपथासि] अवपथाः शब्द में [च] भी जो अनुदात्त अकार उसके परे रहते यजुर्वेद विषय में एङ् को प्रकृतिभाव होता है ॥ वप धातु से लङ् लकार में थास् परे रहते अट् आगम होकर 'अवपथाः' रूप बना है। तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से अतिङ् 'रुद्रे भ्यो' से उत्तर निघात होता है, अतः अनुदात्त अकार परे है। सो रुद्रे भ्यो का ओकार प्रकृतिवत् रह गया, सन्धि नहीं हुई ॥ चकार 'अनुदात्ते' पद के अनुकर्षणार्थ है ॥

सर्वत्र विभाषा गोः ॥६।१।११८॥

सर्वत्र अ०॥ विभाषा १।१॥ गोः ६।१॥ अनु०—प्रकृत्या, एङः पदान्तात् अति, संहितायाम् ॥ अर्थः—सर्वत्र=छन्दसि भाषायां चाति परतो गोः पदान्तएङ् प्रकृत्या भवति विभाषा ॥ उदा०—गो अग्रम्, गोऽग्रम् । छन्दसि—अपशवो वा अन्ये गोअश्वेभ्यः पशवो गोऽश्वाः ॥

भाषार्थः—[सर्वत्र] सर्वत्र=छन्द तथा भाषाविषय दोनों में [गोः] गो शब्द के पदान्त एङ् को [विभाषा] विकल्प से अकार परे रहते प्रकृतिभाव होता है ॥

यहाँ से 'गो' की अनुवृत्ति ६।१।१२० तक, तथा 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।१।११९ तक जायेगी ॥

अवङ् स्फोटायनस्य ॥६।१।११९॥

अवङ् १।१॥ स्फोटायनस्य ६।१॥ अनु०—गोः, विभाषा, अचि, पदान्तात्, संहितायाम् ॥ अर्थः—स्फोटायनस्याचार्यस्य मतेनाचि परतः पदान्ते गोरवङादेशो भवति विकल्पेन ॥ उदा०—गवाग्रम्, गोऽग्रम् । गवाजिनम्, गोऽजिनम् । गवोदनम्, गवौदनम् । गवोष्ट्रम्, गवुष्ट्रम् ॥

भाषार्थः—अच् परे रहते पदान्त में गो को [अवङ्] अवङ् आदेश [स्फो-

टायनस्य] स्फोटायन आचार्य के मत में विकल्प से होता है ॥ 'अवङ्' में वकारोत्तर-वर्त्ती अकार निरनुनासिक है। ङिच्च (१।१।५२) से अन्तिम अल् 'ओ' को 'अवङ्' होकर गव अग्रम् = गवाग्रम् बना है। जिस पक्ष में अवङ् आदेश नहीं हुआ तो एङः पदान्तादति (६।१।१०५) से पूर्वरूप होकर गोऽग्रम् बन गया॥

यहाँ से 'अवङ्' की अनुवृत्ति ६।१।१२० तक जायेगी ॥

इन्द्रे च ॥६।१।१२०॥

इन्द्रे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—अवङ्, गोः, अचि, संहितायाम् ॥ अर्थः—इन्द्रशब्दस्थेऽचि परतो गोरवङादेशो भवति ॥ उदा०—गवेन्द्रः ॥ गवेन्द्रयज्ञस्वरुः[1] ॥

भाषार्थः—[इन्द्रे] इन्द्र शब्द में स्थित अच् के परे रहते [च] भी गो को अवङ् आदेश होता है ॥

प्रथमसूत्र से अवङ् प्राप्त था। पुनः इन्द्र शब्द के परे उसका विधान करते से ज्ञापित होता है कि इस सूत्र में विभाषा की अनुवृत्ति नहीं आती ॥

प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् ॥६।१।१२१॥

प्लुतप्रगृह्याः १।३॥ अचि ७।१॥ नित्यम् १।१॥ सं०—प्लुताश्च प्रगृह्याश्च प्लुतप्रगृह्याः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्लुताश्च प्रगृह्याश्चाचि प्रकृत्या भवन्ति नित्यम् ॥ उदा०—प्लुताः—देवदत्ता३ अत्र न्वसि। यज्ञदत्ता३ इदमानय। प्रगृह्याः—अग्नी इति। वायू इति। खट्वे इति। माले इति ॥

भाषार्थः—[प्लुतप्रगृह्याः] प्लुत तथा प्रगृह्यसंज्ञक शब्दों को [अचि] अच् परे रहते [नित्यम्] नित्य ही प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ 'अग्नी इति' इत्यादि की सिद्धि भाग १, परि० १।१।११, पृ० ६८४ में देखें। देवदत्ता३ इत्यादि में प्लुत 'दूराद्धूते च (८।२।८४) से हुआ है। प्रकृतिभाव होने से सवर्ण दीर्घ नहीं हुआ है ॥

यहाँ से 'अचि' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक जायेगी ॥

आङोऽनुनासिकश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।१२२॥

आङः ६।१॥ अनुनासिकः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ अनु०—अचि, प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ अर्थः—आङोऽचि परतः संहितायां छन्दसि विषयेऽनुनासिकादेशो बहुलं भवति, स च प्रकृत्या भवति ॥ उदा—अभ्र आँ अपः। गभीर आँ उग्रपुत्रे जिघांसत ॥

---

१. 'चरु' इति पाठान्तरम्। यूपव्रश्चने प्रथमं निष्पतितः शकलः 'स्वरु' नाम्ना व्यवह्रियते याज्ञिकैः ॥

भाषार्थः—[आङः] आङ् को अच् परे रहते संहिता के विषय में [अनुनासिकः] अनुनासिक आदेश [छन्दसि] वेद विषय में [बहुलम्] बहुल करके होता है, तथा उस अनुनासिक को प्रकृतिभाव भी होता है। बहुल ग्रहण से आङ् के अतिरिक्त भी अनुनासिक आदेश और प्रकृतिभाव देखा जाता है। यथा—सर्वांयँ एवा रात्र्युषसे (ऋ० १।११३।१) ॥

इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च ॥६।१।१२३॥

इकः ६।१।३॥ असवर्णे ७।१॥ शाकल्यस्य ६।१॥ ह्रस्वः १।१॥ च अ० ॥ स०—न सवर्णोऽसवर्णः, तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अचि, प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ अर्थः—असवर्णेऽचि परत इकः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन प्रकृत्या भवन्ति, ह्रस्वश्च तस्येकः स्थाने भवति ॥ उदा०—दधि अत्र, मधु अत्र, कुमारि अत्र, किशोरि अत्र, इको यणचि इत्यपि भवति विधानसामर्थ्यात् । तेन पक्षे दध्यत्र मध्वत्र कुमार्यत्र किशोर्यत्र इति यणादेशा भवन्ति ॥

भाषार्थः—[असवर्णे] असवर्ण अच् परे हो, तो [इकः] इक् को [शाकल्यस्य] शाकल्य आचार्य के मत में प्रकृतिभाव हो जाता है, [च] तथा उस इक् के स्थान में [ह्रस्वः] ह्रस्व भी हो जाता है। इको यणचि के आरम्भसामर्थ्य से पक्ष में यणादेश भी होकर दध्यत्र आदि उदाहरण बनते हैं। कुमारी, किशोरी को ह्रस्व होकर 'कुमारि अत्र, किशोरि अत्र' बना है। असवर्ण अच् सर्वत्र अत्र का 'अ' परे है ही ॥

[यहाँ से शाकल्यस्य ह्रस्वश्च की अनुवृत्ति ६।१।१२४ तक जायेगी ।]

ऋत्यकः ॥६।१।१२४॥

ऋति ७।१॥ अकः ६।३॥ अनु०—शाकल्यस्य ह्रस्वश्च, प्रकृत्या, संहितायाम् ॥ अर्थः—ऋकारे परतः शाकल्यस्याचार्यस्य मतेनाकः प्रकृत्या भवन्ति, ह्रस्वश्च तस्याकः स्थाने भवति ॥ उदा०—खट्व + ऋश्यः, माल + ऋश्यः, कुमारि + ऋश्यः, होतृ + ऋश्यः । पक्षे यथाप्राप्तमादेशा भवन्ति ॥

भाषार्थः—[ऋति] ऋकार परे रहते [अकः] अक् को शाकल्य आचार्य के मत में प्रकृतिभाव होता है, तथा उस अक् को ह्रस्व भी हो जाता है ॥ पूर्वसूत्र में असवर्ण कहा था, यहाँ सवर्ण अच् परे रहते भी हो जाये । जैसे कि होतृ ऋश्यः यहाँ है । तथा पूर्वसूत्र में इक् कहा है, यहाँ अनिक् खट्व ऋश्यः आदि में भी हो जावे, इसलिये यह सूत्र है । पक्ष में खट्वर्श्यः, मालर्श्यः, कुमार्यृश्यः, होतॄश्यः इत्यादि प्रयोग भी होते हैं ॥

अप्लुतवदुपस्थिते ॥६।१।१२५॥

अप्लुतवत् अ० ॥ उपस्थिते ७।१॥ स०—अप्लु० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—उपस्थितं नाम अनार्ष इतिकरणः। अनार्षे इतौ परतः प्लुतोऽप्लुतवद् भवति । तेन प्लुतकार्यं प्रकृतिभावो न भवति ॥ उदा०—सुश्लोका३ इति=सुश्लोकेति । सुमङ्गला३ इति=सुमङ्गलेति ॥

भाषार्थः—उपस्थित=अनार्ष अर्थात् जो वेद से अन्यत्र आया 'इति' पद है, उसे कहते हैं ॥ [उपस्थिते] अनार्ष इति के परे रहते प्लुत [अप्लुतवत्] अप्लुतवत्=अप्लुत के समान हो जाता है ॥ अप्लुतवत् कहने से प्लुतकार्य, प्लुतप्रगृह्या० (६।१।१२१) से कहा हुआ प्रकृतिभाव नहीं होता । अतः सन्धिकार्य हो जाता है । दूराद्धूते च (८।२।८४) से 'सुश्लोका३' आदि में प्लुत हुआ है ॥

यहाँ से 'अप्लुतवत्' की अनुवृत्ति ६।१।१२६ तक जायेगी ॥

ई३ चाक्रवर्मणस्य ॥६।१।१२६॥

ई३ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ चाक्रवर्मणस्य ६।१॥ अनु०—अप्लुतवत्, अचि ॥ अर्थः—अचि परत ई३कारः प्लुतश्चाक्रवर्मणस्याचार्यस्य मतेनाप्लुतवद्भवति ॥ उदा०—अस्तु हीत्यब्रवीत् । चिनु हीदम् । चाक्रवर्मणग्रहणात् पक्षे—अस्तु ही३ इत्यब्रवीत् । चिनु ही३ इदम् ॥

भाषार्थः—प्लुत [ई३] 'ई३' अच् परे रहते [चाक्रवर्मणस्य] चाक्रवर्मण आचार्य के मत में अप्लुतवत् हो जाता है ॥ पूर्ववत् प्रकृतिभाव न होना ही अप्लुतवत् विधान का प्रयोजन है ॥ चाक्रवर्मण ग्रहण विकल्पार्थ है, अतः पाणिनि मुनि के मत में प्रकृतिभाव ही होता है। उपस्थित (=अनार्ष इति) अनुपस्थित दोनों विषयों में यह विकल्प करता है, अतः यह उभयत्र विभाषा है ॥

दिव उत् ॥६।१।१२७॥

दिवः ६।१॥ उत् १।१॥ अनु०—एङः पदान्तादति इत्यतः पदग्रहणमनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—दिवः पदस्य उकारादेशो भवति ॥ दिव इति प्रातिपदिकं गृह्यते, न धातुः ॥ उदा०—दिवि कामो यस्य स द्युकामः । द्युमान् । विमलद्यु दिनम् । द्युभ्याम् । द्युभिः ॥

भाषार्थः—[दिवः] दिव् पद को [उत्] उकारादेश होता है ॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् 'व्' के स्थान में उकारादेश होता है । येन विधिस्त० (१।१।७१) से तदन्त विधि होने से पदान्त में स्थित दिव् के वकार को ही उकारा-

देश होता है ॥ धुकाम: की सिद्धि भाग १, पृ० ७३४ में देखें । इसी प्रकार और सिद्धियाँ भी हैं ॥

एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ॥६।१।१२८॥

एतत्तदोः ६।२॥ सुलोपः १।१॥ अकोः ६।२॥ अनञ्समासे ७।१॥ हलि ७।१॥
स०—एतच्च तच्च एतत्तदौ, तयोः ··· इतरेतरद्वन्द्वः । सोर्लोपः सुलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । न विद्यते क यथोस्तौ अकौ, तयोः बहुव्रीहिः । नञः समासः नञ्समासः, षष्ठीतत्पुरुषः । न नञ्समासोऽनञ्समासः, तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—संहितायाम् ॥
अर्थः—अनञ्समासे वर्त्तमानयोरककारयोरेतत्तदोः सुलोपो भवति संहितायां विषये हलि परतः ॥ उदा०—एतद्—एष ददाति, एष भुङ्क्ते । तद्—स ददाति, स भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—[अकोः] ककार जिनमें नहीं है, तथा जो [अनञ्समासे] नञ् समास में वर्त्तमान नहीं हैं, ऐसे जो [एतत्तदोः] एतद् तथा तद्, उनके [सुलोपः] सु का लोप हो जाता है, [हलि] हल् परे रहते, संहिता के विषय में ॥ अकच् प्रत्यय करने पर ककार सहित एतद् तद् हो जाते हैं, अतः 'अकोः' से उनका निषेध है ॥ सः की सिद्धि भाग १, पृ० ७२४ तथा ७३४ में देखें । हल् परे यहाँ, सु का लोप हो गया है, यही विशेष है । सः के समान ही एतद् के मध्य तकार को सकार एवं द् को अत्व, तथा आदेशप्रत्य० (८।३।५९) से षत्व करके 'एषः' बनता है ॥

यहाँ से 'सुलोपः' की अनुवृत्ति ६।१।१३० तक, तथा 'हलि' की अनुवृत्ति ६।१।१२९ तक जायेगी ॥

स्यश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।१२९॥

स्यः षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ अनु०—सुलोपः, हलि, संहितायाम् ॥ अर्थः—स्य इत्येतस्य छन्दसि विषये हलि परतो बहुलं सोर्लोपो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—उत स्य वाजी क्षिपणिं तुरण्यति ग्रीवायां बद्धो अपि कक्ष आसनि (ऋ० ४।४०।४) । एष स्य ते मधुमाँ इन्द्र सोमः । बहुलवचनात् न च भवति—यत्र स्यो निपतेत् ॥

भाषार्थः—'स्यः' यह षष्ठी के अर्थ में प्रथमा है । [स्यः] स्यः शब्द के सु का [छन्दसि] वेदविषय में हल् परे रहते [बहुलम्] बहुल करके लोप हो जाता है, संहिता के विषय में ॥

सोऽचि लोपे चेत् पादपूरणम् ॥६।१।१३०॥

सः षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ अचि ७।१॥ लोपे ७।१॥ चेत् अ० ॥ पादपूरणम्

१।१॥ स०—पादस्य पूरणं निष्पत्तिः पादपूरणं, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—सुलोपः, संहितायाम् ॥ अर्थः—स इत्येतस्याचि परतः सुलोपो भवति संहितायाम्, लोपे सति चेत्पादः पूर्येत ॥ उदा०—सेन्द्र राजा क्षयति चर्षणीनाम् । सौषधीरनुरुध्यसे । सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः ॥ पादशब्देनेह सामान्येन ऋक्पादः श्लोकपादश्चोभौ गृह्येते ॥

भाषार्थः—[सः] 'सः' के सु का लोप [अचि] अच् परे रहते होता है, [चेत्] यदि [लोपे] लोप होने पर [पादपूरणम्] पाद की पूर्ति (=निष्पत्ति) हो रही हो ॥ पादशब्द से यहाँ ऋङ् मन्त्र (पद्यमन्त्र) और श्लोक दोनों के पादों का ग्रहण होता है ॥ तद् के प्रथमा एकवचन का 'सः' अनुकरण है, तथा पूर्ववत् षष्ठी का लुक् हुआ है ॥ सु का लोप कर देने पर आद् गुणः (६।१।८४), एवं वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर स इन्द्र=सेन्द्र, स ओषधीः=सौषधीः बनने से एक मात्रा उसी में मिलकर पादपूर्ति हो जाती है । अन्यथा एक मात्रा बढ़ने से पादव्यवस्था ठीक न बनती ॥

[सुट्-प्रकरणम्]

सुट् कात् पूर्वः ॥६।१।१३१॥

सुट् १।१॥ कात् ५।१॥ पूर्वः १।१॥ अनु०—संहितायाम् ॥ अर्थः—अधिकारोऽयम्, पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् (६।१।१५१) इति यावत् । इत उत्तरं ककारात् पूर्वः सुडागमो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ उदा०—वक्ष्यति सम्परिभ्यां० (६।१।१३२) संस्कर्त्ता, संस्कर्त्तुम्, संस्कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है, पारस्करप्रभृतीनि० (६।१।१५१) तक जायेगा । [कात्] ककार से [पूर्वः] पूर्व [सुट्] सुट् का आगम होता है, ऐसा आगे के सूत्रों में अर्थ होता जायेगा ॥ सम् सुट् कर्त्ता=सम् स् कर्त्ता, यहाँ संपुंकानां सत्वम् (भाष्यवार्त्तिक ८।३।५) से सम् के म् को स् होकर 'स स् स् कर्त्ता' रहा । अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा (८।३।२) से पक्ष में स् से पूर्व वर्ण अकार को अनुनासिक तथा दूसरे पक्ष में अनुनासिकात् परोऽनुस्वारः (८।३।४) से अनुस्वार आगम होकर संस्कर्त्ता बना ॥ अयोगवाहानामट्सु० (हयवरट्) इस भाष्यवार्त्तिक से अनुस्वार अट् प्रत्याहार में माना गया, तो हल् से उत्तर माना जाने से झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) से एक सकार का पक्ष में लोप हो गया । तब संस्कर्त्ता एक सकारवाला प्रयोग भी बना । अयोगवाहों को सामान्य करके महाभाष्य (हयवरट्) में अच् एवं हल् दोनों में ही माना है । सो अचों में मानकर अच् से उत्तर अनचि च (८।४।४६) से पक्ष में 'सं स् स् कर्त्ता' (द्विसकारक-अवस्था में), यहाँ स् को द्वित्व होकर संस्स्कर्त्ता प्रयोग भी बनेगा । इस प्रकार सकारलोप एवं द्वित्व भी पाक्षिक होकर

एक सकार दो सकार तथा तीन सकार के भेद से प्रयोगत्रय सिद्ध होते हैं, ऐसा जानें। हमने मूल उदाहरणों में एक सकार ही रखा है। इसी प्रकार संस्कर्त्तु म् आदि की व्यवस्था जानें ॥

सम्परिभ्यां करोतौ भूषणे ॥६।१।१३२॥

सम्परिभ्याम् ५।२॥ करोतौ ७।१॥ भूषणे ७।१॥ स०—सम्परिभ्याम् इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ अर्थः—सम् परि इत्येताभ्यां भूषणेऽर्थे करोतौ परतः सुट् कात् पूर्वो भवति संहितायाम् ॥ उदा०—संस्कर्त्ता, संस्कर्त्तु म्, संस्कर्त्तव्यम्। परिष्कर्त्ता, परिष्कर्त्तु म्, परिष्कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[भूषणे] भूषण अर्थ में [सम्परिभ्याम्] सम तथा परि उपसर्ग से उत्तर [करोतौ] कृ धातु के परे रहते ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है, संहिता के विषय में ॥ परिष्कर्त्ता (=परिष्कार करनेवाला) आदि में सुट् के 'स्' को परिनिविभ्यः सेव० (८।३।७०) से षत्व हुआ है। संस्कर्त्ता (=संस्कार करनेवाला) की सिद्धि पूर्व सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'सम्परिभ्याम्' की अनुवृत्ति ६।१।१३३ तक, तथा 'करोतौ' की ६।१।१३४ तक जायेगी।

समवाये च ॥६।१।१३३॥

समवाये ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—सम्परिभ्याम्, करोतौ, सुट् कात्पूर्वः, संहितायाम् ॥ अर्थः—समवायेऽर्थे करोतौ परतः संपरिभ्यां परः कात् पूर्वः सुडागमो भवति संहितायाम् ॥ समवायः=समुदायः ॥ उदा०—तत्र नः संस्कृतम्, तत्र नः परिष्कृतम् ॥

भाषार्थः—[समवाये] समवाय अर्थ में [च] भी कृ धातु परे हो, तो सम तथा परि से उत्तर ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है, संहिता के विषय में ॥ उदा०—तत्र नः संस्कृतम् (=वहाँ हमारा समवाय)। तत्र नः परिष्कृतम् ॥

उपात् प्रतियत्नवैकृतवाक्याध्याहारेषु ॥६।१।१३४॥

उपात् ५।१॥ प्रति……हारेषु ७।३॥ स०—प्रतियत्न० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—करोतौ, सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्रतियत्न वैकृत वाक्याध्याहार इत्येतेष्वर्थेषु करोतौ परतः उपाद् उत्तरः कात् पूर्वः सुडागमो भवति, संहितायां विषये ॥ विकृतमेव वैकृतं, स्वार्थे प्रज्ञादित्वादण् ॥ उदा०—प्रतियत्ने—एधोदकस्य उपस्कुरुते, काण्डं गुडस्योपस्कुरुते। वैकृते—उपस्कृतं भुङ्क्ते, उपस्कृतं गच्छति। वाक्याध्याहारे—उपस्कृतं जल्पति, उपस्कृतमधीते ॥

भाषार्थः—[प्रति······रेषु] प्रतियत्न (=किसी गुण को किसी और गुण में बदलना), वैकृत (=विकृत), तथा वाक्याध्याहार अर्थ गम्यमान हो, तो कृ धातु के परे रहते [उपात्] उप उपसर्ग से उत्तर ककार से पूर्व सुट् का आगम संहिता के विषय में होता है ।। गम्यमान अर्थ को भी सहजता से समझाने के लिये शब्दों द्वारा उपादान कर देना 'वाक्याध्याहार' कहाता है । जैसे कि—उपस्कृतं जल्पति, यहाँ 'गम्यमान अर्थ के बोधक शब्दों का प्रयोग करते हुये वार्त्ता करता है' यह अर्थ है ।। अतिव्याप्ति आदि दोष हटाने के लिये वाक्याध्याहार=उपस्कार की आवश्यकता होती है ।। एधोदकस्योपस्कुरुते उदाहरण के लिये २।३।५३, तथा १।३।३२ सूत्र देखें ।।

यहाँ से 'उपात्' की अनुवृत्ति ६।१।१३६ तक जायेगी ।।

किरतौ लवने ।।६।१।१३५।।

किरतौ ७।१।। लवने ७।१।। अनु०—उपात्, सुट्, कात् पूर्वः, संहितायाम् ।। अर्थः—लवनविषये किरतौ धातौ परतः उपादुत्तरः सुट् कात् पूर्वो भवति संहितायाम् ।। उदा०—उपस्कारं मद्रका लुनन्ति; उपस्कारं काश्मीरका लुनन्ति ।।

भाषार्थः—[लवने] काटने के विषय में [किरतौ] कॄ विक्षेपे धातु के परे रहते उप से उत्तर ककार से पूर्व सुट् का आगम संहिता के विषय में होता है ।। उपस्कारं में कॄ धातु से णमुल् प्रत्यय कृत्यल्युटो बहुलम् (३।३।११३) में कहे हुये बहुलवचन से होता है ।। उदा०—उपस्कारं मद्रका लुनन्ति (=फेंक फेंक कर मद्र के लोग काटते हैं); उपस्कारं काश्मीरका लुनन्ति ।।

यहाँ से 'किरतौ' की अनुवृत्ति ६।१।१३७ तक जायेगी ।।

हिंसायां प्रतेश्च ।।६।१।१३६।।

हिंसायाम् ७।१।। प्रतेः ५।१।। च अ०।। अनु०—किरतौ, उपात्, सुट्, कात् पूर्वः, संहितायाम् ।। अर्थः—उपात् प्रतेश्चोत्तरः किरतौ धातौ परतो हिंसायां विषये सुट् कात् पूर्वो भवति संहितायाम् ।। उदा०—उपस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् । प्रतिस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् ।।

भाषार्थः—उप [च] तथा [प्रतेः] प्रति उपसर्ग से उत्तर कॄ धातु के परे रहते [हिंसायाम्] हिंसा के विषय में ककार से पूर्व सुट् आगम होता है, संहिता के विषय में ।। उपस्कीर्णं आदि में निष्ठा का तकार परे रहते ॠत इद्धातोः (७।१।१००) से इत्व, एवं रपरत्व (१।१।५० से) होकर उप सुट् किर् त रहा । रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से त को न, एवं हलि च (८।२।७७) से दीर्घत्व, तथा रषाभ्यां०

(८।४।१) से णत्व होकर—उपस्कीर्णं बन गया ॥ उदा०—उपस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् (=ऐ वृषल तेरा नाश हो)। प्रतिस्कीर्णं हन्त ते वृषल भूयात् ॥

अपाच्चतुष्पाच्छकुनिष्वालेखने ॥६।१।१३७॥

अपात् ५।१॥ चतुष्पाच्छकुनिषु ७।३॥ आलेखने ७।१॥ स०—चतुष्पादश्च शकुनयश्च चतुष्पाच्छकुनयः, तेषु इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—किरतौ, सुट्, कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अपादुत्तरे किरतौ परतश्चतुष्पाच्छकुनिषु, यदालेखनं तस्मिन् विषये कात् पूर्वः सुडागमो भवति संहितायाम् ॥ उदा०—अपस्किरते वृषभो हृष्टः, अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी, अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी ॥

भाषार्थः—[अपात्] अप उपसर्ग से उत्तर [चतुष्पाच्छकुनिषु] चतुष्पाद् अर्थात् चार पैरवाले जैसे बैल कुत्ता आदि, तथा शकुनि अर्थात् पक्षी मोर मुर्गा आदि में जो [आलेखने] आलेखन=कुरेदना हो तो उस विषय में संहिता में ककार से पूर्व सुट् का आगम होता है ॥ उदा०—अपस्किरते वृषभो हृष्टः (=बैल आनन्दित होकर जमीन पैरों से कुरेदता है), अपस्किरते कुक्कुटो भक्ष्यार्थी (=मुर्गा भक्ष्य पाने की इच्छा से जमीन कुरेदता है); अपस्किरते श्वा आश्रयार्थी (=कुत्ता बैठने की जगह बनाने के लिये जमीन कुरेदता है) ॥ अपस्किरते में पूर्ववत् तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से श प्रत्यय, तथा इत्व रपरत्व हुआ है ॥

कुस्तुम्बुरूणि जातिः ॥६।१।१३८॥

कुस्तुम्बुरूणि १।३॥ जातिः १।१॥ अनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः—कुस्तुम्बुरूणीति सुडागमो निपात्यते, जातिश्चेद्भवति ॥ कुस्तुम्बुरुर्नामौषधेर्जातिविशेषः, तत्फलान्यपि कुस्तुम्बुरूणि ॥ सूत्रे नपुंसकलिङ्गं बहुवचनञ्चातन्त्रम् ॥

भाषार्थः—[कुस्तुम्बुरूणि] कुस्तुम्बुरु शब्द में तकार से पूर्व सुट् आगम निपातन किया जाता है, यदि वह [जातिः] जाति अर्थवाला हो तो ॥ कुस्तुम्बुरु किसी ओषधिविशेष जाति का नाम है। उसके फल भी 'कुस्तुम्बुरूणि फलानि' कहे जाते हैं। सूत्र में जो नपुंसकलिङ्ग एवं बहुवचन से निर्देश किया है, वह अविवक्षित है। अतः कुस्तुम्बुरुरोषधिः कुस्तुम्बुरूणि फलानि, यहाँ पुंल्लिङ्ग एकवचन एवं नपुंसकलिङ्ग बहुवचन दोनों के साथ सुट् निपातित है ॥

अपरस्पराः क्रियासातत्ये ॥६।१।१३९॥

अपरस्पराः १।३॥ क्रियासातत्ये ७।१॥ स०—क्रियायाः सातत्यं क्रियासातत्यं, तस्मिन् ... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः—क्रियासातत्ये गम्यमाने अपरस्परा इति सुट् निपात्यते ॥ उदा०—अपरे च परे च=अपरस्पराः सार्थाः गच्छन्ति ॥

भाषार्थः—[क्रियासातत्ये] क्रिया का निरन्तर होना गम्यमान हो, तो [अपरस्पराः] 'अपरस्पराः' इस शब्द में सुट् आगम निपातन किया जाता है ।। उदा०—अपरस्पराः सार्था गच्छन्ति(=सार्थ लोग निरन्तर गमन करते हैं)।। प्राचीन काल में देशान्तर से सामान लाने ले जाने के लिये वैश्यों का जो समूह चलता था, वह 'सार्थ' कहाता था, और उनका नेता 'सार्थवाह' कहाता था ।।

गोष्पदं सेवितासेवितप्रमाणेषु ।।६।१।१४०।।

गोष्पदम् १।१।। सेविता…णेषु ७।३।। स०—सेवितञ्च असेवितञ्च प्रमाणञ्च सेवि…णानि, तेषु…इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—सुट्, संहितायाम् ।। अर्थः—गोष्पदमिति सुट् निपात्यते षत्वं च तस्य, सेवितेऽसेविते प्रमाणे च विषये ।। उदा०—गावः पद्यन्ते यस्मिन् देशे स गोभिः सेवितो देशो गोष्पदो देशः । असेविते—अगोष्पदान्यरण्यानि । प्रमाणे —गोष्पदमात्रं क्षेत्रम्, गोष्पदपूरं वृष्टो देवः ।।

भाषार्थः—[गोष्पदम्] 'गोष्पद' इस शब्द में सुट् आगम तथा उसको षत्व [सेवि…णेषु] सेवित असेवित तथा प्रमाण विषय में निपातन किया जाता है ।। गौएं जिस देश में गमन करती हैं=फिरती हैं, वह गौओं से सेवित देश 'गोष्पदो देशः' कहलायेगा । इसी प्रकार जिन जङ्गलों में गौओं के गमन का अत्यन्ताभाव है,ऐसा गौओं से असेवित अरण्य'अगोष्पदमरण्यम्'कहा जायेगा । 'गोष्पदपूरं'=गीली भूमि में बने गौ के खुर के चिह्न भरने के बराबर वर्षा हुई, यहाँ स्पष्ट'प्रमाण' विषय है । यहाँ णमुल् प्रत्यय ३।४।३२ से हुआ है ।।

आस्पदं प्रतिष्ठायाम् ।।६।१।१४१।।

आस्पदम् १।१।। प्रतिष्ठायाम् ७।१।। अनु०—सुट्, संहितायाम् ।। अर्थः—आस्पदमिति सुट् निपात्यते, प्रतिष्ठायामर्थे ।। प्राणधारणाय यत् स्थानं तत् प्रतिष्ठा-शब्देनोच्यते ।। उदा०—आस्पदमनेन लब्धम् ।।

भाषार्थः—[प्रतिष्ठायाम्] प्रतिष्ठा अर्थ में [आस्पदम्] आस्पद शब्द में सुट् आगम निपातन है ।। प्राणधारण अर्थात् अपनी स्थिति के लिये जो स्थान उसे 'प्रतिष्ठा' कहते हैं । आस्पदं में आङ्पूर्वक पद धातु से अधिकरण में घ प्रत्यय (३।३।११८) से हुआ है । सूत्रकार के प्रयोग-सामर्थ्य से नपुंसकलिङ्गता समझनी चाहिये । उदा०—आस्पदमनेन लब्धम्(=प्राणधारणार्थ इसने स्थान प्राप्त कर लिया है)।

आश्चर्यमनित्ये ।।६।१।१४२।।

आश्चर्यम् १।१।। अनित्ये ७।१।। अनु०—सुट् संहितायाम् ।। स०—अनित्य

इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—अनित्येऽर्थे आश्चर्यमिति सुट् निपात्यते ॥ उदा०—आश्चर्यं यदि स भुञ्जीत; आश्चर्यं यदि सोऽधीयीत ॥

भाषार्थः—[अनित्ये] अनित्य अर्थात् अद्भुतत्व विषय में [आश्चर्यम्] आश्चर्य शब्द में सुट् निपातन है ॥ लोक में जो बात अदृष्टपूर्व हो=पहले न हुई हो, वह अनित्यता से व्याप्त होती है । उसी को अद्भुत[1] कहा जाता है । अतः यहाँ भी अनित्य का अर्थ अद्भुत है ॥ चरेराङि चागुरौ (वा० ३।१।१००) इस वार्तिक से यहाँ यत् प्रत्यय हुआ है । श्चुत्व होकर आश्चर्यम् बन गया ॥

वर्चस्केऽवस्करः ॥६।१।१४३॥

वर्चस्के ७।१॥ अवस्करः १।१॥ अनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः—वर्चस्केऽभिधेयेऽवस्कर इति सुट् निपात्यते ॥ वर्चस्कमन्नमलम् ॥ उदा०—अवस्करोऽन्नमलम् ॥

भाषार्थः—[वर्चस्के] अन्न का मल=कचरा अभिधेय हो, तो [अवस्करः] अवस्कर शब्द में सुट् निपातन किया जाता है ॥ कुत्सितं वर्चः=वर्चस्कः, यहाँ कुत्सिते (५।३।७४) से कन् प्रत्यय हुआ है । सो वर्चस्क का अर्थ अन्न का मल है ॥ अव पूर्वक कृ धातु से ऋदोरप् (३।३।५७) से अप् प्रत्यय तथा निपातन से सुट् करके अवस्करः बनता है ॥

अपस्करो रथाङ्गम् ॥६।१।१४४॥

अपस्करः १।१॥ रथाङ्गम् १।१॥ स०—रथस्य अङ्गम् रथाङ्गम्, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः—अपस्कर इति सुट् निपात्यते, रथाङ्गं चेत्तद्भवति ॥ उदा०—अपस्करो रथावयवः ॥

भाषार्थः—[अपस्करः] अपस्कर शब्द सुट् सहित निपातन किया जाता है, यदि उससे [रथाङ्गम्] रथ का अङ्ग=अवयव कहा जा रहा हो तो ॥ पूर्ववत् अपस्करः की सिद्धि है ॥

विष्किरः शकुनौ वा ॥६।१।१४५॥

विष्किरः १।१॥ शकुनौ ७।१॥ वा अ० ॥ अनु०—सुट् कात् पूर्वः, संहितायाम् ॥ अर्थः—विष्किर इति सुट् निपात्यते, शकुनावभिधेये विकल्पेन ॥ उदा०—विष्किरः, विकिरः ॥

भाषार्थः—[विष्किरः] विष्किर इस में ककार से पूर्व सुट् [शकुनौ] शकुनि=पक्षी को कहा जा रहा हो, तो [वा] विकल्प से निपातन किया जाता है ॥

---

१. अद्भुतमभूतम् । निरुक्त अ० १ खं० ६ ॥

ह्रस्वाच्चन्द्रोत्तरपदे मन्त्रे ॥६।१।१४६॥

ह्रस्वात् ५।१॥ चन्द्रोत्तरपदे ७।१॥ मन्त्रे ७।१॥ स०—चन्द्रश्चासौ उत्तरपदञ्च चन्द्रोत्तरपदं, तस्मिन् ····कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः—चन्द्रशब्दोत्तरपदे ह्रस्वात् परः सुडागमो भवति, मन्त्रविषये संहितायां विषये ॥ उदा०—सुश्चन्द्रो युष्मान् ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वात्] ह्रस्व से उत्तर [चन्द्रोत्तरपदे] चन्द्र शब्द उत्तरपद हो, तो सुट् का आगम होता है, [मन्त्रे] मन्त्रविषय में संहिता में ॥ सुश्चन्द्रः में कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास हुआ है । सुट् कर लेने पर स्तोः श्चुना० (८।४।३९) से श्चुत्व हो ही जायेगा ॥

प्रतिष्कशश्च कशेः ॥६।१।१४७॥

प्रतिष्कशः १।१॥ च अ० ॥ कशेः ६।१॥ अनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्रतिपूर्वस्य कश गतिशासनयोरित्येतस्य धातोः सुट् निपात्यते, तस्य च षत्वम् ॥ उदा०—ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः ॥

भाषार्थः—[प्रतिष्कशः] प्रतिष्कशः शब्द प्रति पूर्वक [कशेः] कश धातु को सुट् आगम; [च] तथा उसी सुट् के सकार को षत्व निपातन करके सिद्ध किया है ॥ प्रतिष्कशः में पचाद्यच् हुआ है ॥ उदा०—ग्राममद्य प्रवेक्ष्यामि भव मे त्वं प्रतिष्कशः (=मैं ग्राम में आज प्रवेश करूंगा, अतः तुम मेरे पुरोयायी=अग्रगन्ता अथवा सहायक बनो)॥

प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रावृषी ॥६।१।१४८॥

प्रस्कण्वहरिश्चन्द्रौ १।२॥ ऋषी १।२॥ स०—प्रस्क०, इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्रस्कण्व हरिश्चन्द्र इति सुट् निपात्यते, ऋषी चेदभिधेयौ भवतः ॥ उदा०—प्रस्कण्व ऋषिः, हरिश्चन्द्र ऋषिः ॥

भाषार्थः—[प्रस्क · न्द्रौ] प्रस्कण्व तथा हरिश्चन्द्र शब्द में [ऋषी] ऋषि अभिधेय हों, तो सुट् निपातन है ॥ ये दोनों ऋषि के नाम हैं, अन्य किसी के नाम होने पर सुट् नहीं होगा ॥

मस्करमस्करिणौ वेणुपरिव्राजकयोः ॥६।१।१४९॥

मस्क ·· रिणौ १।२॥ वेणुपरिव्राजकयोः ७।२॥ स०—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः—मस्कर मस्करिन् इत्येतौ शब्दौ यथासङ्ख्यं वेणौ परिव्राजके चाभिधेये निपात्येते ॥ मस्कर इत्यत्र माङो ह्रस्वत्वं करणेऽच् प्रत्ययः

सुडागमश्च वेणावभिधेये निपात्यते ॥ मा क्रियते येन प्रतिषिध्यते निवार्यते स मस्करः । मस्करी इत्यत्र माङ् पूर्वात् करोतेरिनिप्रत्ययः सुडागमो माङो ह्रस्वत्वञ्च निपात्यते, परिव्राजकेऽभिधेये । मा कुरुत कर्माणि शान्तिर्वः श्रेयसी इति स आहातो मस्करी परिव्राजकः ॥

भाषार्थः—[मस्करमस्करिणौ] मस्कर तथा मस्करिन् शब्द यथासंख्य करके [वेणुपरिव्राजकयोः] वेणु (=बांस) तथा परिव्राजक (=संन्यासी) अभिधेय हो, तो निपातन किये जाते हैं ॥ वेणु (=दण्ड) को कहने में मस्कर शब्द में सुट् आगम एवं करण में अच् प्रत्यय तथा माङ् को ह्रस्वत्व निपातित है ॥ जिसके द्वारा हटाया=निवारण किया जाता है, उसे 'मस्कर' कहते हैं । मस्करी, यहाँ माङ् पूर्वक कृ धातु से इनि प्रत्यय तथा सुट् आगम, एवं माङ् को ह्रस्वत्व निपातन है । जो कहता है कि (प्रेय=सकाम=भवोत्पादक) कर्म मत करो, शान्ति (=भवोच्छेद) ही तुम्हारे लिये श्रेयस्कर है, वह परिव्राजक 'मस्करी' है ॥

कास्तीराजस्तुन्दे नगरे ॥६।१।१५०॥

कास्तीराजस्तुन्दे १।२॥ नगरे ७।१॥ स०—कास्ती० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः—कास्तीर अजस्तुन्द इत्येतौ शब्दौ सुट्सहितौ नगरेऽभिधेये निपात्येते ॥ उदा०—कास्तीरं नाम नगरम् । अजस्तुन्दं नाम नगरम् ॥

भाषार्थः—[कास्तीराजस्तुन्दे] कास्तीर तथा अजस्तुन्द शब्दों में [नगरे] नगर अभिधेय हो अर्थात् किसी नगर के नाम हों, तो सुट् आगम निपातन किया जाता है ॥

पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम् ॥६।१।१५१॥

पारस्करप्रभृतीनि १।३॥ च अ० ॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स०—पारस्करः प्रभृतिर्येषां तानि पारस्करप्रभृतीनि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सुट्, संहितायाम् ॥ अर्थः—पारस्करप्रभृतीनि च शब्दरूपाणि सुट्सहितानि निपात्यन्ते संज्ञायां विषये ॥ उदा०—पारस्करो देशः, कारस्करो वृक्षः, रथं पाति (रक्षति) रथस्पा नदी ॥

भाषार्थः—[पारस्करप्रभृतीनि] पारस्कर इत्यादि शब्दों में [च] भी सुट् आगम [संज्ञायाम्] संज्ञा के विषय में निपातन किया जाता है ॥ जहाँ सुट् आगम दिखाई पड़े, किन्तु किसी सूत्र से विहित न हो, उसे पारस्करगण में पढ़ा समझ लेना चाहिये । पारस्कर आदि शब्द रूढि संज्ञाओं के वाचक हैं । उदा०—पारस्करः (=किसी देश की संज्ञा है), कारस्करः (=किसी वृक्ष की संज्ञा है), रथस्पा (=नदी विशेष की संज्ञा है) ॥

[स्वर-प्रकरणम्]

अनुदात्तं पदमेकवर्जम् ॥६।१।१५२॥

अनुदात्तम् १।१॥ पदम् १।१॥ एकवर्जम् १।१॥ स०—एकं वर्जयित्वा एकवर्जम्, उपपदतत्पुरुषः। द्वितीयायाञ्च (३।४।५३) इति णमुल्प्रत्ययः। अनुदात्ता अस्य सन्तीति अनुदात्तम्। अर्शआदिभ्यो० (५।२।१२७) इत्यस्याकृतिगणत्वादत्राच् प्रत्ययो मत्वर्थे ॥ अर्थः—स्वरविधिविषयकं परिभाषासूत्रमिदम्। यस्मिन् पदे यस्योदात्तः स्वरितो वा विधीयते, तमेकमचं वर्जयित्वा तस्मिन् पदे वर्त्तमाना अचोऽनुदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—गोपायति, धूपायति। गोपायतं नः (ऋ० ६।७४।४)। कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—स्वरविधिविषयक यह परिभाषासूत्र है। जिस एक पद में उदात्त या स्वरित विधान किया है, उसी के [एकवर्जम्] एक (=अच्) को छोड़कर शेष [पदम्] पद [अनुदात्तम्] अनुदात्त अच्वाला हो जाता है ॥

स्वर अचों का ही धर्म होता है, किन्तु पद में तो हल् और अच् दोनों ही होते हैं, अतः यहाँ 'अनुदात्तम्' पद में मत्वर्थीय अकार प्रत्यय किया है। सो अर्थ होगा—"एक को छोड़कर शेष अनुदात्त अच्वाला पद होता है"। अब यहाँ यह प्रश्न है कि किस एक को छोड़ना है ? तो यह बात भी सूत्र से ही स्पष्ट हो जाती है। क्योंकि शेष को जब अनुदात्त विधान करते हैं, तो अनुदात्त से भिन्न को ही तो छोड़ना होगा, और वे अनुदात्त से भिन्न स्वर उदात्त अथवा स्वरित ही हैं। अर्थात् जहाँ कहीं भी स्वरविधान (उदात्त या स्वरित का) कर रहे हों, वहाँ यह परिभाषा सूत्र उपस्थित हो जायेगा। तो उस उदात्त या स्वरित को छोड़कर उस पद के शेष अचों को अनुदात्त कर देगा। पद शब्द भी यहाँ सुप्तिङन्तं० (१।४।१४) वाला पारिभाषिक नहीं लेना, अपितु 'पद्यते गम्यतेऽर्थो येन तत्पदम्' यह अन्वर्थ लेना है। यहाँ कोई पद को प्रधान मानकर यह अर्थ न समझ ले कि —'एकपद अनुदात्त अच्वाला होता है, वाक्यस्थ एक पद को छोड़कर, अर्थात् किसी पद को अनुदात्त विधान करें, और किसी अन्य पद को छोड़कर'। अतः हमने सूत्रार्थ में 'जिस एक पद में उदात्त या स्वरित विधान हो, उसी पद के' ऐसा लिखकर यह बात स्पष्ट की है। वस्तुतः ऐसा ही सूत्रार्थ व्याख्यान से निकलता है। उसे हमने सहेतुक स्पष्ट करने का यत्न किया है। कुछ शङ्का समाधान का विषय बन जाने से यहाँ इतना लिखना ही पर्याप्त रहेगा ॥

गोपायति में 'गोपाय' सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से धातुसंज्ञक है, जो कि धातोः (६।१।१५६) से अन्तोदात्त है। अर्थात् 'य' का 'अ' उदात्त है, सो गोपाय में 'य' को छोड़ कर 'गोपा' प्रकृत सूत्र से अनुदात्त हो गया। शप् और तिप् पित् होने से अनुदात्त हैं। शप् के अ का 'य' के 'अ' के साथ हुआ एकादेश भी एकादेश

उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) से उदात्त ही रहेगा, एवं ति उदात्तादनुदा० (८।४।६५) से स्वरित हो गया। कर्त्तव्यम् में तव्यत् तित् स्वरितम् (६।१।१८५) से अन्तस्वरित है। स्वरसिद्धियाँ भाग १, परि० १।२।३८-३६, एवं अन्यत्र भी कई स्थलों में बहुत स्पष्टरूप से की हैं। अतः पाठक स्वरसिद्धि की मूलभूत प्रक्रियायें वहीं देख लें, यहाँ विस्तारभय से पुनः पुनः नहीं लिखी जावेंगी। इन सिद्धियों में 'सति शिष्टस्वरो बलीयान्' इस भाष्यवचन को जो कि इसी सूत्र में कहा है, सर्वत्र ध्यान में रखना चाहिये। सति शिष्टस्वर = अर्थात् पीछे आनेवाला स्वर बलवान् होता है। जैसे कि किसी स्थल में धातुस्वर हो जाने के पश्चात् कोई प्रत्यय आया, तो धातु का अन्तोदात्त स्वर न होकर प्रत्यय का आद्युदात्त स्वर रहेगा, क्योंकि वह पीछे आया है। इसकी विवेचना पूर्व स्वरसिद्धि स्थलों में भी हो चुकी है, वहीं देख लें ॥

कर्षात्वतो घञोऽन्त उदात्तः ॥६।१।१५३॥

कर्षात्वतः ६।१॥ घञः ६।१॥ अन्तः १।१॥ उदात्तः १।१॥ स०—आद् अस्यास्तीत्यात्वान्, कर्षश्च आत्वांश्च कर्षात्वत्, तस्य समाहारो द्वन्द्वः ॥ अर्थः—कर्षतेर्धातोराकारवतश्च घञन्तस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—कर्षः । आकारवतो घञन्तस्य—पाकः, त्यागः, रागः, दायः, धायः ॥

भाषार्थः—[कर्षात्वतः] कृष विलेखने धातु (भ्वा०) तथा आकारवान् जो [घञः] घञन्त शब्द उनके [अन्त उदात्तः] अन्त को उदात्त होता है ॥ घञ् ञित् है, अतः ञ्नित्यादि० (६।१।१९१) से आद्युदात्त प्राप्त था। उसका अपवाद यह सूत्र है। कर्ष घञन्त शब्द आकारवान् नहीं है, अतः अलग से उसे पढ़ा है। अन्तोदात्त होकर शेष अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से अनुदात्त हो जायेगा। पाकः आदि की सिद्धि भाग २, पृ० ८५७ में देखें ॥ दायः धायः में आतो युक्० (७।३।३३) से युक् आगम हुआ है ॥

यहाँ से 'अन्तः' की अनुवृत्ति ६।१।१६१ तक, तथा 'उदात्तः' की ६।१।२१७ तक जायेगी ॥

उञ्छादीनां च ॥६।१।१५४॥

उञ्छादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ स०—उञ्छ आदिर्येषां त उञ्छादयः, तेषां बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—उञ्छ इत्येवमादीनां शब्दानामन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—उञ्छः, म्लेच्छः, जञ्जः, जल्पः, जपः, व्यधः ॥

भाषार्थः—[उञ्छादीनाम्] उञ्छादि शब्दों को [च] भी अन्तोदात्त हो जाता है ॥ उञ्छ से लेकर जल्प तक पढ़े शब्द घञन्त हैं। अतः ञ्नित्या० (६।१।१९१) से आद्युदात्त प्राप्त था, तथा जपः व्यधः व्यधजपोर० (३।३।६१) से अप्प्रत्ययान्त हैं। अतः धातु स्वर से आद्युदात्तत्व प्राप्त था। तदपवाद यह सूत्र है ॥

अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः ॥६।१।१५५॥

अनुदात्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ यत्र अ० ॥ उदात्तलोपः १।१॥ स०—उदात्तस्य लोपः, उदात्तलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—उदात्तः ॥ अर्थः—यत्र = यस्मिन्ननुदात्ते परतः उदात्तस्य लोपो भवति, तस्यानुदात्तस्यादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—कुमारी, पथः पथा पथे, कुमुद्वान्, नड्वान्, वेतस्वान् । देवीं वाचम् (ऋ० ८।१००।११) ॥

भाषार्थः—[यत्र] जिस (= अनुदात्त) के परे रहते [उदात्तलोपः] उदात्त का लोप होता है, उस [अनुदात्तस्य] अनुदात्त को [च] भी आदि उदात्त हो जाता है ॥ यहाँ 'अन्तः' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं है, अतः व्याख्यान से आदि को उदात्त होता है ॥ कुमार शब्द फिषोऽन्त उदात्तः (फिट्० १) से अन्तोदात्त है, आगे ङीप् आया, जो कि ३।१।४ से अनुदात्त है । अब उस ङीप् अनुदात्त के परे रहते उदात्त 'र' के उत्तरवर्ती 'अ' का लोप हो गया, तो प्रकृत सूत्र से उस 'ई' अनुदात्त को उदात्त हो गया । कुमारी की सिद्धि भाग १, पृ० ७७३ में देखें, स्वर यहाँ दिखा दिया है । देवीं, यहाँ भी इसी प्रकार है । पथः आदि में पथिन् शब्द अन्तोदात्त पूर्ववत् है, तथा शस् टा एवं ङे विभक्तियाँ पूर्ववत् अनुदात्त हैं । सो भस्य टेर्लोपः (७।१।८८) से टि भाग 'इन्' का अनुदात्त परे लोप हुआ । अतः प्रकृत सूत्र से अनुदात्त विभक्तियाँ उदात्त हो गईं । कुमुदनडवे० (४।२।८६) से कुमुद नड तथा वेतस शब्दों से ड्मतुप् प्रत्यय हुआ है, पूर्ववत् प्रातिपदिक अन्तोदात्त, एवं प्रत्यय अनुदात्त है । पुनः डित् प्रत्यय मानकर टि भाग (जो कि उदात्त था) का लोप हुआ । तो प्रकृत सूत्र से अनुदात्त के परे रहते उदात्त का लोप होने से मतुप् के मकारोत्तरवर्ती अकार को उदात्त हो गया ॥ सूत्रार्थ में आदि कहने से मा हि धुक्षाथाम्, मा हि धुक्षाताम् में क्स के उदात्त अकार का लोप (७।३।७२) से होने पर आताम् आथाम् के आदि को होता है, अन्यथा अन्त को होता ॥

धातोः ॥६।१।१५६॥

धातोः ६।१॥ अनु०—अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—धातोरन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—पचति, पठति, ऊर्णोति, गोपायतं नः (ऋ० ६।७४।४), असि सत्यः (ऋ० १।८७।४) ॥

भाषार्थः—[धातोः] धातु को अन्त उदात्त होता है ॥ पच् पठ् धातु में एक ही अच् है, अतः आदि या अन्त एक ही होने से प का अ उदात्त है । शप् एवं तिप् पित् होने से वे अनुदात्त हैं । पश्चात् शप् के अ को स्वरित हो जाता है । ऊर्णु में दो अच् होने से अन्त का उदात्त है । अदादिगणस्थ होने से शप् का लुक् होकर

कर्णोति में 'ओ' उदात्त है। गोपायतं (लोट्) में तम् (३।४।१०१) परे रहते 'गोपाय' धातु का य उदात्त है। पश्चात् तास्यनुदात्तेन्ङि० (६।१।१८०) से 'तम्' को अनुदात्त होकर उदात्तादनुदा० (८।४।६५) से स्वरित हो जाता है। असि में अस् का अकार सिप् परे रहते उदात्त है। तासस्त्यो० (७।४।५०) से अस् के सकार का लोप हुआ है॥

चितः ॥६।१।१५७॥

चितः षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ स०—चकार इत् यस्य स चित्, बहुव्रीहिः। ततश्चिद् अस्यास्तीति चितः, मत्वर्थीयोऽच्। अनु०—अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—चितोऽन्तोदात्तो भवति ॥ उदा०—भङ्गुरम्, भासुरम्, कुण्डिनाः ॥

भाषार्थः—[चितः] चित् है जिस समुदित शब्द में उस शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ चित्, यहाँ मत्वर्थीय अकार प्रत्यय मानकर 'चकार इत्वाला जो समुदित शब्द' ऐसा अर्थ किया गया है॥ भङ्गुरम् आदि में भञ्जभासमिदो घुरच् (३।२।१६१) से घुरच् चित् प्रत्यय हुआ है। कुण्डिनाः की सिद्धि भाग १, पृ० ८५७ में देखें। कुण्डिन् को कुण्डिनच् आदेश होता है। अतः चित् होने से कुण्डिनाः प्रकृत सूत्र से अन्तोदात्त है। अन्यथा मध्योदात्त कुण्डिनी को हुआ कुण्डिनच् आदेश भी मध्योदात्त होता ॥

यहाँ से 'चितः' की अनुवृत्ति ६।१।१५८ तक जायेगी ॥

तद्धितस्य ॥६।१।१५८॥

तद्धितस्य ६।१॥ अनु०—चितः, अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—चितस्तद्धितस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—कौञ्जायनाः, भौञ्जायनाः ॥

भाषार्थः—[तद्धितस्य] तद्धित जो चित् प्रत्यय उसको अन्तोदात्त हो जाता है ॥ गोत्रे कुञ्जादि० (४।१।९८) से च्फञ् चित् तद्धित प्रत्यय हुआ है। कौञ्जायनः की सिद्धि भाग १, पृ० ८०२ में देखें ॥

च्फञ् में परत्वात् ञित् स्वर को बाधने के लिये यह पृथक् सूत्र है। बहुपटवः में 'बहुच्' प्रत्यय के पूर्व होने पर भी पूर्व सूत्र में चितः मत्वर्थीय अच् प्रत्यय मानने से यहाँ भी अन्तोदात्त होता है ॥

यहाँ से 'तद्धितस्य' की अनुवृत्ति ६।१।१५९ तक जायेगी ॥

कितः ॥६।१।१५९॥

कितः ६।१॥ स०—ककार इत् यस्य स कित्, तस्य कितः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—

तद्धितस्य, अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—कितस्तद्धितस्यान्त उदात्तो भवति ॥ प्रत्ययस्वरापवादोऽयम् ॥ उदा०—नाडायनः, चारायणः; आक्षिकः, शालाकिकः ॥

भाषार्थः—तद्धितसंज्ञक जो [कितः] कित् प्रत्यय उसको अन्तोदात्त होता है ॥ नडादिभ्यः फक् (४।१।९९) से नाडायनः चारायणः में फक् कित् प्रत्यय हुआ है। 'फ' को आयन होकर उसे अन्तोदात्त होता है। आक्षिकः आदि में तेन दीव्यति० (४।४।२) से ठक् प्रत्यय हुआ है। ठ् को इक् आदेश करके अन्तोदात्त हो जायेगा ॥

तिसृभ्यो जसः ॥६।१।१६०॥

तिसृभ्यः ५।३॥ जसः ६।१॥ अनु०—अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—तिसृभ्य उत्तरस्य जसोऽन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—तिस्रस्तिष्ठन्ति, तिस्रो, द्यावः सवितुः (ऋ० १।३५।६) ॥

भाषार्थः—[तिसृभ्यः] तिसृ शब्द से उत्तर [जसः] जस् को अन्तोदात्त होता है ॥ त्रिचतुरोः स्त्रियां० (७।२।९९) से स्त्रीलिङ्ग में त्रि को तिसृ आदेश होता है, उसी का यहाँ ग्रहण है ॥ त्रि शब्द प्रातिपदिक (फिट्० १) स्वर से अन्तोदात्त है, अतः उसका आदेश तिसृ भी अन्तोदात्त हुआ। अब तिसृ जस् यहाँ उदात्त के स्थान में यणादेश हुआ। अतः उदात्तस्वरितयो० (८।२।४) से अनुदात्त (३।१।३) जस् के अ को स्वरित प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है ॥

चतुरः शसि ॥६।१।१६१॥

चतुरः ६।१॥ शसि ७।१॥ अनु०—अन्त उदात्तः ॥ अर्थः—चतुरः शसि परतोऽन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—चतुरः पश्य ॥

भाषार्थः—[चतुरः] चतुर् शब्द को अन्तोदात्त होता है [शसि] शस् परे रहते ॥ चतुर् शब्द चतेरुरन् (उणा० ५।५९) से उरन् प्रत्ययान्त होने से ञ्नित्यादि० (६।१।१९१) से आद्युदात्त था, उसको शस् परे रहते अन्तोदात्त विधान कर दिया है ॥

सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः ॥६।१।१६२॥

सौ ७।१॥ एकाचः ५।१॥ तृतीयादिः १।१॥ विभक्तिः १।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्मात् ···बहुव्रीहिः। तृतीया आदिर्यस्याः सा तृतीयादिः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उदात्तः ॥ अर्थः—साविति सप्तमीबहुवचनस्य ग्रहणम्। सौ य एकाच् शब्दस्तस्मात् परा तृतीयादिर्विभक्तिरुदात्ता भवति ॥ उदा०—वाचा, वाग्भ्याम्,

वाग्भिः, वाग्भ्यः । याता, याद्भ्याम्, याद्भिः । वाचा विरूपनित्यया (ऋ० ८। ७५।६) ॥

भाषार्थः—'सु' से यहाँ सप्तमीबहुवचन के सुप् का ग्रहण है, न कि प्रथमा एकवचन का ।। [सौ] सु के परे रहते जो [एकाचः] एक अच्वाला शब्द, उससे परे जो [तृतीयादिः] तृतीया विभक्ति से लेकर आगे की [विभक्तिः] विभक्तियाँ, उनको उदात्त होता है ।। वाच् शब्द का सप्तमी बहुवचन में वाक्षु तथा यात् का यात्सु बनता है । इस प्रकार सु परे रहते ये एकाच् शब्द हैं ।अतः तृतीयादि विभक्तियाँ टा, भ्याम्, भिस्, भ्यस् आदि उदात्त हो गईं ॥

यहाँ से 'एकाचः तृतीयादिः' की अनुवृत्ति ६।१।१६३ तक, तथा 'विभक्तिः' की ६।१।१७८ तक जायेगी ॥

अन्तोदात्तादुत्तरपदादन्यतरस्यामनित्यसमासे ॥६।१।१६३॥

अन्तोदात्तात् ५।१॥ उत्तरपदात् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनित्यसमासे ७।१॥ स०—नित्यः समासः नित्यसमासः, कर्मधारयः, ततो नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—एकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—नित्याधिकारे यः समासो विहितस्तस्माद्-न्यत्रानित्यसमासे यदुत्तरपदमन्तोदात्तमेकाच् ततः परा तृतीयादिर्विभक्तिर्विकल्पेनोदात्ता भवति ॥ उदा०—परमवाचा, परमवाचे । परमत्वचा, परमत्वचे ॥ पक्षे समासस्यान्तो-दात्तत्वमेव ॥

भाषार्थः—[अनित्यसमासे] नित्य अधिकार में कहे हुये समास से अन्यत्र जो अनित्यसमास, उसमें जो [अन्तोदात्तात्] अन्तोदात्त एकाच् [उत्तरपदात्] उत्तरपद उससे उत्तर तृतीयादि विभक्ति [अन्यतरस्याम्] विकल्प से उदात्त होती है ।। नित्य अधिकार का अभिप्राय है कि "नित्यम्" पद के अधिकार में कहे, तथा कुगतिप्रादयः (२।२।१६) आदि । जिसका स्वपद विग्रह न हो, वह भी नित्य समास कहा जाता है, परन्तु वह यहाँ नहीं लिया जायेगा । अतः नित्य अधिकार से अन्यत्र जो भी समास हो, चाहे उसका स्वपद विग्रह हो या न हो,सब की विभक्ति को विकल्प से उदात्त होगा । त्वच् वाच् शब्द एकाच् अन्तोदात्त उत्तरपद उदाहरण में हैं ही । परमवाचा इत्यादि में सन्महत्परमोत्त० (२।१।६०) से समास हुआ है, जो कि नित्याधिकार में नहीं है ।। उदाहरणों में जब विभक्ति को उदात्त नहीं होगा, तो समास अन्तोदात्त (६।१। २१७ से) होगा ॥

यहाँ से 'अन्तोदात्तात्' की अनुवृत्ति ६।१।१७१ तक जायेगी ॥

अञ्चेश्छन्दस्यसर्वनामस्थानम् ॥६।१।१६४॥

अञ्चे: ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ असर्वनामस्थानम् १।१॥ स०—असर्व इत्यत्र नञ्तत्पुरुष: ॥ अनु०—विभक्ति:, उदात्त: ॥ अर्थ:—अञ्चे: परासर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति, छन्दसि विषये ॥ उदा०—इन्द्रो दधीचो अस्थभि: (ऋ० १। ८४।१३) ॥

भाषार्थ:—[अञ्चे:] अञ्चु धातु से उत्तर [छन्दसि] वेदविषय में [असर्वनामस्थानम्] सर्वनामस्थानभिन्न विभक्ति को उदात्त होता है ॥ दध्यञ्चतीति तस्य दधीच:, यहाँ ऋत्विग्दधृक्० (३।२।५९) से दधि उपपद रहते अञ्चु धातु से क्विन् प्रत्यय हुआ है । अनुनासिकलोप तथा ङस् परे रहते अच: (६।४।१३८) से अकार लोप, चौ (६।३।१३७) से दीर्घ होकर दधीच् अस्=दधीच: बना है ॥

यहाँ से 'असर्वनामस्थानम्' की अनुवृत्ति ६।१।१९९ तक जायेगी ॥

ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्य: ॥६।१।१६५॥

ऊडिदम्पदाद्यप्पुम्रैद्युभ्य: ५।३॥ स०—ऊठ् च इदञ्च पदादयश्च अप् च पुम् च रै च द्यौश्च ऊडि…दिव:, तेभ्य:…इतरेतरद्वन्द्व: ॥ अनु०—असर्वनामस्थानम्, अन्तोदात्तात्, विभक्ति:, उदात्त: ॥ अर्थ:—ऊठ्, इदम्, पदादि, अप्, पुम्, रै, दिव् इत्येतेभ्य उत्तरासर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति ॥ उदा०—ऊठ्—प्रष्ठौह:, प्रष्ठौहा। इदम्—आभ्याम्, एभिर्नृभिर्नृतम: । पदादि:—निपदश्चतुरो जहि, या दतो धावति । पद्भ्यां भूमि:, दद्भिर्न जिह्वा, अहरहर्जायते मासिमासि (ऋ० १०।५२।३), मनश्चिन्मे हृद आ । अप्—अप: पश्य, अद्भ्याम्, अद्भि:; अपां फेनेन (ऋ० ८।१४।१३) । पुम्—पुंस:, पुंसा, पुंसे; अभ्रातेव पुंस: (ऋ० १।१२४।७)। रै—राय: पश्य; राया वयम् (ऋ० ४।४२।१०), रायो धर्ता (ऋ० ५।१५।१) । दिव्—दिव: पश्य, उप त्वाग्ने दिवे दिवे (ऋ० १।१।७) ॥

भाषार्थ:—[ऊडि…भ्य:] ऊठ्, इदम्, पदादि, अप्, पुम्, रै तथा दिव् शब्दों से उत्तर असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है । अर्थात् सु से लेकर औट् तक की विभक्तियों को छोड़कर शेष विभक्तियाँ उदात्त होती हैं ॥ अन्तोदात्तात् की अनुवृत्ति का यहाँ यही लाभ है कि अन्वादेश में जो कि अनुदात्त (२।४।३२) होता है, वहाँ विभक्ति को उदात्तत्व न हो ॥ पदादि से यहाँ पद्दन्नोमास्० (६।१।६१) वाले आदेश पद् से लेकर निश् पर्यन्त लिये जाते हैं ॥ प्रष्ठौह: (२।३) की सिद्धि ६।१। ८६ सूत्र पर देखें । आभ्याम् की सिद्धि भाग १,पृ० ६९३ में देखें । एभि:, यहाँ केवल बहुवचने० (७।३।१०३) से अ को ए हो जाता है । शेष सब स्पष्ट सिद्धियाँ हैं ।

मासिमासि, दिवेदिवे में नित्यवीप्सयोः (८।१।४) द्विर्वचन, और पर आम्रेडितसंज्ञक को अनुदात्तं च (८।१।३) सर्वानुदात्त होता है ॥

अष्टनो दीर्घात् ॥६।१।१६६॥

अष्टनः ५।१॥ दीर्घात् ५।१॥ अनु०—असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—दीर्घान्तादष्टनोऽसर्वनामस्थानविभक्तिरुदात्ता भवति ॥ उदा०—अष्टाभि-र्दशभिः (ऋ० २।१८।४), अष्टाभ्यः ॥

भाषार्थः—[दीर्घात्] दीर्घ अन्तवाला जो [अष्टनः] अष्टन् शब्द, उससे उत्तर असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त होती है ॥ अष्टन आ विभक्तौ (७।२।८४) से अष्टन् के अन्तिम अल् (१।१।५१) न् को आत्व होकर अष्टा दीर्घान्त हो जाता है। तब प्रकृत सूत्र से असर्वनामस्थान विभक्ति उदात्त हो गई ॥ अष्टन् शब्द घृतादीनां च (फिट् २१) से अन्तोदात्त है। अतः 'अन्तोदात्तात्' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगाया ॥

शतुरनुमो नद्यजादी ॥६।१।१६७॥

शतुः ५।१॥ अनुमः ५।१॥ नद्यजादी १।२॥ स०—अच् आदिर्यस्याः सा अजादिः, बहुव्रीहिः। नदी च अजादिश्च नद्यजादी, इतरेतरद्वन्द्वः। अनुमः इत्यत्र बहुव्रीहिः ॥ अनु०—असर्वनामस्थानम्, अन्तोदात्तात्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—अनुम् यः शतृप्रत्ययस्तदन्तादन्तोदात्तात् परा नदी, अजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिश्चोदात्ता भवति ॥ उदा०—नदी—तुदती, नुदती, लुनती, पुनती, अच्छा वद प्रथमा जानती। अजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिः—तुदता, नुदता, लुनता, पुनता, तुदते, तुदतः ॥

भाषार्थः—[अनुमः] नुम् (आगम) रहित जो अन्तोदात्त [शतुः] शतृ प्रत्ययान्त शब्द तदन्त से परे [नद्यजादी] नदीसंज्ञक प्रत्यय, तथा अजादि असर्वनाम-स्थान विभक्ति को उदात्त होता है ॥ तुदती नुदती आदि में उगितश्च (४।१।६) से ङीप् प्रत्यय, तथा उस ङीप् को यू स्त्र्याख्यौ० (१।४।३) से नदी संज्ञा होती है। तुदती, नुदती में तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से श (विकरण) प्रत्यय तथा अन्यों में श्ना (३।१।८१) प्रत्यय हुआ है। श्ना के 'आ' का लोप श्नाभ्यस्तयो० (६।४।११२) से होता है। शतृप्रत्ययान्त शब्दों की सिद्धि का प्रकार भाग १, पृ० ६०७ में देखें। तुदता तुदते आदि में अजादि टा ङे आदि विभक्तियों को उदात्त हुआ है ॥

यहाँ से 'नद्यजादी' की अनुवृत्ति ६।१।१६९ तक जायेगी ॥

उदात्तयणो हल्पूर्वात् ॥६।१।१६८॥

उदात्तयणः ५।१॥ हल्पूर्वात् ५।१॥ स०—उदात्तस्य यण् उदात्तयण्, तस्मात् — षष्ठीतत्पुरुषः। हल् पूर्वो यस्मात् स हल्पूर्वः, तस्मात् बहुव्रीहिः ॥ अनु०—नद्यजादी, असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—उदात्तस्थाने यो यण् हल्पूर्वस्तस्मात् परा नदी अजादिरसर्वनामस्थानविभक्तिश्चोदात्ता भवति ॥ उदा०—कुर्त्री, हुर्त्री; चोदयित्री सूनृतानाम् (ऋ० १।३।११), एषा नेत्री (ऋ० ७।७६।७) कुर्त्रा, हुर्त्रा प्रलवित्रे ॥

भाषार्थः—[हल्पूर्वात्] हल् पूर्व में है जिससे, ऐसा जो [उदात्तयणः] उदात्त के स्थान में यण्, उससे परे नदीसंज्ञक प्रत्यय को तथा अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त होता है ॥ कर्त्री, चोदयित्री आदि सब शब्द तृच् प्रत्ययान्त हैं, अतः चितः (६।१।१५७) से अन्तोदात्त हैं। उस तृजन्त से परे ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५) से नदीसंज्ञक ङीप् प्रत्यय हुआ। अब यहाँ उदात्त ऋकार के स्थान में यण् हुआ है, तथा उदात्त यण् से पूर्व हल् है ही, सो ङीप् को उदात्त हो गया। इसी प्रकार अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति के उदाहरण कुर्त्रा हुर्त्रा आदि समझें। उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य (८।२।४) से स्वरित की प्राप्ति में यह सूत्र है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१६९ तक जायेगी ॥

नोङ्धात्वोः ॥६।१।१६९॥

न अ० ॥ ऊङ्धात्वोः ६।२॥ स०—ऊङ् च धातुश्च ऊङ्धातू, तयोः······ इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उदात्तयणो हल्पूर्वात्, अजादी, असर्वनामस्थानम्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—ऊङो धातोश्च य उदात्तस्थाने यण् हल्पूर्वस्तस्मात् पराऽजाद्यसर्वनामस्थानविभक्तिर्नोदात्ता भवति ॥ उदा०—ऊङ्—ब्रह्मबन्ध्वा, ब्रह्मबन्ध्वे; वीरबन्ध्वा, वीरबन्ध्वे। धातुयणः—सकूल्ल्वा, सकूल्ल्वे; सेत्पृश्निः सुभ्वे३[1] (ऋ० ६।६६।३) ॥

---

१. जात्य (=स्वभाव से) तित्स्वरितम् (६।१।१७९) से, क्षैप्र (=यण् सन्धि होने पर) उदात्तस्वरितयो० (८।२।४) से, प्रश्लेष (सवर्ण दीर्घ) और अभिनिहित (=एङ् से परे अकार को पूर्वरूप) सन्धि के कारण स्वरितो वानुदात्ते० (८।२।६) से जो स्वरित होता है, उससे परे यदि संहिता में उदात्त अक्षर होता है, तो स्वरित का कम्प से उच्चारण होता है। स्वरित की पूर्व आधी मात्रा उदात्त होती है (अष्टा० १।२।३२ से), अतः ह्रस्व में आधा भाग, और दीर्घ में तीन भाग अनुदात्त होते हैं।

भाषार्थः—[ऊङ्धात्वोः] ऊङ् तथा धातु का जो उदात्त के स्थान में हुआ यण् हल् पूर्ववाला हो, तो उससे उत्तर अजादि असर्वनामस्थान विभक्ति को उदात्त [न] नहीं होता ॥

पूर्व सूत्र से प्राप्त था, निषेध कर दिया । यहाँ ऊङ् तथा धातु से परे 'नदी' सम्भव नहीं, अतः केवल 'अजादी' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध लगाया है ॥ ब्रह्म बन्धुरस्याः ऐसा विग्रह करके ब्रह्मबन्धु में बहुव्रीहि समास हुआ । आगे ऊङुतः (४।१।६६) से ऊङ् प्रत्यय हुआ, जो कि प्रत्ययस्वर से उदात्त है । अब अनुदात्त उकार के साथ उदात्त ऊङ् का दीर्घ एकादेश हुआ, जो कि एकादेश उदात्तेनोदात्तः (८।२।५) से उदात्त ही हुआ । तत्पश्चात् अनुदात्त टा एवं ङे विभक्ति के परे रहते उदात्त ऊकार को यणादेश हुआ, अतः पूर्व सूत्र से विभक्ति को उदात्त प्राप्त हुआ । पर ऊङ् का यण् होने से प्रकृत सूत्र से निषेध होकर उदात्तस्वरितयो० (८।२।४) से विभक्ति को स्वरित हो गया, शेष को अनुदात्त (६।१।१५२ से) हो ही जायेगा । सकृल्लू शब्द क्विबन्त है, जिस में गतिकारक० (६।२।१३९) से उत्तरपद प्रकृतिस्वर है । यहाँ सकृत् उपपद रहते लूञ् धातु है, जो कि धातुस्वर से उदात्त है । तत्पश्चात् विभक्ति परे रहते पूर्ववत् 'लू' के उदात्त ऊकार के स्थान में यण् हो गया । शेष पूर्ववत् जानें । यह धातु के उदात्त यण् का उदाहरण है ॥

ह्रस्वनुड्भ्यां मतुप् ॥६।१।१७०॥

ह्रस्वनुड्भ्याम् ५।२॥ मतुप् १।१॥ स० — ह्रस्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०— अन्तोदात्तात्, उदात्तः ॥ अर्थः—ह्रस्वान्तादन्तोदात्तान्नुटश्च परो मतुब् उदात्तो भवति ॥ उदा०—अग्निमान्, वायुमान्, कर्तृमान्, हर्तृमान् । नुटः—अक्षण्वता, शीर्षण्वता; अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः (ऋ० १०।७१।७) ॥

भाषार्थः—अन्तोदात्त [ह्रस्वनुड्भ्याम्] ह्रस्वान्त तथा नुट् से उत्तर [मतुप्] मतुप् को उदात्त होता है ॥ तदस्यास्त्य० (५।२।९४) से मतुप् प्रत्यय होता है । तथा 'अक्षण्वता' आदि में अनो नुट् (८।२।१६) से नुट् आगम होता है । अग्नि आदि शब्द प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त हैं । अक्षि शब्द से मतुप्, तथा छन्दस्यपि दृश्यते (७।१।७६) से अनङ् होकर अक्षनङ् मत्=अक्षन् मत् रहा । पश्चात् नुट् आगम, तथा पूर्व नकार का नलोपः० (८।२।७) से लोप होकर अक्षण्वता तृतीया एकवचन

उसे व्यक्त करने के लिए ऐसे स्वरितों से परे १ और ३ संख्या का लेखन किया जाता है । अतः वेद में ऐसे स्थलों पर ३ का अंक देखकर प्लुत का भ्रम नहीं करना चाहिए ।

में बना । इसी प्रकार शीर्षश्छन्दसि (६।१।५६) से शीर्षन् निपातन करके पूर्ववत् शीर्षण्वता बनेगा। णत्व अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से हो जायेगा ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः' तथा 'मतुप्' की अनुवृत्ति ६।१।१७१ तक जायेगी ॥

नामन्यतरस्याम् ॥६।१।१७१॥

नाम् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—ह्रस्वः, मतुप्; अन्तोदात्तात्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ 'अर्थवशाद् विभक्तिविपरिणामः' इति न्यायेन प्रथमान्तो मतुप् सप्तम्यन्तेन विपरिणम्यते ॥ अर्थः—मतुपि यो ह्रस्वस्तदन्तादन्तोदात्तात् विकल्पेन नाम् उदात्तो भवति ॥ उदा०—अग्नीनाम् । पक्षे—अग्नीनाम् । वायूनाम्, वायूनाम् । चेतन्ती सुमतीनाम् (ऋ० १।३।११) ॥

भाषार्थः—अर्थानुरोध से अनुवर्त्यमान प्रथमान्त मतुप् सप्तमी में बदल जाता है ॥ मतुप् प्रत्यय के परे रहते जो ह्रस्वान्त अन्तोदात्त शब्द, उससे उत्तर [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [नाम्] नाम् को उदात्त हो जाता है ॥ यहाँ मतुप् प्रत्यय को ह्रस्व का विशेषण इसलिये बनाया है कि मतुप् के परे रहते जो ह्रस्व रहा हो, नाम् परे रहते चाहे दीर्घ भी हो जावे, तो भी नाम् को विकल्प से उदात्तत्व हो जावे ॥ इस प्रकार प्रकृत उदाहरणों में मतुप् परे रहते अग्नि वायु आदि शब्द ह्रस्वान्त हैं । किन्तु नाम् परे रहते ये दीर्घान्त (६।४।३ से) हो गये हैं, तो भी उदात्तत्व प्रकृत सूत्र से हो जाता है । पक्ष में प्रातिपदिक स्वर से ईकार ऊकार उदात्त होते हैं ॥

यहाँ से 'नाम्' की अनुवृत्ति ६।१।१७२ तक जायेगी ॥

ङ्याश्छन्दसि बहुलम् ॥६।१।१७२॥

ङ्याः ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ बहुलम् १।१॥ अनु०—नाम्, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—छन्दसि विषये ङ्यन्तात् परो नाम् उदात्तो भवति बहुलम् ॥ उदा०—देवसेनानामभिभञ्जतीनाम् (ऋ० १०।१०३।८); बह्वीनां पिता (ऋ० ६।७५।५) । न च भवति बहुलवचनात्—सङ्गमे च नदीनाम् (यजु० २६।१५)॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में [ङ्याः] ङ्यन्त शब्द से उत्तर [बहुलम्] बहुल करके नाम् (विभक्ति) को उदात्त होता है ॥ अभञ्जती बह्वी आदि ङ्यन्त शब्द हैं । बहुल कहने से कहीं नहीं भी होता ॥

षट्त्रिचतुर्भ्यो हलादिः ॥६।१।१७३॥

षट्त्रिचतुर्भ्यः ५।३॥ हलादिः १।१॥ स०—षट् च त्रयश्च चत्वारश्च षट्त्रिचत्वारः; तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः । हल् आदिर्यस्याः सा हलादिः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—

विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—षट्संज्ञकेभ्यस्त्रिचतुर् इत्येताभ्यां च परा हलादिर्विभक्तिरुदात्ता भवति ॥ उदा०—षट्संज्ञकेभ्यः—षड्भिः, षड्भ्यः, षण्णाम्, पञ्चानाम्, सप्तानाम्; आषड्भिर्हूयमानः (ऋ० २।१८।४)। त्रि—त्रिभिः, त्रिभ्यः, त्रयाणाम्; त्रिभिष्ट्वं देव (ऋ० ९।६७।२६)। चतुर्—चतुर्णाम् ॥

भाषार्थः—[षट्त्रिचतुर्भ्यः] षट्संज्ञक शब्दों से उत्तर, तथा त्रि चतुर् शब्दों से उत्तर [हलादिः] हलादि विभक्ति को उदात्त होता है ॥ ष्णान्ता षट् (१।१।२३) से षट् संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'षट्त्रिचतुर्भ्यः' की अनुवृत्ति ६।१।१७५ तक जायेगी ॥

झल्युपोत्तमम् ॥६।१।१७४॥

झलि ७।१॥ उपोत्तमम् १।१॥ अनु०—षट्त्रिचतुर्भ्यः, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—षट्त्रिचतुर्भ्य उत्पन्ना या झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पद उपोत्तममुदात्तं भवति ॥ उदा०—पञ्चभिस्तपस्तपति । सप्तभिः परान् जयति । तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता । अध्वर्युभिः पञ्चभिः ॥

भाषार्थः—षट्संज्ञक, त्रि तथा चतुर् शब्द से उत्पन्न जो [झलि] झलादि विभक्ति, तदन्त शब्द में [उपोत्तमम्] उपोत्तम को उदात्त होता है ॥ उपोत्तम क्या है, इसके परिज्ञान के लिये भाग २, पृ० ४०, सूत्र ४।१।७८ देखें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।१।१७५ तक जायेगी ॥

विभाषा भाषायाम् ॥६।१।१७५॥

विभाषा १।१॥ भाषायाम् ७।१॥ अनु०—झल्युपोत्तमम्, षट्त्रिचतुर्भ्यः, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—षट्त्रिचतुर्भ्यो या झलादिर्विभक्तिस्तदन्ते पद उपोत्तममुदात्तं भवति विकल्पेन, भाषायां विषये ॥ उदा०—पञ्चभिः, पञ्चभिः । सप्तभिः, सप्तभिः । तिसृभिः, तिसृभिः । चतसृभिः, चतसृभिः ॥

भाषार्थः—षट्संज्ञक, त्रि तथा चतुर् शब्द से उत्पन्न जो झलादि विभक्ति, तदन्त शब्द का उपोत्तम [विभाषा] विकल्प से [भाषायाम्] भाषाविषय में उदात्त होता है । पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्ति में विकल्पार्थ यह वचन है । पक्ष में षट्त्रिच० (६।१।१७३) से विभक्ति उदात्त होती है ॥

विशेषः—इस सूत्र से स्पष्ट है कि पाणिनि के काल में संस्कृत लोकभाषा

(=बोल-चाल की भाषा) थी, और उसमें स्वरों का भी प्रयोग होता था। इस विषय में अ० ४।२।७३ से लोकव्यवहृत दात्त, गौप्त आदि प्रयोगों में स्वरभेद के लिए प्रत्ययान्तर (=अञ्) का विधान करना भी ज्ञापक है॥

न गोश्वन्साववर्णराडङ्क्रुङ्कृद्भ्यः॥६।१।१७६॥

न अ०॥ गोश्व···द्भ्यः ५।३॥ स०—सौ अवर्णम् साववर्णम्, सप्तमीतत्पुरुषः॥ गौश्च श्वा च साववर्णञ्च राट् च अङ् च क्रुङ् च कृत् च गोश्व···कृतः, तेभ्यः···इतरेतरद्वन्द्वः॥ अर्थः—गो, श्वन्, साववर्ण=सौ प्रथमैकवचने यदवर्णान्तं, राड्, अङ्, क्रुङ्, कृद् इत्येतेभ्यो यदुक्तं तन्न भवति॥ उदा०—गवा, गवे, गोभ्याम्; गवां शता (ऋ० १।१२६।७); सुगुना, सुगवे, सुगुभ्याम्। श्वन्—शुना, शुने, श्वभ्याम्; शुनश्चिच्छेपम् (ऋ० ५।२।७) परमशुना, परमशुने। सावर्वर्ण—येभ्यः, तेभ्यः, केभ्यः; तेभ्यो द्युम्नम् (ऋ० ५।७६।७); तेषां पाहि श्रुधी हवम् (ऋ० १।२।१)। राट् (क्विबन्त)—राजा, परमराजे। अङ्—प्राञ्चा, प्राङ्भ्याम्। क्रुङ्—क्रुञ्चा, परमक्रुञ्चा। कृत्—कृता, परमकृता॥

भाषार्थः—[गो···कृद्भ्यः] गो, श्वन्, साववर्ण=सु प्रथमा के एकवचन के परे रहते जो अवर्णान्त शब्द, राट्, अङ्, क्रुङ् तथा कृत् से जो कुछ भी ऊपर (स्वरविधान) कह आये हैं, वह [न] नहीं होता॥ 'राट्' यह राज् धातु के क्विबन्त का रूप है। 'अङ्' अञ्चु के क्विन्नन्त का रूप है। नकारसहित निर्देश से ज्ञापित होता है कि जहाँ नकार का लोप नहीं होता, वहीं यह निषेध होता है। पूजार्थ में अञ्चु के नकारलोप का निषेध नाञ्चेः पूजा० (६।४।३०) से होता है। 'क्रुङ्' भी क्विन्नन्त (३।२।५६ से) है। 'कृत्' भी डुकृञ् अथवा कृती छेदने धातु के क्विबन्त का रूप सूत्र में निर्दिष्ट है॥ गवा गवे आदि में सावेकाचस्तृतीया० (६।१।१६२) से विभक्ति को उदात्तत्व प्राप्त था, उसका निषेध हो गया। प्रातिपदिकस्वर से गो उदात्त रहा। शोभना गावोऽस्येति सुगुः, तेन सुगुना इत्यादि में अन्तोदात्तादुत्तर० (६।१।१६३) की प्राप्ति थी। प्रकृत सूत्र से निषेध होकर नञ्सुभ्याम् (६।२।१७१) से उत्तरपद को प्राप्त अन्तोदात्तत्व स्वर ही रह गया। शुना परमशुना आदि में भी इसी प्रकार प्राप्ति एवं निषेध समझें। श्वयुवमघोनां० (६।४।१३३) से यहाँ सम्प्रसारण होता है। यद् तद् आदि शब्द सु परे रहते अवर्णान्त हैं, यहाँ सावेकाच० (६।१।१६२) से प्राप्ति थी। राजा, परमराजे में पूर्ववत् जानें। परमक्रुञ्चा, परमकृता शब्द समासस्वर से अन्तोदात्त हैं॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।१।१७८ तक जायेगी॥

दिवो झल् ॥६।१।१७७॥

दिवः ५।१॥ झल् १।१॥ अनु०—न, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—दिवः परा झलादिविभक्तिर्नोदात्ता भवति ॥ उदा०—द्युभ्याम्, द्युभिः; द्युभिरक्तुभिः (ऋ० १।३४।८)॥

भाषार्थः—[दिवः] दिव शब्द से परे [झलि] झलादि विभक्ति उदात्त नहीं होती ॥ सावेकाचस्तृ० (६।१।१६२), तथा ऊडिदम्पदाद्यप्पु० (६।१।१६५) से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया, तो प्रातिपदिक स्वर से आद्युदात्त ही हुआ ॥

यहाँ से 'झल्' की अनुवृत्ति ६।१।१७८ तक जायेगी ॥

नृ चान्यतरस्याम् ॥६।१।१७८॥

नृ लुप्तपञ्चम्यन्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—झल्, न, विभक्तिः, उदात्तः ॥ अर्थः—नृ इत्येतस्मात् परा झलादिविभक्तिर्विकल्पेन नोदात्ता भवति ॥ उदा०—नृभिः । पक्षे—नृभिः । नृभ्यः, नृभ्यः; नृभ्याम्, नृभ्याम्; नृभिर्येमानः ॥

भाषार्थः—[नृ] नृ से परे [च] भी झलादि विभक्ति को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से उदात्त नहीं होता, अर्थात् होता है ॥ सावेकाचस्तृ० (६।१।१६२) से विभक्ति को उदात्तत्व प्राप्त हुआ, अतः विकल्पार्थ यह वचन है । एक पक्ष में प्रातिपदिक स्वर, एवं पक्ष में विभक्ति को उदात्तत्व होगा ॥

तित्स्वरितम् ॥६।१।१७९॥

तित् १।१॥ स्वरितम् १।१॥ स०—तकार इत् यस्येति तित्, बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—तित्स्वरितं भवति ॥ उदा०—चिकीर्ष्यम्; जिहीर्ष्यम्, कार्यम्, हार्यम् ॥

भाषार्थः—[तित्] तकार इत्संज्ञक है जिसका, उसको [स्वरितम्] स्वरित होता है ॥ चिकीर्ष जिहीर्ष सन्नन्त धातु से अचो यत् (३।१।९७) से यत् प्रत्यय, तथा अतो लोपः (६।४।४८) से ष के अ का लोप हुआ है । यत् तित् है, अतः स्वरित होकर शेष को अनुदात्त (६।१।१५२ से) हो जाता है । कार्यम्, हार्यम् में ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय हुआ है ॥ प्रत्यय आद्युदात्तत्व का यह अपवाद है ॥

तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशाल्लसार्वधातुकमनुदात्त-
मह्न्विङोः ॥६।१।१८०॥

तास्य ... दात् ५।१॥ लसार्वधातुकम् १।१॥ अनुदात्तम् १।१॥ अह्न्विङोः

६।२।। स०—अनुदात्त इत् यस्य स अनुदात्तेत्, बहुव्रीहिः। ङकार इत् यस्य स ङित्, बहुव्रीहिः। अत् चासौ उपदेशश्च अदुपदेशः, कर्मधारयस्तत्पुरुषः। तासिश्च अनुदात्तेत् च ङित् च अदुपदेशश्च तास्य···देशम्, तस्मात् समाहारो द्वन्द्वः। लस्य सार्वधातुकम् लसार्वधातुकम्, षष्ठीतत्पुरुषः। ह्नुश्च इङ् च ह्न्विङौ, इतरेतरद्वन्द्वः। न ह्न्विङौ अह्न्विङौ, तयोः···नञ्तत्पुरुषः ।। अर्थः—तासेरनुदात्तेतो ङितोऽकारान्तोपदेशाच्च परं लसार्वधातुकमनुदात्तं भवति, ह्नुङ् इङ् इत्येताभ्यां परं वर्जयित्वा ।। उदा०—तासेः—कर्त्ता, कर्त्तारौ, कर्त्तारः। अनुदात्तेतः— आस—आस्ते, वस— वस्ते । ङितः—षूङ्—सूते, शीङ्—शेते । अदुपदेशात्—तुदतः, नुदतः, पचतः, पठतः ॥

भाषार्थः—[तास्य···शात्]तासि प्रत्यय, अनुदात्तेत् धातु, ङित् धातु, तथा उपदेश में जो अवर्णान्त इन से उत्तर[लसार्वधातुकम्]लकार के स्थान में जो सार्वधातुकसंज्ञक तस् इत्यादि प्रत्यय, वे [अनुदात्तम्] अनुदात्त होते हैं, [अह्न्विङोः] ह्नुङ् तथा इङ् धातु को छोड़कर। इनके ङित् होने से प्राप्त था, सो निषेध कर दिया ।। प्रत्यय स्वर आद्युदात्तश्च (३।१।३) का यह अपवादसूत्र है ।। कर्त्तारौ कर्त्तारः में कृ को धातुस्वर के पश्चात् तस् भि प्रत्ययस्वर से उदात्त हुये, पुनः तास् विकरण प्रत्ययस्वर से उदात्त प्राप्त हुआ। तब 'सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते' (=पीछे होनेवाला विकरणस्वर लसार्वधातुक स्वर को नहीं बाधता) न्याय से रौ रः उदात्त प्राप्त हुये। तब इस सूत्र (तास्यनुदात्ते०) ने लसार्वधातुक को अनुदात्त का विधान किया। रौ रः के अनुदात्त होने पर तास् प्रत्ययस्वर से उदात्त हुआ। 'कर्त्ता' आत्मनेपद एकवचन में प्रकृत सूत्र से 'ते' अनुदात्त हुआ। तदादेश 'डा' भी अनुदात्त है, 'डा' के डित् होने से तास् का टिलोप होने पर उदात्तनिवृत्तिस्वर से 'डा' उदात्त हो जाता है। आस वस धातु अनुदात्तेत् हैं, सो पूर्ववत् लसार्वधातुकानुदात्तत्व तथा धातुस्वर से उदात्त होकर पश्चात् अनुदात्त को स्वरित हो गया। तुद नुद धातुस्वर से उदात्त हैं, तस् प्रत्ययस्वर से उदात्त हुआ। पश्चात् तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से श विकरण हुआ, वह उपदेशावस्था में अकारान्त है। पूर्ववत् सतिशिष्ट विकरणस्वर से 'तस्' स्वर की बाधा न होने पर अदुपदेश श को मानकर उसे इस सूत्र से अनुदात्त हो गया। इस प्रकार सतिशिष्ट स्वर के नियम से 'श' को विकरणस्वर होने पर 'तु' और 'तः' अनुदात्त हुए। पश्चात् 'तः' स्वरित हो गया। पचतः पठतः में शप् को अदुपदेश मानकर 'तस्' अनुदात्त हुआ। शप् स्वयं पित् होने से अनुदात्त है, अतः यह पद धातुस्वर से आद्युदात्त हुआ ।।

यहाँ से 'लसार्वधातुकम्' की अनुवृत्ति ६।१।१८६ तक जायेगी ।

आदिः सिचोऽन्यतरस्याम् ॥६।१।१८१॥

आदिः १।१॥ सिचः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—उदात्तः ॥ अर्थः—सिजन्तस्य विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—मा हि काष्टाम्, मा हि कार्ष्टाम् । मा हि लाविष्टाम्, मा हि लाविष्टाम् ॥

भाषार्थः—[सिचः] सिच् अन्तवाले को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [आदिः] आद्युदात्त होता है ॥ काष्टाम् एक पक्ष में प्रकृत सूत्र से आद्युदात्त, तथा पक्ष में प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । इसी प्रकार लाविष्टाम् पक्ष में आद्युदात्त, एवं पक्ष में सिच् को हुआ इट् आगम सिच् का भाग माना जाने से सिच् के चित् होने से चित्स्वर से उदात्त होता है । उदाहरणों में हि च (८।१।३४) से निघात का प्रतिषेध हो जाता है ॥

यहाँ से 'आदिः अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।१।१८२ तक जायेगी ॥

स्वपादिहिंसामच्यनिटि ॥६।१।१८२॥

स्वपादिहिंसाम् ६।३॥ अचि ७।१॥ अनिटि ७।१॥ स०—स्वप आदिर्येषां ते स्वपादयः, बहुव्रीहिः । स्वपादयश्च हिंश्च स्वपादिहिंसः, तेषां इतरेतरद्वन्द्वः । अनिटि इत्यत्र बहुव्रीहिः ॥ अनु०—आदिः, अन्यतरस्याम्, लसार्वधातुकम्, उदात्तः ॥ अर्थः—स्वपादीनां हिंसेश्च अजादावनिटि लसार्वधातुके परतो विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—स्वपन्ति, स्वपन्ति । श्वसन्ति, श्वसन्ति । हिंसन्ति, हिंसन्ति ॥

भाषार्थः—[स्वपादिहिंसाम्] स्वपादि धातुओं के तथा हिंस् धातु के [अचि] अजादि [अनिटि] अनिट् लसार्वधातुक परे हों, तो विकल्प से आदि को उदात्त हो जाता है ॥ लसार्वधातुकम् प्रथमान्त पद जो यहाँ आ रहा था, वह 'अचि अनिटि' के सम्बन्ध से सप्तमी में बदल जाता है । झि को अन्ति आदेश करने पर अजादि लसार्वधातुक हो जाता है । अतः स्वपन्ति आदि में पक्ष में आद्युदात्त एवं पक्ष में प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त होता है । हिंसन्ति की सिद्धि भाग १, पृ० ८०९ में देखें ॥

यहाँ से 'अच्यनिटि' की अनुवृत्ति ६।१।१८३ तक जायेगी ॥

अभ्यस्तानामादिः ॥६।१।१८३॥

अभ्यस्तानाम् ६।३॥ आदिः १।१॥ अनु०—अच्यनिटि, लसार्वधातुकम्, उदात्तः ॥ अर्थः—अभ्यस्तानामनिटचजादौ लसार्वधातुके परत आदिरुदात्तो भवति ॥

उदा०—दर्दति, दधति; जक्षति, जक्षतु; जाग्रति, जाग्रतु । ये दर्दति प्रिया वसु (ऋ० ७।३२।१५) ॥

भाषार्थः—अजादि अनिट् लसार्वधातुक परे हो, तो [अभ्यस्तानाम्] अभ्यस्तसंज्ञकों के [आदिः] आदि को उदात्त होता है ॥ जक्षति की सिद्धि परि० ६।१।६ में देखें ॥ सर्वत्र इसी प्रकार 'अति' अजादि प्रत्यय परे है ॥

यहाँ से 'अभ्यस्तानाम्' की अनुवृत्ति ६।१।१८६ तक, तथा 'आदिः' की ६।१।१८५ तक जायेगी ॥

अनुदात्ते च ॥६।१।१८४॥

अनुदात्ते ७।१॥ च अ० ॥ स०—अविद्यमानमुदात्तमस्मिन् इत्यनुदात्तम्, तस्मिन् बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अभ्यस्तानाम्, आदिः, लसार्वधातुकम्, उदात्तः ॥ अर्थः—अविद्यमानोदात्ते च लसार्वधातुके परतोऽभ्यस्तसंज्ञकानामादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—ददाति, जहाति, दधाति, जिहीते, मिमीते । दधासि रत्नं द्रविणं च दाशुषे (ऋ० १।९४।१४) ॥

भाषार्थः—[अनुदात्ते] जिसमें उदात्त अविद्यमान है, ऐसे लसार्वधातुक के परे रहते [च] भी अभ्यस्तसंज्ञकों के आदि को उदात्त होता है ॥ डुदाञ् आदि धातुएं जुहोत्यादिगण में पठित हैं, अतः द्वित्व होकर उभे अभ्यस्तम् (६।१।५) अभ्यस्त संज्ञा हो जायेगी । भाग १, पृ० ७५५ में प्रदर्शित जुहोति की सिद्धि के समान ही सिद्धि-प्रकार जानें । ओहाक् त्यागे का 'हा' शेष रहकर—जहाति, माङ् से भृञामित् (७।४।७६) से अभ्यास को इत्व होकर—मिमीते। इसी प्रकार ओहाङ् से जिहीते की सिद्धि जानें । सर्वत्र अविद्यमान उदात्तवाला सार्वधातुक परे है ही ॥ अनुदात्त में बहुव्रीहि समास इसलिये माना गया है कि 'मा हि स्म दधात्' में तिप् के इकार के लोप होने पर भी हो जावे, क्योंकि यहाँ भी 'त्' उदात्तरहित है ॥

सर्वस्य सुपि ॥६।१।१८५॥

सर्वस्य ६।१॥ सुपि ७।१॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—सुपि परतः सर्वशब्दस्यादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—सर्वः, सर्वौ, सर्वे । सर्वे नन्दन्ति यशसा ॥

भाषार्थः—[सुपि] सुप् परे रहते [सर्वस्य] सर्व शब्द के आदि को उदात्त होता है ॥ उणादि १।१५३ से सर्व शब्द अन्तोदात्त निपातित है, उसे सुप् परे रहते आद्युदात्त कह दिया ॥

भीह्रीभृहुमदजनधनदरिद्राजागरां प्रत्ययात् पूर्वं पिति ॥६।१।१८६॥

भीह्री ···गराम् ६।३॥ प्रत्ययात् ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ पिति, ७।१॥ स०—भीह्री० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । पकार इत् यस्य स पित्, तस्मिन् पिति, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अभ्यस्तानाम्, लसार्वधातुकम्, उदात्तः ॥ अर्थः—भी, ह्री, भृ, हु, मद, जन, धन, दरिद्रा, जागृ इत्येतेषामभ्यस्तानां पिति लसार्वधातुके परतः प्रत्ययात् पूर्वमुदात्तं भवति ॥ उदा०—बिभेति । जिह्रेति । बिभर्त्ति । जुहोति, योऽग्निहोत्रं जुहोति । ममत्तु नः परिज्मा (ऋ० १।१२२।३) । जजनदिन्द्रम् । दधनत् (ऋ० १०।७३।१) । दरिद्राति । जागर्त्ति ॥

भाषार्थः—[भीह्री···गराम्] भी, ह्री, भृ, हु, मद, जन, धन, दरिद्रा, तथा जागृ धातु के अभ्यस्त को [पिति] पित् लसार्वधातुक परे रहते [प्रत्ययात्] प्रत्यय से [पूर्वम्] पूर्व को उदात्त होता है ॥ अनुदात्ते च (६।१।१८४) से अभ्यस्त को आद्युदात्त प्राप्त था । यहाँ प्रत्यय से पूर्व उदात्त कह दिया, अतः 'तिप्' पित् लसार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते उससे पूर्व को उदात्त हुआ है ॥ बिभर्त्ति में, अभ्यास को भृञामित् से इत्व हुआ है । शेष में पूर्ववत् द्वित्व एवं अभ्यासकार्य जानें । ममत्तु मदी हर्षे धातु के लोट् का रूप है । दिवादि गण की होने से श्यन् विकरण होना चाहिये, किन्तु बहुलं छन्दसि (२।४।७६) से श्लु होकर द्वित्वादि कार्य हुये हैं । जन धन धातुओं से जजनत् दधनत् लेट् के रूप हैं । लेट् की सिद्धि का प्रकार भाग १, परि० ३।१।३४ में देखें । शेष द्वित्वादि कार्य यहाँ होंगे ही ॥

यहाँ से 'प्रत्ययात् पूर्वम्' की अनुवृत्ति ६।१।१८७ तक जायेगी ।

लिति ॥६।१।१८७॥

लिति ७।१॥ स०—ल् इत् यस्य स लित्, तस्मिन् लिति, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—प्रत्ययात् पूर्वम्, उदात्तः ॥ अर्थः—लिति प्रत्ययात् पूर्वमुदात्त भवति ॥ उदा०—चिकीर्षकः, जिहीर्षकः ॥

भाषार्थः—[लिति] ल् जिसका (प्रत्यय का) इत्संज्ञक हो, ऐसे प्रत्यय से पूर्व को उदात्त होता है ॥ सिद्धि भाग १, पृ० ७४३, परि० १।१।५७ में देखें ॥

आदिर्णमुल्यन्यतरस्याम् ॥६।१।१८८॥

आदिः १।१॥ णमुलि ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—उदात्तः ॥ अर्थः—

णमुलि परतो विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—लोलूयंलोलूयम् । पक्षे—लोलूयंलोलूयम् ॥

भाषार्थः—[णमुलि] णमुल् परे रहते (पूर्व धातु को) [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [आदिः] आदि को उदात्त होता है ॥ लोलूय यङन्त धातु से णमुल् प्रत्यय करके 'लोलूयम्' को प्रकृत सूत्र से एक बार आद्युदात्त, एवं एक बार लिति (६।१।१८७) सूत्र से प्रत्यय (णमुल्) से पूर्व को उदात्त होकर मध्योदात्त स्वर रहा। तत्पश्चात् णमुलन्त को आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः (वा० ८।१।१२) इस वार्त्तिक से द्वित्व हो गया। पश्चात् तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२) से द्वित्व किये हुये द्वितीय लोलूयम् की आम्रेडित संज्ञा हो गई। और उसको अनुदात्तं च (८।१।३) से अनुदात्त भी हो गया। पश्चात् पूर्वपदस्थ स्वरित को मानकर समस्त अनुदात्तों को एकश्रुति स्वर हो गया ॥

यहाँ से 'आदिः, अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।१।१९० तक जायेगी ॥

अचः कर्त्तृयकि ॥६।१।१८९॥

अचः ६।१॥ कर्त्तृयकि ७।१॥ स०—कर्त्तरि विहितो यक् कर्त्तृयक्, तस्मिन्...सप्तमीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आदिः, अन्यतरस्याम्, उदात्तः, 'अदुपदेशात्' (६।१।१८०) इत्यत्र यत् समस्तमुपदेशग्रहणं तस्यैकदेशमात्रमनुवर्त्तते[1] मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—कर्त्तृवाचिनि सार्वधातुके विहितो यो यक् तस्मिन् परत उपदेशे अजन्ता ये धातवस्तेषां विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—लूयते केदारः स्वयमेव। लूयते केदारः स्वयमेव। स्तीर्यते केदारः स्वयमेव, स्तीर्यते केदारः स्वयमेव ॥

भाषार्थः—[कर्त्तृयकि] कर्त्तृवाची सार्वधातुक के परे रहते विहित जो यक् प्रत्यय उस यक् के परे रहते उपदेश में [अचः] अजन्त जो धातुएं उनके आदि को विकल्प से उदात्त हो जाता है ॥ कर्मकर्त्ता (जहाँ कर्म कर्त्ता बन जाता है) स्थल में कर्त्तृवाची सार्वधातुक के परे रहते कर्मवद्भाव से यक् विधान सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से होता है। अतः कर्मकर्त्ता में ही प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होगी ॥ जब पक्ष में लूयते आदि को आद्युदात्त नहीं हुआ, तब तास्यनुदात्तेत्० (६।१।१८०) से लसार्वधातुक को निघात करके प्रत्यय स्वर से यक् को ही उदात्तत्व होता है ॥

थलि च सेटीडन्तो वा ॥६।१।१९०॥

थलि ७।१॥ च अ० ॥ सेटि ७।१॥ इट् १।१॥ अन्तः १।१॥ वा अ० ॥

---

१. द्रष्टव्या—क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तत इति परिभाषा।

स०—सेटीत्यत्र बहुव्रीहिः ।। अनु०—आदिः, अन्यतरस्याम्, उदात्तः ।। अर्थः—सेटि थलि इट् वा उदात्तो भवति, अन्तो वाऽऽदिर्वाऽन्यतरस्याम् ।। उदा०—लुलविथ, लुलविथ, लुलविथ, लुलविथ, पर्यायेण चत्वारः स्वराः ।।

भाषार्थः—[सेटि थलि] सेट् थल् परे रहते [इट्] इट् को अन्यतरस्याम्= विकल्प से उदात्त होता है, एवं [च] चकार से आदि को, [अन्तः] अन्त को [वा] विकल्प से होता है ।।

यहाँ चकार भिन्न क्रम (=अस्थान में) है। इसका सम्बन्ध होगा—थलि सेटि इट् च अन्तो वा। इस प्रकार सेट् थल् परे रहते अनुवर्त्तमान अन्यतरस्याम् जुड़कर इट् को उदात्त करेगा। पक्ष में 'च' से समुच्चीयमान आदि को, तत्पश्चात् 'अन्तो वा' से अन्त को उदात्त विकल्प से होगा। पक्ष में यथाप्राप्त लित् स्वर होगा। इस प्रकार चार स्वर पर्याय से होंगे ।।

ञ्नित्यादिर्नित्यम् ।।६।१।१९१।।

ञ्निति ७।१।। आदिः १।१।। नित्यम् १।१।। स०—ञश्च नश्चेति ञ्नौ, ञ्नावितावस्य ञ्नित्, तस्मिन् ञ्निति, द्वन्द्वगर्भो बहुव्रीहिः ।। अनु०—उदात्तः ।। अर्थः—ञिति निति च नित्यमादिरुदात्तो भवति ।। उदा०—गार्ग्यः, वात्स्यः। नित्—वासुदेवकः, अर्जुनकः; यस्मिन्विश्वानि पौंस्या, सुते दधिष्व नश्चनः ।।

भाषार्थः—[ञ्निति] ञकार और नकार इत्संज्ञक हैं जिनका ऐसे प्रत्ययों के परे रहते [नित्यम्] नित्य ही [आदिः] आदि को उदात्त होता है ।। गार्ग्यः, वात्स्यः में गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से यञ् प्रत्यय हुआ है, जो कि ञित् है। पौंस्या में पुंस् शब्द से गुणवचनब्राह्म० (५।१।१२३) से ष्यञ् हुआ है। वासुदेवकः, अर्जुनकः में वासुदेवार्जुना० (४।३।९८) से वुन् प्रत्यय हुआ है। चनः में चायृ धातु से नुट् आगम एवं असुन् प्रत्यय हुआ है ।। प्रत्ययस्वर का अपवाद यह सूत्र है ।।

यहाँ से 'आदिः' की अनुवृत्ति ६।१।२१० तक जायेगी ।।

आमन्त्रितस्य च ।।६।१।१९२।।

आमन्त्रितस्य ६।१।। च अ० ।। अनु०—आदिः, उदात्तः ।। अर्थः—आमन्त्रितस्यादिरुदात्तो भवति ।। उदा०—देवदत्त ! देवदत्तौ ! देवदत्ताः !

भाषार्थः—[आमन्त्रितस्य] आमन्त्रितसंज्ञक के [च] भी आदि को उदात्त होता है ।। सम्बोधन को सामन्त्रितम् (२।३।४८) से आमन्त्रित संज्ञा होती है ।।

पथिमथोः सर्वनामस्थाने ।।६।१।१९३।।

पथिमथोः ६।२।। सर्वनामस्थाने ७।१।। स०—पन्थाश्च मन्थाश्च पथिमन्थानौ,

तयोः……इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—पथिमथोः सर्वनामस्थाने परतः आदिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः । अयं पन्थाः (ऋ० ४।१८।१) । मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः ॥

भाषार्थः—[पथिमथोः] पथिन् तथा मथिन् शब्द को [सर्वनामस्थाने] सर्वनामस्थान परे रहते आदि उदात्त हो जाता है ॥ मन्थः (उणा० ४।११) से इनि प्रत्ययान्त मथिन् शब्द, तथा पतस्थ च (उणा० ४।१२) से इनि प्रत्ययान्त पथिन् शब्द सिद्ध होते हैं । ये शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त थे, अतः इन्हें सर्वनामस्थान परे रहते आद्युदात्त कह दिया है ॥ पन्थाः की सिद्धि भाग १, पृ० ७७३ में देखें । इसी प्रकार मन्थाः की भी समझें ॥

अन्तश्च तवै युगपत् ॥६।१।१९४॥

अन्तः १।१॥ च अ० ॥ तवै लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ युगपत् अ० ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—तवैप्रत्ययान्तस्य शब्दस्यान्तश्चादिश्च युगपद् उदात्तो भवति ॥ उदा०—कर्त्तवै; हर्त्तवै ॥

भाषार्थः—[तवै] तवै प्रत्ययान्त शब्द का [अन्तः] अन्त [च] और आदि को [युगपत्] एक साथ उदात्त होता है ॥ कृत्यार्थे तवैकेन्केन्य० (३।४।१४) से कृ हृ धातुओं से तवै प्रत्यय हुआ है ॥ युगपत् इसलिये कहा है कि अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से पद में एक को छोड़कर शेष अनुदात्त हो जाते हैं, सो एक ही पद में एक साथ दो उदात्त रह ही नहीं सकते । अतः युगपत् कहकर दो के उदात्तत्व का विधान कर दिया । मध्य के अनुदात्त को नोदात्तस्व० (८।४।६६) से स्वरित का निषेध हो जाने से, उदात्तादनु० (८।४।६५) से स्वरित नहीं होता ॥

क्षयो निवासे ॥ ६।१।१९५ ॥

क्षयः १।१॥ निवासे ७।१॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—क्षयशब्द आद्युदात्तो भवति निवासेऽभिधेये ॥ उदा०—क्षियन्ति निवसन्त्यस्मिन्=क्षयः, स्वे क्षये शुचिव्रतः ॥

भाषार्थः—[क्षयः] क्षय शब्द आद्युदात्त होता है, [निवासे] निवास अभिधेय होने पर ॥ क्षय शब्द पुंसि संज्ञायां० (३।३।११८) से घप्रत्ययान्त है । अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त प्राप्त था, आद्युदात्त विधान कर दिया ॥ निवास= घर अर्थ से अन्यत्र क्षयः (=नाश) होगा ॥

जयः करणम् ॥६।१।१९६॥

जयः १।१॥ करणम् १।१॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—करणवाची जयशब्द आद्युदात्तो भवति ॥ उदा०—जयन्ति तेनेति जयः=अश्वादिः ॥

भाषार्थः—[करणम्] करणवाची [जयः] जय शब्द आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् ही जय शब्द में करण कारक में घ प्रत्यय होने से अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, आद्युदात्त कह दिया ॥ अन्यत्र जयः (=जीतना) अन्तोदात्त होगा ॥

वृषादीनां च ॥६।१।१९७॥

वृषादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ स०—वृष आदिर्येषां ते वृषादयः, तेषां ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—वृषादीनां शब्दानामादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—वृषः, जनः, ज्वरः, ग्रहः, हयः, गयः । वाजेभिर्वाजिनीवती (ऋ० १।३।१०) ॥

भाषार्थः—[वृषादीनाम्] वृषादि शब्दों के [च] भी आदि को उदात्त होता है ॥ वृषादि गण आकृतिगण है । इनमें वृष शब्द इगुपध० (३।१।१३५) से कप्रत्ययान्त, तथा अन्य सब शब्द पचाद्यच् (३।१।१३४) प्रत्ययान्त हैं, अतः अन्तोदात्त स्वर प्राप्त था । वाज शब्द घञन्त है, उसे कर्षात्वतो० (६।१।१५३) से अन्तोदात्त प्राप्त था, आद्युदात्त कह दिया । आगे भिस् विभक्ति आकर वाजेभिः बना ॥

संज्ञायामुपमानम् ॥६।१।१९८॥

संज्ञायाम् ७।१॥ उपमानम् १।१॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—उपमानशब्दः संज्ञायामाद्युदात्तो भवति ॥ उदा०—चञ्चा, वध्रिका, खरकुटी, दासी ॥

भाषार्थः—[उपमानम्] उपमानवाची शब्द को [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में आद्युदात्त होता है ॥ संज्ञायाम् (५।३।९७) से चञ्चा आदि शब्दों में कन् प्रत्यय होकर लुम्मनुष्ये (५।३।९८) से लुप्त होता है । ये सभी उपमानवाची शब्द हैं । इन सब में अपना मूल स्वर अन्तोदात्त है । जब ये शब्द उपमानवाचक होते हुए किसी के लिये संज्ञारूप से प्रवृत्त होते हैं, तब इस सूत्र का विषय होता है ॥

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ६।१।१९९ तक जायेगी ॥

निष्ठा च द्व्यजनात् ॥६।१।१९९॥

निष्ठा १।१॥ च अ० ॥ द्व्यच् १।१॥ अनात् १।१॥ स०—द्वौ अचौ यस्मिन् तत् द्व्यच्, बहुव्रीहिः । न आत् अनात्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—संज्ञायाम्, आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—निष्ठान्तं च द्व्यच् संज्ञायां विषये आद्युदात्तं भवति, न चेदाकारः ॥ उदा०—दत्तः, गुप्तः, बुद्धः ॥

भाषार्थः—[निष्ठा] निष्ठान्त शब्द जो [द्व्यच्] दो अचोंवाला उसके [च] भी आदि को उदात्त होता है, संज्ञाविषय में [अनात्] आकार को छोड़कर, अर्थात् उदात्तभावी आकार न हो ॥ दत्तः की सिद्धि भाग १,पृष्ठ ९१२ में देखें। गुप्तः 'गुपू रक्षणे' धातु से, तथा बुद्धः 'बुध अवगमने' धातु से बना है। दत्तः आदि शब्द निष्ठान्त द्व्यच् हैं, अतः आद्युदात्त हो गया है ॥ प्रत्ययस्वर (३।१।३) का अपवाद यह सूत्र है ॥

शुष्कधृष्टौ ॥६।१।२००॥

शुष्कधृष्टौ १।२॥ स०—शुष्क० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—शुष्क धृष्ट इत्येतावाद्युदात्तौ भवतः ॥ उदा०—शुष्कः; अतसं न शुष्कम् (ऋ० ४।४।४) । धृष्टः ॥

भाषार्थः—[शुष्कधृष्टौ] शुष्क तथा धृष्ट शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ पूर्व सूत्र से ही सिद्ध था, पुनः असंज्ञा-विषय में भी हो जाये, इसलिये यह सूत्र है ॥ शुष शोषणे धातु से शुषः कः (८।२।५१) से निष्ठा को 'क' आदेश करके शुष्कः शब्द बनता है। धृष्टः में ञिधृषा धातु है, निष्ठा को ष्टुत्व करके धृष्टः बन जायेगा॥

आशितः कर्त्ता ॥६।१।२०१॥

आशितः १।१॥ कर्त्ता १।१॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—आशितशब्दः कर्तृवाची आद्युदात्तो भवति ॥ उदा०—आशितो देवदत्तः । कृषन्नित्फाल आशितम् (ऋ० १०।११७।७) ॥

भाषार्थः—[कर्त्ता] कर्तृवाची [आशितः] आशित शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ 'आङ्पूर्वक अश भोजने धातु से कर्त्ता कारक में क्त निपातन से हो', ऐसा भाष्य में कथित होने से यहाँ कर्त्ता में क्त हुआ है ॥ 'अश' धातु सकर्मक है, कर्म की अविवक्षा होने पर धातु अकर्मक हो जाती है। अतः कर्त्ता में क्त हुआ ॥ थाथघञ्क्ता० (६।२।१४३) से अन्तोदात्त की प्राप्ति थी, आद्युदात्त कह दिया ॥

रिक्ते विभाषा ॥६।१।२०२॥

रिक्ते ७।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—रिक्तशब्दे विभाषा आदिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—रिक्तः, रिक्तः ॥

भाषार्थः—[रिक्ते] रिक्त शब्द में [विभाषा] विकल्प से आद्युदात्तत्व होता है ॥ 'रिचिर् विरेचने' धातु से क्त में रिक्तः बना है ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।१।२०३ तक जायेगी ॥

जुष्टार्पिते च च्छन्दसि ॥६।१।२०३॥

जुष्टार्पिते १।२॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ स०—जुष्टा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा, आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—जुष्ट अर्पित इत्येते शब्दरूपे विकल्पेन छन्दसि विषये आद्युदात्ते भवतः ॥ उदा०—जुष्टः, जुष्टः । अर्पितः, अर्पितः ॥

भाषार्थः—[जुष्टार्पिते] जुष्ट तथा अर्पित इन शब्दों को [च] भी [छन्दसि] वेदविषय में विकल्प से आद्युदात्त होता है ॥ प्रत्ययस्वर का अपवाद यह सूत्र है । अतः पक्ष में प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त ही होता है ॥

यहाँ से 'जुष्टार्पिते' की अनुवृत्ति ६।१।२०४ तक जायेगी ॥

नित्यं मन्त्रे ॥६।१।२०४॥

नित्यम् १।१॥ मन्त्रे ७।१॥ अनु०—जुष्टार्पिते, आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—जुष्ट अर्पित इत्येते शब्दरूपे मन्त्रविषये नित्यमाद्युदात्ते भवतः ॥ उदा०—जुष्टं देवानाम् । अर्पितं पितॄणाम् ॥

भाषार्थः—जुष्ट अर्पित इन शब्दों को [मन्त्रे] मन्त्रविषय में [नित्यम्] नित्य ही आद्युदात्त होता है ॥ छन्द से वेद ब्राह्मण आदि का ग्रहण होता है, तथा मन्त्र से केवल मन्त्रों का ही । परन्तु गौणी वृत्ति से मन्त्र शब्द से ब्राह्मण और उपनिषद् में आये विशिष्ट वचनों का भी ग्रहण होता है ॥

युष्मदस्मदोर्ङसि ॥६।१।२०५॥

युष्मदस्मदोः ६।२॥ ङसि ७।१॥ स०—युष्मद् च अस्मद् च युष्मदस्मदौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—युष्मद् अस्मद् इत्येतयोः शब्दयोः ङसि परत आदिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—तव स्वम्, मम स्वम् । महिषस्तव नो मम ॥

भाषार्थः—[युष्मदस्मदोः] युष्मद् अस्मद् शब्दों के आदि को [ङसि] ङस् परे रहते उदात्त होता है ॥ युष्यसिभ्यां मदिक् (उणा० १।१।१६) इस उणादि सूत्र से युष्मद् अस्मद् शब्द मदिक् प्रत्ययान्त हैं, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हैं। उन्हें ङस् परे आद्युदात्त कह दिया ॥ तव मम की सिद्धि भाग १, पृष्ठ ८४३ में देखें ॥

यहाँ से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति ६।१।२०६ तक जायेगी ॥

ङयि च ॥६।१।२०६॥

ङयि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—युष्मदस्मदोः, आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—ङयि च परतो युष्मदस्मदोरादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—तुभ्यम्, मह्यम् । तुभ्यं हिन्वानः (ऋ० २।३६।१) । मह्यं वातः पवताम् ॥

भाषार्थः—[ङयि] ङे विभक्ति परे रहते [च] भी युष्मद् अस्मद् को आद्युदात्त होता है ॥ तुभ्यमह्यौ ङयि (७।२।९५) से ङे परे रहते युष्मद् अस्मद् को क्रमशः तुभ्य मह्य आदेश होकर, तथा 'ङे' को ङे प्रथमयोरम् (७।१।२८) से अम् आदेश होकर तुभ्यम् मह्यम् बनते हैं ॥

यतोऽनावः ॥६।१।२०७॥

यतः ६।१॥ अनावः ५।१॥ स०—न नौः अनौः, तस्मात् ... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः, निष्ठा च द्व्य० (६।१।१९९) इत्यतः 'द्व्यचः' अनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—यत्प्रत्ययान्तस्य द्व्यच आदिरुदात्तो भवति, न चेत् यत् नौशब्दात् परो भवति ॥ उदा०—चेयम्, जेयम्; युञ्जन्त्यस्य काम्या (ऋ० १।६।२) ॥

भाषार्थः—[यतः] यत्प्रत्ययान्त जो दो अचोंवाले शब्द उनको आद्युदात्त होता है; [अनावः] नौ शब्द को छोड़कर । अर्थात् यत्प्रत्ययान्त जो दो अचोंवाला 'नाव्यम्' शब्द है, उसे आद्युदात्त न हो ॥ काम्या में कमेर्णिङ् (३।१।३०) से णिङ् प्रत्यय होकर 'कामि' धातु बन गई । तब अचो यत् (३।१।९७) से यत् प्रत्यय हुआ है । णेरनिटि (६।४।५१) से णिङ् के 'इ' का लोप हो ही जायेगा ॥ यह सूत्र तित्स्वरितम् (६।१।१७९) का अपवाद है ॥

ईडवन्दवृशंसदुहां ण्यतः ॥६।१।२०८॥

ईडवन्दवृशंसदुहाम् ६।३॥ ण्यतः ६।१॥ स०—ईडवन्द० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—ईड, वन्द, वृ, शंस, दुह इत्येतेषां यो ण्यत

तदन्तस्यादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—ईड्यम्; ईड्यो नूतनैरुत (ऋ० १।१।२) । वन्द्यम्; आजुह्वान ईड्यो वन्द्यश्च (ऋ० १०।११०।३) । वार्यम्; श्रेष्ठं नो धेहि वार्यम् (ऋ० १०।२४।२) । शंस्यम्; उक्थमिन्द्राय शंस्यम् (ऋ० १।१०।५) । दोह्या धेनुः ॥

भाषार्थः—[ईड·····दुहाम्] ईड, वन्द, वृ, शंस, दुह इन धातुओं का जो [ण्यतः] ण्यत्, तदन्त शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय सर्वत्र हुआ है । तित्स्वरितम् (६।१।१७९) की प्राप्ति थी, तदपवाद यह सूत्र है ॥

विभाषा वेण्विन्धानयोः ॥६।१।२०९॥

विभाषा १।१॥ वेण्विन्धानयोः ६।२॥ स०—वेण्वि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—वेणु इन्धान इत्येतयोर्विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—वेणुः, वेणुः । इन्धानः, इन्धानः; इन्धानः; इन्धानो अग्निम् (ऋ० २।२५।१) ॥

भाषार्थः—[वेण्विन्धानयोः] वेणु इन्धान इन शब्दों के आदि को [विभाषा] विकल्प से उदात्त होता है ॥ वेणु शब्द अजिवृरीभ्यो नित् (उणा० ३।३८) से णुप्रत्ययान्त है । नित् होने से ञ्नित्यादिर्नि० (६।१।१९१) से नित्य आद्युदात्त प्राप्त था, पक्ष में अन्तोदात्त विधान कर दिया है । ञिइन्धी धातु से इन्धान शब्द भी ताच्छील्यवयो० (३।२।१२९) से चानशप्रत्ययान्त है । अतः पक्ष में चितः (६।१।१५७) से अन्तोदात्त होगा । यदि इन्धान शब्द को शानच्प्रत्ययान्त मानें, तो शानच् के परे रहते श्नम् विकरण होगा । तब 'इ न न्ध् आन' इस अवस्था में श्नान्नलोपः (६।४।२३) से 'न्' का लोप होगा । सति शिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते से शानच् को चित् होने से अन्तोदात्त प्राप्त होगा । किन्तु श्नम् के अनुपदेश होने) से तास्यनुदात्तेत्० (६।१।१८०) से लसार्वधातुक अनुदात्त होगा, और श्नम् विकरण प्रत्ययस्वर से उदात्त होगा । पुनः श्नम् विकरण के अकार का लोप श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से अनुदात्त 'आन' के परे रहते हो जाता है । अतः अनुदात्तस्य च यत्रो० (६।१।१५५) द्वारा उदात्तनिवृत्ति स्वर से मध्योदात्त स्वर होगा । दोनों प्रकार के चिह्न उपर्युक्त उदाहरणों में दिखा दिये हैं । चानश् शानच् दोनों में इसी प्रकार सिद्धि होगी, केवल स्वर में उपर्युक्त भेद रहेगा ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।१।२१० तक जायेगी ॥

त्यागरागहासकुहश्वठक्रथानाम् ॥६।१।२१०॥

त्याग… नाम् ६।३॥ स०—त्याग० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा, आदिः, उदात्तः ॥ अर्थः—त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, क्रथ इत्येतेषामादिरुदात्तो भवति विकल्पेन ॥ उदा०—त्यागः, त्यागः । रागः, रागः । हासः, हासः । कुहः, कुहः । श्वठः, श्वठः । क्रथः, क्रथः ॥

भाषार्थः—[त्याग……नाम्] त्याग, राग, हास, कुह, श्वठ, क्रथ इन शब्दों के आदि को विकल्प से उदात्त होता है ॥ त्याग, राग, हास घञन्त शब्द हैं, अतः कर्षात्वतो घञो० (६।१।१५३) से अन्तोदात्त प्राप्त था, जो कि पक्ष में हो गया । कुह, श्वठ, क्रथ भी पचाद्यच् (३।१।१३४) प्रत्ययान्त हैं, अतः पक्ष में प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होता है ॥

उपोत्तमं रिति ॥६।१।२११॥

उपोत्तमम् प्र० ॥ रिति ७।१॥ स०—रेफ इत् यस्य स रित्, तस्मिन् रिति, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उदात्तः ॥ सौवर्यः सप्तम्यस्तदन्तसप्तम्यो भवन्तीति नियमात् रिदन्तस्य इत्यर्थो भवति ॥ अर्थः—रिदन्तस्य उपोत्तममुदात्तं भवति ॥ उदा०—करणीयम्, हरणीयम्; पटुजातीयः, मृदुजातीयः ॥

भाषार्थः— [रिति] रेफ इत्वाले शब्द के [उपोत्तमम्] उपोत्तम को उदात्त होता है ॥ करणीयं हरणीयं में अनीयर् (३।१।९६ से) रित् प्रत्यय हुआ है, अतः तदन्त शब्द का उपोत्तम उदात्त हुआ है । पटुजातीयः आदि में प्रकारवचने जातीयर् (५।३।६९) से जातीयर् रित् प्रत्यय हुआ है ॥ तीन या तीन से अधिक स्वरोंवाले शब्दों का अन्त्य अक्षर उत्तम कहाता है, उसके समीपवाला पूर्व वर्ण उपोत्तम होता है । देखें भाग २, सूत्र ४।१।७८ ॥

यहाँ से 'उपोत्तमम्' की अनुवृत्ति ६।१।२१२ तक जायेगी ॥

चङ्यन्यतरस्याम् ॥६।१।२१२॥

चङि ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—उपोत्तमम्, उदात्तः ॥ अर्थः—चङन्तस्यान्यतरस्यामुपोत्तममुदात्तं भवति ॥ उदा०—मा हि चीकरताम्, मा हि चीकरताम् ॥

भाषार्थः—[चङि] चङन्त शब्द के उपोत्तम को [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके उदात्त होता है ॥ अचीकरत् की सिद्धि भाग १, पृष्ठ ८२३ में की है । ठीक उसी प्रकार यहाँ द्विवचन तस् को तस्थस्थ० (३।४।१०१) से ताम् आदेश

होकर, तथा न माङ्योगे (६।४।७४) से अट् का निषेध होकर 'चीकरताम्' बना है। चीकरताम् के 'हि' से उत्तरवर्ती तिङन्त होने से, तिङ्ङतिङ (८।१।२८) से प्राप्त निघात को हि च (८।१।३४) से प्रतिषेध होता है। चङ् को अनुपदेश मानकर तास्यनुदात्ते० (६।१।१८०) से ताम् लसार्वधातुक को अनुदात्त हो गया। तब प्रत्ययस्वर से चङ् का अ जो र् में मिला है, उसको ही उदात्त प्राप्त था। प्रकृत सूत्र ने चङन्त अर्थात् 'चीकर' इतने शब्द के उपोत्तम को उदात्त कह दिया। अतः 'क' का 'अ' उदात्त हो गया, पक्ष में प्रत्ययस्वर से उदात्त होगा ही ॥

मतोः पूर्वमात्संज्ञायां स्त्रियाम् ॥६।१।२१३॥

मतोः ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ आत् १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स्त्रियाम् ७।१॥ अनु०—उदात्तः ॥ अर्थः—मतोः पूर्वो य आकार स उदात्तो भवति, तच्चेत् मत्वन्तं शब्दरूपं स्त्रीलिङ्गे संज्ञा स्यात् ॥ उदा०—उदुम्बरावती, पुष्करावती, वीरणावती, शरावती ॥

भाषार्थः—[मतोः] मतुप् से [पूर्वम्] पूर्व [आत्] आकार को उदात्त होता है, यदि वह मत्वन्त शब्द [स्त्रियाम्] स्त्रीलिङ्ग में [संज्ञायाम्] संज्ञाविषयक हो तो ॥ उदुम्बरावती आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग में हैं, तथा किन्हीं नदियों की ये संज्ञायें हैं। अतः मतुप् से पूर्व आकार को उदात्त हो गया है। मतुप् के म को व संज्ञायाम् (८।२।११) से हुआ है॥ चातुरर्थिक नद्यां मतुप् (४।४।८४) से मतुप् हुआ है। मतुप् परे रहते पूर्व को मतौ बह्वचो० (६।३।११७) से दीर्घ हुआ है। शरावती में शरादीनां च (६।३।११८) से दीर्घ होता है॥ ङीप् (४।१।६) के पित् होने से अनुदात्तत्व है॥

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ६।१।२१५ तक जायेगी॥

अन्तोऽवत्याः ॥६।१।२१४॥

अन्तः १।१॥ अवत्याः ६।१॥ अनु०—संज्ञायाम्, उदात्तः ॥ अर्थः—अवतीशब्दान्तस्य संज्ञायां विषयेऽन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—अजिरवती, खदिरवती, हंसवती, कारण्डवती ॥

भाषार्थः—[अवत्याः] अवती-शब्दान्त को संज्ञाविषय में [अन्तः] अन्त उदात्त होता है॥ उपर्युक्त उदाहरण संज्ञाविषय में हैं, तथा अवती शब्द अन्त में है ही॥ ङीप् प्रत्यय के पित् होने से अनुदात्तत्व प्राप्त था, उसे इस सूत्र से उदात्त कह दिया॥

यहाँ से 'अन्तः' की अनुवृत्ति ६।१।२१७ तक जायेगी॥

ईवत्याः ॥६।१।२१५॥

ईवत्याः ६।१।। अनु०—अन्तः, संज्ञायाम्, उदात्तः ।। अर्थः—ईवतीशब्दान्तस्यान्त उदात्तो भवति संज्ञायां विषये ।। उदा०—अहीवती, कृषीवती, मुनीवती ।।

भाषार्थः—[ईवत्याः] ईवती-शब्दान्त पद को संज्ञाविषय में अन्त उदात्त होता है ।। पूर्ववत् म को व, तथा शरादीनां च (६।३।११९) से दीर्घत्व जानें ।। पूर्ववत् अनुदात्तत्व की प्राप्ति थी, उदात्त कह दिया ।।

चौ ॥६।१।२१६॥

चौ ७।१।। अनु०—अन्तः, उदात्तः ।। अर्थः—अञ्चतेः नकाराकारलोपं कृत्वा 'चौ' इति निर्देशः । चौ परतः पूर्वस्यान्त उदात्तो भवति ।। उदा०—दधीचः पश्य, दधीचा, दधीचे । मधूचः, मधूचा, मधूचे ।।

भाषार्थः—अञ्चु धातु के अकार नकार का लोप करके जो 'चु' रूप रहता है, उसका यहाँ सप्तमी से निर्देश है ।। [चौ] चु परे रहते पूर्व को अन्त उदात्त होता है ।। दध्यञ्चन्तीति तान् दधीचः । यहाँ दधि उपपद रहते अञ्चु धातु से क्विन् (३।२।५९ से) हुआ है । गतिकारकोपपदात्० (६।२।१३९) से उत्तरपद प्रकृतिस्वर होने पर अञ्चु का अ धातुस्वर से उदात्त है । अनिदितां० (६।४।२४) से नकार का लोप हो गया, तथा क्विन् का सर्वापहारी लोप होकर अजादि असर्वनामस्थान शस् टा आदि विभक्ति परे रहते अञ्चु के उदात्त अकार का अचः (६।४।१३८) से लोप हो गया । अनुदात्तौ० (३।१।४) से विभक्ति अनुदात्त थी । अतः अनुदात्त विभक्ति परे रहते उदात्त 'अ' का लोप होने से अनुदात्तस्य० (६।१।१५५) से उदात्तनिवृत्तिस्वर अर्थात् विभक्ति को उदात्त प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है । इसी प्रकार मधूचः आदि में समझें ।। चु से पूर्व दधि एवं मधु है, सो उसके अन्त इकार उकार को उदात्त, तथा चौ (६।३।१३६) से दीर्घ हो गया ।।

समासस्य ॥६।१।२१७॥

समासस्य ६।१।। अनु०—अन्तः, उदात्तः ।। अर्थः—समासस्यान्त उदात्तो भवति ।। उदा०—राजपुरुषः, ब्राह्मणकम्बलः, कन्यास्वनः, पटहशब्दः, नदीघोषः, राजपृषत्, ब्राह्मणसमित् ।।

भाषार्थः—[समासस्य] समास का अन्त उदात्त होता है ।। समास के भिन्न-भिन्न पदों को पृथक्-पृथक् स्वर प्राप्त होते हैं । इस सूत्र से समास का एक ही स्वर अन्तोदात्त विधान कर दिया । अन्यथा राजपुरुषः आदि में यथाप्राप्त 'राजन्' पद का

अलग स्वर, एवं 'पुरुष' का अलग स्वर होता। अब सब हटकर अन्तोदात्त ही होगा ॥ उदात्तादि स्वर अचों का ही धर्म है, अतः जो अच् अन्त में होगा, उसे ही स्वर होगा। अन्त में हल् होने पर उसे नहीं होगा, जैसा कि 'बाह्वग्नतमित्' आदि में है। यहाँ त् के अन्त में होने पर भी त् के हल् होने से मि के 'इ' को उदात्त होगा, त् को नहीं हो सकता ॥

विशेषः—आगे छठे अध्याय का सम्पूर्ण द्वितीय पाद इस 'समासस्य' सूत्र का ही अपवादरूप कहेंगे ॥

इति प्रथमः पादः ॥

द्वितीयः पादः

[प्रकृतिस्वर-प्रकरणम्]

बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥६।२।१॥

बहुव्रीहौ ७।१॥ प्रकृत्या ३।१॥ पूर्वपदम् १।१॥ **अर्थः**—बहुव्रीहौ समासे पूर्वपदस्य यः स्वरः स प्रकृत्या भवति, न विकारमनुदात्तत्वमापद्यते इत्यर्थः ॥ उदा०—कार्ष्णोत्तरासङ्गाः, यूपवलजः, ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः, स्नातकपुत्रः, अध्यापकपुत्रः, श्रोत्रियपुत्रः, मनुष्यनाथः, चित्रश्रवस्तमः ॥

भाषार्थः—[बहुव्रीहौ] बहुव्रीहि समास में [पूर्वपदम्] पूर्वपद को [प्रकृत्या] प्रकृतिस्वर होता है ॥ 'समासस्य' से समास को अन्तोदात्त होकर शेष पद अनुदात्त (६।१।१५२) होने से पूर्वपद को अनुदात्तत्व ही होता। अब प्रकृतिस्वर विधान करने से पूर्वपद का समास करने से पूर्व जो स्वर था वही हो जावेगा, अन्तोदात्तत्व (६।१ २१७ से) नहीं होगा ॥

यहाँ 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक, तथा 'पूर्वपदम्' की ६।२।१०९ तक जायेगी ॥

उदाहरणों में पूर्वपद के स्वरों की सिद्धि परिशिष्ट में देखें ॥

तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीयासप्तम्युपमानाव्ययद्वितीयाकृत्याः ॥६।२।२॥

तत्पुरुषे ७।१॥ तुल्यार्थ०...कृत्याः १।३॥ स०—तुल्योऽर्थो यस्य तत्

तुल्यार्थम्, बहुव्रीहिः । तुल्यार्थञ्च तृतीया च सप्तमी च उपमानञ्च अव्ययञ्च द्वितीया च कृत्याश्च तुल्या······ कृत्याः, इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—तत्पुरुषे समासे तुल्यार्थं, तृतीयान्तं, सप्तम्यन्तम्, उपमानवाचि, अव्ययं, द्वितीयान्तं, कृत्यान्तं च यत् पूर्वपदं तत् प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—तुल्यार्थ—तुल्यश्वेतः, तुल्यलोहितः, तुल्यमहान्, सदृक्छ्वेतः, सदृग्लोहितः, सदृग्महान्, सदृश-श्वेतः, सदृशलोहितः सदृशमहान् । तृतीया—शङ्कुलाखण्डः, किरिकाणः । सप्तमी—अक्षशौण्डः, पानशौण्डः । उपमानवाची—शस्त्रीश्यामा, कुमुदश्येनी, हंसगद्गदा, न्यग्रोधपरिमण्डला, दूर्वाकाण्डश्यामा, शरकाण्डगौरी । अव्यय—अब्राह्मणः, अवृषलः, कुब्राह्मणः, कुवृषलः, निर्वाराणसिः, निष्कौशाम्बिः, अतिखट्वः, अतिमालः । द्वितीया—मुहूर्तसुखम्, मुहूर्तरमणीयम्, सर्वरात्रकल्याणी, सर्वरात्रशोभना । कृत्य—भोज्योष्णम्, भोज्यलवणम्, पानीयशीतम्, हरणीयचूर्णम् ।।

भाषार्थः—[तत्पुरुषे] तत्पुरुष समास में [तुल्यार्थ ... कृत्याः] तुल्य-अर्थवाले, तृतीयान्त सप्तम्यन्त उपमानवाची अव्यय द्वितीयान्त तथा कृत्यप्रत्ययान्त जो पूर्वपद में स्थित शब्द हैं, उन्हें प्रकृतिस्वर होता है ।। अव्यय से यहाँ नञ् कु और निपातों का ही ग्रहण होता है, अव्यय सामान्य का नहीं ।। पूर्वपद का स्वर परिशिष्ट में देखें ।।

यहाँ से 'तत्पुरुषे' की अनुवृत्ति ६।२।२४ तक जायेगी ।।

वर्णो वर्णेष्वनेते ।।६।२।३।।

वर्णः १।१।। वर्णेषु ७।३।। अनेते ७।१।। स० - न एतोऽनेतः, तस्मिन्······ नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—वर्णवाचिनि उत्तरपदे एतशब्दवर्जिते तत्पुरुषे समासे वर्णवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—कृष्णसारङ्गः, लोहितसारङ्गः, कृष्णकल्माषः, लोहितकल्माषः ।।

भाषार्थः—[वर्णेषु] वर्णवाची शब्द के उत्तरपद में रहते [वर्णः] वर्ण-वाची पूर्वपद को तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर हो जाता है, [अनेते] एत शब्द यदि उत्तरपद में न हो तो ।। 'एत' शब्द भी वर्णवाची है, अतः उसका निषेध कर दिया । कृषेर्वर्णे (उणा० ३।४) इस उणादिसूत्र से कृष्ण शब्द नक्प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से उदाहरणों में स्थित पूर्वपद कृष्ण शब्द अन्तोदात्त रहा । रुहे रश्च लो वा (उणा० ३।९४) से लोहित शब्द इतन्प्रत्ययान्त है, अतः ञ्नित्या० (६।१।१९१) से आद्युदात्त है । उदाहरणों में वर्णो वर्णेन (२।१।६८) से समास हुआ है ।।

गाधलवणयोः प्रमाणे ॥६।२।४॥

गाधलवणयोः ७।२॥ प्रमाणे ७।१॥ स०—गाधश्च लवणञ्च गाधलवणे, तयोः ...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—प्रमाणवाचिनि तत्पुरुषे समासे गाध-लवण इत्येतयोः उत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ उदा०—शम्बगाधमुदकम्, अरित्रगाधमुदकम्, गोलवणम्, अश्वलवणम् ॥

भाषार्थः—[प्रमाणे] प्रमाणवाची तत्पुरुष समास में [गाधलवणयोः] गाध लवण इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ शमेर्बन् (उणा० ४।९४) से शम्ब शब्द बन्प्रत्ययान्त है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है। अरित्र शब्द अर्तिलूधू० (३।२।१८४) से इत्रप्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त है। गो शब्द गमेर्डोः (उणा० २।६७) से डोप्रत्ययान्त है,अतः प्रत्ययस्वर से उदात्त है। अश्व शब्द अशुप्रुषिलटि० (उणा० १।१५१) से क्वन्प्रत्ययान्त होने से (६।१।१९१ से) आद्युदात्त है। पूर्वपद के सारे स्वर दर्शा दिये हैं, प्रकृतिस्वर होने से यही स्वर होंगे॥ उदा०—शम्बगाधमुदकम्, अरित्रगाधमुदकम् (=नौका के डांडे भर गहरा जल), गोलवणम् (=जितना नमक गाय को दिया जाता है, उतना नमक)। अश्वलवणम् (=जितना नमक घोड़े को दिया जाता है उतना नमक) सर्वत्र उदाहरणों में प्रमाण की प्रतीति हो रही है, षष्ठी समासवाले ये शब्द हैं॥

दायाद्यं दायादे ॥६।२।५॥

दायाद्यम् १।१॥ दायादे ७।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ दातव्यो दायः, भागो अंश इत्यर्थः। दायमादत्ते इति दायादः, मूलविभुजादित्वात् (वा० ३।२।५) कः प्रत्ययः। दायादस्य भावो दायाद्यम् ॥ अर्थः—दायाद शब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे दायाद्यवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—विद्यादायादः, धनदायादः ॥

भाषार्थः—[दायादे] दायाद शब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में [दायाद्यम्] दायाद्यवाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है॥ संज्ञायां समजनिषद० (३।३।९९) से विद्या शब्द क्यप्प्रत्ययान्त है। उस सूत्र में उदात्त की अनुवृत्ति आने से क्यप् उदात्त है, अतः विद्या शब्द अन्तोदात्त रहा। कृपृवृजिमन्दिनिधाञ्भ्यः क्युः (उणा० २।८१) इससे उणादि कार्य बहुल से होने से केवल धाञ् धातु से भी क्यु प्रत्यय होकर धन शब्द बनता है, अतः प्रत्ययस्वर से धन शब्द आद्युदात्त है। क्यु परे रहते धा के आ का आतो लोप इटि च (६।४।६४) से लोप, तथा यु को अन (७।१।१ से) हो ही जायेगा॥ पूर्वजों से प्राप्त करनेयोग्य वस्तु 'दायाद्य' कहाती है।

उदा०—विद्यादायादः (=विद्यारूपी भाग का लेनेवाला), धनदायादः (=धनरूपी भाग का लेनेवाला) ।।

प्रतिबन्धि चिरकृच्छ्रयोः ॥६।२।६॥

प्रतिबन्धि१।१।। चिरकृच्छ्रयोः७।२।। स०—चिर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—चिरकृच्छ्रयोरुत्तरपदयोः प्रतिबन्धिवाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति, तत्पुरुषे समासे ।। उदा०—गमनचिरम्, गमनकृच्छ्रम् । व्याहरणचिरम्, व्याहरणकृच्छ्रम् ।।

भाषार्थः—[चिरकृच्छ्रयोः] चिर तथा कृच्छ्र शब्द उत्तरपद परे रहते तत्पुरुष समास में [प्रतिबन्धि] प्रतिबन्धिवाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ।। जो कार्य की सिद्धि को बाँध देता है अर्थात् रोकता है, उसे प्रतिबन्धी कहते हैं । प्रतिपूर्वक बन्ध से आवश्यकाध० (३।३।१७०) से आवश्यक अर्थ में णिनि हुआ है । गमनचिरम् आदि उदाहरणों में चिरकाल एवं कष्ट से गमन तथा व्याहरण (=बोलना) होने से कार्यसिद्धि नहीं हो रही है, शीघ्रगमन तथा व्याहरण से हो सकती थी । अतः चिरकालभावी गमन और व्याहरण कार्यप्रतिबन्धी हैं । इस प्रकार प्रतिबन्धिवाची पूर्वपद है ही ।। गमनञ्च यच्चिरं च यहाँ सर्वत्र कर्मधारय समास है ।। गमन व्याहरण शब्द ल्युडन्त हैं। अतः लिति (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व को उदात्त हुआ है ।।

पदेऽपदेशे ॥६।२।७॥

पदे ७।१।। अपदेशे ७।१।। अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—अपदेशवाचिनि तत्पुरुषे समासे पदशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—मूत्रपदेन प्रस्थितः, उच्चारपदेन प्रस्थितः ।।

भाषार्थः—[अपदेशे] अपदेशवाची तत्पुरुष समास में [पदे] पद शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ।। अपदेश व्याज (=बहाने) को कहते हैं ।। मूत्र शब्द सिविमुच्योष्टेरू च (उणा० ४।१६३) से ष्ट्रन् प्रत्ययान्त है, अतः नित् (६।१।१९१) स्वर से आद्युदात्त है । उच्चार शब्द घञन्त है, अतः थाथघञ्क्ता० (६।२।१४३) से अन्तोदात्त है ।। उदा०—मूत्रपदेन प्रस्थितः—(=लघुशंका करने के बहाने चला गया) । उच्चारपदेन प्रस्थितः (=शौच करने के बहाने चला गया) ।।

निवाते वातत्राणे ॥६।२।८॥

निवाते ७।१।। वातत्राणे ७।१।। स०—वातात् त्राणं वातत्राणं, तस्मिन्......

पञ्चमी-तत्पुरुषः ॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—वातत्राणवाचिनि तत्पुरुषे समासे निवात शब्द उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—कुट्येव निवातं कुटीनिवातं, शमीनिवातं, कुड्यनिवातम् ॥

भाषार्थः—[वातत्राणे] वातत्राणवाची तत्पुरुष समास में [निवाते] निवात शब्द उत्तरपद परे रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ कुटी शमी शब्द गौरादिगण-पठित होने में ङीषन्त (४।१।४१ से) हैं । अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हुये । कुड्य शब्द कवतेड्यक् से ड्यक् प्रत्ययान्त अन्तोदात्त है; अथवा कवतेर्यत् डक्किच्च[1] (उणा० ८।२०) से यत्प्रत्ययान्त होने से यतोऽनावः (६।१।२०७) से आद्युदात्त भी कोई-कोई मानते हैं ॥ उदा०—कुटीनिवातम् (=कुटी की आड़), शमीनिवातम् (=शमी की आड़), कुड्यनिवातम् (=दीवार की आड़)। सर्वत्र दीवार या कुटी की आड़ होने से वातत्राण अर्थात् हवा से बचाव होता है । अतः कुड्य आदि से होनेवाले निवात अर्थ में लक्षणा से वर्तमान कुड्य आदि शब्दों का निवात शब्द के साथ समानाधिकरण तत्पुरुष समास होता है ॥

शारदेऽनार्तवे ॥६।२।६॥

शारदे ७।१॥ अनार्तवे ७।१॥ स०—अनार्तव इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ ऋतौ भवम्=आर्तवम् ॥ अर्थः—अनार्तववाचिनि शारदशब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—रज्जुशारदमुदकम्, दृषत्शारदाः सक्तवः । शारदशब्दः प्रत्यग्रवाची ॥

भाषार्थः—[अनार्तवे] अनार्तववाची [शारदे] शारद शब्द उत्तरपद परे रहते तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ ऋतु में जो होनेवाला उसे 'आर्तव' कहते हैं, यहां आर्तववाची शारद शब्द परे रहते निषेध कर दिया है । उदाहरणों में प्रत्यग्र=नवीनवाची शारद शब्द है । रज्जु शब्द में सृजेरसुम् च (उणा० १।१५) से सृज् धातु को असुम् आगम तथा सृज् के आदि सकार का लोप, एवं उ प्रत्यय होता है । असुम् आगम अन्त्य अच् से परे होकर 'सृ असुम् ज् उ=र् अस् ज् उ' रहा । यणादेश एवं झलां जश् झशि (८।४।५२) से स् को जश्त्व दकार होकर, तथा स्तोः श्चुना श्चुः से श्चुत्व होकर रज्जु बन गया ।

१. दशपादी उणादिवृत्ति में 'कवतेर्यत् डुक् च' पाठ है, उसी की सङ्ख्या यहां दी गई है । काशिका में उपर्युक्त दोनों—'कवतेर्यत् डकिच्च' एवं 'कवतेड्यक्' पाठ इत्येक, अपरे करके कहे हैं । न्यास में यहां पर—'ड्यक्प्रत्ययान्तोऽन्तोदात्त इत्यपर इति । ते कवतेड्यगिति सूत्रमधीयते' कहा है ॥

सृजेरसुम् च सूत्र में नित् की अनुवृत्ति आने से रज्जु शब्द ञ्नित्या० (६।१।१९१) से आद्युदात्त हो गया । दृषद् शब्द दृणातेः षुक्० (उणा० १।१३१) से अदि प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है । द् को त् खरि च (८।४।५४) से होगा ॥ उदा०—रज्जुशारदमुदकम् (=रस्सी से खींचकर तत्काल निकाला गया जल), दृषत्शारदाः सक्तवः (=शिला पर वा चक्की में पीसकर तत्क्षण बनाया हुआ सत्तू)॥

अध्वर्युकषाययोर्जातौ ॥६।२।१०॥

अध्वर्युकषाययोः ७।२॥ जातौ ७।१॥ स०—अध्व० इत्यत्रेतरेतर द्वन्द्वः ॥ अनु०—तत्पुरुषे प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—अध्वर्यु कषाय इत्येतयोरुत्तरपदयोः जातिवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—प्राच्याध्वर्युः, कठाध्वर्युः, कालापाध्वर्युः । सर्पिर्मण्डकषायम्, उमापुष्पकषायम्, दौवारिककषायम् ॥

भाषार्थः—[अध्वर्युकषाययोः] अध्वर्यु तथा कषाय शब्द उत्तरपद रहते [जातौ] जातिवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ प्राच्य शब्द द्युप्रागपागु० (४।२।१००) से यत्प्रत्ययान्त होने से यतोऽनावः (६।१।२०७) से आद्युदात्त है । कठ शब्द पचाद्यच् प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । पश्चात् णिनि प्रत्यय एवं लुक् होता है, पूरी सिद्धि भाग २, पृष्ठ ५४७ में देखें । कालाप शब्द भी अण्प्रत्ययान्त प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । पूरी सिद्धि भाग २, सूत्र ४।३।१०८ पर देखें । ये तीनों समानाधिकरण समास हैं । सर्पिर्मण्ड, उमापुष्प शब्द षष्ठीसमास हैं । अतः समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त हुआ है । पुनः इनका कषाय के साथ समास हुआ, तो प्रकृतिस्वर होने पर क्रमशः अन्तिम अक्षर 'ड' 'प' ही पूर्ववत् उदात्त रहे । दौवारिक शब्द भी तत्र नियुक्तः (४।४।६९) से ठक् प्रत्ययान्त होने से कितः (६।१।१५९) से अन्तोदात्त है ॥

सदृशप्रतिरूपयोः सादृश्ये ॥६।२।११॥

सदृशप्रतिरूपयोः ७।२॥ सादृश्ये ७।१॥ स०—सदृश० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—सदृश प्रतिरूप इत्येतयोरुत्तरपदयोः सादृश्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—मातृसदृशः, पितृसदृशः । पितृप्रतिरूपः, मातृप्रतिरूपः, ॥

भाषार्थः—[सदृशप्रतिरूपयोः] सदृश-प्रतिरूप ये शब्द उत्तरपद में हों, तो [सादृश्ये] सादृश्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है ॥ पितृ मातृ शब्द नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० (उणा० २।९५) इस उणादिसूत्र से अन्तोदात्त निपातित है । पूर्वसदृश० (२।१।३०) से मातृसदृशः पितृसदृशः में समास हुआ

है। तुल्यार्थैरतु० (२।३।७२) से समास में षष्ठी तथा तृतीया विभक्ति होगी, जिनका लुक् (२।४।७१ से) होगा।

द्विगौ प्रमाणे ॥६।२।१२॥

द्विगौ ७।१॥ प्रमाणे ७।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—प्रामाणवाचिनि तत्पुरुषे समासे द्विगावुत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—सप्त समाः प्रमाणमस्येति विग्रहे मात्रच् (५।२।३७) प्रत्ययः, तस्य प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम् (वा० ५।२।३७) इत्यनेन लुक्। तद्धितार्थे द्विगुः। ततः प्राच्यश्चासौ सप्तसमश्च इति=प्राच्यसप्तसमः कर्मधारयः। गान्धारसप्तसमः।

भाषार्थ:—[प्रमाणे] प्रमाणवाची तत्पुरुष समास में [द्विगौ] द्विगु उत्तरपद रहते पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है॥ सप्तसम संख्यापूर्वो द्विगुः (२।१।५१) से द्विगुसंज्ञक है, अतः द्विगु उत्तरपद में है। प्राच्य शब्द अध्वर्युकषाय० (६।२।१०) में कहे अनुसार आद्युदात्त है। गान्धार शब्द कर्दमादीनां च (फिट्० ५९) से आद्युदात्त, तथा पक्ष में मध्योदात्त भी है॥

गन्तव्यपण्यं वाणिजे ॥६।२।१३॥

गन्तव्यपण्यम् १।१॥ वाणिजे ७।१॥ स०—गन्तव्य० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—वाणिजशब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे गन्तव्यवाचि पण्यवाचि च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—मद्रवाणिजः, काश्मीरवाणिजः, गान्धारवाणिजः। पण्य—गोवाणिजः, अश्ववाणिजः॥

भाषार्थ:—[वाणिजे] वाणिजशब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में [गन्तव्यपण्यम्] गन्तव्यवाची (=जाने योग्य स्थान) तथा पण्यवाची (=क्रय-विक्रय योग्य वस्तु) जो पूर्वपद, उन्हें प्रकृतिस्वर हो जाता है॥ मद्र शब्द स्फायितञ्चि० (उणा० २।१३) से रक्प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। काश्मीर शब्द पृषोदरादीनि० (६।३।१०७) से मध्योदात्त है। गान्धार शब्द कर्दमा० (फिट्० ५९) से आद्युदात्त अथवा मध्योदात्त है। गो और अश्व शब्द की सिद्धि सूत्र ६।२।४ में देखें। उदा०—मद्रवाणिजः (=मद्र जनपद का व्यापारी)। पण्य—गोवाणिजः (=गाय का व्यापारी)। वणिक् के लिये मद्र देश गन्तव्य है, एवं गौ भी पण्य=क्रय-विक्रय योग्य है। अतः गन्तव्य एवं पण्यवाची पूर्वपद शब्द हुए॥

मात्रोपज्ञोपक्रमच्छाये नपुंसके ॥६।२।१४॥

मात्रो० छाये ७।१॥ नपुंसके ७।१॥ स०—मात्रो० इत्यत्र समाहार-

द्वन्द्वः ॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—मात्रा, उपज्ञा, उपक्रम, छाया इत्येतेषूत्तरपदेषु नपुंसकवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—भिक्षामात्रम् न ददाति याचितः, समुद्रमात्रं न सरोऽस्ति किंचन । उपज्ञा—पाणिन्युपज्ञमकालकं व्याकरणम्, व्याड्युपज्ञं दुष्करणम्, आपिशल्युपज्ञं गुरुलाघवम् । उपक्रम—आढ्योपक्रमं प्रासादः, दर्शनीयोपक्रमम्, सुकुमारोपक्रमम्, नन्दोपक्रमाणि मानानि[2] । छाया – इषुच्छायम्, धनुश्छायम् ॥

भाषार्थः—[नपुंसके] नपुंसकवाची तत्पुरुष समास में [मात्रो ... छाये] मात्रा उपज्ञा उपक्रम तथा छाया शब्द उत्तरपद हों, तो पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥

आढय आदि शब्दों का स्वर परिशिष्ट में देखें ॥

सुखप्रिययोर्हिते ॥६।२।१५॥

सुखप्रिययोः ७।२॥ हिते ७।१॥ स०—सुख० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—हितवाचिनि तत्पुरुषे समासे सुख प्रिय इत्येतयोरुत्तरपदयोः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—गमनसुखम्, वचनसुखम्, व्याहरणसुखम् । प्रिय—गमनप्रियम्, वचनप्रियम्, व्याहरणप्रियम् ॥

भाषार्थः—[हिते] हितवाची तत्पुरुष समास में [सुखप्रिययोः] सुख तथा प्रिय शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ उदाहरणों में कर्मधारय तत्पुरुष समास है। गमन वचन आदि शब्द ल्युडन्त हैं, अतः लिति (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व को उदात्तत्व इन शब्दों में है । गमनसुखम् आदि परिणाम में हितकारी हैं, अतः हितवाची तत्पुरुष समास कहाया ॥

यहाँ से 'सुखप्रिययोः' की अनुवृत्ति ६।२।१६ तक जायेगी ॥

प्रीतौ च ॥६।२।१६॥

प्रीतौ ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—सुखप्रिययोः, तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—प्रीतौ गम्यमानायां सुख प्रिय इत्येतयोरुत्तरपदयोस्तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृति-

१. पाणिन शब्द भी पाणिनि का पर्याय है, यथा दाशरथ और दाशरथि, काशकृत्स्न और काशकृत्स्नि ॥

२. इस उदाहरण का यह भाव नहीं कि नन्द से पूर्व मान=तौल का व्यवहार होता ही नहीं था । अपितु इसका अभिप्राय नन्द द्वारा प्रारब्ध किसी विशिष्ट मान=तौल से है । आयुर्वेद के ग्रन्थों में कलिङ्गमान और मागधमान प्रसिद्ध हैं । इनमें मागधमान नन्दोपक्रम है ॥

स्वरं भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणसुखं, पायसम्, छात्रप्रियोऽनध्यायः, कन्याप्रियो मृदङ्गः ॥

भाषार्थः—[प्रीतौ] प्रीति गम्यमान हो रही हो, तो सुख तथा प्रिय उत्तरपद रहते [च] भी तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है । ब्रह्मणोऽपत्यं ऐसा विग्रह करके ब्रह्मन् शब्द से अण् प्रत्यय (४।१।९२ से) हुआ है । इसी प्रकार छात्र शब्द भी छत्रादिभ्यो णः (४।४।६२) से णप्रत्ययान्त है, अतः ये दोनों शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हैं । कन्या शब्द, तिल्यशिक्य० (फिट् ७६) से स्वरितान्त है । उदा०—ब्राह्मणसुखं पायसम् (=ब्राह्मणों को खीर प्रिय होती है) । छात्रप्रियोऽनध्यायः (=छात्र को अवकाश प्रिय होता है) । कन्याप्रियो मृदङ्गः (=कन्या को मृदङ्ग बजाना प्रिय है) ॥

स्वं स्वामिनि ॥ ६।२।१७॥

स्वम् १।१॥ स्वामिनि ७।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—स्वामिन्शब्द उत्तरपदे तत्पुरुषे समासे स्ववाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—गोस्वामी, अश्वस्वामी, धनस्वामी ॥

भाषार्थः—[स्वामिनि] स्वामिन् शब्द उत्तरपद रहते तत्पुरुष समास में [स्वम्] स्ववाचि पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ गो अश्व शब्द की सिद्धि सूत्र ६।२।४, तथा धन की ६।२।५ में देखें । जिसके प्रति स्वामित्व हो, वह स्व है । गोस्वामी (=गायों का स्वामी) आदि उदाहरणों में गो इत्यादि स्व हैं ॥

पत्यावैश्वर्ये ॥ ६।२।१८॥

पत्यौ ७।१॥ ऐश्वर्ये ७।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पतिशब्दे उत्तरपदे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—सेनापतिः, नरपतिः, धान्यपतिः ॥ दमूना गृहपतिर्दमे (ऋ० १।६०।४) ॥

भाषार्थः—[ऐश्वर्ये] ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में [पत्यौ] पति शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है । सेनापतिः (सेना का पति=स्वामी) । यहाँ सेना शब्द 'सह इनेन वर्त्तते' ऐसा विग्रह करके बहुव्रीहि समासवाला है, अतः बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने से निपाता आद्युदात्ता (फिट् ८०) से आद्युदात्त है । नरपतिः यहाँ नर शब्द में नॄ धातु से ऋदोरप् (३।३।५७) से अप् प्रत्यय हुआ है । अप् पित् स्वर से अनुदात्त (३।१।४ से) तथा नॄ धातु के उदात्त होने से नर आद्युदात्त शब्द है ॥ धान्य शब्द ण्यत्प्रत्ययान्त होने से तित् स्वरितम् (६।१।१७९) से स्वरितान्त है । गृहपतिः में गृह शब्द

गेहे कः (३।१।१४४) से कप्रत्ययान्त हैं, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । सर्वत्र षष्ठी तत्पुरुष समास है)।

यहाँ से 'पत्यावैश्वर्ये' की अनुवृत्ति ६।२।२० तक जायेगी ।।

न भूवाक्चिद्दिधिषु ।।६।२।१९।।

न अ० ।। भूवाक्चिद्दिधिषु १।१।। स०—भूश्च वाक् च चित् च दिधिषू च भूवा······षु, समाहारो द्वन्द्वः । ह्रस्वो नपुंसके० (१।२।४७) इत्यनेन ह्रस्वः ।। अनु०—पत्यावैश्वर्ये, तत्पुरुषे, 'प्रकृत्या' पूर्वपदम् ।। अर्थः—ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पतिशब्द उत्तरपदे भू, वाक्, चित्, दिधिषू इत्येतानि पूर्वपदानि प्रकृतिस्वराणि न भवन्ति । पूर्वेण प्राप्तः स्वरः प्रतिषिध्यते ।। उदा०—भूपतिः, वाक्पतिः, चित्पतिः, दिधिषूपतिः ।।

भाषार्थः—ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पति शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद [भूवाक्चिद्दिधिषु] भू, वाक्, चित् तथा दिधिषू शब्दों को प्रकृतिस्वर [न] नहीं होता ।। पूर्वसूत्र से प्रकृतिस्वर प्राप्त होने पर यह निषेध है । पूर्व सूत्र भी समासस्य (६।१।२१७) का अपवाद है । अतः प्रकृतिस्वर का निषेध होने पर सर्वत्र उदाहरणों में समासस्य से अन्तोदात्त ही हुआ । सर्वत्र षष्ठीतत्पुरुष समास है ।। उदा०—भूपतिः (=पृथ्वी का स्वामी, राजा)। वाक्पतिः (=वाणी का स्वामी)। चित्पतिः (=ज्ञान का स्वामी)। दिधिषूपतिः (=पुनर्विवाहिता स्त्री का पति) ।।

वा भुवनम् ।।६।२।२०।।

वा अ० ।। भुवनम् १।१।। अनु०—पत्यावैश्वर्ये, तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—ऐश्वर्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पतिशब्द उत्तरपदे भुवनशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—भुवनपतिः, भुवनपतिः ।।

भाषार्थः—ऐश्वर्यवाची तत्पुरुष समास में पति शब्द उत्तरपद रहते [भुवनम्] भुवन शब्द पूर्वपद को [वा] विकल्प से प्रकृतिस्वर हो जाता है ।। भुवन शब्द भूसूधूभ्रस्जि० (उणा० २।८०) इस उणादि सूत्र से क्युन्प्रत्ययान्त है। यहाँ पूर्वसूत्र से क्युन् की अनुवृत्ति है, अतः नित्स्वर से भुवन शब्द आद्युदात्त है। जब पक्ष में प्रकृतिस्वर नहीं होगा, तो समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त होगा ।। उदा०—भुवनपतिः (=लोकों का स्वामी) ।।

आशङ्काबाधनेदीयस्सु संभावने ।।६।२।२१।।

आशङ्काबाधनेदीयस्सु ७।३।। संभावने ७।१।। स०—आशङ्का० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—आशङ्क, आबाध, नेदीयस्

इत्येतेषूत्तरपदेषु संभावनवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।। उदा०—आशङ्क—गमनाशङ्कं वर्त्तते, वचनाशङ्कम्, व्याहरणाशङ्कम्। आबाध—गमनाबाधम्, वचनाबाधम्, व्याहरणाबाधम्। नेदीयस्—गमननेदीयः, वचननेदीयः, व्याहरणनेदीयः।।

भाषार्थः—[आशङ्काबाधनेदीयस्सु] आशङ्क, आबाध, नेदीयस् इन शब्दों के उत्तरपद रहते [संभावने] संभावनवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है।। आङ् पूर्वक शङ्क तथा बाध धातुओं से घञ् होकर आशङ्क तथा आबाध शब्द बनते हैं। यहाँ विशेषणं विशेष्ये० (२।१।५६) से समास हुआ है। गमन वचन शब्द ल्युडन्त हैं अतः लित्स्वर होगा।। उदा०—आशङ्क—गमनाशङ्कं वर्तते (=जाने में आशङ्का है)। वचनाशङ्कम् (=बोलने में आशङ्का है)। गमनाबाधम् (=जाने की संभावना है)। गमननेदीयः (=जाना अति निकट है, ऐसी संभावना है) ।।

पूर्वे भूतपूर्वे ।।६।२।२२।।

पूर्वे ७।१।। भूतपूर्वे ७।१।। स०—भूतः पूर्वम् भूतपूर्वः, तस्मिन्......सुप्सुपेति समासः ।। अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—पूर्वशब्द उत्तरपदे भूतपूर्ववाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—आढ्यो भूतपूर्वः आढ्यपूर्वः, दर्शनीयपूर्वः, सुकुमारपूर्वः ।।

भाषार्थः—[पूर्वे] पूर्व शब्द उत्तरपद रहते [भूतपूर्वे] भूतपूर्ववाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ।। आढ्य, दर्शनीय, सुकुमार की सिद्धि परि० ६।२।१४ में देखें। विशेषणं विशेष्येण० (२।१।५६) से समास हुआ है ।।

सविधसनीडसमर्यादसवेशसदेशेषु सामीप्ये ।।६।२।२३।।

सविध०......शेषु ७।३।। सामीप्ये ७।१।। स०—सविध० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—सविध, सनीड, समर्याद, सवेश, सदेश इत्येतेषूत्तरपदेषु सामीप्यवाचिनि तत्पुरुषे समासे पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति।। उदा०—सविध—मद्रसविधम्, गान्धारसविधम्, काश्मीरसविधम्। सनीड—मद्रसनीडम्, गान्धारसनीडम्, काश्मीरसनीडम्। समर्याद—मद्रसमर्यादम्, गान्धारसमर्यादम्, काश्मीरसमर्यादम्। सवेश—मद्रसवेशम्, गान्धारसवेशम्, काश्मीरसवेशम्। सदेश—मद्रसदेशम्, गान्धारसदेशम्, काश्मीरसदेशम् ।।

भाषार्थः—[सविध......शेषु] सविध, सनीड, समर्याद, सवेश, सदेश इन

शब्दों के उत्तरपद रहते [सामीप्ये] सामीप्यवाची तत्पुरुष समास में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ।। मद्र, गान्धार, काश्मीर शब्दों का स्वर ६।२।१३ सूत्र पर देखें ।। उदा०—मद्रसविधम् (=मद्र जनपद के समीप) । गान्धारसन्नीडम् (=कुन्दहार जनपद के समीप) काश्मीरसमर्यादम् (=काश्मीर की सीमा से मिला हुआ) । मद्रसवेशम् (=मद्र के समान वेशवाला, समान वेश समीपवर्ती देशों में ही होता है) । मद्रसदेशम् (=मद्र से सटा हुआ) । सर्वत्र उदाहरणों में षष्ठी समास है, और सामीप्य अर्थ जाना जाता है ।।

विस्पष्टादीनि गुणवचनेषु ।।६।२।२४।।

विस्पष्टादीनि १।३।। गुणवचनेषु ७।३।। स०—विस्पष्ट आदिर्येषां तानि विस्पष्टादीनि, ···बहुव्रीहिः । गुणान् उक्तवन्तः गुणवचनाः, तेषु ··· उपपदतत्पुरुषसमासः ।। अनु०—तत्पुरुषे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—गुणवचनेषूत्तरपदेषु तत्पुरुषे समासे विस्पष्टादीनि पूर्वपदानि प्रकृतिस्वराणि भवन्ति ।। उदा०—विस्पष्टं कटुकमिति विस्पष्टकटुकम्, विचित्रकटुकम्, व्यक्तकटुकम् । विस्पष्टलवणम्, विचित्रलवणम्, व्यक्तलवणम् ।।

भाषार्थः—[गुणनचनेषु] गुण को कहनेवाले शब्दों के उत्तपद रहते [विस्पष्टादीनि] विस्पष्टादि पूर्वपद को तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर होता है ।। उदाहरणों में योगविभाग करके सुप् सुपा से समास हुआ है । विस्पष्ट शब्द गतिरनन्तरः (६।२।४९) से आद्युदात्त है । विचित्र शब्द में तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होता है । अतः निपाता आद्युदात्ताः (फिट्० ८०) से 'वि' उदात्त है । व्यक्त शब्द विपूर्वक अञ्जू धातु से निष्ठा में बना है । अतः गतिरनन्तरः (६।२।४९) से आद्युदात्त है । 'वि अक्त' यहाँ वि उदात्त तथा 'अ' अनुदात्त है । इस प्रकार यणादेश करने पर उदात्तस्वरितयो० (८।२।४) से 'व्य' का अ स्वरित हो गया, शेष अनुदात्त रहा । कटुक शब्द तीखे चरपरे अर्थ का वाचक है ।।

श्रज्यावमकन्पापवत्सु भावे कर्मधारये ।।६।२।२५।।

श्रज्या०···त्सु ७।३।। भावे ७।१।। कर्मधारये ७।१।। स०—श्रश्च ज्यश्च अवमश्च कन् च पापवांश्च, श्रज्या ··· वन्तः, तेषु ··· इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—श्र, ज्य, अवम, कन् इत्येतेषु पापशब्दवति चोत्तरपदे कर्मधारये समासे भाववाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—श्र—गमनश्रेष्ठम्, गमनश्रेयः । ज्य—वचनज्येष्ठम्, वचनज्यायः । अवम—गमनावमम्, वचनावमम् । कन्—गमनकनिष्ठम्, गमनकनीयः । पापवत्—गमनपापिष्ठम्, गमनपापीयः ।।

भाषार्थः—[अज्या.....सु] श्र, ज्य, अवम, कन् तथा पापवान् शब्द के उत्तरपद रहते [कर्मधारये] कर्मधारय समास में [भावे] भाववाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ।। गमनादि शब्द ल्युडन्त हैं, अतः लिति (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व को सर्वत्र उदात्त हुआ ।। प्रशस्य को श्र आदेश प्रशस्यस्य श्रः (५।३।६०) से, तथा ज्य च (५।३।६१) से ज्य आदेश भी होता है ।। युवाल्पयोः० (५।३।६४) से कन् आदेश होता है । पापीयः पापिष्ठः में पापवत् से विन्मतोर्लुक् (५।३।६५) से मतुप् का लुक् होता है । उसी का यहाँ ग्रहण है ।।

यहाँ से 'कर्मधारये' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी ।

कुमारश्च ।।६।२।२६।।

कुमारः १।१।। च अ० ।। अनु०—कर्मधारये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—कुमारशब्दः पूर्वपदं कर्मधारये समासे प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—कुमारश्रमणा[1], कुमारकुलटा, कुमारतापसी ।।

भाषार्थः—पूर्वपद स्थित [कुमारः] कुमार शब्द को [च] भी कर्मधारय समास में प्रकृतिस्वर होता है ।। कुमार शब्द में 'कुमार क्रीडायाम्' धातु से पचाद्यच् हुआ है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है ।।

यहाँ से 'कुमारः' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी ।।

आदिः प्रत्येनसि ।।६।२।२७।।

आदिः १।१।। प्रत्येनसि ७।१।। स०—प्रतिगतमेनः यस्य स प्रत्येनाः, तस्मिन् बहुव्रीहिः ।। अनु०—कुमारः, कर्मधारये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—प्रत्येनसि उत्तरपदे कर्मधारये समासे कुमारशब्दस्यादिरुदात्तो भवति ।। उदा०—कुमारप्रत्येनाः ।।

भाषार्थः—[प्रत्येनसि] प्रत्येनस शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में

---

१. यहाँ कुमारः श्रमणादिभिः (२।१।६९) से कर्मधारय समास होता है । पाश्चात्त्य विद्वान् इस सूत्र में श्रमण शब्द का प्रयोग देखकर कहते हैं कि पाणिनि बुद्ध के पीछे का है । क्योंकि श्रमण शब्द बौद्ध संन्यासी के लिये प्रयुक्त होता है । वस्तुतः यह कथन अयुक्त है । पाश्चात्त्यों के मतानुसार भी बुद्ध के जन्म से बहुत पूर्व प्रोक्त शतपथ (१४।७।१।२१) में संन्यासी के लिये श्रमण शब्द का प्रयोग मिलता है । यह दूसरी बात है कि संन्यासी श्रमण परिव्राट् आदि समानार्थक पूर्वप्रसिद्ध शब्दों में से बौद्धों ने 'श्रमण' शब्द को अपना लिया । यही बात निर्वाण शब्द के सम्बन्ध में भी समझनी चाहिये ।।

कुमार शब्द को [आदिः] आदि उदात्त होता है ॥ यहाँ सामर्थ्य से "उदात्त" का ग्रहण समझना चाहिये । वस्तुतः सूत्र का आशय इस प्रकार है—"कुमार" शब्द को पूर्व सूत्र से प्रकृतिस्वर होकर जो स्वर प्राप्त था, वही स्वर इस सूत्र में आदि को विधान किया जाता है । इस प्रकार अन्त के उदात्तत्व का आदि में विधान किया है ॥ उदा०—कुमारप्रत्येनाः (=पापरहित कुमार) ॥

यहाँ से 'आदिः' की अनुवृत्ति ६।२।२८ तक जायेगी ॥

पूगेष्वन्यतरस्याम् ॥६।२।२८॥

पूगेषु ७।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—आदिः, कुमारः, कर्मधारये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—पूगवाचिनि उत्तरपदे कर्मधारये समासे कुमारशब्दस्य विकल्पेनादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—कुमारचातकाः, कुमारचातकाः; कुमारलोहध्वजाः, कुमारलोहध्वजाः ॥

भाषार्थः—[पूगेषु] पूगवाची शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में कुमार को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से आदि को उदात्त होता है ॥ जब आद्युदात्त नहीं होगा, तो पूर्ववत् अन्तोदात्त होगा । 'पूग' शब्द का अर्थ ५।३।११२ में देखें । चातकादि शब्द पूगाञ्ञ्योऽग्रामणी० (५।३।११२) से ञ्यप्रत्ययान्त हैं, जिसका तद्राजस्य बहुषु (२।४।६२) से लुक् हो गया है ॥

इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ ॥६।२।२९॥

इगन्त......वेषु ७।३॥ द्विगौ ७।१॥ स०—इक् अन्ते यस्य स इगन्तः, बहुव्रीहिः । इगन्तश्च कालश्च कपालश्च भगालश्च शरावश्च, इगन्त......रावाः, तेषु ......इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रकृत्या, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—द्विगौ समासे इगन्ते कालवाचिनि चोत्तरपदे कपाल, भगाल, शराव इत्येतेषूत्तरपदेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—इगन्तस्य—पञ्चारत्निः, दशारत्निः । काले—पञ्चमास्यः, दशमास्यः; पञ्चवर्षः, दशवर्षः । कपाल—पञ्चकपालः, दशकपालः । भगाल—पञ्चभगालः, दशभगालः । शराव—पञ्चशरावः, दशशरावः ॥

भाषार्थः—[द्विगौ] द्विगु समास में [इगन्त......वेषु] इगन्त उत्तरपद रहते, तथा कालवाची, एवं कपाल भगाल शराव इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ पञ्चकपालः की सिद्धि भाग १, पृ० ८४० में देखें । इसी प्रकार और उदाहरणों में भी तद्धितार्थ में समास और द्विगु संज्ञा हुई है, ऐसा जानें । पञ्चशरावः, पञ्चभगालः आदि की सिद्धि ठीक उसी प्रकार होगी । पञ्चारत्निः यहाँ पञ्चारत्नयः प्रमाणमस्य, ऐसा विग्रह करके पूर्ववत् समास होकर

प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम् (वा० ५।२।३७) से मात्रच् का लुक् हुआ है। पञ्चमास्यः आदि में द्विगोर्यप् (५।१।८१) से यप् हुआ है। पञ्चवर्षः, यहाँ प्राग्वतेष्ठञ् (५।१।१८) से उत्पन्न ठञ् का वर्षाल्लुक् च (५।१।८८) से लुक् हुआ है। सर्वत्र पूर्वपद पञ्च दश शब्द न्न संख्यायाः (फिट्० २८) से आद्युदात्त हैं ॥

यहाँ से "इगन्तकालकपालभगालशरावेषु" की अनुवृत्ति ६।२।३० तक, तथा 'द्विगौ' की ६।२।३१ तक जायेगी ॥

बह्वन्यतरस्याम् ॥६।२।३०॥

बहु १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—इगन्तकालकपालभगालशरावेषु द्विगौ, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—द्विगौ समासे इगन्तादिषूत्तरपदेषु बहुशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प्यते ॥ उदा०—बह्वरत्निः, बह्वरत्निः; बहुमास्यः, बहुमास्यः; बहुकपालः, बहुकपालः; बहुभगालः; बहुभगालः; बहुशरावः, बहुशरावः ॥

भाषार्थः—द्विगु समास में इगन्तादि उत्तरपद रहते पूर्वपद [बहु] बहु शब्द को [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके प्रकृतिस्वर होता है ॥ बहु शब्द लंघिबंह्योर्नलोपश्च (उणा० १।२९) से कुप्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। बह्वरत्निः में यणादेश होकर प्रकृतिस्वर पक्ष में उदात्तस्वरितयोर्यणः० (८।४।६५) से 'ह्व' को स्वरित होगा। पक्ष में समासस्य (६।१।२१७) से समास को अन्तोदात्तत्व होगा ॥

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।२।३१ तक जायेगी ॥

दिष्टिवितस्त्योश्च ॥६।२।३१॥

दिष्टिवितस्त्योः ७।२॥ च अ० ॥ स०—दिष्टि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, द्विगौ, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—द्विगौ समासे दिष्टि वितस्ति इत्येतयोरुत्तरपदयोर्विकल्पेन पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—पञ्चदिष्टिः, पञ्चदिष्टिः; पञ्चवितस्तिः, पञ्चवितस्तिः ॥

भाषार्थः—द्विगु समास में [दिष्टिवितस्त्योः] दिष्टि वितस्ति शब्दों के उत्तरपद रहते [च] भी विकल्प करके पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ पञ्च की सिद्धि ६।२।२९ सूत्र में देखें। पक्ष में समासस्य से अन्तोदात्त होगा ॥

सप्तमी सिद्धशुष्कपक्वबन्धेष्वकालात् ॥६।२।३२॥

सप्तमी १।१॥ सिद्धशुष्कपक्वबन्धेषु ७।३॥ अकालात् ५।१॥ स०—सिद्ध०

इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अकालादित्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध इत्येतेषूत्तरपदेष्वकालवाचि सप्तम्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—साङ्काश्यसिद्धः, काम्पिल्यसिद्धः । शुष्क—ऊकशुष्कः, निधनशुष्कः । पक्व—कुम्भीपक्वः, कलशीपक्वः, भ्राष्ट्रपक्वः । बन्ध—चक्रबन्धः, चारकबन्धः ॥

भाषार्थः—[सिद्ध ... न्धेषु] सिद्ध, शुष्क, पक्व, बन्ध ये शब्द उत्तरपद रहते [अकालात्] अकालवाची [सप्तमी] सप्तम्यन्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ सांकाश्य काम्पिल्य शब्द वुञ्छण्० (४।२।७९) से ण्यप्रत्ययान्त हैं, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त हैं । फिट् सूत्र में सांकाश्यकाम्पिल्य० (फिट्० ६५) से पक्ष में मध्योदात्त भी कहा है, अतः यह स्वर भी होगा । सृवृभूशुषि० (उणा० ३।४०) सूत्र में कहा कक् प्रत्यय बहुल वचन से अव धातु से भी होकर ऊक शब्द बनेगा । ज्वरत्वर० (६।४।२०) से ऊठ् हो जायेगा । इस प्रकार ऊक शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । निधन शब्द कृपृवृजिमन्दि० (उणा० २।८१) से क्युप्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त है । धा के आ का आतो लोप० (६।४।६४) से लोप, तथा यु को अन हो ही जायेगा । कुम्भी कलशी शब्द ङीषन्त (४।१।४१) होने से अन्तोदात्त हैं । भ्राष्ट्र शब्द भ्रस्जिगमि० (उणा० ४।१६०) से ष्ट्रन् प्रत्ययान्त आद्युदात्त (६।१।१९१ से) है । चक्र शब्द कृञादीनां के द्वे भवत० (वा० ६।१।१२) से कप्रत्ययान्त सिद्ध किया है, अतः अन्तोदात्त है । चारक शब्द ण्वुल्प्रत्ययान्त है, अतः लित्स्वर से आद्युदात्त है ॥

परिप्रत्युपापा वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु ॥६।२।३३॥

परिप्रत्युपापाः १।३॥ वर्ज्यमानाहोरात्रावयवेषु ७।३॥ स०—परि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अहश्च रात्रिश्च अहोरात्रौ, अहोरात्रयोरवयवाः अहोरात्रावयवाः, पूर्वं द्वन्द्वः, ततः षष्ठीतत्पुरुषः । वर्ज्यमानश्च अहोरात्रावयवाश्च वर्ज्यमानाहोरात्रावयवाः, तेषु ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—परि, प्रति, उप, अप इत्येते पूर्वपदभूता वर्ज्यमानवाचिनि अहोरात्रावयववाचिनि चोत्तरपदे प्रकृतिस्वरा भवन्ति ॥ उदा०—परित्रिगर्तं वृष्टो देवः, परिसौवीरम्, परिसार्वसेनि । प्रति—प्रतिपूर्वाह्णम्, प्रत्यपराह्णम्, प्रतिपूर्वरात्रम्, प्रत्यपररात्रम् । उप—उपपूर्वाह्णम्, उपापराह्णम्, उपपूर्वरात्रम्, उपापररात्रम् । अप—अपत्रिगर्तं वृष्टो देवः, अपसौवीरम्, अपसार्वसेनि ॥

भाषार्थः—पूर्वपद भूत [परिप्रत्युपापाः] परि, प्रति, उप, अप इन शब्दों को [वर्ज्य......वेषु] वर्ज्यमान तथा दिन एवं रात्रि के अवयववाची शब्दों के

उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर हो जाता है ।। सर्वत्र पूर्वपद परि प्रति आदि निपातां आद्युदात्ताः, उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ८०, ८१) से आद्युदात्त हैं ।। उदा०—परित्रिगर्तं वृष्टो देवः (=कांगड़ा देश को छोड़कर चारों ओर वर्षा हुई) । प्रतिपूर्वाह्णम् (=हर दोपहर के पहले) प्रत्यपररात्रम् (=हर रात के पिछले पहर) । उपपूर्वरात्रम् (=रात के पहिले पहर के लगभग) । अपत्रिगर्तम् (=कांगड़ा को छोड़कर) । अपपरी वर्जने (१।४।८७) से अप परि की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होती है । विभाषाऽपपरिबहिरञ्चवः० (२।१।११) से अव्ययीभाव समास होता है ।। परि प्रति उप अप में परि और अप वर्जनार्थक होने से इनका ही वर्ज्यमान उत्तरपद के साथ समास होता है ।।

राजन्यबहुवचनद्वन्द्वेऽन्धकवृष्णिषु ।।६।२।३४।।

राजन्यबहुवचनद्वन्द्वे ७।१।। अन्धकवृष्णिषु ७।३।। स०—राजन्यानि च तानि बहुवचनानि राजन्यबहुवचनानि, तेषां द्वन्द्वः राजन्यबहुवचनद्वन्द्वः, तस्मिन् ... कर्मधारयगर्भषष्ठीतत्पुरुषः । अन्धकाश्च वृष्णयश्च अन्धकवृष्णयः, तेषु ... इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—प्रकृत्या, पूर्वपदम् ।। अर्थः—राजन्यवाचिनां बहुवचनान्तानां यो द्वन्द्वोऽन्धकवृष्णिषु वर्त्तते, तत्र पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—श्वाफल्कचैत्रकाः, चैत्रकरोधकाः, शिनिवासुदेवाः ।।

भाषार्थः—[राजन्यबहुवचनद्वन्द्वे] राजन्य=क्षत्रियवाची जो बहुवचनान्त शब्द हैं, उनका द्वन्द्व [अन्धकवृष्णिषु] अन्धक तथा वृष्णि वंश को कहने में वर्त्तमान हो, तो पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ।। श्वाफल्क तथा चैत्रक शब्द ऋष्यन्धक० (४।१।११४) से अणन्त हैं, अतः अन्तोदात्त हैं । वहिश्रिश्रुयु० (उणा० ४।५१) सूत्र में कहा 'नि' प्रत्यय बहुल से शीङ् धातु से भी होता है । एवं धातु को ह्रस्व और प्रत्यय को नित्वत् होकर शिनिः बनता है । नित् होने से यह शब्द आद्युदात्त है । श्वाफल्कचैत्रकाः आदि अन्धकवंशवाची बहुवचनान्त शब्द हैं, तथा शिनिवासुदेव वृष्णिवाची हैं ।। उदा०—श्वाफल्कचैत्रकाः (=श्वफल्क तथा चैत्रक की सन्तान); शिनिवासुदेवाः (=शिनि तथा वसुदेव की सन्तान) ।

यहाँ से 'द्वन्द्वे' की अनुवृत्ति ६।२।३७ तक जायेगी ।।

सङ्ख्या ।।६।२।३५।।

सङ्ख्या १।१।। अनु०—द्वन्द्वे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—द्वन्द्वसमासे सङ्ख्यावाचि पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। एकश्च दश च एकादश, द्वादश, त्रयोदश ।।

भाषार्थः—द्वन्द्वसमास में [सङ्ख्या] सङ्ख्यावाची पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ।। आन्महतः स० (६।३।४५) सूत्र के योगविभाग से एकादश में आत्व, एवं द्वादश में द्व्यष्टनः सङ्ख्यायाम० (६।३।४६) से आत्व होता है । त्रेस्त्रयः (६।३।४७) से त्रि को त्रयस् आदेश अन्तोदात्त होता है । एक शब्द इण्भीकापाशल्य० (उणा० ३।४३) से कन्प्रत्ययान्त है; तथा नित्स्वर से आद्युदात्त है। द्वि शब्द प्रातिपदिक स्वर से उदात्त है ही ।।

आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासी ।।६ २।३६।।

आचार्योपसर्जनः १।१ च अ० ।। अन्तेवासी १।१।। स०—आचार्य उपसर्जनम् अप्रधानं यस्मिन् स आचार्योपसर्जनः, बहुव्रीहिः ।। अन्ते वसतीति अन्तेवासी ।। अनु०—द्वन्द्वे, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—आचार्योपसर्जनान्तेवासिनां यो द्वन्द्वस्तत्र पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ।। उदा०—आपिशलपाणिनीयाः, पाणिनीयरौढीयाः, रौढीयकाशकृत्स्नाः ।।

भाषार्थः—[आचार्योपसर्जनः] आचार्य है अप्रधान जिसमें ऐसे [अन्तेवासी] शिष्यवाची शब्दों का जो द्वन्द्व उनके पूर्वपद को [च] भी प्रकृतिस्वर होता है ।। आपिशलस्यापत्यम् आपिशलिः, अत इञ् (४।१।९५) से यहाँ इञ् प्रत्यय हुआ । आपिशलिना प्रोक्तमापिशलम्, यहाँ आपिशलि शब्द से इञश्च (४।२।१११) से अण् हुआ । तदधीयत ये अन्तेवासिनः तेऽप्यापिशलाः । उस आपिशल नाम के ग्रन्थ को जो छात्र पढ़ते हैं, वे छात्र भी आपिशल कहायेंगे, क्योंकि तदधीते तद्वेद (४।२।५८) से उत्पन्न अण् का प्रोक्ताल्लुक् (४।२।६३) से लुक् हो जाता है । पाणिनीयः की सिद्धि भी भाग २, सूत्र ४।२।६३ में देखें । इस प्रकार इन दोनों शब्दों की व्युत्पत्ति करके आपिशलाश्च पाणिनीयाश्च आपिशलपाणिनीयाः यहाँ द्वन्द्व समास किया, तो प्रकृत सूत्र से पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्रत्ययस्वर से (अण् को) अन्तोदात्त हुआ । 'पाणिनीयरौढीयाः' यहाँ पाणिनीय शब्द प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त है । रौढस्यापत्यं रौढिः, यहाँ अत इञ् से इञ् हुआ । पश्चात् रौढेराचार्यस्य छात्राः रौढीयाः, यहाँ वृद्धाच्छः (४।२।११३) से छ प्रत्यय हुआ है । ततः पूर्ववत् द्वन्द्व समास हुआ । रौढीयकाशकृत्स्नाः में भी पूर्ववत् रौढीय शब्द प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त है । काशकृत्स्निना प्रोक्तं काशकृत्स्नम्, यहाँ (४।३।१०१ से) अण् प्रत्यय हुआ है । तदधीयते काशकृत्स्नाः, यहाँ पूर्ववत् अण् (४।२।५८) का लुक् (४।३।६३ से) हुआ है । शेष पूर्ववत् है । सर्वत्र आपिशलपाणिनीयाः आदि उदाहरणों में आपिशलि आदि प्रोक्त ग्रन्थ के अध्ययन करनेवाले छात्रों के वाचक हैं । आपिशलि आदि आचार्य का अर्थ इनमें अप्रधान रूप से द्योतित होता

है ॥ उदा०—आपिशलपाणिनीयाः (=आचार्य आपिशल तथा पाणिनि के छात्र)॥

कार्त्तकौजपादयश्च ॥६।२।३७॥

कार्त्तकौजपादयः १।३॥ च अ०॥ स०—कार्त्तकौजप् आदिर्येषां ते कार्त्तकौजपादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—द्वन्द्वे, प्रकृत्या, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—कार्त्तकौजपादयो ये द्वन्द्वास्तेषु पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—कार्त्तकौजपौ, सावर्णिमाण्डूकेयौ, अवन्त्यश्मकाः, पैलश्यापर्णेयाः ॥

भाषार्थः—[कार्त्तकौजपादयः] कार्त्तकौजपादि जो द्वन्द्व समासवाले शब्द उनके पूर्वपद को [च] भी प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ कृतस्यापत्यं कार्त्तः, कुजपस्यापत्यं कौजपः, यहाँ अण् प्रत्यय होकर दोनों का द्वन्द्व समास हुआ है । प्रकृतिस्वर होकर कार्त्त शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । सावर्णि शब्द भी इञन्त होने से (६।१।१९१ से) आद्युदात्त है । माण्डूकेयः, मण्डूकस्यापत्यं विग्रह करके ढक् च मण्डूकात् (४।१।१२०) सूत्र से ढक्प्रत्ययान्त है । अवन्त्यश्मकाः, यहाँ अवन्ति शब्द से अवन्तेरपत्यानि बहूनि ऐसा विग्रह करके (४।१।१६९ से) ञ्यङ् प्रत्यय हुआ । उसका तद्राजस्य० (२।४।६२) से लुक् हो गया । पुनः अवन्तीनां निवासो जनपदः अवन्तयः यहाँ चातुरर्थिक (४।२।६९) अण् हुआ है । उसका जनपदे लुप् (४।२।८०) से लुप् हो गया है । इसी प्रकार अश्मकाः में समझें । अब दोनों का द्वन्द्व समास हो गया । तब प्रकृतिस्वर होकर घृतादीनां च (फिट्० २१) से अवन्ति शब्द अन्तोदात्त हुआ, यणादेश करने पर उदात्तस्वरितयोर्यणः० (८।२।४) से 'य' स्वरित हो गया । पैल शब्द में पीलाया अपत्यं पैलः (४।१।११८) अण् हुआ है । ततः युवापत्य में अणो द्व्यचः (४।१।१५६) से उत्पन्न फिञ् का पैलादिभ्यश्च (२।४।५९) से लुक् हुआ है । श्यापर्ण शब्द से भी विदादिगण पठित होने से अञ् हुआ, स्त्रीलिङ्ग में ङीप् (४।१।१५ से) होकर श्यापर्णी हुआ । उससे युवा अर्थ में स्त्रीभ्यो ढक् (४।१।१२०) से ढक् प्रत्यय होकर यह युवप्रत्ययान्त है । इस प्रकार द्वन्द्व करने पर पैल शब्द प्रकृत सूत्र से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त रहा ॥

महान् व्रीह्यपराह्णगृष्टीष्वासजाबालभारभारतहैलिहिलरौरवप्रवृद्धेषु ॥६।२।३८॥

महान् १।१॥ व्रीह्य...द्धेषु ७।३॥ स०—व्रीह्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—व्रीहि, अपराह्ण, गृष्टि, इष्वास, जाबाल भार, भारत, हैलिहिल, रौरव, प्रवृद्ध इत्येतेषूत्तरपदेषु महानित्येतत्पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं

भवति ॥ उदा०—महाव्रीहि:, महापराह्ण:, महागृष्टि:, महेष्वास:, महाजाबाल:, महाभार:, महाभारत:, महाहैलिहिल:, महारौरव:, महाप्रवृद्ध: ॥

भाषार्थ:—[व्रीह्य... द्धेषु] व्रीहि, अपराह्ण, गृष्टि, इष्वास, जाबाल, भार, भारत, हैलिहिल, रौरव, प्रवृद्ध इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद [महान्] महान् शब्द को प्रकृतिस्वर होता है । महत् शब्द वर्तमाने पृषद्बृहन्० (उणा० २।८४) में निपातन से अन्तोदात्त है । सन्महत्० (२।१।६०) से सर्वत्र समास हुआ जानें ॥ उदा०—महाव्रीहि: (=धान्यविशेष का नाम) । महापराह्ण: (=अपराह्ण का अन्तिम भाग) । महागृष्टि: (=डीलडौल में बड़ी एक बार ब्याही हुई गाय) । महेष्वास: (=बहुत बड़ा धनुर्धर) । महाजाबाल: (=ऋषिविशेष की संज्ञा) । महाभार: (=बहुत बोझ) । महाभारत: (=इस नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थ) । महाहैलिहिल: (=बहुत खिलाड़ी) । महारौरव: (=नरकविशेष की संज्ञा) । महाप्रवृद्ध: (= बहुत वृद्ध:) ॥

यहाँ से 'महान्' की अनुवृत्ति ६।२।३९ तक जायेगी ॥

क्षुल्लकश्च वैश्वदेवे ॥६।२।३९॥

क्षुल्लक: १।१॥ च अ० ॥ वैश्वदेवे ७।१॥ अनु०—महान्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थ:—वैश्वदेव उत्तरपदे क्षुल्लक इत्येतत्पूर्वपदं महांश्च प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—क्षुल्लकवैश्वदेवम्, महावैश्वदेवम् । क्षुधं लातीति क्षुल्ल:, तस्मादज्ञातादिषु क: (५।३।७० से) । क्षुल्लशब्द: क्षुद्रपर्याय:[1]॥

भाषार्थ:—[वैश्वदेवे] वैश्वदेव शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद स्थित [क्षुल्लक:] क्षुल्लक [च] तथा महान् शब्द को प्रकृतिस्वर होता है ॥ क्षुल्लक शब्द से ह्रस्व (५।३।८६ से) अर्थ में क प्रत्यय होकर क्षुल्लक शब्द बना है । अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । महान् शब्द में पूर्ववत् स्वर जानें । ये दोनों यज्ञविशेषों की संज्ञाएं हैं ॥

उष्ट्र: सादिवाम्यो: ॥६।२।४०॥

उष्ट्र: १।१। सादिवाम्यो: ७।२॥ स०—सादि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्व: ॥ अनु०—

---

[1]. पाश्चात्य विद्वान् क्षुद्रपर्याय क्षुल्लक शब्द को क्षुद्रक का अपभ्रंश मानते हैं, और उस अपभ्रंश का संस्कृत में प्रवेश हो गया है, ऐसा स्वीकार करते हैं । परन्तु उनका यह कथन अज्ञानमूलक है, क्योंकि जिस समय अपभ्रंशों की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी, उस काल में प्रोक्त वैदिकग्रन्थों में क्षुल्लक शब्द का प्रयोग उपलब्ध होता है ।

प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—सादि वामि—इत्येतयोरुत्तरपदयोः उष्ट्र इत्येतत्पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—उष्ट्रसादि, उष्ट्रवामि; उष्ट्रसादी, उष्ट्रवामी ॥

भाषार्थः—[सादिवाम्योः]—सादि तथा वामि शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद [उष्ट्रः] उष्ट्र शब्द को प्रकृतिस्वर होता है ॥ उष्ट्र शब्द उषिखनिभ्यां कित् (उणा० ४।१६२) से ष्ट्रन्प्रत्ययान्त है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है। यहाँ सद वम धातु से (उणा० ४।१२५ से) इञ्, प्रत्ययान्त का नपुंसक लिङ्ग में प्रयोग है। उष्ट्र उपपद होने पर सद वम धातु से णिनि होकर उष्ट्रसादी उष्ट्रवामी प्रयोग होते हैं। सूत्र में सामान्य निर्देश होने से दोनों का ग्रहण इष्ट है। पूर्व में षष्ठी समास होने से यह समासान्त स्वर का अपवाद है, उत्तर में कृत् स्वर का ॥

गोः सादसादिसारथिषु ॥६।२।४१॥

गोः १।१॥ सादसादिसारथिषु ७।३॥ स०—साद० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—साद सादि सारथि इत्येतेषूत्तरपदेषु गो इत्येतत्पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—गोः सादः गोसादः; गोः सादिः गोसादिः; गाः सादयतीति गोसादी, गोसारथिः ॥

भाषार्थः—[सादसादिसारथिषु] साद, सादि, सारथि इन शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद [गोः] गो शब्द को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ गो की सिद्धि सूत्र ६।२।१७ में देखें ॥ उदा०—गोसादः (=बैल को सन्ताप देनेवाला), गोसादिः (=बैल का सवार), गाः सादयतीति गोसादी (=गोघातक), गोसारथिः (=बैलों का सारथि) ॥

कुरुगार्हपतरिक्तगुर्वसूतजरत्यश्लीलदृढरूपा पारेवडवा तैतिलकद्रूः पण्यकम्बलो दासीभाराणां च ॥६।२।४१॥

कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु इत्येतौ लुप्तप्रथमान्तनिर्दिष्टौ ॥ असूतजरती १।१॥ अश्लीलदृढरूपा १।१॥ पारेवडवा १।१॥ तैतिलकद्रूः १।१॥ पण्यकम्बलः १।१॥ सर्वत्र सुब्व्यत्ययेन षष्ठीस्थाने प्रथमा वेदितव्या ॥ दासीभाराणाम् ६।३ । च अ० ॥ अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु, असूतजरती, अश्लीलदृढरूपा, पारेवडवा, तैतिलकद्रू, पण्यकम्बल इत्येतेषां सप्तानां समासानां दासीभारादीनाञ्च पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—कुरूणां गार्हपतं कुरुगार्हपतम् । रिक्तो गुरुः रिक्तगुरुः, रिक्तगुरुः । असूता जरती असूतजरती । अश्लीला दृढरूपा अश्लीलदृढरूपा । पारेवडवा इव पारेवडवा । तैतिलानां कद्रूः तैतिलकद्रूः । पण्यकम्बलः ।

दासीभारादीनां—दास्याः भारः=दासीभारः, देवहूतिः, देवजूतिः, देवसूतिः, देवनीतिः ॥

भाषार्थः—[कुरुगार्हपत ···· पण्यकम्बलः] कुरुगार्हपत, रिक्तगुरु, असूतजरती, अश्लीलदृढरूपा, पारेवडवा, तैतिलकद्रू, पण्यकम्बल इन सात समास किये हुये शब्दों के, [च] तथा [दासीभाराणाम्] दासीभारादि शब्दों के पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ दासीभाराणाम् में बहुवचन दासीभारादिगण के द्योतन के लिये है । कुरुगार्हपतम्, यहाँ कुरु शब्द कृग्रोरुच्च (उणा० १।२४) से कुप्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । रिक्त शब्द रिक्ते विभाषा (६।१।२०२) से विकल्प से आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त है । असूत अश्लील शब्दों में तत्पुरुषे तुल्यार्थ०, (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने पर निपाता आद्युदात्ताः (फिट्० ८०) से नञ् उदात्त है । पारेवडवा, यहाँ निपातन से इवार्थ में समास तथा विभक्ति का अलुक् जानें । घृतादीनां च (फिट्० २१) से पार शब्द अन्तोदात्त है । तितिलिनोऽपत्यं तैतिलः, यहां तैतिल शब्द अणन्त (४।१।९२से) होने से अन्तोदात्त है । पण्यकम्बलः, यहाँ पण्य शब्द अवद्यपण्य० (३।१।१०१) में यत्प्रत्ययान्त निपातन है, अतः यतोऽनावः (६।१।२०७) से यह शब्द आद्युदात्त है । दंसेष्टटनौ न आ च (उणा० ५।१०) से दंस धातु से ट प्रत्यय तथा न को आकारादेश होकर 'दास' शब्द प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । टित् होने से टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् होकर दासी बनेगा । अतः उदात्तनिवृत्तिस्वर से यह अन्तोदात्त शब्द है । देवहूतिः आदि में देव शब्द पचाद्यच्प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है ॥ उदा०—कुरुगार्हपतम् (=कुरु जनपद के गृहपतियों की संस्था) । रिक्तगुरुः (=खाली रहने पर भी भारी) । असूतजरती (=सन्तानोत्पत्ति न होने पर भी वृद्धा) । अश्लीलदृढरूपा (श्री=कान्ति से रहित होने पर भी स्थिर रूपवाली) । पारेवडवा (=उस तरफ घोड़ी के समान) । तैतिलकद्रूः । पण्यकम्बलः (=बिकाऊ कम्बल) । दासीभारः (=दासी के वहन करने योग्य भार) ॥

चतुर्थी तदर्थे ॥६।२।४३॥

चतुर्थी १।१॥ तदर्थे ७।१॥ स०—तस्मै (=चतुर्थ्यन्तार्थाय) इदम् तदर्थम्, तस्मिन् तदर्थे, चतुर्थीतत्पुरुषः ॥ अनु०—प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं तदर्थे उत्तरपदे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—यूपदारु, कुण्डलहिरण्यम्, रथदारु, वल्लीहिरण्यम् ॥

भाषार्थः—[चतुर्थी] चतुर्थी पूर्वपद को [तदर्थे] तदर्थ=चतुर्थ्यन्तार्थ के उत्तरपद रहते प्रकृतिस्वर होता है ॥ यूपदारु आदि शब्दों में चतुर्थी तत्पुरुष

समास है, अतः अर्थ होगा—'यूप के लिये जो लकड़ी'। अब यहाँ, चतुर्थ्यन्त के अर्थ=यूप के लिये दारु है, सो चतुर्थ्यन्तार्थ दारु शब्द उत्तरपद में हुआ। इसी प्रकार औरों में जानें। यूप की सिद्धि परि० ६।२।१ में देखें। कुडि धातु से वृषादिभ्यश्चित् (उणा० १।१०६) से बाहुलक से कुण्डल शब्द कलप्रत्ययान्त एवं चित् है, अतः चित् स्वर (६।१।१५७) से अन्तोदात्त है। रथ शब्द हनिकुषिनी० (उणा० २।२) से क्थन्प्रत्ययान्त होने से नित्स्वर से आद्युदात्त है। वल्ली शब्द गौरादित्वात् (४।१।४१ से) ङीष्प्रत्ययान्त अन्तोदात्त (३।१।३ से) है॥

यहाँ से 'चतुर्थी' की अनुवृत्ति ६।२।४५ तक जायेगी॥

अर्थे॥६।२।४४॥

अर्थे ७।१॥ अनु०—चतुर्थी, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ अर्थः—चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदम् अर्थशब्दे उत्तरपदे प्रकृतिस्वरं भवति॥ उदा०—मात्रे इदम्=मात्रर्थम्, पित्रर्थम्, देवतार्थम्, अतिथ्यर्थम्॥

भाषार्थः—[अर्थे] अर्थ शब्द उत्तरपद रहते चतुर्थ्यन्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है। मातृ पितृ की सिद्धि ६।२।११ सूत्र में देखें। यणादेश हो जाने पर उदात्तस्वरितयोर्यणः० (८।२।४) से 'त्र' स्वरित हो गया। देवता शब्द देवात्तल् (५।४।२७) से तल्प्रत्ययान्त होने से लित् स्वर से मध्योदात्त है। अतिथि शब्द में ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्य० (उणा० ४।२) से अत धातु से इथिन् प्रत्यय हुआ है, अतः नित्स्वर (६।१।१९१) से आद्युदात्त है॥

क्ते च॥६।२।४५॥

क्ते ७।१॥ च अ०॥ अनु०—चतुर्थी, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ अर्थः—क्तान्ते चोत्तरपदे चतुर्थ्यन्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ उदा०—गोहितम्, अश्वहितम्, मनुष्यहितम्, गोरक्षितम्, अश्वरक्षितम्, वनं तापसरक्षितम्[1]॥

भाषार्थः—[क्ते] क्तान्त शब्द उत्तरपद रहते [च] भी चतुर्थ्यन्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है। अश्व तथा गो शब्द की सिद्धि ६।२।१३ सूत्र में देखें। मनुष्य शब्द की सिद्धि परि० ६।१।१ में देखें। तापस शब्द अण् च (५।२।१०३) से अण्प्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है॥

यहाँ से 'क्ते' की अनुवृत्ति ६।२।४६ तक जायेगी॥

१. यह परम्परा से प्राप्त उदाहरण किसी प्राचीन काव्यग्रन्थ का है। इस उदाहरण से यह व्यक्त होता है कि प्राचीन काल में काव्यग्रन्थ भी स्वरयुक्त थे। अन्यथा काव्योदाहरण के स्थान पर 'तापस-रक्षितम्' पदमात्र से प्रकृत सूत्र गतार्थ हो सकता था।

कर्मधारयेऽनिष्ठा ॥६।२।४६॥

कर्मधारये ७।१॥ अनिष्ठा १।१॥ स०—अनिष्ठा इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—क्ते, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—क्तान्त उत्तरपदे कर्मधारये समासे अनिष्ठान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—श्रेणिकृताः, ऊककृताः, पूगकृताः, निधनकृताः ॥

भाषार्थः—क्तान्त उत्तरपद रहते [कर्मधारये] कर्मधारय समास में [अनिष्ठा] अनिष्ठान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ श्रेणि शब्द वहिश्रिश्रुयुद्रु० (उणा० ४।५१) से निप्रत्ययान्त है। यहाँ नित् की अनुवृत्ति आने से श्रेणि शब्द नित्स्वर से आद्युदात्त है। 'ऊक' तथा 'निधन' की सिद्धि सूत्र ६।२।३२ में देखें। पुग शब्द छापूलखडिभ्यो गक् (दशपा० ३।६१) से गक्-प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है ॥

अहीने द्वितीया ॥६।२।४७॥

अहीने ७।१॥ द्वितीया १।१॥ स०—अहीन इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—क्ते, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—अहीनवाचिनि समासे क्तान्त उत्तरपदे द्वितीयान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—कष्टश्रितः, त्रिशकलपतितः, ग्रामगतः ॥

भाषार्थः—[अहीने] अहीनवाची समास में क्तान्त उत्तरपद रहते [द्वितीया] द्वितीयान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ कष्ट शब्द क्तप्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। कृच्छ्रगहनयोः कषः (७।२।२२) से यहाँ इट् का प्रतिषेध हुआ है। त्रीणि शकलान्यस्य त्रिशकलः, यहाँ बहुव्रीहि समास हुआ है। अतः पूर्वपद प्रकृतिस्वर होने पर प्रातिपदिक स्वर से त्रि उदात्त है। पश्चात् त्रिशकल का पतित के साथ द्वितीया तत्पुरुष समास हुआ, सो प्रकृत सूत्र से प्रकृतिस्वर हो गया। ग्राम शब्द ग्रसेरा च (उणा० १।१४३) से मन्प्रत्ययान्त है। यहाँ मन् की अनुवृत्ति १।१४० से आ रही है। इस प्रकार नित्स्वर से आद्युदात्त यह शब्द है। कष्टश्रितः=कष्ट को प्राप्त हुआ। यहाँ सर्वत्र उत्तरपदार्थ का पूर्वपदार्थ से पृथक्त्व न होने से अहीन अर्थ है ॥

तृतीया कर्मणि ॥६।२।४८॥

तृतीया १।१॥ कर्मणि ७।१॥ अनु०—क्ते, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—कर्मवाचिनि क्तान्त उत्तरपदे तृतीयान्तं पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—अहिहतः, वज्रहतः, महाराजहतः, नखनिर्भिन्ना, दात्रलूना ॥

भाषार्थः—[कर्मणि] कर्मवाचि क्तान्त उत्तरपद रहते [तृतीया] तृतीयान्त पूर्वपद को प्रकृतिस्वर हो जाता है। अहि शब्द आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च (उणा०

४।१३८) से आङ् पूर्वक हन् धातु से इण्प्रत्ययान्त है। यहाँ ४।१३४ से डित् की अनुवृत्ति भी होने से टि भाग का लोप एवं आङ् को ह्रस्वत्व होकर 'अहिः' बना। अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त यह शब्द है। वज्र, शब्द ऋजेन्द्राग्रवज्र० (उणा० २।२८) से रक्प्रत्ययान्त निपातन है अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। महाराज शब्द भी राजाहःसखि० (५।४।९१) से टच्प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। नास्य खमस्तीति नखः, यहाँ बहुव्रीहि समास हुआ है। अतः नञ्सुभ्याम् (६।२।१७१) से अन्तोदात्त यह शब्द है। नभ्राण्नपान्नवेदा० (६।३।७३) में 'नख' के नञ् को प्रकृतिभाव होने के कारण नलोपो नञः (६।३।७२) से नकार का लोप नहीं होता। दात्र शब्द दाम्नीशस० (३।२।१८२) से ष्ट्रन्प्रत्ययान्त है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है॥

यहाँ से 'कर्मणि' की अनुवृत्ति ६।२।४९ तक जायेगी॥

गतिरनन्तरः॥६।२।४९॥

गतिः १।१॥ अनन्तरः १।१॥ स०—अविद्यमानम् अन्तरम् यस्य सः अनन्तरः, बहुव्रीहिः॥ अनु०—कर्मणि, क्ते, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ अर्थः—कर्मवाचिनि क्तान्त उत्तरपदे अनन्तरो गतिः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ उदा०—प्रकृतः, प्रहृतः॥

भाषार्थः—कर्मवाची क्तान्त उत्तरपद रहते पूर्वपदस्थ [अनन्तरः] अनन्तर अर्थात् अव्यवहित [गतिः] गति को प्रकृतिस्वर होता है॥ उदाहरणों में कृत हृत शब्द क्तान्त हैं, उनसे अव्यवहित पूर्व 'प्र' गति है। गतिश्च (१।४।५९) से 'प्र' की गति-संज्ञा होती है। इस प्रकार प्रकृतिस्वर होने पर उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ८०) से 'प्र' उदात्त होता है॥

यहाँ से 'गतिः' की अनुवृत्ति ६।२।५२ तक, तथा 'अनन्तरः' की ६।२।५१ तक जायेगी॥

तादौ च निति कृत्यतौ॥६।२।५०॥

तादौ ७।१॥ च अ०॥ निति ७।१॥ कृति ७।१॥ अतौ ७।१॥ स०—तकार आदिर्यस्य स तादिः, तस्मिन्...बहुव्रीहिः। नकार इत् यस्य स नित् तस्मिन्......बहुव्रीहिः। न तुः अतुः, तस्मिन्......नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—गतिरनन्तरः, प्रकृत्या पूर्वपदम्॥ अर्थः—तुशब्दवर्जिते च तकारादौ निति कृति परतः गतिरनन्तरः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति॥ उदा०—प्रकर्त्ता, प्रकर्त्तुम्, प्रकृतिः॥

१. केचित्तु आद्युदात्तमिच्छन्ति, ते पूर्वसूत्रादुदात्तग्रहणमनुवर्तयन्ति। द्र०—दशपादी उणा० १।६७॥

भाषार्थः—[अतौ] तु शब्द को छोड़कर [तादौ] तकारादि, एवं [निति] नकार इत्संज्ञक है जिसका ऐसे [कृति] कृत् के परे रहते [च] भी अनन्तर पूर्वपद गति को प्रकृतिस्वर होता है ।। प्रकर्त्ता में तृन् प्रत्यय हुआ है, तथा प्रकर्त्तुम् में तुमुन्, एवं प्रकृतिः में क्तिन् हुआ है । तीनों प्रत्यय नित् कृत्संज्ञक एवं तकारादि हैं । अतः प्रकृतिस्वर होकर पूर्ववत् 'प्र' उदात्त हो गया ।।

तवै चान्तश्च युगपत् ।।६।२।५१।।

तवै लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। च अ० ।। अन्तः १।१।। च अ० ।। युगपत् अ० ।। अनु०—गतिरनन्तरः, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—तवैप्रत्ययस्य अन्त उदात्तो भवति, गतिश्चानन्तरः पूर्वपदं प्रकृतिस्वरं भवति, युगपच्चैतदुभयं स्यात् ।। उदा०—अन्वेतवै, परिस्तरितवै, परिपातवै, अभिचरितवै ।।

भाषार्थः—[तवै] तवै प्रत्यय को [अन्तः] अन्त उदात्त [च] भी होता है, [च] तथा अनन्तर पूर्वपद गति को भी प्रकृतिस्वर [युगपत्] एक साथ होता है ।। अनुदात्तं पदमेकवर्जम् (६।१।१५२) परिभाषा के कारण पद में एक अच् को ही उदात्त प्राप्त था, अतः यहाँ युगपत् कह कर एक साथ दो उदात्त कह दिये ।। प्रकृतिस्वर में पूर्ववत् उपसर्ग को आद्युदात्त होगा । उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ८०) में अभि को छोड़ कर आद्युदात्त विधान किया है, अतः अभिचरितवै में 'अभि' आद्युदात्त न होकर प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त है ।। 'वै' सर्वत्र उदात्त है ।।

अनिगन्तोऽञ्चतौ वप्रत्यये ।।६।२।५२।।

अनिगन्तः १।१।। अञ्चतौ ७।१।। वप्रत्यये ७।१।। स०—इक् अन्ते यस्य सः इगन्तः, बहुव्रीहिः, ततो नञ्तत्पुरुषः । वकारः प्रत्ययो यस्य स वप्रत्ययः, तस्मिन् ...... बहुव्रीहिः ।। अनु०—गतिः, प्रकृत्या पूर्वपदम् ।। अर्थः—अनिगन्तो गतिर्वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परतः प्रकृतिस्वरो भवति ।। उदा०—प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः; पराङ्, पराञ्चौ, पराञ्चः ।।

भाषार्थः—[अनिगन्तः] इक् अन्त में नहीं है, जिसके ऐसे गतिसंज्ञक को [वप्रत्यये] वप्रत्ययान्त [अञ्चतौ] अञ्चु धातु के परे रहते प्रकृतिस्वर होता है ।। प्राङ् की सिद्धि भाग १, परि० ३।२।५९, पृ० ८९२ में देखें । इसी प्रकार पराङ् भी बनेगा । प्र परा अनिगन्त गति हैं । अञ्चु धातु क्विन्प्रत्ययान्त है, क्विन् का व् शेष रह जाता है, अतः वप्रत्ययान्त अञ्चु परे है ही । प्रकृतिस्वर कहने से पूर्ववत् आद्युदात्त हो जायेगा । एकादेश होने पर स्वरितो वानुदात्ते० (८।२।६) से पक्ष में स्वरितत्व भी होता है ।

यहाँ से 'अञ्चतौ वप्रत्यये' की अनुवृत्ति ६।२।५३ तक जायेगी ।।

न्यधी च ॥६।२।५३॥

न्यधी १।२॥ उ० अ० ॥ स० — निश्च अधिश्च न्यधी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० — अञ्चतौ वप्रत्यये, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः — नि अधि इत्येतौ चाञ्चतौ वप्रत्यये परतः प्रकृतिस्वरौ भवतः ॥ उदा० — न्यङ्, न्यञ्चौ, न्यञ्चः । अध्यङ्, अध्यञ्चौ, अध्यञ्चः, अधीचः, अधीचा ॥

भाषार्थः — वप्रत्ययान्त अञ्चु के परे रहते [न्यधी] नि अधि को [च] भी प्रकृतिस्वर होता है ॥ नि अधि इगन्त हैं, अतः पूर्वसूत्र से प्राप्त नहीं था, यहाँ विधान कर दिया ॥ न्यङ्, यहाँ नि पूर्ववत् उदात्त था, यणादेश करने पर उदात्तस्वरितयोर्यणः० (८।२।४) से 'य' का 'अ' स्वरित हो गया । अधि का अ पूर्ववत् उदात्त है । अधीचः अधीचा में 'चौ' (६।१।२१६) प्राप्त था, उसका यह अपवाद है ॥

ईषदन्यतरस्याम् ॥६।२।५४॥

ईषत् अ० ॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु० — प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः — ईषदित्येतत् पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा० — ईषत्कडारः, ईषत्कडारः; ईषत्पिङ्गलः ईषत्पिङ्गलः ॥

भाषार्थः — पूर्वपद [ईषत्] ईषत् को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ ईषत् शब्द प्रातिपदिकस्वर से अन्तोदात्त है, पक्ष में समासस्य (६।१।२१७) का अपवाद होने से समास को अन्तोदात्त होगा । ईषदकृता (२।२।७) से यहाँ समास होता है ॥

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक जायेगी ॥

हिरण्यपरिमाणं धने ॥६।२।५५॥

हिरण्यपरिमाणम् १।१॥ धने ७।१॥ स० — हिरण्यञ्च तत् परिमाणञ्च हिरण्यपरिमाणम्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु० — अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः — हिरण्यपरिमाणवाचि पूर्वपदं धनशब्द उत्तरपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा० — द्वे सुवर्णे परिमाणमस्येति द्विसुवर्णम्, द्विसुवर्णमेव धनं — द्विसुवर्णधनम्, द्विसुवर्णधनम् ॥

भाषार्थः — [हिरण्यपरिमाणम्] हिरण्य और परिमाण दोनों अर्थों को कहनेवाले पूर्वपद को [धने] धन शब्द उत्तरपद रहते विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ सुवर्ण शब्द सोने का वाचक है, तथा सोने के तौल = १६ माषा के परिमाण को भी कहता है । अतः सुवर्णशब्द परिमाण और सोना दोनों का वाचक है ॥ द्विसुवर्ण, यहाँ

तद्धितार्थो० (२।१।५१) से समास होता है, अतः समासस्य से अन्तोदात्त होगा। प्राग्वतेष्ठञ् (५।१।१८) से जो ठञ् प्रत्यय होता है, उसका अध्यर्ध० (५।१।२८) से लुक् हो जाता है। पश्चात् धन शब्द के साथ कर्मधारय समास हुआ, तब प्रकृतिस्वर होकर 'र्ण' ही उदात्त रहा ॥ उदा०—द्विसुवर्णधनम् (=दो सुवर्ण=३२ माषा धन)॥

प्रथमोऽचिरोपसंपत्तौ ॥६।२।५६॥

प्रथमः १।१॥ अचिरोपसंपत्तौ ७।१॥ स०—न चिरा अचिरा, नञ्तत्पुरुषः। अचिरा उपसंपत्तिः=उपश्लेषः=सम्बन्धः अचिरोपसंपत्तिः, तस्मिन् ……कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—अचिरोपसंपत्तौ गम्यमानायां प्रथमशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—प्रथमवैयाकरणः, प्रथमवैयाकरणः ॥

भाषार्थः—[अचिरोपसम्पत्तौ] अचिरकाल उपसम्पत्ति=सम्बन्ध गम्यमान हो, तो [प्रथमः] प्रथम पूर्वपद को विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ प्रथम शब्द प्रथेरमच् (उणा० ५।६८) से अमच्प्रत्ययान्त है, अतः चित्स्वर से अन्तोदात्त है। पक्ष में समास का अन्तोदात्तत्व होगा ॥ उदा०—प्रथमवैयाकरणः (=व्याकरण का नवीन विद्वान्)। पहले-पहल पढ़ने से यहाँ अचिरोपसम्पत्ति गम्यमान है ॥ पूर्वापरप्रथम० से उदाहरण में समास हुआ है ॥

कतरकतमौ कर्मधारये ॥६।२।५७॥

कतरकतमौ १।२॥ कर्मधारये ७।१॥ स०—कतर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—कतर कतम इत्येते पूर्वपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरे भवतः कर्मधारये समासे ॥ उदा०—कतरकठः, कतरकठः। कतमकठः, कतमकठः ॥

भाषार्थः—[कतरकतमौ] कतर तथा कतम पूर्वपद को [कर्मधारये] कर्मधारय समास में विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ कतर शब्द कियत्तदो० (५।४।९२) से डतरच्प्रत्ययान्त है, तथा कतम वा बहूनां जाति० (५।४।९३) से डतमच्प्रत्ययान्त है। अतः दोनों शब्द चित्स्वर से अन्तोदात्त हैं। पक्ष में समास का अन्तोदात्तत्व होगा ही ॥ यहाँ कतरकतमौ० (२।१।६३) से समास हुआ है ॥

यहाँ से 'कर्मधारये' की अनुवृत्ति ६।२।५९ तक जायेगी ॥

आर्यो ब्राह्मणकुमारयोः ॥६।२।५८॥

आर्यः १।१॥ ब्राह्मणकुमारयोः ७।२॥ स०—ब्राह्मण० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥

अनु०—कर्मधारये, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—ब्राह्मणकुमारशब्दयो-रुत्तरपदयोरार्यशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति कर्मधारये समासे ॥ उदा०—आर्यब्राह्मणः, आर्यब्राह्मणः । आर्यकुमारः, आर्यकुमारः ॥

भाषार्थः—[ब्राह्मणकुमारयोः] ब्राह्मण तथा कुमार शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में पूर्वपद [आर्यः] आर्य शब्द को विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ 'आर्य' शब्द ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत्प्रत्ययान्त है, अतः तित्स्वरितम् (६।१।१७९) से अन्त स्वरित है । पक्ष में पूर्ववत् स्वर होगा ॥

यहाँ से 'ब्राह्मणकुमारयोः' की अनुवृत्ति ६।२।५९ तक जायेगी ॥

राजा च ॥६।२।५९॥

राजा १।१॥ च अ० ॥ अनु०—ब्राह्मणकुमारयोः, कर्मधारये, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—ब्राह्मणकुमारयोरुत्तरपदयोः कर्मधारये समासे राजा च पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—राजब्राह्मणः, राजब्राह्मणः । राजकुमारः, राजकुमारः ॥

भाषार्थः—ब्राह्मण तथा कुमार शब्द उत्तरपद रहते कर्मधारय समास में पूर्वपद [राजा] राजन् शब्द को [च] भी विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ राजन् शब्द युवृषितक्षि० (उणा० १।१५६) से कनिन्प्रत्ययान्त है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है ॥

यहाँ से 'राजा' की अनुवृत्ति ६।२।६० तक जायेगी ॥

षष्ठी प्रत्येनसि ॥६।२।६०॥

षष्ठी १।१॥ प्रत्येनसि ७।१॥ स०—प्रतिगतमेनः पापं यस्य स प्रत्येनाः, तस्मिन्······बहुव्रीहिः ॥ अनु०—राजा, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—षष्ठचन्तो राजशब्दः पूर्वपदं प्रत्येनस्युत्तरपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—राज्ञःप्रत्येनाः, राज्ञःप्रत्येनाः । राजप्रत्येनाः, राजप्रत्येनाः ॥

भाषार्थः—[षष्ठी] षष्ठचन्त पूर्वपद राजन् शब्द को [प्रत्येनसि] प्रत्येनस् शब्द उत्तरपद रहते विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ पूर्ववत् स्वरसिद्धि जानें ॥ पूर्व के दो उदाहरणों—'राज्ञःप्रत्येनाः' में षष्ठया आक्रोशे (६।३।१९) से आक्रोश में षष्ठी का अलुक् हुआ है । तथा जब आक्रोश अर्थ की विवक्षा नहीं होगी, तो षष्ठी का लुक् होकर दो उदाहरण 'राजप्रत्येनाः' बनेंगे । अलुक् एवं स्वरभेद से कुल चार उदाहरण बने हैं ॥

क्ते नित्यार्थे ॥६।२।६१॥

क्ते ७।१। नित्यार्थे ७।१॥ स०—नित्यः अर्थो यस्य स नित्यार्थः, तस्मिन् ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—क्तान्त उत्तरपदे नित्यार्थे समासे पूर्वपदमन्यतरस्यां प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—नित्यप्रहसितः, नित्यप्रहसितः । सततप्रहसितः, सततप्रहसितः ॥

भाषार्थः—[क्ते] क्तान्त उत्तरपद रहते [नित्यार्थे] नित्य अर्थ है जिसका ऐसे समास में, विकल्प से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ नित्य शब्द त्यब्नेर्ध्रुवे (वा० ४।२।१०३) इस वार्त्तिक से त्यप्प्रत्ययान्त है । अतः पित् होने से 'य' अनुदात्त, तथा 'नि' उपसर्गा० (फिट्० ८०) से उदात्त है । सतत शब्द में जब भाव में क्त होगा, तो थाथघञ्० (६।२।१४३) से अन्तोदात्त होगा । तथा जब कर्म में क्त होगा, तो गतिरनन्तरः (६।२।४९) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होगा ॥ पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त स्वर है ॥ कालाः (२।१।२७) सूत्र से यहाँ द्वितीया-तत्पुरुष समास हुआ है ॥ उदा०—नित्यप्रहसितः (=सदा हँसता हुआ) । सतत-प्रहसितः (=पूर्ववत्) । सर्वत्र यहाँ नित्यार्थ है ही ॥

ग्रामः शिल्पिनि ॥६।२।६२॥

ग्रामः १।१॥ शिल्पिनि ७।१॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—ग्रामशब्दः पूर्वपदं शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे विकल्पेन प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—ग्रामनापितः, ग्रामनापितः । ग्रामकुलालः, ग्रामकुलालः ॥

भाषार्थः—[शिल्पिनि] शिल्पिवाची उत्तरपद रहते [ग्रामः] ग्राम पूर्वपद को विकल्प से प्रकृतिस्वर हो जाता है ॥ ग्राम शब्द का स्वर ६।२।४७ सूत्र में देखें ॥ उदाहरणों में षष्ठीतत्पुरुष समास है । पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्त स्वर है । उदा०—ग्रामनापितः (=गाँव का नाई), ग्रामकुलालः (=गाँव का कुम्हार) ॥ यहाँ उत्तरपद नापित कुलाल शब्द शिल्पी=कारीगरवाची हैं ही ॥

यहाँ से 'शिल्पिनि' की अनुवृत्ति ६।२।६३ तक जायेगी ॥

राजा च प्रशंसायाम् ॥६।२।६३॥

राजा १।१॥ च अ० ॥ प्रशंसायाम् ७।१॥ अनु०—शिल्पिनि, अन्यतरस्याम्, प्रकृत्या पूर्वपदम् ॥ अर्थः—शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे राजशब्दः पूर्वपदं विकल्पेन प्रकृति-स्वरं भवति, प्रशंसायां गम्यमानायाम् ॥ उदा०—राजनापितः, राजनापितः; राज-कुलालः, राजकुलालः ॥

भाषार्थः—[प्रशंसायाम्] प्रशंसा गम्यमान हो, तो शिल्पिवाची शब्द उत्तर-

रहते [राजा] राजन् पूर्वपदवाले शब्द को [च] भी विकल्प से प्रकृतिस्वर होता है ॥ राजन् शब्द का स्वर सूत्र ६।२।५९ में देखें। पक्ष में अन्तोदात्तत्व होगा ही। उदाहरणों में कर्मधारय समास है। राजा के गुण का अध्यारोप उत्तरपद में किया जा रहा है, अतः उत्तरपदार्थ की प्रशंसा गम्यमान होती है। षष्ठीसमास मानने पर भी राजा का नाई होने से प्रशंसा प्रतीत होती है, अतः दोनों समास हो सकते हैं ॥ उदा०—राजनापितः (=राजा नाई, अर्थात् निपुण नाई, अथवा राजा का नाई); राजकुलालः ॥

[पूर्वपदाद्युदात्त-प्रकरणम्]

आदिरुदात्तः ॥६।२।६४॥

आदिः १।१॥ उदात्तः १।१॥ अनु०—पूर्वपदम् ॥ अर्थः—आदिरुदात्त इत्ययमधिकारो वेदितव्यः। इत उत्तरं यद् वक्ष्यामस्तत्र पूर्वपदस्यादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—स्तूपेशाणः, मुकुटेकार्षापणम् ॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है। यहाँ से आगे जो कुछ कहेंगे, उसके पूर्वपद के [आदिः] आदि को [उदात्तः] उदात्त होता है, ऐसा जानना चाहिये ॥ उदाहरण में सप्तमीहारिणौ० (६।२।६५) से पूर्वपद आद्युदात्त हुआ है ॥

यहाँ से 'आदिः' की अनुवृत्ति ६।२।९१ तक, तथा 'उदात्तः' की ६।२।१९८ तक जायेगी ॥

सप्तमीहारिणौ धर्म्येऽहरणे ॥६।२।६५॥

सप्तमीहारिणौ १।२॥ धर्म्ये ७।१॥ अहरणे ७।१॥ स०—सप्तमी च हारी च सप्तमीहारिणौ, इतरेतरद्वन्द्वः। अहरणे इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ हारीत्यावश्यके (३।३।१७०) णिनिः ॥ अर्थः—हरणशब्दवर्जिते धर्म्यवाचिनि उत्तरपदे सप्तम्यन्तं हारिवाचि च पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—स्तूपेशाणः, मुकुटेकार्षापणम्, हलेद्विपदिका, हलेत्रिपदिका, दृषदिमाषकः। हारिणि—याज्ञिकाश्वः, वैयाकरणहस्ती, मातुलाश्वः, पितृव्यगवः ॥

भाषार्थः—[अहरणे] हरण शब्द को छोड़कर [धर्म्ये] धर्म्यवाची शब्दों के परे रहते [सप्तमीहारिणौ] सप्तम्यन्त तथा हारिवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ धर्मादनपेतमनुगतं=धर्म्यम्। धर्मपथ्यर्थ० (४।४।९२) से यहाँ यत् प्रत्यय होता है। कुल या देश की परम्परा के अनुसार जो किसी को देने योग्य वस्तु हो, उसे 'धर्म्य' कहते हैं। देय वस्तु को जो अवश्य स्वीकार करता है, उसे 'हारी' कहते हैं ॥ स्तूपेशाणः, मुकुटेकार्षापणम्, हलेद्विपदिका आदि में शाण कार्षापण और

पाद शब्द प्राचीन काल के विशेष सिक्कों के वाचक हैं। स्तूपनिर्माण के समय, मुकुट=राज्यारोहण के समय, एकहल से जोतने योग्य भूमि पर लगनेवाला जो धर्मानुकूल कर है, वह स्तूपेशाणः आदि शब्दों से कहा जाता है। इन उदाहरणों में सप्तम्यन्त पूर्वपद है, तथा धर्म्यवाची (=कुलपरम्परा या देशपरम्परा से देने योग्य वस्तुवाची) उत्तरपद है। यहाँ सर्वत्र संज्ञायाम् (२।१।४३) से समास, तथा कारनाम्नि च० (६।३।८) से सप्तमी विभक्ति का अलुक् हुआ है। याज्ञिकाश्वः (=यज्ञ करानेवाले को दक्षिणा में दिया जानेवाला घोड़ा), वैयाकरणहस्ती (=वैयाकरण को उपहार में दिया जानेवाला हाथी) आदि उदाहरणों में हारिवाची याज्ञिक तथा वैयाकरण (चूँकि इनको देय वस्तु स्वीकार है, अतः ये हारिवाची) पूर्वपद हैं, धर्म्य उत्तरपद है ही। धर्म्य तथा हारी से यहाँ स्वरूप का ग्रहण न होकर अर्थ का ग्रहण है॥ ये सब सूत्र भी समासस्य के अपवाद हैं॥

युक्ते च ॥६।२।६६॥

युक्ते ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—युक्तवाचिनि च समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—गोबल्लवः, अश्वबल्लवः। गोमणिन्दः, अश्वमणिन्दः। गोसङ्ख्यः, अश्वसङ्ख्यः ॥

भाषार्थः—[युक्ते] युक्तवाची समास में [च] भी पूर्वपद को आद्युदात्त होता है॥ बल्लव शब्द गाय के पालक का वाचक है। इस प्रकार गाय के पालन आदि कर्म में अच्छे प्रकार तत्पर होने से यहाँ युक्तत्व है॥

विभाषाऽध्यक्षे ॥६।२।६७॥

विभाषा १।१॥ अध्यक्षे ७।१॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—अध्यक्षशब्द उत्तरपदे पूर्वपदं विकल्पेनाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—गवाध्यक्षः, गवाध्यक्षः। अश्वाध्यक्षः, अश्वाध्यक्षः ॥

भाषार्थः—[अध्यक्षे] अध्यक्ष शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को [विभाषा] विकल्प से आद्युदात्त होता है॥ समासस्य का अपवाद होने से पक्ष में अन्तोदात्त होगा॥ उदा०—गवाध्यक्षः (=गाय का निरीक्षक)॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।२।६८ तक जायेगी॥

पापं च शिल्पिनि ॥६।२।६८॥

पापम् १।१॥ च अ० ॥ शिल्पिनि ७।१॥ अनु०—विभाषा, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—शिल्पिवाचिन्युत्तरपदे पापशब्दः पूर्वपदं विभाषाऽऽद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—पापनापितः, पापनापितः। पापकुलालः, पापकुलालः ॥

भाषार्थः—[शिल्पिनि] शिल्पिवाची शब्द उत्तरपद रहते [पापम्] पाप शब्द को [च] भी विकल्प से आद्युदात्त होता है ॥ पक्ष में पूर्ववत् अन्तोदात्तत्व होगा ॥ पापाणके कुत्सितैः (२।१।५३) से उदाहरणों में समानाधिकरण समास हुआ है ॥ पापनापितः का अर्थ है बुरा नाई, जो क्षौर को ठीक प्रकार से न कर सके ॥

गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु क्षेपे ॥६।२।६९॥

गोत्रा······णेषु ७।३॥ क्षेपे ७।१॥ स०—गोत्रञ्च अन्तेवासी च माणवश्च ब्राह्मणश्च गोत्रा······ह्मणाः, तेषु········इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—क्षेपवाचिनि समासे गोत्रवाचिनि अन्तेवासिवाचिनि चोत्तरपदे माणवब्राह्मणयोश्चोत्तरपदयोः पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—गोत्र—जङ्घावात्स्यः, भार्यासौश्रुतः, वशाब्राह्मकृतेयः । अन्तेवासी—कुमारीदाक्षाः, ओदनपाणिनीयाः, घृतरौढीयाः, कम्बलचारायणीयाः । माणव—भिक्षामाणवः । ब्राह्मण—दासीब्राह्मणः, वृषलीब्राह्मणः, भयब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—[क्षेपे] क्षेप=निन्दावाची समास में [गोत्रान्तेवासिमाणवब्राह्मणेषु] गोत्रवाची, अन्तेवासिवाची तथा माणव एवं ब्राह्मण शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ सर्वत्र उदाहरणों में जिस किसी हेतु से निन्दा प्रकट की जा रही है । अतः निन्दावाची समास है ॥ उदा०—जङ्घावात्स्यः (=श्राद्ध इत्यादि में जाने पर जहाँ वात्स्य गोत्रवाले के ही पादप्रक्षालनादि कार्य किये जाते हों, वहाँ कोई अवात्स्य जाकर कहे कि "मैं वात्स्य हूँ" ताकि उसका भी पादप्रक्षालन हो, तो उसे जङ्घावात्स्यः कहकर पुकारेंगे, यही यहाँ निन्दा है), भार्यासौश्रुतः (= भार्या की प्रधानतावाला सुश्रुत का अपत्य) भार्याप्रधानः सौश्रुतः=भार्यासौश्रुतः । यहाँ शाकपार्थिवा० (वा० २।१।५९) वार्त्तिक से समास तथा उत्तरपद (=प्रधान) का लोप हुआ है । वशाब्राह्मकृतेयः (=वशा वन्ध्या स्त्री को कहते हैं, अतः अर्थ होगा—वन्ध्या स्त्री की प्रधानतावाला ब्रह्मकृत का अपत्य, यही यहाँ क्षेप है) । यहाँ ब्रह्मकृत शब्द शुभ्रादि गण में पठित होने से शुभ्रादिभ्यश्च (४।१।१२३) से ढक् प्रत्यय हुआ है । भार्यासौश्रुतः के समान यहाँ भी समास जानें । कुमारीदाक्षाः (= कन्याप्राप्ति की इच्छा से दाक्षि=व्याडि के प्रोक्त संग्रहग्रन्थ को पढ़नेवाले), भिक्षामाणवः (=भिक्षाप्राप्ति की आशा से ब्रह्मचर्य से रहनेवाला), दासीब्राह्मणः (=दासी जिसकी भार्या है, ऐसा ब्राह्मण), भयब्राह्मणः (=दण्ड के भय से ब्राह्मण बननेवाला) । दासीब्राह्मणः, वृषलीब्राह्मणः, भयब्राह्मणः में कर्तृकरणे (२।१।३१) से बहुल से (कृत न होने पर भी) समास हुआ है । तथा अन्यों में 'सुप् सुपा' के योगविभाग से समास जानें ॥

अङ्गानि मैरेये ॥६।२।७०॥

अङ्गानि १।३॥ मैरेये ७।१॥ अनु०—आदिरुदात्तः पूर्वपदम् ॥ अर्थः—मैरेयशब्द उत्तरपदे तदङ्गवाचीनि पूर्वपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति ॥ मद्यविशेषो मैरेयः । अङ्गशब्दश्च उपादानकारणवाची ॥ उदा०—गुडमैरेयः, मधुमैरेयः ॥

भाषार्थः—[मैरेये] मैरेय शब्द उत्तरपद रहते उसके [अङ्गानि] अङ्ग=उपादानकारणवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ मैरेय शब्द मद्यविशेष का वाचक है । अङ्ग शब्द का यहां उपादानकारण अर्थ है, अर्थात् जिससे मैरेय बनाई जाये । उत्तरपद मैरेय होने से पूर्वपद अङ्ग शब्द से मैरेय का ही अङ्ग=उपादानकारण लिया गया है । गुडमैरेयः आदि में गुड़ की शराब, शहद की शराब अर्थ होने से गुड़ एवं मधु मैरेय के उपादानकारणवाची पूर्वपद हैं ॥

भक्ताख्यास्तदर्थेषु ॥६।२।७१॥

भक्ताख्याः १।३॥ तदर्थेषु ७।३॥ स०—भक्तस्याख्या भक्ताख्या······षष्ठीतत्पुरुषः । तेभ्य इमानि तदर्थानि, तेषु······चतुर्थीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—भक्तवाचिनः शब्दास्तदर्थेषूत्तरपदेष्वाद्युदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—भिक्षाकंसः, श्राणाकंसः, भाजीकंसः ॥

भाषार्थः—'भक्त' अन्न को कहते हैं । आख्या ग्रहण अन्न के पर्याय एवं तद्विशेष का ग्रहण हो इसलिये है ॥ [भक्ताख्याः] अन्न की आख्यावाले शब्दों को [तदर्थेषु] तदर्थ (=अन्न के लिये) जो (=पात्रादि तद्वाची) शब्द के उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है ॥ उदा०—भिक्षाकंसः (=भिक्षा का पात्र), श्राणाकंसः (=लप्सी का पात्र), भाजीकंसः (=मांड का पात्र) । भिक्षा आदि शब्द अन्नविशेषवाची हैं । कंसः (=कांसी का बना पात्र) तदर्थ शब्द है ही ॥

गोबिडालसिंहसैन्धवेषूपमाने ॥६।२।७२॥

गोबिडालसिंहसैन्धवेषु ७।३॥ उपमाने ७।१॥ स०—गोबि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—गो, बिडाल, सिंह, सैन्धव इत्येतेषूपमानवाचिषूत्तरपदेषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—धान्यं गौरिव=धान्यगवः, हिरण्यगवः । भिक्षाबिडालः । तृणसिंहः, काष्ठसिंहः । सक्तुसैन्धवः, पानसैन्धवः ॥

भाषार्थः—[गोबि···वेषु] गो, बिडाल, सिंह, सैन्धव इन [उपमाने] उपमानवाची शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में

उपमितं व्याघ्रा० (२।१।५५) से समास होता है[1] ॥ धान्यगवः, यहाँ गोरतद्धित० (५।४।९२) से समासान्त टच् प्रत्यय हुआ है । अतः चित्स्वर प्राप्त था, पूर्वपद आद्युदात्त कह दिया । अन्यत्र समास को अन्तोदात्तत्व ही प्राप्त था, तदपवाद है ॥ उदा०—धान्यगवः (=गाय के समान ऊँची अन्नराशि), हिरण्यगवः (=गौ के अवयव विशेष के समान स्वर्ण) । भिक्षाबिडालः (=बिलार की तरह भिक्षा, अर्थात् अति न्यून) । तृणसिंहः (=सिंह की तरह घास का ढेर) । सक्तुसैन्धवः (=नमक की तरह सफेद पिसा हुआ सत्तू) ॥

अके जीविकार्थे ॥६।२।७३॥

अके ७।१॥ जीविकार्थे ७।१॥ स०—जीविकाया अर्थः जीविकार्थः, तस्मिन् षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—जीविकाशब्देन तद्वान् अत्र लक्ष्यते । जीविकार्थवाचिनि समासे अकप्रत्ययान्ते शब्द उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—दन्तलेखकः, नखलेखकः, अवस्करशोधकः, रमणीयकारकः ॥

भाषार्थः—[जीविकार्थे] जीविकार्थवाची समास में [अके] अकप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है । उदाहरणों में नित्यं क्रीडा० (२।२।१७) से समास होता है । सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें ॥ जीविका शब्द से यहाँ तद्वान् का ग्रहण है, जो उदाहरणों से स्पष्ट है ॥

यहाँ से 'अके' की अनुवृत्ति ६।२।७४ तक जायेगी ॥

प्राचां क्रीडायाम् ॥६।२।७४॥

प्राचाम् ६।३॥ क्रीडायाम् ७।१॥ अनु०—अके, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—प्राग्देशनिवासिनां या क्रीडा तद्वाचिनि समासे अकप्रत्ययान्त उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—उद्दालकपुष्पभञ्जिका, वीरणपुष्पप्रचायिका, शालभञ्जिका, तालभञ्जिका ॥

भाषार्थः—[प्राचाम्] प्राग्देश निवासियों की जो [क्रीडायाम्] क्रीडा तद्वाची समास में अकप्रत्ययान्त शब्द के उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उदा०—उद्दालकपुष्पभञ्जिका (=प्राच्य भारत की एक क्रीडा, जिसमें लसौड़े के फूल तोड़े या कुचले जाते हैं) । इसी प्रकार अन्यों का भी अर्थ समझें ॥ यहाँ भी नित्यं क्रीडा० (२।२।१७) से ही समास हुआ है । सिद्धि तत्सूत्र पर ही देखें ॥

---

1. व्याघ्रादिगण में 'सिंह' शब्द साक्षात् पठित है । शेष गो बिडाल सैन्धव का आकृतिगणत्व से समावेश होता है ॥

अणि नियुक्ते ॥६।२।७५॥

अणि ७।१॥ नियुक्ते ७।१॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—अणन्त उत्तरपदे नियुक्तिवाचिनि समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—छत्रधारः, तूणीरधारः, कमण्डलुग्राहः, भृङ्गारधारः ॥

भाषार्थः—[अणि] अणन्त शब्द उत्तरपद रहते [नियुक्ते] नियुक्तवाची समास में पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ कर्मण्यण् (३।२।१) से अण् प्रत्यय हुआ है ॥ उदा०—छत्रधारः (=छत्र धारण करनेवाला) । तूणीरधारः (=बाण रखने के कोष=इषुधि को धारण करनेवाला) । कमण्डलुग्राहः (=कमण्डलु लेनेवाला) । भृङ्गारधारः ॥

यहाँ से 'अणि' की अनुवृत्ति ६।२।७७ तक जायेगी ॥

शिल्पिनि चाकृञः ॥६।२।७६॥

शिल्पिनि ७।१॥ च अ० ॥ अकृञः ५।१॥ स०—अकृञ इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अणि, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—अणन्त उत्तरपदे शिल्पिवाचिनि समासे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, स चेदण् कृञः परो न भवति ॥ उदा०—तन्तुवायः, तुन्नवायः, बालवायः ॥

भाषार्थः—[शिल्पिनि] शिल्पिवाची समास में [च] भी अणन्त उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह अण् [अकृञः] कृञ् से परे न हो, अर्थात् अणन्त शब्द कृञ् धातु से न बना हो तो ॥ ह्वावामश्च (३।२।२) से तन्तुवायः आदि में अण् प्रत्यय हुआ है । उसी सूत्र में सिद्धि देखें ॥ उदा०—तन्तुवायः (=जुलाहा), तुन्नवायः (=दर्जी), बालवायः (=ऊनी वस्त्र बुननेवाला) ॥

यहाँ से 'अकृञः' की अनुवृत्ति ६।२।७७ तक जायेगी ॥

संज्ञायां च ॥६।२।७७॥

संज्ञायाम् ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—अकृञः, अणि, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—अकृञोऽणन्त उत्तरपदे संज्ञायां विषये पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—तन्तुवायो नाम कीटः; बालवायो नाम पर्वतः ॥

भाषार्थः—[संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में [च] भी अणन्त उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह अण् कृञ् से परे न हो तो ॥ पूर्वसूत्र में शिल्पि विषय में कहा था, यहाँ संज्ञा में भी कह दिया ॥ तन्तुवाय रेशम के कीट का नाम है, तथा बालवाय पर्वत विशेष की संज्ञा है ॥

गोतन्तियवं पाले ॥६।२।७८॥

गोतन्तियवम् १।१॥ पाले ७।१॥ स०—गो० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—गो, तन्ति, यव इत्येतानि पूर्वपदानि पालशब्द उत्तरपद आद्युदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—गोपालः, तन्तिपालः, यवपालः ॥

भाषार्थः—पूर्वपद [गोतन्तियवम्] गो, तन्ति, यव इन शब्दों को [पाले] पाल शब्द उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है ॥ उदा०—गोपालः (=ग्वाला)। तन्तिपालः (=राज्य की गायों के बड़े झुण्ड की देखभाल करनेवाला)। यवपालः (=जौ की रखवाली करनेवाला)॥

णिनि ॥६।२।७९॥

णिनि ७।१॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः णिनन्त उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—फलेहारी, पर्णहारी ॥

भाषार्थः—[णिनि] णिनन्त उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में व्रते (३।२।८०) से णिनि प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'णिनि' की अनुवृत्ति ६।२।८० तक जायेगी ॥

उपमानं शब्दार्थप्रकृतावेव ॥६।२।८०॥

उपमानम् १।१॥ शब्दार्थप्रकृतौ ७।१॥ एव अ० ॥ स०—शब्दोऽर्थः यस्याः सा शब्दार्था, बहुव्रीहिः। शब्दार्था प्रकृतिर्यस्य स शब्दार्थप्रकृतिः, तस्मिन्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णिनि, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—शब्दार्थप्रकृतावेव णिनन्त उत्तरपदे उपमानवाचि पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—उष्ट्रक्रोशी, ध्वाङ्क्षरावी, खरनादी ॥

भाषार्थः—[शब्दार्थप्रकृतौ] शब्दार्थवाली प्रकृति है जिन णिनन्त शब्दों की, उनके उत्तरपद रहते [एव] ही [उपमानम्] उपमानवाची पूर्वपद को आद्युदात्त होता है। उष्ट्रक्रोशी में 'क्रुश आह्वाने' धातु से कर्त्तर्युपमाने (३।२।७९) से णिनि प्रत्यय हुआ है। इसी प्रकार 'रु शब्दे' से पूर्ववत् णिनि होकर ध्वाङ्क्षरावी। एवं 'णद अव्यक्ते शब्दे' से खरनादी बना ॥ उदा०—उष्ट्रक्रोशी (=ऊँट की तरह बलबलाने वाला)। ध्वाङ्क्षरावी (=कौवे की तरह काँव-काँव करनेवाला)। खरनादी (=गधे की तरह रेंकनेवाला)। सभी उदाहरणों में क्रोशी आदि णिनन्त शब्द शब्दार्थ प्रकृतिवाले हैं, उपमानवाची पूर्वपद हैं ही ॥

युक्तारोह्यादयश्च ॥६।२।८१॥

युक्तारोह्यादयः १।३॥ च अ० ॥ स०—युक्तारोही आदिर्येषां ते युक्तारोह्यादयः,

बहुव्रीहिः ।। अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ।। अर्थः—युक्तारोह्यादयश्च समासा आद्युदात्ता भवन्ति ।। उदा० —युक्तारोही, आगतरोही, आगतयोधी ।।

भाषार्थः—[युक्तारोह्यादयः] युक्तारोही आदि समस्त शब्दों को, [च] भी आद्युदात्त होता है ।। सभी उदाहरण णिनिप्रत्ययान्त हैं । णिनि (६।२।७९) से ही आद्युदात्त सिद्ध था, पुनः यह सूत्र नियमार्थ है । अर्थात् जहाँ युक्त इत्यादि शब्द ही पूर्वपद हों, तथा आरोही इत्यादि ही उत्तरपद हों, वहीं आद्युदात्त हो । विपरीत होने पर समास का अन्तोदात्तत्व ही होगा ।।

दीर्घकाशतुषभ्राष्ट्रवटं जे ॥६।२।८२॥

दीर्घ······वटम् १।१।। जे ७।१।। स०—दीर्घश्च काशश्च तुषश्च भ्राष्ट्रञ्च वटश्च, दीर्घ ··· वटम्, समाहारद्वन्द्वः ।। अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ।। अर्थः—दीर्घान्तं पूर्वपदं, काश, तुष, भ्राष्ट्र, वट इत्येतानि च पूर्वपदानि जे उत्तरपद आद्युदात्तानि भवन्ति ।। उदा०—दीर्घान्तम्—कुटीजः, शमीजः । काशजः; तुषजः; भ्राष्ट्रजः; वटजः ।।

भाषार्थः—[दीर्घ ····· वटम्] दीर्घान्त पूर्वपद को, तथा काश, तुष, भ्राष्ट्र, वट इन पूर्वपद शब्दों को [जे] 'ज' उत्तरपद रहते आद्युदात्त होता है ।। उदाहरणों में सप्तम्यां जनेर्डः (३।२।९७) से ड प्रत्यय हुआ है । उदा०—कुटीजः (=कुटी में उत्पन्न होनेवाला), शमीजः (=शमी वृक्ष में उत्पन्न होनेवाला), काशजः (=सरकण्डे में उत्पन्न होनेवाला), तुषजः (=भूसी में उत्पन्न होनेवाला), भ्राष्ट्रजः (=भाड़ में उत्पन्न०), वटजः (=बरगद में उत्पन्न०) ।। गतिकारकोपपदात् कृत् (६।२।१३८) का यह सूत्र अपवाद है ।।

यहाँ से 'जे' की अनुवृत्ति ६।२।८३ तक जायेगी ।।

अन्त्यात् पूर्वं बह्वचः ॥६।२।८३॥

अन्त्यात् ५।१।। पूर्वम् १।१।। बह्वचः ६।१।। स०—बहवोऽचो यस्मिन् स बह्वच्, तस्य ·····बहुव्रीहिः । अन्ते भवोऽन्त्यः, तस्मात् ।। अनु०—जे, उदात्तः, पूर्वपदम् ।। अर्थः—जे उत्तरपदे बह्वचः पूर्वपदस्यान्त्यात् पूर्वमुदात्तं भवति ।। उदा०—उपसरजः, मन्दुरजः, आमलकीजः ।।

भाषार्थः—'ज' उत्तरपद रहते [बह्वचः] बहुत अच्वाले पूर्वपद के [अन्त्यात्] अन्त्य अक्षर से [पूर्वम्] पूर्व को उदात्त होता है ।। उपसरजः, यहाँ 'उपसर' पूर्वपद है, उसका अन्त्य अक्षर 'र' है, अतः उससे पूर्व 'स' को उदात्त होगा । इसी प्रकार सब में जानें । बहुत अच्वाला पूर्वपद सब में है ही ।। गतिकारको०(६।२।१३८) के ये सब भी अपवाद हैं ।।

ग्रामेऽनिवसन्तः ॥६।२।८४॥

ग्रामे ७।१॥ अनिवसन्तः १।१॥ स०—अनिव० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—ग्रामशब्द उत्तरपदे पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, तच्चेद् पूर्वपदं निवसद्वाचि न भवति ॥ निवसन्त इत्यत्र निपूर्वात् वसेः तृभूवहिवसि० (उणा० ३।१२८) इत्यनेनौणादिकः कर्तरि झच् प्रत्ययः ॥ उदा०—मल्लानां ग्रामः=मल्लग्रामः, वणिग्ग्रामः, देवस्य ग्रामः=देवग्रामः, देवस्वामिक इत्यर्थः ॥

भाषार्थः—[ग्रामे] ग्राम शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि पूर्वपद [अनिवसन्तः] अनिवसन्तवाची=निवास करनेवाले को न कहता हो तो ॥ निवसतीति निवसन्तः, यहाँ कर्त्ता में वस धातु से औणादिक झच् प्रत्यय हुआ है। पश्चात् नञ्समास करके 'अनिवसन्तः' बना। पूर्वपदों के अनिवसन्त=निवास करनेवाले न होने से मल्लग्रामः वणिग्ग्रामः में 'ग्राम' शब्द समुदाय का वाचक है, अतः मल्लग्रामः का अर्थ होगा—'मल्लों का समूह'। देवग्रामः का अर्थ है—'देव है स्वामी (=निवासी नहीं) जिसका, ऐसा ग्राम'॥

घोषादिषु च ॥६।२।८५॥

घोषादिषु ७।३॥ च अ०॥ स०—घोष आदिर्येषां ते घोषादयः, तेषु बहुव्रीहिः॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—घोषादिषु चोत्तरपदेषु पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—दाक्षिघोषः, दाक्षिकटः, दाक्षिह्रदः ॥

भाषार्थः—[घोषादिषु] घोषादि शब्दों के उत्तरपद रहते [च] भी पूर्वपद को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में षष्ठीसमास है ॥

छात्र्यादयः शालायाम् ॥६।२।८६॥

छात्र्यादयः १।३॥ शालायाम् ७।१॥ स०—छात्रिः आदिर्येषां ते छात्र्यादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—शालायामुत्तरपदे छात्र्यादयः शब्दा आद्युदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—छात्रिशाला, पैलिशाला[1], भाण्डिशाला, व्याडिशाला, आपिशलिशाला ॥

भाषार्थः—[शालायाम्] शाला शब्द उत्तरपद रहते [छात्र्यादयः] छात्रि आदि शब्दों को आद्युदात्त होता है ॥ छात्रि आदि सभी शब्द अपत्यार्थक इञ्-

---

१. कई ग्रन्थों में 'पेलिशाला' उदाहरण मिलता है, वह अशुद्ध है। इञन्त होने से 'पैलि' पूर्वपद होना चाहिये। पैलि ऋग्वेद प्रवक्ता आचार्य पैल का ही नामान्तर है। काशिका में कहीं-कहीं ऐलिशाला पाठ है ॥

प्रत्ययान्त हैं। 'शाला' शब्द 'पदेषु पदैकदेशान्' नियम से पाठशाला अर्थ का वाचक है। पूर्वपद सभी आचार्यविशेष के वाचक हैं। अतः इनका अर्थ होगा तत्तद् आचार्यों के गुरुकुल ॥[1]

प्रस्थेऽवृद्धमकर्क्यादीनाम् ॥६।२।८७॥

प्रस्थे ७।१॥ अवृद्धम् १।१॥ अकर्क्यादीनाम् ६।३॥ स० —अवृद्धमित्यत्र नञ्तत्पुरुषः। कर्की आदिर्येषां ते कर्क्यादयः, बहुव्रीहिः। न कर्क्यादयोऽकर्क्यादयः, तेषाम् ··· बहुव्रीहिः॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—प्रस्थशब्द उत्तरपदे कर्क्यादिविवर्जितमवृद्धं पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—इन्द्रप्रस्थः, कुण्डप्रस्थः, ह्रदप्रस्थः, सुवर्णप्रस्थः ॥

भाषार्थः—[प्रस्थे] प्रस्थ शब्द उत्तरपद रहते [अकर्क्यादीनाम्] कर्क्यादिगणस्थ तथा [अवृद्धम्] वृद्ध-संज्ञक शब्दों को छोड़कर पूर्वपद को आद्युदात्त होता है॥ 'वृद्ध' से अभिप्राय है—जिनकी वृद्धिर्यस्या० (१।१।७२) आदि से वृद्धसंज्ञा हुई हो—उन शब्दों को छोड़कर, और कर्की आदि गणस्थ शब्दों को छोड़कर पूर्वपद आद्युदात्त होता है॥ अकर्क्यादीनाम् एवं अवृद्धम् में पृथक् विभक्तियाँ वैचित्र्यार्थ हैं॥

यहाँ से 'प्रस्थे' की अनुवृत्ति ६।२।८८ तक जायेगी॥

मालादीनां च ॥६।२।८८॥

मालादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ स०—माला आदिर्येषां ते मालादयः, तेषां······ बहुव्रीहिः॥ अनु०—प्रस्थे, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—प्रस्थ उत्तरपदे मालादीनां पूर्वपदानामादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—मालाप्रस्थः, शालाप्रस्थः ॥

भाषार्थः—प्रस्थ शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद [मालादीनाम्] मालादि शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है॥ माला इत्यादि शब्द वृद्ध-संज्ञक हैं, अतः पूर्वसूत्र से निषेध प्राप्त था, यहाँ विधान कर दिया॥

---

१. छान्दोग्य उपनिषद् (५।११।१) में 'एते महाशाला महाश्रोत्रियाः' पाठ है। इसमें 'महाशाला' का अर्थ—'बड़ी अध्ययनशाला=गुरुकुल हैं जिनके' ही है। आचार्य शंकर ने 'महाशाला' का अर्थ 'बड़ी शाला=गृह हैं जिनके' किया है, वह चिन्त्य है। यहाँ 'महाश्रोत्रिय' विशेषण होने से अन्तेवासियों की संख्या का आधिक्य होना भी स्पष्ट है। इतना ही नहीं, ऋषि लोग साधारण कुटियों में निवास करते थे, न कि बड़े-बड़े भवनों में। इस दृष्टि से भी महाशाला में शाला शब्द गृह का वाचक नहीं है॥

अमहन्नवं नगरेऽनुदीचाम् ॥६।२।८९॥

अमहन्नवम् १।१॥ नगरे ७।१॥ अनुदीचाम् ६।३॥ स०—महत् च नवञ्च महन्नवम्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ न महन्नवम् अमहन्नवम्, नञ्तत्पुरुषः । न उदञ्चः अनुदञ्चः, तेषाम् ...... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—नगरशब्द उत्तरपदे महत् नव इत्येतौ शब्दौ वर्जयित्वा पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति, तच्चेन्नगरम् उदीचां न भवति ॥ उदा०—सुह्मनगरम्, पुण्ड्रनगरम् ॥

भाषार्थः—[नगरे] नगर शब्द उत्तरपद रहते [अमहन्नवम्] महत् तथा नव शब्द को छोड़कर पूर्वपद को आद्युदात्त होता है, यदि वह नगर [अनुदीचाम्] उदीच्य प्रदेश का न हो ॥ उदाहरणों में षष्ठीसमास है ॥

यहाँ से 'अमहन्नवम्' की अनुवृत्ति ६।२।९० तक जायेगी ॥

अर्मे चावर्णं द्व्यच् त्र्यच् ॥६।२।९०॥

अर्मे ७।१॥ च अ०॥ अवर्णम् १।१॥ द्व्यच् १।१॥ त्र्यच् १।१॥ स०—द्वौ अचौ अस्मिन् स द्व्यच्, बहुव्रीहिः । त्रयोऽचो यस्मिन् स त्र्यच्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अमहन्नवम्, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—अर्मशब्द उत्तरपदे द्व्यच् त्र्यच् चावर्णान्तं महन्नववर्जितं पूर्वपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—द्व्यच्—दत्तार्मम्, गुप्तार्मम् । त्र्यच्—कुक्कुटार्मम्, वायसार्मम् ॥

भाषार्थः—[अर्मे] अर्म शब्द उत्तरपद रहते [च] भी [अवर्णम्] अवर्णान्त जो [द्व्यच् त्र्यच्] दो अचोंवाले तथा तीन अचोंवाले, महत् तथा नव से भिन्न पूर्वपद, उन्हें आद्युदात्त होता है ॥ दत्तार्म आदि किन्हीं नगरों की संज्ञायें हैं ॥ सर्वत्र षष्ठीसमास है ॥

यहाँ से 'अर्मे' की अनुवृत्ति ६।२।९१ तक जायेगी ॥

न भूताधिकसंजीवमद्राश्मकज्जलम् ॥६।२।९१॥

न अ० ॥ भूता...लम् १।१॥ स०—भूतञ्च अधिकञ्च संजीवश्च मद्रश्च अश्म च कज्जलञ्च भूता......लम्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अर्मे, आदिरुदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—भूत, अधिक, संजीव, मद्र, अश्मन्, कज्जल इत्येतानि पूर्वपदानि अर्मशब्द उत्तरपद आद्युदात्तानि न भवन्ति ॥ उदा०—भूतार्मम्, अधिकार्मम्, संजीवार्मम्, मद्रार्मम्, अश्मार्मम्, कज्जलार्मम् ॥

भाषार्थः—[भूता...लम्] भूत, अधिक, संजीव, मद्र, अश्मन्, कज्जल इन पूर्वपदों को अर्म शब्द उत्तरपद रहते आद्युदात्त [न] नहीं होता है ॥ भूत

अधिक आदि शब्द दो अच्वाले तथा तीन अच्वाले हैं। अतः पूर्वसूत्र से पूर्वपदाद्युदात्तत्व प्राप्त था, उसका निषेध कर दिया। पूर्वपदाद्युदात्त का निषेध हो जाने पर समासान्तोदात्तत्व हो गया। सभी उदाहरण नगरविशेषवाची हैं, एवं सर्वत्र षष्ठीसमास है॥

भद्र तथा अश्म का पृथक्-पृथक् एवं समास करके भी ग्रहण है। अतः 'भद्राश्मासमम्' प्रयोग भी बनता है॥

[पूर्वपदान्तोदात्तप्रकरणम्]

अन्तः ॥६।२।९२॥

अन्तः १।१॥ अनु०—उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—अधिकारोऽयम्। इत ऊर्ध्वं यदनुक्रमिष्यामस्तत्र पूर्वपदस्यान्त उदात्तो भवतीति वेदितव्यम्॥ उदा०—वक्ष्यति सर्वं गुणकार्त्स्न्ये (६।२।९३)—सर्वश्वेतः, सर्वकृष्णः॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है। ६।२।१०९ तक इसका अधिकार जायेगा। जहाँ तक यह जायेगा, वहाँ-वहाँ पूर्वपद के [अन्तः] अन्त को उदात्त होता जायेगा॥

सर्वं गुणकार्त्स्न्ये ॥६।२।९३॥

सर्वम् १।१॥ गुणकार्त्स्न्ये ७।१॥ स०—गुणस्य कार्त्स्न्यं गुणकार्त्स्न्यं, तस्मिन् ... षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ अर्थः—गुणकार्त्स्न्ये वर्त्तमानः सर्वशब्दः पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—सर्वश्वेतः, सर्वकृष्णः, सर्वमहान्॥

भाषार्थः—[गुणकार्त्स्न्ये] गुणों की सम्पूर्णता अर्थ में वर्त्तमान पूर्वपद [सर्वम्] सर्व शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ गुण का कार्त्स्न्य अर्थात् गुण का सर्वत्र सम्पूर्णता से होना। उदाहरणों में पूर्वकालैकसर्व० (२।१।४८) से समास हुआ है॥ उदा०—सर्वश्वेतः (=सारा सफेद); सर्वमहान् (=सर्वश्रेष्ठ)॥

संज्ञायां गिरिनिकाययोः ॥६।२।९४॥

संज्ञायाम् ७।१॥ गिरिनिकाययोः ७।२॥ स०—गिरिश्च निकायश्च गिरिनिकायौ, तयोः ...... इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ अर्थः—गिरि निकाय इत्येतयोरुत्तरपदयोः संज्ञायां विषये पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—अञ्जनागिरिः, भञ्जनागिरिः। निकाये—शापिण्डिनिकायः, मौण्डिनिकायः, चिखिल्लिनिकायः॥

भाषार्थः—[गिरिनिकाययोः] गिरि तथा निकाय शब्द उत्तरपद रहते

[संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ अञ्जनागिरिः (= एक पर्वत का नाम) आदि में षष्ठीतत्पुरुष समास है । अञ्जन भञ्जन शब्दों को वनगिर्योः संज्ञायाम्० (६।३।११५) से दीर्घत्व हुआ है । शार्पिण्डि मौण्डि शब्द अत इञ् (४।१।९५) से इञ्प्रत्ययान्त हैं । तथा चिलिल्लि शब्द मत्वर्थीय इनि-प्रत्ययान्त है ॥

कुमार्यां वयसि ॥६।२।९५॥

कुमार्याम् ७।१॥ वयसि ७।१॥ अनु० —अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः— वयसि गम्यमाने कुमार्यामुत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—वृद्धा चासौ कुमारी च=वृद्धकुमारी, जरती चासौ कुमारी च=जरत्कुमारी ॥

भाषार्थः—[वयसि] अवस्था गम्यमान हो, तो [कुमार्याम्] कुमारी शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ विशेषणं विशेष्येण० (२।१।५६) से वृद्धकुमारी (=वृद्ध जो कुमारी) में समास हुआ है । तथा पूर्वकालैक० (२।१। ४८) से जरत्कुमारी में समास हुआ है ॥ पुंवत्कर्मधारय० (६।३।४०) से वृद्धा एवं जरती को पुंवद्भाव हुआ है ॥[1]

उदकेऽकेवले ॥६।२।९६॥

उदके ७।१॥ अकेवले ७।१॥ स०—अके० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०— अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—उदकशब्द उत्तरपदे अकेवलवाचिनि समासे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ अकेवलं मिश्रं द्रव्यान्तरसम्पृक्तमित्यर्थः ॥ उदा०—गुड-मिश्रमुदकं=गुडोदकम्, गुडोदकम् । तिलोदकम्, तिलोदकम् ॥

भाषार्थः—[अकेवले] अकेवलवाची=मिश्रित अर्थ के बोधक समास में [उदके] उदक शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ अकेवल अर्थात् जो केवल नहीं, मिश्रित=मिला हुआ ॥ समानाधिकरणाधिकारे शाकपार्थि०

---

१. 'कुमारी' शब्द में वयसि प्रथमे (४।१।२०) से प्रथम वयः अर्थ में ङीप् प्रत्यय होता है । उसका वृद्धा और जरती (=अन्त्य अवस्थावाचक) शब्दों के साथ सामानाधिकरण्य नहीं हो सकता । इसलिये कुमारी शब्दलक्षणा से 'पुरुष सहभाव को अप्राप्त' अर्थ को कहता है । उस अवस्था में अर्थ होगा—'जिसका पुरुष के साथ सहशय्यात्व नहीं हुआ' ऐसी वृद्धा वा जरती कुमारी । यदि यहां कुमारी शब्द का प्रधान अर्थ स्वीकार करें, तब वृद्धा वा जरती शब्द में लक्षणा मानकर (वृद्धा इव वृद्धा, जरती इव जरती) अर्थ होगा । कुमारी प्रथम वयःवाली होते हुए भी रोगादि के कारण वृद्धा वा जरती के समान प्रतीयमाना अर्थ होगा ॥

(वा० २।१।५९) इस वार्तिक से उदाहरणों में कर्मधारय समास, एवं उत्तरपद मिश्र शब्द का लोप हुआ है। गुड एवं उदक का एकादेश होने से स्वरितो वानुदात्ते पदादौ (८।२।६) से पक्ष में 'ओ' को स्वरितत्व भी होता है ॥

द्विगौ क्रतौ ॥६।२।९७॥

द्विगौ ७।१॥ क्रतौ ७।१॥ अनु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—क्रतुवाचिनि समासे द्विगावुत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—गर्गाणां त्रिरात्रः =गर्गत्रिरात्रः, चरकत्रिरात्रः, कुसुरुविन्दसप्तरात्रः ॥

भाषार्थः—[क्रतौ] क्रतुवाची समास में [द्विगौ] द्विगु उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ सर्वत्र उदाहरणों में षष्ठीसमास है। क्रतु यज्ञ को कहते हैं। सर्वत्र त्रिरात्र सप्तरात्र शब्द द्विगुसंज्ञक परे हैं। तिसृणां रात्रीणां समाहारः त्रिरात्रः, यहाँ पहले तद्धितार्थो० (२।१।५०) से समास, और अहः सर्वैक० (५।४।८७) से समासान्त अच्प्रत्यय होता है। पश्चात् गर्ग शब्द के साथ षष्ठीसमास होगा। इसी प्रकार सप्तरात्रः में जानें ॥ ये क्रतुविशेषों की संज्ञाएं हैं ॥

सभायां नपुंसके ॥६।२।९८॥

सभायाम् ७।१॥ नपुंसके ७।१॥ अनु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—सभाशब्द उत्तरपदे नपुंसकलिङ्गे समासे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—गोपालसभम्, पशुपालसभम्, स्त्रीसभम्, दासीसभम् ॥

भाषार्थः—[नपुंसके] नपुंसकलिङ्गवाले समास में [सभायाम्] सभा शब्द उत्तरपद रहते पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ उदाहरणों में सर्वत्र षष्ठीसमास है। एवं सभाराजा० (२।४।२३) से नपुंसकलिङ्ग होता है ॥

पुरे प्राचाम् ॥६।२।९९॥

पुरे ७।१॥ प्राचाम् ६।३॥ अनु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—पुर-शब्द उत्तरपदे प्राचां देशे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—ललाटपुरम्, काञ्चीपुरम्, शिवदत्तपुरम्, कार्णिपुरम्, नार्मपुरम् ॥

भाषार्थः—[पुरे] पुर शब्द उत्तरपद रहते [प्राचाम्] प्राच्य भारत के देशों को कहने में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ सर्वत्र उदाहरणों में षष्ठीसमास है। एवं सभी प्राच्य भारत के भिन्न-भिन्न ग्रामों के वाचक शब्द हैं। प्रयाग से पूर्व के देश प्राग्देश कहे जाते हैं ॥

यहाँ से 'पुरे' की अनुवृत्ति ६।२।१०१ तक जायेगी ॥

अरिष्टगौडपूर्वे च ॥६।२।१००॥

अरिष्टगौडपूर्वे ७।१॥ च अ०॥ स०—अरिष्टं च गौडश्च अरिष्टगौडौ, तौ पूर्वौ यस्मिन् स अरिष्टगौडपूर्वः, तस्मिन्; द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—पुरे, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—अरिष्ट गौड इत्येवं पूर्वे समासे पुरशब्द उत्तरपदे पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अरिष्टपुरम्, अरिष्टं श्रितोऽरिष्टश्रितः, तस्य पुरम्=अरिष्टश्रितपुरम्; गौडपुरम्, गौडानां भृत्याः गौडभृत्याः, तेषां पुरं=गौडभृत्यपुरम् ॥

भाषार्थः—[अरिष्टगौडपूर्वे] अरिष्ट तथा गौड शब्द पूर्व हैं जिस समास में, उसके पूर्वपद को [च] भी पुर शब्द उत्तरपद रहते अन्तोदात्त होता है ॥ प्राग्देश-वाची न होने से पूर्वसूत्र से प्राप्त नहीं था, सो कह दिया ॥

न हास्तिनफलकमार्देयाः ॥६।२।१०१॥

न अ० ॥ हास्ति॰॰॰र्देयाः १।३॥ स०—हास्तिन० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पुरे, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—हास्तिन, फलक, मार्देय इत्येतानि पूर्वपदानि पुरशब्द उत्तरपदे नान्तोदात्तानि भवन्ति ॥ 'पुरे प्राचाम्' (६।२।९९) इति प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—हास्तिनपुरम्, फलकपुरम्, मार्देयपुरम् ॥

भाषार्थः—[हास्ति॰॰॰र्देयाः] हास्तिन फलक तथा मार्देय इन पूर्वपद शब्दों को पुर शब्द उत्तरपद रहते अन्तोदात्त [न] नहीं होता ॥ 'पुरे प्राचाम्' (६।२।९९) से प्राग्देश होने से प्राप्ति थी, सो प्रतिषेध कर दिया। सभी सूत्रों के समासस्य का अपवाद होने से पूर्वपदान्तोदात्तत्व का निषेध प्रकृत सूत्र से हो जाने पर समास अन्तोदात्तत्व ही होता है ॥ हस्तिनो राज्ञोऽपत्यानि हास्तिनाः इत्यण्; मृदोरपत्यानि मार्देयाः, यहाँ शुभ्रादिभ्यश्च (४।१।१२३) से ढक् प्रत्यय हुआ है ॥ पश्चात् 'पुर' के साथ षष्ठीसमास हुआ ॥

हास्तिनपुर से हस्तिनापुर पृथक् है। हास्तिनपुर प्राग्देशीय है, और हस्तिनापुर मध्यदेशीय गंगा तट पर है ॥

कुसूलकूपकुम्भशालं बिले ॥६।२।१०२॥

कुसूलकूपकुम्भशालम् १।१॥ बिले ७।१॥ स०—कुसूल० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—कुसूल, कूप, कुम्भ, शाला इत्येतानि पूर्वपदानि बिलशब्द उत्तरपदे अन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—कुसूलबिलम्। कूपबिलम्। कुम्भबिलम्। शालाबिलम् ॥

भाषार्थः—[बिले] बिल शब्द उत्तरपद रहते [कुसूल॰॰॰लम्] कुसूल, कूप, कुम्भ, शाला इन पूर्वपद स्थित शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥

उदा०—कुसूलबिलम् (=कुठले का मुँह)। कूपबिलम् (=कुएँ का मुँह)। कुम्भबिलम् (=घड़े का मुँह)। शालाबिलम् (=मकान का द्वार)। सर्वत्र षष्ठीसमास हैं ॥

दिक्शब्दा ग्रामजनपदाख्यानचानराटेषु ॥६।२।१०३॥

दिक्शब्दाः १।३॥ ग्राम······टेषु ७।३॥ स०—दिशि दृष्टाः शब्दाः दिक्शब्दाः, उत्तरपदलोपी सप्तमीतत्पुरुषः। ग्राम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम्॥ अर्थः—ग्रामजनपदाख्यानवाचिषूत्तरपदेषु चानराटशब्दे चोत्तरपदे दिक्शब्दाः पूर्वपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति॥ उदा०—ग्राम—पूर्वेषुकामशमी, अपरेषुकामशमी, पूर्वकृष्णमृत्तिका, अपरकृष्णमृत्तिका। जनपद—पूर्वपञ्चालाः, अपरपञ्चालाः। आख्यान—पूर्वाधिरामम्, पूर्वयायातम्, अपरयायातम्। चानराट—पूर्वचानराटम्, अपरचानराटम्॥

भाषार्थः—[ग्राम······टेषु] ग्राम जनपद तथा आख्यानवाची शब्दों के उत्तरपद रहते, तथा चानराट शब्द के उत्तरपद रहते [दिक्शब्दाः] दिशावाची पूर्वपद शब्दों को अन्तोदात्त होता है॥ पूर्वेषुकामशमी अपरेषुकामशमी (=किसी ग्राम का नाम) में दिक्संख्ये० (२।१।४९) से समास हुआ है, सिद्धि वहीं देखें। एवम् पूर्वकृष्णमृत्तिका अपरकृष्णमृत्तिका (=ये भी देश के नाम हैं), यहाँ भी दिक्संख्ये० (२।१।४९)[1] से समास हुआ है। पूर्वपञ्चालाः आदि में भी दिक्संख्ये० से समास हुआ है॥ पूर्वाधिरामम् (=राम को अधिकृत करके लिखा गया ग्रन्थ अधिराम, उसका पूर्व भाग)। अधिराम आदि शब्द आख्यानवाची (=कथावाची) हैं। चानराट शब्द का स्वरूप से ग्रहण है, शेष के तद्वाची शब्द लिये गये हैं॥

यहाँ से 'दिक्शब्दाः' की अनुवृत्ति ६।२।१०५ तक जायेगी॥

आचार्योपसर्जनश्चान्तेवासिनि ॥६।२।१०४॥

आचार्योपसर्जनः १।१॥ सुपां स्थाने सुर्भवतीति (७।१।३९) सप्तम्येकवचनस्य स्थाने प्रथमैकवचनम्॥ च अ०॥ अन्तेवासिनि ७।१॥ स०—आचार्य उपसर्जनं (=अप्रधानं) यस्य (=अन्तेवासिनः) स आचार्योपसर्जनः, बहुव्रीहिः॥

---

१. यद्यपि पूर्वकृष्णमृत्तिका अपरकृष्णमृत्तिका पूर्वपञ्चालाः अपरपञ्चालाः में 'पूर्वापराधरो०' (२।२।१) से भी समास हो सकता है, तथापि यहां पूर्वेषुकामशमी इत्यादि के समान देश की संज्ञा होने और एकदेशमात्र अर्थ अभिप्रेत न होने से दिक्संख्ये संज्ञायाम् (२।१।४९) से ही समास करना चाहिये॥

अनु०—दिक्शब्दाः, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—आचार्योपसर्जनान्तेवासिवाचिन्युत्तरपदे दिक्शब्दाः पूर्वपदानि अन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—पूर्वपाणिनीयाः, अपरपाणिनीयाः; पूर्वकाशकृत्स्नाः, अपरकाशकृत्स्नाः ॥

भाषार्थः—[आचार्योपर्जनः] आचार्य है उपसर्जन=अप्रधान जिसका, ऐसा जो [अन्तेवासिनि] अन्तेवासी, उसको कहनेवाले शब्द के परे रहते [च] भी दिशा अर्थ में प्रयुक्त होनेवाले पूर्वपद शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥ सुपां सुलुक्० (७।१।३९) सूत्र से सुपों के स्थान में भिन्न सुपों का आदेश होता है। अतः उस सूत्र से 'आचार्योपसर्जनः' में सप्तमी एकवचन के स्थान में 'प्रथमा एकवचन' का आदेश हो गया है ॥ पाणिनेश्छात्राः पाणिनीयाः, पूर्वे च ते पाणिनीयाश्च पूर्वपाणिनीयाः (=पाणिनि के पूर्व छात्र), यहाँ पाणिनीय शब्द से पाणिनि के अन्तेवासी प्रधानरूप से कहे जा रहे हैं, पाणिनि आचार्य तो तद्विशेषण है, अतः उपसर्जन है। इसी प्रकार काशकृत्स्नस्येमे छात्राः काशकृत्स्नाः (४।१।८३),पूर्वे च ते काशकृत्स्नाश्च पूर्वकाशकृत्स्नाः यहाँ भी जानें॥पूर्वापर० (२।१।५७)से सर्वत्र समास हुआ जानें ॥ पाणिनि आचार्य ने अपने जीवनकाल में जितने छात्र पढ़ाये,उनमें एक देश जिन्हें पूर्वकाल में पढ़ाया वे पूर्वपाणिनीयाः,और जिन्हें अपरकाल में पढ़ाया वे अपरपाणिनीयाः कहाए। पूर्वसूत्र में दिशि दृष्टाः शब्दाः अर्थ करने से यहाँ पूर्वादिकाल में प्रयुक्त शब्दों को भी कार्य हो जाता है ॥

उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च ॥६।२।१०५॥

उत्तरपदवृद्धौ ॥७।१॥ सर्वम् १।१॥ च अ० ॥ स०—उत्तरपदस्येत्यधिकृत्य या विहिता वृद्धिः सा उत्तरपदवृद्धिः, तस्यां ...... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—दिक्शब्दाः, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—उत्तरपदाधिकारविहिता या वृद्धिः तद्वति शब्द उत्तरपदे सर्वशब्दो दिक्शब्दाश्च पूर्वपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—सर्व—सर्वपाञ्चालकः। दिक्शब्दाः—पूर्वपाञ्चालकः, उत्तरपाञ्चालकः ॥

भाषार्थः—[उत्तरपदवृद्धौ] उत्तरपदस्य (७।३।१०) सूत्र के अधिकार में कही हुई जो वृद्धि, उस वृद्धि किये हुए शब्द के परे रहते [सर्वम] सर्व शब्द [च] तथा दिक्शब्द पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ सूत्रस्थित 'उत्तरपद' शब्द में स्वरित का चिह्न होने से 'उत्तरपदस्य अधिकार में कही हुई वृद्धि' ऐसा अर्थ ले लिया गया है। सर्वपाञ्चालकः के उत्तरपद पाञ्चालक में सुसर्वार्ध० (७।३।१२) से वृद्धि हुई है। अन्य उदाहरणों में दिशोऽमद्राणाम् (७।३।१३) से उत्तरपद को वृद्धि हुई है। ये दोनों सूत्र उत्तरपदस्य (७।३।१०) के अधिकार में कहे हुए हैं। अतः उत्तरपद वृद्धि किये हुए=तद्वान् शब्द परे होने से प्रकृत सूत्र से पूर्वपद

अन्तोदात्त हो गया । सर्वपाञ्चालकः में विशेषणं विशेष्येण० (२।१।५७), तथा अन्य उदाहरणों में तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च (२।१।५०) से भवादि अर्थ में समास, और अवृद्धादपि बहुवचन० (४।१।१२४) से तदन्तविधि से वुञ् प्रत्यय हुआ है ॥

बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम् ॥६।२।१०६॥

बहुव्रीहौ ७।१॥ विश्वम् १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे संज्ञायाम् विषये विश्वशब्दः पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—विश्वदेवः, विश्वयशाः, विश्वमहान्; विश्वकर्मा विश्वदेवः (ऋ० ८।९८।२) ॥

भाषार्थः—[बहुव्रीहौ] बहुव्रीहि समास में [संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में पूर्वपद [विश्वम्] विश्व शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर की प्राप्ति थी, इससे पूर्वपद को अन्तोदात्त कह दिया । ये सब किसी की संज्ञायें हैं ॥

यहाँ से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति ६।२।११९ तक, तथा 'संज्ञायाम्' की ६।२।१०८ तक जायेगी ॥

उदराश्वेषुषु ॥६।२।१०७॥

उदराश्वेषुषु ७।३॥ स०—उदरा[1]० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—बहुव्रीहौ संज्ञायाम्, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—उदर, अश्व, इषु इत्येतेषूत्तरपदेषु बहुव्रीहौ समासे संज्ञायाम् विषये पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—वृकोदरः, दामोदरः, हर्यश्वः, यौवनाश्वः, सुवर्णपुंखेषुः, महेषुः ॥

भाषार्थः—[उदराश्वेषुषु] उदर, अश्व, इषु-इनके उत्तरपद रहते बहुव्रीहि समास में संज्ञा-विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है ॥ पूर्ववत् यह सूत्र भी प्रकृति-स्वर का अपवाद है ॥ उदा०—वृकोदरः (=भेड़िये के समान पेट है जिसका, यह पाण्डव भीमसेन की संज्ञा है), हर्यश्वः (=हरणशील शीघ्रगामी अश्व हैं जिसके, यह इन्द्र की संज्ञा है), सुवर्णपुंखेषुः (=सुवर्णमय पुंख=परवाले बाण हैं जिसके), महेषुः (=महान् हैं इषु जिसके) ॥ हर्यश्वः में 'य' को उदात्तस्वरितयो० (८।२।४) से स्वरित हुआ है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।२।१०८ तक जायेगी ॥

क्षेपे ॥६।२।१०८॥

क्षेपे ७।१॥ अनु०—उदराश्वेषुषु, बहुव्रीहौ संज्ञायाम्, अन्तः, उदात्तः, पूर्व-

१. महाभाष्य में उदराश्वेषुषु क्षेपे दोनों सूत्र एक साथ पढ़े हैं, इसे देखकर

पदम् ॥ अर्थः—क्षेपे गम्यमाने उदर अश्व इषु इत्येतेषूत्तरपदेषु बहुव्रीहौ समासे संज्ञायां विषये पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—कुण्डोदरः, घटोदरः । कटुकाश्वः, स्यन्दिताश्वः । अनिघातेषुः, चलाचलेषुः ॥

भाषार्थः—[क्षेपे] क्षेप=निन्दा गम्यमान होने पर उदर अश्व इषु उत्तर-पद रहते बहुव्रीहि समास में संज्ञा-विषय में पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है। उदा०—कुण्डोदरः (=कुण्ड के समान है पेट जिसका), कटुकाश्वः (=चपल है अश्व जिसका), स्यन्दिताश्वः (=स्यन्दनशील=चौड़ा धीमी गति से चलनेवाला अश्व है जिसका), अनिघातेषुः (=जिसका बाण मारनेवाला न हो), चलाचलेषुः (=जिसका बाण अस्थिर हो, अर्थात् निशाना ठीक न हो ॥

नदी बन्धुनि ॥६।२।१०९॥

नदी १।१॥ बन्धुनि ७।१॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे बन्धुन्युत्तरपदे नद्यन्तं पूर्वपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—गार्गीबन्धुः, वात्सीबन्धुः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [बन्धुनि] बन्धु शब्द उत्तरपद रहते [नदी] नद्यन्त पूर्वपद को अन्तोदात्त होता है। गार्गी वात्सी शब्द यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।४) से नदीसंज्ञक हैं ॥ उदा०—गार्गीबन्धुः (=गार्गी है बन्धु जिसकी)। जो गार्गी जैसी महाविदुषी ऋषिका के बन्धुत्वमात्र से अपना श्रेष्ठत्व व्यक्त करना चाहता है, वह गार्गीबन्धुः कहा जायेगा ॥

निष्ठोपसर्गपूर्वमन्यतरस्याम् ॥६।२।११०॥

निष्ठा १।१॥ उपसर्गपूर्वम् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—उपसर्गः पूर्वो यस्य (पूर्वपदस्य) तत् उपसर्गपूर्वम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उदात्तः, पूर्वपदम् ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे निष्ठान्तमुपसर्गपूर्वं पूर्वपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—प्रधौतमुखः, प्रधौतमुखः । प्रक्षालितमुखः, प्रक्षालितमुखः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [उपसर्गपूर्वम्] उपसर्ग पूर्ववाले [निष्ठा] निष्ठान्त पूर्वपद को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से अन्तोदात्त होता है ॥ मुख शब्द यदि यहाँ स्वाङ्गवाची लिया जाये, तो पक्ष में प्रधौतमुखः आदि निष्ठोपमा० (६।२।

ऐसा नहीं समझना चाहिये कि इनको यहाँ पृथक् क्यों पढ़ा। क्योंकि भाष्य में इनके सहनिर्देश का तात्पर्य केवल 'क्षेपे' में उदराश्वेषुषु की अनुवृत्ति प्रदर्शन करना है। भाष्यकार ने इनका योग-विभाग करके अपना मत कहीं नहीं रखा है। व्याख्या की दृष्टि से ये सूत्र पृथक् ही होने चाहियें ॥

१६६) से अन्तोदात्त होंगे। यदि अस्वाङ्गवाची ग्रहण हो, तो गतिरनन्तरः (६।२। ४६) से उपरिनिर्दिष्ट पूर्वपद प्रकृतिस्वर होगा ॥

[उत्तरपदाद्युदात्त-प्रकरणम्]

उत्तरपदादिः ॥६।२।१११॥

उत्तरपदादिः १।१॥ स०—उत्तरपदस्यादिः उत्तरपदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—उदात्तः ॥ अर्थः—अधिकारोऽयम् । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्रोत्तरपदस्यादिरुदात्तो भवतीति वेदितव्यम् ॥ उदा०—वक्ष्यति कर्णो वर्णलक्षणात् (६।२।११२)—शुक्लकर्णः, कृष्णकर्णः ॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है। यह जहाँ तक जायेगा, वहाँ तक [उत्तरपदादिः] उत्तरपद के आदि को उदात्त होता जायेगा ॥

यहाँ से 'उत्तरपद' की अनुवृत्ति ६।२।१९९ तक, तथा 'आदिः' की ६।२।१४२ तक जायेगी ।

कर्णो वर्णलक्षणात् ॥६।२।११२॥

कर्णः १।१॥ वर्णलक्षणात् ५।१॥ स०—वर्ण० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः॥ अनु०—उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—वर्णवाचिनो लक्षणवाचिनश्च परः कर्णशब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति, बहुव्रीहौ समासे॥उदा०—शुक्लकर्णः, कृष्णकर्णः । लक्षणात्—दात्राकर्णः, शङ्कूकर्णः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [वर्णलक्षणात्] वर्णवाची तथा लक्षणवाची से परे उत्तरपद [कर्णः] कर्ण शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् ६।२।१ से पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, तदपवाद है । कर्णे लक्षणस्या० (६।३।११३) से 'दात्रो शङ्कू' में दीर्घ होता है ॥ उदा०—शुक्लकर्णः (=सफेद है कान जिसके), कृष्णकर्णः । दात्राकर्णः (=दराँती से चिह्नित कानवाला कोई पशु), शङ्कूकर्णः ॥

यहाँ से 'कर्णः' की अनुवृत्ति ६।२।११३ तक जायेगी ॥

संज्ञौपम्ययोश्च ॥६।२।११३॥

संज्ञौपम्ययोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—संज्ञौ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—कर्णः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ उपमाया भावः औपम्यम् ॥ अर्थः—संज्ञायाम् औपम्ये च यो बहुव्रीहिस्तत्र कर्णशब्द उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—संज्ञायाम्—कुञ्चिकर्णः, मणिकर्णः । औपम्ये—गोकर्णौ इव कर्णौ यस्य=गोकर्णः, खरकर्णः ॥

भाषार्थः—[संज्ञौपम्ययोः] संज्ञा तथा उपमा-विषय में वर्त्तमान जो बहुव्रीहि, वहाँ [च] भी उत्तरपद कर्ण शब्द को आद्युदात्त होता है ।। उदाहरणों में सप्तम्युपमानपूर्वपदस्योत्तरपदलोपश्च० (वा० २।२।२४) से समास और कर्ण शब्द का लोप होता है ।।

यहाँ से 'संज्ञौपम्ययोः' की अनुवृत्ति ६।२।११५ तक जायेगी ।।

कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घं च ।।६।२।११४।।

कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घम् १।१।। च अ० ।। स०—कण्ठ० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ।। अनु०—संज्ञौपम्ययोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ।। अर्थः—संज्ञौपम्ययोर्यो बहुव्रीहिर्वर्त्तते, तत्र कण्ठ, पृष्ठ, ग्रीवा, जङ्घा इत्येतानि उत्तरपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति ।। उदा०—कण्ठः संज्ञायाम्—शितिकण्ठः, नीलकण्ठः । औपम्ये—खरकण्ठ इव कण्ठो यस्य स खरकण्ठः, उष्ट्रकण्ठः । पृष्ठः संज्ञायाम्—काण्डपृष्ठः, नाकपृष्ठः । औपम्ये—गोपृष्ठः, अजपृष्ठः । ग्रीवा संज्ञायाम्—सुग्रीवः, नीलग्रीवः, दशग्रीवः । औपम्ये—गोग्रीवः, अश्वग्रीवः । जङ्घा संज्ञायाम्—नाडीजङ्घः, तालजङ्घः । औपम्ये—गोजङ्घः, अश्वजङ्घः, एणीजङ्घः ।।

भाषार्थः—संज्ञा तथा औपम्य विषय में वर्त्तमान बहुव्रीहि समास में [कण्ठपृष्ठग्रीवाजङ्घम्] कण्ठ, पृष्ठ, ग्रीवा, जङ्घा इन उत्तरपद शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है ।। पूर्ववत् यहाँ भी पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, तदपवाद है ।।

शृङ्गमवस्थायां च ।।६।२।११५।।

शृङ्गम् १।१।। अवस्थायाम् ७।१।। च अ० ।। अनु०—संज्ञौपम्ययोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ।। अर्थः—अवस्थायां संज्ञौपम्ययोश्च बहुव्रीहौ समासे शृङ्गशब्दः उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ।। उदा०—उद्गते शृङ्गे यस्य स उद्गतशृङ्गः । द्वे अंगुली प्रमाणमनयोः ते द्व्यङ्गुले,द्व्यङ्गुले शृङ्गे यस्य स द्व्यङ्गुलशृङ्गः, त्र्यङ्गुलशृङ्गः । संज्ञायाम्—ऋष्यशृङ्गः । औपम्ये—गोशृङ्गः, मेषशृङ्गः ।।

भाषार्थः—[अवस्थायाम्] अवस्था गम्यमान होने पर [च] तथा संज्ञा एवं उपमा-विषय में बहुव्रीहि समास में उत्तरपद [शृङ्गम्] शृङ्ग शब्द को आद्युदात्त होता है ।। दो अङ्गुल तथा तीन अङ्गुल एवं उद्गत सींग देखकर बछड़े आदि की अवस्था की प्रतीति होती है । द्व्यङ्गुलम् यहाँ प्रमाणे द्वयसज्० (५।२।३७) से उत्पन्न मात्रच् प्रत्यय का प्रमाणे लो० (वा० ५।२।३७) से लुक् होता है । तत्पुरुषस्याङ्गुलेः० (५।४।८६) से समासान्त अच् प्रत्यय होता है । एवं तद्धितार्थोत्तर० (२।१।५०) से तद्धितार्थ में समास होता है ।।

नञो जरमरमित्रमृताः ॥६।२।११६॥

नञः ५।१॥ जरमरमित्रमृताः १।३॥ स०—जरमर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—नञः पराणि जर मर मित्र मृत इत्येतानि उत्तरपदानि बहुव्रीहौ समासे आद्युदात्तानि भवन्ति॥ उदा०—न विद्यते जरः यस्य स अजरः, अमरः, अमित्रः, अमृतः ॥

भाषार्थः—[नञः] नञ् से उत्तर [जरमरमित्रमृताः] जर, मर, मित्र, मृत इन उत्तरपद शब्दों को बहुव्रीहि समास में आद्युदात्त होता है ॥ यह सूत्र नञ्सुभ्याम् (६।२।१७१) का अपवाद है ॥

सोर्मनसी अलोमोषसी ।६।२।११७॥

सोः ५।१॥ मनसी १।२॥ अलोमोषसी १।२॥ स०—मन्[1] च अस्च मनसी, इतरेतरद्वन्द्वः । लोम च उषश्च लोमोषसी[2], न लोमोषसी अलोमोषसी, द्वन्द्वगर्भनञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—सोरुत्तरं मन्नन्तम् असन्तं चोत्तरपदं बहुव्रीहौ समासे आद्युदात्तं भवति, लोमोषसी वर्जयित्वा ॥ उदा०—मन्नन्तम्—सुकर्म्मा, सुधर्म्मा, सुप्रथिमा; सुकर्माणः सुरुचः (ऋ० ४।२।१७); बक्षवनिमानः सुवर्ह्मा (ऋ० ८।२२।७) । असन्तम्—सुपयाः, सुयशाः, सुस्रोताः; शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः (ऋ० १०।८५।४४) ॥

भाषार्थः—[सोः] सु से उत्तर [मनसी] मन् अन्तवाले तथा अस् अन्त-वाले उत्तरपद शब्दों को बहुव्रीहि समास में आद्युदात्त होता है; [अलोमोषसी] लोमन् तथा उषस् शब्दों को छोड़कर ॥ लोमन् मन्नन्त एवं उषस् असन्त है । अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ पूर्ववत् नञ्सुभ्याम् (६।२।१७१) का अपवाद है ॥

यहाँ से 'सोः' की अनुवृत्ति ६।२।१२० तक जायेगी ॥

क्रत्वादयश्च ॥६।२।११८॥

क्रत्वादयः १।३॥ च अ० ॥ स०—क्रतुः आदिर्येषां ते क्रत्वादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—सोरुत्तरे क्रत्वादयः बहुव्रीहौ समासे आद्युदात्ताः भवन्ति ॥ उदा०—सुक्रतुः, सुदृशीकः ॥

भाषार्थः—'सु' से उत्तर [क्रत्वादयः] क्रत्वादि शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है ॥ यह भी नञ्सुभ्याम् (६।२।१७१) का अपवाद है ॥

---

१. स्वरूपनिर्देशार्थमविभक्त्यन्तं प्रयुक्तम्, अन्यथा मा च आश्चेति निर्देशे स्वरूप-ज्ञानं न स्यात् । २. प्रातिपदिकापेक्षं नपुंसकत्वम् ।

आद्युदात्तं द्वयच्छन्दसि ॥६।२।११९॥

आद्युदात्तम् १।१॥ द्वयच् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ स०—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्वयच्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे सोरुत्तरं यदाद्युदात्तं द्वयच् उत्तरपदं तदाद्युदात्तमेव भवति, छन्दसि विषये ॥ उदा०—स्वश्वास्त्वा सुरथा मर्जयेम (ऋ० ४।४।८) ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में सु से उत्तर जो [द्वयच्] दो अच्वाला [आद्युदात्तम्] आद्युदात्त शब्द, उसे [छन्दसि] वेद विषय में आद्युदात्त ही होता है ॥ नञ्सुभ्याम् (६।२।१७१) से उत्तरपद को अन्तोदात्त प्राप्त था, प्रकृत सूत्र में आद्युदात्त को आद्युदात्त ही हो गया। उदाहरण में अश्व तथा रथ शब्द उणादि से नित्प्रत्ययान्त व्युत्पादित हैं, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त थे ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ६।२।१२० तक जायेगी ॥

वीरवीर्यौ च ॥६।२।१२०॥

वीरवीर्यौ १।२॥ च अ० ॥ स०—वीर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, सोः, उत्तरपदादिः, बहुव्रीहौ, उदात्तः ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे सोरुत्तरौ वीर वीर्य इत्येतौ च शब्दौ छन्दसि-विषय आद्युदात्तौ भवतः ॥ उदा०—सुवीरेण ते । सुवीर्यस्य पतयः स्याम (ऋ० ४।५१।१०) ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में सु से उत्तर [वीरवीर्यौ] वीर तथा वीर्य शब्दों को [च] भी वेदविषय में आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् नञ्सुभ्याम् (६।२।१७१) का अपवाद जानें ॥

कूलतीरतूलमूलशालाक्षसममव्ययीभावे ॥६।२।१२१॥

कूल ···समम् १।१॥ अव्ययीभावे ७।१॥ स०—कूलञ्च तीरश्च तूलश्च मूलश्च शाला च अक्षञ्च समञ्च कूल ··· समम्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः—कूल, तीर, तूल, मूल, शाला, अक्ष, सम इत्येतान्युत्तरपदान्यव्ययीभावसमासे आद्युदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—परिकूलम्, उपकूलम् । परितीरम्, उपतीरम् । परितूलम्, उपतूलम् । परिमूलम्, उपमूलम् । परिशालम्, उपशालम् । उपाक्षम्, पर्यक्षम् । सुषमम्, विषमम्, निःषमम्, दुःषमम् ।

भाषार्थः—[कूल ··· समम्] कूल, तीर, तूल, मूल, शाला, अक्ष, सम, इन उत्तरपद शब्दों को [अव्ययीभावे] अव्ययीभाव समास में आद्युदात्त होता है ॥ सुषमम् इत्यादि शब्द तिष्ठद्गुगण में पठित हैं, अतः तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च (२।१।१६) से समास होता है । सुविनिर्दुर्भ्यः० (८।३।८८) से षत्व होगा। कूलस्य

समीपम्, उपकूलम् इत्यादि में अव्ययं विभक्ति० (२।१।६) से अव्ययीभाव समास हुआ है। परिकूलम् इत्यादि में परि शब्द अपपरी वर्जने (१।४।८७) से कर्मप्रवचनीयसंज्ञक है। अतः पञ्चम्यपाङ्० (२।३।१०) से कूल शब्द में पञ्चमी होगी, एवं अपपरिबहि०(२।१।११) से अव्ययीभाव समास होगा। ततः अन्तर्वर्तिनी विभक्ति का लुक् हो ही जायेगा ॥

कंसमन्थशूर्पपाय्यकाण्डं द्विगौ ॥६।२।१२२॥

कंस···काण्डम् १।१॥ द्विगौ ७।१॥ स०—कंस० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः—कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य, काण्ड इत्येतानि उत्तरपदानि द्विगौ समास आद्युदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—द्विकंसः, त्रिकंसः। द्विमन्थः, त्रिमन्थः। द्विशूर्पः, त्रिशूर्पः। द्विपाय्यः, त्रिपाय्यः। द्विकाण्डः, त्रिकाण्डः ॥

भाषार्थः—[कंस···काण्डम्] कंस, मन्थ, शूर्प, पाय्य, काण्ड इन उत्तरपद शब्दों को [द्विगौ] द्विगु समास में आद्युदात्त होता है ॥

तत्पुरुषे शालायां नपुंसके ॥६।२।१२३॥

तत्पुरुषे ७।१॥ शालायाम् ७।१॥ नपुंसके ७।१॥ अनु०—उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः—नपुंसकलिङ्गे शालाशब्दान्ते तत्पुरुषे समासे उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणशालम्, क्षत्रियशालम् ॥

भाषार्थः—[नपुंसके] नपुंसकलिङ्गवाले [शालायाम्] शालाशब्दान्त [तत्पुरुषे] तत्पुरुष समास में उत्तरपद को आद्युदात्त होता है ॥ विभाषा सेनासुरा० (२।४।२५) से जिस पक्ष में नपुंसकलिङ्गता होगी, उस पक्ष में प्रकृतसूत्र से स्वर होगा। समासस्य के ही सब अपवाद जानें ॥

यहाँ से 'तत्पुरुषे' की अनुवृत्ति ६।२।१३७ तक, तथा 'नपुंसके' की ६।२।१२५ तक जायेगी ॥

कन्था च ॥६।२।१२४॥

कन्था १।१॥ च अ० ॥ अनु०—तत्पुरुषे, नपुंसके, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः—कन्थाशब्दान्ते तत्पुरुषे नपुंसकलिङ्गे उत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—सौशमिकन्थम्, आह्वरकन्थम्, चप्पकन्थम् ॥

भाषार्थः—नपुंसकलिङ्ग [कन्था] कन्थान्त तत्पुरुष समास में [च] भी

उत्तरपद को आद्युदात्त होता है ॥ संज्ञायां कन्थोशी० (२।४।२०) से उदाहरणों में नपुंसकलिङ्गता हुई है ॥

यहाँ से 'कन्था' की अनुवृत्ति ६।२।१२५ तक जायेगी ॥

आदिश्चिहणादीनाम् ॥६।२।१२५॥

आदिः १।१॥ चिहणादीनाम् ६।३॥ स०—चिहण आदिर्येषां ते—चिहणादयः, तेषां ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—कन्था, तत्पुरुषे, नपुंसके, उदात्तः ॥ अर्थः—नपुंसकलिङ्गे कन्थान्ते तत्पुरुषे समासे चिहणादीनामादिरुदात्तो भवति ॥ उदा०—चिहणकन्थम्, मडरकन्थम् ॥

भाषार्थः—नपुंसकलिङ्ग कन्थान्त तत्पुरुष समास में [चिहणादीनाम्] चिहणादिगणपठित शब्दों के [आदिः] आदि को उदात्त होता है ॥ पूर्वसूत्र से उत्तरपद को आद्युदात्तत्व प्राप्त था, इस सूत्र ने पूर्वपद को आद्युदात्तत्व कर दिया ॥ आदि की अनुवृत्ति होने पर पुनः आदिग्रहण से पूर्वपद चिहणादि को आद्युदात्त होता है ॥

चेलखेटकटुककाण्डं गर्हायाम् ॥६।२।१२६॥

चेलखेटकटुककाण्डम् १।१॥ गर्हायाम् ७।१॥ स०—चेलञ्च खेटश्च कटुकश्च काण्डश्च, चेल...काण्डम्, समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः—चेल, खेट, कटुक, काण्ड इत्येतान्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तानि भवन्ति, गर्हायां गम्यमानायाम् ॥ उदा०—पुत्रश्चेलमिव—पुत्रचेलम्, भार्याचेलम् । उपानत्खेटम्, नगरखेटम् । दधिकटुकम्, उदश्वित्कटुकम् । भूतकाण्डम्, प्रजाकाण्डम् ॥

भाषार्थः—[चेल...काण्डम्] चेल, खेट, कटुक, काण्ड इन उत्तरपद शब्दों को तत्पुरुष समास में [गर्हायाम्] निन्दा गम्यमान होने पर आद्युदात्त होता है ॥ उपमितं व्याघ्रादिभिः० (२।१।५५) से सर्वत्र उदाहरणों में समास हुआ है ॥ उदा०—पुत्रचेलम् (=कुपुत्र, जो फटे वस्त्र के समान दूर करने योग्य हो) । उपानत्खेटम् (=खराब जूता) । दधिकटुकम् (=कड़वा दही) । भूतकाण्डम् (=कष्टदायक प्रजा) ॥

चीरमुपमानम् ॥६।२।१२७॥

चीरम् १।१॥ उपमानम् १।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः—तत्पुरुषे समासे उपमानवाचि चीरमुत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—वस्त्रं चीरमिव=वस्त्रचीरम्, पटचीरम्, कम्बलचीरम् ॥

भावार्थः — तत्पुरुष समास में [उपमानम्] उपमानवाची [चीरम्] चीर उत्तरपद शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ पूर्ववत् समास जानें ॥ उदा० — वस्त्रचीरम् (= लम्बे आकार में फाड़ी गई पट्टी के समान कम चौड़ा वस्त्र) ॥

पललसूपशाकं मिश्रे ॥६।२।१२५॥

पललसूपशाकम् १।१॥ मिश्रे ७।१॥ स० — पललञ्च सूपश्च शाकञ्च पललसूपशाकम्, समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु० — तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः — मिश्रवाचिनि तत्पुरुषे समासे पलल, सूप, शाक इत्येतान्युत्तरपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति ॥ उदा० — गुडेन मिश्रं पललं = गुडपललम्, घृतपललम् । घृतसूपः, मूलकसूपः । घृतशाकम्, मुद्गशाकम् ॥

भावार्थः — [मिश्रे] मिश्रवाची तत्पुरुष समास में [पललसूपशाकम्] पलल, सूप, शाक इन उत्तरपद शब्दों को आद्युदात्त होता है । भक्ष्येण मिश्रीकरणम् (२।१।३४) से उदाहरणों में समास हुआ है ॥ उदा० — गुडपललम् (= गुड़ मिला हुआ मांस), घृतसूपः (= घी मिली हुई दाल), मूलकसूपः (= मूली मिली हुई दाल) । घृतशाकम् (= घी मिला हुआ शाक), मुद्गशाकम् (= मूंग मिला हुआ शाक) ॥

कूलसूदस्थलकर्षाः संज्ञायाम् ॥६।२।१२६॥

कूलसूदस्थलकर्षाः १।३॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स० — कूलञ्च सूदश्च स्थलञ्च कर्षश्च कूल ... कर्षाः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० — तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः — कूल, सूद, स्थल, कर्ष इत्येतान्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तानि भवन्ति, संज्ञायां विषये ॥ उदा० — दाक्षिकूलम्, माहुकिकूलम् । देवसूदम्, भाजीसूदम् । दाण्डायनस्थली, माहुकिस्थली । दाक्षिकर्षः ॥

भावार्थः — [संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में [कूल ... कर्षाः] कूल, सूद, स्थल, कर्ष इन उत्तरपद शब्दों को तत्पुरुष समास में आद्युदात्त होता है ॥ सभी उदाहरण ग्रामविशेष के नाम हैं । स्थल शब्द में जानपदकुण्ड० (४।१।४२) से ङीष् हुआ है । चारों ओर की भूमि से स्वयंसिद्ध (= अकृत्रिम) उच्च समभूमि 'स्थली' कहाती है ॥

अकर्मधारये राज्यम् ॥६।२।१२७॥

अकर्मधारये ७।१॥ राज्यम् १।१॥ स० — न कर्मधारयः अकर्मधारयः, तस्मिन् ... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु० — तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः —

कर्मधारयवर्जिते तत्पुरुषे समासे राज्यमुत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—ब्राह्मणराज्यम्, क्षत्रियराज्यम् ॥

भाषार्थः—[अकर्मधारये] कर्मधारय-वर्जित तत्पुरुष समास में उत्तरपद [राज्यम्] राज्य शब्द को आद्युदात्त होता है ॥ उदाहरणों में षष्ठीसमास है ॥

यहाँ से 'अकर्मधारये' की अनुवृत्ति ६।२।१३१ तक जायेगी॥

वर्ग्यादयश्च ॥६।२।१३१॥

वर्ग्यादयः १।३॥ च अ०॥ स०—वर्ग्य आदिर्येषां ते वर्ग्यादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अकर्मधारये, तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः—अकर्मधारये तत्पुरुषे समासे वर्ग्यादीन्युत्तरपदान्याद्युदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—वासुदेववर्ग्यः, वासुदेवपक्ष्यः; अर्जुनवर्ग्यः, अर्जुनपक्ष्यः ॥

भाषार्थः—कर्मधारयवर्जित तत्पुरुष समास में [वर्ग्यादयः] वर्ग्यादि उत्तरपद शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है ॥ दिगादिभ्यो० (५।३।५४) से यत्प्रत्यय करके वर्ग्य इत्यादि शब्द सिद्ध होते हैं ॥ उदा०—वासुदेववर्ग्यः (= वासुदेव के वर्ग का), अर्जुनपक्ष्यः (= अर्जुन के पक्ष का) ॥

पुत्रः पुम्भ्यः ॥६।२।१३२॥

पुत्रः १।१॥ पुम्भ्यः ५।३॥ अनु०—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः—पुंशब्देभ्य उत्तरः पुत्रशब्द उत्तरपदं तत्पुरुषे समासे आद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—कौनटिपुत्रः, दामकपुत्रः, माहिषकपुत्रः ॥

भाषार्थः—तत्पुरुष समास में [पुम्भ्यः] पुंल्लिङ्गवाची शब्दों से उत्तर [पुत्रः] पुत्र शब्द उत्तरपद को आद्युदात्त होता है ॥ उदा०—कौनटिपुत्रः (= कौनटि का पुत्र) ॥

यहाँ से 'पुत्रः' की अनुवृत्ति ६।२।१३३ तक जायेगी ॥

नाचार्यराजर्त्विक्संयुक्तज्ञात्याख्येभ्यः ॥६।२।१३३॥

न अ० ॥ आचार्य ··· ख्येभ्यः ५।३॥ स०—आचार्यश्च राजा च ऋत्विक् च संयुक्तश्च ज्ञातिश्च आचार्य ··· ज्ञातयः, एता आख्या येषां ते आचार्य······ख्याः, तेभ्यः······द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—पुत्रः, तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः॥ अर्थः—आचार्य, राजा, ऋत्विक्, संयुक्त, ज्ञाति इत्येतेषां या आख्या तद्वाचिभ्यः परः पुत्रशब्दो नाद्युदात्तो भवति ॥ उदा०—आचार्याख्येभ्यः—आचार्यपुत्रः, उपाध्यायपुत्रः, शाकटायनपुत्रः । राजाख्येभ्यः—राजपुत्रः, ईश्वरपुत्रः, नन्दपुत्रः । ऋत्विगा-

ख्येभ्यः—ऋत्विक्पुत्रः, याजकपुत्रः, होतुःपुत्रः। संयुक्ताख्येभ्यः—सम्बन्धिपुत्रः, श्यालपुत्रः। ज्ञात्याख्येभ्यः—ज्ञातिपुत्रः, भ्रातुष्पुत्रः॥

भाषार्थः—[आचार्य ... ख्येभ्यः] आचार्य, राजन्, ऋत्विक्, संयुक्त तथा ज्ञाति की आख्यावाले शब्दों से उत्तर पुत्र शब्द को तत्पुरुष समास में आद्युदात्त [न] नहीं होता है॥ पूर्वसूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया। अतः समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त ही होता है॥ आख्या ग्रहण तत्पर्याय एवं तद्विशेष-वाचियों के ग्रहणार्थ है। यथा उपाध्यायपुत्रः इस उदाहरण में उपध्याय शब्द आचार्य का पर्यायवाची है। एवं शाकटायनपुत्रः में शाकटायन शब्द आचार्यविशेषवाची है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी समझ लें॥ ऋतो विद्यायोनिसंबन्धे० (६।३।२१) से होतुःपुत्रः भ्रातुष्पुत्रः में षष्ठी का अलुक् हुआ है। कस्कादिषु च (८।३।४८) से भ्रातुष्पुत्रः में षत्व जानें॥ संयुक्त स्त्री के सम्बन्धी 'साला' आदि को कहते हैं; तथा ज्ञाति शब्द माता-पिता सम्बन्धी बन्धु-बान्धवों का वाचक है॥

चूर्णादीन्यप्राणिषष्ठ्याः ॥६।२।१३४॥

चूर्णादीनि १।३॥ अप्राणिषष्ठ्याः ५।१॥ स०—चूर्ण आदिर्येषां तानि चूर्णादीनि, बहुव्रीहिः। न प्राणी अप्राणी, नञ्तत्पुरुषः। अप्राणिनः षष्ठी अप्राणिषष्ठी, तस्याः ... पञ्चमीतत्पुरुषः॥ अनु०—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः॥ अर्थः—अप्राणिवाचिनः षष्ठ्यन्तात् पराणि चूर्णादीन्युत्तरपदानि तत्पुरुषे समास आद्युदात्तानि भवन्ति॥ उदा०—मुद्गस्य चूर्णं=मुद्गचूर्णम्, मसूरचूर्णम्॥

भाषार्थः—[अप्राणिषष्ठ्याः] प्राणिभिन्न षष्ठ्यन्त शब्द से उत्तर तत्पुरुष समास में [चूर्णादीनि] चूर्णादि उत्तरपद शब्दों को आद्युदात्त होता है॥ उदा०—मुद्गचूर्णम् (=मूँग का आटा), मसूरचूर्णम् (=मसूर का आटा)। मुद्ग, मसूर अप्राणिवाची षष्ठ्यन्त शब्द हैं॥

यहाँ से 'अप्राणिषष्ठ्याः' की अनुवृत्ति ६।२।१३५ तक जायेगी॥

षट् च काण्डादीनि ॥६।२।१३५॥

षट् १।३॥ च अ०॥ काण्डादीनि १।३॥ स०—काण्ड आदिर्येषाम् तानि काण्डादीनि, बहुव्रीहिः॥ अनु०—अप्राणिषष्ठ्याः, तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः॥ अर्थः—पूर्वोक्तानि षट् काण्डादीन्युत्तरपदानि अप्राणिवाचिनः षष्ठ्यन्तात् पराण्याद्युदात्तानि भवन्ति॥ उदा०—दर्भकाण्डम्, शरकाण्डम्। दर्भचीरम्, कुशचीरम्। तिलपललम्। मुद्गसूपः। मूलकशाकम्। नदीकूलम्, समुद्रकूलम्॥

भाषार्थः—अप्राणिवाची षष्ठ्यन्त शब्द से उत्तर पूर्वोक्त [षट्] छः [काण्डादीनि] काण्डादि उत्तरपद शब्दों को [च] भी आद्युदात्त होता है॥

चेलखेटकटुककाण्डं० (६।२।१२६) में पढ़े हुये काण्ड शब्द से लेकर कूलसूदस्थल० (६।२।१२९) से कूल शब्द तक काण्ड, चीर, पलल, सूप, शाक, कूल ये ६ शब्द काशकादि से गृहीत हैं ॥ इन शब्दों को पूर्वोक्त सूत्रों से ही अप्राणिवाची षष्ठयन्त से उत्तर भी आद्युदात्त प्राप्त हो था, पुनः कथन इसलिये है कि जहाँ गर्हा में आद्युदात्त कहा है, वहाँ अगर्हा में भी प्रकृत सूत्र से हो जाये। तथा जहाँ उपमानवाची से कहा है, वहाँ अनुपमान में, जहाँ मिश्र एवं संज्ञा विषय में कहा है, वहाँ अमिश्र एवं असंज्ञा में भी हो जाये ॥

कुण्डं वनम् ॥६।२।१३६॥

कुण्डम् १।१॥ वनम् १।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, उत्तरपदादिः, उदात्तः ॥ अर्थः—तत्पुरुषे समासे वनवाचि कुण्डमित्येतदुत्तरपदमाद्युदात्तं भवति ॥ उदा०—दर्भकुण्डम्, शरकुण्डम् ॥

भाषार्थः—[वनम्] वनवाची [कुण्डम्] कुण्ड उत्तरपद शब्द को तत्पुरुष समास में आद्युदात्त होता है ॥ कुण्ड शब्द यहाँ सादृश्य से वन अर्थ में वर्त्तमान है। जिस प्रकार कुण्ड जल इत्यादि का आश्रय स्थान है, उसी प्रकार वन भी किसी का आश्रय है, यही यहाँ सादृश्य है ॥ उदा०—दर्भकुण्डम् (=दर्भ का वन)। शरकुण्डम् (=सरकण्डे का वन) ॥

प्रकृत्या भगालम् ॥६।२।१३७॥

प्रकृत्या ३।१॥ भगालम् १।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, उत्तरपदम्[1] ॥ अर्थः—भगालवाच्युत्तरपदं तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—कुम्भीभगालम्, कुम्भीकपालम्, कुम्भीनदालम् ॥

भाषार्थः—[भगालम्] भगालवाची उत्तरपद को तत्पुरुष समास में [प्रकृत्या] प्रकृतिस्वर होता है ॥ भगालवत्ते द्वयोश्च लघ्वोः गुरुः (फिट् पृ० ४२८) से भगाल कपाल आदि शब्द मध्योदात्त हैं। भगाल से यहाँ तद्वाचियों का भी ग्रहण है ॥ उदा०—कुम्भीभगालम् (=घड़े का आधा टुकड़ा)। इसी प्रकार अन्यों के भी अर्थ जानें ॥

यहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी ॥

शितेर्नित्याबह्वज्बहुव्रीहावभसत् ॥६।२।१३८॥

शितेः ५।१॥ नित्याबह्वच् १।१॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ अभसत् १।१॥ स०—

---

1. क्वचिदेकदेशोऽप्यनुवर्तते, इति नियमेन उत्तरपदमेवानुवर्तते ।

बहवोऽचो यस्मिन् तत् बह्वच्, बहुव्रीहिः । न बह्वच् अबह्वच्, नञ्तत्पुरुषः । नित्यम् अबह्वच्, नित्याबह्वच्, अत्यन्त० (२।१।२९) इत्यनेन द्वितीयातत्पुरुषः । न भसत् अभसत्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—प्रकृत्या, उत्तरपदम् ॥ अर्थः—शितेः परं नित्यं यदबह्वच्कमुत्तरपदं भसच्छब्दवर्जितं तत् प्रकृत्या भवति, बहुव्रीहौ समासे ॥ शितिपादः, शित्यंसः, शित्योष्ठः ॥

भाषार्थः—[शितेः] शिति शब्द से उत्तर [नित्याबह्वच्] नित्य ही जो अबह्वच् उत्तरपद उसको [बहुव्रीहौ] बहुव्रीहि समास में प्रकृतिस्वर होता है, [अभसत्] भसत् शब्द को छोड़कर ॥ भसत् शब्द भी नित्य अबह्वच् है, अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया । पाद शब्द वृषादीनां च (६।१।१९७) से आद्युदात्त है । अंस शब्द अमेः सन् (उणा० ५।२१) से सन्प्रत्ययान्त है । एवं ओष्ठ शब्द उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन् (उणा० २।४) से थन्प्रत्ययान्त है । अतः दोनों ही शब्द नित्स्वर से आद्युदात्त हैं ॥ बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (६।२।१) से बहुव्रीहि समास में पूर्वपद प्रकृतिस्वर प्राप्त था, तदपवाद यहाँ उत्तरपद प्रकृतिस्वर कह दिया ॥

गतिकारकोपपदात् कृत् ॥६।२।१३९॥

गतिकारकोपपदात् ५।१॥ कृत् १।१॥ स०—गतिश्च कारकञ्च उपपदञ्च गतिकारकोपपदम्, तस्मात् ······ समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रकृत्या, तत्पुरुषे, उत्तरपदम् ॥ अर्थः—गतेः कारकाद् उपपदाच्च परं कृदन्तमुत्तरपदं तत्पुरुषे समासे प्रकृतिस्वरं भवति ॥ उदा०—गतेः—प्रकारकः, प्रहारकः, प्रकरणम्, प्रहरणम् । कारकात्—इध्मं प्रव्रश्च्यते येन स इध्मप्रव्रश्चनः, पलाशशातनः, श्मश्रुकल्पनः । उपपदात्—ईषत्करः, दुष्करः, सुकरः ॥

भाषार्थः—[गतिकारकोपपदात्] गति कारक तथा उपपद से उत्तर [कृत्] कृदन्त उत्तरपद को तत्पुरुष समास में प्रकृतिस्वर होता है ॥ सर्वत्र उदाहरणों में कृदन्त 'कारकः' आदि को लिति (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व को उदात्त है । पलाशशातनः में शद्लृ णिजन्त धातु के द् को त् शदेरगतौ तः (७।३।४२) से होता है । णेरनिटि (६।४।५१) से णिच् का लोप हो ही जायेगा । इध्म, पलाश आदि कर्म कारक से उत्तर यहाँ कृदन्त प्रव्रश्चनः आदि है । परन्तु प्रव्रश्चन आदि कृत् के योग में कर्म में षष्ठी होकर "कृद्योगा च षष्ठी समस्यते" (वा० २।२।८) से षष्ठीसमास होता है ॥

उभे वनस्पत्यादिषु युगपत् ॥६।२।१४०॥

उभे १।२॥ वनस्पत्यादिषु ७।३॥ युगपत् १।१॥ स०—वनस्पतिः आदिर्येषां

ते वनस्पत्यादयः, तेषु ······ बहुव्रीहिः ॥ अनु०—प्रकृत्या ॥ अर्थः—वनस्पत्यादिषु समासेषु उभे पूर्वोत्तरपदे युगपत् प्रकृतिस्वरे भवतः ॥ उदा०—वनस्पतिः, बृहतां पतिः=बृहस्पतिः ॥

भाषार्थः—[वनस्पत्यादिषु] वनस्पत्यादि समस्त शब्दों में [उभे] दोनों=
पूर्व तथा उत्तरपद को [युगपत्] एक साथ प्रकृतिस्वर होता है ॥ अनुदात्तं पद०
(६।१।१५२) के कारण एक साथ उदात्तत्व प्राप्त नहीं था, अतः युगपत् कह
दिया ॥ वनस्पति में वन शब्द नब्विषयस्या० (फिट् २६) से आद्युदात्त है, एवं
पति शब्द भी पातेर्डतिः (उणा० ४।५७) से डतिप्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर
से आद्युदात्त है। प्रत्यय के डित होने से पा के आ (टिभाग) का लोप हो ही
जायेगा। पारस्करप्रभृतीनि च० (६।१।१५१) से सुट् का आगम वनस्पति शब्द
में हुआ है। बृहस्पति शब्द में वर्त्तमाने पृषद्बृहन्० (उणा० २।८४) से यद्यपि
अन्तोदात्तत्व निपातन है, तथापि उसे आद्युदात्त निपातन भी कई मानते हैं। तद्
बृहतः करपत्योः० (वा० ६।१।१५१) इस वार्त्तिक से बृहत् के तकार का लोप
और सुट् का आगम होता है ॥

यहाँ से 'उभे युगपत्' की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी ॥

देवताद्वन्द्वे च ॥६।२।१४१॥

देवताद्वन्द्वे ७।१॥ च अ० ॥ स०—देवतानां द्वन्द्वः देवताद्वन्द्वः, तस्मिन् ······ षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—उभे युगपत्, प्रकृत्या ॥ अर्थः—देवतावाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्र युगपदुभे पूर्वोत्तरपदे प्रकृतिस्वरे भवतः ॥ उदा०—इन्द्रासोमौ, इन्द्रावरुणौ, इन्द्राबृहस्पती ॥

भाषार्थः—[देवताद्वन्द्वे] देवतावाची शब्दों का जो द्वन्द्वसमास उसमें [च]
भी एक साथ दोनों अर्थात् पूर्व और उत्तरपद को प्रकृतिस्वर होता है ॥ उदाहरणों
में देवताद्वन्द्वे च (६।३।२४) से आनङ् आदेश होता है। इन्द्र शब्द ऋज्रेन्द्राग्र०
(उणा० २।२८) से रन्प्रत्ययान्त निपातित है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है।
सोम शब्द अर्त्तिस्तुसुहु० (उणा० १।१४०) से मन्प्रत्ययान्त है, अतः यह भी
नित्स्वर से आद्युदात्त है। वरुण शब्द कृवृदारिभ्य उनन् (उणा० ३।५३) से
उनन्प्रत्ययान्त है, अतः यह भी नित्स्वर से आद्युदात्त है। बृहस्पति शब्द की
व्युत्पत्ति ६।२।१४० में की ही है, तदनुसार बृहस्पति में दो उदात्त एवं इन्द्र का एक
उदात्त लेकर इन्द्राबृहस्पती में तीन वर्ण उदात्त हुए ॥

यहाँ से 'देवताद्वन्द्वे' की अनुवृत्ति ६।२।१४२ तक जायेगी ॥

नोत्तरपदेऽनुदात्तादावपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु ॥६।२।१४२॥

न अ० ॥ उत्तरपदे ७।१॥ अनुदात्तादौ ७।१॥ अपृथिवीरुद्रपूषमन्थिषु ७।३॥ स०—अनुदात्त आदौ (=प्रारम्भे) यस्य स अनुदात्तादिः, तस्मिन् ····· बहुव्रीहिः। पृथिवी च रुद्रश्च पूषा च मन्थी च पृथिवी····मन्थिनः, न पृथिवी ····थिनः अपृ- ······थिनः; तेषु ······द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—देवताद्वन्द्वे, उभे युगपत्, प्रकृत्या ॥ अर्थः—अनुदात्तादौ उत्तरपदे पृथिवीरुद्रपूषमन्थिवर्जिते देवताद्वन्द्वे युगपद् उभे प्रकृतिस्वरे न भवतः ॥ उदा०—इन्द्राग्नी; इन्द्रावायू ॥

भाषार्थः—देवतावाची द्वन्द्व समास में [अनुदात्तादौ] अनुदात्तादि [उत्तरपदे] उत्तरपद रहते [अपृ······थिषु] पृथिवी, रुद्र, पूषन्, मन्थी को छोड़कर एक साथ पूर्व तथा उत्तरपद को प्रकृतिस्वर [न] नहीं होता है ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ 'अग्नि' की स्वरसिद्धि भाग १, पृष्ठ ७७५ में देखें। 'वायु' शब्द भी कृवापाजिमि०—(उणा० १।१) से उण्प्रत्ययान्त है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। इस प्रकार अग्नि वायु शब्द अनुदात्त आदिवाले हैं, अतः इनके परे रहते प्रकृतिस्वर नहीं हुआ। देवताद्वन्द्व है ही, अतः प्रकृत सूत्र से निषेध होने पर समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्तत्व ही हुआ ॥

अन्तः ॥६।२।१४३॥

अन्तः १।१॥ अनु०—उत्तरपदस्य[1], उदात्तः ॥ अर्थः—अधिकारोऽयम्। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामस्तत्र समासस्योत्तरपदस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—वक्ष्यति थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् (६।२।१४४)—सुनीथः, अवभृथः ॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है। पाद की समाप्ति पर्यन्त इसका अधिकार जायेगा। अतः सर्वत्र समास के उत्तरपद का [अन्तः] अन्त उदात्त होता है, ऐसा अर्थ होता जायेगा ॥

समासस्य (६।१।२१७) से समास के अन्त को उदात्त प्राप्त ही था, पुनः आगे के सभी सूत्र विभिन्न सूत्रों के अपवादस्वरूप अन्तोदात्तत्व का विधान करते हैं, ऐसा सर्वत्र जानें। कौन किसका अपवाद है, यह यथास्थान दर्शाते जायेंगे ॥

थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् ॥६।२।१४४॥

थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम् ६।३॥ स०—थाथ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—

१. 'उत्तरपदादिः' इस समस्त पद से केवल 'उत्तरपद' की अनुवृत्ति आ रही है। 'उत्तरपदस्य आदिः' ऐसा विग्रह करने पर 'उत्तरपदस्य' षष्ठ्यन्त पद ही बन जाता है, अतः हमने उत्तरपद न रखकर सर्वत्र 'उत्तरपदस्य' ऐसा ही अनुवृत्ति में प्रदर्शित किया है, क्योंकि अविभक्तिक पद का प्रयोग साधु नहीं ॥

अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः। गतिकारकोपपदात्० (६।२।१३८) इत्यतः 'गतिकारकोपपदात्' इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या॥ अर्थः— गतिकारकोपपदात् परेषां थ, अथ, घञ्, क्त, अच्, अप्, इत्र, क इत्येवमन्तानामुत्तरपदानामन्त उदात्तो भवति॥ उदा०—थ— सुनीथः, अवभृथः। अथ—आवसथः, उपवसथः। घञ्—प्रभेदः, काष्ठभेदः, रज्जुभेदः। क्त—दूरादागतः, विशुष्कः, आतपशुष्कः। अच्—प्रक्षयः, प्रजयः। अप्—प्रलवः, प्रसवः। इत्र—प्रलवित्रम्, प्रसवित्रम्। क—गोवृषः, खरीवृषः, प्रवृषः, प्रहृषः॥

भाषार्थः—गति कारक और उपपद से उत्तर [थाथघञ्क्ताजबित्रकाणाम्] थ, अथ, घञ्, क्त, अच्, अप्, इत्र तथा क प्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्त होता है॥

हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उणा० २।२) से सुनीथः शब्द क्थन्-प्रत्ययान्त है। एवं अवभृथः शब्द भी अवे भृञः (उणा० २।३) से क्थन्प्रत्ययान्त है, अतः गतिकार० (६।२।१३८) से उत्तरपदप्रकृतिस्वरत्व (=नित्स्वर से आद्युदात्तत्व) प्राप्त था। आवसथः, उपवसथः, यहाँ उपसर्गे वसेः (उणा० ३।११६) से अथ प्रत्यय हुआ है। यहाँ भी एवं घञन्त काष्ठभेदः आदि में भी पूर्ववत् गतिकार० (६।२।१३८) की प्राप्ति जानें। दूरादागतः, यहाँ स्तोकान्तिक० (२।१।३८) से समास, तथा पञ्चम्याः स्तोका० (६।३।२) से पञ्चमी का अलुक् हुआ है। विशुष्कः, यहाँ निष्ठा के 'त' को शुषः कः (८।२।५१) से क आदेश हुआ है। यहाँ गतिरनन्तरः (६।२।४९) की प्राप्ति थी॥ आतपशुष्कः में सिद्धशुष्कपक्वबन्धैश्च (२।१।४१) से समास मानने पर कृत्स्वर का अपवाद सप्तमी सिद्धशुष्कपक्वबन्धेष्व० (६।२।३२) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था[2]। प्रक्षयः, प्रजयः में क्षय जय शब्द अच्प्रत्ययान्त हैं। जिनको गतिकारकोपपदात्० (६।२।१३८) से प्रकृतिस्वर होकर क्रमशः क्षयो निवासे (६।१।१९५), जयः करणम् (६।१।१९६) से आद्युदात्तत्व प्राप्त था, तदपवाद अन्तोदात्तत्व कह दिया॥ शेष प्रलवः, प्रलवित्रम् इत्यादि में भी गतिकारको० (६।२।१३८) की प्राप्ति थी, तदपवाद कह दिया। प्रलवित्रम् में अर्तिलूधू० (३।२।१८४) से इत्र प्रत्यय, एवं प्रलवः में ऋदोरप् (३।३।५७) से अप् हुआ है॥ गोवृषः, खरीवृषः, यहाँ कप्रकरणे मूलविभुजादि० (वा० ३।२।५) इस वार्त्तिक से क प्रत्यय हुआ है। प्रवृषः, प्रहृषः में इगुपधज्ञा० (३।१।१३५) से क प्रत्यय हुआ है। गतिकारकोपपदात्० से प्रकृतिस्वर होने से वृष शब्द को वृषादीनां च (६।१।१९७) से आद्युदात्तत्व प्राप्त था, तदपवाद कह दिया॥

---

१. यहाँ गतिकारको० (६।२।१३८) से उत्तरपद का प्रकृतिस्वर प्राप्त होकर गतिर० (६।२।४९) से आकार को उदात्तत्व प्राप्त था।

२. अतः यहाँ कर्तृकरणे० (२।१।३१) से समास हुआ है, ऐसा जानें।

यह सूत्र भिन्न-भिन्न प्रयोगों के प्राप्त होने पर जिन-जिन सूत्रों का अपवाद बनता है, उनको हमने ऊपर दिखा दिया है। स्वर विषय का यह मुख्य सूत्र है।

सूपमानात् क्तः ॥६।२।१४५॥

सूपमानात् ५।१॥ क्तः १।१॥ स०—सुश्च उपमानञ्च सूपमानं, तस्मात् ..... समाहारद्वन्द्वः॥ अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—सो उपमानाच्च परः क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—सुकृतम्, सुभुक्तम्, सुपीतम्; ऋतस्य योनौ सुकृतस्य (ऋ० १०।८५।२४)। उपमानात्—वृकैरिवावलुप्तम्= वृकावलुप्तम्, शशप्लुतम्, सिंहविनर्दितम् ॥

भाषार्थः—[सूपमानात्] सु तथा उपमानवाची से उत्तर [क्तः] क्तान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है। सुकृतम् आदि में गतिरनन्तरः (६।२।४९) की प्राप्ति थी। एवं वृकावलुप्तम् आदि में तृतीया कर्मणि (६।२।४८) की प्राप्ति थी, तदपवाद कह दिया। सर्वत्र कर्त्तृकरणे कृता० (२।१।३१) से समास हुआ है। लुप्लृ छेदने से अवलुप्तम्, एवं प्लुङ् गतौ से प्लुतम्, तथा नर्द शब्दे से विनर्दितम् बना है।

यहां से 'क्तः' की अनुवृत्ति ६।२।१४६ तक जायेगी।

संज्ञायामनाचितादीनाम् ॥६।२।१४६॥

संज्ञायाम् ७।१॥ अनाचितादीनाम् ६।३॥ स०—आचितं आदिर्येषां ते आचितादयः, न आचितादयोऽनाचितादयः, तेषां ... बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—क्तः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः। गतिकारकोपपदात् इत्यप्यनुवर्तते ॥ अर्थः—गतिकारकोपपदात् परं क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति संज्ञायां विषये, आचितादीन् वर्जयित्वा ॥ उदा०—संभूतो रामायणः, उपहूतः शाकल्यः, परिजग्धः कौण्डिन्यः। कारकादुपपदाच्च—धनुर्भिः खाता=धनुष्खाता नदी, कुद्दालखातं नगरम्, हस्तिमृदिता भूमिः॥

भाषार्थः—गति, कारक तथा उपपद से उत्तर क्तान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है [संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में, [अनाचितादीनाम्] आचितादि शब्दों को छोड़कर॥ संभूतः आदि में कर्म में क्त हुआ है, अतः गतिरनन्तरः (६।२।४९) की प्राप्ति थी, तदपवाद है॥ संभूतः आदि शब्द रामायण इत्यादि की संज्ञायें हैं। धनुष्खाता आदि में कर्त्तृकरणे कृता० (२।१।३१) से समास हुआ है। जनसनखन० (६।२।४२) से खन् को आत्व हुआ है। तृतीया कर्मणि (६।२।४८) से इन

तीनों उदाहरणों में पूर्वपद को प्रकृतिस्वर प्राप्त था, तदपवाद यह अन्तोदात्त विधान है ॥

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ६।२।१४८ तक जायेगी ॥

प्रवृद्धादीनां च ॥६।२।१४७॥

प्रवृद्धादीनाम् ६।३।। च अ० ।। स०—प्रवृद्ध आदिर्येषां ते प्रवृद्धादयः, तेषां ...... बहुव्रीहिः ।। अनु०—क्तः, अन्तः उत्तरपदस्य, उदात्तः ।। अर्थः—प्रवृद्धादीनां च क्तान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ।। उदा०—प्रवृद्धं यानम्, प्रवृद्धो वृषलः, प्रयुक्ताः सक्तवः ।।

भाषार्थः—[प्रवृद्धादीनाम्] प्रवृद्धादियों के क्तान्त उत्तरपद को [च] भी अन्तोदात्त होता है । पूर्वसूत्र में संज्ञा-विषय में कहा है, यहाँ असंज्ञा में भी होगा । पूर्ववत् गतिरनन्तरः (६।२।४९) की प्राप्ति थी, तदपवाद है ।।

कारकाद्दत्तश्रुतयोरेवाशिषि ॥६।२।१४८॥

कारकात् ५।१।। दत्तश्रुतयोः ६।२।। एव अ० ।। आशिषि ७।१।। स०—दत्त० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—संज्ञायाम्, क्तः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ।। अर्थः—आशिषि गम्यमानायां संज्ञायां विषये कारकादुत्तरयोर्दत्तश्रुतयोरेव क्तान्तयोरन्त उदात्तो भवति ।। उदा०—देवा एनं देयासुः—प्रार्थितैर्देवैर्दत्तः=देवदत्तः । विष्णुरेनं श्रूयाद्=विष्णुश्रुतः ।।

भाषार्थः—संज्ञा-विषय में [आशिषि] आशीर्वाद गम्यमान हो, तो [कारकात्] कारक से उत्तर [दत्तश्रुतयोः] दत्त तथा श्रुत क्तान्त शब्दों को [एव] ही अन्त उदात्त होता है ।। संज्ञायामनाचि० (६।२।१४५) से सभी क्तान्तों को अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, उसी का यहाँ नियम कर दिया कि यदि कारक से उत्तर हो, तो दत्त एवं श्रुत को ही हो । दत्त श्रुत से अन्यत्र तृतीया कर्मणि (६।२।४८) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व ही होगा ।। इस प्रकार कारक का नियम कर दिया ।। क्तिच्क्तौ च संज्ञा० (३।३।१७४) से आशी: विषय में उदाहरणों में क्त प्रत्यय हुआ है । दो दद् घोः (७।४।४६) से दा को दद् आदेश होता है । किसी व्यक्तिविशेष की ये संज्ञायें हैं ।।

यहाँ से 'कारकात्' की अनुवृत्ति ६।२।१५१ तक जायेगी ।।

इत्थम्भूतेन कृतमिति च ॥६।२।१४९॥

इत्थम्भूतेन ३।१।। कृतम् १।१।। इति अ० ।। च अ० ।। इमं प्रकारमापन्नः

इत्थम्भूतः,तेन ॥ अनु०—कारकात्, क्तः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः, ॥ अर्थः— इत्थम्भूतेन कृतमित्येतस्मिन्नर्थे यः समासो वर्त्तते, तत्र क्तान्तमुत्तरपदं कारकात् परमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—सुप्तप्रलपितम्, उन्मत्तप्रलपितम्, प्रमत्तगीतम्, विपन्नश्रुतम् ॥

भाषार्थः—[इत्थम्भूतेन] इस प्रकार को प्राप्त हुए के द्वारा [कृतम्] किया गया, [इति] इस अर्थ में जो समास वहाँ [च] भी क्तान्त उत्तरपद को कारक से परे अन्तोदात्त होता है ॥ सुप्तत्व प्रकार को प्राप्त हुआ हुआ यह इत्थम्भूत है। तथा उस सुप्त के द्वारा प्रलाप किया गया यह 'कृतम्' है। इस प्रकार सुप्तप्रलपितम् में 'इत्थम्भूतेन कृतम्' अर्थ में समास है। इसी प्रकार सब में जानें ॥ तृतीया कर्मणि (६।२।४८) का अपवाद यह सूत्र भी है ॥

अनो भावकर्मवचनः ॥६।२।१५०॥

अनः १।१॥ भावकर्मवचनः १।१॥ स०—भावश्च कर्म च भावकर्मणी, तयोर्वचनः भावकर्मवचनः, द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—कारकात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—कारकात् परं भाववचनं कर्मवचनं चानप्रत्ययान्तमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—ओदनभोजनं सुखम्, पयःपानं सुखम्, चन्दनप्रियङ्गुकालेपनं सुखम्। कर्मवचनम्—राजभोजनाः शालयः, राजाच्छादनानि वासांसि ॥

भाषार्थः—[भावकर्मवचनः] भाव तथा कर्मवाची [अनः] अनप्रत्ययान्त उत्तरपद को कारक से उत्तर अन्तोदात्तत्व होता है ॥ 'भोजन' आदि शब्द (३।३।११६ से) यु को अन होकर अनप्रत्ययान्त हैं। ओदनभोजनम् आदि में उपपद समास है, और राजभोजनाः आदि में षष्ठीसमास हैं ॥ गतिकारकोपपदात्० (६।२। १३८) का अपवाद यह सूत्र है ॥

मन्क्तिन्व्याख्यानशयनासनस्थानयाजकादिक्रीताः ॥६।२।१५१॥

मन्क्तिन्······क्रीताः १।३॥ स०—याजक आदिर्येषां ते याजकादयः,बहुव्रीहिः। मन् च क्तिन् च व्याख्यानञ्च शयनञ्च आसनञ्च स्थानञ्च याजकादयश्च क्रीतश्च मन्क्तिन्···क्रीताः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—कारकात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—कारकात्परं मन्नन्तं क्तिन्नन्तं, व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान इत्येतानि, याजकादयः क्रीतशब्दश्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—मन्—रथस्य वर्त्म=रथवर्त्म, शकटवर्त्म। क्तिन्—पाणिनिकृतिः, आपिशलिकृतिः। व्याख्यान—ऋगयनव्याख्यानम्, छन्दोव्याख्यानम्। शयन—राजशयनम्, ब्राह्मणशयनम्। आसन—राजासनम्, ब्राह्मणासनम्। स्थान—गोस्थानम्, अश्वस्थानम्। याजकादि—ब्राह्मणयाजकः, क्षत्रिययाजकः; ब्राह्मणपूजकः, क्षत्रियपूजकः। क्रीत—गवा क्रीतः=गोक्रीतः, अश्वक्रीतः ॥

भाषार्थः—कारक से उत्तर [मन्क्ति ... क्रीताः] मन् प्रत्ययान्त, क्तिन्-प्रत्ययान्त, व्याख्यान, शयन, आसन, स्थान, तथा याजकादिगणपठित शब्द, एवं क्रीत शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है। सर्वत्र षष्ठीसमास हुआ है। ब्राह्मणयाजकः आदि में याजकादिभिश्च (२।२।९) से समास हुआ है। गतिकारकोपपदात्० (६।२।१३८) का अपवाद यह सूत्र है। गोक्रीतः अश्वक्रीतः में तृतीया समास है, अतः यहाँ तृतीया कर्मणि (६।२।४८) की प्राप्ति थी, तदपवाद है॥ व्याख्यान में करण में, तथा शयन आसन स्थान में अधिकरण में ल्युट् हुआ है। भाव एवं कर्म में ल्युट् नहीं हुआ है, अतः पूर्व सूत्र से प्राप्त नहीं था, कह दिया॥

सप्तम्याः पुण्यम्॥६।२।१५२॥

सप्तम्याः ५।१॥ पुण्यम् १।१॥ अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—सप्तम्यन्तात् परं पुण्यमित्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—अध्ययने पुण्यम्=अध्ययनपुण्यम्, वेदे पुण्यम्=वेदपुण्यम्॥

भाषार्थः—[सप्तम्याः] सप्तम्यन्त से परे [पुण्यम्] पुण्य उत्तरपद शब्द को अन्तोदात्त होता है। तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था, तदपवाद है॥

ऊनार्थकलहं तृतीयायाः॥६।२।१५३॥

ऊनार्थकलहम् १।१॥ तृतीयायाः ५।१॥ स०—ऊनोऽर्थो यस्य स ऊनार्थः, बहुव्रीहिः। ऊनार्थश्च कलहश्च ऊनार्थकलहम्, समाहारो द्वन्द्वः॥ अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—तृतीयान्तात् पराण्यूनार्थान्युत्तरपदानि कलहशब्दश्चान्तोदात्तानि भवन्ति॥ उदा०—माषोनम्, कार्षापणोनम्, माषविकलम्, कार्षापणविकलम्। असिकलहः, वाक्कलहः॥

भाषार्थः—[तृतीयायाः] तृतीयान्त शब्द से परे [ऊनार्थकलहम्] ऊनार्थवाची एवं कलह शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है। ऊन कम का वाचक है॥ उदाहरणों में पूर्वसदृशसमो० (२।१।३०) से समास हुआ है। यहाँ भी तत्पुरुषे तुल्यार्थतृतीया० (६।२।२) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था, तदपवाद है॥

यहाँ से तृतीयायाः की अनुवृत्ति ६।२।१५४ तक जायेगी॥

---

१. रथवर्त्म आदि उदाहरणों में 'कर्तृकर्मणोः कृति (२।३।६५) से कर्म में षष्ठी होने से कारक से उत्तर वर्त्मादि कृदन्त होता है।

मिश्रं चानुपसर्गमसन्धौ ॥६।२।१५४॥

मिश्रम् १।१॥ च अ० ॥ अनुपसर्गम् १।१॥ असन्धौ ७।१॥ स०—अनुप० इत्यत्र बहुव्रीहिः । असन्धौ इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तृतीयायाः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—तृतीयान्तात्परं मिश्रम् इत्येतदनुपसर्गमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति, असन्धौ गम्यमाने ॥ उदा०—गुडमिश्राः, तिलमिश्राः, सर्पिमिश्राः ॥

भाषार्थः—तृतीयान्त से परे [अनुपसर्गम्] अनुपसर्ग [मिश्रम्] मिश्र शब्द उत्तरपद को [च] भी अन्तोदात्त होता है, [असन्धौ] असन्धि गम्यमान हो तो ॥ उदाहरणों में पूर्वसदृश० (२।१।३०) से समास हुआ है ॥ यह सूत्र भी तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२) का अपवाद है ॥ 'सन्धि' पणबन्ध को कहते हैं । उदाहरणों में असन्धि अर्थात् पणबन्ध का अभाव है, क्योंकि 'गुड मिला' हुआ, 'तिल मिला हुआ' ऐसा उदाहरणों का अर्थ है ॥

नञो गुणप्रतिषेधे संपाद्यर्हहितालमर्थास्तद्धिताः ॥६।२।१५५॥

नञः ५।१॥ गुणप्रतिषेधे ७।१॥ संपाद्यर्हहितालमर्थाः १।३॥ तद्धिताः १।३॥ स०—गुणस्य प्रतिषेधः गुणप्रतिषेधः, तस्मिन् षष्ठीतत्पुरुषः । सम्पादि च अर्हञ्च हितञ्च अलञ्च सम्पाद्यर्हहितालम्, इत्येतान्यर्था येषां तद्धितानां ते संपा··· र्थाः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—सम्पादि, अर्ह, हित, अलम् इत्येवमर्था ये तद्धितास्तदन्तान्युत्तरपदानि गुणप्रतिषेधे वर्त्तमानात् नञः पराण्यन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि मुखं = कार्णवेष्टकिकम्, न कार्णवेष्टकिकम् = अकार्णवेष्टकिकम् । अर्ह—छेदमर्हति छैदिकः, न छैदिकः = अच्छैदिकः । हित—वत्सेभ्यो हितो वत्सीयः, न वत्सीयः = अवत्सीयः । अलम्—सन्तापाय प्रभवति सान्तापिकः, न सान्तापिकः = असान्तापिकः ॥

भाषार्थः—[गुणप्रतिषेधे] गुण के प्रतिषेध अर्थ में वर्त्तमान [नञः] नञ् से उत्तर [संपाद्यर्हहितालमर्थाः] संपादि, अर्ह, हित, अलम् अर्थ हैं जिन [तद्धिताः] तद्धितों के, तदन्त (=तद्धितप्रत्ययान्त) उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ यह सूत्र भी तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२) का अपवाद है ॥ कार्णवेष्टकिकम्, यहाँ सम्पादिनि (५।१।९८) से सम्पादि अर्थ में ठञ् तद्धित प्रत्यय हुआ है । उस सम्पादि गुण का प्रतिषेध नञ् से होता है । अतः गुणप्रतिषेध अर्थ में वर्त्तमान नञ् है ही ॥ इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में जिस हित आदि अर्थ में तद्धित प्रत्यय हुआ है, उसी गुण का प्रतिषेध नञ् से हो रहा है, ऐसा जानें ॥ छैदिकः में

आर्हादगो०[1] (५।१।१९) से ठक् हुआ है। वत्सीयः में प्राक् क्रीताच्छः (५।१।१) से छ, तथा सान्तापिकः में तस्मै प्रभवति० (५।१।१००) से ठञ् तद्धित हुआ है। पश्चात् नञ्समास हो ही जायेगा ॥

यहाँ से 'नञः' की अनुवृत्ति ६।२।१६१ तक, तथा 'गुणप्रतिषेधे तद्धिताः' की ६।२।१५६ तक जायेगी ॥

ययतोश्चातदर्थे ॥६।२।१५६॥

ययतोः ६।२॥ च अ० ॥ अतदर्थे ७।१॥ स०—यश्च यत् च ययतौ, तयोः... इतरेतरद्वन्द्वः। तस्मै इदं तदर्थम्, चतुर्थीतत्पुरुषः; न तदर्थम् अतदर्थं, तस्मिन्... नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—नञः गुणप्रतिषेधे तद्धिताः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—गुणप्रतिषेधे वर्त्तमानात् नञः परौ य यत् इत्येतौ यौ तद्धितावतदर्थे वर्त्तेते, तदन्तस्योत्तरपदस्यान्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—य—पाशानां समूहः पाश्या, न पाश्या=अपाश्या, अतृण्या। यत्—दन्तेषु भवं दन्त्यं, न दन्त्यम्=अदन्त्यम्, अकर्ण्यम् ॥

भाषार्थः—गुणप्रतिषेध अर्थ में जो नञ्, उससे उत्तर [अतदर्थे] अतदर्थ में वर्त्तमान जो [ययतोः] य तथा यत् तद्धित प्रत्यय, तदन्त उत्तरपद को [च] भी अन्त उदात्त होता है ॥ पूर्ववत् तत्पुरुषे० (६।२।२) का अपवाद है। तथा उदाहरणों में गुणप्रतिषेधादि भी पूर्व कहे अनुसार जानें। उदाहरणों में य यत् प्रत्यय 'पाश के लिये, या दन्त के लिये' इन अर्थों में नहीं हुये हैं, अतः अतदर्थ हैं ॥ पाशादिभ्यो यः (४।२।४८) से 'य', तथा शरीरावयवाच्च (४।३।५५) से 'यत्' प्रत्यय हुआ है ॥

अच्कावशक्तौ ॥६।२।१५७॥

अच्कौ १।२॥ अशक्तौ ७।१॥ स०—अच् च कश्च अच्कौ, इतरेतरद्वन्द्वः। न शक्तिरशक्तिः, तस्याम्... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—नञः परमच्प्रत्ययान्तं कप्रत्ययान्तं चोत्तरपदमशक्तौ गम्यमानायामन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अच्—अपचः, अजयः। कः—अविक्षिपः, अविलिखः ॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [अच्कौ] अच्प्रत्ययान्त तथा कप्रत्ययान्त उत्तरपद को [अशक्तौ] अशक्ति गम्यमान हो, तो अन्तोदात्त होता है ॥ अपचः (=जो पकाने में असमर्थ है) में पचाद्यच् हुआ है। तथा अविलिखः में इगुपधज्ञा० (३।१।१३५) से क प्रत्यय हुआ है। 'नञ्' अव्यय है, अतः इस नञ् के अधिकार में सर्वत्र तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२) की प्राप्ति थी, तदपवाद ये सूत्र हैं ॥

यहाँ से 'अच्कौ' की अनुवृत्ति ६।२।१५८ तक जायेगी ॥

---

१. आ अर्हात् यहाँ अभिविधि में आङ् है। अतः अर्ह अर्थ में भी ठक् प्रत्यय हो होता है ॥

आक्रोशे च ॥६।२।१५८॥

आक्रोशे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—अच्कौ, नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—नञः परमच्प्रत्ययान्तं कप्रत्ययान्तञ्चोत्तरपदमाक्रोशे गम्यमानेऽन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अपचोऽयं जाल्मः, अपठोऽयं जाल्मः। कः—अविक्षिपः, अविलिखः॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [आक्रोशे] आक्रोश गम्यमान होने पर [च] भी अच्प्रत्ययान्त तथा कप्रत्ययान्त उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ अपचः अपठः में आक्रोश यही है कि वह पकाने एवं पढ़ने में शक्त=समर्थ है, तो भी किसी कारण से पका नहीं सकता, पढ़ नहीं सकता। अतः उसकी 'अपचोऽयं जाल्मः' कहकर भर्त्सना की जा रही है। इसी प्रकार अन्यों में समझें॥ शक्ति गम्यमान होने पर भी हो जावे, अतः यह सूत्र है॥

यहाँ से 'आक्रोशे' की अनुवृत्ति ६।२।१५९ तक जायेगी॥

संज्ञायाम् ॥६।२।१५९॥

संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—आक्रोशे, नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—नञः परमाक्रोशे गम्यमाने संज्ञायां वर्त्तमानमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अदेवदत्तः, अयज्ञदत्तः, अविष्णुमित्रः॥

भाषार्थः—नञ् से परे आक्रोश गम्यमान हो, तो [संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में वर्त्तमान उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है॥ जो देवदत्त नामधारी होते हुये भी तदनुकूल कार्य नहीं करता, उसके प्रति अदेवदत्तः कहकर आक्रोश प्रकट किया जाता है॥

कृत्योकेष्णुच्चार्वादयश्च ॥६।२।१६०॥

कृत्यो····दयः १।३॥ च अ० ॥ स०—चारु आदिर्येषां ते चार्वादयः, बहुव्रीहिः। कृत्यश्च उकश्च इष्णुच् च चार्वादयश्च, कृत्यो····दयः, इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—नञः, अन्तः उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—नञ उत्तरे कृत्य, उक, इष्णुच् इत्येवमन्ताश्चार्वादयश्चान्तोदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—कृत्य—अकर्त्तव्यम्, अकरणीयम्। उक—अनागामुकम्, अनपलाषुकम्। इष्णुच्—अनलङ्कारिष्णुः, अनिराकरिष्णुः, अनाढ्यम्भविष्णुः, असुभगम्भविष्णुः। चार्वादय—अचारुः, असाधुः, अयौधिकः, अवदान्यः॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [कृत्यो····दयः] कृत्यसंज्ञक, उक इष्णुच्-प्रत्ययान्त तथा चार्वादिगणपठित उत्तरपद शब्दों को [च] भी अन्तोदात्त होता है॥ लषपतपद० (३।२।१५४) से उकञ् (=उक) प्रत्यय, तथा अलंकृञ्०

(३।२।१३६) से इष्णुच् प्रत्यय होता है। इष्णुच् से खिष्णुच् का भी ग्रहण है, जो कि कर्त्तरि भुवः० (३।२।५७) से अनाढ्यम्भविष्णुः आदि में हुआ है। कृत्य से कृत्यसंज्ञक अनीयर् आदि प्रत्यय लिये गये हैं ॥

विभाषा तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु ॥६।२।१६१॥

विभाषा १।१॥ तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु ७।३॥ स०—तृन्नन्न० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नञः, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—नञ उत्तरेषु तृन्नन्त, अन्न, तीक्ष्ण, शुचि इत्येतेषूत्तरपदेषु विभाषाऽन्त उदात्तो भवति ॥ उदा०—अकर्त्ता, अकर्त्ता। अनन्नम्, अनन्नम् । अतीक्ष्णम्, अतीक्ष्णम् । अशुचिः, अशुचिः ॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [तृन्नन्नतीक्ष्णशुचिषु] तृन्प्रत्ययान्त, एवं अन्न तीक्ष्ण तथा शुचि उत्तरपद शब्दों को [विभाषा] विकल्प से अन्तोदात्त होता है ॥ पक्ष में तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२) से अव्यय पूर्वपद को प्रकृतिस्वरत्व अर्थात् निपाता आद्युदात्ताः (फिट् ८०) से आद्युदात्तत्व होता है ॥ अकर्त्ता में तच्छील अर्थ में तृन् प्रत्यय हुआ है ॥

बहुव्रीहाविदमेतत्तद्भ्यः प्रथमपूरणयोः क्रियागणने ॥६।२।१६२॥

बहुव्रीहौ ७।१॥ इदमेतत्तद्भ्यः ५।३॥ प्रथमपूरणयोः ६।२॥ क्रियागणने ७।१॥ स०—इदम् च एतद् च तद् च इदमेतत्तदः, तेभ्यः ... इतरेतरद्वन्द्वः। प्रथमश्च पूरणश्च प्रथमपूरणौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः। क्रियायाः गणनं क्रियागणनम्, तस्मिन् ... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे इदम्, एतद्, तद् इत्येतेभ्य उत्तरस्य क्रियागणने वर्त्तमानस्य प्रथमशब्दस्य पूरण-प्रत्ययान्तस्य च शब्दस्यान्तोदात्तो भवति ॥ उदा०—इदं प्रथमं गमनं भोजनं वा यस्य स = इदंप्रथमः । इदंद्वितीयः, इदंतृतीयः । एतत्प्रथमः । एतद्द्वितीयः, एतत्-तृतीयः । तत्प्रथमः । तद्द्वितीयः, तत्तृतीयः ॥

भाषार्थः—[बहुव्रीहौ] बहुव्रीहि समास में [इदमेतत्तद्भ्यः] इदम्, एतत्, तद् इनसे उत्तर [क्रियागणने] क्रिया के गणन में वर्त्तमान [प्रथमपूरणयोः] प्रथम तथा पूरणप्रत्ययान्त शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥ प्रथम शब्द का यहाँ स्वरूप से ग्रहण है । तथा पूरण से द्वेस्तीयः, त्रेः संप्रसारणं च(५।२।५४,५५)से विहित जो पूरण अर्थ में प्रत्यय- तदन्त शब्द लिये गये हैं ॥ उसका प्रथम गमन है, अथवा द्वितीय तृतीय गमन है, यहाँ स्पष्ट क्रियागणन है ही ॥

—बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (६।२।१) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था, तदपवाद

है। यहाँ से आगे जहाँ तक 'बहुव्रीहौ' का अधिकार है, वहाँ तक के सभी सूत्र 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्' (६।२।१) के अपवाद होंगे, ऐसा जानें।।

यहाँ से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति ६।२।१७७ तक जायेगी ।।

संख्यायाः स्तनः ।।६।२।१६३।।

संख्यायाः ५।१।। स्तनः १।१।। अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः।। अर्थः—संख्यायाः परः स्तनशब्दो बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तो भवति ।। उदा०—द्विस्तना, त्रिस्तना, चतुःस्तना ।।

भाषार्थः—[संख्यायाः] संख्या शब्द से उत्तर [स्तनः] स्तन शब्द को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ।। उदा०—द्विस्तना (=दो स्तनोंवाली) ।।

यहाँ से 'संख्यायाः स्तनः' की अनुवृत्ति ६।२।१६४ तक जायेगी ।।

विभाषा छन्दसि ।।६।२।१६४।।

विभाषा १।१।। छन्दसि ७।१।। अनु०—संख्यायाः स्तनः, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ।। अर्थः—छन्दसि विषये बहुव्रीहौ समासे संख्यायाः परः स्तनशब्दो विकल्पेनान्तोदात्तो भवति ।। उदा०—द्विस्तनां कुर्याद् वामदेवः । द्विस्तनां करोति द्यावापृथिव्योर्दोहाय, चतुःस्तनां करोति पशूनां दोहाय (तै० सं० ५।१।६।४) । चतुःस्तनां करोति ।।

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में संख्या शब्द से परे स्तन शब्द को बहुव्रीहि समास में [विभाषा] विकल्प से अन्तोदात्त होता है ।। पक्ष में द्वि (फिट्० १) और चतुर् (उणा० ५।५८) शब्द प्रकृतिस्वर होने से आद्युदात्त हैं ।।

संज्ञायां मित्राजिनयोः ।।६।२।१६५।।

संज्ञायाम् ७।१।। मित्राजिनयोः ६।२।। स०—मित्रा०, इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ।। अर्थः—संज्ञायां विषये बहुव्रीहौ समासे मित्र अजिन इत्येतयोरुत्तरपदयोरन्त उदात्तो भवति ।। उदा०—देवमित्रः, ब्रह्ममित्रः । वृकाजिनः, कूलाजिनः, कृष्णाजिनः ।।

भाषार्थः—[संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में [मित्राजिनयोः] मित्र तथा अजिन उत्तरपद को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ।। देवमित्र आदि किन्हीं की संज्ञाएँ हैं ।।

व्यवायिनोऽन्तरम् ।।६।२।१६६।।

व्यवायिनः ५।१।। अन्तरम् १।१।। अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ।। अर्थः—व्यवायी=व्यवधाता, व्यवधातृवाचिनः परमन्तरमुत्तरपदमन्तो-

दात्तं भवति, बहुव्रीहौ समासे। उदा०—वस्त्रमन्तरं व्यवधायकं यस्य सः=वस्त्रान्तरः, पटान्तरः, कम्बलान्तरः ॥

भाषार्थः—[व्यवायिनः] व्यवधायकवाची शब्द से उत्तर [अन्तरम्] अन्तर उत्तरपद शब्द को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ॥ वस्त्र तथा पट आदि शब्द व्यवधायकवाची हैं ॥ उदा०—वस्त्रान्तरः (=वस्त्र है व्यवधायक जिसका), पटान्तरः ॥

मुखं स्वाङ्गम् ॥६।२।१६७॥

मुखम् १।१॥ स्वाङ्गम् १।१॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ **अर्थः**—स्वाङ्गवाचि मुखमुत्तरपदं बहुव्रीहौ समासेऽन्तोदात्तं भवति ॥ स्वमङ्गं स्वाङ्गम् ॥ **उदा०**—गौरमुखः, भद्रमुखः ॥

भाषार्थः—[स्वाङ्गम्] स्वाङ्ग (=अपना अङ्ग) वाची [मुखम्] मुख शब्द उत्तरपद को बहुव्रीहि समास में अन्तोदात्त होता है ॥ उदा०—गौरमुखः (=गोरे मुखवाला) ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।२।१६९ तक जायेगी ॥

नाव्ययदिक्शब्दगोमहत्स्थूलमुष्टिपृथुवत्सेभ्यः ॥६।२।१६८॥

न अ० ॥ अव्यय······वत्सेभ्यः ५।३॥ स०—दिशां शब्दाः दिक्शब्दाः, षष्ठीतत्पुरुषः । अव्यय० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—मुखं स्वाङ्गम्, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—अव्यय, दिक्शब्द, गो, महत्, स्थूल, मुष्टि, पृथु, वत्स इत्येतेभ्यः परं स्वाङ्गवाचि मुखमुत्तरपदं बहुव्रीहौ समासे नान्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अव्यय—उच्चैर्मुखः, नीचैर्मुखः । दिक्शब्द—प्राङ्मुखः, प्रत्यङ्मुखः । गोमुखः । महामुखः । स्थूलमुखः । मुष्टिमुखः । पृथुमुखः । वत्समुखः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [अव्यय······वत्सेभ्यः] अव्यय, दिक्शब्द, गो, महत्, स्थूल, मुष्टि, पृथु, वत्स इनसे उत्तर स्वाङ्गवाची मुख शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त [न] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया । अतः बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (६।२।१) से सर्वत्र पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व ही होता है । जो इस प्रकार है—उच्चैः नीचैः शब्द स्वरादिगण में अन्तोदात्त निपातन पढ़े हुये हैं । प्राङ् शब्द को अनिगन्तोऽञ्चतौ० (६।२।५२) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व होता है, वहीं इसकी सिद्धि की है । प्रत्यङ् में गतिकारको० (६।२।१३८) से कृत्स्वर होता है । गो की सिद्धि सूत्र ६।२।६४ में, तथा महत् की ६।२।३८ में देखें ॥ स्थूल शब्द से पचाद्यच् होता है, अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होता है । मुष धातु से क्तिच्प्रत्ययान्त

मुष्टि शब्द बनता है, अतः अन्तोदात्त है। पृथु शब्द प्रथिम्रदि० (उणा० १।२८) से कुप्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है। वत्स शब्द वृतृवदिवचिवसि० (उणा० ३।६२) से सप्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है॥

निष्ठोपमानादन्यतरस्याम् ॥६।२।१६९॥

निष्ठोपमानात् ५।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—निष्ठा च उपमानञ्च निष्ठोपमानं, तस्मात् समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—मुखं स्वाङ्गम्; बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे निष्ठान्तादुपमानवाचिनश्चोत्तरं स्वाङ्गं मुखमुत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—प्रक्षालितमुखः, प्रक्षालितमुखः, प्रक्षालितमुखः। उपमानात्—सिंहमुखः, सिंहमुखः। व्याघ्रमुखः, व्याघ्रमुखः॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [निष्ठोपमानात्] निष्ठान्त तथा उपमानवाची से उत्तर स्वाङ्ग मुख शब्द उत्तरपद को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से अन्तोदात्त होता है॥ मुखं स्वाङ्गम् (६।२।१६७) से नित्य अन्तोदात्तत्व की प्राप्ति थी, विकल्प कह दिया। अतः पक्ष में बहुव्रीहौ० (६।२।१) से प्रकृतिस्वरत्व होने से निष्ठोपसर्ग० (६।२।११०) से पूर्वपद अन्तोदात्तत्व होगा। वहाँ पर भी विकल्प कहा है, अतः पक्ष में गतिरनन्तरः (६।२।४९) से 'प्र' उदात्त होगा। ६।२।११० में मुख शब्द से स्वाङ्ग और अस्वाङ्ग दोनों लिये जाते हैं। अतः स्वाङ्गवाची से जब विकल्प से यह स्वर न होगा, तब ६।२।११० से विकल्प से पूर्वपदप्रकृतिस्वर होकर अन्तोदात्त होगा, और जो विकल्पांश बचा, उसमें गतिस्वर भी हो जाता है। इस प्रकार तीन स्वर प्रक्षालितमुखः में होंगे॥ सिंह शब्द भी पचाद्यच् प्रत्ययान्त है, अतः पक्ष में प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त होगा। हिंस धातु को पृषोदरादीनि० (६।३।१०७) से वर्णविपर्यय होकर सिंह हो जावेगा। वि आङ्पूर्वक घ्रा धातु से आतश्चोपसर्गे (३।१।१३६) से क प्रत्यय होकर व्याघ्र शब्द बनता है। अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्तत्व पक्ष में होगा॥

जातिकालसुखादिभ्योऽनाच्छादनात् क्तोऽकृतमितप्रतिपन्नाः ॥६।२।१७०॥

जातिकालसुखादिभ्यः ५।३॥ अनाच्छादनात् ५।१॥ क्तः १।१॥ अकृतमितप्रतिपन्नाः १।३॥ स०—सुख आदिर्येषां ते सुखादयः, बहुव्रीहिः। जातिश्च कालश्च सुखादयश्च जाति···दयः, तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः। न आच्छादनमनाच्छादनम्, तस्मात्··· नञ्तत्पुरुषः। कृतश्च मितश्च प्रतिपन्नश्च कृतमितप्रतिपन्नाः, न कृतमितप्रतिपन्नाः अकृतमितप्रतिपन्नाः, द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे आच्छादनवर्जितात् जातिवाचिनः कालवाचिनः

सुखादिभ्यश्च परं क्तान्तमुत्तरपदं कृतमितप्रतिपन्नान् वर्जयित्वाऽन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—सारङ्गः (=चातकः) जग्धो येन सः=सारङ्गजग्धः, पलाण्डुभक्षितः । काल—मासः जातो यस्य सः=मासजातः, संवत्सरजातः, द्व्यहजातः, त्र्यहजातः । सुखादिभ्यः—सुखं जातं यस्य स=सुखजातः, दुःखजातः, तृप्रजातः ॥

भाषार्थः—[अनाच्छादनात्] आच्छादनवाची शब्द को छोड़कर जो [जातिकालसुखादिभ्यः] जातिवाची शब्द तथा कालवाची एवं सुखादि शब्द, उनसे उत्तर [क्तः] क्तान्त उत्तरपद को [अकृतमितप्रतिपन्नाः] कृत, मित तथा प्रतिपन्न शब्दों को छोड़कर अन्तोदात्त होता है, बहुव्रीहि समास में ॥ कृत मित आदि भी क्तान्त हैं, अतः इस सूत्र से प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥ पूर्ववत् यहाँ भी (६।२।१ से) पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था ॥ सुखादि से ३।१।१८ में पठित गण लिया जाता है ॥

यहाँ से 'जातिकालसुखादिभ्यः' की अनुवृत्ति ६।२।१७१ तक जायेगी ॥

वा जाते ॥६।२।१७१॥

वा० अ०॥ जाते ७।१॥ अनु०—जातिकालसुखादिभ्यः, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—जातिकालसुखादिभ्यः परं जातशब्द उत्तरपदं विकल्पेनान्तोदात्तं भवति, बहुव्रीहौ समासे ॥ उदा०—जाति—दन्तजातः, दन्तजातः । स्तनजातः, स्तनजातः । काल—मासजातः, मासजातः । संवत्सरजातः, संवत्सरजातः । सुखादिभ्यः—सुखजातः, सुखजातः । दुःखजातः, दुःखजातः ॥

भाषार्थः—जातिवाची कालवाची तथा सुखादियों से उत्तर [वा] विकल्प से [जाते] जात शब्द उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है, बहुव्रीहि समास में ॥ पक्ष में पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व होगा। जो इस प्रकार होगा—दन्त शब्द दम धातु से हसिमृग्रिण्वामि० (उणा० ३।८६) से तन्प्रत्ययान्त बना है, अतः नित्स्वर से आद्युदात्त है। स्तन धातु चुरादिगण में अदन्त पढ़ी है, उससे घञ् प्रत्यय होकर स्तन शब्द बनता है। अतो लोपः (६।४।४८) से अकारलोप हो ही जायेगा। घञ् के ञित् होने से स्तनशब्द भी ञ्नित्या० (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। मास शब्द भी घञन्त है, अतः आद्युदात्त है। संवत्सर शब्द सम्पूर्वाच्चित् (उणा० ३।७२) से सरन्प्रत्ययान्त है, चित्वत् माने जाने से चितः (६।१।१५७) से अन्तोदात्त है। सुपूर्वक खन धातु से अन्येष्वपि दृश्यते (३।२।१०१) से 'ड' प्रत्यय होकर, तथा डित् होने से टिभाग का लोप होकर सुख शब्द बनता है, जो कि प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। इसी प्रकार दुःख शब्द में समझें ॥

नञ्सुभ्याम् ॥६।२।१७२॥

नञ्सुभ्याम् ५।२॥ स०—नञ् च सुश्च नञ्सू, ताभ्याम् ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्यां परमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—न विद्यन्ते यवा यस्मिन् सः = अयवो देशः; अव्रीहिः, अमाषः । सुयवः, सुव्रीहिः, सुमाषः ॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [नञ्सुभ्याम्] नञ् तथा सु से परे उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥

यहाँ से 'नञ्सुभ्याम्' की अनुवृत्ति ६।२।१७४ तक जायेगी ॥

कपि पूर्वम् ॥६।२।१७३॥

कपि ७।१॥ पूर्वम् १।१॥ अनु०—नञ्सुभ्याम्, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—नञ्सुभ्यां कपि परतः पूर्वमन्तोदात्तं भवति, बहुव्रीहौ समासे ॥ उदा०—अकुमारीको देशः, अब्रह्मबन्धूकः । सुकुमारीकः, सुब्रह्मबन्धूकः ॥

भाषार्थः—नञ् तथा सु से उत्तर उत्तरपद के [कपि] कप् के परे रहते उससे (=कप् से) [पूर्वम्] पूर्व को उदात्त होता है ॥ नद्यृतश्च (५।४।१५३) से समासान्त कप् होता है । पूर्वसूत्र से कप को ही अन्तोदात्तत्व प्राप्त था; कप् से पूर्व को कह दिया ॥

यहाँ से 'कपि' की अनुवृत्ति ६।२।१७४ तक जायेगी ॥

ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वम् ॥६।२।१७४॥

ह्रस्वान्ते ७।१॥ अन्त्यात् ५।१॥ पूर्वम् १।१॥ स०—ह्रस्वोऽन्तो यस्य उत्तरपदस्य तद् ह्रस्वान्तम्, तस्मिन् ... बहुव्रीहिः ॥ अन्ते भवम् अन्त्यम् ॥ अनु०—कपि, नञ्सुभ्याम्, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे नञ्सुभ्यां परे ह्रस्वान्त उत्तरपदेऽन्त्यात्पूर्वमुदात्तं भवति, कपि परतः ॥ उदा०—अयवको देशः, अव्रीहिकः, अमाषकः । सुयवकः सुव्रीहिकः, सुमाषकः ॥

भाषार्थः—नञ् तथा सु से उत्तर बहुव्रीहि समास में [ह्रस्वान्ते] ह्रस्वान्त उत्तरपद में [अन्त्यात्] अन्त्य से [पूर्वम्] पूर्व को उदात्त होता है, कप् परे रहते ॥ अयवकः, यहाँ शेषाद्विभाषा (५।४।१५४) से कप् हुआ है । यव ह्रस्वान्त शब्द उत्तरपद है, अतः उससे पूर्व 'य' को उदात्त होता है । पूर्व शब्द से परे कप् है ही । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जानें। पूर्व सूत्र से कप् से पूर्व उदात्त प्राप्त था, यहाँ ह्रस्वान्त उत्तरपद से पूर्व को कहा है ॥

बहोर्नञ्वदुत्तरपदभूम्नि ॥६।२।१७५॥

बहोः ५।१॥ नञ्वत् अ० ॥ उत्तरपदभूम्नि ७।१॥ स०—उत्तरपदस्य भूमा (=बहुत्वं) उत्तरपदभूमा, तस्मिन् ···षष्ठीतत्पुरुषः॥ नञ इव नञ्वत् ॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—उत्तरपदार्थस्य बहुत्वे यो बहुशब्दो वर्त्तते, तस्मात् नञ्वत् स्वरो भवति ॥ उदा०—नञ्सुभ्यामित्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुयवो देशः, बहुव्रीहिः, बहुतिलः । कपि पूर्वमित्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुकुमारीकः, बहुब्रह्मबन्धूकः । ह्रस्वान्तेऽन्त्यात् पूर्वमित्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुयवको देशः, बहुव्रीहिकः, बहुमाषकः । नञो जरमरमित्रमृता इत्युक्तं बहोरपि तथा भवति—बहुजरः, बहुमरः, बहुमित्रः, बहुमृतः ॥

भाषार्थः—[उत्तरपदभूम्नि] उत्तरपदार्थ के भूम्नि = बहुत्व को कहने में वर्त्तमान जो [बहोः] बहु शब्द, उससे [नञ्वत्] नञ् के समान स्वर होता है। अर्थात् नञ्सुभ्याम् आदि सूत्रों से नञ् से उत्तर जो भी स्वरविधान किया है, वह स्वर बहु से उत्तर भी हो जावे। नञ्सुभ्याम् से उत्तरपद को अन्तोदात्त कहा है, अतः वह अन्तोदात्तत्व बहु से उत्तर भी हो जायेगा। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी जान लें। ऊपर स्वर दर्शा ही दिया है ॥

यहाँ से 'बहोः' की अनुवृत्ति ६।२।१७६ तक जायेगी ॥

न गुणादयोऽवयवाः ॥६।२।१७६॥

न अ०॥ गुणादयः १।३॥ अवयवाः १।३॥ स०—गुण आदिर्येषाम् ते गुणादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—बहोः, बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—बहोरुत्तरे बहुव्रीहौ समासेऽवयववाचिनो गुणादयो नान्तोदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—बहुगुणा रज्जुः, बह्वक्षरं पदम्, बहुच्छन्दो मानम्, बहुसूक्तः, बह्वध्यायः ॥

भाषार्थः—बहु से उत्तर, बहुव्रीहि समास में [अवयवाः] अवयववाची [गुणादयः] गुणादिगणपठित शब्दों को अन्तोदात्त [न] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र के अतिदेश से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया। अतः बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (६।२।१) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व ही होता है। लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च (उणा० १।२६) से बहु शब्द कुप्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। बह्वक्षरम् एवं बह्वध्यायः यहाँ उदात्त 'उ' के स्थान में जो यण् हुआ है, उससे परे अनुदात्त अकार को उदात्त-स्वरितयोर्यणः० (८।२।४) से स्वरित होता है ॥ बहुगुणा रज्जुः का अर्थ है—बहुत अवयव = लड़वाली रस्सी। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी गुणादि शब्द अवयव अर्थों में हैं ॥

उपसर्गात् स्वाङ्गं ध्रुवमपर्शु ॥६।२।१७७॥

उपसर्गात् ५।१॥ स्वाङ्गम् १।१॥ ध्रुवम् १।१॥ अपर्शु १।१॥ स०—न पर्शु अपर्शु नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—बहुव्रीहौ, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे उपसर्गादुत्तरं पर्शुवर्जितं स्वाङ्गं ध्रुवमन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—सततं यस्य प्रगतं पृष्ठं भवति स प्रपृष्ठः, प्रोदरः, प्रललाटः॥

भाषार्थः—बहुव्रीहि समास में [उपसर्गात्] उपसर्ग से उत्तर [अपर्शु] पर्शु वर्जित [ध्रुवम्] ध्रुव [स्वाङ्गम्] स्वाङ्ग को अन्तोदात्त होता है॥ ध्रुव कहते हैं, एकरूपता से सदैव रहने को। पीठ उदर आदि ध्रुव स्वाङ्ग हैं। पर्शु पसली की हड्डी को कहते हैं, अतः स्वाङ्ग होने से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया॥

यहाँ से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति ६।२।१९५ तक जायेगी॥

वनं समासे ॥६।२।१७८॥

वनम् १।१॥ समासे ७।१॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—समासमात्रे उपसर्गादुत्तरं वनमित्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—प्रवणे यष्टव्यम्। निर्वणे प्रणिधीयते॥

भाषार्थः—[समासे] समास मात्र में उपसर्ग से उत्तर [वनम्] वन उत्तरपद शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ प्रकृष्टं वनं प्रवणं तस्मिन् प्रवणे, निर्गतो वनादिति निर्वणं तस्मिन् निर्वणे यहाँ प्रनिरन्तःशरे० (८।४।५) से णत्व होता है॥ 'प्रकृष्टं वनम्' आदि व्युत्पत्ति मात्र है, प्रवण का अर्थ एक ओर नीची भूमि है। यज्ञवेदिका प्राक्प्रवण=पूर्वदिशा में नीची बनाने का विधान है। इसी प्रकार 'निर्वण' का अर्थ है चारों ओर सम भूमि॥

यहाँ से 'वनम्' की अनुवृत्ति ६।२।१७९ तक जायेगी॥

अन्तः ॥६।२।१७९॥

अन्तः अ०॥ अनु०—वनम्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः॥ अर्थः—अन्तश्शब्दादुत्तरं वनमन्तोदात्तं भवति॥ उदा०—अन्तर् वनं यस्मिन् अन्तर्वणो देशः॥

भाषार्थः—[अन्तः] अन्तर् शब्द से उत्तर वन शब्द को अन्तोदात्त होता है॥ 'अन्तर्' अव्यय शब्द स्वरादिगण (१।१।३६) में पढ़ा है॥ पूर्ववत् प्रनिरन्तः शरे० (८।४।५) से यहाँ भी णत्व जानें॥ जिस देश के मध्य में वन हो, वह देश अन्तर्वण कहाता है, यहाँ बहुव्रीहि समास है॥

अन्तश्च ॥६।२।१८०॥

अन्तः १।१॥ च अ०॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—उपसर्गात् परश्चान्तशब्द उत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—प्रान्तः, पर्यन्तः ॥

भाषार्थः—उपसर्ग से उत्तर [अन्तः] अन्त शब्द उत्तरपद को [च] भी अन्तोदात्त होता है ॥ उदाहरणों में बहुव्रीहि अथवा प्रादि समास भी हो सकता है ॥

यहाँ से 'अन्तः' की अनुवृत्ति ६।२।१८१ तक जायेगी ॥

न निविभ्याम् ॥६।२।१८१॥

न अ० ॥ निविभ्याम् ५।२॥ स०—निवि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अन्तः, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—नि, वि इत्येताभ्यामुपसर्गाभ्यां परोऽन्तशब्दो नान्तोदात्तो भवति ॥ पूर्वेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—न्यन्तः, व्यन्तः ॥

भाषार्थः—[निविभ्याम्] नि तथा वि उपसर्ग से उत्तर अन्त शब्द को अन्तोदात्त [न] नहीं होता ॥ उपसर्ग से उत्तर कहने से पूर्वसूत्र से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (६।२।१) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होकर नि, वि उपसर्गाश्च० (फिट्० ८०) से आद्युदात्त हैं, पश्चात् यणादेश करने पर उदात्तस्वरि० (८।२।४) से 'अ' को स्वरितत्व हो जायेगा । जब न्यन्तः, व्यन्तः में प्रादि तत्पुरुष समास मानें, तब भी तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२) से पूर्वपद प्रकृतिस्वर होकर यही स्वर रहेगा ॥

परेरभितोभावि मण्डलम् ॥६।२।१८२॥

परेः ५।१॥ अभितोभावि १।१॥ मण्डलम् १।१॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अभितः=उभयतो भावो=भवनमस्यास्तीति=अभितोभावि, मत्वर्थे इनिप्रत्ययः ॥ अर्थः—परेरुपसर्गादुत्तरमभितोभाविवचनं मण्डलञ्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अभितोभावि—परिकूलम्, परितीरम् । मण्डलम्—परिमण्डलम् ॥

भाषार्थः—[परेः] परि उपसर्ग से उत्तर [अभितोभावि] अभितोभाविवाची तथा [मण्डलम्] मण्डल शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ अभितोभावि अर्थात् दोनों ओर से भावि=होना जिसका स्वभाव है, इस अर्थ को कथन करनेवाले शब्द को अन्तोदात्त होता है । यथा कूल, तीर शब्द दोनों ओर होने के स्वभाव वाले

होते हैं, अर्थात् दोनों ओर ही होते हैं। मुण्डल शब्द अभितोभाविवचन नहीं है, अतः पृथक् कह दिया ॥ उदाहरणों में बहुव्रीहि या तत्पुरुष मानने पर पूर्ववत् पूर्वपद-प्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था, तदपवाद है। यदि अव्ययीभाव समास मानें, तो भी परि-प्रत्युपापा० (६।२।३३) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व की प्राप्ति में यह विधान है ॥ अभितोभावि में नपुंसकलिङ्ग निर्देश है ॥

प्रादस्वाङ्गं संज्ञायाम् ॥६।२।१८३॥

प्रात् ५।१॥ अस्वाङ्गम् १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स०—अस्वा० इत्यत्र नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—प्रादुत्तरमस्वाङ्गवाच्युत्तरपदमन्तोदात्तं भवति संज्ञायां विषये ॥ उदा०—प्रकोष्ठम्, प्रगृहम्, प्रद्वारम् ॥

भाषार्थः—[प्रात्] प्र उपसर्ग से उत्तर [अस्वाङ्गम्] अस्वाङ्गवाची उत्तरपद को [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में अन्तोदात्त होता है ॥ उदा०—प्रकोष्ठम् (=कमरा), प्रगृहम् (=घर के पीछे का खुला स्थान), प्रद्वारम् (=घर के सामने का स्थान) ॥

निरुदकादीनि च ॥६।२।१८४॥

निरुदकादीनि १।३॥ च अ० ॥ स०—निरुदकम् आदि येषाम्, तानि······ बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—निरुदकादीनि च शब्द-रूपाण्यन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—निष्क्रान्तमुदकमस्मात् निष्क्रान्तमुदकादिति वा=निरुदकम्, निरुपलम् ॥

भाषार्थः—[निरुदकादीनि] निरुदकादि गण पठित शब्दों को [च] भी अन्तोदात्त होता है ॥ उदाहरणों में बहुव्रीहि समास अथवा (प्रादि) तत्पुरुष समास है, अतः पूर्ववत् प्रकृतिस्वर की प्राप्ति थी, तदपवाद है ॥

अभेर्मुखम् ॥६।२।१८५॥

अभेः ५।१॥ मुखम् १।१॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—अभेरुत्तरं मुखमित्येतदुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अभिमुखः ॥

भाषार्थः—[अभेः] अभि उपसर्ग से उत्तर [मुखम्] मुख उत्तरपद स्थित शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ पूर्ववत् प्रादि अथवा बहुव्रीहि समास अभिमुख (=सामने) शब्द में जानें ॥ उपसर्गात् स्वाङ्गं (६।२।१७६) से ही सिद्ध था; पुनर्वचन बहुव्रीहि से भिन्न समास, स्वाङ्गवाची मुख शब्द जहाँ न हो, यथा—अभिमुखा शाला, तथा अध्रुव अर्थ के लिये है ॥

यहाँ से 'मुखम्' की अनुवृत्ति ६।२।१८६ तक जायेगी ॥

अपाच्च ॥६।२।१८६॥

अपात् ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—मुखम्, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—अपाच्चोत्तरं मुखमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अपगतं मुखमस्मात् अपगतं मुखादिति वा=अपमुखः । अपमुखम् ॥

भाषार्थः—[अपात्] अप उपसर्ग से उत्तर [च] भी मुख उत्तरपद शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ पूर्ववत् बहुव्रीहि एवं प्रादि तत्पुरुष समास अपमुखः में जानें । अव्ययीभाव समास भी अप मुखात्=अपमुखम्, यहाँ अपपरिबहिरञ्चवः० (२।१।११) से हो सकता है, इस पक्ष में भी परिप्रत्युपापा० (६।२।३३) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था, तदपवाद यह होगा ॥

यहाँ से 'अपात्' की अनुवृत्ति ६।२।१८७ तक जायेगी ॥

स्फिगपूतवीणाञ्जोऽध्वकुक्षिसीरनामनाम च ॥६।२।१८७॥

स्फिगपूत····· नाम १।१॥ च अ० ॥ स०—सीरस्य नाम सीरनाम, षष्ठीतत्पुरुषः । स्फिगश्च पूतश्च वीणा च अञ्जस् च अध्वा च कुक्षिश्च सीरनाम च नाम च स्फिग····· नाम, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अपात्, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—अपादुत्तराणि स्फिग, पूत, वीणा, अञ्जस्, अध्वन्, कुक्षि इत्येतानि सीरनामानि नामन् शब्दश्चोत्तरपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—अपस्फिगम्, अपपूतम्, अपवीणम्, अपाञ्जः, अपाध्वा, अपकुक्षिः, अपसीरः, अपहलम्, अपलाङ्गलम्, अपनाम ॥

भाषार्थः—अप उपसर्ग से उत्तर [स्फिग·····नाम] स्फिग, पूत, वीणा, अञ्जस्, अध्वन्, कुक्षि तथा सीरनाम=हल के वाची शब्दों को एवं नाम शब्द को [च] भी अन्तोदात्त होता है ॥ सीर हल को कहते हैं । पूर्ववत् तत्पुरुष बहुव्रीहि या अव्ययीभाव समास उदाहरणों में जानें ॥ अपाध्वा में जब उपसर्गादध्वनः (५।४।८५) से समासान्त अच्प्रत्यय नहीं होगा, तब इस सूत्र का उदाहरण बनेगा, अन्यथा अच्प्रत्यय के चित् होने से चित्स्वर से ही अन्तोदात्तत्व हो जाता । समासान्त प्रत्यय इसी ज्ञापक से विकल्प से होते हैं ॥

अधेरुपरिस्थम् ॥६।२।१८८॥

अधेः ५।१॥ उपरिस्थम् १।१॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ उपरि तिष्ठतीति उपरिस्थम् ॥ अर्थः—अधेरुत्तरमुपरिस्थवाचि शब्दरूपमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अधिदन्तः, अधिकर्णः, अधिकेशः ॥

भाषार्थः—[अधेः] अधि उपसर्ग से उत्तर [उपरिस्थम्] उपरिस्थवाची

उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है ॥ ऊपर बैठनेवाला उपरिस्थ कहाता है, जैसे दांत के ऊपर जो दांत निकल आता है, उसे अधिदन्त कहते हैं, क्योंकि वह उपरिस्थ है। इसी प्रकार कान के ऊपर जो निकला हुआ कान वह वह अधिकर्ण, एवं केश के ऊपर जो केश (=अर्थात् एक रोम से निकले दो केशों में एक) अधिकेश कहाता है ॥

अनोरप्रधानकनीयसी ॥६।२।१८९॥

अनोः ५।१॥ अप्रधानकनीयसी १।२॥ स०—अप्रधानञ्च कनीयश्च अप्रधान-कनीयसी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—अनोः परमप्रधानवाच्युत्तरपदं कनीयश्शब्दश्चान्तोदात्तो भवति ॥ उदा०—अनुगतो ज्येष्ठमनुज्येष्ठः, अनुमध्यमः। कनीयस्—अनुगतः कनीयाननुकनीयान् ॥

भाषार्थः—[अनोः] अनु उपसर्ग से उत्तर [अप्रधानकनीयसी] अप्रधान-वाची उत्तरपद को तथा कनीयस् शब्द को अन्तोदात्त होता है ॥ अनुज्येष्ठः (= ज्येष्ठ के पीछे चलनेवाला), यहाँ उत्तरपद ज्येष्ठ शब्द समासार्थ में अप्रधान है, तथा उसके पीछे चलनेवाला पूर्वपद जो 'अनुगत' शब्द वह प्रधान है, अतः यहाँ अप्रधानवाची उत्तरपद है। इसी प्रकार अनुमध्यमः में जानें। अनुकनीयान् (=पीछे चलनेवाला छोटा भाई) यहाँ उत्तरपद कनीयान् प्रधान है, अप्रधान नहीं। अतः कनीयान् का पृथक् ग्रहण किया है ॥ जहाँ कनीयान् अप्रधान होगा, तब विग्रह होगा। अनुगतः कनीयांसम् अनुकनीयान्। इसमें अप्रधानवाची मानकर इस सूत्र से अन्तोदात्त होगा ॥

यहाँ से 'अनोः' की अनुवृत्ति ६।२।१९० तक जायेगी ॥

पुरुषश्चान्वादिष्टः ॥६।२।१९०॥

पुरुषः १।१॥ च अ०॥ अन्वादिष्टः १।१॥ अनु०—अनोः, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अनु०—पश्चात् आदिष्टः, अन्वादिष्टः, कथितानुकथितः, अन्वाचितोऽप्रधानशिष्टो वा ॥ अर्थः—अनोः परोऽन्वादिष्टवाची पुरुषशब्दोऽन्तोदात्तो भवति ॥ उदा०—अन्वादिष्टः पुरुषः अनुपुरुषः ॥

भाषार्थः—अनु उपसर्ग से उत्तर [अन्वादिष्टः] अन्वादिष्टवाची [पुरुषः] पुरुष शब्द को [च] भी अन्तोदात्त होता है ॥ कथन करने के पश्चात् कुछ और कहा जाये, अथवा उस कथन में गौण कथन हो, उसे अन्वादिष्ट कहते हैं, यथा किसी ने कहा कि—'तुम भिक्षा भी करो, गौ भी लाओ', यहाँ गौ लाना पश्चात् कथन अथवा गौण कथन होने से अन्वादिष्ट है ॥

अतेरकृत्पदे ॥६।२।१६१॥

अते: ५।१॥ अकृत्पदे १।२॥ स०—न कृत् अकृत्, नञ्तत्पुरुषः । अकृत् च पदञ्च अकृत्पदे, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ **अर्थः**—अतेः परमकृदन्तं पदशब्दश्चोत्तरपदमन्तोदात्तं भवति ॥ उदा०—अङ्कुशमतिक्रान्तः=अत्यङ्कुशो नागः, अतिकशोऽश्वः । पदशब्दः—अतिपदा शक्वरी ॥

भाषार्थः—[अतेः] अति उपसर्ग से उत्तर [अकृत्पदे] अकृदन्त तथा पद शब्द को अन्तोदात्त होता है । उदाहरणों में क्रान्तादि अर्थों में तत्पुरुष समास हुआ है ॥

नेरनिधाने ॥६।२।१६२॥

नेः ५।१॥ अनिधाने ७।१॥ स०—न निधानमनिधानम्, तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ **अर्थः**—नेः परमुत्तरपदमन्तोदात्तं भवत्यनिधानेऽर्थे । निधानमप्रकाशता, तदभावोऽनिधानं प्रकाशता ॥ उदा०—निर्गतं मूलं यस्य, निमूलम्, न्यक्षम्, नितृणम् ॥

भाषार्थः—[नेः] नि उपसर्ग से उत्तर उत्तरपद को अन्तोदात्त होता है, [अनिधाने] प्रकाशन अर्थ में । जिसका मूल निकला हुआ है, वह निमूल कहाता है, इसी प्रकार बाहर निकले अक्ष और तृण, न्यक्ष नितृण कहाते हैं । यहाँ स्पष्ट अनिधान=प्रकाशन अर्थ है । नि उपसर्ग यहाँ अनिधान अर्थ को कहाता है ॥

प्रतेरंश्वादयस्तत्पुरुषे ॥६।२।१६३॥

प्रतेः ५।१॥ अंश्वादयः १।३॥ तत्पुरुषे ७।१॥ स०—अंशुः आदिर्येषां ते अंश्वादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ **अर्थः**—प्रतेः परास्तत्पुरुषे समासेऽश्वादयोऽन्तोदात्ता भवन्ति ॥ उदा०—प्रतिगतोऽंशु=प्रत्यंशुः, प्रतिजनः, प्रतिराजा ॥

भाषार्थः—[प्रतेः] प्रति उपसर्ग से उत्तर [तत्पुरुषे] तत्पुरुष समास में [अंश्वादयः] अंश्वादिगणपठित शब्दों को अन्तोदात्त होता है ॥

यहाँ से 'तत्पुरुषे' की अनुवृत्ति ६।२।१६६ तक जायेगी ॥

उपाद् द्व्यजजिनमगौरादयः ॥६।२।१६४॥

उपात् ५।१॥ द्व्यजजिनम् १।१॥ अगौरादयः १।३॥ स०—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच् बहुव्रीहिः । द्व्यच् च अजिनञ्च द्व्यजजिनम्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ गौर आदि-

येषां ते गौरादयः, न गौरादयोऽगौरादयः, बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तत्पुरुषे उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—उपात् परं द्व्यज्जिनं च तत्पुरुषे समासेऽन्तोदात्तं भवति, गौरादीन् वर्जयित्वा ॥ उदा०—द्व्यच्—उपगतो देवम् = उपदेवः, उपसोमः, उपेन्द्रः, उपहोडः । अजिन—उपाजिनम् ॥

भाषार्थः—[उपात्] उप उपसर्ग से उत्तर [द्व्यजजिनम्] दो अच्वाले शब्दों को तथा अजिन शब्द को तत्पुरुष समास में अन्तोदात्त होता है, [अगौरादयः] गौरादि शब्दों को छोड़कर ॥ गौरादि शब्द द्व्यच् हैं, अतः प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ उदाहरणों में कुगतिप्रादयः (२।२।२८) से तत्पुरुष समास हुआ है ॥

सोरवक्षेपणे ॥६।२।१९५॥

सोः ५।१॥ अवक्षेपणे ७।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, उपसर्गात्, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—सोः परमुत्तरपदं तत्पुरुषे समासेऽन्तोदात्तं भवति, अवक्षेपणे गम्यमाने ॥ उदा० – इह खल्विदानीं सुस्थण्डिले सुस्फिगाभ्यां सुप्रत्यवसितः ॥

भाषार्थः—[सोः] सु उपसर्ग से उत्तर उत्तरपद को तत्पुरुषसमास में अन्तोदात्त होता है, [अवक्षेपणे] निन्दा गम्यमान हो तो ॥ सुस्थण्डिल आदि में स्वती पूजायाम् (भा० २।२।१८) इस वचन से सु अति का पूजा अर्थ में समास होता है, उदाहरणों में सु अच्छे अर्थ में ही है, किन्तु वाक्यार्थ से निन्दा की प्रतीति होती है, सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ है—"यहां अब आप अच्छी समृद्धि से अच्छे स्थान में विराजमान दूसरे देश से लौटकर बैठे हैं।" तात्पर्य यह है कि कोई कायर अनर्थ उपस्थित होने पर भी सुखपूर्वक बैठा रहे, उसे इस प्रकार चिढ़ाया जा रहा है, यही यहां निन्दा है ॥

विभाषोत्पुच्छे ॥६।२।१९६॥

विभाषा १।१॥ उत्पुच्छे ७।१॥ अनु०—तत्पुरुषे, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—तत्पुरुषे समास उत्पुच्छशब्दे विभाषाऽन्त उदात्तो भवति ॥ उत्क्रान्तः पुच्छात् उत्पुच्छः उत्पुच्छः । पुच्छमुदस्यति उत्पुच्छयति, उत्पुच्छयतेरच् उत्पुच्छः, अस्यामपि व्युत्पत्तौ पूर्ववत् स्वरः ॥

भाषार्थः—तत्पुरुषसमास में [उत्पुच्छे] उत्पुच्छ शब्द को [विभाषा] विकल्प से अन्तोदात्तत्व होता है ॥

उदाहरणों में दो प्रकार से व्युत्पत्ति दर्शाई है, सो प्रथम व्युत्पत्ति पक्ष में तो तत्पुरुषे तुल्यार्थ० से अव्यय पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व प्राप्त था, अन्तोदात्तत्व प्राप्त नहीं था, अप्राप्त अन्तोदात्तत्व विकल्प से विधान कर दिया । पक्ष में अव्यय स्वर से 'उ'

उदात्त होगा ही ॥ द्वितीय व्युत्पत्ति में णिजन्त (३।१।२५)- 'उत्पुच्छ' धातु से एरच् (३।३।५६) से अच् प्रत्यय होकर उत्पुच्छः बना है, अतः थाथघञ्० (६।२।१४३) से नित्य अन्तोदात्तत्व प्राप्त था, उसका विकल्प कह दिया। इस प्रकार सूत्रोक्त 'विभाषा' उभयत्र विभाषा है ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।२।१९८ तक जायेगी ॥

द्वित्रिभ्यां पाद्दन्मूर्धसु बहुव्रीहौ ॥६।२।१९७॥

द्वित्रिभ्याम् ५।२॥ पाद्दन्मूर्धसु ७।३॥ बहुव्रीहौ ७।१॥ स०—द्वित्रि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । पाद् च दत् च मूर्धा च पाद्दन्मूर्धानः, तेषु ....—इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभाषा, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—बहुव्रीहौ समासे द्वि, त्रि इत्येताभ्यां पराणि पाद्, दत्, मूर्धन् इत्येतान्युत्तरपदान्यन्तोदात्तानि भवन्ति विकल्पेन॥ उदा०—द्वौ पादावस्य द्विपात्, द्विपात् । त्रिपात्, त्रिपात् । द्विदन्, द्विदन् । त्रिदन्, त्रिदन् । द्विमूर्धा, द्विमूर्धा । त्रिमूर्धा, त्रिमूर्धा । द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः, द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः ॥

भाषार्थः—[द्वित्रिभ्याम्] द्वि तथा त्रि से उत्तर [पाद्दन्मूर्धसु] पाद्, दत्, मूर्धन् इन शब्दों के उत्तरपद रहते [बहुव्रीहौ] बहुव्रीहि समास में विकल्प से अन्तोदात्त होता है ॥ पाद् शब्द समासान्त-अकार लोप (५।४।१३८) किया हुआ सूत्र में निर्दिष्ट है, एवं दन्त शब्द भी समासान्त दत् आदेश (५।४।१४१) किया हुआ निर्दिष्ट है । किन्तु मूर्धन् अकृतसमासान्त निर्दिष्ट है, अतः सामान्य करके मूर्धन् शब्द का दोनों प्रकार से ग्रहण है, एवं पाद् दत् समासान्त ही लिये जायेंगे । द्विमूर्धा, त्रिमूर्धा में समासान्त प्रत्यय नहीं हुआ है, एवं द्विमूर्धः, त्रिमूर्धः में द्वित्रिभ्यां ष मूर्ध्नः (५।४।११५) से समासान्त ष प्रत्यय हुआ है । इन दोनों प्रकार के उदाहरणों में प्रकृत सूत्र से विकल्प से अन्तोदात्त होता है । पक्ष में बहुव्रीहौ प्रकृत्या० (६।२।१) से पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व हो होता है, अतः फिषोऽन्तउदात्तः (फिट्० १) से द्वि त्रि उदात्त हैं ॥

यहाँ से 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति ६।२।१९८ तक जायेगी ॥

सक्थं चाक्रान्तात् ।६।२।१९८॥

सक्थम् १।१॥ च अ० ॥ अक्रान्तात् ५।१॥ स०—क्रशब्दोऽन्तो यस्य स क्रान्तः बहुव्रीहिः । न क्रान्तोऽक्रान्तस्तस्मात् ....नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—बहुव्रीहौ, विभाषा, अन्तः, उत्तरपदस्य, उदात्तः ॥ अर्थः—अक्रान्तात् परः सक्थशब्दोऽन्तोदात्तो भवति बहुव्रीहौ समासे विकल्पेन ॥ उदा०—गौरसक्थः, गौरसक्थः । श्लक्ष्णसक्थः, श्लक्ष्णसक्थः ॥

भाषार्थः—[अक्रान्तात्] क अन्त में नहीं है जिसके, ऐसे अक्रान्त शब्द से उत्तर [सक्थम्] सक्थ शब्द को [च] भी विकल्प से अन्तोदात्त होता है, बहुव्रीहि समास में ।। सक्थ शब्द बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः० (५।४।११३) से समासान्त षच्प्रत्ययान्त सूत्र में निर्दिष्ट है, अतः उदाहरणों में समासान्त ही गृहीत होगा ।। गौर शब्द प्रज्ञादित्वात् (५।४।३८) अण्प्रत्ययान्त है, अतः अन्तोदात्त है । श्लक्ष्ण शब्द भी श्लिषेरच्चोपधायाः (उणा० ३।१९) से क्स्नप्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है, अतः पक्ष में अन्तोदात्त रहेगा । पक्ष में पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व (६।१।१) होकर यही स्वर रहेंगे ।।

यहाँ से 'सक्थम्' की अनुवृत्ति ६।२।१९९ तक जायेगी ।।

परादिश्छन्दसि बहुलम् ।।६।२।१९९।।

परादिः १।१।। छन्दसि ७।१।। बहुलम् १।१।। स०—परस्य आदिः परादिः, षष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—सक्थम्, उत्तरपदस्य, उदात्तः ।। अर्थः—छन्दसि विषये उत्तरपदस्य सक्थशब्दस्यादिरुदात्तो भवति बहुलम् ।। परशब्देनात्र सक्थशब्द एव गृह्यते ।। उदा०—अञ्जिसक्थम् आलभेत, त्वाष्ट्रौ लोमसक्थौ । बहुलवचनात् पदान्तरे समासान्तरे च भवति—ऋजुबाहुः इति बहुव्रीहिः । वाक्पतिः, चित्पतिरिति षष्ठीसमासौ ।।

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में उत्तरपद [परादिः] पर के=सक्थ शब्द के आदि को [बहुलम्] बहुल करके अन्तोदात्त होता है ।। पर शब्द से यहाँ पूर्वसूत्र निर्दिष्ट सक्थ शब्द का ही ग्रहण है ।। बहुल कहने से यहाँ सक्थ शब्द से अन्य शब्द में भी उत्तरपद के आदि को उदात्त होता है। एवं बहुव्रीहि समास में ही सक्थ शब्द को समासान्त होता है, अतः 'बहुव्रीहौ' की अनुवृत्ति न आने पर भी बहुव्रीहि समास में ही परादि को उदात्त प्राप्त था, बहुल कहने से अन्य समासों में भी हो जाता है ।।

इति द्वितीयः पादः ।।

—:o:—

तृतीयः पादः

[अलुक्-प्रकरणम्]

अलुगुत्तरपदे ।।६।३।१।।

अलुक् १।१।। उत्तरपदे ७।१।। स०—न लुक् अलुक् नञ्तत्पुरुषः ।। अर्थः—

अलुगिति उत्तरपद इति चेत्येतदधिकृतं वेदितव्यम्, यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽलुगुत्तरपदे इत्येवं तद् वेदितव्यम् ।। उदा०—वक्ष्यति पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः (६।३।२)—स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः ।।

भाषार्थः—[अलुगुत्तरपदे] 'अलुक्' तथा 'उत्तरपदे' इन दोनों पदों का अधिकार आगे के सूत्रों में जाता है, अतः यह अधिकारसूत्र है ।।

यहाँ से 'अलुक्' का अधिकार ६।३।२३ तक, तथा 'उत्तरपदे' का ६।३।१३८ तक जायेगा ।।

पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः ।।६।३।२।।

पञ्चम्याः ६।१।। स्तोकादिभ्यः ५।३।। स०—स्तोक आदिर्येषां ते स्तोकादयः, तेभ्यः ... बहुव्रीहिः ।। अनु०—अलुग् उत्तरपदे ।। अर्थः—स्तोकादिभ्यः परस्याः पञ्चम्या अलुग् भवति उत्तरपदे परतः ।। उदा०—स्तोकान्मुक्तः, अल्पान्मुक्तः; अन्तिकादागतः, अभ्याशादागतः; दूरादागतः, विप्रकृष्टादागतः; कृच्छ्रान्मुक्तः ।।

भाषार्थः—[स्तोकादिभ्यः] स्तोकादियों से उत्तर [पञ्चम्याः] पञ्चमी विभक्ति का उत्तरपद परे रहते अलुक् अर्थात् लुक् नहीं होता है ।। स्तोकादि से स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि० सूत्र में कहे हुये स्तोक अन्तिक आदि शब्द ही गृहीत हैं ।। स्तोकान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन (२।१।३८) सूत्र से उदाहरणों में समास हुआ है । करणे च स्तोकाल्प० (२।३।३३) तथा दूरान्तिकार्थे० (२।३।३५) से पञ्चमी विभक्ति होती है । जिसका समास कर लेने पर सुपो धातु० (२।४।७१) से लुक् प्राप्त था, अलुक् कर दिया । इसी प्रकार सम्पूर्ण अलुक्-प्रकरण को सुपो धातु० (२।४।७१) का ही अपवाद समझना चाहिये ।।

ओजःसहोऽम्भस्तमसस्तृतीयायाः ।।६।३।३।।

ओजःसहोऽम्भस्तमसः ५।१।। तृतीयायाः ६।१।। स०—ओजश्च सहश्च अम्भश्च तमश्च ओजःसहोऽम्भस्तमः, तस्मात् ... समाहारद्वन्द्वः ।। अनु०—अलुग् उत्तरपदे ।। अर्थः—ओजस्, सहस्, अम्भस्, तमस् इत्येतेभ्य उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग् भवति उत्तरपदे परतः ।। उदा०—ओजसाकृतम् । सहसाकृतम् । अम्भसाकृतम् । तमसाकृतम् ।।

भाषार्थः—[ओजःसहोऽम्भस्तमसः] ओजस्, सहस्, अम्भस् तथा तमस् शब्द से उत्तर [तृतीयायाः] तृतीया विभक्ति का उत्तरपद परे रहते अलुक् हो जाता है ।। पूर्ववत् लुक् की प्राप्ति में अलुक् विधान है, यह बात सर्वत्र समझते जायें ।।

—यहाँ से 'तृतीयायाः' की अनुवृत्ति ६।३।६ तक जायेगी ।।

मनसः संज्ञायाम् ॥६।३।४॥

मनसः ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—तृतीयायाः, अलुग् उत्तरपदे ॥ अर्थः—मनस उत्तरस्यास्तृतीयायाः संज्ञायां विषयेऽलुग् भवति उत्तरपदे ॥ उदा०—मनसादत्ता, मनसागुप्ता, मनसासंगता ॥

भाषार्थः—[मनसः] मनस् शब्द से उत्तर [संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में तृतीया विभक्ति का उत्तरपद परे रहते अलुक् होता है ॥ मनसागुप्ता आदि किसी के नाम विशेष हैं ॥

यहाँ से 'मनसः' की अनुवृत्ति ६।३।५ तक जायेगी ॥

आज्ञायिनि च ॥६।३।५॥

आज्ञायिनि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—मनसः, तृतीयायाः, अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः—मनस उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग्भवति, आज्ञायिन्युत्तरपदे ॥ उदा०—मनसा आज्ञातुं शीलमस्य=मनसाज्ञायी ॥

भाषार्थः—[आज्ञायिनि] आज्ञायी शब्द के उत्तरपद रहते [च] भी मनस् शब्द से उत्तर तृतीया का अलुक् होता है ॥ असंज्ञार्थ इस सूत्र का आरम्भ है ॥ आङ् पूर्वक ज्ञा धातु से तच्छील अर्थ में णिनि, एवं आतो युक् चिण्कृतोः (७।३।३३) से युक् आगम होकर आज्ञायी शब्द बनता है ॥ उदा०—मनसाज्ञायी (=मन से जानने के स्वभाववाला) ॥

आत्मनश्च ॥६।३।६॥

आत्मनः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—अलुग्, उत्तरपदे, तृतीयायाः ॥ अर्थः—आत्मनश्च उत्तरस्यास्तृतीयाया अलुग् भवति, उत्तरपदे परतः ॥ उदा०—आत्मनापञ्चमः, आत्मनाषष्ठः ॥

भाषार्थः—[आत्मनः] आत्मन् शब्द से परे [च] भी तृतीया का अलुक् होता है, उत्तरपद परे रहते ॥ उदाहरणों में तृतीया० (२।१।३०) के योगविभाग से समास होता है । यह अलुक् पूरणप्रत्ययान्त उत्तरपद परे रहते ही होता है ॥

यहाँ से 'आत्मनः' की अनुवृत्ति ६।३।७ तक जायेगी ॥

वैयाकरणाख्यायां चतुर्थ्याः परस्य च ॥६।३।७॥

वैयाकरणाख्यायाम् ७।१॥ चतुर्थ्याः ६।१॥ परस्य ६।१॥ च अ० ॥ स०—वैयाकरणानामाख्या वैयाकरणाख्या, तस्याम्······षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अलुगुत्तरपदे, आत्मनः ॥ अर्थः—यया संज्ञया वैयाकरणा एवं व्यवहरन्ति तस्याम् परशब्दाद्

आत्मनश्च उत्तरस्याः चतुर्थ्या अलुग्भवति ॥ उदा०—परस्मैपदम्, परस्मैभाषा । आत्मनेपदम्, आत्मनेभाषा ॥

भाषार्थः—[वैयाकरणाख्यायाम्] जिस संज्ञा से वैयाकरण ही व्यवहार करते हैं, उसको कहने में [परस्य] पर शब्द तथा [च] चकार से आत्मन् शब्द से उत्तर भी [चतुर्थ्याः] चतुर्थी विभक्ति का अलुक् होता है ॥

हलदन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ॥६।३।८॥

हलदन्तात् ५।१॥ सप्तम्याः ६।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ स०—हल् च अत् च हलत्, समाहारो द्वन्द्वः । हलत् अन्ते यस्य स हलदन्तः, तस्मात् ...... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः—हलन्तादन्ताच्चोत्तरस्या सप्तम्याः संज्ञायामलुग् भवति, उत्तरपदे परतः ॥ उदा०—युधिष्ठिरः, त्वचिसारः । अदन्तात्—अरण्येतिलकाः, अरण्येमाषकाः, वनेकिंशुकाः, वनेहरिद्रकाः, वनेबल्वजकाः ॥

भाषार्थः—[हलदन्तात्] हलन्त तथा अकारान्त शब्द से उत्तर [संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में [सप्तम्याः] सप्तमी का उत्तरपद परे रहते अलुक् होता है ॥ उदाहरणों में संज्ञायाम् (२।१।४३) से समास होता है । युधिष्ठिर में गवियुधिभ्यां स्थिरः (८।३।९५) से षत्व होता है । युध् त्वच् हलन्त शब्द हैं, एवं अरण्य आदि अदन्त शब्द हैं ॥

यहाँ से 'हलदन्तात्' की अनुवृत्ति ६।३।१२ तक, तथा 'सप्तम्याः' की ६।३।१९ तक जायेगी ।

कारनाम्नि च प्राचां हलादौ ॥६।३।९॥

कारनाम्नि ७।१॥ च अ० ॥ प्राचाम् ६।३॥ हलादौ ७।१॥ स०—कारस्य नाम कारनाम, तस्मिन् ...... षष्ठीतत्पुरुषः । हल् आदिर्यस्य स हलादिः, तस्मिन् ...... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—हलदन्तात् सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः—प्राचां देशे यत् कारनाम तत्र हलादावुत्तरपदे हलदन्तादुत्तरस्याः सप्तम्या अलुग्भवति ॥ उदा०—स्तूपेशाणः, दृषदिमाषकः, हलेद्विपदिका, हलेत्रिपदिका ॥

भाषार्थः—[प्राचाम्] प्राच्यदेशों में जो [कारनाम्नि] करों के नाम वाले शब्द उनमें [च] भी [हलादौ] हलादि शब्द के परे रहते हलन्त तथा अदन्त शब्दों से उत्तर सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है ॥ पूर्वसूत्र से ही अलुक् सिद्ध था, पुनः इस सूत्र का आरम्भ नियमार्थ है । इस प्रकार तीन नियम यहाँ होते हैं । प्रथम—कारनाम में ही, द्वितीय—प्राच्य देश में व्यवहृत नामों में ही, तृतीय—हलादि शब्द परे रहते ही अलुक् हो ॥

स्तूपेशाणः आदि भिन्न-भिन्न करों की संज्ञायें हैं । इस विषय में 'पाणिनि कालीन भारतवर्ष' हिन्दी सं०, पृष्ठ ४१० देखें ।।

मध्याद् गुरौ ॥६।३।१०॥

मध्यात् ५।१।। गुरौ ७।१।। अनु०—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ।। अर्थः—मध्यादुत्तरस्याः सप्तम्या गुरावुत्तरपदेऽलुग्भवति ।। उदा०—मध्येगुरुः ।।

भाषार्थः—[मध्यात्] मध्य शब्द से उत्तर [गुरौ] गुरु शब्द उत्तरपद रहते सप्तमी विभक्ति का अलुक् होता है ।।

अमूर्धमस्तकात् स्वाङ्गादकामे ॥६।३।११॥

अमूर्धमस्तकात् ५।१।। स्वाङ्गात् ५।१।। अकामे ७।१।। स०—मूर्धा च मस्तकञ्च मूर्धमस्तकम्, समाहारो द्वन्द्वः । न मूर्धमस्तकम् अमूर्धमस्तकम्, तस्मात् ...... नञ्तत्पुरुषः । न कामोऽकामः, तस्मिन् ... नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—हलदन्तात्, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ।। अर्थः—मूर्धमस्तकवर्जिताद् हलदन्तात् स्वाङ्गादुत्तरस्याः सप्तम्या अकाम उत्तरपदेऽलुग्भवति ।। उदा०—कण्ठेकालः, उरसिलोमा, उदरेमणिः ।।

भाषार्थः—[अमूर्धमस्तकात्] मूर्धन् तथा मस्तक वर्जित हलन्त एवं अदन्त [स्वाङ्गात्] स्वाङ्गवाची शब्दों से उत्तर सप्तमी का [अकामे] काम-भिन्न शब्द उत्तरपद रहते अलुक् होता है ।। मूर्धा एवं मस्तक स्वाङ्गवाची शब्द हैं । अतः स्वाङ्ग कहने से प्राप्त था, 'अमूर्धमस्तकात्' कहकर निषेध कर दिया ।। उदाहरणों में सप्तम्युपमानपूर्वपदस्यो० (वा० २।२।२४) इस वार्त्तिक से बहुव्रीहि समास हुआ है ।।

बन्धे च विभाषा ॥६।३।१२॥

बन्धे ७।१।। च अ० ।। विभाषा १।१।। अनु०—हलदन्तात् सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ।। अर्थः—बन्धशब्द उत्तरपदे हलदन्तादुत्तरस्याः सप्तम्या विभाषाऽलुग् भवति ।। उदा०—हस्तेबन्धः, हस्तबन्धः । चक्रेबन्धः, चक्रबन्धः ।।

भाषार्थः—[बन्धे] बन्ध शब्द उत्तरपद रहते [च] भी हलन्त तथा अदन्त शब्द से उत्तर सप्तमी का [विभाषा] विकल्प करके अलुक् होता है ।। बहुव्रीहि समास में पूर्वसूत्र से नित्य अलुक् प्राप्त था, तथा तत्पुरुष में नेन्सिद्धबध्नातिषु च (६।३।१८) से निषेध प्राप्त था, उभयत्र विकल्प कह दिया है ।।

तत्पुरुषे कृति बहुलम् ॥६।३।१३॥

तत्पुरुषे ७।१।। कृति ७।१।। बहुलम् १।१।। अनु०—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ।। अर्थः—तत्पुरुषे समासे कृदन्त उत्तरपदे बहुलं सप्तम्या अलुग्भवति ।। उदा०—स्तम्बेरमः, कर्णेजपः । बहुलवचनादिह न भवति—कुरुचरः, मद्रचरः ।।

भाषार्थः—[तत्पुरुषे] तत्पुरुष समास में [कृति] कृदन्त उत्तरपद रहते [बहुलम्] बहुल करके सप्तमी का अलुक् होता है ॥ स्तम्बकर्णयो० (३।२।१३) से स्तम्बेरमः कर्णेजपः में अच् प्रत्यय हुआ है । तथा कुरुचरः मद्रचरः में चरेष्टः (३।२।१६) से ट प्रत्यय हुआ है । उपपदमतिङ् (२।२।१९) से तत्पुरुष समास होगा ॥

प्रावृट्शरत्कालदिवां जे ॥६।३।१४॥

प्रावृट्शरत्कालदिवाम् ६।३॥ जे ७।१॥ स०—प्रावृट् इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः—प्रावृट्, शरत्, काल, दिव् इत्येतेषां सप्तम्याः ज उत्तरपदेऽलुग्भवति ॥ उदा०—प्रावृषिजः । शरदिजः । कालेजः । दिविजः ॥

भाषार्थः—[प्रावृट्शरत्कालदिवाम्] प्रावृट्, शरत्, काल, दिव् इन शब्दों की सप्तमी का [जे] ज उत्तरपद रहते अलुक् होता है ॥ पूर्वसूत्र का ही विस्तार इस सूत्र में है ॥ उदाहरणों में सप्तम्यां जनेर्डः (३।२।९७) से ड प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'जे' की अनुवृत्ति ६।३।१५ तक जायेगी ॥

विभाषा वर्षक्षरशरवरात् ॥६।३।१५॥

विभाषा १।१॥ वर्षक्षरशरवरात् ५।१॥ स०—वर्ष० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—जे, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः—वर्ष, क्षर, शर, वर इत्येतेभ्य उत्तरस्याः सप्तम्या ज उत्तरपदे विभाषाऽलुग्भवति ॥ उदा०—वर्षेजः, वर्षजः । क्षरेजः, क्षरजः । शरेजः, शरजः । वरेजः, वरजः ॥

भाषार्थः—[वर्षक्षरशरवरात्] वर्ष, क्षर, शर, वर इन शब्दों से उत्तर सप्तमी का ज उत्तरपद रहते [विभाषा] विकल्प से अलुक् होता है ॥ तत्पुरुषे कृति० (६।३।१३) से नित्य अलुक् प्राप्त था, विकल्प कह दिया ॥ पूर्ववत् ड प्रत्यय उदाहरणों में जानें ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।३।१७ तक जायेगी ॥

घकालतनेषु कालनाम्नः ॥६।३।१६॥

घकालतनेषु ७।३॥ कालनाम्नः ५।१॥ स०—घकाल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । कालस्य नाम कालनाम, तस्मात्...... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—विभाषा, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः—कालनाम्न उत्तरस्याः सप्तम्याः घसञ्ज्ञके प्रत्यये कालशब्दे तनप्रत्यये च परतो विभाषाऽलुग्भवति ॥ उदा०—घ—पूर्वाह्णेतरे, पूर्वाह्णतरे, पूर्वाह्णेतमे, पूर्वाह्णतमे । काल—पूर्वाह्णेकाले, पूर्वाह्णकाले । तन—पूर्वाह्णेतने, पूर्वाह्णतने ॥

भाषार्थः—[कालनाम्नः] काल के नामवाची शब्दों से उत्तर सप्तमी का [घकालतनेषु] घसंज्ञक प्रत्यय, काल शब्द, तथा तनप्रत्यय के उत्तरपद रहते विकल्प करके अलुक् होता है ।। तरप्, तमप् घसंज्ञक (१।१।२१) प्रत्यय हैं, तथा तन से तुट् आगम सहित ट्यु ट्युल् प्रत्यय (४।३।२३) लिये गये हैं । अह्नः पूर्वं पूर्वाह्णः, यहाँ पूर्वापरा० (२।२।१) से समास, तथा राजाहःसखि० (५।४।९१) से समासान्त टच्प्रत्यय, तथा अह्नोऽह्न एतेभ्यः (५।४।८८) से अह्न आदेश, एवं अह्नोऽदन्तात् (८।४।७) से णत्व हुआ है । पश्चात् अनयोरेषु वातिशयेन पूर्वाह्णे पूर्वाह्णेतरे (७।१) तथा पूर्वाह्णेतमे (७।१) तरप् तमप् प्रत्यय होकर बनेंगे ।। तरप् तमप् स्वार्थिक प्रत्यय हैं, अतः प्रातिपदिकगत सप्तम्यर्थं दर्शाने के लिये तरप् तमप्प्रत्ययान्त से सप्तमी का उदाहरण दिया है । काल शब्द के साथ समानाधिकरण समास होने से वहाँ भी सप्तम्यन्त का उदाहरण युक्त है । तनप्रत्ययान्त में सप्तम्यन्त निर्देश साहचर्य से है ।।

शयवासवासिष्वकालात् ।।६।३।१७।।

शयवासवासिषु ७।३।। अकालात् ५।१।। स०—शयश्च वासश्च वासी च शयवासवासिनः, तेषु इतरेतरद्वन्द्वः । अकालादित्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—विभाषा, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ।। अर्थः—शय, वास, वासिन् इत्येतेषूत्तरपदेष्वकालवाचिन उत्तरस्याः सप्तम्या विभाषाऽलुग्भवति ।। उदा०—खेशयः, खशयः । ग्रामेवासः, ग्रामवासः । ग्रामेवासी, ग्रामवासी ।।

भाषार्थः—[शयवासवासिषु] शय वास तथा वासिन् शब्दों के उत्तरपद रहते [अकालात्] कालवाचियों से भिन्न शब्दों से उत्तर सप्तमी का विकल्प से अलुक् होता है ।। अधिकरणे शेतेः (३।२।१५) से खेशयः में अच् प्रत्यय हुआ है ।।

नेन्सिद्धबध्नातिषु च ।।६।३।१८।।

न अ० ।। इन्सिद्धबध्नातिषु ७।३।। च अ० ।। स०—इन् च सिद्धश्च बध्नातिश्च इन्सिद्धबध्नातयः, तेषु .... इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ।। अर्थः—इन्नन्त उत्तरपदे सिद्धशब्दे बध्नातौ च परतः सप्तम्या अलुग् न भवति ।। उदा०—इन्—स्थण्डिलशायी, स्थण्डिलवर्त्ती । सिद्ध—सांकाश्यसिद्धः, काम्पिल्यसिद्धः । बध्नाति—चक्रबद्धः, चारबद्धः ।।

भाषार्थः—[इन्सिद्धबध्नातिषु] इन्नन्त सिद्ध तथा बध्नाति उत्तरपद रहते [च] भी सप्तमी का अलुक् [न] नहीं होता ।। तत्पुरुषे कृति० (६।३।१३) से प्राप्त था, निषेध कर दिया ।। बध्नाति से बन्ध (=क्र्या०) धातु से निष्पन्न रूप

लिये जायेंगे। उदाहरण में 'बद्धः' निष्ठान्त है, अतः अनिदितां० (६।४।२४) से नकारलोप हो ही जायेगा॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।३।१९ तक जायेगी॥

स्थे च भाषायाम् ॥६।३।१९॥

स्थे ७।१॥ च अ० ॥ भाषायाम् ७।१॥ अनु०—न, सप्तम्याः, अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः—स्थे चोत्तरपदे भाषायां सप्तम्या अलुग् न भवति ॥ उदा०—समस्थः, विषमस्थः, कूटस्थः, पर्वतस्थः॥

भाषार्थः—[स्थे] स्थ शब्द के उत्तरपद रहते [च] भी [भाषायाम्] भाषा विषय में सप्तमी का अलुक् नहीं होता है॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, निषेध कर दिया॥

षष्ठ्या आक्रोशे ॥६।३।२०॥

षष्ठ्याः ६।१॥ आक्रोशे ७।१॥ अनु०—अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः—आक्रोशे गम्यमाने उत्तरपदे परतः षष्ठ्या अलुग् भवति॥ उदा०—चौरस्यकुलम्, वृषलस्यकुलम्॥

भाषार्थः—[आक्रोशे] आक्रोश गम्यमान होने पर उत्तरपद परे रहते [षष्ठ्याः] षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है॥ चौरस्यकुलम् (=यह चोर का कुल है) ऐसा कहकर आक्रोश प्रकट किया जा रहा है॥

यहाँ से 'षष्ठ्याः' की अनुवृत्ति ६।३।२३ तक, तथा 'आक्रोशे' की ६।३।२१ तक जायेगी॥

पुत्रेऽन्यतरस्याम् ॥६।३।२१॥

पुत्रे ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—षष्ठ्या आक्रोशे, अलुगुत्तरपदे॥ अर्थः—पुत्रशब्द उत्तरपद आक्रोशे गम्यमाने विकल्पेन षष्ठ्या अलुग् भवति॥ उदा०—दास्याःपुत्रः, दासीपुत्रः। वृषल्याःपुत्रः, वृषलीपुत्रः॥

भाषार्थः—[पुत्रे] पुत्र शब्द उत्तरपद रहते आक्रोश गम्यमान होने पर [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके षष्ठी का अलुक् होता है॥ दासी का पुत्र है ऐसा कहकर आक्रोश प्रकट किया जा रहा है॥

ऋतो विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः ॥६।३।२२॥

ऋतः ५।१॥ विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः ५।३॥ स०—विद्या च योनिश्च विद्यायोनी, इतरेतरद्वन्द्वः। विद्यायोनिकृतः सम्बन्धो येषां ते विद्यायोनिसम्बन्धाः, तेभ्यः ... बहुव्रीहिः॥ अनु०—षष्ठ्याः, अलुगुत्तरपदे॥ अर्थः—विद्यासंबन्धवाचिभ्यो योनि-

सम्बन्धवाचिभ्यश्च ऋकारान्तेभ्य उत्तरस्याः षष्ठ्या उत्तरपदे परतोऽलुग्भवति ॥
उदा०—विद्यासम्बन्धवाचिभ्यः—होतुरन्तेवासी, होतुपुत्रः । योनिसम्बन्धवाचिभ्यः—
पितुरन्तेवासी, पितुःपुत्रः ॥

भाषार्थः—[विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः] विद्यायोनिसम्बन्धवाची, अर्थात् विद्याकृत सम्बन्ध है जिनका, एवं योनिकृत सम्बन्ध है जिनका, तद्वाची [ऋतः] ऋकारान्त शब्दों से उत्तर षष्ठी का उत्तरपद परे रहते अलुक् होता है ॥ 'होता का शिष्य' यहाँ होता से शिष्य का विद्याकृत सम्बन्ध है, तथा 'पिता का पुत्र' यहाँ योनिकृत सम्बन्ध है । जहाँ दोनों पद विद्याकृत एवं योनिकृत सम्बन्धवाची होते हैं, वहीं अलुक् होता है । उदाहरणों में उत्तरपद भी विद्यायोनिसम्बन्धवाची है ॥

यहाँ से 'ऋतः' की अनुवृत्ति ६।३।२३ तक, तथा 'विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः' की ६।३।२४ तक जायेगी ॥

विभाषा स्वसृपत्योः ॥६।३।२२॥

विभाषा १।१॥ स्वसृपत्योः ७।२॥ स०—स्वसा च पतिश्च स्वसृपती, तयोः ......इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—ऋतो विद्यायोनिसंबन्धेभ्यः, षष्ठ्याः अलुगुत्तरपदे ॥ अर्थः—स्वसृ पति इत्येतयोरुत्तरपदयोः विद्यायोनिसंबन्धवाचिभ्य ऋकारान्तेभ्य उत्तरस्याः षष्ठ्या विकल्पेनालुग् भवति ॥ उदा०—मातुःष्वसा, मातुःस्वसा, मातृष्वसा । पितुःष्वसा, पितुःस्वसा, पितृष्वसा । दुहितुःपतिः, दुहितृपतिः । ननान्दुःपतिः, ननान्दृपतिः ॥

भाषार्थः—[स्वसृपत्योः] स्वसृ तथा पति शब्द के उत्तरपद रहते विद्या तथा योनिसम्बन्धवाची ऋकारान्त शब्दों से उत्तर षष्ठी का [विभाषा], विकल्प से अलुक् होता है ॥ मातुःष्वसा, मातुःस्वसा आदि में विकल्प से षत्व मातुःपितुर्भ्या० (८।३।८५) से होता है । तथा मातृष्वसा पितृष्वसा में नित्य षत्व मातृपितृभ्यां० (८।३।८४) से हुआ है । यहाँ पूर्वपद योनिसम्बन्धवाची ही सम्भव है ॥

आनङ् ऋतो द्वन्द्वे ॥६।३।२४॥

आनङ् १।१॥ ऋतः ६।१॥ द्वन्द्वे ७।१॥ अनु०—विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—ऋकारान्तानां विद्यायोनिसम्बन्धवाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्र पूर्वपदस्यानङ् आदेशो भवत्युत्तरपदे परतः ॥ उदा०—विद्यासम्बन्धवाचिभ्यः—होतापोतारौ, नेष्टोद्गातारौ, प्रशास्ताप्रतिहर्त्तारौ । योनिसम्बन्धेभ्यः—मातापितरौ, याताननान्दरौ ॥

भाषार्थः—[ऋतः] ऋकारान्त विद्या तथा योनि सम्बन्धवाची शब्दों के [द्वन्द्वे] द्वन्द्वसमास में उत्तरपद परे रहते [आनङ्] आनङ् आदेश होता है ॥

होतापोतारौ यहां पूर्वपद होतृ को अलोऽन्त्य० (१।१।५१) से ऋ के स्थान में आनङ् होकर होत् आनङ् पोतृ औ = होतान् पोतारौ रहा। नलोपः० (८।२।७) से नकारलोप होकर—होतापोतारौ बन गया। पोतृ को 'औ' परे रहते ऋतो ङिसर्व० (७।३।११०) से गुण, रपरत्व तथा अप्तृन्तृच्० (६।४।११) से दीर्घ हो ही जायेगा॥

यहां से 'आनङ्' की अनुवृत्ति ६।३।२५ तक जायेगी॥

देवताद्वन्द्वे च ॥६।३।२५॥

देवताद्वन्द्वे ७।१॥ च अ०॥ स०—देवतानां द्वन्द्वः देवताद्वन्द्वः, तस्मिन्... षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—आनङ्, उत्तरपदे॥ अर्थः—देवतावाचिनां यो द्वन्द्वस्तत्रोत्तरपदे पूर्वपदस्यानङादेशो भवति॥ उदा०—इन्द्रावरुणौ, इन्द्रासोमौ, इन्द्राबृहस्पती॥

भाषार्थः—[देवताद्वन्द्वे] देवतावाची शब्दों के द्वन्द्व समास में [च] भी उत्तरपद परे रहते पूर्वपद को आनङ् आदेश होता है॥ सिद्धि पूर्ववत् जानें॥ इन्द्र वरुणादि शब्द देवतावाची हैं॥

यहां से 'देवताद्वन्द्वे' की अनुवृत्ति ६।३।३० तक जायेगी॥

ईदग्नेः सोमवरुणयोः ॥६।३।२६॥

ईत् १।१॥ अग्नेः ६।१॥ सोमवरुणोः ७।२॥ स०—सोम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे॥ अर्थः—देवताद्वन्द्वे सोम वरुण इत्येतयोरुत्तरपदयोरग्नेरीकारादेशो भवति॥ उदा०—अग्नीषोमौ, अग्नीवरुणौ॥

भाषार्थः—देवतावाची द्वन्द्व समास में [सोमवरुणयोः] सोम तथा वरुण शब्द उत्तरपद रहते [अग्नेः] अग्नि शब्द को [ईत्] ईकारादेश होता है॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को ईकारादेश होता है। अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः (८।३।८२) से अग्नीषोमौ में षत्व होता है॥

यहां से 'अग्नेः' की अनुवृत्ति ६।३।२७ तक जायेगी॥

इद् वृद्धौ ॥६।३।२७॥

इत् १।१॥ वृद्धौ ७।१॥ अनु०—अग्नेः, देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे॥ अर्थः—देवताद्वन्द्वे कृतवृद्धावुत्तरपदेऽग्नेरिकारादेशो भवति॥ उदा०—आग्निवारुणीम् अनड्वाहीमालभेत। आग्निमारुतं कर्म क्रियते॥

भाषार्थः—देवताद्वन्द्व में [वृद्धौ] वृद्धि किया शब्द उत्तरपद में हो, तो अग्नि शब्द को [इत्] इकारादेश होता है॥ वृद्धि से यहां वृद्धि किया हुआ

शब्द लिया गया है ॥ 'अग्नीवरुणौ देवते अस्य' ऐसा विग्रह करके सास्य देवता (४।२।२३) से अण् प्रत्यय होकर आग्निवारुणीम् बना है। देवताद्वन्द्वे च (७।३।२१) से यहाँ उभयपदवृद्धि होती है। ङीप् प्रत्यय टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से हो ही जायेगा। ईदग्नेः० (६।३।२६) से ईत्व प्राप्त था, तदपवाद है। इसी प्रकार आग्निमारुतम् में जानें ॥ यहाँ ६।३।२५ से आनङ् प्राप्त था, उसका अपवाद है ॥

दिवो द्यावा ॥६।३।२८॥

दिवः ६।१॥ द्यावा १।१॥ अनु०—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ अर्थः—देवताद्वन्द्व उत्तरपदे परतो दिव् इत्येतस्य द्यावा इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—द्यावाक्षामा, द्यावाभूमी ॥

भाषार्थः—देवताद्वन्द्व में उत्तरपद परे रहते पूर्वपद [दिवः] दिव् शब्द को [द्यावा] द्यावा आदेश होता है ॥ अनेकाल्शित्० (१।१।५४) से सम्पूर्ण दिव् के स्थान में 'द्यावा' आदेश होगा ॥

यहाँ से 'दिवो द्यावा' की अनुवृत्ति ६।३।२९ तक जायेगी ॥

दिवसश्च पृथिव्याम् ॥६।३।२९॥

दिवसः १।१॥ च अ०॥ पृथिव्याम् ७।१॥ अनु०—दिवो द्यावा, देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ अर्थः—पृथिव्यामुत्तरपदे देवताद्वन्द्वे दिवो दिवस् इत्ययमादेशो भवति, चकाराद् द्यावा च ॥ उदा०—दिवसपृथिव्यौ, द्यावापृथिव्यौ ॥

भाषार्थः—[पृथिव्याम्] पृथिवी शब्द उत्तरपद रहते देवताद्वन्द्व में दिव् शब्द को [दिवसः] दिवस् आदेश होता है, [च] तथा चकार से द्यावा आदेश भी हो जाता है। पूर्ववत् आनङ् प्राप्त था, तदपवाद है। 'दिवस' के 'स' में अकार निर्देश, रुकार के रुत्वादि विकारों के अभावार्थ है ॥

उषासोषसः ॥६।३।३०॥

उषासा १।१॥ उषसः ६।१॥ अनु०—देवताद्वन्द्वे, उत्तरपदे ॥ अर्थः—उषस् शब्दस्य उषासा इत्ययमादेशो भवति, देवताद्वन्द्व उत्तरपदे ॥ उदा०—उषाश्च सूर्यश्च =उषासासूर्यम्, उषासानक्ता ॥

भाषार्थः—देवताद्वन्द्व में उत्तरपद परे रहते [उषसः] उषस् शब्द को [उषासा] उषासा आदेश होता है ॥ यह भी आनङ् (६।३।२५) का अपवाद सूत्र है ॥

मातरपितरावुदीचाम् ॥६।३।३१॥

मातरपितरौ १।२॥ उदीचाम् ६।३॥ अर्थः—उदीचामाचार्याणां मतेन मातरपितरौ इति निपात्यते । मातृशब्दस्य अरङ् आदेशो निपातनेन भवति ॥

भाषार्थः—[उदीचाम्] उदीच्य आचार्यों के मत में [मातरपितरौ] मातरपितरौ यह शब्द निपातन किया जाता है । मातृ शब्द को अरङ् आदेश निपातन से होता है । ङिच्च (१।१।५२) से अन्त्य अल् 'ऋ' को अरङ् होगा ॥

पितरामातरा च च्छन्दसि ॥६।३।३२॥

पितरामातरा १।२॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ अर्थः—पितरामातरा इति छन्दसि विषये निपात्यते । निपातनेन पूर्वपदस्य अराङ् आदेशो भवति ॥

भाषार्थः—[पितरामातरा] पितरामातरा यह शब्द [च] भी [छन्दसि] वेद विषय में निपातन किया जाता है । निपातन से पूर्वपद पितृ शब्द को अराङ् आदेश होता है ॥ उत्तरपद में 'औ' विभक्ति को सुपां सुलुक्० (७।१।३९) से आकारादेश, एवं मातृ शब्द को ऋतो ङि० (७।३।११०) से गुण होकर—'पितरामातरा' बन ही जायेगा ॥

[पुंवद्भाव-प्रकरणम्]

स्त्रियाः पुंवद् भाषितपुंस्कादनूङ् समानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु ॥६।३।३३॥

स्त्रियाः ६।१॥ पुंवत् अ० ॥ भाषितपुंस्कादनूङ् लुप्तषष्ठीकम् ॥ समानाधिकरणे ७।१॥ स्त्रियाम् ७।१॥ अपूरणीप्रियादिषु ७।३॥ स०—न ऊङ् अनूङ्, नञ्तत्पुरुषः । भाषितः पुमान् यस्मिन्नर्थे (=समानायामाकृतावेकस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्ते) स भाषितपुंस्कः तत्प्रतिपादकः शब्दोऽपि भाषितपुंस्कः, तस्मात् .... बहुव्रीहिः । भाषितपुंस्कादनूङ् यस्यां (=स्त्रियां), सा भाषितपुंस्कादनूङ् बहुव्रीहिः । सुपो धातु० (२।४।७१) इत्यनेन पञ्चम्याः लुकि प्राप्ते निपातनादत्रालुग्भवति । प्रिया आदिर्येषां ते प्रियादयः, बहुव्रीहिः । पूरणी च प्रियादयश्च पूरणीप्रियादयः ...... इतरेतरद्वन्द्वः । न पूरणीप्रियादयः, अपूरणीप्रियादयः, तेषु ...... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—उत्तरपदे ॥ अर्थः—यस्मात् भाषितपुंस्कात् पर ऊङ् न कृतस्तस्य स्त्रीशब्दस्य पुंशब्दस्येव रूपं भवति पूरणीप्रियादिवर्जिते स्त्रीलिङ्गे समानाधिकरण उत्तरपदे परतः ॥ उदा०—दर्शनीया भार्या यस्य स दर्शनीयभार्यः, श्लक्ष्णचूडः, दीर्घजङ्घः ॥

भाषार्थः—[भाषितपुंस्कादनूङ्] एक ही अर्थ में अर्थात् एक ही प्रवृत्ति

निमित्त को लेकर भाषित = कहा है पुंल्लिङ्ग अर्थ को जिस शब्द ने, ऐसे ऊङ्-वर्जित भाषितपुंस्क [स्त्रियाः] स्त्री शब्द के स्थान में [पुंवत्] पुंल्लिङ्गवाची शब्द के समान रूप हो जाता है, [अपूरणीप्रियादिषु] पूरणी तथा प्रियादिवर्जित [स्त्रियाम्] स्त्रीलिङ्ग [समानाधिकरणे] समानाधिकरण उत्तरपद परे हो तो ॥

जिस अर्थ धर्म को लेकर जो शब्द प्रयोग किया जाता है, वह अर्थ धर्म उसका प्रवृत्तिनिमित्त होता है। यथा मनुष्यत्व धर्म रहने के कारण किसी को मनुष्य कहा गया, तो यह मनुष्यत्व धर्म मनुष्य शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त है। इसी प्रकार दर्शनीयभार्यः, यहाँ दर्शनीय शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त दर्शनीयत्व है। इस दर्शनीयत्व अर्थ को लेकर ही यह दर्शनीय शब्द दर्शनीय ,दर्शनीया, पुंल्लिङ्ग एवं स्त्रीलिङ्ग दोनों में समान रूप से प्रयुक्त होता है। अतः समास करने में जो 'समानायामाकृतावेकस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्ते भाषितपुंस्कः' कहा था, वह सङ्गत हो गया। दर्शनीया में प्रयुक्त स्त्रीलिङ्ग शब्द दर्शनीयत्व प्रवृत्ति-निमित्त को लेकर दर्शनीय रूप में पुंस्त्व को भी कहता है। उसी से स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर बना है। दर्शनीयत्व प्रवृत्ति दोनों में समान है। ऊङ् न होने से ऊङ् वर्जित है ही। एवं स्त्रीलिङ्ग पूरणीप्रियादिवर्जित समानाधिकरणवाला भार्या शब्द उत्तरपद में भी है, अतः दर्शनीया शब्द पुंल्लिङ्ग के समान हो गया, अर्थात् 'दर्शनीय' शब्द बन गया। इसी प्रकार श्लक्ष्णा चूडा यस्य स श्लक्ष्णचूडः, दीर्घा जङ्घा यस्य स दीर्घजङ्घः, यहाँ भी जानें ॥ भार्या चूडा जङ्घा को गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से ह्रस्व हो ही जायेगा ॥ पूरणी से स्त्रीलिङ्गवाले पूरणप्रत्ययान्त शब्द लिये गये हैं, तथा 'प्रियादि' गणपठित शब्द हैं ॥

इस सूत्र का सम्पूर्ण विषय प्रत्युदाहरणों से ही स्पष्ट हो पाता है, जो कि द्वितीयावृत्ति का विषय है ॥

यहाँ से 'स्त्रियाः अनूङ्' की अनुवृत्ति ६।३।४१ तक, तथा 'पुंवत्' की ६।३।४० तक, एवं 'भाषितपुंस्कात्' की ६।३।४२ तक जायेगी ॥

तसिलादिष्वाकृत्वसुचः ॥६।३।३४॥

तसिलादिषु ७।३॥ आ अ०॥ कृत्वसुचः ५।१॥ स०—तसिल् आदिर्येषां ते तसिलादयः, तेषु ········बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ् ॥ अर्थः—तसिलादिषु कृत्वसुजन्तेषु परेषु भासितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् भवति ॥ उदा०—तस्याः शालायाः=ततः ॥ तस्याम्=तत्र । यस्याः=यतः । यस्याम्=यत्र ॥

भावार्थः—[तसिलादिषु] तसिलादि प्रत्ययों से लेकर [आकृत्वसुचः] कृत्वसुच् पर्यन्त कहे गये जो प्रत्यय, उनके परे रहने ऊङ् वर्जित भाषितपुंस्क स्त्रीशब्द

को पुंवत् हो जाता है ॥ इन उदाहरणों में भी जिन स्त्रीलिङ्ग या शब्दों के रूप में प्रयुक्त तद् यद् शब्द प्रयुक्त हुए हैं, वे शब्द उसी अर्थ में पुंल्लिङ्ग में भी प्रयुक्त होते हैं; अतः वे भाषितपुंस्क (=पुंलिङ्ग को कहनेवाले) हैं ।* तसिल् से पञ्चम्यास्तसिल् (५।३।७) में कहा हुआ तसिल् यहाँ लिया गया है । तथा कृत्वसुच् से संख्यायाः क्रियाभ्या० (५।४।१७) में कथित कृत्वसुच् लिया गया है । अतः पञ्चम्यास्तसिल् से लेकर संख्यायाः क्रियाभ्या० तक कहे हुए सभी प्रत्यय तसिलादियों से गृहीत हैं ॥ पूर्वसूत्र से उत्तरपद परे रहते ही पुंवद्भाव कहा था । यहाँ उत्तरपद का अभाव होने से अनुत्तरपदार्थ यह आरम्भ है ॥

क्यङ्मानिनोश्च ॥६।३।३५॥

क्यङ्मानिनोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—क्यङ् च मानिन् च क्यङ्मानिनौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—क्यङि परतो मानिनि च भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् भवति ॥ उदा०—एनी, एतायते; श्येनी, श्येतायते । मानिनि—दर्शनीयमानी अयमस्याः, दर्शनीयमानिनीयमस्याः ॥

भाषार्थः—[क्यङ्मानिनोः] क्यङ् तथा मानिन् परे रहते [च] भी ऊङ्-वर्जित भाषितपुंस्क स्त्रीशब्द को पुंवद्भाव हो जाता है ॥ मानिनि ग्रहण यहाँ अस्त्र्यर्थ तथा असमानाधिकरणार्थ है । अतः 'अयमस्याः' करके पुंल्लिङ्ग का भी उदाहरण दिया है ॥

एत श्येत शब्दों से वर्णादनुदात्तात्० (४।१।३९) से ङीप् एवं त को न होकर=एनी श्येनी बना । अब एनीवाचरति श्येनीवाचरति ऐसा विग्रह करके कर्तुः क्यङ् सलोपश्च (३।१।११) से क्यङ् होकर अकृत्सार्व० (७।४।२५) से दीर्घ होकर—एतायते बन गया । प्रकृत सूत्र से पुंवद्भाव होने से ङीप् एवं तत्सन्नियोगशिष्ट नकार हट गया । दर्शनीयामिमां मन्यतेऽयमिति दर्शनीयमानी । यहाँ मनः (३।२।८२) से मन धातु से णिनि प्रत्यय हुआ है ॥

न कोपधायाः ॥६।३।३६॥

न अ० ॥ कोपधायाः ६।१॥ स०—ककार उपधा यस्याः सा कोपधा, तस्याः ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—भाषितपुंस्कादनूङ् कोपधायाः स्त्रियाः पुंवद्भावो न भवति ॥ उदा०—पाचिकाभार्यः, कारिकाभार्यः, वृजिकाभार्यः, मद्रिकाभार्यः । मद्रिकाकल्पा । मद्रिकायते, वृजिकायते । मद्रिकामानिनी, वृजिकामानिनी ॥

भाषार्थः—[कोपधायाः] ककार उपधावाले स्त्री शब्द को पुंवद्भाव [न] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्रों से प्राप्ति थी, उन सबका प्रतिषेध है ॥ पाचक कारक ण्वुलन्त शब्दों से टाप्; तथा प्रत्ययस्थात्० (७।३।४४) से इत्व होकर पाचिका कारिका बना। अब यहां पाचिका कारिका शब्द पूर्ववत् भाषितपुंस्क हैं, अतः स्त्रियाः पुंवद्भाषित० (६।३।३३) से पुंवद्भाव प्राप्त था। ककार उपधा होने से प्रकृतसूत्र से निषेध हो गया। मद्रिकाकल्पा में तसिलादिष्वा० (६।३।३४) से पुंवद्भाव एवं मद्रिकायते आदि में क्यङ्मानिनोश्च से पुंवद्भाव प्राप्त था, उभयत्र निषेध हो गया। मद्रवृज्योः कन् (४।२।१३०) से मद्रिका वृजिका में कन् प्रत्यय हुआ है ॥

यहां से 'न' की अनुवृत्ति ६।३।४० तक जायेगी ॥

संज्ञापूरण्योश्च । ६।३।३७॥

संज्ञापूरण्योः ६।२॥ च अ० ॥ सं०—संज्ञा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—संज्ञायाः पूरण्याश्च भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद्भावो न भवति ॥ उदा०—दत्ताभार्यः गुप्ताभार्यः, दत्तापाशा गुप्तापाशा; दत्तायते गुप्तायते; दत्तामानिनी गुप्तामानिनी। पूरण्याः—पञ्चमीभार्यः दशमीभार्यः; पञ्चमीपाशा दशमीपाशा; पञ्चमीयते दशमीयते; पञ्चमीमानिनी दशमीमानिनी ॥

भाषार्थः—[संज्ञापूरण्योः] संज्ञावाची तथा पूरणीप्रत्ययान्त भाषितपुंस्क स्त्री शब्दों को [च] भी पुंवद्भाव नहीं होता ॥ पूर्ववत् क्रमशः उदाहरणों में पूर्वसूत्रों से पुंवद्भाव प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥ दत्ता गुप्ता में क्तिच्क्तौ० (३।३।१७४) से क्त प्रत्यय हुआ है। दत्तादिति दत्तः, गोपायताद् इति गुप्तः। स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर दत्ता गुप्ता बने। दत्तः दत्ता, गुप्तः गुप्ता दोनों में प्रवृत्तिनिमित्त दान और गोपन एक ही है, अतः दत्ता गुप्ता भाषितपुंस्क शब्द हैं। इसी प्रकार पञ्चमः पञ्चमी, दशमः दशमी में पञ्चमत्व दशमत्व प्रवृत्ति का निमित्त समान है ॥

वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे ॥६।३।३८॥

वृद्धिनिमित्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ तद्धितस्य ६।१॥ अरक्तविकारे ७।१॥ सं०—वृद्धेर्निमित्तं यस्मिन् स वृद्धिनिमित्तस्तद्धितः, तस्य ... बहुव्रीहिः। रक्तं च विकारश्च रक्तविकारं, न रक्तविकारमरक्तविकारं, तस्मिन् ...द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—अरक्तेऽर्थेऽविकारे चार्थे यो विहितो वृद्धिनिमित्तस्तद्धितस्तदन्तस्य स्त्रीशब्दस्य पुंवद् न भवति ॥ उदा०—स्रौघ्नीभार्यः, माथुरीभार्यः; स्रौघ्नीपाशा, माथुरीपाशा; स्रौघ्नीयते, माथुरीयते; स्रौघ्नीमानिनी, माथुरीमानिनी ॥

भाषार्थः—[वृद्धिनिमित्तस्य] वृद्धि का निमित्त=कारण है, जिस [तद्धितस्य] तद्धित में, ऐसा तद्धित यदि [अरक्तविकारे] रक्त तथा विकार अर्थ में न विहित हो, तो तदन्त स्त्री शब्द को [च] भी पुंवद्भाव नहीं होता ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ वृद्धि के निमित्त ञित् णित् तथा कित् (७।२।११५) तद्धित प्रत्ययों में ही हैं। स्रौघ्नी, माथुरी शब्दों में तत्र भवः (४।३।५३) से वृद्धि-निमित्तक अण् तद्धित प्रत्यय हुआ है। यह अरक्तविकार अर्थ में विहित है। अतः टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से हुये ङीप्प्रत्ययान्त शब्दों को पुंवद्भाव प्राप्त था, प्रकृत सूत्र से प्रतिषेध हो गया ॥

स्वाङ्गाच्चेतः ॥६।३।३९॥

स्वाङ्गात् ५।१॥ च अ० ॥ ईतः ६।१॥ अनु०—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषित-पुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—स्वाङ्गादुत्तरो य ईकारस्तदन्तायाः स्त्रियाः न पुंवद् भवति ॥ उदा०—दीर्घकेशीभार्यः, दीर्घकेशीपाशा, श्लक्ष्णकेशीपाशा, दीर्घकेशीयते, श्लक्ष्णकेशीयते ॥

भाषार्थः—[स्वाङ्गात्] स्वाङ्गवाची शब्द से उत्तर [च] भी जो [ईतः] ईकार तदन्त स्त्रीशब्द को पुंवद्भाव नहीं होता ॥ दीर्घकेशी आदि में स्वाङ्गाच्चोप-सर्जनाद्० (४।१।५४) से ङीष् हुआ है ॥

जातेश्च ॥६।३।४०॥

जातेः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—न, स्त्रियाः पुंवद्भाषित पुंस्कादनूङ्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—जातेश्च स्त्रियाः पुंवद् न भवति ॥ उदा०—कठीभार्यः, बह्वृचीभार्यः; कठीपाशा, बह्वृचीपाशा; कठीयते, बह्वृचीयते ॥

भाषार्थः—[जातेः] जातिवाची स्त्रीलिङ्ग शब्दों को [च] भी पुंवद्भाव नहीं होता ॥ कठ तथा बह्वृच शब्दों से जातेरस्त्रीविषया० (४।१।६३) से ङीष् हुआ है ॥

पुंवत् कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ॥६।३।४१॥

पुंवद् अ० ॥ कर्मधारयजातीयदेशीयेषु ७।३॥ स०—कर्मधारय० इत्यत्रेतरेतर-द्वन्द्वः ॥ अनु०—स्त्रियाः भाषितपुंस्कादनूङ् ॥ अर्थः—कर्मधारये समासे जातीय देशीय इत्येतयोश्च प्रत्यययोः परतः भाषितपुंस्कादनूङ् स्त्रियाः पुंवद् भवति ॥ प्रतिषेधार्थोऽयमारम्भः ॥ उदा०—न कोपधायाः इत्युक्तं, तत्रापि भवति—पाचक-वृन्दारिका, पाचकजातीया, पाचकदेशीया ॥ संज्ञापूरण्योश्च इत्युक्तम्, तत्रापि भवति—दत्तवृन्दारिका, दत्तजातीया, दत्तदेशीया । पूरण्याः—पञ्चमवृन्दारिका, पञ्चम-जातीया, पञ्चमदेशीया ॥ वृद्धिनिमित्तस्य च० इत्युक्तं तत्रापि भवति, स्रौघ्नभार्या, स्रौघ्नजातीया, स्रौघ्नदेशीया । स्वाङ्गाच्चेत इत्युक्तं, तत्रापि भवति—श्लक्ष्णमुखवृन्दा-

रिका, श्लक्ष्णमुखजातीया श्लक्ष्णमुखदेशीया । जातेश्चेत्युक्तं तत्रापि भवति—कठवृन्दारिका, कठजातीया, कठदेशीया ।।

भाषार्थः—[कर्मधा·······येषु] कर्मधारय समास में तथा जातीय एवं देशीय प्रत्ययों के परे रहते ऊङ्वर्जित भाषितपुंस्क स्त्री शब्द को [पुंवत्] पुंवद्भाव हो जाता है ।। कर्मधारय समास में स्त्रियाः पुंवद्भाषित० से पुंवद्भाव प्राप्त हो था, तथा जातीय देशीय प्रत्ययों के परे रहते भी तसिलादिष्वा० (६।३।३४) से प्राप्त था ही, पुनर्वचन न कोपधायाः से लेकर जातेश्च तक जितने प्रतिषेध वचन कहे हैं, उनमें भी कर्मधारय समास एवं जातीय देशीय प्रत्ययों के परे रहते पुंवद्भाव प्राप्त हो जाये, इसलिये यह सूत्र है, यह उपर्युक्त उदाहरणों से स्पष्ट है ।। प्रकारवचने जातीयर् (५।३।६९) से जातीयर् प्रत्यय तथा ईषदसमाप्तौ (५।३।६७) से देशीयर् प्रत्यय होता है ।।

घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ङ्योऽनेकाचो ह्रस्वः ।।६।३।४२।।

घरूप···तेषु ७।३।। ङ्यः ६।१।। अनेकाचः ६।१।। ह्रस्वः १।१।। स०—घरूप० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । न एकः अनेकः नञ्तत्पुरुषः । अनेकः अच् यस्मिन् स अनेकाच्, तस्य·······बहुव्रीहिः ।। अनु०—भाषितपुंस्कात्, उत्तरपदे ।। अर्थः—भाषितपुंस्कात् परो यो ङीप्रत्ययस्तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वो भवति, घ रूप कल्प चेलट् ब्रुव गोत्र मत हत इत्येतेषु परतः ।। उदा०—घ—ब्राह्मणितरा ब्राह्मणितमा । रूप—ब्राह्मणिरूपा । कल्प—ब्राह्मणिकल्पा । चेलट्—ब्राह्मणिचेली । ब्रुव—ब्राह्मणिब्रुवा । गोत्र—ब्राह्मणिगोत्रा । मत—ब्राह्मणिमता । हत—ब्राह्मणिहता ।।

भाषार्थः—भाषितपुंस्क शब्द से उत्तर जो [ङ्यः] ङी, तदन्त [अनेकाचः] अनेकाच् शब्द को [ह्रस्वः] ह्रस्व हो जाता है [घरूप·····तेषु] घ, रूप, कल्प, चेलट्, ब्रुव, गोत्र मत तथा हत शब्दों के परे रहते ।। घ से घ संज्ञक तरप् तमप् (१।१।२१) प्रत्यय लिये गये हैं, तथा रूप से रूपप् प्रत्यय (५।३।६६) एवं कल्प से कल्पप् (५।३।६७) प्रत्यय लिया गया है । चेलट् आदि शब्द हैं, प्रत्यय नहीं । ब्रवीतीति ब्रुवः यहाँ पचाद्यच् हुआ है, वचि आदेश तथा गुण निपातन से नहीं हुए । चेलट्, ब्रुव, गोत्र शब्द कुत्सार्थवाची हैं, अतः कुत्सितानि कुत्सनैः (२।१।५२) से समास हुआ है । मत, हत में विशेषणं वि० (२।१।५६) से समास हुआ है ।। ब्राह्मण शब्द ब्राह्मणत्वरूप प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर पुंल्लिङ्ग को कहता है, इसलिये भाषितपुंस्क है, इस ङ्यन्त अनेकाच् के अन्तिम अल् ई को प्रकृत सूत्र से ह्रस्व हो जाता है ।।

यहाँ से 'घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु ह्रस्वः' की अनुवृत्ति ६।३।४४ तक जायेगी ।।

नद्याः शेषस्यान्यतरस्याम् ॥६।३।४३॥

नद्याः ६।१॥ शेषस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—घादिषु परतो नद्याः शेषस्य विकल्पेन ह्रस्वो भवति ॥ अङी च या नदी ङ्यन्तं च यदेकाच्, स शेषः ॥ उदा०—ब्रह्मबन्धुतरा, ब्रह्मबन्धूतरा। वीरबन्धुतरा, वीरबन्धूतरा। स्त्रितरा, स्त्रीतरा; स्त्रितमा, स्त्रीतमा ॥

भाषार्थः—[नद्याः] नदीसंज्ञक [शेषस्य] शेष (=पूर्वसूत्र से शेष) शब्दों को [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके घादियों के परे रहते ह्रस्व होता है ॥ पूर्वसूत्र में जिसको ह्रस्व कहा है, उससे जो शेष नदी-संज्ञक शब्द उसे यहाँ ह्रस्व होगा। पूर्वसूत्र में ङ्यन्त कहा था, अतः यहाँ शेष कहने से अङ्यन्त जो नदी-संज्ञक हैं वे लिये जायेंगे, जैसे 'ब्रह्मबन्धू' शब्द, तथा वहाँ अनेकाच् कहा था, यहाँ एकाच् ङ्यन्त शब्द भी शेष कहने से ले लिये जायेंगे, जैसे 'स्त्री' शब्द ॥ इसी प्रकार ब्रह्मबन्धुरूपा ब्रह्मबन्धूरूपा आदि कल्प चेलट् ब्रुव गोत्र मत हत के उदाहरण भी यहाँ जानने चाहिये ॥

यहाँ से 'नद्याः' 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।३।४४ तक जायेगी ॥

उगितश्च ॥६।३।४४॥

उगितः ५।१॥ च अ० ॥ स०—उक् इत् यस्य स उगित्, तस्मात् .... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—नद्याः, अन्यतरस्याम्, घरूपकल्पचेलड्ब्रुवगोत्रमतहतेषु, ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—उगितः परा या नदी तदन्तस्य घादिषु परतो विकल्पेन ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—श्रेयसितरा, श्रेयसीतरा। विदुषितरा, विदुषीतरा ॥

भाषार्थः—[उगितः] उगित् शब्द से परे जो नदी तदन्त शब्द को [च] भी घादियों के परे रहते विकल्प करके ह्रस्व होता है ॥ श्रेयस् में ईयसुन् प्रत्यय हुआ है, अतः यह शब्द उगित् है। उगित् होने से उगितश्च (४।१।६) से ङीप् तथा प्रकृत सूत्र से उस ङीप् को ह्रस्व हो जाता है। इसी प्रकार रूप कल्पादि के भी उदाहरण यहाँ जानने चाहियें ॥

आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः ॥६।३।४५॥

आत् १।१॥ महतः ६।१॥ समानाधिकरणजातीययोः ७।२॥ स०—समाना० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदे ॥ अर्थः—समानाधिकरण उत्तरपदे जातीये च प्रत्यये परतो महत आकारादेशो भवति ॥ उदा०—महादेवः, महाब्राह्मणः, महाबाहुः, महाबलः। जातीय—महाजातीयः ॥

भाषार्थः—[समानाधिकरणजातीययोः] समानाधिकरण उत्तरपद रहते तथा जातीय प्रत्यय परे रहते [महतः] महत शब्द को [आत्] आकारादेश होता है ।। महादेवः आदि में महान् तथा देव आदि का समानाधिकरण होने से कर्मधारय समास (२।१।६०) है ।।

यहाँ से 'आत्' की अनुवृत्ति ६।३।४६ तक जायेगी ।।

द्व्यष्टनः संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः ।।६।३।४६।।

द्व्यष्टनः ६।१।। संख्यायाम् ७।१।। अबहुव्रीह्यशीत्योः ७।२।। स०—द्वौ च अष्ट च द्व्यष्ट, तस्य······ समाहारद्वन्द्वः । बहुव्रीहिश्च अशीतिश्च बहुव्रीह्यशीती न बहुव्रीह्यशीती अबहुव्रीह्यशीती तयोः······द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—आत्, उत्तरपदे ।। अर्थः—द्वि अष्टन् इत्येतयोराकारादेशो भवति, संख्यायामुत्तरपदेऽबहुव्रीह्यशीत्योः ।। उदा०—द्वादश, द्वाविंशतिः, द्वात्रिंशत् । अष्टादश, अष्टाविंशतिः, अष्टात्रिंशत् ।।

भाषार्थः—[द्व्यष्टनः] द्वि तथा अष्टन् शब्दों को आकारादेश होता है, [संख्यायाम्] संख्या उत्तरपद हो, तो [अबहुव्रीह्यशीत्योः] बहुव्रीहि समास को तथा अशीति उत्तरपद को छोड़कर ।। द्वादश इत्यादि में 'द्वौ च दश च' ऐसा विग्रह करके द्वन्द्व समास हुआ है । अथवा द्वाभ्यामधिका दश ऐसा विग्रह करके शाकपार्थिवादीना० (वा० २।१।५६) इस वार्त्तिक से उत्तरपदलोपी तत्पुरुष समास हुआ है।

यहाँ से 'संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः' की अनुवृत्ति ६।३।४८ तक जायेगी ।।

त्रेस्त्रयः ।।६।३।४७।।

त्रेः ६।१।। त्रयः १।१।। अनु०—संख्यायामबहुव्रीह्यशीत्योः, उत्तरपदे ।। अर्थः—त्रि इत्येतस्य शब्दस्य त्रयस् आदेशो भवति, संख्यायामुत्तरपदेऽबहुव्रीह्यशीत्योः ।। उदा०—त्रयोदश, त्रयोविंशतिः, त्रयस्त्रिंशत् ।।

भाषार्थः—[त्रेः] त्रि शब्द को [त्रयः] त्रयस् आदेश होता है, संख्या उत्तरपद रहते, बहुव्रीहि समास तथा अशीति को छोड़कर ।। त्रयस् के सकार को ससजुषो रुः (८।२।६६) से रुत्व हशि च (६।१।११०) से उत्व एवं आद् गुणः (६।१।८४) से पूर्वपर के स्थान में ओकार होकर त्रयोदश आदि प्रयोग बन गये ।।

यहाँ से 'त्रयः' की अनुवृत्ति ६।३।४८ तक जायेगी ।।

विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् ।।६।३।४८।।

विभाषा १।१।। चत्वारिंशत्प्रभृतौ ७।१।। सर्वेषाम् ६।३।। स०—चत्वारिंशत

प्रभृति यस्याः सा चत्वारिंशत्प्रभृतिः, तस्याम् ...... बहुव्रीहिः ॥ अनु०— संख्यायाम-बहुव्रीह्यशीत्योः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—चत्वारिंशत्प्रभृतौ संख्यायामुत्तरपदेऽबहुव्रीह्यशीत्योः सर्वेषाम् द्व्यष्टन् त्रि इत्येतेषां यदुक्तं तद्विभाषा भवति ॥ उदा०—द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत् । त्रिपञ्चाशत्, त्रयःपञ्चाशत् । अष्टचत्वारिंशत्, अष्टाचत्वारिंशत् । अष्टपञ्चाशत्, अष्टापञ्चाशत् ॥

भाषार्थः—[सर्वेषाम्] सबको अर्थात् द्वि अष्टन् तथा त्रि को जो कुछ भी कह आये हैं, वह [चत्वारिंशत्प्रभृतौ] चत्वारिंशत् आदि संख्या उत्तरपद रहते बहुव्रीहि, अशीति को छोड़कर [विभाषा] विकल्प करके हो ॥

हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु ॥६।३।४६॥

हृदयस्य ६।१॥ हृत् १।१॥ लेखयदण्लासेषु ७।३॥ स०—लेख० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदे ॥ अर्थः—हृदयस्य हृद् इत्ययमादेशो भवति लेख, यत्, अण्, लास इत्येतेषु परतः ॥ उदा०—हृदयं लिखतीति हृल्लेखः । यत्—हृदयस्य प्रियं हृद्यम् । अण्—हृदयस्येदं हार्दम् । लास—हृदयस्य लासो हृल्लासः ॥

भाषार्थः—[हृदयस्य] हृदय शब्द को [हृत्] हृद् आदेश होता है, [लेखयदण्लासेषु] लेख, यत्, अण् तथा लास परे रहते ॥ यत् तथा अण् प्रत्यय हैं, एवं लेख लास शब्द हैं । हार्दम् यहाँ तस्येदम् (४।३।१२०) से अण् प्रत्यय हुआ है, एवं हृद्यम् में हृदयस्य प्रियः (४।४।९५) से यत् हुआ है । हृल्लासः में तोर्लि (८।४।५९) से त् को ल् हुआ है ॥

यहाँ से 'हृदस्य हृत्' की अनुवृत्ति ६।३।५१ तक जायेगी ॥

वा शोकष्यञ्रोगेषु ॥६।३।५०॥

वा अ० ॥ शोकष्यञ्रोगेषु ७।३॥ स०—शोक० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—हृदयस्य हृत्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—शोक, ष्यञ्, रोग इत्येतेषु परतः हृदयस्य विकल्पेन हृद् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—हृच्छोकः, हृदयशोकः । ष्यञ्—सौहार्द्यम्, सौहृदय्यम् । रोग—हृद्रोगः, हृदयरोगः ॥

भाषार्थः—[शोकष्यञ्रोगेषु] शोक, ष्यञ् तथा रोग के परे रहते हृदय शब्द को हृद् आदेश [वा] विकल्प करके होता है ॥ ष्यञ् से प्रत्यय गृहीत है ॥ शोभनं हृदयमस्य स सुहृदयस्तस्यभावः कर्म वा सौहार्द्यम्, यहाँ सुहृदय शब्द से गुणवचन ब्रा० (५।१।१२३) से ष्यञ् हुआ, तब उस ष्यञ् के परे रहते हृदय को प्रकृत सूत्र से हृद् आदेश हो गया । हृद् आदेश पक्ष में हृद्भगसिन्ध्वन्ते० (७।३।१९) से उभयपद वृद्धि होती है । जब पक्ष में हृद् आदेश नहीं होगा, तो ष्यञ् परे रहते

तद्धितेष्वचा० (७।२।११७) से आदि अच् को वृद्धि हो जायेगी, तथा यस्येति च (६।४।१४८) से अकारलोप होगा। हृच्छोकः में स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से त् को च् तथा शश्छोटि (८।४।६२) से श् को छ् हुआ है ॥

पादस्य पदाज्यातिगोपहतेषु ॥६।३।५१॥

पादस्य ६।१॥ पद लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ आज्यातिगोपहतेषु ७।३॥ स०—आज्या० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदे ॥ अर्थः—पादस्य 'पद' इत्ययमादेशो भवति आजि, आति, ग, उपहत इत्येतेषूत्तरपदेषु ॥ उदा०—पादाभ्यामजतीति=पदाजिः, पादाभ्यामततीति=पदातिः, पादाभ्यां गच्छतीति=पदगः, पादेनोपहतः=पदोपहतः ॥

भाषार्थः—[पादस्य] पाद शब्द को, [पद] 'पद' आदेश होता है, [आज्यातिगोपहतेषु] आजि, आति, ग, उपहत उत्तरपद परे रहते ॥ आजि, आति में औणादिक (उणा० ४।१३१) इण् प्रत्यय हुआ है । यह 'पद' आदेश अकारान्त होता है, अतएव अगले सूत्र में दकारान्त पद् आदेश का विधान किया है ॥

यहाँ से 'पादस्य' की अनुवृत्ति ६।३।५५ तक जायेगी ॥

पद्यत्यतदर्थे ॥६।३।५२॥

पद् १।१॥ यति ७।१॥ अतदर्थे ७।१॥ स०—तस्मै इदम् तदर्थम्, न तदर्थम् अतदर्थ, तस्मिन् ······चतुर्थीगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—पादस्य, उत्तरपदे ॥ अर्थः—अतदर्थे यति प्रत्यये परतः पादस्य 'पद्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पादौ विध्यन्ति =पद्याः शर्कराः, पद्याः कण्टकाः ॥

भाषार्थः—[अतदर्थे] अतदर्थ [यति] यत् प्रत्यय के परे रहते पाद शब्द को [पद्] पद् आदेश हो जाता है ॥ विध्यत्यधनुषा (४।४।८३) से पाद शब्द से यत्प्रत्यय हुआ है, पश्चात् 'पाद' को प्रकृत सूत्र से पद् आदेश होकर 'पद्याः' बन गया । यह यत्प्रत्यय 'विध्यति' अर्थ में हुआ है, अतः अतदर्थ है ॥

यहाँ से 'पद्' शब्द की अनुवृत्ति ६।३।५५ तक जायेगी ॥

हिमकाषिहतिषु च ॥६।३।५३॥

हिमकाषिहतिषु ७।३॥ च अ०॥ स०—हिमं च काषी च हतिश्च हिमकाषिहतयः, तासु······इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पद्, पादस्य, उत्तरपदे ॥ अर्थः—हिम, काषिन्, हति इत्येतेषूत्तरपदेषु पादशब्दस्य पदित्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पद्धिमम्, अर्थ पत्काषिणो यान्ति, पादाभ्यां हन्यते=पद्धतिः ॥

भाषार्थः—[हिमकाषिहतिषु] हिम, काषिन्, हति इनके उत्तरपद रहते [च] भी पाद शब्द को पद् आदेश होता है ॥ पादस्य हिमं शीतं=पद्धिमम में षष्ठी-

समास है, तथा ह् को घ् झयो होऽन्यतरस्याम् (८।४।६१) से पूर्वसवर्णादेश होने से हुआ है। पादौ कषन्तीति पत्काषिणः में सुप्यजातौ० (३।२।७८) से णिनि तथा खरि च (८।४।५५) से द् को त् हुआ है॥

ऋचः शे॥६।३।५४॥

ऋचः ६।१॥ शे ७।१॥ अनु०—पद्, पादस्य, उत्तरपदे॥ अर्थः—ऋक्-सम्बन्धिनः पादशब्दस्य शे परतः पद् इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—पच्छो गायत्रीं शंसति॥

भाषार्थः—[ऋचः] ऋचा सम्बन्धी पाद शब्द को [शे] श परे रहते पद् आदेश होता है। शस् प्रत्यय का अवयवभूत जो 'श' उसका यहाँ ग्रहण है। पच्छः में सङ्ख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् (५।४।४३) से शस्प्रत्यय हुआ है। श्चुत्व होकर त् को च् तथा शश्छोऽटि (८।४।६२) से छत्व होकर पच्छः बनता है॥ गायत्री ऋचा सम्बन्धी पाद शब्द के स्थान में यहाँ पद् आदेश हुआ है॥

वा घोषमिश्रशब्देषु॥६।३।५५॥

वा अ०॥ घोषमिश्रशब्देषु ७।३॥ स०—घोष० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—पद्, पादस्य, उत्तरपदे॥ अर्थः—घोष, मिश्र, शब्द, इत्येतेषूत्तरपदेषु पादशब्दस्य पदित्ययमादेशो भवति॥ उदा०—पद्घोषः, पादघोषः। पन्मिश्रः, पादमिश्रः। पच्छब्दः, पादशब्दः॥

भाषार्थः—[घोषमिश्रशब्देषु] घोष, मिश्र तथा शब्द उत्तरपद रहते पाद शब्द को [वा] विकल्प करके पद् आदेश होता है॥ घोष तथा शब्द के साथ पाद शब्द का षष्ठीसमास है, तथा मिश्र के साथ पूर्वसदृश० (२।१।३०) से तृतीया समास है, ऐसा जानें॥ पच्छब्दः में पूर्ववत् सन्धिकार्य है; एवं पन्मिश्रः में द् को न् यरोऽनुनासिके० (८।४।४४) से हुआ है॥

उदकस्योदः संज्ञायाम्॥६।३।५६॥

उदकस्य ६।१॥ उदः १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—उत्तरपदे॥ अर्थः—उदकशब्दस्य 'उद' इत्ययमादेशो भवति, संज्ञायां विषय उत्तरपदे परतः॥ उदा०—उदमेघो नाम, यस्य औदमेघिः[1] पुत्रः। उदवाहो नाम, यस्य औदवाहिः[1] पुत्रः॥

भाषार्थः—[उदकस्य] उदक शब्द को [उदः] उद आदेश होता है, [संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में, उत्तरपद परे रहते॥ उदमेघ, उदवाह ये किसी

१. औदमेघि औदवाहि नाम के व्यक्तियों को देखकर ज्ञात होता है कि उनके पिता का नाम उदमेघ और उदवाह था, यह उदाहरणों का भाव है॥

व्यक्ति के नाम हैं। यहाँ उदक को उद आदेश हुआ है। उदमेघः यहाँ षष्ठीसमास है, तथा उदकं वहतीति उदवाहः यहाँ उपपद तत्पुरुष समास है ॥

यहाँ से 'उदकस्योदः' की अनुवृत्ति ६।३।५९ तक जायेगी ॥

पेषंवासवाहनधिषु च ॥६।३।५७॥

पेषंवासवाहनधिषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—पेषं० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उदकस्योदः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—पेषं, वास, वाहन, धि इत्येतेषु चोत्तरपदेषु उदकशब्दस्य उद इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—उदपेषं पिनष्टि । वास—उदकस्य वासः=उदवासः । वाहन—उदकस्य वाहनः=उदवाहनः । धि—उदकं धीयतेऽस्मिन् उदधिः ॥

भाषार्थः—[पेषंवासवाहनधिषु] पेषं, वास, वाहन तथा धि शब्द के उत्तरपद रहते [च] भी उदक को उद आदेश होता है ॥ 'पेषं' में स्नेहने पिषः (३।४।३८) से णमुल् प्रत्यय हुआ है। उदधिः यहाँ कर्मण्यधिकरणे च (३।३।९३) से उदक उपपद रहते धा धातु से कि प्रत्यय हुआ है, धा के आ का लोप आतो लोप इटि च (६।४।६४) से होता है ॥

एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् ॥६।३।५८॥

एकहलादौ ७।१॥ पूरयितव्ये ७।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—एको हल् आदिर्यस्य स एकहलादिः, तस्मिन् ... त्रिपदबहुव्रीहिः ॥ अनु०—उदकस्योदः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—पूरयितव्यवाचिन्येकहलादावुत्तरपदे विकल्पेनोदकशब्दस्य उद इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—उदकुम्भः, उदककुम्भः । उदपात्रम्, उदकपात्रम् ॥

भाषार्थः—[पूरयितव्ये] जिसको पूर्ण किया (=भरा) जाना चाहिये, तद्वाची [एकहलादौ] एक=असहाय हल् है आदि में जिसके, ऐसे शब्द के उत्तरपद रहते [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके उदक को उद आदेश होता है ॥ एक शब्द यहाँ संख्यावाची न होकर असहायवाची है, सो अर्थ होगा असहाय अर्थात् तुल्यजातीयक कोई और हल् आदि में न हो, एक अकेला ही हल् आदि में हो। पूरयितव्य अर्थात् पूर्ण किये जाने योग्य, सो उदकुम्भः में कुम्भ शब्द पुरयितव्य एक हल् आदि वाला है, अतः विकल्प से उदक को उद आदेश हो गया ॥

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।३।६० तक जायेगी ॥

मन्थौदनसक्तुबिन्दुवज्रभारहारवीवधगाहेषु च ॥६।३।५९॥

मन्थौ ... हेषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—मन्थौ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, उदकस्योदः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र,

भार, हार, वीवध, गाह इत्येतेषूत्तरपदेषूदकस्य उद इत्ययमादेशो विकल्पेन भवति ॥
उदा०—उदकेन मन्थः=उदमन्थः, उदकमन्थः। उदकेनौदनः=उदौदनः, उदकौदनः।
उदकेन सक्तुः=उदसक्तुः, उदकसक्तुः। उदकस्य बिन्दुः=उदबिन्दुः, उदकबिन्दुः।
उदकस्य वज्रः=उदवज्रः, उदकवज्रः। उदकं बिभर्ति=उदभारः, उदकभारः।
उदकं हरति=उदहारः, उदकहारः। उदकस्य वीवधः=उदवीवधः उदकवीवधः।
उदकं गाहते=उदगाहः, उदकगाहः ॥

भाषार्थः—[मन्थौ ... हेषु] मन्थ, ओदन, सक्तु, बिन्दु, वज्र, भार, हार, वीवध, गाह इन शब्दों के उत्तरपद रहते [च] भी उदक को उद आदेश विकल्प करके होता है ॥

इको ह्रस्वोऽङ्यो गालवस्य ॥६।३।६०॥

इकः ६।१॥ ह्रस्वः १।१॥ अङ्यः ६।१॥ गालवस्य ६।१॥ स०—न ङी अङी, तस्य अङ्यः, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—अङ्यन्तस्येगन्तस्योत्तरपदे ह्रस्वो भवति, विकल्पेन गालवस्याचार्यस्य मतेन ॥ उदा०—ग्रामणिपुत्रः, ग्रामणीपुत्रः। ब्रह्मबन्धुपुत्रः, ब्रह्मबन्धूपुत्रः ॥

भाषार्थः—[अङ्यः] ङी अन्त में नहीं है, जिसके ऐसा जो [इकः] इक् अन्तवाला शब्द उसको [गालवस्य] गालव आचार्य के मत में विकल्प से [ह्रस्वः] ह्रस्व होता है, उत्तरपद परे रहते ॥ ग्रामणी तथा ब्रह्मबन्धू शब्द इगन्त एवं अङ्यन्त हैं, अतः ह्रस्व हो गया है ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति ६।३।६५ तक जायेगी ॥

एक तद्धिते च ॥६।३।६१॥

एक लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ तद्धिते ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—एकशब्दस्य तद्धिते उत्तरपदे च परतः ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—एकस्याः भावः एकत्वम्, एकता। उत्तरपदे—एकस्याः क्षीरम् एकक्षीरम्, एकदुग्धम् ॥

भाषार्थः—[एक] एक शब्द को [तद्धिते] तद्धित [च] तथा उत्तरपद परे रहते ह्रस्व होता है ॥ सामर्थ्य से यहाँ स्त्रीलिङ्ग विशिष्ट एक शब्द का ग्रहण है, क्योंकि दीर्घ को ही ह्रस्व विधान सम्भव है ॥ एकत्व, एकता में त्व तल् तद्धित परे हैं ॥

ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् ॥६।३।६२॥

ङ्यापोः ६।२॥ संज्ञाछन्दसोः ७।२॥ बहुलम् १।१॥ स०—ङी च आप् च ङ्यापौ तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ संज्ञा च छन्दश्च संज्ञाछन्दसी तयोः ... इतरेतर-

द्वन्द्वः ॥ अनु०—ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—ङ्यन्तस्य आबन्तस्य च उत्तरपदे परतः संज्ञायां विषये छन्दसि विषये च बहुलं ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—ङ्यन्तस्य संज्ञायाम्—रेवतिपुत्रः, रोहिणिपुत्रः, भरणिपुत्रः ॥ बहुलवचनान्न च भवति—नान्दीकरः, नान्दीघोषः, नान्दीविशालः ॥ ङ्यन्तस्य छन्दसि—कुमारीं ददति=कुमारिदाः, उर्वीं ददति=उर्विदाः ॥ न च भवति—फाल्गुनीपौर्णमासी, जगतीच्छन्दः ॥ आबन्तस्य संज्ञायाम्—शिलवहम्, शिलप्रस्थम् ॥ न च भवति—लोमकागृहम्, लोमकाषण्डम् ॥ आबन्तस्य छन्दसि—अजक्षीरेण जुहोति । ऊर्णम्रदां पृथिवीं, विश्वधायसम् ॥ न च भवति—ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति ॥

भाषार्थः—[ङ्यापोः] ङ्यन्त तथा आबन्त शब्दों को [संज्ञाछन्दसोः] संज्ञा तथा छन्द-विषय में उत्तरपद परे रहते [बहुलम्] बहुल करके ह्रस्व होता है ॥ बहुल कहने से जहाँ नहीं होता, वे उदाहरण ऊपर दर्शा दिये हैं ॥

यहाँ से 'ङ्यापोः बहुलम्' की अनुवृत्ति ६।३।६३ तक जायेगी ॥

त्वे च ॥६।३।६३॥

त्वे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—ङ्यापोः बहुलम्, ह्रस्वः ॥ अर्थः—त्वप्रत्यये परतो ङ्यापोर्बहुलं ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—तदजाया भावः अजत्वम्, तद्रोहिण्या भावो रोहिणित्वम् । बहुलवचनात्—अजात्वम्, रोहिणीत्वम् ॥

भाषार्थः—[त्वे] त्व प्रत्यय परे रहते [च] भी ङ्यन्त तथा आबन्त शब्द को बहुल करके ह्रस्व होता है ॥

इष्टकेषीकामालानां चिततूलभारिषु ॥६।३।६४॥

इष्टकेषीकामालानाम् ६।३॥ चिततूलभारिषु ७।३॥ स०—इष्टकेषी०, चिततूल० इत्युभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—इष्टका, इषीका, माला इत्येतेषां यथासङ्ख्यं चित, तूल, भारिन् इत्येतेषूत्तरपदेषु ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—इष्टकचितम् । इषीकतूलम् । मालां भर्तुं शीलमस्याः=मालभारिणी कन्या ॥

भाषार्थः—[इष्टकेषीकामालानाम्] इष्टका, इषीका, माला इन तीन शब्दों को [चिततूलभारिषु] चित, तूल तथा भारिन् शब्दों के उत्तरपद परे रहते यथासङ्ख्य करके ह्रस्व हो जाता है ॥

खित्यनव्ययस्य ॥६।३।६५॥

खिति ७।१॥ अनव्ययस्य ६।१॥ स०—ख् इत् यस्य स खित् तस्मिन् ....

बहुव्रीहिः । अनव्य० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः । अनु०—ह्रस्वः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—खिदन्त उत्तरपदेऽनव्ययस्य ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—कालिमन्या, हरिणिमन्या ॥

भाषार्थः—[खिति] ख् इत् संज्ञक है, जिसका ऐसे शब्द के उत्तरपद रहते [अनव्ययस्य] अव्यय भिन्न शब्द को ह्रस्व हो जाता है ॥ कालीमात्मानं मन्यते = कालिमन्या, यहाँ आत्ममाने खश्च (३।२।८३) से मन धातु से खश् प्रत्यय हुआ है, जो कि खित् है । अतः मन्या खिदन्त परे रहते काली को ह्रस्व हो गया है ॥ मुम् आगम भी अरुर्द्विषद० (६।३।६६) से हो जायेगा । मन्या में दिवादिभ्यः श्यन् (३।१।६९) से श्यन् विकरण हुआ है । इसी प्रकार हरिणिमन्या में जानें ॥

यहाँ से 'खिति' की अनुवृत्ति ६।३।६७ तक, तथा 'अनव्ययस्य' की ६।३।६६ तक जायेगी ॥

अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् ॥६।३।६६॥

अरुर्द्विषदजन्तस्य ६।१॥ मुम् १।१॥ स०—अच् अन्ते यस्य स अजन्तः, बहुव्रीहिः । अरुश्च द्विषत् च अजन्तश्च अरुर्द्विषदजन्तं तस्य ······ समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—खित्यनव्ययस्य, उत्तरपदे ॥ अर्थः—अरुस् द्विषत् इत्येतयोरजन्तानामनव्ययानाञ्च खिदन्ते उत्तरपदे मुमागमो भवति ॥ उदा०—अरुन्तुदः, द्विषन्तपः । अजन्तानाम्—कालिमन्या, हरिणिमन्या ॥

भाषार्थः—[अरुर्द्विषदजन्तस्य] अरुस् द्विषत् तथा अव्यय भिन्न अजन्त शब्दों को खिदन्त उत्तरपद रहते [मुम्] मुम् आगम होता है ॥ अरुन्तुदः यहाँ विध्वरुषोस्तुदः (३।२।३५) से खश् प्रत्यय हुआ है, एवं द्विषन्तपः में द्विषत्परयोस्तापेः (३।२।३९) से खच् प्रत्यय हुआ है, दोनों ही खित् प्रत्यय हैं । पूरी सिद्धि उपर्युक्त सूत्रों में ही देखें । अजन्त के उदाहरण की सिद्धि पूर्वसूत्र में दर्शा दी है ॥

यहाँ से 'मुम्' की अनुवृत्ति ६।३।७१ तक जायेगी ॥

इच एकाचोऽम्प्रत्ययवच्च ॥६।३।६७॥

इचः ६।१॥ एकाचः ६।१॥ अम् १।१॥ प्रत्ययवत् अ० ॥ च अ० ॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्य ······ बहुव्रीहिः, अम् च अम् चेति अम्, एकशेषः ॥ अनु०—खिति, उत्तरपदे ॥ अर्थः—खिदन्त उत्तरपदे इजन्तस्य एकाचोऽमागमो भवति, स च 'अम्' प्रत्ययवच्च = द्वितीयैकवचनवच्च भवति ॥ उदा०—गांमन्यः, स्त्रींमन्यः, स्त्रियंमन्यः, नरंमन्यः, श्रियंमन्यः, भ्रुवंमन्यः ॥

भाषार्थः—खिदन्त उत्तरपद रहते [इचः] इजन्त [एकाचः] एकाच् को [अम्] अम् आगम हो जाता है, और वह अम् [प्रत्ययवत्] प्रत्यय के समान

[च] भी माना जाता है ।। अम् की आवृत्ति करने से यह अर्थ हुआ कि द्वितीया के एकवचन में जो 'अम्' प्रत्यय है, तद्वत् ही इस 'अम्' में कार्य होवें । इसलिये न विभक्तौ० (१।३।४) से मकार की इत्संज्ञा का निषेध हो जाता है; और आगम होने पर भी परश्च (३।१।२) के नियम से यह अम् इजन्त से परे होता है । गांमन्यः यहाँ औतोम्शसोः (६।१।९०) से पूर्वपर के स्थान में आकार एकादेश हो जाता है, तथा स्त्रियंमन्यः यहाँ वाम्शसोः (६।४।८०) से इयङादेश विकल्प करके होता है । जिस पक्ष में इयङ् नहीं हुआ, तब अमि पूर्वः (६।१।१०३) से पूर्व-सवर्ण एकादेश होकर स्त्रीमन्यः बन गया । इसी प्रकार प्रत्ययवत् अम् को मानने से नरंमन्यः यहाँ नृ को ऋतो ङिसर्व० (७।३।११०) से गुण एवं श्रियंमन्यः भ्रुवंमन्यः में अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से (अम् को अजादि प्रत्ययवत् मानकर) क्रमशः इयङ् उवङ् आदेश होता है ।। पूर्ववत् सर्वत्र खिदन्त उत्तरपद है ही ।।

वाचंयमपुरन्दरौ च ।।६।३।६८।।

वाचंयमपुरन्दरौ १।२।। च अ० ।। स०—वाचंयम०, इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—मुम् ।। अर्थः—वाचंयम पुरन्दर इत्यत्र पूर्वपदयोरमागमो निपात्यते ।। उदा०—वाचंयम आस्ते । पुरं दारयतीति पुरंदरः ।।

भाषार्थः—[वाचंयमपुरन्दरौ] वाचंयम पुरन्दर इन शब्दों में [च] भी पूर्वपदों को अम् आगम निपातन किया जाता है । वाचंयमः में वाचि यमो व्रते (३।२।४०) से खच् तथा पुरन्दरः में पूःसर्वयोर्दारिसहोः (३।२।४१) से खच् प्रत्यय होता है ।।

कारे सत्यागदस्य ।।६।३।६९।।

कारे ७।१।। सत्यागदस्य ६।१।। स०—सत्यञ्च अगदश्च सत्यागदम्, तस्य...... समाहारद्वन्द्वः ।। अनु०—मुम्, उत्तरपदे ।। अर्थः—कारशब्द उत्तरपदे सत्य, अगद इत्येतयोर्मुमागमो भवति ।। उदा०—सत्यं करोतीति सत्यङ्कारः, अगदङ्कारः ।।

भाषार्थः—[कारे] कार शब्द उत्तरपद रहते [सत्यागदस्य] सत्य तथा अगद शब्द को मुम् आगम हो जाता है ।। मुम् के 'म्' को अनुस्वार (८।३।२४) तथा परसवर्ण (८।४।५७) होकर 'ङ्' हो जायेगा ।।

श्येनतिलस्य पाते ञे ।।६।३।७०।।

श्येनतिलस्य ६।१।। पाते ७।१।। ञे ७।१।। स०—श्येनश्च तिलश्च श्येनतिलम्, तस्य......समाहारद्वन्द्वः ।। अनु०—मुम्, उत्तरपदे ।। अर्थः—श्येन तिल इत्येतयोः ञे प्रत्यये पातशब्द उत्तरपदे मुमागमो भवति ।। उदा०—श्येनस्य पातोऽस्यां क्रीडायां श्यैनम्पाता मृगया, तैलम्पाता ।।

भाषार्थः—[श्येनतिलस्य] श्येन तथा तिल शब्द को [पाते] पात शब्द के उत्तरपद रहते तथा [ञे] ञ प्रत्यय के परे रहते मुम् आगम होता है ॥ घञः सास्यां क्रियेति ञः (४।२।५७) से घञन्त तिलपात एवं श्येनपात शब्दों से ञ प्रत्यय हुआ है, अतः ञ प्रत्यय परे है ही, एवं पात शब्द भी उत्तरपद है । ञ के ञित् होने से आदि को (७।२।११७) वृद्धि हो ही जायेगी ॥

रात्रेः कृति विभाषा ॥६।३।७१॥

रात्रेः ६।१॥ कृति ७।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—मुम्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—कृदन्ते उत्तरपदे रात्रिशब्दस्य विभाषा मुमागमो भवति ॥ उदा०—रात्रिञ्चरः । रात्रिचरः, रात्रिमटः, रात्र्यटः ॥

भाषार्थः—[कृति] कृदन्त उत्तरपद रहते [रात्रेः] रात्रि शब्द को [विभाषा] विकल्प करके मुम् आगम होता है । चर धातु से रात्रि उपपद रहते चरेष्टः (३।२।१६) से कृत्संज्ञक ट प्रत्यय हुआ है, एवं अट धातु से पचाद्यच् हुआ है, इस प्रकार कृदन्त उत्तरपद उदाहरणों में है ही । रात्र्यटः में यणादेश हो गया है ॥

नलोपो नञः ॥६।३।७२॥

नलोपः १।१॥ नञः ६।१॥ स०—नकारस्य लोपः नलोपः षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—उत्तरपदे ॥ अर्थः—नञो नकारस्य लोपो भवत्युत्तरपदे परतः ॥ उदा०—अब्राह्मणः, अवृषलः, असुरापः, असोमपः ॥

भाषार्थः—[नञः] नञ् के [नलोपः] नकार का लोप हो जाता है, उत्तरपद परे रहते ॥ न् हल् का लोप करने पर 'अ' शेष रहेगा ॥

यहाँ से 'नञः' की अनुवृत्ति ६।३।७६ तक जायेगी ॥

तस्मान्नुडचि ६।३।७३

तस्मात् ५।१॥ नुट् १।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—नञः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—तस्मात् लुप्तनकारात् नञो नुट् आगमो भवति अजादावुत्तरपदे ॥ उदा०—अनजः, अनश्वः ॥

भाषार्थः—[तस्मात्] उस लुप्त नकारवाले नञ् से उत्तर [नुट्] नुट् का आगम [अचि] अजादि शब्द के उत्तरपद रहते होता है ॥ 'तस्मात्' से यहाँ प्रकृत नलोपो नञः से कहा हुआ लुप्त नकारवाला नञ् ही निर्दिष्ट है ॥ न+अजः=अ+अजः, यहाँ उत्तरपद को नुट् आगम होकर अनजः अनश्वः बन गया ॥

नभ्राण्नपान्नवेदानासत्यानमुचिनकुलनखनपुंसकनक्षत्रनक्रनाकेषु प्रकृत्या ॥६।३।७४॥

नभ्राण······केषु ७।३॥ प्रकृत्या ३।१॥ स०—नभ्राण० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ **अनु०**—नञः ॥ **अर्थः**—नभ्राट्, नपात्, नवेदा, नासत्या, नमुचि, नकुल, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र, नाक इत्येतेषु नञ् प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—न भ्राजते=नभ्राट् । न पातीति नपात् । न वेत्तीति नवेदाः । सत्सु साधवः सत्याः, न सत्या असत्याः, न असत्याः नासत्याः । न मुञ्चतीति नमुचिः । नास्य कुलमस्तीति नकुलः । नास्य खमस्तीति नखम् । न स्त्री न पुमान्=नपुंसकम् । न क्षरति क्षीयते इति वा नक्षत्रम् । न क्रामतीति नक्रः । नास्मिन् अकमिति नाकम् ॥

भाषार्थः—[नभ्राण······नाकेषु] नभ्राट्, नपात्, नवेदा, नासत्या, नमुचि, नकुल, नख, नपुंसक, नक्षत्र, नक्र, नाक इन शब्दों में जो नञ् उसे [प्रकृत्या] प्रकृतिभाव हो जाता है, अर्थात् नलोपो नञः, तस्मान्नुडचि सूत्रों की प्रवृत्ति नहीं होती ॥ नभ्राट् में भ्राजृ धातु से भ्राजभास० (३।२।१७७) से क्विप् एवं व्रश्च-भ्रस्ज० (८।२।३६) से षत्व जश्त्व चर्त्व होकर टकार हुआ । नपात् में पात् शत्रन्त है । नवेदाः में विद् धातु से औणादिक असुन् प्रत्यय हुआ है । जो सज्जनों में असाधु नहीं हैं, वे नासत्याः कहे जायेंगे । नमुचिः यहाँ औणादिक (उणा० ४।१२०) 'कि' प्रत्यय हुआ है । नपुंसकम् यहाँ स्त्रीपुंस को पुंसक भाव निपातन से होता है । नक्रः यहाँ क्रम धातु से ड प्रत्यय निपातन से होता है । टि भाग का लोप होकर 'न क्र् अ =नक्र' बन गया । कम् सुख को कहते हैं, अतः अकम् दुःख होगा, पुनः नञ् समास करने पर अकम् का विपरीत नाकम् स्वर्ग कहा जायेगा ॥

यहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।३।७६ तक जायेगी ॥

एकादिश्चैकस्य चादुक् ॥६।३।७५॥

एकादिः १।१॥ च अ० ॥ एकस्य ६।१॥ च अ० ॥ आदुक् १।१॥ स०—एक आदिर्यस्य स एकादिः, बहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—प्रकृत्या, नञः, उत्तरपदे ॥ **अर्थः**—एकादिर्नञ् प्रकृत्या भवत्युत्तरपदे, एकशब्दस्य च आदुक् आगमो भवति ॥ उदा०—एकेन न विंशतिः एकान्नविंशतिः, एकादनविंशतिः । एकान्नत्रिंशत्, एकाद्नत्रिंशत् ॥

भाषार्थः—[एकादिः] एक है आदि में जिसके ऐसे नञ् को [च] भी उत्तरपद परे रहते प्रकृतिभाव होता है [च] तथा [एकस्य] एक शब्द को [आदुक्] आदुक् का आगम होता है ॥ पहले नञ् का विंशति शब्द से समास होता है, पश्चात् एक शब्द का नविंशति के साथ तृतीया तत्पुरुष समास होता है ।

'एक आदुक् न विंशति' यहाँ प्रकृतिभाव होकर तथा द् को यरोऽनुनासिके० (८।४।४४) से अनुनासिक आदेश होकर एकान्नविंशतिः बन गया। पक्ष में जब अनुनासिक नहीं हुआ, तो एकादनविंशतिः ही रहा॥

नगोऽप्राणिष्वन्यतरस्याम् ॥६।३।७६॥

नगः १।१॥ अप्राणिषु ७।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—न प्राणिनो ऽप्राणिनस्तेषु ......नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—प्रकृत्या, नञः, उत्तरपदे॥ अर्थः—अप्राणिषु वर्त्तमानो यो नगशब्दस्तत्र नञ् प्रकृत्या विकल्पेन भवति॥ उदा०—न गच्छन्तीति=नगाः वृक्षाः, अगाः वृक्षाः, नगाः पर्वताः, अगाः पर्वताः॥

भाषार्थः—[अप्राणिषु] प्राणि भिन्न अर्थ में वर्त्तमान जो [नगः] नग शब्द उसके नञ् को प्रकृतिभाव [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके होता है॥ डप्रकरणे अन्येष्वपि० (वा० ३।२।४८) इस वार्त्तिक से गम धातु से ड प्रत्यय होकर नगः बना है॥

सहस्य सः संज्ञायाम् ॥६।३।७७॥

सहस्य ६।१॥ सः १।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—उत्तरपदे॥ अर्थः—सहशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवत्युत्तरपदे संज्ञायां विषये॥ उदा०—सह अश्वत्थेन= साश्वत्थम्, सपलाशम्, सशिंशपम्॥

भाषार्थः—[सहस्य] सह शब्द को [सः] स आदेश उत्तरपद परे रहते [संज्ञायाम्] संज्ञा विषय में होता है॥ तेन सहेति तुल्ययोगे (२।२।२८) से उदाहरणों में बहुव्रीहि समास हुआ है॥

यहाँ से 'सहस्य' की अनुवृत्ति ६।३।८२ तक, तथा 'सः' की ६।३।८८ तक जायेगी॥

ग्रन्थान्ताधिके च ॥६।३।७८॥

ग्रन्थान्ताधिके ७।१॥ च अ०॥ स०—ग्रन्थस्यान्तः ग्रन्थान्तः, षष्ठीपुरुषः। ग्रन्थान्तश्च अधिकञ्च ग्रन्थान्ताधिकं, तस्मिन् ...... समाहारद्वन्द्वः॥ अनु०—सहस्य, सः, उत्तरपदे॥ अर्थः—ग्रन्थान्तेऽधिके च वर्त्तमानस्य सहशब्दस्य स इत्ययमादेशो भवत्युत्तरपदे॥ उदा०—सकलं ज्योतिषमधीते, समुहूर्त्तम्। अधिके—सद्रोणा खारी, समाषः कार्षापणः, सकाकिणीको माषः॥

भाषार्थः—[ग्रन्थान्ताधिके] ग्रन्थ के अन्त एवं अधिक अर्थ में वर्त्तमान सह शब्द को [च] भी उत्तरपद परे रहते स आदेश होता है॥ कला काल विशेष का नाम है। तत्सहचरित जो ग्रन्थ वह भी कला कहा जाता है। कलया सह वर्त्तते

सकलम् (=कला पर्यन्त), यहाँ अन्तवचन (२।१।६) में अव्ययीभाव समास है। इसी प्रकार समुहूर्त्तम् में जानें। अर्थात् ग्रन्थ में जहाँ कला वा मुहूर्त्त का वर्णन है, वहाँ तक ग्रन्थ पढ़ा। सद्रोणा खारी का अर्थ है, द्रोणाधिक खारी। सर्वत्र पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है॥

द्वितीये चानुपाख्ये ॥६।३।७६॥

द्वितीये ७।१॥ च अ० ॥ अनुपाख्ये ७।१॥ अनु०—सहस्य सः, उत्तरपदे ॥ द्वयोः सहयुक्तयोरप्रधानो यः स द्वितीयः। उपाख्यायते प्रत्यक्षत उपलभ्यते स उपाख्यः। उपाख्यादन्योऽनुपाख्यः, अनुमेय इत्यर्थः॥ अर्थः—अनुमेये द्वितीये उत्तरपदे परतः सहस्य स इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—साग्निः कपोतः, सपिशाचा वात्या, सराक्षसीका शाला॥

भाषार्थः - दो में जो अप्रधान हो, वह यहाँ द्वितीय शब्द से कहा गया है, क्योंकि प्रधान तथा अप्रधान दोनों के होने पर अप्रधान को ही 'द्वितीय' कहा जाता है। प्रत्यक्ष उपलभ्यमान को उपाख्य तथा उससे अन्य अर्थात् अनुमेय (=अनुमान किया जाने योग्य) को अनुपाख्य कहते हैं॥ [द्वितीये] अप्रधान, [अनुपाख्ये] अनुमेय के उत्तरपद रहते [च] भी सह को स आदेश होता है॥ साग्निः कपोतः आदि में पूर्ववत् बहुव्रीहि समास है। कपोत आग खाता है[1], ऐसी लौकिक प्रसिद्धि है। जहाँ-जहाँ आग है, वहाँ-वहाँ कपोत अवश्य होगा, ऐसा अनुमान नहीं हो सकता, किन्तु जहाँ-जहाँ कपोत है, वहाँ-वहाँ आग होगी, ऐसा अनुमान होता है। इससे कपोत की प्रधानता सिद्ध होती है, तथा अग्नि की अप्रधानता। इस प्रकार अग्नि अनुपाख्य एवं द्वितीय=अप्रधान दोनों ही है, सो सह को स भाव हो गया। इसी प्रकार वात्या (=आँधी) से पिशाच अनुमेय एवं द्वितीय=अप्रधान भी है। अतः सपिशाचा, सराक्षसीका बन गया॥

अव्ययीभावे चाकाले ॥६।३।८०॥

अव्ययीभावे ७।१॥ च अ० ॥ अकाले ७।१॥ स०—न कालोऽकालस्तस्मिन् ...

१. कपोत का मांस अत्युष्ण होता है। पक्षाघात (=लकवा मारना) सदृश वात-प्रधान रोगों में मांसाशियों को कपोतमांस पथ्यरूप में दिया जाता है। उससे पक्षाघात रोग में सद्यः लाभ होता है। अत एव लोक में प्रसिद्धि है कि—कपोत अग्नि खाता है। इसी प्रकार (=बबूला) आदि में फँस जाने के कारण निर्बल प्रकृति के पुरुष को कभी-कभी उन्माद रोग हो जाता है। इसी से लोक में प्रसिद्धि है, वात्या (=बबूला) में पिशाच का वास होता है। तद्वत् सराक्षसीका शाला भी मलिन शाला को कहते हैं॥

नञ्तत्पुरुषः । अनु०—सहस्य सः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—अव्ययीभावे च समासेऽकालवाचिन्युत्तरपदे सहस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—सचक्रं धेहि, सधुरं प्राज ॥

भाषार्थः—[अव्ययीभावे] अव्ययीभाव समास में [च] भी [अकाले] अकालवाची शब्दों के उत्तरपद रहते सह को स आदेश होता है ॥ सचक्रम् सधुरम् में अव्ययं विभक्तिसमीप० (२।१।६) से अव्ययीभाव समास हुआ है । सधुरम् में ऋक्पूरब्धू:० (५।४।७४) से समासान्त अकार प्रत्यय हुआ है ॥

वोपसर्जनस्य ॥६।३।८१॥

वा अ० ॥ उपसर्जनस्य ६।१॥ अनु०—सहस्य, सः ॥ अर्थः—यस्य समासस्य सर्वेऽवयवा: उपसर्जनीभूतास्तदवयवस्य सहशब्दस्य वा स इत्ययमादेशो भवति ॥ सहपुत्रः, सच्छात्रः, सहच्छात्रः ॥

भाषार्थः—जिस समास के सारे अवयव [उपसर्जनस्य] उपसर्जन हैं, तदवयव=उसके अवयव सह शब्द को [वा] विकल्प से 'स' आदेश होता है ॥ यहाँ 'उपसर्जनस्य' पद सह शब्द का विशेषण न होकर पूरे समास के पदों का विशेषण है, अतः 'जिसके सारे अवयव उपसर्जन हैं' ऐसा अर्थ होगा। बहुव्रीहि समास में ही समास के सारे पद उपसर्जन होते हैं, अतः यह विधि बहुव्रीहि समास में ही होगी ॥

प्रकृत्याऽऽशिषि ॥६।३।८२॥

प्रकृत्या ३।१॥ आशिषि ७।१॥ अनु०—सहस्य ॥ अर्थः—आशिषि विषये सहशब्दः प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—स्वस्ति देवदत्ताय सहपुत्राय सहच्छात्राय सहामात्याय ॥

भाषार्थः—[आशिषि] आशीर्वाद विषय में सह शब्द को [प्रकृत्या] प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ पूर्वसूत्र से स आदेश की प्राप्ति थी, यहाँ प्रकृतिभाव कहने से आशीर्वाद विषय में स आदेश नहीं हुआ ॥

समानस्य छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु ॥६।३।८३॥

समानस्य ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु ७।३॥ स०—मूर्द्धा च प्रभृतिश्च उदर्कश्च मूर्द्धप्रभृत्युदर्काः, इतरेतरद्वन्द्वः । न मूर्द्धप्रभृत्युदर्काः अमूर्द्धप्रभृत्युदर्कास्तेषु, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—छन्दसि विषये समानशब्दस्य 'स' इत्ययमादेशो भवति मूर्धन्, प्रभृति, उदर्क इत्येतान्युत्तरपदानि वर्जयित्वा ॥ उदा०—अनुभ्राता सगर्भ्यः । अनुसखा सयूथ्यः । यो नः सनुत्यः ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में [समानस्य] समान शब्द को 'स' आदेश हो जाता है, [अमूर्धप्रभृत्युदर्केषु] मूर्धन्, प्रभृति, उदर्क उत्तरपद न हों तो। समानो गर्भः=सगर्भः, तत्र भवः सगर्भ्यः, सयूथ्यः, सनुत्यः। यहाँ सगर्भसयूथ० (४।४।११४) से यत् प्रत्यय हुआ है, एवं सर्वत्र पूर्वापरप्रथम० (२।१।५०) से समास भी जानें ॥

यहाँ से 'समानस्य' की अनुवृत्ति ६।३।८८ तक जायेगी ॥

ज्योतिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचन-बन्धुषु ॥६।३।८४॥

ज्योतिर्ज····बन्धुषु ७।३॥ स०—ज्योतिश्च, जनपदश्च रात्रिश्च नाभिश्च नाम च गोत्रञ्च रूपञ्च स्थानञ्च वर्णश्च वयश्च वचनञ्च बन्धुश्च ज्योतिर्ज····बन्धवस्तेषु ···· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ समानस्य, स उत्तरपदे ॥ अर्थः—ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु इत्येतेषूत्तरपदेषु समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—समानं ज्योतिरस्य=सज्योतिः, सजनपदः, सरात्रिः, सनाभिः, सनामा, सगोत्रः, सरूपः, सस्थानः, सवर्णः, सवयाः, सवचनः, सबन्धुः ॥

भाषार्थः—[ज्योतिर्ज·····बन्धुषु] ज्योतिस्, जनपद, रात्रि, नाभि, नाम, गोत्र, रूप, स्थान, वर्ण, वयस्, वचन, बन्धु इन शब्दों के उत्तरपद रहते समान को स आदेश हो जाता है ॥ सनामा यहाँ सर्वनामस्थाने० (६।४।८) से तथा सवयाः यहाँ अत्वसन्तस्य० (६।४।१४) से दीर्घ हुआ है ॥

चरणे ब्रह्मचारिणि ॥६।३।८५॥

चरणे ७।१॥ ब्रह्मचारिणि ७।१॥ अनु०—समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—ब्रह्मचारिण्युत्तरपदे चरणे गम्यमाने समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—समानो ब्रह्मचारी सब्रह्मचारी। समाने ब्रह्मणि व्रतचारी=सब्रह्मचारी ॥

भाषार्थः—[चरणे] चरण गम्यमान[1] हो, तो [ब्रह्मचारिणि] ब्रह्मचारी

---

१. ब्रह्म नाम वेद का है। यदि यहाँ ब्रह्म शब्द से प्रधान ऋग्वेदादि चार वेदों का ही ग्रहण माना जावे, तो ऋग्वेद की समस्त शाखाओं के अध्येता परस्पर सब्रह्मचारी होंगे, पर यह इष्ट नहीं है। इसी प्रकार ब्रह्म से वेद की तत्-तत् शाखा का ही ग्रहण किया जाये, तो केवल उस-उस शाखा के अध्येता ही परस्पर सब्रह्मचारी होंगे। परन्तु इतने ही अर्थ में सब्रह्मचारी पद प्रयुक्त नहीं होता। अतः सूत्रकार ने "चरणे" विशेष पद पढ़ा है। एक मूल शाखा की अवान्तर शाखाओं का समूह चरण कहाता है

उत्तरपद रहते समान शब्द को स आदेश हो जाता है ॥ ब्रह्म वेद को कहते हैं, उसके अध्ययन के लिये जो व्रत वह भी ब्रह्म कहाता है, उस व्रत में जो चले, वह ब्रह्मचारी होगा। यहाँ व्रते (३।२।८०) से णिनि प्रत्यय हुआ है। इस प्रकार समान ब्रह्म (=वेद) में जो व्रत करे, वह स ब्रह्मचारी होगा ॥

तीर्थे ये ॥६।३।८६॥

तीर्थे ७।१॥ ये ७।१॥ अनु०—समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—यप्रत्यये परतस्तीर्थशब्द उत्तरपदे समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—सतीर्थ्यः ॥

भाषार्थः—[तीर्थे] तीर्थ शब्द उत्तरपद हो, तो [ये] य प्रत्यय परे रहते समान शब्द को स आदेश होता है ॥ समान का तीर्थ शब्द के साथ कर्मधारय समास होकर समानतीर्थे वासी (४।४।१०७) से यत् प्रत्यय होता है, पश्चात् समान को स आदेश हो ही जायेगा ॥

यहाँ से 'ये' की अनुवृत्ति ६।३।८७ तक जायेगी ॥

विभाषोदरे ॥६।३।८७॥

विभाषा १।१॥ उदरे ७।१॥ अनु०—ये, समानस्य, सः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—उदरशब्द उत्तरपदे यप्रत्यये परतः समानशब्दस्य विभाषा स इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—सोदर्यः, समानोदर्यः ॥

भाषार्थः—[उदरे] उदर शब्द उत्तरपद रहते य प्रत्यय परे हो, तो समान शब्द को स आदेश [विभाषा] विकल्प करके होता है ॥ समानोदर्यः में समानोदरे शयित ओ चोदात्तः (४।४।१०८) से यत् प्रत्यय तथा सोदर्यः में सोदराद्यः (४।४। १०९) से य प्रत्यय हुआ है ॥

दृग्दृशवतुषु ॥६।३।८८॥

दृग्दृशवतुषु ७।३॥ स०—दृक् ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—समानस्य स

जैसे ऋग्वेद की शाकल आदि मुख्य पाँच शाखाएँ हुई। उनकी फिर अवान्तर शाखाएँ हुई, वे सब अवान्तर शाखाएँ शाकल आदि मुख्य चरण शब्द से व्यवहृत होती हैं। इसी प्रकार वाजसनेय मुख्य विभाग की १५ माध्यन्दिन काण्व आदि अवान्तर शाखाएँ हुई, ये सभी वाजसनेय चरण नाम से व्यवहृत होती हैं। इसी प्रकार तैत्तिरीय मैत्रायणी काठक आदि भी चरण शब्द हैं, न कि शाखामात्र। इस प्रकार वाजसनेय चरण अन्तर्गत किन्हीं भी भिन्न-भिन्न शाखाओं के अध्येता भी एक चरणान्तर्गत होने से परस्पर सब्रह्मचारी कहाते हैं ॥

उत्तरपदे ॥ अर्थः—दृक्, दृश, वतु इत्येतेषूत्तरपदेषु समानस्य स इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—सदृक्, सदृशः ॥

भाषार्थः—[दृग्दृशवतुषु] दृक्, दृश, वतु इनके उत्तरपद रहते समान शब्द को स आदेश हो जाता है ॥ समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम् (वा० ३।२।६०) इस वार्तिक से समान उपपद रहते भी क्विन् तथा कञ् प्रत्यय होता है। अतः सदृक्, सदृश बन गया। वतुप् प्रत्यय यत्तदेतेभ्यः परिमाणे० (५।२।३६) से यत् तद् एवं एतद् से ही होता है। अतः समान शब्द से उत्तर वतुप् सम्भव न होने से यहाँ वतुप् परे का उदाहरण नहीं दिया है। इस प्रकार वतुप् ग्रहण उत्तरार्थ है ॥

यहाँ से 'दृग्दृशवतुषु' की अनुवृत्ति ६।३।९० तक जायेगी ॥

इदङ्किमोरीश्की ॥६।३।८९॥

इदङ्किमोः ६।२॥ ईश्की लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ स०—इदम् च किम् च इदम्-किमौ, तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः। ईश्० इत्यत्रापि इतरेतरद्वन्द्वः। अनु०—दृग्दृशवतुषु, उत्तरपदे ॥ अर्थः—इदम्, किम् इत्येतयोः ईश्, की इत्येतौ यथासंख्यमादेशौ भवतः दृग्दृशवतुषु परतः ॥ उदा०—ईदृक्, ईदृशः, इयान्। कीदृक्, कीदृशः, कियान् ॥

भाषार्थः—[इदंकिमोः] इदम् तथा किम् को यथासंख्य करके [ईश्की] ईश् तथा की आदेश हो जाते हैं, दृग् दृश तथा वतुप् परे रहते ॥ ईदृक्, ईदृशः कीदृक् कीदृशः में कञ् तथा क्विन् प्रत्यय पूर्वसूत्र की व्याख्यानुसार जानें ॥ इयान् कियान् की सिद्धि भाग २, परि० ५।२।४० पृष्ठ ५४८ में देखें ॥

आ सर्वनाम्नः ॥६।३।९०॥

आ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ सर्वनाम्नः ६।१॥ अनु०—दृग्दृशवतुषु, उत्तरपदे ॥ अर्थः—सर्वनाम्नः आकारादेशो भवति दृग्दृशवतुषु परतः ॥ उदा०—तादृक्, तादृशः, तावान्। यादृक्, यादृशः, यावान् ॥

भाषार्थः—[सर्वनाम्नः] सर्वनाम संज्ञक शब्दों को [आ] आकारादेश होता है, दृग् दृश तथा वतुप् परे रहते ॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से तद् यद् के अन्तिम अल् को आकारादेश होता है। पूर्ववत् क्विन्, कञ् प्रत्यय होंगे ॥

यहाँ से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति ६।३।९१ तक जायेगी ॥

विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये ॥६।३।९१॥

विष्वग्देवयोः ६।२॥ च अ०॥ टेः ६।१॥ अद्रि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ अञ्चतौ

७।१।। वप्रत्यये ७।१।। स०—विष्वक्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । वः प्रत्ययो यस्मात् स वप्रत्यय-स्तस्मिन् बहुव्रीहिः ।। अनु०—सर्वनाम्नः, उत्तरपदे ।। अर्थः—विष्वक् देव—इत्येतयोः सर्वनाम्नश्च टेः अद्रीत्ययमादेशो भवति अञ्चतौ वप्रत्ययान्त उत्तरपदे ।। उदा०—विष्वगञ्चतीति विष्वद्र्यङ्, देवद्र्यङ् । सर्वनाम्नः—तद्र्यङ्, यद्र्यङ् ।।

भाषार्थः—[विष्वग्देवयोः] विष्वग् एवं देव शब्दों के [च] तथा सर्वनाम शब्दों के [टेः] टि को [अद्रि] अद्रि आदेश होता है, [वप्रत्यये] वप्रत्ययान्त [अञ्चतौ] अञ्चु धातु के परे रहते ।। क्विप्, क्विन् का जो 'व' शेष रहता है उसका ग्रहण है ।। अञ्चु धातु से ऋत्विग्दधृक्० (३।२।५९) से क्विन् प्रत्यय होकर 'अङ्' बना है, इसकी सिद्धि भाग १, परि० ३।२।५९ में देखें । अब इस वप्रत्ययान्त अञ्चु के परे रहते विष्वक् के टि भाग 'अक्' को तथा देव के टि भाग 'अ' को 'अद्रि' आदेश होकर 'विष्व् अद्रि अङ्' तथा 'देव् अद्रि अङ्' रहा । यणादेश होकर विष्वद्र्यङ् देवद्र्यङ् बन गया । तद् यद् से भी इसी प्रकार तद्र्यङ्, यद्र्यङ् की सिद्धि जानें ।।

यहाँ से 'अञ्चतौ वप्रत्यये' की अनुवृत्ति ६।३।९४ तक जायेगी ।।

समः समि ।।६।३।९२।।

समः ६।१।। समि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। अनु०—अञ्चतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे ।। अर्थः—सम् इत्येतस्य समि इत्ययमादेशो भवति, वप्रत्ययान्तेऽञ्चतावुत्तरपदे।। उदा०—सम्यङ्, सम्यञ्चौ, सम्यञ्चः ।।

भाषार्थः—[समः] सम् को [समि] समि आदेश होता है, वप्रत्ययान्त अञ्चु धातु के उत्तरपद रहते ।। पूर्ववत् सिद्धि जानें ।।

तिरसस्तिर्यलोपे ।।६।३।९३।।

तिरसः ६।१।। तिरि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। अलोपे ७।१।। स०—अलोप इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—अञ्चतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे ।। अर्थः—तिरस् इत्येतस्य तिरि इत्ययमादेशो भवति, वप्रत्ययान्तेऽञ्चतौ परतोऽलोपे सति ।। उदा०—तिर्यङ्, तिर्यञ्चौ, तिर्यञ्चः ।।

भाषार्थः—[तिरसः] तिरस् को [तिरि] तिरि आदेश वप्रत्ययान्त अञ्चु के उत्तरपद रहते होता है, यदि इसका = अञ्चु का [अलोपे] लोप न हुआ हो तो ।। तिरश्चा इत्यादि में अञ्चु के 'अ' का लोप अचः (६।४।१३८) से होता है, अतः अलोपे कहकर इसी विषय का प्रतिषेध किया है ।।

सहस्य सध्रिः ॥६।३।९४॥

सहस्य ६।१॥ सध्रिः १।१॥ अनु०—अञ्चतौ वप्रत्यये, उत्तरपदे ॥ अर्थः—सहस्य सध्रिरित्ययमादेशो भवति, वप्रत्ययान्तेऽञ्चतावुत्तरपदे ॥ उदा०—सध्र्यङ्, सध्र्यञ्चौ, सध्र्यञ्चः, सध्रीचः ॥

भाषार्थः—[सहस्य] सह शब्द को [सध्रिः] सध्रि आदेश वप्रत्ययान्त अञ्चु के उत्तरपद रहते होता है ॥ सध्रीचः में अचः (६।४।१३८) से अञ्चु के अ का लोप तथा चौ (६।३।१३६) से पूर्वपद को दीर्घ हुआ है ॥

यहाँ से 'सहस्य' की अनुवृत्ति ६।३।९५ तक जायेगी ॥

सध मादस्थयोश्छन्दसि ॥६।३।९५॥

सध लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ मादस्थयोः ७।२॥ छन्दसि ७।१॥ स०—माद० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सहस्य, उत्तरपदे ॥ अर्थः—माद स्थ इत्येतयोरुत्तरपदयोश्छन्दसि विषये सहस्य सध इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—सधमादो द्युम्न्य एकास्ताः । सधस्थाः ॥

भाषार्थः—[मादस्थयोः] माद तथा स्थ उत्तरपद रहते [छन्दसि] वेद-विषय में सह शब्द को [सध] सध आदेश होता है ॥

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् ॥६।३।९६॥

द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः ५।३॥ अपः ६।१॥ ईत् १।१॥ स०—द्विश्च[1] अन्तश्च उपसर्गश्च द्व्यन्तरुपसर्गाः, तेभ्यः......इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदे ॥ अर्थः—द्वि अन्तर् इत्येताभ्यामुपसर्गाच्चोत्तरस्य 'अप्' इत्येतस्य ईकारादेशो भवति ॥ उदा०—द्वीपम्, अन्तरीपम् । उपसर्गात्—नीपम्, वीपम्, समीपम् ॥

भाषार्थः—[द्व्यन्तरुपसर्गेभ्यः] द्वि अन्तर् तथा उपसर्ग से उत्तर [अपः] अप् शब्द को [ईत्] ईकारादेश हो जाता है ॥ आदेः परस्य (१।१।५३) से अप् के अकार को ई होता है। सिद्धियाँ भाग १, परि० १।१।५३, पृष्ठ ७२७ में देखें ॥

यहाँ से 'अपः' की अनुवृत्ति ६।३।९७ तक जायेगी ॥

ऊदनोर्देशे ॥६।३।९७॥

ऊत् १।१॥ अनोः ५।१॥ देशे ७।१॥ अनु०—अपः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—अनोः उत्तरस्य अप् इत्येतस्य ऊकारादेशो भवति देशे वाच्ये ॥ उदा०—अनुगता आपोऽस्मिन्—अनूपो देशः ॥

---

१. शब्दस्वरूपापेक्षोऽयं प्रयोगः ॥

भाषार्थः—[अनोः] अनु से उत्तर अप् शब्द को [ऊत्] ऊकारादेश होता है, [देशे] देश को कहने में ॥ पूर्ववत् अप् के अ को ऊकार होता है ॥

अषष्ठ्यतृतीयास्थस्यान्यस्य दुगाशीराशास्थास्थितोत्सुकोतिकारकरागच्छेषु ॥६।३।९८॥

अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य ६।१॥ अन्यस्य ६।१॥ दुक् १।१॥ आशी ...... गच्छेषु ७।३॥ स०—न षष्ठी अषष्ठी, न तृतीया अतृतीया, नञ्तत्पुरुषः । अषष्ठी च अतृतीया च अषष्ठ्यतृतीये, तयोः तिष्ठतीति अषष्ठ्यतृतीयास्थः, तस्य ...... इतरेतरद्वन्द्वगर्भतत्पुरुषः । आशीरा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदे ॥ अर्थः—आशिस्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग, छ इत्येतेषु परतः अषष्ठीस्थस्य अतृतीयास्थस्य चान्यशब्दस्य दुक् आगमो भवति ॥ उदा०—अन्या आशीः=अन्यदाशीः । अन्या आशा=अन्यदाशा । अन्या आस्था=अन्यदास्था । अन्य आस्थितः=अन्यदास्थितः । अन्य उत्सुकः=अन्यदुत्सुकः । अन्या ऊतिः=अन्यदूतिः । अन्यः कारकः=अन्यत्कारकः । अन्यो रागः=अन्यद्रागः । अन्यस्मिन् भवः=अन्यदीयः ॥

भाषार्थः—[आशी ...... गच्छेषु] आशिस्, आशा, आस्था, आस्थित, उत्सुक, ऊति, कारक, राग, छ इनके परे रहते [अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य] अषष्ठी स्थित तथा अतृतीयास्थित [अन्यस्य] अन्य शब्द को [दुक्] दुक् आगम होता है ॥ अन्य दुक् आशीः=अन्यदाशीः । इसी प्रकार सबमें जानें । अन्यदीयः यहाँ गहादिभ्यश्च० (४।२।१३७) से छ प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य अन्यस्य दुक्' की अनुवृत्ति ६।३।९९ तक जायेगी ॥

अर्थे विभाषा ॥६।३।९९॥

अर्थे ७।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—अषष्ठ्यतृतीयास्थस्य अन्यस्य दुक्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—अर्थशब्द उत्तरपदेऽषष्ठीस्थस्यातृतीयास्थस्यान्यस्य विभाषा दुगागमो भवति ॥ उदा०—अन्यस्मै इदम्=अन्यदर्थम् । अन्यार्थम् ॥

भाषार्थः—[अर्थे] अर्थ शब्द उत्तरपद हो तो अषष्ठीस्थ तथा अतृतीयास्थ अन्य शब्द को [विभाषा] विकल्प करके दुक् आगम होता है ॥

कोः कत्तत्पुरुषेऽचि ॥६।३।१००॥

कोः ६।१॥ कत् १।१॥ तत्पुरुषे ७।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—उत्तरपदे ॥

अर्थः—अजादावुत्तरपदे तत्पुरुषे समासे कु इत्येतस्य कदित्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—कुत्सितोऽजः=कदजः, कदश्वः, कदुष्ट्रः, कदन्नम् ॥

भाषार्थः—[कोः] कु को [तत्पुरुषे] तत्पुरुष समास में [अचि] अजादि शब्द उत्तरपद हो, तो [कत्] कत् आदेश होता है ॥ कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से कदजः आदि में समास हुआ है ॥ झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व होकर त् को द् हो ही जायेगा ॥

यहाँ से 'कोः' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक, तथा 'कत्' की ६।३।१०२ तक जायेगी ॥

रथवदयोश्च ॥६।३।१०१॥

रथवदयोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—रथ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—कोः, कत्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—रथ वद इत्येतयोश्चोत्तरपदयोः कोः कदित्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—कद्रथः, कद्वदः ॥

भाषार्थः—[रथवदयोः] रथ तथा वद शब्द उत्तरपद हो, तो [च] भी कु को कत् आदेश होता है ॥

तृणे च जातौ ॥६।३।१०२॥

तृणे ७।१॥ च अ० ॥ जातौ ७।१॥ अनु०—कोः, कत्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—तृणशब्द उत्तरपदे कोः कदादेशो भवति, जातावभिधेयायाम् ॥ उदा०—कत्तृणा नाम जातिः ॥

भाषार्थः—[तृणे] तृण शब्द उत्तरपद हो, तो [च] भी कु को कत् आदेश होता है, [जातौ] जाति अभिधेय होने पर ॥

का पथ्यक्षयोः ॥६।३।१०३॥

का लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ पथ्यक्षयोः ७।२॥ स०—पथ्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—कोः, उत्तरपदे ॥ अर्थः—पथिन् अक्ष इत्येतयोरुत्तरपदयोः कोः का इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—कुत्सितः पन्थाः=कापथः, कुत्सिते अक्षिणी अस्य=काक्षः ॥

भाषार्थः—[पथ्यक्षयोः] पथिन् तथा अक्ष शब्द उत्तरपद हो, तो कु शब्द को [का] का आदेश होता है ॥ कापथः में ऋक्पूरब्धूः० (५।४।७४) से समासान्त 'अ' प्रत्यय तथा काक्षः में बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः० (५।४।११३) से समासान्त षच् प्रत्यय हुआ है ॥ का पथिन् अ=नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टि भाग का लोप होकर कापथः काक्षः बन गया ॥

यहाँ से 'का' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी ॥

ईषदर्थे ॥६।३।१०४॥

ईषदर्थे ७।१॥ स०—ईषद: अर्थ: ईषदर्थ:, तस्मिन् ...... षष्ठी तत्पुरुषः ॥ अनु०—का, को:, उत्तरपदे ॥ अर्थ:—ईषदर्थे वर्त्तमानस्य को: का इत्ययमादेशो भवत्युत्तरपदे ॥ उदा०—ईषन्मधुरम्—कामधुरम्, कालवणम् ॥

भाषार्थ:—[ईषदर्थे] ईषत् (=थोड़ा) के अर्थ में वर्त्तमान कु शब्द को 'का' आदेश उत्तरपद परे रहते हो जाता है ॥ पूर्ववत् कुगतिप्रादय: (२।२।१८) से तत्पुरुष समास उदाहरणों में जानें ॥

विभाषा पुरुषे ॥६।३।१०५॥

विभाषा १।१॥ पुरुषे ७।१॥ अनु०—का, को:, उत्तरपदे ॥ अर्थ:—पुरुषशब्द उत्तरपदे को: का इत्ययमादेशो विकल्पेन भवति ॥ उदा०—कापुरुष:, कुपुरुष: ॥

भाषार्थ:—[पुरुषे] पुरुष शब्द उत्तरपद हो, तो [विभाषा] विकल्प से कु शब्द को 'का' आदेश हो जाता है ॥ जब का आदेश नहीं होगा तो कु ही रहेगा। यहाँ भी तत्पुरुष समास पूर्ववत् जानें ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी ॥

कवं चोष्णे ॥६।३।१०६॥

कवम् १।१॥ च अ० ॥ उष्णे ७।१॥ अनु०—विभाषा, का, को:, उत्तरपदे ॥ अर्थ:—उष्णशब्द उत्तरपदे को: कवमित्ययमादेशो भवति, का च विकल्पेन ॥ उदा०—कवोष्णम्, कोष्णम्, कदुष्णम् ॥

भाषार्थ:—[उष्णे] उष्ण शब्द उत्तरपद रहते कु शब्द को [कवम्] कव आदेश [च] भी होता है, एवं विकल्प से का आदेश भी होता है ॥ 'कव' आदेश होकर कवोष्णम् तथा 'का' होकर कोष्णम् एवं पक्ष में जब 'का' आदेश नहीं हुआ, तो अजादि उष्ण शब्द के परे रहते को: कत्तत्० (६।३।१००) से, कत् आदेश होकर कदुष्णम् बन गया ॥

यहाँ से 'कवम्' की अनुवृत्ति ६।३।१०७ तक जायेगी ॥

पथि च च्छन्दसि ॥६।३।१०७॥

पथि ७।१॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—विभाषा, कवम्, का, को:, उत्तरपदे ॥ अर्थ:—पथिन् शब्द उत्तरपदे छन्दसि विषये को: कव:, का इत्येतावादेशौ विकल्पेन भवत: ॥ उदा०—कवपथ:, कापथ:, कुपथ: ॥

भावार्थ:—[पथि] पथिन् शब्द उत्तरपद रहते [च] भी [छन्दसि] वेदविषय में कु को 'कव' तथा 'का' आदेश विकल्प करके होते हैं ।। पक्ष में जब कव एवं का आदेश नहीं होंगे, तो कु ही रह कर 'कुपथ:' बनेगा ।।

पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ।।६।३।१०८।।

पृषोदरादीनि १।३।। यथोपदिष्टम् अ० ।। स०—पृषोदर आदि: येषाम् तानि पृषोदरादीनि, बहुव्रीहि: । यानि यानि (शिष्टै:) उपदिष्टानि=यथोपदिष्टम्, यथाऽसादृश्ये (२।१।७) इति वीप्सायामव्ययीभाव: ।। अर्थ:—पृषोदरप्रकाराणि शब्दरूपाणि शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनि भवन्ति ।। दिशिरत्रोच्चारणक्रिय:, उपदिष्टान्युच्चारितानीत्यर्थ: ।। उदा०—पृषद् उदरं यस्य तत् पृषोदरम् । पृषद् उद्वानं यस्य तत् पृषोद्वानम् । उभयत्र तकारलोप: । वारिवाहको बलाहक: । पूर्वपदस्य वारिशब्दस्य 'ब' आदेश:, उत्तरपदादेश्च लत्वम् । जीवनस्य मूत: जीमूत: । अत्र वनशब्दस्य लोप: । शवानां शयनं श्मशानम् । अत्र शवशब्दस्य 'श्म' आदेश:, शयनशब्दस्यापि 'शान' आदेश: ।।

भावार्थ:—[पृषोदरादीनि] पृषोदर इत्यादि शब्दरूप (शिष्टों के द्वारा) [यथोपदिष्टम्] जिस प्रकार उच्चारित हैं, वैसे ही साधु माने जाते हैं ।। अर्थात् जहाँ लोप-आगम-वर्णविकार-वर्णविपर्यय आदि देखा जाये, किन्तु शास्त्र द्वारा उसका विधान न हो, ऐसे शब्दों को भी शिष्ट पुरुषों द्वारा उच्चारित होने के कारण साधु समझना चाहिये ।। शिष्ट कौन होते हैं ? इस विषय में इसी सूत्र के महाभाष्य में कहा है—'एतस्मिन्नार्यनिवासे ये ब्राह्मणा: कुम्भीधान्या अलोलुपा अगृह्यमाणकारणा: किञ्चिदन्तरेण कस्याश्चिद् विद्याया: पारगास्ते तत्र भवन्त: शिष्टा:' ।।

अर्थात् इस आर्यनिवास (=आर्यावर्त्त देश) में रहनेवाले कुम्भीधान्य (=जो घर में घड़ाभर ही अन्न रखते हैं), लोभरहित, बिना किसी कारण के अर्थात् निष्काम भाव से जो किसी विद्या में पारङ्गत हैं, ऐसे व्यक्ति 'शिष्ट' कहाते हैं ।।

धर्मशास्त्रों में शिष्ट का लक्षण षडङ्गवेदवित् किया है । ऐसे महाविद्वान् शिष्टपुरुषों के द्वारा प्रयुक्त शब्दों के यथार्थ ज्ञान के लिये ही भगवान् पाणिनि ने अष्टाध्यायी बनाई । इसीलिये महाभाष्य में कहा है—'शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी' (६।३।१०७)[1] ।

---

१. आजकल के वैयाकरण महाभाष्यकार के 'शिष्टपरिज्ञानार्थाऽष्टाध्यायी' नियम को न मानकर ऋषिकृत ग्रन्थों में प्रयुक्त शब्दों की विवेचना भी अष्टाध्यायी के आधार पर करते हैं और जो शब्द अष्टाध्यायी के नियमों से साक्षात् सिद्ध नहीं होते, उन्हें अनार्ष प्रयोग अर्थात् असाधु प्रयोग मानते हैं । वस्तुत: यह प्रक्रिया शास्त्रविरुद्ध है । आर्ष शब्द सभी साधु हैं, उनका साधुत्व इसी सूत्र से समझ लेना चाहिये ।।

उपर्युक्त उदाहरणों में कहाँ किसका लोप वा आगम आदेश आदि हुआ है, यह दर्शा दिया है ॥

संख्याविसायपूर्वस्याह्नस्याहनन्यतरस्याम् ङौ ॥६।३।१०६॥

संख्याविसायपूर्वस्य ६।१॥ अह्नस्य ६।१॥ अहन् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ ङौ ७।१॥ स०—संख्या च विश्च सायश्च संख्याविसायम्, इत्येतत् पूर्वं यस्य स संख्याविसायपूर्वः, तस्य···द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अर्थः—संख्या, वि, साय इत्येवंपूर्वस्य अह्न शब्दस्य स्थाने अहन् इत्ययमादेशो भवति विकल्पेन ङौ परतः ॥ उदा०—द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः, तस्मिन् द्व्यह्नि-द्व्यहनि । त्र्यह्नि-त्र्यहनि । व्यपगतमहो व्यह्नः, तस्मिन् व्यह्नि-व्यहनि । सायमह्नः=सायाह्नः, तस्मिन् सायाह्नि-सायाहनि ॥ यदा 'अहन्' आदेशो न, तदा द्व्यह्ने त्र्यह्ने सायाह्ने इति ॥

भाषार्थः—[संख्याविसायपूर्वस्य] संख्या, वि तथा साय पूर्ववाले [अह्नस्य] अह्न शब्द को [अहन्] अहन् आदेश [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके होता है, [ङौ] ङि परे रहते ॥ द्वयोरह्नोर्भवः द्व्यह्नः त्र्यह्नः में तद्धितार्थोत्तर० (२।१।५०) से समास, भवार्थ में कालाट्ठञ् (४।३।११) से उत्पन्न ठञ् का, द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) से लुक्, ५।४।८९ से अह्नादेश होगा। तथा द्व्यह्न त्र्यह्न से पुनः सप्तमी विभक्ति आने पर 'अह्न' को अहन् आदेश, विभाषा ङिश्योः (६।४।१३६) से विकल्प से अकारलोप होकर द्व्यह्नि-द्व्यहनि बनेगा। सायाह्न में इसी सूत्र के ज्ञापक से एकदेशी समास जानना चाहिये ॥

[दीर्घ-प्रकरणम्]

ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥६।३।११०॥

ढ्रलोपे ७।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ दीर्घः १।१॥ अणः ६।१॥ स०—ढकारश्च रेफश्च ढ्रौ, तयोर्लोपो यस्मिन् स, ढ्रलोपः, तस्मिन्··· द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अर्थः—ढ्रलोपे पूर्वस्याणो दीर्घो भवति ॥ उदा०—ढलोपे—लीढम्, मीढम्, उपगूढम्, मूढः । रलोपे—नीरक्तम्, अग्नी रथः, इन्दू रथः, पुना रक्तं वासः, प्राता राजक्रयः ॥

भाषार्थः—[ढ्रलोपे] ढकार एवं रेफ का लोप हुआ है जिसके कारण, उसके परे रहते [पूर्वस्य] पूर्व [अणः] अण् को [दीर्घः] दीर्घ होता है ॥ ढ्रलोप शब्द में बहुव्रीहि होने से पर स्थित ढ तथा र् वर्ण को ढ्रलोप समझना चाहिये॥ 'लिह आस्वादने' धातु से क्त होकर हो ढः (८।२।३१) झषस्तथो० (८।२।४०) ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) लगकर 'लिढ् ढ' रहा। अब ढो ढे लोपः (८।३।१३) से पूर्व ढ् का लोप होने से ढलोप=ढ से पूर्व अण् 'इ' को प्रकृत सूत्र से दीर्घ होकर

लीढम् बन गया। इसी प्रकार 'मिह् सेचने' से मीढम्, गुह् से उपगूढम्, मुह् से मूढः बनेगा। नीरक्तम्, यहाँ 'निर् रक्तम्' ऐसी स्थिति में कुगतिप्रा० (२।२।१८) से समास, तथा निर् के रेफ का रो रि (८।३।१४) से लोप हुआ है। अतः प्रकृत सूत्र से दीर्घ हो गया। इसी प्रकार अग्नि स्=अग्निर् रथः, इन्दुर् रथः, सर्वत्र रेफ का लोप होकर दीर्घ हुआ है, ऐसा जानें॥

यहाँ से 'ढ्रलोपे' की अनुवृत्ति ६।३।१११ तक, 'पूर्वस्य' की ६।३।११२ तक, एवं 'दीर्घः' की ६।४।१८ तक, तथा 'अणः' की ६।४।२ तक जायेगी॥

सहिवहोरोदवर्णस्य ॥६।३।१११॥

सहिवहोः ६।२॥ ओत् १।१॥ अवर्णस्य ६।१॥ स०—सहिश्च वहश्च सहिवहौ, तयोः……इतरेतरद्वन्द्वः। अश्चासौ वर्णश्च अवर्णः, तस्य……कर्मधारयस्तत्पुरुषः॥ अनु०—ढ्रलोपे॥ अर्थः—ढ्रलोपे सह् वह् इत्येतयोरवर्णस्यौकार आदेशो भवति॥ उदा०—सोढा, सोढुम्, सोढव्यम्। वोढा, वोढुम्, वोढव्यम्॥

भाषार्थः—ढकार और रेफ का लोप होने पर [सहिवहोः] सह् तथा वह् धातु के [अवर्णस्य] अवर्ण को [ओत्] ओकारादेश होता है॥ पूर्ववत् लीढम् के समान सिद्धि जानें॥

साढ्यै साढ्वा साढेति निगमे ॥६।३।११२॥

साढ्यै अ०॥ साढ्वा अ०॥ साढा १।१॥ इति अ०॥ निगमे ७।१॥ अर्थः—साढ्यै साढ्वा साढा इति निगमे निपात्यन्ते॥ उदा०—साढ्यै, इत्यत्र सहेः क्त्वाप्रत्ययः, क्त्वाप्रत्ययस्य ध्यैभाव ओत्वाभावश्च निपात्यते। साढ्यै समन्तात्। साढ्वा, इत्यत्र पूर्ववत् क्त्वाप्रत्यय ओत्वाभावश्च निपात्यते। साढ्वा शत्रून्। साढा इति तृनि[1] रूपमेतत्, ओत्वाभावश्च पूर्ववत्॥

भाषार्थः—[साढ्यै साढ्वा साढेति] साढ्यै साढ्वा तथा साढा ये शब्द [निगमे] वेद में निपातन किये जाते हैं॥ साढ्यै, यहाँ क्त्वाप्रत्यय को ध्यैभाव तथा ओत्व, जो कि सहिवहो० (६।३।१११) से प्राप्त था, उसका अभाव निपातन है। साढ्वा में क्त्वा प्रत्यय है ही, ओत्वाभाव पूर्ववत् है। साढा, यह तृन् का रूप है, यहाँ भी ओत्वाभाव निपातित है। ढ्रलोपे पूर्वस्य० (६।३।१११) से सर्वत्र दीर्घ हो ही जायेगा॥

---

१. तृचीति काशिका। उभयथाऽपि शक्यमिह विज्ञातुम्, यद्युभयप्रत्ययस्वर उपलभ्येत वेदे॥

संहितायाम् ॥६।३।११३॥

संहितायाम् ७।१।। अर्थः—संहितायामित्यधिकारः, आपादपरिसमाप्तेः ॥ उदा०—वक्ष्यति द्वयचोऽतस्तिङः (६।३।१३४) इति। विद्मा हि त्वा सत्पति शूर गोनाम् ॥

भाषार्थः—[संहितायाम्] संहितायाम् यह अधिकारसूत्र है, पाद की समाप्ति पर्यन्त जायेगा ॥ उदाहरण में विद्मा को दीर्घ हुआ है ॥ संहितायाम् कहने से पद-पाठ में तथा अवग्रह में दीर्घत्व नहीं रहेगा, यही प्रयोजन है। इसी प्रकार अन्य सूत्रों में भी 'संहितायाम्' अधिकार का प्रयोजन जान लेना चाहिये ॥

कर्णे लक्षणस्याविष्टाष्टपञ्चमणिभिन्नच्छिन्नच्छिद्रस्रुवस्वस्तिकस्य ॥६।३।११४॥

कर्णे ७।१।। लक्षणस्य ६।१।। अविष्टा ·· कस्य ६।१।। स०—अविष्टाष्ट० इत्यत्र पूर्वं द्वन्द्वः, ततो नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—पूर्वस्य दीर्घः, अणः, संहितायाम् ॥ अर्थः—कर्णशब्द उत्तरपदे विष्ट, अष्टन्, पञ्चन्, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव, स्वस्तिक इत्येतान् शब्दान् वर्जयित्वा लक्षणवाचिनोऽणो दीर्घो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—दात्राकर्णः, द्विगुणाकर्णः, त्रिगुणाकर्णः, द्वयङ्गुलाकर्णः, त्र्यङ्गुलाकर्णः ॥

भाषार्थः—[कर्णे] कर्ण शब्द उत्तरपद रहते [अविष्टाष्ट ·····कस्य] विष्ट, अष्टन्, पञ्चन्, मणि, भिन्न, छिन्न, छिद्र, स्रुव, स्वस्तिक इन शब्दों को छोड़कर [लक्षणस्य] लक्षणवाची शब्दों के अण् को दीर्घ होता है, संहिता के विषय में ॥ जिससे लक्षित किया जाये, वह लक्षण होता है। दात्रमिव दात्रम्। दात्रं कर्णे यस्य स दात्राकर्णः। अर्थात् दरांती का चिह्न जिसके कान पर है, वह दात्राकर्णः है। सो दात्र उसका लक्षण है। अतः लक्षणवाची माना जाने से दीर्घ हो गया है। इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में भी बहुव्रीहि समासादि सब कुछ जानें ॥

नहिवृतिवृषिव्यधिरुचिसहितनिषु क्वौ ॥६।३।११५॥

नहिवृ····निषु ७।३।। क्वौ ७।१।। स०—नहि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम् ॥ अर्थः—नहि, वृति, वृषि, व्यधि, रुचि, सहि, तनि इत्येतेषु क्विप्प्रत्ययान्तेषूत्तरपदेषु पूर्वस्याणो दीर्घो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—नहि—उपानत्, परीणत्। वृति—नीवृत्, उपावृत्। वृषि—प्रावृट्, उपावृट्। व्यधि—मर्मावित्, हृदयावित्, श्वावित्। रुचि—नीरुक्, अभीरुक्। सहि—ऋतीषट्। तनि—परीतत् ॥

भाषार्थः—[नहि⋯तनिषु] नहि, वृति, वृषि, व्यधि, रुचि, सहि, तनि इन [क्वौ] क्विप्प्रत्ययान्त शब्दों के उत्तरपद रहते पूर्व अण् को दीर्घ हो जाता है, संहिता के विषय में ॥ उपानत्, यहाँ संपदादिभ्यः क्विप् (वा० ३।३।९४) इस वार्तिक से क्विप् हुआ है। नह् धातु के ह् को नहो धः (८।२।३४) के धत्व हुआ है। पश्चात् जश्त्व (८।२।३८ से), एवं चर्त्व (८।४।५५ से) होकर उप नत् पुनः प्रकृतसूत्र से दीर्घ होकर उपानत् बना है। परिणह्यतीति परीणत्, यहाँ उपसर्गाद-समासे० (८।४।१४) से णत्व हुआ है। यहाँ अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३।२।७५) से क्विप् हुआ है। इसी प्रकार नीवृत् आदि उदाहरणों में भी क्विप् जानें। प्रावृट्, यहाँ वृष् धातु के ष् को जश्त्व डकार एवं चर्त्व टकार हुआ है। मर्माविध्, यहाँ व्यध धातु को ग्रहिज्या० (६।१।१६) से सम्प्रसारण होता है। नीरुक्, यहाँ रुच् धातु के च् को क् चोः कुः (८।२।३०) से हो जाता है। ऋतीषट्, यहाँ सहेः पृत-नर्ताभ्यां च (८।३।१०९) को योगविभाग करके षत्व होता है। परीतत्, यहाँ गमादीनामिति वक्तव्यम् (वा० ६।४।४०) इस वार्तिक से तन के अनुनासिक का लोप हो जाता है॥

वनगिर्योः संज्ञायां कोटरकिंशुलकादीनाम् ॥६।३।११६॥

वनगिर्योः ७।२॥ संज्ञायाम् ७।१॥ कोटरकिंशुलकादीनाम् ६।३॥ स०—वन० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। कोटरश्च किंशुलकश्च कोटरकिंशुलकौ, तौ आदी येषां ते कोटर-किंशुलकादयः, तेषाम् ⋯ द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः॥ अनु०—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम्॥ अर्थः—वन गिरि इत्येतयोरुत्तरपदयोर्यथासंख्यं कोटरादीनाम् किंशुलका-दीनां च दीर्घो भवति, संज्ञायां विषये॥ उदा०—वने, कोटरादीनाम्—कोटरा-वणम्, मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, सारिकावणम्। गिरौ किंशुलकादीनाम्—किंशुल-कागिरिः, अञ्जनागिरिः॥

भाषार्थः—[वनगिर्योः] वन तथा गिरि शब्द उत्तरपद रहते यथासंख्य करके [कोट⋯दीनाम्] कोटरादि एवं किंशुलकादि गणपठित शब्दों को, [संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में दीर्घ होता है॥ अर्थात् वन परे रहते कोटरादियों को, एवं गिरि परे रहते किंशुलकादियों को दीर्घ हो जाता है॥ मिश्रकावणम् आदि में वन शब्द के नकार को वनं पुरगामिश्रका० (८।४।४) से णत्व होता है, तथा सर्वत्र षष्ठीसमास है॥

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ६।३।११९ तक जायेगी॥

वले ॥६।३।११७॥

वले ७।१॥ अनु०—संज्ञायाम्, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम्॥ अर्थः—वले

परतः संज्ञायां विषये पूर्वस्याणो दीर्घो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—आसुतीवलः, दन्तावलः, कृषीवलः ॥

भाषार्थः—[वले] वल परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ हो जाता है, संज्ञा को कहने में ॥ वल से वलच् प्रत्यय लिया गया है, जो कि रजःकृष्यासुति० (५।२।११२) से होता है ॥

मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् ॥६।३।११८॥

मतौ ७।१॥ बह्वचः ६।१॥ अनजिरादीनाम् ६।३॥ स०—बहवोऽचो यस्मिन् स बह्वच्, तस्य ... बहुव्रीहिः। अजिर आदिर्येषां ते अजिरादयः, न अजिरादयोऽनजिरादयः, तेषाम् ... बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—संज्ञायाम्, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अजिरादिवर्जितस्य बह्वचो मतौ परतोऽणो दीर्घो भवति, संज्ञायां विषये ॥ उदा०—उदुम्बरावती, मशकावती, वीरणावती, पुष्करावती, अमरावती ॥

भाषार्थः—[अनजिरादीनाम्] अजिरादियों को छोड़कर [मतौ] मतुप् परे रहते [बह्वचः] बह्वच् शब्दों के अण् को दीर्घ होता है, संज्ञा-विषय में ॥ उदाहरणों में नद्यां मतुप् (४।२।८४) से मतुप् होता है । उदुम्बर मशक आदि शब्द बह्वच् हैं ही ॥

यहाँ से 'मतौ' की अनुवृत्ति ६।३।११९ तक जायेगी ॥

शरादीनां च ॥६।३।११९॥

शरादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ स०—शरा० इत्यत्र बहुव्रीहिः ॥ अनु०—मतौ, संज्ञायाम्, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम् ॥ अर्थः—शरादीनां च मतौ दीर्घो भवति, संज्ञायां विषये ॥ उदा०—शरावती, वंशावती ॥

भाषार्थः—[शरादीनाम्] शरादियों को [च] भी संज्ञा-विषय में मतुप् परे रहते दीर्घ होता है ॥ पूर्ववत् मतुप् प्रत्यय होकर संज्ञायाम् (८।२।११) से मतुप् के म को वत्व हुआ है ॥

इको वहेऽपीलोः ॥६।३।१२०॥

इकः ६।१॥ वहे ७।१॥ अपीलोः ६।१॥ स०—अपीलोः इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—दीर्घः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ अर्थः—पीलुवर्जितस्य इगन्तस्य पूर्वपदस्य वह उत्तरपदे, दीर्घो भवति ॥ उदा०—ऋषीवहम्, कपीवहम्, मुनीवहम् ॥

भाषार्थः—[अपीलोः] पीलु शब्द को छोड़कर जो [इकः] इगन्त पूर्वपद शब्द, उनको [वहे] 'वह' शब्द के उत्तरपद रहते दीर्घ होता है ॥ 'वह' शब्द पचाद्यजन्त है । ऋषीवहम् आदि में षष्ठीसमास हुआ है ॥

उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् ।।६।३।१२१।।

उपसर्गस्य ६।१।। घञि ७।१।। अमनुष्ये ७।१।। बहुलम् १।१।। स०—अमनुष्य इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—पूर्वस्य दीर्घोऽणः,उत्तरपदे,संहितायाम् ।। अर्थः—घञन्त उत्तरपदेऽमनुष्येऽभिधेय उपसर्गस्याणो बहुलं दीर्घो भवति ।। उदा०—वीक्लेदः, वीमार्गः, अपामार्गः । न च भवति बहुलवचनात्—प्रसेवः, प्रसारः ।।

भाषार्थः—[घञि] घञन्त उत्तरपद रहते [अमनुष्ये] अमनुष्य अभिधेय होने पर [उपसर्गस्य] उपसर्ग के अण् को [बहुलम्] बहुल करके दीर्घ होता है ।। वीक्लेदः, वीमार्गः, यहाँ क्लिद तथा मृजूष् धातु से हलश्च (३।३।१२१) से घञ् हुआ है । वीमार्गः, यहाँ मृज् धातु को मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से वृद्धि, एवं चजोः कु० (७।३।५२) से कुत्व हुआ है ।।

यहाँ से 'उपसर्गस्य' की अनुवृत्ति ६।३।१२३ तक जायेगी ।।

इकः काशे ।।६।३।१२२।।

इकः ६।१।। काशे ७।१।। अनु०—उपसर्गस्य, दीर्घः, उत्तरपदे, संहितायाम् ।। अर्थः—इगन्तस्य उपसर्गस्य काशशब्द उत्तरपदे दीर्घो भवति, संहितायां विषये ।। उदा०—नीकाशः, वीकाशः, अनूकाशः ।।

भाषार्थः—[इकः] इगन्त उपसर्ग को [काशे] काश शब्द उत्तरपद रहते दीर्घ होता है, संहिता के विषय में ।। काशृ दीप्तौ धातु से पचाद्यच् करके काश शब्द बना है ।।

यहाँ से 'इकः' की अनुवृत्ति ६।३।१२३ तक जायेगी ।।

दस्ति ।।६।३।१२३।।

दः ६।१।। ति ७।१।। अनु०—इकः, उपसर्गस्य, दीर्घः, संहितायाम् ।। अर्थः—दा इत्येतस्य यस्तकारादिरादेशः, तस्मिन् परत इगन्तस्योपसर्गस्य दीर्घो भवति ।। उदा०—नीत्तम्, वीत्तम्, परीत्तम् ।।

भाषार्थः—[दः] दा के स्थान में हुआ जो [ति] तकारादि आदेश, उस के परे रहते इगन्त उपसर्ग को दीर्घ होता है ।। नि दा क्त, यहाँ अचः उपसर्गात्तः (७।४।४७) से दा धातु के अन्त्य अल् (१।१।५१) को तकारादेश होकर, नि त् त बना । खरि च (८।४।५४) से द् को त् एवं झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) से एक तकार का लोप, तथा प्रकृतसूत्र से दीर्घ होकर नीत्तम् वीत्तम् आदि बना ।। 'दः' यहाँ स्थानि-आदेश सम्बन्ध में षष्ठी है, अतः 'दा के स्थान में जो तकारादि आदेश' ऐसा अर्थ किया है ।।

अष्टनः संज्ञायाम् ॥६।३।१२४॥

अष्टनः ६।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम्, उत्तरपदे ॥ अर्थः—अष्टन् इत्येतस्य उत्तरपदे परतः संज्ञायां विषये दीर्घो भवति ॥ उदा०—अष्टौ वक्राण्यस्य = अष्टावक्रः, अष्टाबन्धुरः, अष्टापदम् ॥

भाषार्थः—[अष्टनः] अष्टन् शब्द को उत्तरपद परे रहते [संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में दीर्घ होता है। नलोपः प्राति० (८।२।७) से नकारलोप हो ही जायेगा ॥

यहाँ से "अष्टनः" की अनुवृत्ति ६।३।१२५ तक जायेगी ॥

छन्दसि च ॥६।३।१२५॥

छन्दसि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—अष्टनः, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ अर्थः—छन्दसि विषयेऽपि अष्टन् इत्येतस्य दीर्घो भवति, उत्तरपदे परतः॥ उदा०—आग्नेयमष्टाकपालं निर्वपेत् । अष्टाहिरण्या दक्षिणा । अष्टापदी देवता सुमती ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में [च] भी अष्टन् शब्द को दीर्घ हो जाता है, उत्तरपद परे रहते ॥ अष्टसु कपालेषु संस्कृतम् = अष्टाकपालम्, यहाँ संस्कृतं० (४।२।१६) से अण् होकर उसका द्विगोर्लुगनपत्ये (४।१।८८) से लुक् हुआ है। अष्टौ पादा अस्याः = अष्टापदी, यहाँ पादस्य लोपो० (५।४।१३८) से पाद शब्द के अ का लोप हुआ है । तथा पादोऽन्यतरस्याम् (४।१।८) से ङीप् हुआ है। अष्टाहिरण्या, यहाँ 'अष्टौ हिरण्यानि परिमाणमस्य' इस तद्धितार्थ में समास तथा तदस्य परिमाणम् (५।१।५६) से उत्पन्न प्रत्यय का अध्यर्द्धपूर्वद्विगोर्लुगसंज्ञायाम् (५।१।२८) से लुक् होता है ॥

चितेः कपि ॥६।३।१२६॥

चितेः ६।१॥ कपि ७।१॥ अनु०—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम् ॥ अर्थः—कपि परतश्चितिशब्दस्य दीर्घो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—एका चितिरस्य = एकचितीकः, द्विचितीकः, त्रिचितीकः ॥

भाषार्थः—[कपि] कप् परे रहते [चितेः] चिति शब्द को दीर्घ हो जाता है, संहिता-विषय में ॥ स्त्रियाः पुंवद्० (६।३।३२) से उदाहरणों में पुंवद्भाव हुआ है, तथा शेषाद्विभाषा (५।४।१५४) से कप् प्रत्यय होता है ॥

विश्वस्य वसुराटोः ॥६।३।१२७॥

विश्वस्य ६।१॥ वसुराटोः ७।२॥ स०—वसु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ अर्थः—विश्व इत्येतस्य वसु राट् इत्येतयोरुत्तरपदयोः दीर्घो भवति ॥ उदा०—विश्वं वसु यस्य स विश्वावसुः । विश्वस्मिन् राजते इति विश्वाराट् ॥

भाषार्थः—[वसुराटोः] वसु तथा राट् उत्तरपद रहते [विश्वस्य] विश्व शब्द को दीर्घ हो जाता है ॥ विश्वाराट्, यहाँ राज् धातु से सत्सूद्विष० (३।२।६१) से क्विप् हुआ है । सिद्धि (३।२।६१) इसी सूत्र के परिशिष्ट में देखें ॥

यहाँ से 'विश्वस्य' की अनुवृत्ति ६।३।१२९ तक जायेगी ॥

नरे संज्ञायाम् ॥६।३।१२८॥

नरे ७।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—विश्वस्य, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ अर्थः—नरशब्द उत्तरपदे संज्ञायां विषये विश्वशब्दस्य दीर्घो भवति ॥ उदा०—विश्वानरो नाम यस्य वैश्वानरिः पुत्रः ॥

भाषार्थः—[नरे] नर शब्द उत्तरपद रहते [संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में विश्व शब्द को दीर्घ होता है ॥

मित्रे चर्षौ ॥६।३।१२९॥

मित्रे ७।१॥ च अ० ॥ ऋषौ ७।१॥ अनु०—विश्वस्य, पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ अर्थः—ऋषावभिधेये मित्रे चोत्तरपदे विश्वस्य दीर्घो भवति ॥ उदा०—विश्वामित्रो नाम ऋषिः ॥

भाषार्थः—[मित्रे] मित्र शब्द उत्तरपद रहते [च] भी [ऋषौ] ऋषि अभिधेय होने पर विश्व शब्द को दीर्घ हो जाता है ॥

मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रियविश्वदेव्यस्य मतौ ॥६।३।१३०॥

मन्त्रे ७।१॥ सोमा······स्य ६।१॥ मतौ ७।१॥ स०—सोम० इत्यत्र समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, संहितायाम् ॥ अर्थः—सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेव्य इत्येतेषां मतुप् प्रत्यये परतो दीर्घो भवति, मन्त्रविषये संहितायाम् ॥ उदा०—सोमावती । अश्वावती । इन्द्रियावती । विश्वदेव्यावती ॥

भाषार्थः—[सोमा······स्य] सोम, अश्व, इन्द्रिय, विश्वदेव्य इन शब्दों को [मतौ] मतुप् प्रत्यय परे रहने पर दीर्घ हो जाता है, [मन्त्रे] मन्त्र-विषय में ॥ उदाहरणों में उगितश्च (४।१।६) से ङीप् होगा ॥

यहाँ से 'मन्त्रे' की अनुवृत्ति ६।३।१३१ तक जायेगी ॥

ओषधेश्च विभक्तावप्रथमायाम् ॥६।३।१३१॥

ओषधेः ६।१॥ च अ० ॥ विभक्तौ ७।१॥ अप्रथमायाम् ७।१॥ स०—अप्र० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—मन्त्रे, संहितायाम्, पूर्वस्य दीर्घोऽणः ॥ अर्थः—अप्रथमायां विभक्तौ परत ओषधिशब्दस्य दीर्घो भवति, मन्त्रविषये ॥ उदा०—ओषधीभिरपीपतत्; नमः पृथिव्यै नम ओषधीभ्यः ॥

भाषार्थः—मन्त्र-विषय में [अप्रथमायाम्] प्रथमा से भिन्न [विभक्तौ] विभक्ति के परे रहते [ओषधेः] ओषधि शब्द को [च] भी दीर्घ हो जाता है॥

ऋचि तुनुघमक्षुतङ्कुत्रोरुष्याणाम् ॥६।३।१३२॥

ऋचि ७।१॥ तुनु······णाम् ६।३॥ स०—तुनु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—संहितायाम्, दीर्घोऽणः ॥ अर्थः—ऋचि विषये तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कु, त्र, उरुष्य इत्येतेषां शब्दानां दीर्घो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—आ तू न इन्द्र वृत्रहन् (ऋ० ४।३२।१ । नु—नू करणे । घ—उत वा घा स्यालात् (ऋ० १।१०९।२) । मक्षु—मक्षू गोमन्तमीमहे (ऋ० ८।३३।३) । तङ्—भरता जातवेदसम् (ऋ० १०।१७६।२) । कु—कूमनः । त्र—अत्रा गौः । उरुष्य—उरुष्या णोऽग्नेः ॥

भाषार्थः—[तुनु·········णाम्] तु, नु, घ, मक्षु, तङ्, कु, त्र, उरुष्य इन शब्दों को [ऋचि] ऋचा-विषय में दीर्घ हो जाता है, संहिता-विषय में ॥ लोट् लकार में लोटो लङ्वत् (३।४।८५) से लङ्वत् अतिदेश करके मध्यमपुरुष बहुवचन 'थ' को तस्थस्थमिपां तांतंतामः (३।४।१०१) से जो 'त' आदेश होता है, तथा उसको लङ्वत् होने से ङित् माना जाता है, उस 'थ' को यहाँ 'तङ्' से ग्रहण है। अत्रा यह त्रलन्त (५।३।१०) का रूप है। एतदोऽन् (५।३।५) से त्रल् प्रत्यय करने पर अन् आदेश हुआ है। उरुष्या, यहाँ पहले 'आत्मन उरुमिच्छति' ऐसा विग्रह करके उरु शब्द से सुप आत्मनः क्यच् (३।१।८) से क्यच् प्रत्यय किया। पश्चात् सर्वप्रातिपदिकेभ्यो लालसायां सुग् वक्तव्यः (वा० ७।१।५१) इस वार्त्तिक से सुक् आगम होकर उरु सुक् क्यच्=उरु स् य रहा। सुषामादिषु च (८।३।९८) से षत्व होकर लोट् मध्यमपुरुष एकवचन में अतो हेः (६।४।१०५) से हि का लुक्, एवं दीर्घत्व होकर 'उरुष्या' बना है ॥

यहाँ से 'ऋचि' की अनुवृत्ति ६।३।१३५ तक जायेगी ॥

इकः सुञि ॥६।३।१३३॥

इकः ६।१॥ सुञि ७।१॥ अनु०—ऋचि, उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घः ॥ अर्थः—इगन्तस्य सुञि परतो ऋग्विषये दीर्घो भवति, संहितायाम् विषये ॥ उदा०—अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।३); ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये ॥

भाषार्थः—[इकः] इगन्त शब्द को [सुञि] सुञ् परे रहते ऋचा-विषय में दीर्घ हो जाता है, संहिता-विषय में ॥ सुञ् यह निपात लिया गया है । सुञः (८।३।१०७) से सुञ् के सु को षत्व हुआ है । उससे पूर्व इगन्त 'अभि' एवं 'उ' को प्रकृतसूत्र से दीर्घ हुआ है । न को ण नश्च धातुस्थो० (८।४।२६) से जानें ॥

द्व्यचोऽतस्तिङः ॥६।३।१३४॥

द्व्यचः ६।१॥ अतः ६।१॥ तिङः ६।१॥ स०—द्वौ अचौ यस्मिन् स द्व्यच्, तस्य द्व्यचः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—ऋचि, उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घः ॥ अर्थः—द्व्यचस्तिङन्तस्य अत ऋग्विषये दीर्घो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—विद्मा हि त्वा सत्पतिं शूर गोनाम् । विद्मा स तस्य पितरम् ॥

भाषार्थः—[द्व्यचः] दो अच्वाले [तिङः] तिङन्त के [अतः] अकार को ऋचा-विषय में दीर्घ होता है, संहिता-विषय में ॥ विद्म, यह लोट् लकार के 'मस्' का रूप है, उसे दीर्घ होकर विद्मा बना है ॥

निपातस्य च ॥६।३।१३५॥

निपातस्य ६।१॥ च अ०॥ अनु०—ऋचि, उत्तरपदे, संहितायाम्, दीर्घोऽणः॥ अर्थः—ऋग्विषये निपातस्य च दीर्घो भवति ॥ उदा०—एवा ते । अच्छा ते ॥

भाषार्थः—ऋचा-विषय में [निपातस्य] निपात को [च] भी दीर्घ हो जाता है ॥ एव अच्छ चादिगण (१।४।५७) में पठित हैं, अतः निपात हैं ॥

अन्येषामपि दृश्यते ॥६।३।१३६॥

अन्येषाम् ६।३॥ अपि अ० ॥ दृश्यते क्रियापदम् ॥ अनु०—दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ अर्थः—अन्येषामपि दीर्घो दृश्यते ॥ यस्य दीर्घो न विहितः, दृश्यते च प्रयोगे, सः अनेन सूत्रेण शिष्टप्रयोगादनुगन्तव्यः ॥ उदा०—केशाकेशि, कचाकचि, नारकः, पूरुषः ॥

भाषार्थः—[अन्येषाम्] अन्य (=शब्दों) को [अपि] भी दीर्घ [दृश्यते] देखा जाता है, अर्थात् जिनको सूत्रों से दीर्घत्व नहीं कहा, किन्तु देखा जाता है, ऐसे शब्दों को भी शिष्ट प्रयोग मानकर साधु समझना चाहिये ॥ कचाकचि केशाकेशि में तत्र तेने० (२।२।२७) से समास, तथा इच् कर्म० (५।४।१२७) से समासान्त इच् प्रत्यय होता है ॥

चौ ॥६।३।१३७॥

चौ ७।१॥ अनु०—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥ अर्थः—चौ

परतो पूर्वस्याणो दीर्घो भवति ॥ चौ इत्यनेन अक्चतिलुप्तनकारो गृह्यते ॥ उदा०—दधीचः पश्य, दधीचा, दधीचे; मधूचः पश्य, मधूचा, मधूचे ॥

भाषार्थः—[चौ] चु परे रहते पूर्व अण् को दीर्घ होता है ॥ चु से यहाँ नकारलोप की हुई अञ्चु धातु का ग्रहण है ॥ क्विन् प्रत्यय ऋत्विग्दधृ० (३।२।५९) से होता है। अनिदितां० (६।४।२४) से अञ्चु के नकार का लोप, एवं अचः (६।४।१३८) से अकारलोप होकर अञ्चु का च् शेष रहता है। सो 'दधि च् शस्'=दीर्घ होकर दधीचः बन गया। इसी प्रकार मधूचः आदि में जानें ॥

सम्प्रसारणस्य ॥६।३।१३८॥

संप्रसारणस्य ६।१॥ अनु०—पूर्वस्य दीर्घोऽणः, उत्तरपदे, संहितायाम् ॥अर्थः—संप्रसारणान्तस्य पूर्वपदस्याण उत्तरपदे परतो दीर्घो भवति ॥ उदा०—कारीषगन्धीपुत्रः, कारीषगन्धीपतिः, कौमुदगन्धीपुत्रः, कौमुदगन्धीपतिः ॥

भाषार्थः—[संप्रसारणस्य] सम्प्रसारणान्त पूर्वपद के अण् को उत्तरपद परे रहते दीर्घ होता है ॥ कारीषगन्ध्या की सिद्धि भाग २, परि० ४।१।७४, पृ० ५४१ में की गई है, अतः उसे वहीं समझ लें। आगे कारीषगन्ध्यायाः पुत्रः, वा कारीषगन्ध्यायाः पतिः विग्रह करके कारीषगन्धीपुत्रः आदि बना है, जिसकी सिद्धि ष्यङः सम्प्रसारणं० (६।१।१३) में स्पष्ट रूप से देखें। कारीषगन्धि आदि शब्द सम्प्रसारणान्त हैं। अतः पुत्र पति शब्द उत्तरपद रहते प्रकृतसूत्र से दीर्घ हो गया है ॥

यहाँ से 'सम्प्रसारणस्य' की अनुवृत्ति ६।४।२ तक जायेगी ॥

॥ इति तृतीयः पादः ॥

—:o:—

चतुर्थः पादः

अङ्गस्य ॥६।४।१॥

अङ्गस्य ६।१॥ अर्थः—अधिकारोऽयम्, आसप्तमाध्यायपरिसमाप्तेः। यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामोऽङ्गस्य इत्येवं तद्वेदितव्यम् ॥ उदा०—वक्ष्यति हलः (६।४।२)—हूतः, जीनः, संवीतः ॥

भाषार्थः—[अङ्गस्य] 'अङ्गस्य' यह अधिकारसूत्र है, सप्तमाध्याय की समाप्ति (७।४।९७) पर्यन्त इसका अधिकार जायेगा। सो आगे के सभी सूत्रों में यह

बैठता जायेगा ।। 'अङ्गस्य' में सम्बन्ध सामान्य में षष्ठी है ।। यस्मात् प्रत्ययविधि० (१।४।१३) से अङ्गसंज्ञा होती है । हूतः संवीतः की सिद्धि सूत्र ६।१।१५ में; तथा जीनः की सिद्धि परि० ६।१।१६ में देखें ।।

हलः ।।६।४।२।।

हलः ५।१।। अनु०—अङ्गस्य, सम्प्रसारणस्य, दीर्घोऽणः ।। अर्थः—अङ्गावयवाद् हलः परं यत् सम्प्रसारणम् अण् तदन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति ।। उदा०—हूतः, जीनः, संवीतः ।।

भाषार्थः—अङ्ग का अवयव जो [हलः] हल्, उससे उत्तर जो सम्प्रसारण अण्, तदन्त अङ्ग को दीर्घ होता है ।। अर्थ करने में दो बार अङ्ग का ग्रहण 'अङ्ग' शब्द की आवृत्ति करके किया है ।। ह्वेञ् से 'हु त' बन जाने पर अङ्ग जो 'हु' उसका हल् अवयव 'ह्' है, उस ह् से उत्तर 'उ' संप्रसारण-संज्ञक है । अतः तदन्त 'हु' अङ्ग को दीर्घ हो गया । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों में सूत्रार्थ घटा लें ।।

'अणः' की अनुवृत्ति ६।३।१०९ से यहाँ तक आने पर भी उपयोगिता की दृष्टि से अर्थ में यहीं विशेषरूप से प्रदर्शित की हैं, जो कि द्वितीयावृत्ति में समझ आ जायेगी ।।

नामि ।।६।४।३।।

नामि ७।१।। अनु०—अङ्गस्य, दीर्घः ।। अर्थः—नामि परतोऽङ्गस्य दीर्घो भवति ।। उदा०—अग्नीनाम्, वायूनाम्, कर्तृणाम् ।।

भाषार्थः—[नामि] नाम परे रहते अङ्ग को दीर्घ हो जाता है ।। नाम से नुट् आगम किया हुआ षष्ठी-बहुवचन का आम् अभिप्रेत है । ह्रस्वनद्यापो नुट् (७।१।५४) से नुट् आगम होता है ।।

यहाँ से 'नामि' की अनुवृत्ति ६।४।७ तक जायेगी ।।

न तिसृचतसृ ।।६।४।४।।

न अ० ।। तिसृचतसृ लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः (सुपां सुलुक्० ७।१।३९ इत्यनेन) ।। स०—तिसृ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ।। अर्थः—तिसृ चतसृ इत्येतयोर्नामि परतो दीर्घो न भवति ।। उदा०—तिसृणाम्, चतसृणाम् ।।

भाषार्थः—[तिसृचतसृ] तिसृ चतसृ अङ्ग को नाम परे रहते दीर्घ [न] नहीं होता ।। पूर्वसूत्र से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया । त्रि तथा चतुर् को स्त्रीलिङ्ग में त्रिचतुरोः स्त्रियां० (७।२।९९) से तिसृ चतसृ आदेश होता है, उसी का यहाँ ग्रहण है ।।

यहाँ से 'तिसृचतसृ' की अनुवृत्ति ६।४।५ तक जायेगी ।।

छन्दस्युभयथा ॥६।४।५॥

छन्दसि ७।१॥ उभयथा अ० ॥ अनु०—तिसृ चतसृ, नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—छन्दसि विषये तिसृ चतसृ इत्येतयोर्नामि परतः उभयथा दृश्यते; दीर्घश्चा-दीर्घश्चेत्यर्थः ॥ उदा०—तिसृणाम् मध्यन्दिने, तिसृणाम् मध्यन्दिने । चतसृणाम् मध्यन्दिने, चतसृणाम् मध्यन्दिने ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद-विषय में तिसृ चतसृ अङ्ग को [उभयथा] दोनों प्रकार से अर्थात् दीर्घ एवं अदीर्घ दोनों ही देखा जाता है ॥

यहाँ से 'छन्दस्युभयथा' की अनुवृत्ति ६।४।६ तक जायेगी ॥

नृ च ॥६।४।६॥

नृ लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ अनु०—छन्दस्युभयथा, नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—नृ इत्येतस्य अङ्गस्यापि नामि परत उभयथा भवति, छन्दसि विषये ॥ उदा०—त्वं नृणां नृपते, त्वं नृणां नृपते ॥

भाषार्थः—[नृ] नृ अङ्ग को [च] भी नाम् परे रहते वेद-विषय में दोनों प्रकार से अर्थात् दीर्घ एवं अदीर्घ देखा जाता है ॥

नोपधायाः ॥६।४।७॥

न अविभक्तयन्तं पदम् ॥ उपधायाः ६।१॥ अनु०—नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—नान्तस्याङ्गस्योपधायाः नामि परतो दीर्घो भवति ॥ उदा०—पञ्चानाम्, सप्तानाम्, नवानाम्, दशानाम् ॥

भाषार्थः—[न] नकारान्त अङ्ग की [उपधायाः] उपधा को नाम् परे रहते दीर्घ होता है ॥ पञ्चन् सप्तन् आदि नकारान्त अङ्ग हैं, अतः उनकी उपधा (१।१।६४) को दीर्घ हो गया है । षट्चतुर्भ्यश्च (७।१।५५) से पञ्चानाम् आदि में आम् को नुट् आगम हुआ है । पञ्चन् नुट् आम्=पञ्चन् नाम्, यहाँ नलोपः० (८।२।७) से नकारलोप होकर पञ्चानाम् बन गया ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।४।१० तक, तथा 'उपधायाः' की ६।४।१८ तक जायेगी ॥

सर्वनामस्थाने चासंबुद्धौ ॥६।४।८॥

सर्वनामस्थाने ७।१॥ च अ० ॥ असंबुद्धौ ७।१॥ स०—असंबुद्धावित्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नोपधायाः, नामि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—सम्बुद्धिभिन्ने सर्वनामस्थाने च परतो नान्तस्याङ्गस्योपधायाः दीर्घो भवति ॥ उदा०—राजा, राजानौ, राजानः, राजानम्, राजानौ । सामानि तिष्ठन्ति, सामानि पश्य ॥

भाषार्थः—[असम्बुद्धौ] सम्बुद्धिभिन्न [सर्वनामस्थाने] सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते [च] नान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ हो जाता है ॥ सब सिद्धियाँ भाग १, परि० १।१।४२, पृ० ७११ में देखें ॥ सामानि, यहाँ 'शि' की शि सर्व० (१।१।४१) से सर्वनामस्थान-संज्ञा है ॥

यहाँ से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति ६।४।११ तक, तथा 'असम्बुद्धौ' की ६।४।१४ तक जायेगी ॥

वा षपूर्वस्य निगमे ॥६।४।९॥

वा अ० ॥ षपूर्वस्य ६।१॥ निगमे ७।१॥ स०—षः पूर्वो यस्मात् स षपूर्वः तस्य ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सर्वनामस्थाने, असम्बुद्धौ, नोपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—निगमविषये नोपधायाः षपूर्वस्याऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परतो वा दीर्घो भवति ॥ उदा०—स तक्षाणं तिष्ठन्तमब्रवीत् (मै० सं० २।४।१; काठ० १२।१०); स तक्षणं तिष्ठन्तमब्रवीत् । ऋभुक्षाणमिन्द्रम्, ऋभुक्षणमिन्द्रम् ॥

भाषार्थः—[निगमे] वेद-विषय में नकारान्त अङ्ग के उपधाभूत [षपूर्वस्य] षकार है पूर्व में जिससे, ऐसे अच् को सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान के परे रहते [वा] विकल्प से दीर्घ होता है ॥ तक्षन् ऋभुक्षिन् शब्दों में 'क्ष' के 'अ' को विकल्प से दीर्घ हुआ है । क्योंकि इस अकार से पूर्व ष् है, एवं नकार की उपधा है । ऋभुक्षिन् में पहले इतोत्सर्वना० (७।१।८६) से इकार को अत्व होकर पश्चात् अ को दीर्घ हुआ है ॥

सान्तमहतः संयोगस्य ॥६।४।१०॥

सान्त लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ महतः ६।१॥ संयोगस्य ६।१॥ स०—सोऽन्ते यस्य स सान्तः, तस्य ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सर्वनामस्थानेऽसम्बुद्धौ, नोपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—सकारान्तस्य संयोगस्य महतश्च यो नकारस्तस्योपधाया दीर्घो भवति, असम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने परतः ॥ उदा०—श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः । श्रेयांसि, पयांसि, यशांसि । महतः—महान्, महान्तौ, महान्तः ॥

भाषार्थः—[सान्त] सकारान्त [संयोगस्य] संयोग का और [महतः] महत् शब्द का जो नकार उसकी उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान विभक्ति के परे रहने पर ॥ पयांसि यशांसि की सिद्धि भाग १, परि० १।१।४६, पृ० ७१७ में देखें ॥ श्रेयान् महान् आदि में सकार तकार का लोप संयोगान्तस्य० (८।२।२३) से होगा ॥

अप्तृन्तृच्स्वसृनप्तृनेष्टृत्वष्टृक्षत्तृहोतृपोतृप्रशास्तॄणाम् ॥६।४।११॥

अप्तृन्तृच् ...... णाम् ६।३॥ स०—अप्तृन्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—

सर्वनामस्थानेऽसम्बुद्धौ, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—अप्, तृन्, तृच्, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ इत्येतेषामङ्गानामुपधायाः सम्बुद्धिभिन्ने सर्वनामस्थाने परतो दीर्घो भवति ॥ उदा०—अप्—आपः । तृन्—कर्त्ता, कर्त्तारौ, कर्त्तारः, कर्त्तारम्, कर्त्तारौ । तृच्—कर्त्ता, कर्त्तारौ सर्वमग्रे पूर्ववत् । स्वसृ—स्वसा, स्वसारौ । नप्तृ—नप्ता, नप्तारौ । नेष्टृ—नेष्टा, नेष्टारौ । त्वष्टृ—त्वष्टा, त्वष्टारौ । क्षत्तृ—क्षत्ता, क्षत्तारौ । होतृ—होता, होतारौ । पोतृ—पोता, पोतारौ । प्रशास्तृ—प्रशास्ता, प्रशास्तारौ ॥

भाषार्थः—[अप्तृ ·· तृणाम्] अप्, तृन्-तृच्प्रत्ययान्त, स्वसृ, नप्तृ, नेष्टृ, त्वष्टृ, क्षत्तृ, होतृ, पोतृ, प्रशास्तृ इन अङ्गों की उपधा को दीर्घ होता है, सम्बुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते ॥ तृन् तथा तृच् प्रत्ययों में रूप की दृष्टि से कोई भेद नहीं, स्वर का भेद है ॥ भाग १, परि० १।१।२ के चेता नेता के समान सिद्धियाँ जानें ॥

इन्हन्पूषार्यम्णां शौ ॥६।४।१२॥

इन्हन्पूषार्यम्णाम् ६।३॥ शौ ७।१॥ स०—इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन् इत्येवमन्तानामङ्गानामुपधायाः शौ परतो दीर्घो भवति, नान्यत्र ॥ उदा०—इन्—बहुदण्डीनि, बहुच्छत्रीणि । हन्—बहुवृत्रहाणि, बहुभ्रूणहाणि । पूषन्—बहुपूषाणि । अर्यमन्—बह्वर्यमाणि ॥

भाषार्थः—[इन्हन्पूषार्यम्णाम्] इन्प्रत्ययान्त हन् पूषन् अर्यमन् इन अङ्गों की उपधा को [शौ] शि विभक्ति के परे रहते ही दीर्घ होता है ॥ दण्डिन् छत्रिन् शब्दों में मत्वर्थक इनि (५।२।११५ से) प्रत्यय हुआ है । सर्वत्र बहु शब्द के साथ बहुव्रीहि समास हुआ है ॥ सिद्धि भाग १, परि० १।१।४१ के कुण्डानि के समान हैं । णत्व भी ८।४।२ से, तथा बहुवृत्रहाणि में ८।४।१२ से हो जायेगा ॥

यहाँ से 'इन्हन्पूषार्यम्णाम' की अनुवृत्ति ६।४।१३ तक जायेगी ॥

सौ च ॥६।४।१३॥

सौ ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—इन्हन्पूषार्यम्णाम्, असम्बुद्धौ, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—सावसम्बुद्धौ परतः इन्हन्पूषार्यम्णामुपधाया दीर्घो भवति ॥ उदा०—दण्डी, वृत्रहा, पूषा, अर्यमा ॥

भाषार्थः—सम्बुद्धिभिन्न [सौ] सु विभक्ति परे रहते [च] भी इन्, हन्, पूषन्, अर्यमन् अङ्गों की उपधा को दीर्घ होता है ॥ नलोपः० (८।२।७) से नकार-लोप उदाहरणों में हो ही जायेगा ॥

यहाँ से 'सौ' की अनुवृत्ति ६।४।१४ तक जायेगी ॥

अत्वसन्तस्य चाधातोः ॥६।४।१४॥

अत्वसन्तस्य ६।१॥ च अ० ॥ अधातोः ६।१॥ स०—अतुश्च असश्च अत्वसौ, तावन्ते यस्य स अत्वसन्तः, तस्य...द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः । न धातुरधातुः, तस्य...... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सौ, असम्बुद्धौ, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—धातुभिन्नस्य अत्वन्तस्य असन्तस्य चाङ्गस्योपधायाः सावसम्बुद्धौ परतो दीर्घो भवति ॥ उदा०—डवतु=भवान् । क्तवतु—कृतवान् । मतुप्—गोमान्, यवमान् । असन्तस्य—सुपयाः, सुयशाः, सुस्रोताः ॥

भाषार्थः—[अधातोः] धातु-भिन्न [अत्वसन्तस्य] अतु तथा अस् अन्त वाले अङ्ग की उपधा को [च] भी दीर्घ होता है, सम्बुद्धिभिन्न सु विभक्ति परे रहते ॥ भवान् शब्द में भातेर्डवतुप् (उणा० १।६३) से डवतुप् प्रत्यय हुआ है । डवतुप् का अवतु शेष रहेगा, इस प्रकार भवत् शब्द अतु अन्तवाला है । शेष सिद्धि भाग १, परि० १।१।५ के कृतवान् के समान जानें । सुपयस् सुयशस् से सुपयाः सुयशाः आदि बनेंगे ॥

अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति ॥६।४।१५॥

अनुनासिकस्य ६।१॥ क्विझलोः ७।२॥ क्ङिति ७।१॥ स०—क्विझलोः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । कश्च ङश्च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन्......द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—अनुनासिकान्तस्याङ्गस्योपधाया दीर्घो भवति, क्विप्रत्यये परतो झलादौ च क्ङिति ॥ उदा०—प्रशान्, प्रतान् । झलादौ किति—शान्तः, शान्तवान्, शान्त्वा, शान्तिः । ङिति—शंशान्तः, तन्तान्तः ॥

भाषार्थः—[अनुनासिकस्य] अनुनासिकान्त अङ्ग की उपधा को दीर्घ होता है, [क्विझलोः] क्वि तथा झलादि [क्ङिति] कित् ङित् प्रत्यय परे रहते ॥ प्रशान् प्रतान् में शमु तथा तमु धातु से क्विप् (३।२।७६) प्रत्यय हुआ है, एवं मो नो धातोः (८।२।६४) से म् को न् होता है । शान्तः शान्तवान् में निष्ठा प्रत्यय, एवं शान्तिः में झलादि क्तिन् प्रत्यय हुआ है । शंशान्तः तन्तान्तः, यहाँ भी पूर्ववत् यङ्लुगन्त शमु तथा तमु धातुओं से झलादि ङित् तस् प्रत्यय हुआ है । सिद्धि भाग १, परि० २।४।७४ के पापठीति के समान ही है । केवल यहाँ नुगतोनुनासि० (७।४।८५) से अभ्यास को नुक् आगम होता है । अतः अभ्यास को दीर्घ नहीं होता, यही विशेष है । तस् परे रहते तो प्रकृतसूत्र से दीर्घ होगा ही ॥

यहाँ से 'क्विझलोः' की अनुवृत्ति ६।४।२१ तक, तथा 'क्ङिति' की ६।४।१९ तक जायेगी ॥

अज्झनगमां सनि ॥६।४।१६॥

अज्झनगमाम् ६।३॥ सनि ७।१॥ स०—अच् च हनश्च गम् च अज्झनगमः, तेषां ...... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—झलि, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—अजन्तानामङ्गानां हनिगम्योश्च झलादौ सनि परतो दीर्घो भवति ॥ उदा०—अजन्तानाम्—चिचीषति, तुष्टूषति, चिकीर्षति, जिहीर्षति। हन्—जिघांसति। गम्—अधिजिगांसते ॥

भाषार्थः—[अज्झनगमाम्] अजन्त अङ्ग तथा हन् एवं गम् अङ्ग को झलादि [सनि] सन् परे रहने पर दीर्घ होता है ॥ चिचीषति आदि की सिद्धि भाग १, परि० १।२।६, पृ० ७६८ में देखें। अधिजिगांसते की सिद्धि भाग १, सूत्र २।४।४८ में देखें। इङादेश जो गमि वह यहाँ लिया गया है। हन् धातु से जिघांसति की सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है। केवल यहाँ अभ्यासाच्च (७।३।५५) से अभ्यास से उत्तर ह् को कुत्व घ् हुआ है। अभ्यास को चुत्व आदि पूर्ववत् हो जायेंगे ॥

यहाँ से 'सनि' की अनुवृत्ति ६।४।१७ तक जायेगी ॥

तनोतेर्विभाषा ॥६।४।१७॥

तनोतेः ६।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—सनि, झलि, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—तनोतेरङ्गस्य उपधायाः झलादौ सनि परतो विभाषा दीर्घो भवति ॥ उदा०—तितांसति, तितंसति ॥

भाषार्थः—[तनोतेः] तन् अङ्ग की उपधा को झलादि सन् परे रहते [विभाषा] विकल्प से दीर्घ होता है ॥ सिद्धियाँ पूर्ववत् सन्नन्त की सिद्धियों के समान हैं ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।४।१६ तक जायेगी ॥

क्रमश्च क्त्वि ॥६।४।१८॥

क्रमः ६।१॥ च अ०॥ क्त्वि ७।१॥ अनु०—विभाषा, झलि, उपधायाः, अङ्गस्य, दीर्घः ॥ अर्थः—क्रमेरङ्गस्य उपधाया विभाषा दीर्घो भवति, झलादौ क्त्वा प्रत्यये परतः ॥ उदा०—क्रान्त्वा, क्रन्त्वा ॥

भाषार्थः—[क्रमः] क्रम अङ्ग की उपधा को [च] भी झलादि [क्त्वि] क्त्वा प्रत्यय परे रहते विकल्प से दीर्घ होता है ॥

च्छ्वोः शूडनुनासिके च ॥६।४।१९॥

च्छ्वोः ६।२॥ शूठ् १।१॥ अनुनासिके ७।१॥ च अ० ॥ स०—च्छश्च वश्च

च्छ्वौ, तयोः च्छ्वोः, इतरेतरद्वन्द्वः । शश्च ऊठ् च शूठ्, समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—क्विझलोः क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—च्छ् व् इत्येतयोः स्थाने यथासंख्यं श् ऊठ् इत्येतौ आदेशौ भवतोऽनुनासिकादौ प्रत्यये परतः, क्वौ झलादौ च क्ङिति ॥ उदा०—अनुनासिके प्रत्यये—प्रश्नः, विश्नः । वकारस्य ऊठ्—स्योनः । क्वौ छस्य—शब्दप्राट्, गोविट् । वकारस्य क्वौ—अक्षद्यूः, हिरण्यद्यूः । झलादौ किति छस्य—पृष्टः, पृष्टवान्, पृष्ट्वा । वकारस्य झलादौ किति—द्यूतः, द्यूतवान्, द्यूत्वा ॥

भाषार्थः—[च्छ्वोः] च्छ् और व् के स्थान में यथासंख्य करके [शूठ्] श् और ऊठ् आदेश होते हैं, [अनुनासिके] अनुनासिकादि प्रत्यय परे रहते, [च] तथा क्वि और झलादि कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते ॥ तुक् सहित जो छकार उसको यहाँ शकारादेश होता है ॥

यहाँ से 'च्छ्वोः अनुनासिके' की अनुवृत्ति ६।४।२१ तक, तथा 'शूठ्' की ६।४।२० तक जायेगी ॥

ज्वरत्वरस्रिव्यविमवामुपधायाश्च ॥६।४।२०॥

ज्वरत्वरस्रिव्यविमवाम् ६।३॥ उपधायाः ६।१॥ च अ० ॥ स०—ज्वर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छ्वोः अनुनासिके शूठ्, क्विझलोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ज्वर, त्वर, स्रिवि, अव, मव इत्येतेषामङ्गानां वकारस्य उपधायाश्च स्थाने ऊठ् इत्ययमादेशो भवति, क्वौ परतो झलादावनुनासिकादौ च प्रत्यये परतः ॥ उदा०—ज्वर क्वौ—जूः, जूरौ, जूरः । झलादौ—जूर्तिः, जूर्णः, जूर्णवान् । त्वर—तूः, तूरौ, तूरः । तूर्तिः, तूर्णः, तूर्णवान् । स्रिवि—स्रूः, स्रुवौ, स्रुवः । स्रूतिः, स्रूतः, स्रूतवान् । अव—ऊः, उवौ, उवः । मव—मूः, मुवौ, मुवः । अनुनासिके—अवतेर्मनिन्प्रत्यये—ओम् ॥

भाषार्थः—[ज्वर ·····वाम्] ज्वर, त्वर, स्रिवि, अव, मव इन अङ्गों के वकार, [च] तथा [उपधायाः] उपधा के स्थान में ऊठ् आदेश होता है, क्वि तथा झलादि एवं अनुनासिकादि प्रत्ययों के परे रहते ॥

इस सूत्र में काशिका में क्ङिति की अनुवृत्ति भी लाये हैं, जो कि ठीक नहीं । क्योंकि अक्ङित् स्थल में भी इस सूत्र की प्रवृत्ति देखी जाती है । यथा—अव धातु से सितनिगमि० (उणा० १।६९) से तुन् प्रत्यय करके ओतुः में । 'अनुनासिके' की अनुवृत्ति तो लानी ही चाहिये,क्योंकि अव धातु से अवतेष्टिलोपश्च (उणा० १।१४२) से अनुनासिकादि मन् प्रत्यय के परे रहते प्रकृत सूत्र से उपधा एवं वकार को ऊठ् होकर मन् के टि का लोप होकर 'ओम्' शब्द सिद्ध होता है ॥ इस प्रकार अनु-

नासिकादि का एक उदाहरण ही सुलभ होने से दिखा दिया है। अन्यत्र भी इसी प्रकार हो सकता है ॥

जूः, जूरौ आदि में पूर्ववत् क्विप् प्रत्यय हुआ है। ज्वर त्वर (=जित्वरा) की उपधा 'व' को 'अ' है, अतः उसको एवं व् को ऊठ् होकर ज ऊठ् र्=जूर्=जूः बन गया। तूर्णः में इट् निषेध भी पक्ष में रुष्यमत्वर० (७।२।२८) से हुआ है। इसी प्रकार स्रिव् अव् मव् की उपधा क्रमशः इ, अ एवं म का अ है, अतः उपधा एवं वकार के स्थान में ऊठ् होकर स्रूः आदि प्रयोग बन गये। जूर्तिः आदि में झलादि क्तिन् आदि प्रत्यय परे हैं ही। सामर्थ्य से यहाँ 'च्छ्वोः शूठ्' की अनुवृत्ति आने पर भी च्छ् एवं श् का सम्बन्ध सूत्रार्थ में नहीं बैठता, वकार एवं ऊठ् का ही लगता है ॥

राल्लोपः ॥६।४।२१॥

रात् ५।१॥ लोपः १।१॥ अनु०—छ्वोः, अनुनासिके, क्विझलोः, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—रेफात् परयोः छ्वोर्लोपो भवति, क्वौ झलादौ अनुनासिके च प्रत्यये परतः ॥ उदा०—क्वौ—मुर्छा=मूः, मुरौ, मुरः। झलादौ—मूर्त्तः, मूर्त्तवान्, मूर्त्तिः। हुर्छा—हूः, हुरौ, हुरः। हूर्णः, हूर्णवान्, हूर्त्तिः। वकारस्य तुर्वी—तूः, तुरौ, तुरः। तूर्णः, तूर्णवान्, तूर्त्तिः। धुर्वी—धूः, धुरौ, धुरः। धूर्णः, धूर्णवान्, धूर्त्तिः ॥

भाषार्थः—[रात्] रेफ से उत्तर छकार और वकार का [लोपः] लोप हो जाता है, क्वि तथा झलादि अनुनासिकादि प्रत्ययों के परे रहते ॥ रेफ से उत्तर छकार को तुक् किसी सूत्र से विहित नहीं, अतः असम्भव होने से यहाँ रेफ से उत्तर केवल छकार का ही लोप होता है, न कि तुक्सहित का ॥ मुर्छा हुर्छा=मुर्छ् हुर्छ् धातुओं के छ् का लोप क्विप् परे रहते होकर मुर् हुर् रहा। शेष मूः आदि की सिद्धि भाग १, परि० ३।२।१७७ के धूः के समान जानें ॥ मूर्त्तः, मूर्त्तवान् में रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से प्राप्त निष्ठा के नत्व का अभाव न ध्याख्यापृमूर्च्छि० (८।२।५७) से होता है। आदितश्च (७।२।१६) से इट् प्रतिषेध, तथा हलि च (८।२।७७) से दीर्घत्व भी होगा। हूर्णः हूर्णवान् भी निष्ठा को नत्व करके इसी प्रकार बनेंगे ॥

असिद्धवदत्राभात् ॥६।४।२२॥

असिद्धवत् अ०॥ अत्र अ०॥ आ अ०॥ भात् ५।१॥ स०—न सिद्धः असिद्धः, नञ्तत्पुरुषः॥ असिद्धेन तुल्यं वर्त्तते इत्यसिद्धवत्। सिद्धशब्दोऽत्र निष्पन्न-वचनः, यथा 'सिद्ध ओदनः' इति ॥ आ भात् इत्यत्राभिविधौ 'आङ्' ॥ अर्थः—

आभात् अर्थात् भाधिकारपर्यन्तमापादपरिसमाप्तेरसिद्धवदित्यधिकारो वेदितव्यः समाना-श्रये ॥ आभीयं शास्त्रं निष्पन्नमपि आभसंशब्दनाद् यदुच्यते तस्मिन् कर्त्तव्ये सिद्ध-कार्यं=स्वकार्यं न करोतीत्यर्थः ॥ सूत्रे 'अत्र' शब्दोपादानं समानाश्रयत्वप्रतिपत्त्यर्थम् । समान एक आश्रयो निमित्तं यस्य तत् समानाश्रयम् ॥ उदा०—एधि, शाधि । आगहि, जहि ॥

भाषार्थः—'आभात्', यहाँ आङ् अभिविधि में है, अतः 'आभात्' से 'भस्य' (६।४।१२९) का अधिकार जहाँ तक जाता है, अर्थात् 'पाद की समाप्ति पर्यन्त' ऐसा अर्थ होगा ॥

[आभात्] भस्य के अधिकार-पर्यन्त, अर्थात् इस अध्याय की समाप्तिपर्यन्त [अत्र] समानाश्रय, अर्थात् एक ही निमित्त होने पर आभीय कार्य [असिद्धवत्] सिद्ध के समान नहीं होता, अर्थात् आभीय कार्य के होने पर भी वह न होने जैसा इस सूत्र से माना जाता है ॥ 'अत्र' का ग्रहण यहाँ समानाश्रयत्व द्योतन के लिये है । समान = एक ही आश्रय = निमित्त है जिसका, वह (कार्य) समानाश्रय हुआ । द्वितीयावृत्ति में प्रत्युदाहरण से यह बात सुस्पष्ट हो जायेगी ॥ 'असिद्धवत्' यह अधि-कार पाद की समाप्ति पर्यन्त जानना चाहिये ॥

अस भुवि तथा शासु अनुशिष्टौ धातु के लोट् मध्यम पुरुष के एधि शाधि रूप हैं । अतः सिप् प्रत्यय आकर, एवं सिप् को सेह्यपिच्च (३।४।८७) से हि आदेश तथा शप् का अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से लुक् होकर अस् हि, शास् हि रहा । अस् के अ का श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से लोप होकर स् हि रहा । घ्वसोरेद्धावभ्या० (६।४।११९) से उस 'स्' को भी एकार होकर 'ए हि' रहा । इसी प्रकार शा हौ (६।४।३५) से शास् के स्थान में 'शा' आदेश करने से 'शा हि' रहा । अब यहाँ दोनों स्थलों में हुझल्भ्यो हेर्धिः (६।४।१०१) से हि को धि प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि झल् से उत्तर 'हि' नहीं है । किन्तु जब प्रकृतसूत्र से आभीय कार्य धित्व करने में, आभीय कार्य एत्व (६।४।११९), एवं शा भाव (६।४।३५) असिद्ध अर्थात् अनिष्पन्न के समान माने गये, तो हुझल्भ्यो हेर्धिः की दृष्टि में 'स् हि, शास् हि' ऐसा रूप ही दीखा । अतः एत्व शाभाव कर लेने पर भी हुझल्भ्यो० से झलन्त से उत्तर 'धि' होकर एधि, शाधि सिद्ध हो गये ॥ आगहि जहि भी पूर्ववत् गम् तथा हन् के लोट् के रूप हैं । गम् के अनुनासिक का लोप अनुदात्तोपदे० (६।४।३७) से हुआ है, तथा शप् का बहुलं छन्दसि (२।४।७३) से लुक् हो जायेगा । हन् को भी हि परे रहते हन्तेर्जः (६।४।३६) से ज आदेश हो जायेगा । सो आगहि जहि ऐसे रूप बने । किन्तु यहाँ अतो हेः (६।४।१०५) से 'ग' तथा 'ज' अदन्त अङ्ग से उत्तर हि का लुक् भी प्राप्त हुआ, जो कि इष्ट नहीं, तब प्रकृतसूत्र से आभीय कार्य अतो हेः की

दृष्टि में आभीय कार्य अनुनासिक लोप एवं ज भाव असिद्ध हो गये। तो आ गम् हि, हन् हि ऐसा रूप ही अतो हेः को दीखा। अब हि का लुक् करने में गम्, हन् तो अदन्त हैं नहीं, अतः अतो हेः से हि का लुक् भी नहीं हुआ, यही इस सूत्र का प्रयोजन है।।

श्नान्नलोपः ॥६।४।२३॥

श्नात् ५।१॥ नलोपः १।१॥ स०—नकारस्य लोपः नलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ **अर्थः**—श्नादुत्तरस्य नकारस्य लोपो भवति॥ श्नादित्यनेन श्नम् उत्सृष्टमकारो गृह्यते॥ **उदा०**—अनक्ति, भनक्ति, हिनस्ति ॥

भाषार्थः—[श्नात्] श्न से उत्तर [नलोपः] नकार का लोप हो जाता है ॥ श्न से यहाँ श्नम् (३।१।७८) का ग्रहण है ॥ अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु धातु से अनक्ति; भञ्जो आमर्दने से भनक्ति; हिसि हिंसायाम् से हिनस्ति बनता है। हिसि धातु में इदितो नुम् (७।१।५८) से नुम् आगम होकर हिन्स् बना है। शेष कार्य भाग १, परि० १।१।४६ के भिनत्ति की सिद्धि के समान जानें ॥ अ श्नम् ञ्ज् ति = अ न ञ् ज् ति, यहाँ प्रकृतसूत्र से श्नम् से उत्तर न् (जो कि ज् के योग से 'ञ्' हो गया है) का लोप हो गया। पश्चात् चोः कुः (८।२।३०) से ज् को ग्, एवं खरि च (८।४।५४) से क् होकर अनक्ति बन गया। भनक्ति हिनस्ति में भी यही प्रक्रिया जानें ॥

यहाँ से 'नलोपः' की अनुवृत्ति ६।४।३३ तक जायेगी ॥

अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति ॥६।४।२४॥

अनिदिताम् ६।३॥ हलः ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ क्ङिति ७।१॥ स०—इकार इत् येषां त इदितः, बहुव्रीहिः। न इदितोऽनिदितः, तेषां ... नञ्तत्पुरुषः। कश्च ङश्च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन् ... द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ **अनु०**—नलोपः, अङ्गस्य ॥ **अर्थः**—अनिदितामङ्गानां हलन्तानामुपधाया नकारस्य लोपो भवति, किति ङिति च प्रत्यये परतः ॥ **उदा०**—स्रस्तः, ध्वस्तः। स्रस्यते, ध्वस्यते। ङिति—सनीस्रस्यते, दनीध्वस्यते ॥

भाषार्थः—[अनिदिताम्] इकार जिनका इत्संज्ञक नहीं है, ऐसे [हलः] हलन्त अङ्ग की [उपधायाः] उपधा के नकार का लोप होता है, [क्ङिति] कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते। स्रंसु ध्वंसु धातुएं अनिदित् तथा हलन्त हैं, अतः इनके उपधा नकार का लोप हो गया है क्त में स्रस्तः एवं कर्म में यक् परे रहते स्रस्यते रूप बना है। यङ् परे रहते नलोप होकर सनीस्रस्यते रूप बनेगा। इसकी सिद्धि भाग १, परि० ३।१।२२ में प्रदर्शित पापच्यते के समान ही है। केवल यहाँ नीगवञ्चु-

स्रन्सुध्वन्सु० (७।४।८४) से अभ्यास को 'नीक्' का आगम होता है, यही विशेष है। नीक् का 'नी' शेष रहेगा ॥

यहाँ से 'उपधायाः' की अनुवृत्ति ६।४।३४ तक जायेगी ॥

दंशसञ्जस्वञ्जां शपि ॥६।४।२५॥

दंशसञ्जस्वञ्जाम् ६।३॥ शपि ७।१॥ स०—दंश० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—दन्श, सञ्ज, ष्वञ्ज इत्येतेषामङ्गानामुपधाया नकारस्य लोपो भवति, शपि परतः ॥ उदा०—दशति । सजति । परिष्वजते ॥

भाषार्थः—[दंशसञ्जस्वञ्जाम्] दन्श, सञ्ज, ष्वञ्ज इन अङ्गों की उपधा नकार का लोप होता है, [शपि] शप् प्रत्यय परे रहते ॥ षञ्ज एवं ष्वञ्ज के ष् को धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से स्, पुनः उपसर्ग से उत्तर उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से षत्व होकर परिष्वजते बनता है ॥

यहाँ से 'शपि' की अनुवृत्ति ६।४।२६ तक जायेगी ॥

रञ्जेश्च ॥६।४।२६॥

रञ्जेः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—शपि, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—रञ्जेश्च उपधाया नकारस्य लोपो भवति, शपि परतः ॥ उदा०—रजति, रजतः, रजन्ति ॥

भाषार्थः—[रञ्जेः] रञ्ज अङ्ग की उपधा के नकार का [च] भी लोप होता है, शप् परे रहते ॥

यहाँ से 'रञ्जेः' की अनुवृत्ति ६।४।२७ तक जायेगी ॥

घञि च भावकरणयोः ॥६।४।२७॥

घञि ७।१॥ च अ० ॥ भावकरणयोः ७।२॥ स०—भाव० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—रञ्जेः, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भावकरणवाचिनि घञि च परतो रञ्जेरुपधाया नकारस्य लोपो भवति ॥ उदा०—भावे—आश्चर्यो रागः, विचित्रो रागः । करणे—रज्यतेऽनेनेति रागः ॥

भाषार्थः—[भावकरणयोः] भाववाची तथा करणवाची [घञि] घञ् के परे रहते [च] भी रञ्ज् धातु की उपधा के नकार का लोप होता है ॥ करण में हलश्च (३।३।१२१) से घञ् होता है ॥

यहाँ से 'घञि' की अनुवृत्ति ६।४।२६ तक जायेगी ॥

स्यदो जवे ॥६।४।२८॥

स्यदः १।१॥ जवे ७।१॥ अनु०—घञि, उपधायाः, नलोपः ॥ अर्थः—जवेऽभिधेये घञि परतः स्यद इति निपात्यते । निपातनेन स्यन्देर्नलोपो वृद्धयभावश्च भवति ॥ उदा०—गवां स्यदः=गोस्यदः, अश्वस्यदः ॥

भाषार्थः—[जवे] जव=वेग अभिधेय हो, तो घञ् परे रहते [स्यदः] स्यद शब्द निपातन किया जाता है । स्यन्दू धातु के न् का लोप, तथा अतः उपधायाः (७।२।११६) से प्राप्त वृद्धि का अभाव यहाँ निपातन से होता है ॥ भावे (३।३।१८) से घञ् हो ही जायेगा ॥

अवोदैधौद्मप्रश्रथहिमश्रथाः ॥६।४।२९॥

अवो······श्रथा १।३॥ स०—अवोदै० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—घञि, उपधायाः, नलोपः ॥ अर्थः—अवोद, एध, ओद्म, प्रश्रथ, हिमश्रथ इत्येते निपात्यन्ते ॥ अवोद इत्यत्र अवपूर्वस्य उन्देः घञि नलोपो निपात्यते । अवोदः । एध इत्यत्र इन्धेर्घञि नलोपो गुणश्च निपात्यते । एधः । ओद्म इत्यत्र उन्देरौणादिके (उणा० १।१४०) मन्प्रत्यये परतो नलोपो गुणश्च निपात्यते । ओद्मः । प्रश्रथ इत्यत्र प्रपूर्वस्य श्रन्थेर्घञि नलोपो वृद्धयभावश्च निपात्यते । प्रश्रथः, हिमश्रथः, इत्यत्र हिमपूर्वस्य श्रन्थेर्घञि नलोपो वृद्धयभावश्च निपात्यते ॥

भाषार्थः—[अवो······श्रथाः] अवोद, एध, ओद्म, प्रश्रथ, हिमश्रथ ये शब्द निपातन किये जाते हैं ॥ अवोद, यहाँ अवपूर्वक उन्द धातु के नकार का लोप घञ् परे रहते निपातन किया गया है । एध, यहाँ इन्ध धातु के न् का लोप, एवं गुण घञ् परे रहते निपातन से किया गया है । न धातुलोप० (१।१।४) से गुण का निषेध प्राप्त था, निपातन से प्राप्त करा दिया । ओद्म, यहाँ उन्द धातु से अर्त्तिस्तुसु० (उणा० १।१४०) इस उणादि सूत्र से बाहुलक से हुये मन् प्रत्यय के परे रहते नलोप एवं गुण निपातन से किया जाता है । प्रश्रथ, यहाँ प्रपूर्वक श्रन्थ धातु से घञ् परे रहते नलोप, एवं अत उपधायाः (७।२।११६) से प्राप्त वृद्धि का अभाव निपातन से होता है । हिमश्रथ, यहाँ हिम पूर्वपद रहते श्रन्थ धातु से घञ् परे रहते पूर्ववत् नलोप एवं वृद्धयभाव निपातन है ॥

नाञ्चेः पूजायाम् ॥६।४।३०॥

न अ० ॥ अञ्चेः ६।१॥ पूजायाम् ७।१॥ अनु०—उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पूजायामर्थे अञ्चेरङ्गस्योपधायाः नकारस्य लोपो न भवति॥ उदा०—अञ्चिता अस्य गुरवः । अञ्चितमिव शिरो वहति ॥

भाषार्थः—[पूजायाम्] पूजा अर्थ में [अञ्चेः] अञ्चु अङ्ग की उपधा के नकार का लोप [न] नहीं होता है ॥ अनिदितां हल० (६।४।२४) से नकार लोप प्राप्त था, इस सूत्र से निषेध कर दिया ॥ अञ्चिताः, यहाँ मतिबुद्धि० (३।२। १८८) से क्त प्रत्यय होता है। अञ्चेः पूजायाम् (७।२।५३) से इट् आगम भी यहाँ होता है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ६।४।३२ तक जायेगी ॥

क्त्वि स्कन्दिस्यन्दोः ॥६।४।३१॥

क्त्वि ७।१॥ स्कन्दिस्यन्दोः ६।२॥ स०—स्कन्दि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्कन्द स्यन्द इत्येतयोर्नकारलोपो न भवति, क्त्वाप्रत्यये परतः ॥ उदा०—स्कन्त्वा । स्यन्त्वा । स्यन्देरूदित्वात् पक्षे इडागमः— स्यन्दित्वा ॥

भाषार्थः—[स्कन्दिस्यन्दोः] स्कन्द तथा स्यन्द के नकार का लोप [क्त्वि] क्त्वा प्रत्यय परे रहते नहीं होता ॥ पूर्ववत् अनिदितां हल० (६।४।२४) से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया। स्यन्दू धातु ऊदित् है, अतः स्वरतिसूति० (७।२।४४) से पक्ष में इट् आगम होकर स्यन्दित्वा रूप भी बनता है। इट् पक्ष में न क्त्वा सेट् (१। २।१८) से कित् का प्रतिषेध होने पर अकित् माना जाने से स्वयमेव नलोप का अभाव रहेगा ॥ स्कन्त्वा आदि में खरि च (८।४।५४) से द् को चर्त्व होकर, झरो झरि० (८।४।६४) से एक त् का लोप होता है ॥

यहाँ से 'क्त्वि' की अनुवृत्ति ६।४।३२ तक जायेगी ॥

जान्तनशां विभाषा ॥६।४।३२॥

जान्तनशाम् ६।३॥ विभाषा १।१॥ स०—ज अन्ते येषाम् ते जान्ताः, जान्ताश्च नश्च जान्तनशः, तेषाम् ......बहुव्रीहिगर्भेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—क्त्वि, न, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जान्तानामङ्गानां नशेश्च क्त्वाप्रत्यये परतो विभाषा नकारलोपो न भवति ॥ उदा०—रञ्ज्—रङ्क्त्वा, रक्त्वा । भञ्ज्—भङ्क्त्वा, भक्त्वा । नश्—नंष्ट्वा, नष्ट्वा ॥

भाषार्थः—[जान्तनशाम्] जकारान्त अङ्ग के तथा नश् के नकार का लोप [विभाषा] विकल्प करके नहीं होता, अर्थात् होता है ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, विकल्प विधान कर दिया ॥ भङ्क्त्वा आदि में ज् को चोः कुः (८।२।३०), एवं खरि च (८।४।५४) से क् होता है। न् को परसवर्णादि होकर ङ् हो ही जायेगा। नश् धातु को क्त्वा परे रहते मस्जिनशोर्झलि (७।१।६०) से जो नुम्

आगम होता है, उसी का यहाँ विकल्प से लोप होता है। व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से श को ष एवं ष्टुत्व होकर नंष्ट्वा नष्ट्वा बनता है॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।४।३३ तक जायेगी॥

भञ्जेश्च चिणि ॥६।४।३३॥

भञ्जेः ६।१॥ च अ० ॥ चिणि ७।१॥ अनु०—विभाषा, उपधायाः, नलोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—चिणि परतो भञ्जेश्च विभाषा नकारलोपो भवति ॥ उदा०—अभाजि, अभञ्जि॥

भाषार्थः—[भञ्जेः] भञ्ज अङ्ग के नकार का लोप [च] भी विकल्प से होता है, [चिणि] चिण् प्रत्यय परे रहते॥ चिण् प्रत्यय कित् ङित् नहीं है, अतः नलोप की प्राप्ति ही नहीं थी, अतः यह अप्राप्त विभाषा है॥ चिण् भावकर्मणोः (३।१।६६) से चिण् प्रत्यय होता है। अभाजि में अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि हो जायेगी॥

शास इदङ्हलोः ॥६।४।३४॥

शासः ६।१॥ इत् १।१॥ अङ्हलोः ७।२॥ स०—अङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—उपधायाः, अङ्गस्य। क्ङिति इत्यप्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या॥ अर्थः—शास उपधाया इकारादेशो भवति, अङि परतो हलादौ च क्ङिति॥ उदा०—अङ—अन्वशिषत्, अन्वशिषताम्। हलादौ क्ङिति—शिष्टः, शिष्टवान्। ङिति—तौ शिष्टः, वयं शिष्मः॥

भाषार्थः—[शासः] शास् अङ्ग की उपधा को [इत्] इकारादेश हो जाता है, [अङ्हलोः] अङ् तथा हलादि क्ङित् ङित् प्रत्यय परे रहते॥ भाग १, परि० ३।१।५६, पृष्ठ ८८१ में अशिषत् की सिद्धि देखें। यहाँ अनुपूर्वक प्रयोग है। निष्ठा में शिष्टः शिष्टवान्, एवं तस् मस् में शिष्टः शिष्मः बने हैं। सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से तस् मस् ङित् हैं, अतः हलादि ङित् प्रत्यय परे है ही। शासिवसि० (८।३।६०) से षत्व एवं ष्टुत्व ही विशेष है। शास् की उपधा 'आ' को सर्वत्र इत्व हुआ है॥

यहाँ से 'शासः' की अनुवृत्ति ६।४।३५ तक जायेगी॥

शा हौ ॥६।४।३५॥

शा १।१॥ हौ ७।१॥ अनु०—शासः, अङ्गस्य॥ अर्थः—शासोऽङ्गस्य स्थाने हौ परतः शा इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—अनुशाधि, प्रशाधि॥

भाषार्थ:—शास् अङ्ग के स्थान में [हौ] हि परे रहते [शा] शा यह आदेश होता है ॥ सिद्धि असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२) सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'हौ' की अनुवृत्ति ६।४।३६ तक जायेगी ॥

हन्तेर्जः ॥६।४।३६॥

हन्तेः ६।१॥ जः १।१॥ अनु०—हौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—हन्तेरङ्गस्य स्थाने ज इत्ययमादेशो भवति हौ परतः ॥ उदा०—जहि शत्रून् ॥

भाषार्थ:—[हन्तेः] हन् अङ्ग के स्थान में हि परे रहते [जः] ज यह आदेश होता है ॥ सिद्धि असिद्धवद० (६।४।२२) सूत्र में देखें ॥

अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो झलि क्ङिति ॥६।४।३७॥

अनुदा ... दीनाम् ६।३॥ अनुनासिक लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ लोपः १।१॥ झलि ७।१॥ क्ङिति ७।१॥ स०—अनुदात्ताश्च ते उपदेशाश्च अनुदात्तोपदेशाः, कर्मधारयः । तनोतिरादिर्येषां ते तनोत्यादयः, बहुव्रीहिः । अनुदात्तोपदेशाश्च वनतिश्च तनोत्यादयश्च अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादयः, तेषां ... इतरेतरद्वन्द्वः । क्ङिति इत्यत्र पूर्ववत् समासो ज्ञेयः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—अनुदात्तोपदेशानाम् अनुनासिकान्तानां वनतेः तनोत्यादीनां चाङ्गानां झलादौ क्ङिति प्रत्यये परतोऽनुनासिकस्य लोपो भवति ॥ उदा०—अनुदात्तोपदेशानाम्—यम्—यत्वा, यतः, यतवान्, यतिः । रमु—रत्वा, रतः, रतवान्, रतिः । वनतेः—वतिः । तनोत्यादीनाम्—ततः, ततवान् । क्षणु—क्षतः, क्षतवान् । ऋणु—ऋतः, ऋतवान् । ङिति—अतत, अतथाः ॥

भाषार्थ:—[अनु ... दीनाम्] अनुदात्तोपदेश और जो अनुनासिकान्त उनके तथा वन एवं तनोत्यादि अङ्गों के [अनुनासिक] अनुनासिक का [लोपः] लोप होता है, [झलि क्ङिति] झलादि कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते ॥ अनुनासिक का सम्बन्ध लोप के साथ और अनुदात्तोपदेश के साथ भी लगाना इष्ट है । अतः 'अनुनासिक' पद लुप्तविभक्तिक माना गया है । अनुदात्तोपदेश का विशेषण 'अनुनासिकानाम्' न बनाने पर मुक्तः में म का लोप प्राप्त होगा ॥ वन धातु से क्तिन् में वतिः रूप बना है । क्तिच् में तो न क्तिचि दीर्घश्च (६।४।३९) से अनुनासिकलोप निषेध कहा है, अतः क्तिच् का रूप नहीं हो सकता । अतत, अतथाः की सिद्धि भाग १, सूत्र २।४।७९ में देखें । त तथा थास् सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से ङित् है ॥

यहाँ से 'अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्' की अनुवृत्ति ६।४।३९ तक, तथा 'अनुनासिक लोपः' की ६।४।४० तक जायेगी ॥

वा ल्यपि ॥६।४।३८॥

वा अ० ॥ ल्यपि ७।१॥ अनु०—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, अनुनासिक लोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामङ्गानां ल्यपि परतो विकल्पेन अनुनासिकलोपो भवति ॥ इयं व्यवस्थितविभाषा, तेन मान्तानां विकल्पेन लोपो भवति, नान्तानां तु नित्यमेव ॥ उदा०—प्रयत्य, प्रयम्य; प्ररत्य, प्ररम्य; प्रणत्य, प्रणम्य; आगत्य, आगम्य। आहत्य, प्रमत्य, प्रवत्य, वितत्य, प्रक्षत्य ॥

भाषार्थः—अनुदात्तोपदेश, वनति तथा तनोत्यादि अङ्गों के अनुनासिक का लोप [ल्यपि] ल्यप् परे रहते [वा] विकल्प करके होता है ॥ यह व्यवस्थित विभाषा है, अतः मकारान्तों का विकल्प से लोप होता है। नकारान्तों का नित्य ही लोप देखा जाता है। सिद्धियां भाग १, परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान जानें ॥

न क्तिचि दीर्घश्च ॥६।४।३९॥

न अ० ॥ क्तिचि ७।१॥ दीर्घः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम्, अनुनासिक लोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—क्तिचि परतोऽनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनामङ्गानामनुनासिकलोपः दीर्घश्च न भवति ॥ उदा०—यन्तिः; वन्तिः, तन्तिः ॥

भाषार्थः—[क्तिचि] क्तिच् परे रहते अनुदात्तोपदेश, वनति तथा तनोत्यादि अङ्गों के अनुनासिक का लोप [च] तथा [दीर्घः] दीर्घ [न] नहीं होता है ॥ अनुनासिकलोप का प्रतिषेध कर देने पर अनुनासिकस्य क्विझलोः० (६।४।१५) से जो दीर्घत्व प्राप्त था, उसका भी इस सूत्र से प्रतिषेध कर दिया गया ॥ क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् (३।३।१७४) से क्तिच् प्रत्यय होता है ॥

गमः क्वौ ॥६।४।४०॥

गमः ६।१॥ क्वौ ७।१॥ अनु०—अनुनासिक लोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—क्वौ परतो गमोऽनुनासिकलोपो भवति ॥ उदा०—अङ्गगत्, कलिङ्गगत्, अध्वानं गच्छन्तीति=अध्वगतो हरयः ॥

भाषार्थः—[क्वौ] क्वि परे रहते [गमः] गम् के अनुनासिक का लोप होता है ॥ झलादिप्रत्यय परे न होने से ६।४।३७ से अनुनासिकलोप प्राप्त नहीं था, अतः विधान कर दिया है ॥ उदाहरणों में क्विप् च (३।२।७६) से क्विप् प्रत्यय, तथा तुक् आगम पूर्ववत् होगा ॥

विड्वनोरनुनासिकस्यात् ॥६।४।४१॥

विड्वनोः ॥७।२॥ अनुनासिकस्य ६।१॥ आत् १।१॥ स०—विड्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य विटि वनि च प्रत्यये परत आकारादेशो भवति ॥ उदा०—अब्जाः, गोजाः, ऋतुजाः, अद्रिजाः, गोषा इन्द्रो नृषा असि, कूपखाः, शतखाः, सहस्रखाः, दधिक्राः, अग्रेगा उन्नेतॄणाम् । वन्—विजावा, अग्रेजावा ॥

भावार्थः—[विड्वनोः] विट् तथा वन् प्रत्यय परे रहते [अनुनासिकस्य] अनुनासिकान्त अङ्ग को [आत्] आकारादेश होता है ॥ सिद्धियाँ भाग १, सूत्र ३।२।६७ में देखें । विजावा अग्रेजावा में वनिप् प्रत्यय अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३।२।७५) से होता है । सिद्धि भी उसी प्रकरण में देखें ॥

यहाँ से 'आत्' की अनुवृत्ति ६।४।४५ तक जायेगी ॥

जनसनखनां सञ्झलोः ॥६।४।४२॥

जनसनखनाम् ६।३॥ सञ्झलोः ७।२॥ स०—जन० सञ्झलोः उभयत्रापीतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत् । अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७) इत्यतः झलि क्ङिती-त्यप्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या॥ अर्थः—जन सन खन इत्येतेषामङ्गानामाकारादेशो भवति, झलादौ सनि झलादौ च क्ङिति परतः॥ उदा०—जन्—जातः, जातवान्, जातिः । सन्—सनि—सिषासति । क्ङिति—सातः, सातवान्, सातिः ॥ खन्—खातः, खातवान्, खातिः ॥

भावार्थः—[जनसनखनाम्] जन, सन, खन इन अङ्गों को आकारादेश हो जाता है, [सञ्झलोः] झलादि सन् तथा झलादि कित् ङित् परे रहते ॥ जन खन धातुएं नित्य सेट् हैं, अतः उनसे झलादि सन् सम्भव ही नहीं । इसलिये सन धातु का ही सन् प्रत्यय में उदाहरण दिखाया है । सनीवन्तर्ध० (७।२।४९) से सन् को भी जब पक्ष में इट् आगम नहीं होगा, तभी इस सूत्र का उदाहरण बनेगा । अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्तिम अल् को आकारादेश होता है ॥

यहाँ से 'जनसनखनाम्' की अनुवृत्ति ६।४।४३ तक जायेगी ॥

ये विभाषा ॥६।४।४३॥

ये ७।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—जनसनखनाम्, आत् । 'क्ङिति' इत्यनुवर्त्तते पूर्ववत् ॥ अर्थः—यकारादौ क्ङिति प्रत्यये परतो जनसनखनामङ्गानामाकारादेशो भवति विकल्पेन ॥ उदा०—जायते, जन्यते । जाजायते, जञ्जन्यते । सन्—सायते, सन्यते । सासायते, संसन्यते । खन्—खायते, खन्यते । चाखायते, चङ्खन्यते ॥

भाषार्थः—[ये] यकारादि कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते जन सन खन अङ्गों को [विभाषा] विकल्प से आकारादेश हो जाता है ।। जायते जन्यते, यहाँ भाववाच्य में लकार हुआ है, तथा सायते सन्यते आदि में भी भाव अथवा कर्म में लकार जानें । इस प्रकार यक् कित् प्रत्यय इन उदाहरणों में है । जाजायते जञ्जन्यते आदि में यङ् प्रत्यय हुआ है । जिस पक्ष में आत्व नहीं हुआ, उस पक्ष में नुगतोऽनुनासिकान्तस्य (७।४।८५) से अभ्यास को नुक् का आगम होता है । यङ् की सिद्धि कई बार दिखायी है ।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ६।४।४४ तक जायेगी ।।

तनोतेर्यकि ।।६।४।४४।।

तनोतेः ६।१।। यकि ७।१।। अनु०—विभाषा, आत्, अङ्गस्य ।। अर्थः—तनोतेरङ्गस्य यकि परतो विकल्पेन आकारादेशो भवति ।। उदा०—तायते, तन्यते ।।

भाषार्थः—[तनोतेः] तन् अङ्ग को विकल्प से [यकि] यक् परे रहते आकारादेश होता है ।। भाव अथवा कर्म में सिद्धियाँ जानें ।।

सनः क्तिचि लोपश्चास्यान्यतरस्याम् ।।६।४।४५।।

सनः ६।१।। क्तिचि ७।१।। लोपः १।१।। च अ० ।। अस्य ६।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। अनु०—आत्, अङ्गस्य ।। अर्थः—क्तिचि प्रत्यये परतः सनोतेरङ्गस्य आकारादेशो भवति, लोपश्च विकल्पेन ।। उदा०—सातिः, सतिः, सन्तिः ।।

भाषार्थः—[क्तिचि] क्तिच् प्रत्यय परे रहते [सनः] सन् (धातु) अङ्ग को आकारादेश हो जाता है, [च] तथा [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [अस्य] इसको [लोपः] लोप भी होता है । इस प्रकार तीन रूप बनेंगे—प्रथम आत्वपक्ष में सातिः, द्वितीय लोपपक्ष में सतिः, तथा तृतीय लोप का विकल्प कहने से जब पक्ष में लोप नहीं हुआ तो सन्तिः ये रूप बने ।

आर्धधातुके ।।६।४।४६।।

आर्धधातुके ७।१।। अर्थः—आर्धधातुक इत्यधिकारो वेदितव्यः, 'न ल्यपि' इति प्रागेतस्माद् यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामः तद आर्धधातुक इत्येवं बोद्धव्यम् ।। उदा०—वक्ष्यति अतो लोपः (६।४।४८)—चिकीर्षिता । यस्य हलः (६।४।४९)—बेभिदिता, बेभिदितुम्, बेभिदितव्यम् । णेरनिटि (६।४।५१)—कारणा, हारणा ।।

भाषार्थः—यह अधिकार सूत्र है, न ल्यपि (६।४।६८) से पूर्व पूर्व तक इसका अधिकार जायेगा । सो वहाँ तक के सूत्रों में [आर्धधातुके] 'आर्धधातुके' ऐसा पद बैठता जायेगा ।। चिकीर्षिता, सन्नन्त चिकीर्ष धातु के तृच् का रूप है ।

न पदान्त० (१।१।५७) सूत्र के परिशिष्ट में कृ धातु से चिकीर्ष बनाने की प्रक्रिया देखें। यहाँ तृच् आर्धधातुक के परे रहते 'ष' के 'अ' का अतो लोपः (६।४।४८) से लोप हुआ है। यङ् में भिदिर् धातु से 'बेभिद्य' रूप बन कर तृच् आर्धधातुक के परे रहते यस्य हलः (६।४।४९) से यकार का लोप हुआ है। पश्चात् इट् आगमादि होकर बेभिदिता रूप बन गया। कारणा हारणा की सिद्धि भाग १, सूत्र ३।३।१०७ में देखें॥

भ्रस्जो रोपधयो रमन्यतरस्याम् ॥६।४।४७॥

भ्रस्जः ६।१॥ रोपधयोः ६।२॥ रम् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—रेफश्च उपधा च रोपधे, तयोः······इतरेतरद्वन्द्वः। अनु०—आर्धधातुके, अङ्गस्य॥ अर्थः—भ्रस्जो रेफस्योपधायाश्च स्थाने रमागमो विकल्पेन भवति, आर्धधातुके परतः॥ उदा०—भ्रष्टा, भर्ष्टा। भ्रष्टुम्, भर्ष्टुम्। भ्रष्टव्यम्, भर्ष्टव्यम्। भ्रज्जनम्, भर्ज्जनम्॥

भाषार्थः—[भ्रस्जः] भ्रस्ज धातु के [रोपधयोः] रेफ तथा उपधा के स्थान में [रम्] रम् आगम [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होता है, आर्धधातुक परे रहने पर॥ रेफ एवं उपधा सकार के स्थान में रम् मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् अ से परे होकर भ् अ रम् ज् तृच्=भ र् ज् तृ रहा। व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से ज् को ष् एवं ष्टुत्व होकर भर्ष्टा बना। पक्ष में जब रम् आगम नहीं हुआ, तो स्कोः संयोगा० (८।२।२९) से सकारलोप एवं पूर्ववत् षत्व ष्टुत्व होकर भ्रष्टा बन गया। भ्रज्जनम् भर्ज्जनम् में स् को झलां जश् झशि (८।४।५२) से दकार, एवं श्चुत्व होकर 'ज्' हो गया है॥ रम् के र में अकार उच्चारणार्थ रखा है[2]॥

अतो लोपः ॥६।४।४८॥

अतः ६।१॥ लोपः १।१॥ अनु०—आर्धधातुके, अङ्गस्य॥ अर्थः—अकारान्त-

१. यद्यपि यस्य हलः से अकारसहित यकार का लोप विहित है, तथापि हलः में पञ्चमी होने से आदेः परस्य (१।१।५३) के नियमानुसार केवल यकार का लोप होता है, और अतो लोपः (६।४।४८) से अकार का लोप होता है॥

२. यहाँ रोपधयोः में षष्ठी विभक्ति होने से रम् आगम रेफ एवं उपधा के स्थान में प्राप्त होता है। तथा रम् में मित् होने से अन्त्य अच् अ के अ से परे प्राप्त होता है। परन्तु यह सम्भव नहीं है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि पहले रेफ तथा उपधा की निवृत्ति हो जाती है, तदनन्तर रम् का आगम हो जाता है॥

स्याङ्गस्य आर्धधातुके परतो लोपो भवति ॥ उदा०—चिकीर्षिता, चिकीर्षितुम्, चिकीर्षितव्यम् । धिनोति, कृणोति ॥

भाषार्थः—[अतः] अकारान्त अङ्ग का आर्धधातुक परे रहते [लोपः] लोप हो जाता है ॥ चिकीर्षिता आदि की सिद्धि ६।४।४६ सूत्र में ही देखें । धिनोति कृणोति की सिद्धि भाग १, परि० ३।१।८० में देखें । यहाँ 'उ' आर्धधातुक के परे रहते 'अ' का लोप हुआ है ॥

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ६।४।५४ तक जायेगी ॥

यस्य हलः ॥६।४।४९॥

यस्य ६।१॥ हलः ५।१॥ अनु०—लोपः, आर्धधातुके ॥ अर्थः—हल उत्तरस्य यशब्दस्य आर्धधातुके लोपो भवति ॥ उदा०—बेभिदिता, बेभिदितुम्, बेभिदितव्यम् ॥

भाषार्थः—[हलः] हल् से उत्तर [यस्य] 'य' का लोप होता है, आर्धधातुक परे रहते ॥ यहाँ 'य' संघात का ग्रहण है, परन्तु आदेः परस्य (१।१।५३) से केवल यकार का ही लोप होता है । अकार का लोप पूर्व सूत्र से सिद्ध ही है ॥ सिद्धि ६।४।४६ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'हलः' की अनुवृत्ति ६।४।५० तक जायेगी ॥

क्यस्य विभाषा ॥६।४।५०॥

क्यस्य ६।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—हलः, लोपः, आर्धधातुके ॥ अर्थः—हल उत्तरस्य क्यस्य विभाषा लोपो भवति ॥ उदा०—समिधमात्मन इच्छति, समिद् इवाचरतीति वा=समिध्यिता, समिधिता; दृषद्यिता, दृषदिता ॥

भाषार्थः—हल् से उत्तर [क्यस्य] क्य का [विभाषा] विकल्प से आर्धधातुक परे रहते लोप होता है ॥ क्य से सामान्य करके क्यच् क्यङ् का ग्रहण होता है ॥ सुप आत्मनः० (३।१।८) से क्यच्, एवं कर्तुः क्यङ्० (३।१।११) से क्यङ् होता है ॥

णेरनिटि ॥६।४।५१॥

णेः ६।१॥ अनिटि ७।१॥ स०—न इट् यस्य तदनिट्, तस्मिन् अनिटि, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—लोपः, आर्धधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अनिडादावार्धधातुके णेर्लोपो भवति ॥ उदा०—अततक्षत्, अररक्षत्, आटिटत्, आशिशत् । कारणा, हारणा । कारकः, हारकः । कार्यते, हार्यते । ज्ञीप्सति ॥

भाषार्थः—[अनिटि] अनिडादि आर्धधातुक परे रहते [णेः] णि का लोप होता है ॥ अततक्षत्, अररक्षत् की सिद्धि भाग १, परि० १।४।१; पृष्ठ ८२१ में देखें । आदिटत्, आशिशत् की सिद्धि परि० १।१।५८; पृ०-७५२ में देखें । कारणा हारणा की सिद्धि ३।३।१०७ सूत्र में देखें । कारकः हारकः में णिचलोप ही विशेष है । कार्यते हार्यते णिजन्त के कर्म के रूप हैं । अचो ञ्णिति (७।२।११५) से कृ हृ को वृद्धि हुई है ॥ ज्ञीप्सति, यहाँ ज्ञा धातु से णिच्, एवं अर्तिह्री० (७।३।३६) से पुक् आगम होकर ज्ञापि धातु बनी । ततः मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा (धातुपाठ भ्वा०) से ज्ञा की मित् संज्ञा होकर मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से ह्रस्व हो गया । पश्चात् सन् प्रत्यय एवं द्वित्वादि होकर 'ज ज्ञप् इ स' रहा । सनीवन्तर्ध० (७।२।४९) से इट् आगम का अभाव, एवं णेरनिटि से णिलोप होकर 'ज ज्ञप् स' रहा । आप्ज्ञप्यृधामीत् (७।४।५५) से ज्ञप् के अ को ईत्व, एवं अत्र लोपोऽभ्या० (७।४।५८) से अभ्यासलोप होकर 'ज्ञीप् स' बना । आगे ज्ञीप्सति बन गया ॥

यहाँ से 'णेः' की अनुवृत्ति ६।४।५७ तक जायेगी ॥

निष्ठायां सेटि ॥६।४।५२॥

निष्ठायाम् ७।१॥ सेटि ७।१॥ स०—इटा सह सेट्, तस्मिन् ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—णेः, लोपः ॥ अर्थः—सेटि निष्ठायां परतो णेर्लोपो भवति ॥ उदा०—कारितम्, हारितम्, गणितम्, लक्षितम् ॥

भाषार्थः—[सेटि] सेट् [निष्ठायाम्] निष्ठा परे रहते णि का लोप हो जाता है ॥ गण तथा लक्ष धातु चुरादि गण की हैं, अतः सत्या... चुरादिभ्यो णिच् (३।१।२५) से णिच् हो गया ॥

जनिता मन्त्रे ॥६।४।५३॥

जनिता १।१॥ मन्त्रे ७।१॥ अनु०—णेः, लोपः ॥ अर्थः—मन्त्रविषये इडादौ तृचि परतः 'जनिता' इति निपात्यते ॥ उदा०—यो नः पिता जनिता (ऋ० १०।८२।३) ॥

भाषार्थः—[मन्त्रे] मन्त्र-विषय में इडादि तृच् परे रहते [जनिता] जनिता, यह निपातन है ॥ णेरनिटि (६।४।५१) से अनिट् आर्धधातुक के परे रहते ही णिलोप प्राप्त था, इडादि आर्धधातुक में भी हो जाये; अतः निपातन किया है ॥ जनिता में जो वृद्धि करके 'जानि' बना था, उसे जनीजॄष्० (धा० पा०) से मित् होकर मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से ह्रस्व हो गया है ॥

शमिता यज्ञे ॥६।४।५४॥

शमिता १।१॥ यज्ञे ७।१॥ अनु०—णेः, लोपः ॥ अर्थः—यज्ञकर्मणि इडादौ तृचि परतः 'शमिता' इति निपात्यते ॥ उदा०—शृतं हविः शमितः ॥

भाषार्थः—[यज्ञे] यज्ञकर्म में इडादि तृच् परे रहते [शमिता] 'शमिता' यह निपातन किया जाता है ॥ पूर्ववत् इडादि परे णिलोप प्राप्त नहीं था, निपातन कर दिया ॥ 'शमितः' यह तृच्प्रत्ययान्त सम्बुद्ध्यन्त शब्द है । पूर्ववत् ह्रस्वत्व आदि जानें ॥

अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु ॥६।४।५५॥

अय् १।१॥ आम ... ष्णुषु ७।३॥ स०—आम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥अनु०—णेः, आर्धधातुके ॥ अर्थः—आम, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु इत्येतेषु परतो णेरयादेशो भवति ॥ उदा०—आम—कारयाञ्चकार, हारयाञ्चकार । अन्त—गण्डयन्तः, मण्डयन्तः । आलु—स्पृहयालुः, गृहयालुः । आय्य—स्पृहयाय्यः, गृहयाय्यः । इत्नु—स्तनयित्नुः । इष्णु—पोषयिष्णवः ॥

भाषार्थः—[आम......ष्णुषु] आम, अन्त, आलु, आय्य, इत्नु, इष्णु इनके परे रहते णि को [अय्] अय् आदेश होता है ॥ णेरनिटि से णि का लोप प्राप्त था, तदपवाद अय् आदेश कह दिया ॥

यहाँ से 'अय्' की अनुवृत्ति ६।४।५७ तक जायेगी ॥

ल्यपि लघुपूर्वात् ॥६।४।५६॥

ल्यपि ७।१॥ लघुपूर्वात् ५।१॥ स०—लघुः पूर्वो यस्मात् स (वर्णः) लघुपूर्वः, तस्मात् ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अय्, णेः, आर्धधातुके ॥ अर्थः—लघुपूर्वाद् वर्णादुत्तरस्य णेः स्थाने ल्यपि परतो अयादेशो भवति ॥ उदा०—प्रशमय्य गतः, संदमय्य गतः, प्रबेभिदय्य गतः, प्रगणय्य गतः ॥

भाषार्थः—[लघुपूर्वात्] लघु है पूर्व में जिससे, ऐसे वर्ण से उत्तर णि के स्थान में [ल्यपि] ल्यप् परे रहते अयादेश हो जाता है ॥ प्रशमय्य आदि में पूर्ववत् मित् होने से मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से उपधा को ह्रस्व हो जाता है । 'प्र शम् णि ल्यप्' यहाँ शम् अङ्ग के अन्त में म् वर्ण है, उससे पूर्व 'अ' लघु है । अतः 'लघुपूर्व में है जिस वर्ण से' यह कथन सङ्गत हो जाता है ॥ प्रबेभिदय्य यह यङन्त के णिजन्त का रूप है । यस्य हलः (६।४।४९) से यहाँ यङ् के य का लोप हुआ है । प्रगणय्य 'गण सङ्ख्याने' धातु से बना है । गण धातु चुरादि गण में अदन्त पढ़ी है, अतः पूर्ववत् अकारलोप हो जायेगा ॥

यहाँ से 'ल्यपि' की अनुवृत्ति ६।४।५९ तक जायेगी ॥

विभाषाऽपः ॥६।४।५७॥

विभाषा १।१॥ आपः ५।१॥ अनु०—ल्यपि, अय्, णेः, आर्धधातुके ॥ अर्थः—ल्यपि परत आप उत्तरस्य णेर्विकल्पेनायादेशो भवति ॥ उदा०—प्रापय्य गतः, प्राप्य गतः ॥

भाषार्थः—[आपः] आप् से उत्तर ल्यप् परे रहते [विभाषा] विकल्प से णि के स्थान में अयादेश होता है ॥ 'आप्लृ लम्भने' चुरादि तथा 'आप्लृ व्याप्तौ' स्वादि इन दोनों धातुओं का यहाँ आप् से ग्रहण है। स्वादिगण की आप्लृ से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् होगा ॥

युप्लुवोर्दीर्घश्छन्दसि ॥६।४।५८॥

युप्लुवोः ६।२॥ दीर्घः १।१॥ छन्दसि ७।१॥ स०—युप्लु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० ल्यपि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छन्दसि विषये यु प्लु इत्येतयोर्ल्यपि परतो दीर्घो भवति ॥ उदा०—दान्त्यनुपूर्वं वियूय। यत्रा नो दक्षिणा परिप्लूय ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद-विषय में [युप्लुवोः] 'यु मिश्रणे' तथा 'प्लुङ् गतौ' धातु को [दीर्घः] दीर्घ होता है, ल्यप् परे रहते ॥

यहाँ से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक जायेगी ॥

क्षियः ॥६।४।५९॥

क्षियः ६।१॥ अनु०—दीर्घः, ल्यपि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ल्यपि परतः क्षियश्च दीर्घो भवति ॥ उदा०—प्रक्षीय ॥

भाषार्थः—[क्षियः] 'क्षि क्षये' अथवा 'क्षि निवासगत्योः' धातु को दीर्घ होता है, ल्यप् परे रहते ॥

यहाँ से 'क्षियः' की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक जायेगी ॥

निष्ठायामण्यदर्थे ॥६।४।६०॥

निष्ठायाम् ७।१॥ अण्यदर्थे ७।१॥ स०—ण्यतोऽर्थः ण्यदर्थः, षष्ठीतत्पुरुषः। न ण्यदर्थोऽण्यदर्थः, तस्मिन् ···नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—क्षियः, दीर्घः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ण्यदर्थो भावकर्मणी, ताभ्यामन्यत्र या निष्ठा तस्यां क्षियो दीर्घो भवति ॥ उदा०—आक्षीणः, प्रक्षीणः, परिक्षीणः, प्रक्षीणमिदं देवदत्तस्य ॥

भाषार्थः—[अण्यदर्थे] ण्यत् के अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान जो [निष्ठायाम्] निष्ठा, उसके परे रहते क्षि अङ्ग को दीर्घ हो जाता है ॥ ण्यत् प्रत्यय कृत्याः (३।१।९५) से कृत्यसंज्ञक होता है, अतः तयोरेव कृत्यक्तखलर्थाः (३।४।७०) से ण्यत् का अर्थ भाव तथा कर्म है। इस प्रकार 'अण्यदर्थे' कहने से 'भाव

तथा कर्म से अन्यत्र' ऐसा अर्थ होगा ॥ यहाँ अकर्मक क्षि धातु होने से गत्यर्थाकर्म० (३।४।७२) से कर्त्ता में क्त प्रत्यय होता है। प्रक्षीणमिदं, यहाँ क्तोऽधिकरणे० (३।४।७६) से अधिकरण में क्त हुआ है॥ निष्ठा को नत्व क्षियो दीर्घात् (८।२।४६) से, तथा अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से णत्व होता है॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।४।६१ तक जायेगी॥

वाऽऽक्रोशदैन्ययोः ॥६।४।६१॥

वा० अ० ॥ आक्रोशदैन्ययोः ७।२॥ स०—आक्रोश० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठायामण्यदर्थे, क्षियः, दीर्घः, अङ्गस्य ॥ **अर्थः**—क्षियो निष्ठायामण्यदर्थे विकल्पेन दीर्घो भवति, आक्रोशे दैन्ये च गम्यमाने ॥ **उदा०**—आक्रोशे—क्षितायुरेधि, क्षीणायुरेधि । दैन्ये—क्षितकः, क्षीणकः; क्षितोऽयं तपस्वी, क्षीणोऽयं तपस्वी ॥

भाषार्थः—क्षि अङ्ग को अण्यदर्थ निष्ठा के परे रहते [आक्रोशदैन्ययोः] आक्रोश तथा दैन्य गम्यमान होने पर [वा] विकल्प से दीर्घ होता है ॥ क्षितायुः= क्षीण उम्रवाला तू एधि = होजा, यह यहाँ आक्रोश है । पूर्ववत् कर्त्ता में क्त जानें । दीर्घपक्ष में पूर्ववत् णत्व भी होता है । क्षीणकः आदि में क्षीण बनाकर आगे अनुकम्पायाम् (५।३।७६) से 'क' प्रत्यय हुआ है ॥

स्यसिच्सीयुट्तासिषु भावकर्मणोरुपदेशेऽज्झनग्रहदृशां वा चिण्वदिट् च ॥६।४।६२॥

स्य......सिषु ७।३॥ भावकर्मणोः ७।२॥ उपदेशे ७।१॥ अज्झ......शाम् ६।३॥ वा अ० ॥ चिण्वत् अ० ॥ इट् १।१॥ च अ० ॥ स०—स्यश्च सिच्च सीयुट् च तासिश्च स्य......तासयः, तेषु ......। भावश्च कर्म च भावकर्मणी, तयोः...... । अच् च हनश्च ग्रहश्च दृश् च अज्झ......दृशः, तेषाम् ...... । सर्वत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ चिणीव चिण्वत् तत्र तस्येव (५।१।११५) इति सप्तमीसमर्थाद् वतिः ॥ **अनु०**—अङ्गस्य ॥ **अर्थः**—स्य, सिच्, सीयुट्, तासि इत्येतेषु परतो भावकर्मविषयेषु उपदेशेऽजन्तानामङ्गानां हन् ग्रह दृश इत्येतेषां च चिण्वत् कार्यं विकल्पेन भवति इडागमश्च ॥ चिण्वद्भावविधानेन सहेड्विधानात् यदा चिण्वत्कार्यं तदैव इडागमः ॥ **उदा०**—स्येऽजन्तानाम्—चायिष्यते, चेष्यते; अचायिष्यत, अचेष्यत । दायिष्यते, दास्यते; अदायिष्यत, अदास्यत । शामिष्यते, शमिष्यते, शमयिष्यते; अशामिष्यत, अशमिष्यत, अशमयिष्यत । हन्—घानिष्यते, हनिष्यते; अघानिष्यत, अहनिष्यत । ग्रह—ग्राहिष्यते, ग्रहीष्यते; अग्राहिष्यत, अग्रहीष्यत । दृश्—दर्शिष्यते, द्रक्ष्यते; अदर्शिष्यत, अद्रक्ष्यत । सिच्यजन्तानाम्—अचायिषाताम्, अचेषाताम् । अदायिषाताम्,

अदिषाताम् । अशामिषाताम्, अशमिषाताम्, अशमयिषाताम् । हन्—अघानिषाताम्, अवधिषाताम्; अहसाताम् । ग्रह्—अग्राहिषाताम्, अग्रहीषाताम् । दृश्—अदर्शिषाताम्, अदृक्षाताम् । सीयुटचजन्तानाम्— चायिषीष्ट, चेषीष्ट; दायिषीष्ट, दासीष्ट; शामिषीष्ट, शमिषीष्ट, शमयिषीष्ट । हन्—घानिषीष्ट, वधिषीष्ट । ग्रह्—ग्राहिषीष्ट, ग्रहीषीष्ट । दृश्—दर्शिषीष्ट, दृक्षीष्ट । तासावजन्तानाम्—चायिता, चेता; दायिता, दाता; शामिता, शमिता; शमयिता । हन्—घानिता, हन्ता । ग्रह्—ग्राहिता, ग्रहीता । दृश्—दर्शिता, द्रष्टा ॥

भाषार्थः—[भावकर्मणोः] भाव तथा कर्म-विषयक [स्य-सिच्-] स्य, सिच्, सीयुट् और तास् के परे रहते [उपदेशे] उपदेश में [अज्झ-न-ग्रह-दृशाम्] अजन्त धातुओं तथा हन् ग्रह् एवं दृश् धातुओं को [चिण्वत्] चिण्वत् = चिण् के समान [वा] विकल्प से कार्य होता है, [च] तथा [इट्] इट् आगम भी होता है ।। चिण्वत् कार्य के साथ इट् का विधान होने से जिस पक्ष में चिण्वत् कार्य होता है, उसी पक्ष में इट् आगम होता है, ऐसा जानना चाहिये । इट् आगम स्य सिच् सीयुट् तास् को होता है, अङ्ग को नहीं ।। इस सूत्र से जो इट् का आगम होता है, वह आभात् प्रकरणान्तर्गत होने से णेरनिटि (६।४।५१) की दृष्टि में असिद्ध माना जाने से 'शामिष्यते शमिष्यते' आदि णिजन्त प्रयोगों में णि का लोप हो जाता है । सप्तमाध्यायस्थ इडागम होने पर णिलोप नहीं हो सकता, यथा 'शमयिष्यते' । यह इस णि-विधान का वैशिष्ट्य है ।। सिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें ।।

दीङो युडचि क्ङिति ।।६।४।६३।।

दीङः ५।१।। युट् १।१।। अचि ७।१।। क्ङिति ७।१।। स०—'क्ङिति' इत्यस्य विग्रहः पूर्ववज्ज्ञेयः ।। अनु०—अङ्गस्य, आर्धधातुके ।। अर्थः—अजादौ क्ङिति प्रत्यये परतो दीङो युडागमो भवति ।। उदा०—उपदिदीये, उपदिदीयाते, उपदिदीयिरे ।।

भाषार्थः—[अचि] अजादि [क्ङिति] कित् ङित् प्रत्ययों के परे रहते [दीङः] दीङ् धातु से उत्तर [युट्] युट् का आगम होता है ।। परि० १।२।६, पृ० ७६४ के ईधे के समान सिद्धि की प्रक्रिया समझें । यहाँ 'दीङः' में पञ्चमी होने से दीङ् धातु से उत्तर अजादि प्रत्यय को युट् आगम होता है, ऐसा जानें ।।

यहाँ से 'अचि' की अनुवृत्ति ६।४।६४ तक, तथा 'क्ङिति' की ६।४।६८ तक जायेगी ।।

आतो लोप इटि च ।।६।४।६४।।

आतः ६।१।। लोपः १।१।। इटि ७।१।। च अ०।। अनु०—अचि, क्ङिति,

आर्धधातुके, अङ्गस्य ।। अर्थः—आकारान्तस्याङ्गस्य इडादावार्धधातुके क्ङिति चाजादावार्धधातुके परतो लोपो भवति ।। उदा०—इडादावार्धधातुके—पपिथ, तस्थिथ । कित्यजादौ—पपतुः पपुः; तस्थतुः तस्थुः; गोदः, कम्बलदः । ङिति—प्रदा, प्रधा ।।

भाषार्थः—[इटि] इडादि आर्धधातुक [च] तथा अजादि कित् ङित् आर्धधातुक प्रत्ययों के परे रहते [आतः] आकारान्त अङ्ग का [लोपः] लोप होता है ।। इट् का पृथक् ग्रहण अक्ङिदर्थ है ।। पा तथा स्था धातु से लिट् लकार में सिप् को थल् (३।४।८२), तथा ऋतो भारद्वाजस्य (७।२।६३) के नियम से इट् आगम होकर प पा इ थ रहा । प्रकृतसूत्र से अन्त्य आ (१।१।५१ से) का लोप होकर पपिथ तस्थिथ बन गया । पपतु पपुः की सिद्धि परि० १।१।५८, पृ० ७४६ में देखें । गोदः कम्बलदः में आतोऽनुपसर्गे कः (३।२।३) से क प्रत्यय हुआ है । प्रदा प्रधा में आतश्चोपसर्गे (३।३।१०६) से अङ् ङित् प्रत्यय हुआ है । आकारलोप एवं टाप् होकर प्रदा प्रधा बनता है ।।

यहाँ से 'आतः' की अनुवृत्ति ६।४।६८ तक जायेगी ।।

ईद्यति ।।६।४।६५।।

ईत् १।१।। यति ७।१।। अनु०—आतः, अङ्गस्य ।। अर्थः—आकारान्तस्याङ्गस्य ईकारादेशो भवति, यति परतः ।। उदा०—देयम्, धेयम्, हेयम्, स्थेयम् ।।

भाषार्थः—आकारान्त अङ्ग को [ईत्] ईकारादेश होता है [यति] यत् प्रत्यय परे रहते ।। अचो यत् (३।१।९७) से यत् प्रत्यय होता है । ३।१।९७ सूत्र के ही परिशिष्ट में गेयम् की सिद्धि के समान यहाँ सिद्धि जानें ।।

यहाँ से 'ईत्' की अनुवृत्ति ६।४।६६ तक जायेगी ।।

घुमास्थागापाजहातिसां हलि ।।६।४।६६।।

घुमा०...सास् ६।३।। हलि ७।१।। स०—घु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—ईत्, क्ङिति, आर्धधातुके, अङ्गस्य ।। अर्थः—घुसंज्ञकानामङ्गानां मा, स्था, गा, पा, हा, सा इत्येतेषां च हलादौ क्ङित्यार्धधातुके परत ईकारादेशो भवति[1] ।। उदा०—घु—दीयते, धीयते । देदीयते, देधीयते । मा—मीयते, मेमीयते । स्था—स्थीयते, तेष्ठीयते । गा—गीयते, जेगीयते । अध्यगीष्ट, अध्यगीषाताम् । पा—पीयते, पेपीयते । हा—हीयते, जेहीयते । सा—अवसीयते, अवसेषीयते ।।

भाषार्थः—[घुमा⋯⋯साम] घुसंज्ञक, मा, स्था, गा, पा, ओहाक् त्यागे, तथा षो अन्तकर्मणि इन अङ्गों को [हलि] हलादि कित् ङित् आर्धधातुक के परे

१. 'गामादाग्रहणेष्वविशेषः' इतिपरिभाषया इङादेशोऽपि गृह्यते ।।

रहते ईकारादेश होता है ।। दीयते धीयते, यहाँ कर्म में लकार हुआ है । देदीयते, यह यङन्त का रूप है । इसी प्रकार मीयते मेमीयते आदि में जानें । अध्यगीष्ट की सिद्धि भाग १, परि० १।२।१ में देखें । जहाति से यहाँ 'ओहाक् त्यागे' का ग्रहण है । षो धातु को धात्वादेः० (६।१।६२) से स, तथा आदेच उप० (६।१।४४) से आत्व होता है । तेष्ठीयते, यहाँ शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहता है ।।

यहाँ से 'घुमास्थागापाजहातिसाम्' की अनुवृत्ति ६।४।६६ तक जायेगी ।।

एर्लिङि ।।६।४।६७।।

एः १।१।। लिङि ७।१।। अनु०—घुमास्थागापाजहातिसाम्, क्ङिति, आर्धधातुके, अङ्गस्य ।। अर्थः—क्ङित्यार्धधातुके लिङि परतः घुमास्थागापाजहातिसामङ्गानां एकारादेशो भवति ।। उदा०—देयात्, धेयात्, मेयात्, स्थेयात्, गेयात्, पेयात्, हेयात्, अवसेयात् ।।

भाषार्थः—कित् ङित् [लिङि] लिङ् आर्धधातुक परे रहते घु, मा, स्था, गा, पा, हा तथा सा इन अङ्गों को [एः] एकारादेश हो जाता है ।। आशीर्लिङ् ३।४।११६ से आर्धधातुक, और किदाशिषि (३।४।१०४) से कित् होता है, सो उसी के उदाहरण हैं । अन्य कोई विशेष सिद्धि में नहीं है । मेयात् 'मा माने' का रूप है ।। ङित् की अनुवृत्ति होते पर भी असम्भव होने से उसके उदाहरण नहीं बनते ।।

यहाँ से 'एर्लिङि' की अनुवृत्ति ६।४।६८ तक जायेगी ।।

वान्यस्य संयोगादेः ।।६।४।६८।।

वा अ० ।। अन्यस्य ६।१।। संयोगादेः ६।१।। स०—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, तस्य ...... बहुव्रीहिः ।। अनु०—एर्लिङि, आतः, आर्धधातुके, अङ्गस्य ।। अर्थः—घ्वादिभ्योऽन्यस्य संयोगादेराकारान्तस्याङ्गस्य क्ङित्यार्धधातुके लिङि परत एत्वं भवति विकल्पेन ।। उदा०—ग्लेयात्, ग्लायात्; म्लेयात्, म्लायात् ।।

भाषार्थः—घु मा स्था से [अन्यस्य] अन्य जो [संयोगादेः] संयोग आदिवाला आकारान्त अङ्ग उसको कित् ङित् लिङ् आर्धधातुक परे रहते [वा] विकल्प से एकारादेश होता है ।। ग्लै म्लै धातु संयोगादि हैं, इनको पूर्ववत् आत्व, तथा अलोन्त्यस्य (१।१।५१) से यासुट् परे अन्त्य अल् को एत्व होता है ।। 'अन्यस्य' यहाँ प्रकृत में कहे घु मा स्था आदि की अपेक्षा से ही रखा है, अतः 'घ्वादियों से जो अन्य' यह अर्थ हुआ है ।।

न ल्यपि ॥६।४।६९॥

न अ० ॥ ल्यपि ७।१॥ अनु०—घुमास्थागापाजहातिसाम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ल्यपि प्रत्यये परतो घुमास्थागापाजहातिसां यदुक्तं तन्न भवति ॥ उदा०—प्रदाय, प्रधाय, प्रमाय, प्रस्थाय, प्रगाय, प्रपाय, प्रहाय, अवसाय ॥

भाषार्थः—घु मा स्था आदियों को [ल्यपि] ल्यप् परे रहते जो कुछ कहा है, वह [न] नहीं होता ॥ घुमास्था० (६।४।६६) से ईत्व कहा था, उसी का निषेध कर दिया ॥

यहाँ से 'ल्यपि' की अनुवृत्ति ६।४।७० तक जायेगी ॥

मयतेरिदन्यतरस्याम् ॥६।४।७०॥

मयतेः ६।१॥ इत् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—ल्यपि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मयतेरङ्गस्य इकारादेशो भवति, ल्यपि परतोऽन्यतरस्याम् ॥ उदा०—अपमित्य, अपमाय ॥

भाषार्थः—[मयतेः] मेङ् प्रणिदाने अङ्ग को [इत्] इकारादेश [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके होता है, ल्यप् परे रहते ॥ अपमित्य, अपमाय, यहाँ उदीचां माङो० (३।४।१९) से 'क्त्वा' प्रत्यय हुआ है। शेष सिद्धि परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान जानें ॥

लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः ॥६।४।७१॥

लुङ्लङ्लृङ्क्षु ७।३॥ अट् १।१॥ उदात्तः १।१॥ स०—लुङ्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—लुङ् लङ् लृङ् इत्येतेषु परतोऽङ्गस्य 'अट्' आगमो भवति, उदात्तश्च स भवति ॥ उदा०—लुङ्—अकार्षीत्, अहार्षीत् । लङ्—अकरोत्, अहरत् । लृङ्—अकरिष्यत्, अहरिष्यत् ॥

भाषार्थः—[लुङ्लङ्लृङ्क्षु] लुङ्, लङ् तथा लृङ् के परे रहते अङ्ग को [अट्] अट् का आगम होता है, और वह अट् [उदात्तः] उदात्त भी होता है ॥ अकार्षीत् अहार्षीत् की सिद्धि भाग १, परि० १।१।१, पृ० ६६६ में की है। अकरिष्यत् की सिद्धि भी परि० १।४।१३ में देखें। अट् कृ उ ति=अकर् उ त्=अकरोत् बना। इसी प्रकार शप् विकरण होकर अहरत् बना ॥

यहाँ से 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक जायेगी ॥

आडजादीनाम् ॥६।४।७२॥

आट् १।१॥ अजादीनाम् ६।३॥ स०—अच् आदिर्येषां तानि अजादीनि, तेषाम्......बहुव्रीहिः ॥ अनु०—लुङ्लङ्लृङ्क्षु, उदात्तः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अजा-

दीनामङ्गानां 'आट्' आगमो भवति, लुङ्लङ्लृङ्क्षु परतः, उदात्तश्च स भवति ॥ उदा०—लुङ्—ऐक्षिष्ट, ऐहिष्ट, औब्जीत, औम्भीत । लङ्—ऐक्षत, ऐहत, औब्जत, औम्भत । लृङ्—ऐक्षिष्यत, ऐहिष्यत, औब्जिष्यत, औम्भिष्यत ॥

भाषार्थः—[अजादीनाम्] अच् आदिवाले अङ्ग को [आट्] का आगम होता है, लुङ् लङ् लृङ् इनके परे रहते, और वह आट् उदात्त भी होता है ॥ सम्पूर्ण सिद्धियाँ आटश्च (६।१।८७) सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'आट्' की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक जायेगी ॥

छन्दस्यपि दृश्यते ॥६।४।७३॥

छन्दसि ७।१॥ अपि अ० ॥ दृश्यते क्रियापदम् ॥ अनु०—आट्, उदात्तः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छन्दसि विषयेऽप्याडागमो दृश्यते, यत्र विहितस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यत इत्यर्थः ॥ आडजादीनामित्युक्तमनजादीनामपि दृश्यते ॥ उदा०—सुरुचो वेन आवः । आनक् । आयुनक् ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद-विषय में [अपि] भी आट् आगम [दृश्यते] देखा जाता है ॥ अर्थात् आडजादीनाम् से अजादियों को आट् आगम कहा है, अनाजादियों को भी देखा जाता है ॥ आवः की सिद्धि भाग १, परि० २।४।८० में देखें । तथा णश् धातु से आनक् की सिद्धि भी प्रणक् के समान वहीं देखें । 'युजिर् योगे' से लङ् में श्नम् विकरण होकर आयुनक् बनेगा । चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व गकार, एवं चर्त्व होकर ककार हुआ है ॥

न माङ्योगे ॥६।४।७४॥

न अ० ॥ माङ्योगे ७।१॥ स०—माङो योगः माङ्योगः, तस्मिन् .... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वट्, आट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—लुङ् लङ् लृङ्क्षु परतो यौ अट् आट् आगमावुक्तौ तौ माङ्योगे न भवतः ॥ उदा०—मा भवान् कार्षीत्, मा भवान् हार्षीत् । मा स्म करोत्, मा स्म हरत् । मा भवान् ईहिष्ट । मा स्म भवान् ईहत । मा स्म भवान् ईक्षत ॥

भाषार्थः—लुङ् लङ् लृङ् परे रहते जो अट् आट् आगम कहे हैं, वे [माङ्योगे] माङ् के योग में [न] नहीं होते ॥ मा भवान् 'कार्षीत्' 'ईहिष्ट', यहाँ माङि लुङ् (३।३।१७५) से लुङ् हुआ है । तथा मा स्म 'करोत्, ईहत, ईक्षत', यहाँ स्मोत्तरे लङ् च (३।३।१७६) से लङ् हुआ है । ईह् इट् सिच् त=ईहिष्त= ईहिष्ट बन गया ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ६।४।७५ तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि ॥६।४।७५॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अमाङ्योगे ७।१॥ अपि अ० ॥ स०—माङो योगः माङ्योगः, षष्ठीतत्पुरुषः, न माङ्योगोऽमाङ्योगः, तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः, आट्, अङ्गस्य, माङ्योगे, न ॥ अर्थः—लुङ्लङ्लृङ्क्षु छन्दसि विषये माङ्योगेऽपि बहुलमडाटौ भवतः, अमाङ्योगेऽपि न भवतः ॥ उदा०—अमाङ्योगे—जनिष्ठा उग्रः (ऋ० १०।७३।१)। काममूनयीः। काममर्दयीत्। माङ्योगे—मा वः क्षेत्रे परबीजान्यवाप्सुः। मा अभित्थाः। मा आवः ॥

भाषार्थः—लुङ् लङ् लृङ् परे रहने पर [छन्दसि] वेद-विषय में माङ् का योग होने पर अट् आट् आगम [बहुलम्] बहुल करके होते हैं, और [अमाङ्योगे] माङ् का योग न होने पर [अपि] भी नहीं होते। जन् धातु से लुङ् में थास् विभक्ति आकर जनिष्ठाः बना है। यहाँ माङ् का योग न होने पर भी अट् आगम नहीं हुआ है। काममूनयीः, अर्दयीत् की सिद्धि सूत्र ३।१।५१ में देखें। डुवप् धातु से अवाप्सुः की सिद्धि परि० ३।४।१०९ के अकार्षुः के समान जानें। यहाँ माङ् के योग में पूर्वसूत्र से अट् आगम प्राप्त नहीं था, इस सूत्र से बहुल कहने से हो गया। भिद् धातु से थास् में अभित्थाः बना है। यहाँ झलो झलि (८।२।२६) से सिच् का लोप होता है। आवः की सिद्धि पूर्वोक्त प्रदर्शित परिशिष्ट में देखें॥

यहाँ से 'बहुलं छन्दसि' की अनुवृत्ति ६।४।७६ तक जायेगी॥

इरयो रे ॥६।४।७६॥

इरयोः ६।२॥ रे लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अनु०—बहुलं छन्दसि ॥ अर्थः—इरे इत्येतस्य छन्दसि विषये बहुलं रे इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—गर्भं प्रथमं दध्र आपः (ऋ० १०।८२।५)। धास्यऽपरिदध्रे। न च भवति बहुलवचनात्—परमाया धियोग्निकर्माणि चक्रिरे ॥

भाषार्थः—[इरयोः] इरे के स्थान में वेद में बहुल करके [रे] रे आदेश होता है। इरे से यहाँ लिट्स्तझयो० (३।४।८१) वाला इरेच् गृहीत है। 'दधा इरे', यहाँ रे भाव कर लेने पर अनजादि परे होने से आतो लोप इटि च (६।४।६४) से आकारलोप नहीं प्राप्त था, सो असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२) से असिद्ध होने से (इरे मानकर) हो जाता है॥

विशेषः—'इरयोः' में द्विवचन इसलिये निर्दिष्ट है कि रे भाव कर लेने के पश्चात् सेट् धातुओं को इट् आगम होने पर जो पुनः 'इरे' रूप बन जाता है, उसको भी इस सूत्र से पुनः रे भाव हो जाये। अर्थात् जो 'झ' के स्थान में इरेच्, तथा जो बाद में 'रे' को इट् आगम करके 'इरे' बना हुआ रूप है, इन दोनों को रे भाव हो जाये।

इस प्रकार यहाँ इरेश्च इरेश्च=इरयोः ऐसा एकशेष (१।२।६४) करके निर्देश है ॥

अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोरियङुवङौ ॥६।४।७७॥

अचि ७।१॥ श्नुधातुभ्रुवाम् ६।३॥ य्वोः ६।२॥ इयङुवङौ १।२॥ स०—श्नुश्च धातुश्च भ्रूश्च श्नुधातुभ्रुवः, तेषां……। इश्च उश्च य्, तयोः……। इयङ् च उवङ् च इयङुवङौ । सर्वत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—श्नुप्रत्ययान्तस्य इवर्णोवर्णान्तधातोः भ्रू इत्येतस्य चाङ्गस्य इयङ् उवङ् इत्येतावादेशौ भवतोऽचि परतः ॥ उदा०—श्नुप्रत्ययान्तस्य—आप्नुवन्ति; राध्नुवन्ति; शक्नुवन्ति । इवर्णोवर्णान्तस्य धातोः—चिक्षियतुः, चिक्षियुः; लुलुवतुः, लुलुवुः; नियौ, नियः; लुवौ, लुवः । भ्रू—भ्रुवौ, भ्रुवः ॥

भाषार्थः—[श्नुधातुभ्रुवाम्] श्नुप्रत्ययान्त अङ्ग, तथा [य्वोः] इवर्णान्त उवर्णान्त धातु, एवं भ्रू शब्द को [इयङुवङौ] इयङ् उवङ् आदेश होते हैं, [अचि] अच् परे रहते ॥ यहाँ य्वोः इवर्ण उवर्ण धातु का ही विशेषण है, क्योंकि श्नु और भ्रू तो उवर्णान्त हैं ही । अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से इवर्ण के स्थान में इयङ् तथा उवर्ण के स्थान में उवङ् यथासंख्य करके होता है । आप्नुवन्ति आदि श्नुप्रत्ययान्त अङ्ग हैं । णी तथा लू धातु से क्विप् में नियौ, नियः; लुवौ, लुवः बना है ॥

यहाँ से 'अचि' की अनुवृत्ति ६।४।१०० तक, तथा 'य्वोः' की ६।४।७८ तक, एवं 'इयङुवङौ' की ६।४।८० तक जायेगी ॥

अभ्यासस्यासवर्णे ॥६।४।७८॥

अभ्यासस्य ६।१॥ असवर्णे ७।१॥ स०—अस० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अचि, य्वोः, इयङुवङौ ॥ अर्थः—इवर्णान्तस्योवर्णान्तस्याभ्यासस्य असवर्णेऽचि परत इयङ् उवङ् इत्येतावादेशौ भवतः ॥ उदा०—इयेष, उवोष, इयर्त्ति ॥

भाषार्थः—इवर्णान्त उवर्णान्त [अभ्यासस्य] अभ्यास को [असवर्णे] सवर्णभिन्न अच् परे रहते इयङ् उवङ् आदेश होते हैं ॥ उवोष की सिद्धि परि० ३।१।३८, पृ० ८७२ में देखें, तद्वत् इषु धातु से इयेष की सिद्धि जानें । ऋ गतौ धातु से जुहोत्यादिभ्यः श्लुः (२।४।७५) से शप् को श्लु, एवं द्वित्वादि करके लट् लकार में इयर्त्ति की सिद्धि जानें । अभ्यास को उरत् (७।४।६६) से अत्व, रपरत्व, तथा अर्त्तिपिपर्त्योश्च (७।४।७७) से इत्व होकर 'इ ऋ ति' रहा । अब इयङ् होकर इय् ऋ ति, पुनः गुण होकर इयर्त्ति बन गया । अचो रहाभ्यां० (८।४।४५) से त को द्वित्व भी हो जाता है ॥

स्त्रियाः ॥६।४।७६॥

स्त्रियाः ६।१॥ अनु०— अचि, इयङ् ॥ अर्थः—स्त्री इत्येतस्य अजादौ प्रत्यये परत इयङादेशो भवति ॥ उदा०—स्त्रियौ, स्त्रियः ॥

भाषार्थः—[स्त्रियाः] स्त्री शब्द को अजादि प्रत्यय परे रहते इयङ् आदेश होता है ॥ पूर्ववत् इकार को इयङ् होता है ॥

यहाँ से 'स्त्रियाः' की अनुवृत्ति ६।४।८० तक जायेगी ॥

वाऽम्शसोः ॥६।४।८०॥

वा अ० ॥ अम्शसोः ७।२॥ स०—अम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्त्रियाः, इयङ् ॥ अर्थः—अमि शसि च परतः स्त्रियाः वा इयङादेशो भवति ॥ उदा०—स्त्रीं पश्य, स्त्रियं पश्य । शस्—स्त्रीः पश्य, स्त्रियः पश्य ॥

भाषार्थः—[अम्शसोः] अम् तथा शस् विभक्ति परे रहते स्त्री शब्द को [वा] विकल्प से इयङ् आदेश होता है ॥

इणो यण् ॥६।४।८१॥

इणः ६।१॥ यण् १।१॥ अनु०—अचि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इणोऽङ्गस्य यणादेशो भवति, अचि परतः ॥ उदा०—यन्ति, यन्तु, आयन् ॥

भाषार्थः—[इणः] इण् अङ्ग को [यण्] यणादेश होता है, अच् परे रहते ॥ अचि श्नुधातु० (६।४।७७) का यह अपवाद है ॥ यन्ति लट् प्रथमपुरुष बहुवचन, यन्तु लोट् बहुवचन, एवं आयन् लङ् बहुवचन का रूप है । आयन् में असिद्धवद० (६।४।२२) से यण् के असिद्धवत् होने से आडजादीनाम् (६।४।७२) से आट् आगम हुआ है । अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से शप् का लुक् हुआ है ॥

यहाँ से 'यण्' की अनुवृत्ति ६।४।८७ तक जायेगी ॥

एरनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य ॥६।४।८२॥

एः ६।१॥ अनेकाचः ६।१॥ असंयोगपूर्वस्य ६।१॥ स०—न एकः अनेकः, नञ्तत्पुरुषः, अनेकोऽच् यस्मिन् स अनेकाच्, तस्य······बहुव्रीहिः । अविद्यमानः संयोगः पूर्वो यस्मात् स असंयोगपूर्वः, तस्य······बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अचि, यण्, अङ्गस्य । अचि श्नुधातु० (६।४।७७) इत्यतः 'धातोः' इत्यनुवर्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—धातोरवयवः संयोगः पूर्वो यस्मादिवर्णान्न भवति, तदन्तस्याङ्गस्यानेकाचोऽचि परतो यणादेशो भवति ॥ उदा०—निन्यतुः, निन्युः, उन्न्यौ, उन्न्यः, ग्रामण्यौ, ग्रामण्यः ॥

भाषार्थ:—धातु का अवयव जो [असंयोगपूर्वस्य] संयोग वह पूर्व नहीं है जिस [ए:] इवर्ण के, तदन्त [अनेकाच:] अनेक अच्वाले अङ्ग को अच् परे रहते यणादेश होता है ॥ "नी नी अतुस्", यहाँ धातु का अवयव संयोग 'ई' से पूर्व नहीं है, तथा 'नी नी' अङ्ग अनेकाच् भी है, अत: अच् परे रहते यणादेश हो गया है। यहाँ 'संयोग' को धातु से विशेषित करना है, अत: अर्थ होगा—'धातु का अवयव संयोग'। इससे 'उत्+नी' में त्न् का संयोग होने पर भी वह धातु भाग जो 'नी' उसका अवयवरूप संयोग नहीं है, क्योंकि त् उपसर्ग का अवयव है ॥ अचि श्नुधातु० (६।४।७७) का अपवाद यह सूत्र है ॥

यहाँ से 'अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' की अनुवृत्ति ६।४।८७ तक जायेगी ॥

ओः सुपि ॥६।४।८३॥

ओ: ६।१॥ सुपि ७।१॥ अनु०—अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य, अचि, यण्, अङ्गस्य। धातो: इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थ:—धात्ववयव: संयोग: पूर्वो यस्मादुवर्णान्न भवति, तदन्तस्याङ्गस्यानेकाचोऽजादौ सुपि परतो यणादेशो भवति ॥ उदा०—खलप्वौ, खलप्व:। शतस्वौ, शतस्व:। सकृल्ल्वौ, सकृल्ल्व: ॥

भाषार्थ:—धातु का अवयव संयोग पूर्व नहीं है जिस [ओ:] उवर्ण के, तदन्त अनेकाच् अङ्ग को अजादि [सुपि] सुप् परे रहते यणादेश होता है ॥ खलं पुनातीति खलपू:, यहाँ अन्येभ्योऽपि० (३।२।१७८) से, तथा शतं सूत इति शतसू:, यहाँ सत्सूद्विष० (३।२।६१) से क्विप् प्रत्यय हुआ है। यहाँ भी धात्ववयव संयोग उवर्ण से पूर्व नहीं है, तथा खलपू: शतसू: अनेकाच् अङ्ग हैं। सकृल्लू:, यहाँ सकृत् के त् को तोर्लि (८।४।५९) से परसवर्ण ल् हुआ है। यहाँ भी संयोग धातु का अवयव नहीं है ॥

यहाँ से 'सुपि' की अनुवृत्ति ६।४।८५ तक जायेगी ॥

वर्षाभ्वश्च ॥६।४।८४॥

वर्षाभ्व: ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—सुपि, अचि, यण्, अङ्गस्य ॥ अर्थ:—वर्षाभू इत्येतस्याङ्गस्य अजादौ सुपि परतो यणादेशो भवति ॥ उदा०—वर्षाभ्वौ, वर्षाभ्व: ॥

भाषार्थ:—[वर्षाभ्व:] वर्षाभू इस अङ्ग को [च] भी अजादि सुप् परे रहते यणादेश होता है ॥

न भूसुधियो: ॥६।४।८५॥

न अ० ॥ भूसुधियो: ६।२॥ स०—भू० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्व: ॥ अनु०—सुपि,

अचि, यण, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भू, सुधी इत्येतयोरङ्गयोर्यणादेशो न भवति, अजादौ सुपि परतः ॥ उदा०—प्रतिभुवौ, प्रतिभुवः । सुधियौ, सुधियः ॥

भाषार्थः—[भूसुधियोः] भू तथा सुधी अङ्ग को यणादेश [न] नहीं होता, अजादि सुप् परे रहते ॥ प्रतिभू शब्द से भुवः संज्ञा० (३।२।१७६) से क्विप् हुआ है । 'भू' को ओः सुपि (६।४।८३) से यणादेश की प्राप्ति थी, तथा 'सुधी' को एरनेकाचो० (६।४।८२) से यण प्राप्त था, वह निषेध कर दिया । तब यथाप्राप्त अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से इयङ् उवङ् आदेश होता है ॥

यहाँ से 'भूसुधियोः' की अनुवृत्ति ६।४।८६ तक जायेगी ॥

छन्दस्युभयथा ॥६।४।८६॥

छन्दसि ७।१॥ उभयथा अ० ॥ अनु०—भूसुधियोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छन्दसि विषये भू सुधी इत्येतयोरङ्गयोरुभयथा दृश्यते ॥ उदा०—वनेषु चित्रं विभ्वं विशे (ऋ० ४।६।१), विशे विभुवम् । सुध्यो हव्यमग्ने, सुधियो हव्यमग्ने ॥

भाषार्थः—भू सुधी इन अङ्गों को [छन्दसि] वेद विषय में [उभयथा] दोनों प्रकार से देखा जाता है, अर्थात् यणादेश होता भी है, एवं नहीं भी होता ॥ जब यणादेश नहीं होगा, तो इयङ् उवङ् हो ही जायेंगे ॥

हुश्नुवोः सार्वधातुके ॥६।४।८७॥

हुश्नुवोः ६।२॥ सार्वधातुके ७।१॥ स०—हुश्च श्नुश्च हुश्नुवौ, तयोः .... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य, अचि, यण्, अङ्गस्य । ओः सुपि (६।४।८३) इत्यतः 'ओः' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—हु इत्येतस्य श्नुप्रत्ययान्तस्य चानेकाचोऽङ्गस्य योऽसंयोगपूर्व उकारस्तस्य स्थाने यणादेशो भवति, अजादौ सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—जुह्वति, जुह्वतु । श्नुप्रत्ययान्तस्य—सुन्वन्ति, सुन्वन्तु ॥

भाषार्थः—[हुश्नुवोः] हु तथा श्नुप्रत्ययान्त अनेकाच् अङ्ग का, संयोग पूर्व में नहीं है जिससे ऐसा जो उवर्ण, उसको अजादि [सार्वधातुके] सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते यणादेश होता है ॥ पूर्ववत् इयङ् उवङ् का अपवाद यह सूत्र भी है । असंयोगपूर्व उवर्ण का, तथा अनेकाच् अङ्ग का विशेषण है । वह उवर्ण हु एवं श्नु-प्रत्यय का ही होना चाहिये ॥

जुहोति की सिद्धि भाग १, परि० १।१।६० में की है, तद्वत् बहुवचन में झि को अदभ्यस्तात् (७।१।४) से अत् आदेश होकर जुह्वति जुह्वतु की सिद्धि जानें । सुन्वन्ति सुन्वन्तु की सिद्धि भाग १, परि० १।१।५, पृ० ६७०—६८० में देखें ॥

भुवो वुग् लुङ्लिटोः ॥६।४।८८॥

भुवः ६।१॥ वुक् १।१॥ लुङ्लिटोः ७।२॥ स०— लुङ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अचि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भुवोऽङ्गस्य वुक् आगमो भवति, लुङि लिटि चाजादौ प्रत्यये परतः ॥ उदा०—लुङि—अभूवन्, अभूवम् । लिटि—बभूव, बभूवतुः, बभूवुः ॥

भाषार्थः—[भुवः] भू अङ्ग को [वुक्] आगम होता है, [लुङ्लिटोः] लुङ् तथा लिट् अजादि प्रत्यय के परे रहते ॥ बभूव की सिद्धि भाग १, परि० १।२।६ में देखें । अभूवन् अभूवम् की सिद्धि में कुछ भी विशेष नहीं है, लुङ् लकार में सिद्धि बहुत बार दिखा ही आये हैं । 'अन्ति' तथा अम् (मिप् के स्थान में हुआ) अजादि प्रत्यय परे हैं ही । गातिस्थाघु० (२।४।७७) से यहाँ सिच् का लुक् होता है ॥

ऊदुपधाया गोहः ॥६।४।८९॥

ऊत् १।१॥ उपधायाः ६।१॥ गोहः ६।१॥ अनु०—अचि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—गोहोऽङ्गस्योपधाया ऊकारादेशो भवति, अजादौ प्रत्यये परतः ॥ उदा०—निगूहति, निगूहकः, निगूही, निगूहं निगूहम्, निगूहयति । निगूहो वर्त्तते ॥

भाषार्थः—[गोहः] गोह अङ्ग को [उपधायाः] उपधा को [ऊत्] ऊकारादेश होता है, अजादि प्रत्यय परे रहते ॥ गुहू संवरणे धातु को यहाँ गुण करके 'गोह' निर्देश किया है । अतः जहाँ गुहू को गोह ऐसा रूप बनेगा, वहीं ओकार के स्थान में ऊकारादेश होगा ॥ निगूही में सुप्यजातौ० (३।२।७८) से णिनि हुआ है । निगूहं निगूहम् में आभीक्ष्ण्ये० (३।४।२२) से णमुल्, तथा आभीक्ष्ण्ये० (वा० ८।१।१२) से द्वित्व हुआ है । शेष स्पष्ट ही है ॥

यहाँ से 'ऊत्' की अनुवृत्ति ६।४।९१ तक, तथा 'उपधायाः' की ६।४।१०० तक जायेगी ॥

दोषो णौ ॥६।४।९०॥

दोषः ६।१॥ णौ ७।१॥ अनु०—ऊत्, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—दोष उपधाया ऊकार आदेशो भवति णौ परतः ॥ उदा०—दूषयति, दूषयतः, दूषयन्ति ॥

भाषार्थः—[दोषः] दोष अङ्ग की उपधा को ऊकार आदेश होता है, [णौ] णि परे रहते ॥ दुष वैकृत्ये धातु को गुण करके दोष यह निर्देश है ॥

यहाँ से 'णौ' की अनुवृत्ति ६।४।९४ तक, तथा 'दोषः' की ६।४।९१ तक जायेगी ॥

वा चित्तविरागे ॥६।४।९१॥

वा अ० ॥ चित्तविरागे ७।१॥ स०—चित्तस्य विरागः (=अप्रीतता) चित्तविरागः, तस्मिन् ... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—दोषो णौ, ऊत्, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—चित्तविरागेऽर्थे दोष उपधाया वा ऊकारादेशो भवति णौ परतः ॥ उदा०—चित्तं दूषयति, चित्तं दोषयति । प्रज्ञां दूषयति प्रज्ञां दोषयति ॥

भाषार्थः—[चित्तविरागे] चित्त के विराग=अप्रीति=विकार अर्थ में दोष अङ्ग की उपधा को णि परे रहते [वा] विकल्प से ऊकारादेश होता है ॥ चित्तं दूषयति का तात्पर्य है—चित्त को विमख करता है ॥

मितां ह्रस्वः ॥६।४।९२॥

मिताम् ६।३॥ ह्रस्वः १।१॥ अनु०—णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—घटादयो मित् इति मित्संज्ञा विहिता । मित्संज्ञकानामङ्गानामुपधाया ह्रस्वो भवति णौ परतः ॥ उदा०—घटयति, व्यथयति, जनयति, रजयति, शमयति, ज्ञपयति ॥

भाषार्थः—[मिताम्] मित्संज्ञक अङ्ग की उपधा को [ह्रस्वः] ह्रस्व होता है, णि परे रहते ॥ धातुपाठ के अन्तर्गत भ्वादिगण में मित् संज्ञक धातुएं कौन-कौन हैं यह बताया है । यथा—घटादयो मितः, जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च इत्यादि । इन्हीं सूत्रों से ये सब धातुएं मित्-संज्ञक होकर प्रकृतसूत्र से इनको उपधा को ह्रस्व हो जाता है । अर्थात् अत उपधायाः (७।२।११६) से हुई वृद्धि को ह्रस्व होता है ॥

यहाँ से 'मिताम्' की अनुवृत्ति ६।४।९३ तक जायेगी ॥

चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यतरस्याम् ॥६।४।९३॥

चिण्णमुलोः ७।२॥ दीर्घः १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—चिण्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—मिताम्, णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मितामङ्गानामुपधायाः चिण्परे णमुल्परे च णौ परतो दीर्घो भवति विकल्पेन ॥ उदा०—अशमि, अशामि; अतमि, अतामि । शमंशमम्, शामंशामम्; तमंतमम्, तामंतामम् ॥

भाषार्थः—मित् अङ्ग की उपधा को [चिण्णमुलोः] चिण्परक तथा णमुल्-परक णि परे रहते [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [दीर्घः] दीर्घ होता है ॥ शम् धातु से णिच् होकर, तथा च्लि के स्थान में चिण् भाव० (३।१।६६) से चिण् होकर 'अ शाम् इ चिण् त' रहा । णेरनिटि (६।४।५१) से णि लोप, तथा प्रकृतसूत्र से दीर्घ विकल्प, एवं चिणो लुक् (६।४।१०४) से त लोप होकर अशमि, अशामि बना । शमंशमम् आदि में आभीक्ष्ण्ये० (३।४।२२) से णमुल् हुआ है । णि लोप पूर्ववत् हो ही जायेगा ॥

खचि ह्रस्वः ॥६।४।९४॥

खचि ७।१॥ ह्रस्वः १।१॥ अनु०—णौ, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अङ्गस्योपधाया खच्परे णौ परतो ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—द्विषन्तपः, परन्तपः, पुरन्दरः ॥

भाषार्थः—[खचि] खच्परक णि परे रहते अङ्ग की उपधा को [ह्रस्वः] ह्रस्व होता है ॥ द्विषन्तपः परन्तपः में द्विषत्परयोस्तापेः (३।२।३९) से खच् प्रत्यय, एवं पुरन्दरः में पूः सर्वयोर्दा० (३।२।४१) से खच् प्रत्यय होता है। सिद्धि तत्तत् सूत्रों में ही देखें ॥

यहाँ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति ६।४।९७ तक जायेगी ॥

ह्लादो निष्ठायाम् ॥६।४।९५॥

ह्लादः ६।१॥ निष्ठायाम् ७।१॥ अनु०—ह्रस्वः, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—निष्ठायां परतः ह्लादोऽङ्गस्योपधाया ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—प्रह्लन्नः, प्रह्लन्नवान् ॥

भाषार्थः—[ह्लादः] ह्लाद अङ्ग की उपधा को [निष्ठायाम्] निष्ठा परे रहते ह्रस्व हो जाता है ॥ उदाहरणों में रदाभ्यां० (८।२।४२) से निष्ठा के तकार एवं दकार को 'न' हुआ है। श्वीदितो० (७।२।१४) से इट् निषेध भी हो जाता है ॥

छादेर्घेऽद्व्युपसर्गस्य ॥६।४।९६॥

छादेः ६।१॥ घे ७।१॥ अद्व्युपसर्गस्य ६।१॥ स०—द्वौ उपसर्गौ यस्य स द्व्युपसर्गः, बहुव्रीहिः। न द्व्युपसर्गः अद्व्युपसर्गः, तस्य .... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—ह्रस्वः, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अद्व्युपसर्गस्य छादेरङ्गस्योपधायाः घप्रत्यये परतो ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—उरश्छदः, प्रच्छदः, दन्तच्छदः ॥

भाषार्थः—[अद्व्युपसर्गस्य] जो दो उपसर्गों से युक्त नहीं है, ऐसे [छादेः] छादि अङ्ग की उपधा को [घे] घ प्रत्यय परे रहने पर ह्रस्व होता है ॥ उरश्छदः आदि की सिद्धि भाग १, परि० ३।३।११८ में देखें। इन उदाहरणों में कहीं पर भी दो उपसर्गों से युक्त छादि अङ्ग नहीं है ॥

यहाँ से 'छादेः' की अनुवृत्ति ६।४।९७ तक जायेगी ॥

इस्मन्त्रन्क्विषु च ॥६।४।९७॥

इस्मन्त्रन्क्विषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—इस० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छादेः, ह्रस्वः, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छादेरङ्गस्योपधाया इस्, मन्, त्रन्,

क्वि इत्येतेषु प्रत्ययेषु परतो ह्रस्वो भवति॥ उदा०—छदिः । छद्म । छत्रम् । धामच्छत्, उपच्छत् ॥

भाषार्थः—[इस्मन्त्रन्क्विषु] इस, मन्, त्रन्, क्वि इन प्रत्ययों के परे रहते [च] भी छादि अङ्ग की उपधा को ह्रस्व होता है॥ छदिः में अर्चिशुचिहुसृपिछादि० (उणा० २।१०८) इस उणादि सूत्र से इसि प्रत्यय हुआ है । छद्म में सर्वधातुभ्यो मनिन् (उणा० ४।१४५) से मनिन् हुआ है । छत्रम् में सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् (उणा० ४।१५९) से ष्ट्रन् प्रत्यय हुआ है । ष्ट्रन् का 'त्र' शेष रह जाता है । षकार (जिसके योग से ष्टुत्व हुआ था) के हट जाने से ष्टुत्व भी हट जाता है, सो ट्र को त्र रूप रहेगा । धामच्छत् में क्विप् च (३।२।७६) से क्विप् होता है । णि का लोप पूर्ववत् णेरनिटि (६।४।५१) से होगा ॥

गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि॥६।४।९८॥

गमहनजनखनघसाम् ६।३॥ लोपः १।१॥ क्ङिति ७।१॥ अनङि ७।१॥ स०—गमहन० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । कश्च ङश्च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन् ...... द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः । न अङ् अनङ्, तस्मिन् ...... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अचि, उपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—गम, हन, जन, खन, घस् इत्येतेषामङ्गानामुपधाया लोपो भवति, अजादौ क्ङिति अनङि परतः ॥ उदा०—गम—जग्मतुः, जग्मुः । हन—जघ्नतुः, जघ्नुः । जन—जज्ञे, जज्ञाते, जज्ञिरे । खन—चख्नतुः, चख्नुः । घस्—जक्षतुः, जक्षुः; अक्षन्नमीमदन्त पितरः ॥

भाषार्थः—[गम...साम्] गम, हन, जन, खन, घस् इन अङ्गों की उपधा का [लोपः] लोप हो जाता है, [अनङि] अङ् भिन्न अजादि [क्ङिति] कित्, ङित् प्रत्यय परे हो तो ॥ अङ् प्रत्यय अजादि एवं ङित् है, अतः उपधालोप प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥ भाग १, परि० १।१।५७, पृ० ७४८–७४९ में जक्षतुः जक्षुः एवं 'अक्षन्' की सिद्धि देखें । तथा जग्मतुः जग्मुः की परि० १।१।५८ में देखें । इसी प्रकार जघ्नतुः चख्नतुः बनेंगे । जघ्नतुः में अभ्यासाच्च (७।३।५५) से अभ्यास को कुत्व होता है । जज्ञे में स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श्चुत्व हुआ है । आत्मनेपद में लिटस्तझयो० (३।४।८१) आदि हो जायेंगे ॥

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ६।४।१०० तक, तथा 'क्ङिति' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक जायेगी ॥

तनिपत्योश्छन्दसि॥६।४।९९॥

तनिपत्योः ६।२॥ छन्दसि ७।१॥ स०—तनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—

लोपः, क्ङिति, उपधायाः, अचि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तनि पति इत्येतयोश्छन्दसि विषये उपधाया लोपो भवति, अजादौ क्ङिति प्रत्यये परतः ॥ उदा०—वितत्निरे कवयः (ऋ० १।१६४।५) । शकुना इव पप्तिम (ऋ० ६।१०७।२०) ॥

भाषार्थः—[तनिपत्योः] तन् तथा पत् अङ्ग की उपधा का लोप होता है, [छन्दसि] वेद-विषय में, अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते ॥ तन् तन् इरेच्=त तन् इरे, उपधा के अकार का लोप होकर वितत्निरे बना । पत् पत् म=प प्त् म, इडागम होकर पप्तिम बना ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ६।४।१०० तक जायेगी ॥

घसिभसोर्हलि च ॥६।४।१००॥

घसिभसोः ६।२॥ हलि ७।१॥ च अ० ॥ स०—घसि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, लोपः, क्ङिति, उपधायाः, अचि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—घसि भस इत्येतयोश्छन्दसि विषये उपधाया लोपो भवति, हलादौ अजादौ च क्ङिति प्रत्यये परतः ॥ उदा०—सग्धिश्च मे सपीतिश्च मे (य० १८।९) । बब्धां ते हरी धानाः (नि० ५।१२) । अजादौ—बप्सति ॥

भाषार्थः—[घसिभसोः] घस् तथा भस् अङ्ग की उपधा का लोप [हलि] हलादि [च] तथा अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते होता है, वेद-विषय में ॥ सग्धिः तथा बब्धाम् की सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें ॥ भस् धातु से श्लौ (६।१।१०) से भस् को द्वित्व, एवं अभ्यासकार्य तथा झि को अत् आदेश (७।१।४ से) होकर 'बभस् अति' रहा । उपधालोप होकर, तथा खरि च (८।४।५४) से भ् को चर्त्व पकार होकर बप्सति बन गया ॥

यहाँ से 'हलि' की अनुवृत्ति ६।४।१०१ तक जायेगी ॥

हुझल्भ्यो हेर्धिः ॥६।४।१०१॥

हुझल्भ्यः ५।३॥ हेः ६।१॥ धिः १।१॥ स०—हुश्च झलश्च हुझलः, तेभ्यः ··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—हलि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—हु इत्येतस्मात् झलन्तेभ्यश्चोत्तरस्य हलादेर्हेः स्थाने 'धि'-इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—जुहुधि । झलन्तेभ्यः—भिन्द्धि, छिन्द्धि ॥

भाषार्थः—[हुझल्भ्यः] हु तथा झलन्त से उत्तर हलादि [हेः] हि के स्थान में [धिः] धि आदेश होता है ॥ जुहुधि की सिद्धि परि० ३।३।१६६, पृ० ६११ में देखें । भि श्नम् द् हि=भि न द् हि, यहाँ श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से न के अ का लोप, एवं हि को धि होकर भिन्द्धि छिन्द्धि बन गया ॥

यहाँ से 'हेर्धिः' की अनुवृत्ति ६।४।१०३ तक जायेगी ॥

श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि ॥६।४।१०२॥

श्रुशृणुपृकृवृभ्यः ५।३॥ छन्दसि ७।१॥ स०—श्रुशृणु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—हेर्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—श्रु, शृणु, पृ, कृ, वृ इत्येतेभ्य उत्तरस्य छन्दसि विषये हेर्धिरादेशो भवति ॥ उदा०—श्रुधी हवम् (ऋ० १।२।१)। शृणुधी गिरः (ऋ० ८।८४।३)। रायस्पूर्धि (ऋ० १।३६।१२)। उरुणस्कृधि (ऋ० ८।७५।११)। अपावृधि ॥

भाषार्थः—[श्रुशृणुपृकृवृभ्यः] श्रु, शृणु, पृ, कृ तथा वृ से उत्तर [छन्दसि] वेद-विषय में हि को धि आदेश होता है ॥ श्रुधि में शप् का छान्दस लोप होता है। इसी प्रकार पूर्द्धि कृधि वृधि में भी शप् का लुक् होता है। शप् के अभाव में अन्यविकरण नहीं होते। शृणुधी में श्रुवः शृ च (३।१।७४) से शृ आदेश तथा श्नु प्रत्यय होता है। अन्येषामपि दृश्यते (६।३।१३५) से श्रुधी शृणुधी में धि को दीर्घ हुआ है। पूर्द्धि में पृ धातु को उदोष्ठ्यपू० (७।१।१०२) से उत्व रपरत्व, तथा हलि च (८।२।७७) से दीर्घ होता है। उरु अस्माकं कृधि=उरुणस्कृधि, यहाँ बहुवचनस्य० (८।१।२१) से अस्माकं को नस् आदेश तथा नश्च धातु० (८।४।२६) से णत्व हुआ है। उरुणः के विसर्जनीय को यहाँ कृधि परे रहते कःकरत्० (८।३।५०) से सत्व हुआ है। अपावृधि यह वृञ् अथवा वृङ् का रूप है। वृङ् का मानने पर व्यत्यय से परस्मैपद छन्द में होगा ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ६।४।१०३ तक जायेगी ॥

अङितश्च ॥६।४।१०३॥

अङितः ६।१॥ च अ० ॥ स०—ङ् इत् यस्य स ङित्, न ङित् अङित्, तस्य ......बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—छन्दसि, हेर्धिः ॥ अर्थः—अङितश्च हेर्धिरादेशो भवति, छन्दसि विषये ॥ उदा०—सोमं रारन्धि (ऋ० १।६१।१३); अस्मभ्यं तद्धर्यश्व प्रयन्धि; युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनः (य० ४०।१६) ॥

भाषार्थः—[अङितः] अङित् हि को [च] भी धि आदेश होता है, वेद-विषय में ॥ वा छन्दसि (३।४।८८) से हि को विकल्प से अपित् कहा है। सो अपित्-पक्ष में 'हि' सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से ङित्वत् होगा, तथा पित्पक्ष में ङित् नहीं होगा। इस प्रकार जिस पक्ष में ङित् नहीं होगा, उसी पक्ष में अङित् हि के होने से इस सूत्र की प्रवृत्ति होगी ॥ रमु धातु से रारन्धि बना है। यहाँ व्यत्यय से परस्मैपद होता है। तथा बहुलं छन्दसि (२।४।७६) से शप् को श्लु, एवं तुजादीनां दीर्घो० (६।१।७) से अभ्यास को दीर्घ होता है। अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७)

से 'हि' के अङित् होने से ही नकारलोप नहीं होता। प्रयन्धि, यहाँ यम के शप् का बहुलं छन्दसि (२।४।७३) से लुक् होता है। युयोधि, यहाँ शप् को श्लु होते से द्विर्वचन तथा पित्पक्ष में अङित् होने से गुण होता है॥

चिणो लुक् ॥६।४।१०४॥

चिणः ५।१॥ लुक् १।१॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—चिण उत्तरस्य प्रत्ययस्य लुग् भवति ॥ उदा०—अकारि, अहारि, अलावि, अपाचि ॥

भाषार्थः—[चिणः] चिण् से उत्तर प्रत्यय का [लुक्] लुक् (=अदर्शन) होता है। प्रत्ययस्य लुक्० (१।१।६०) से प्रत्यय के अदर्शन की ही लुक् संज्ञा कही है, अतः यहाँ लुक् कहने से प्रत्यय का ही अदर्शन समझा जायेगा। चिण् भाव० (३।१।६६) से उदाहरणों में चिण् हुआ है। उस चिण् से उत्तर त का प्रकृतसूत्र से लुक् हो जाता है॥

यहाँ से 'लुक्' की अनुवृत्ति ६।४।१०६ तक जायेगी॥

अतो हेः ॥६।४।१०५॥

अतः ५।१॥ हेः ६।१॥ अनु०—लुक्, अङ्गस्य॥ अर्थः—अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य हेर्लुक् भवति ॥ उदा०—पच, पठ, गच्छ, धाव ॥

भाषार्थः—[अतः] अकारान्त अङ्ग से उत्तर [हेः] हि का लुक् हो जाता है॥ विभक्ति विपरिणाम होकर अर्थानुसार 'अङ्गस्य' पञ्चमी विभक्ति में बदल जाता है॥

यहाँ से 'हेः' की अनुवृत्ति ६।४।१०६ तक जायेगी॥

उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात् ॥६।४।१०६॥

उतः ५।१॥ च अ०॥ प्रत्ययात् ५।१॥ असंयोगपूर्वात् ५।१॥ स०—अविद्यमानः संयोगः पूर्वो यस्मात् स असंयोगपूर्वः, तस्मात्....बहुव्रीहिः॥ अनु०—हेः, लुक्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—असंयोगपूर्वो य उकारस्तदन्तो यः प्रत्ययस्तदन्तादङ्गात्परस्य हेर्लुक् भवति॥ उदा०—चिनु, सुनु, कुरु॥

भाषार्थः—[असंयोगपूर्वात्] संयोग पूर्व में नहीं है जिससे, ऐसा जो [उतः] उकार, तदन्त [प्रत्ययात्] जो प्रत्यय तदन्त अङ्ग से उत्तर [च] भी हि का लुक् हो जाता है॥ कुरु में कृ को गुण रपरत्व कर लेने पर अत उत्सार्वधातुके (६।४।११०) से उत्व होता है॥

यहाँ 'असंयोगपूर्व' उकार का विशेषण है, न कि उकारान्त प्रत्यय का। इसलिये 'आप्नुहि' में नु प्रत्ययावयव उकार से पूर्व प् न् का संयोग होने से हि का लुक् नहीं

होता। उकारान्त प्रत्यय का विशेषण बनाने पर 'नु' प्रत्यय से पूर्व संयोग न होने के कारण यहाँ भी लुक् प्राप्त हो जाता, अतः असंयोगपूर्व ग्रहण उकार का विशेषण माना गया है।।

यहाँ से 'उतः प्रत्ययात्' की अनुवृत्ति ६।४।११० तक, तथा 'असंयोगपूर्वात्' की ६।४।१०७ तक जायेगी।।

लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः ।।६।४।१०७।।

लोपः १।१।। च अ० ।। अस्य ६।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। म्वोः ७।२।। स०—मश्च वश्च म्वौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—उतः प्रत्ययात्, असंयोगपूर्वात्, अङ्गस्य ।। अर्थः—असंयोगपूर्वो योऽयमुकारस्तदन्तस्य प्रत्ययस्य लोपो भवति विकल्पेन, मकारादौ वकारादौ च प्रत्यये परतः ।। उदा०—सुन्वः, सुनुवः; तन्वः, तनुवः । सुन्मः, सुनुमः; तन्मः, तनुमः ।।

भाषार्थः—असंयोगपूर्व जो उकार तदन्त [अस्य] इस प्रत्यय का [लोपः] लोप [च] भी [अन्यतरस्याम्] विकल्प से होता है, [म्वोः] मकारादि तथा वकारादि प्रत्ययों के परे रहते ।। सुनुतः की सिद्धि परि० १।१।५ में की है, तद्वत् वस् मस् परे रहते यहाँ भी जानें। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) के नियम से प्रत्यय के अन्त्य उकार का लोप होता है। तन्वः तन्मः में उकारमात्र ही विकरण है, उसका लोप होता है। सामर्थ्य से असंयोगपूर्वात् आदि पद भी षष्ठ्यन्त में यहाँ बदल जाते हैं।।

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ६।४।१०९ तक, तथा 'म्वोः' की ६।४।१०८ तक जायेगी।।

नित्यं करोतेः ।।६।४।१०८।।

नित्यम् १।१।। करोतेः ५।१।। अनु०—लोपः, म्वोः, उतः प्रत्ययात्, अङ्गस्य ।। अर्थः—वकारमकारादौ प्रत्यये परतः करोतेरुत्तरस्य उकारप्रत्ययस्य नित्यं लोपो भवति ।। उदा०—कुर्वः, कुर्मः ।।

भावार्थः—वकारादि मकारादि प्रत्यय परे रहते [करोतेः] कृ अङ्ग से उत्तर उकार प्रत्यय का [नित्यम्] नित्य ही लोप हो जाता है।। पूर्ववत् उकार का लोप, एवं अत उत्सार्वधा० (६।४।११०) से उत्व होगा। कर् उ मस् = कुर् मस् = कुर्मः ।।

यहाँ से 'नित्यम्' की अनुवृत्ति ६।४।१०९ तक, तथा 'करोतेः' की ६।४।११० तक जायेगी।।

ये च ॥६।४।१०६॥

ये ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—नित्यं, करोतेः, लोपः, उतः प्रत्ययात्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—यकारादौ च प्रत्यये परतः करोतेरुत्तरस्योकारस्य प्रत्ययस्य नित्यं लोपो भवति ॥ उदा०—कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः ॥

भाषार्थः—[ये] यकारादि प्रत्यय परे रहते [च] भी कृ अङ्ग से उत्तर उकार प्रत्यय का नित्य ही लोप होता है ।। कृ उ यासुट् सुट् ति=कर् उ यास् स् त्, यहाँ उत्व (६।४।११० से), तथा उकारलोप होकर 'कुर् या स् स् त्' रहा। पश्चात् लिङः सलोपो० (७।२।७९) से दोनों सकारों का लोप होकर कुर्यात् आदि रूप बने । कुर्युः में झेः जुस् (३।४।१०८), एवं उस्यपदान्तात् (६।१।९३) सूत्र विशेष लगेंगे ॥

अत उत्सार्वधातुके ॥६।४।११०॥

अतः ६।१॥ उत् १।१॥ सार्वधातुके ७।१॥ अनु०—करोतेः, उतः प्रत्ययात्, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—उकारप्रत्ययान्तस्य करोतेरकारस्य स्थाने उकार आदेशो भवति, क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—कुरुतः, कुर्वन्ति ॥

भाषार्थः—उकारप्रत्ययान्त कृ अङ्ग के [अतः] अकार के स्थान में [उत्] उकारादेश हो जाता है, कित् ङित् [सार्वधातुके] सार्वधातुक परे रहते ।। कृ को गुण रपरत्व करने पर 'अ' के स्थान में उत्व होता है ।। सिद्धियाँ परि० १।२।४ में देखें ।।

यहाँ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति ६।४।११८ तक जायेगी ॥

श्नसोरल्लोपः ॥६।४।१११॥

श्नसोः ६।२॥ अल्लोपः १।१॥ स०—श्नश्च अश्च श्नसौ (शकन्ध्वादिवत् पररूपम्), तयोः ...... इतरेतरद्वन्द्वः । अतो लोपः अल्लोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—सार्वधातुके, क्ङिति ॥ अर्थः—श्नस्यास्तेश्चाकारस्य लोपो भवति, सार्वधातुके क्ङिति परतः ॥ उदा०—रुन्धः, रुन्धन्ति । भिन्तः, भिन्दन्ति । अस्तेः—स्तः, सन्ति ॥

भाषार्थः—[श्नसोः] श्नम् प्रत्यय तथा अस् धातु के [अल्लोपः] अकार का लोप होता है, कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ।। परि० १।१।४६ के रुणद्धि के समान रुन्धः में सब कार्य जानें, केवल यहाँ श्न के अ का लोप तस् ङित् सार्वधातुक परे रहते होता है । नकार को अनुस्वार (८।३।२४ से), तथा परसवर्ण (८।४।५८ से) होकर पुनः नकार होता है । अतः न के असिद्ध (८।२।१ से) होने से णत्व भी नहीं होता है । स्तः, सन्ति की सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें ॥

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ६।४।११२ तक जायेगी ॥

श्नाभ्यस्तयोरातः ॥६।४।११२॥

श्नाभ्यस्तयोः ६।२॥ आतः ६।१॥ स०—श्ना० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—लोपः, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—श्ना इत्येतस्य अभ्यस्तानाञ्चाङ्गानामाकारस्य लोपो भवति, सार्वधातुके क्ङिति परतः ॥ उदा०—लुनते, लुनताम्, अलुनत । अभ्यस्तानाम्—मिमते, मिमताम्, अमिमत । संजिहते, संजिहताम्, समजिहत ॥

भाषार्थः—[श्नाभ्यस्तयोः] श्ना तथा अभ्यस्तसंज्ञक के [आतः] आकार का लोप होता है, कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ यद्यपि कित् ङित् सामान्य सार्वधातुक प्रत्यय परे रहते आकार का लोप कहा है, तथापि उत्तर सूत्र में हलादि कित् ङित् सार्वधातुक में ईकारादेश का विधान होने से यहाँ अजादि सार्वधातुक में ही यह विधि जाननी चाहिये। परि० १।३।१४ भाग १ में व्यतिलुनते की सिद्धि की है; तद्वत् लुनते (बहुवचन), लुनताम्, (लोट् में आमेतः ३।४।९० लगकर) की सिद्धि जानें । 'माङ् माने' धातु को श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व, एवं अभ्यास को भृञामित् (७।४।७६) से इत्व होकर 'मि मा अ ते' रहा । उभे अभ्यस्तम् (६।१।५) से अभ्यस्त संज्ञा होकर, प्रकृत सूत्र से आकारलोप करके मिमते बन गया । इसी प्रकार मिमताम्, अमिमत (लङ्), तथा 'ओहाङ् गतौ' धातु से संजिहते आदि भी समझें ॥

यहाँ से 'श्नाभ्यस्तयोः' की अनुवृत्ति ६।४।११३ तक, तथा 'आतः' की ६।४।११४ तक जायेगी ॥

ई हल्यघोः ॥६।४।११३॥

ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ हलि ७।१॥ अघोः ६।१॥ स०—न घुः अघुः, तस्य नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—श्नाभ्यस्तयोः, आतः, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—श्नान्तानामङ्गानामभ्यस्तानाञ्च घुवर्जितानां आतः स्थाने ईकारादेशो भवति, हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—लुनीतः, पुनीतः; लुनीथः, पुनीथः; लुनीते, पुनीते । अभ्यस्तानाम्—मिमीते, मिमीषे, मिमीध्वे; संजिहीते, संजिहीषे, संजिहीध्वे ॥

भाषार्थः—श्नान्त अङ्ग एवं [अघोः] घुसंज्ञक को छोड़कर जो अभ्यस्तसंज्ञक अङ्ग उनके आकार के स्थान में [ई] ईकारादेश होता है, [हलि] हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ भाग १, परि० १।३।१८ में परिक्रीणीते की सिद्धि की है, तद्वत् लुनीते पुनीते आदि भी जानें । परस्मैपद में तस् थस् हलादि

ङित् (१।२।४) सार्वधातुक परे रहते लुनीतः लुनीथः आदि की सिद्धि जानें। मिमीते आदि में पूर्ववत् द्वित्वादि कार्य होगा ॥

यहाँ से 'हलि' की अनुवृत्ति ६।४।११६ तक जायेगी ॥

इद् दरिद्रस्य ॥६।४।११४॥

इत् १।१॥ दरिद्रस्य ६।१॥ अनु०—हलि, आतः, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—दरिद्रातेरातो हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परत इकारादेशो भवति॥ उदा०—दरिद्रितः, दरिद्रिथः; दरिद्रिवः, दरिद्रिमः ॥

भाषार्थः—[दरिद्रस्य] दरिद्रा धातु के आकार[1] के स्थान में [इत्] इकारादेश होता है, हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥

यहाँ से 'इत्' की अनुवृत्ति ६।४।११६ तक जायेगी ॥

भियोऽन्यतरस्याम् ॥६।४।११५॥

भियः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—इत्, हलि, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भी इत्येतस्याङ्गस्य विकल्पेन इकारादेशो भवति, हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—बिभितः, बिभीतः; बिभिथः, बिभीथः; बिभिवः, बिभीवः; बिभिमः, बिभीमः ॥

भाषार्थः—[भियः] भी अङ्ग को [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते इकारादेश होता है। पक्ष में दीर्घ ही रहेगा। अभ्यास-कार्य एवं द्वित्व पूर्ववत् जानें। अन्त्य 'ई' को इकार आदेश होगा ॥

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ६।४।११७ तक जायेगी ॥

जहातेश्च ॥६।४।११६॥

जहातेः ॥६।१॥ च अ० ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, इत्, हलि, सार्वधातुके, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जहातेश्च इकारादेशो भवति विकल्पेन, हलादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—जहितः, जहीतः; जहिथः, जहीथः ॥

भाषार्थः—[जहातेः] 'ओहाक् त्यागे' अङ्ग को [च] भी इकारादेश विकल्प से होता है, हलादि कित् ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ ई हल्यघोः (६।४।११३) से अभ्यस्त के आ को नित्य ईत् प्राप्त था, सो इत् अभाव पक्ष में ईत् ही होता है। भाग १, पृष्ठ ७५५ के जुहोति के समान द्वित्वादि कार्य जानें ॥

यहाँ से 'जहातेः' की अनुवृत्ति ६।४।११८ तक जायेगी ॥

---

१. आकार की अनुवृत्ति के बिना भी अलोऽन्त्यस्य के नियम से अन्त्य आकार को ही ईकारादेश होगा, अतः अनुवृत्ति स्पष्टार्थ है ॥

आ च हौ ॥ ६।४।११७॥

आ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ हौ ७।१॥ अनु०—जहातेः, इत्, अन्यतरस्याम् ॥ अर्थः—जहातेराकारश्चान्तादेशो अन्यतरस्यां भवति इकारश्च हौ परतः ॥ उदा०—जहाहि, जहिहि, जहीहि ॥

भाषार्थः—ओहाक् अङ्ग को [आ] आकार आदेश विकल्प से होता है, [च] तथा इकार आदेश भी विकल्प से होता है [हौ] हि परे रहते ॥ पूर्वसूत्र में इकारादेश विकल्प से कहा है, यहाँ आकारादेश का भी विकल्प से विधान किया। अतः पक्ष में पूर्ववत् ईकारादेश (६।४।११३) होकर तीन रूप बनते हैं ॥

लोपो यि ॥ ६।४।११८॥

लोपः १।१॥ यि ७।१॥ अनु०—जहातेः, सार्वधातुके, क्ङिति ॥ अर्थः—जहातेर्लोपो भवति यकारादौ क्ङिति सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—जह्यात्, जह्याताम्, जह्युः ॥

भाषार्थः—ओहाक् अङ्ग का [लोपः] लोप होता है [यि] यकारादि कित्, ङित् सार्वधातुक परे रहते ॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य आकार का लोप हो जायेगा ॥

घ्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च ॥ ६।४।११९॥

घ्वसोः ६।२॥ एत् १।१॥ हौ ७।१॥ अभ्यासलोपः १।१॥ च अ० ॥ स०—घ्वसो: इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अभ्यासस्य लोपः अभ्यासलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अङ्गस्य, क्ङिति ॥ अर्थः—घुसंज्ञकानामङ्गानामस्तेश्च एकारादेशो भवति, हौ क्ङिति परतोऽभ्यासलोपश्च ॥ उदा०—देहि, धेहि । अस्तेः—एधि ॥

भाषार्थः—[घ्वसोः] घुसंज्ञक अङ्ग को एवं अस् को [एत्] एकारादेश, [च] तथा [अभ्यासलोपः] अभ्यास का लोप होता है, [हौ] हि क्ङित् परे रहते ॥ हि ङित् सार्वधातुक है। देहि धेहि की सिद्धि भाग १, परि० १।१।१९ में देखें, तथा एधि की सिद्धि असिद्धवदत्रा० (६।४।२२) सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'एत् अभ्यासलोपश्च' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक जायेगी ॥

अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि ॥ ६।४।१२०॥

अतः ६।१॥ एकहल्मध्ये ७।१॥ अनादेशादेः ६।१॥ लिटि ७।१॥ स०—एकश्च एकश्च एकौ, एकौ च तौ हलौ च एकहलौ, कर्मधारयतत्पुरुषः । एकहलोर्मध्यः एकहल्मध्यः, तस्मिन्······षष्ठीतत्पुरुषः । अविद्यमान आदेश आदिर्यस्य स अनादेशादिः, तस्य······बहुव्रीहिः ॥ अनु०—एत्, अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥

अर्थः—लिटि परत आदेश आदिर्यस्याङ्गस्य नास्ति तस्य एकहल्मध्ये=असहाययोर्हलो-र्मध्ये योऽकारस्तस्य एकारादेशो भवति, अभ्यासलोपश्च लिटि क्ङिति परतः ।। उदा०—रेणतुः, रेणुः; येमतुः, येमुः; पेचतुः, पेचुः; देमतुः, देमुः ।।

भाषार्थः—लिट् परे रहते [अनादेशादेः] जिस अङ्ग के आदि को आदेश नहीं हुआ है, उसके [एकहल्मध्ये] एक=असहाय (=असंयुक्त दो) हलों के बीच में वर्त्तमान जो [अतः] अकार, उसको एकारादेश तथा अभ्यासलोप हो जाता है, कित् ङित् [लिटि] लिट् परे रहते ।। एक शब्द यहाँ असहायवाची है ।। रण धातु को द्वित्वादि होकर 'र रण अतुस्' रहा । अब यहाँ 'रण' अङ्ग के आदि 'र' को लिट् को मानकर आदेश नहीं हुआ है, अतः यह अनादेशादि अङ्ग है । एवं 'रण' के र का अ, र् तथा ण् इन असहाय हलों के बीच में है । इस प्रकार अकार के एक-हल्मध्य होने से अभ्यासलोप एवं अकार को एत्व प्रकृतसूत्र से हो गया है । इसी प्रकार येमतुः आदि में जानें ।। 'लिटि' पद की आवृत्ति करने से एक 'लिटि' का सम्बन्ध 'अनादेशादेः' के साथ होता है, और दूसरे का 'क्ङिति' के साथ । अनादे-शादेः के साथ लिटि का सम्बन्ध इसलिये किया जाता है कि जो धातु की आदि आदेश लिट्निमित्तक नहीं होते, अनैमित्तिक होते हैं, उनमें निषेध न हो । यथा—षह=सह—सेहे, सेहाते, णम=नम नेमतुः नेमुः, ये सत्व नत्व अनैमित्तिक आदेश हैं ।।

यहाँ से 'अतः लिटि' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक, तथा 'एकहल्मध्ये अनादेशादेः' की ६।४।१२१ तक जायेगी ।।

थलि च सेटि ।।६।४।१२१।।

थलि ७।१।। च अ० ।। सेटि ७।१।। अनु०—अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, अङ्गस्य ।। अर्थः—थलि च सेटि परतोऽनादेशादेरङ्गस्यासहाय-योर्हलोर्मध्ये वर्त्तमानस्याकारस्य स्थाने एकारादेशो भवत्यभ्यासलोपश्च ।। उदा०—पेचिथ, शेकिथ ।।

भाषार्थः—[सेटि] सेट् [थलि] थल् परे रहते [च] भी अनादेशादि अङ्ग के दो असहाय हलों के मध्य में वर्त्तमान जो अकार उसके स्थान में एकार आदेश हो जाता है, तथा अभ्यास का लोप होता है ।। पेचिथ शेकिथ की सिद्धि परि० ३।४। ११५ में देखें ।। थल् कित् ङित् नहीं है, अतः इस सूत्र का आरम्भ अक्ङिदर्थ है ।।

यहाँ से 'थलि च सेटि' की अनुवृत्ति ६।४।१२६ तक जायेगी ।।

तॄफलभजत्रपश्च ।।६।४।१२२।।

तॄफलभजत्रपः ६।१।। च अ० ।। स०—तॄ च फलश्च भजश्च त्रप् च, तॄ

त्रप्, तस्य ... समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तॄ, फल, भज, त्रप इत्येतेषामङ्गानामकारस्य स्थाने एकारादेशो भवति अभ्यासलोपश्च, क्ङिति लिटि परतस्थलि च सेटि॥ उदा०—तेरतुः, तेरुः, तेरिथ। फेलतुः, फेलुः, फेलिथ। भेजतुः, भेजुः, भेजिथ। त्रेपे, त्रेपाते, त्रेपिरे ॥

भाषार्थः—[तॄफलभजत्रपः] तॄ, फल, भज, त्रप इन अङ्गों के अकार के स्थान में [च] भी एकारादेश तथा अभ्यासलोप होता है, कित् ङित् लिट् परे रहते, तथा सेट् थल् परे रहते ॥ तेरतुः में तॄ को गुण ऋच्छत्यॄताम् (७।४।११) से होता है, अतः न शसदद० (६।४।१२६) से तॄ को अभ्यासलोप तथा एत्व प्रतिषेध प्राप्त था, यहाँ विधान कर दिया। फल से 'फल निष्पत्तौ' एवं 'ञिफला विशरणे' दोनों का ग्रहण होता है। फल तथा भज को अभ्यासकार्य होकर 'प ब' आदि को ये आदेश होते हैं, अतः आदेशादि होने से अप्राप्ति थी। तथा त्रप धातु में अकार अनेकहल्मध्यवाला है, अतः उसे पूर्वसूत्र से प्राप्ति नहीं थी, सो सर्वत्र विधान कर दिया ॥

राधो हिंसायाम् ॥६।४।१२३॥

राधः ६।१॥ हिंसायाम् ७।१॥ अनु०—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—हिंसायामर्थे राधोऽङ्गस्यावर्णस्य स्थाने एकार आदेशो भवति अभ्यासलोपश्च, लिटि क्ङिति परतस्थलि च सेटि ॥ उदा०—अपरेधतुः, अपरेधुः, अपरेधिथ ॥

भाषार्थः—[हिंसायाम्] हिंसा अर्थ में वर्त्तमान [राधः] राध अङ्ग के अवर्ण के स्थान में एकार आदेश तथा अभ्यासलोप होता है, कित् ङित् लिट् परे रहते, तथा सेट् थल् परे रहते ॥ ६।४।१२० से अकार के स्थान में एत्व प्राप्त था, आकार के स्थान में प्राप्त नहीं था, अतः कह दिया। यहाँ तपरत्वनिर्दिष्ट 'अतः' की अनुवृत्ति होने पर भी राध में ह्रस्व अकार का सम्भव न होने से दीर्घ आकार को ही एत्व होता है ॥

वा जॄभ्रमुत्रसाम् ॥६।४।१२४॥

वा अ० ॥ जॄभ्रमुत्रसाम् ६।३॥ स०—जॄ च भ्रमुश्च त्रस् च जॄभ्रमुत्रसः, तेषाम् ..... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जॄ, भ्रमु, त्रस इत्येतेषामङ्गानामतः स्थाने एकारादेशो वा भवति अभ्यासलोपश्च, क्ङिति लिटि परतस्थलि च सेटि ॥ उदा०—जेरतुः, जेरुः,

जेरिथ । पक्षे न भवति—जजरतुः, जजरुः, जजरिथ । भ्रेमतुः, भ्रेमुः, भ्रेमिथ । पक्षे—बभ्रमतुः, बभ्रमुः, बभ्रमिथ । त्रेसतुः, त्रेसुः, त्रेसिथ । पक्षे—तत्रसतुः, तत्रसुः, तत्रसिथ ॥

भाषार्थः—[जॄभ्रमुत्रसाम्] जॄ, भ्रमु, त्रस् इन अङ्गों के अकार के स्थान में एत्व तथा अभ्यासलोप [वा] विकल्प से होता है, कित् ङित् लिट् परे रहते तथा सेट् थल् परे रहते ॥ पूर्ववत् जॄ को ऋच्छत्यॄताम् से गुण होता है, अतः न शसदद० से गुणकृत अकार होने से निषेध प्राप्त था, विधान कर दिया । इसी प्रकार भ्रम् धातु के आदेशादि और अनेक हल्मध्य होने से, एवं त्रस् में अनेकहल्मध्य अकार होने से एत्वाभ्यासलोप प्राप्त नहीं था, सो विकल्प से प्राप्त करा दिया ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ६।४।१२५ तक जायेगी ॥

फणां च सप्तानाम् ॥६।४।१२५॥

फणाम् ६।३॥ च अ०॥ सप्तानाम् ६।३॥अनु०—वा, अतः लिटि, थलि च सेटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य॥ अर्थः—फणादीनां सप्तानां धातूनामवर्णस्य स्थाने वा एकार आदेशो भवति अभ्यासलोपश्च, लिटि क्ङिति परतस्थलि च सेटि ॥ उदा०—फेणतुः, फेणुः, फेणिथ । पक्षे—पफणतुः, पफणुः, पफणिथ । राजृ—रेजतुः, रेजुः, रेजिथ । पक्षे—रराजतुः, रराजुः, रराजिथ । टुभ्राजृ—भ्रेजे, भ्रेजाते, भ्रेजिरे । पक्षे—बभ्राजे, बभ्राजाते, बभ्राजिरे । टुभ्राशृ—भ्रेशे, भ्रेशाते, भ्रेशिरे । पक्षे—बभ्राशे, बभ्राशाते, बभ्राशिरे । टुभ्लाशृ—भ्लेशे, भ्लेशाते, भ्लेशिरे । पक्षे—बभ्लाशे, बभ्लाशाते, बभ्लाशिरे । स्यमु—स्येमतुः, स्येमुः, स्येमिथ । पक्षे—सस्यमतुः, सस्यमुः, सस्यमिथ । स्वन—स्वेनतुः, स्वेनुः, स्वेनिथ । पक्षे—सस्वनतुः, सस्वनुः, सस्वनिथ ॥

भाषार्थः—[फणाम्] फण आदि [सप्तानाम्] सात (अर्थात् फण से लेकर कुल सात) धातुओं के अवर्ण के स्थान में [च] भी विकल्प से एत्व तथा अभ्यासलोप होता है, कित् ङित् लिट् तथा सेट् थल् परे रहते ॥ बहुवचन-निर्देश से यहाँ आदि अर्थ लिया जाता है, अतः 'फणादि जो सात धातुएं' ऐसा अर्थ होगा । कहीं आदेशादि एवं कहीं पर अनेकहल्मध्य और कहीं दीर्घ आकार होने से एत्वाभ्यास लोप की प्राप्ति नहीं थी, सो विधान कर दिया ॥

न शसददवादिगुणानाम् ॥६।४।१२६॥

न अ० ॥ शसददवादिगुणानाम् ६।३॥ स०—वकार आदिर्यस्य स वादिः, बहुव्रीहिः । शसश्च ददश्च वादिश्च गुणश्च शसददवादिगुणाः, तेषाम् इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—थलि च सेटि, अतः लिटि, एत्, अभ्यासलोपश्च, क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—

शस् दद् इत्येतयोर्वकारादीनां च धातूनां गुणशब्देनाभिनिर्वृत्तस्य च योऽकारस्तस्य स्थाने एकारादेशोऽभ्यासलोपश्च न भवति, लिटि किङति थलि च सेटि परतः ॥ उदा०—विशशसतुः, विशशसुः, विशशसिथ । ददते, ददाते, ददिरे । वादीनाम्—ववमतुः, ववमुः, ववमिथ । गुणस्य—विशशरतुः, विशशरुः, विशशरिथ; लुलविथ; पुपविथ ॥

भाषार्थः—[शसददवादिगुणानाम्] शस दद तथा वकार आदिवाली, एवं गुण ऐसा उच्चारण करके गुणादेश द्वारा निष्पन्न जो अकार, उसके स्थान में एत्व तथा अभ्यासलोप कित् ङित् लिट् एवं थल् परे रहते [न] नहीं होता है ॥ 'गुण' शब्द से यहाँ 'गुण करके जो निष्पन्न अकार' ऐसा अर्थ अभिप्रेत है । यथा शॄ को गुण करके जो शर् का अकार हुआ, उसको एत्व अभ्यासलोप नहीं होता । एवं लू को गुण तथा अवादेश करके जो अकार निष्पन्न हुआ, उसको भी नहीं होता ॥ अत एकहल्० (६।४।१२०) से सर्वत्र प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥

अर्वणस्त्रसावनञः ॥६।४।१२७॥

अर्वणः ६।१॥ तृ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ असौ ७।१॥ अनञः ५।१॥ स०—असौ, अनञ इत्युभयत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—अर्वन् इत्येतस्याङ्गस्य तृ इत्ययमादेशो भवति, सुश्चेत्ततः परो न भवति, स च नञ उत्तरो न भवति ॥ उदा०—अर्वन्तौ, अर्वन्तः, अर्वन्तम्, अर्वन्तौ, अर्वतः, अर्वता, अर्वद्भ्याम्, अर्वद्भिः । अर्वती, आर्वतम् ॥

भाषार्थः—[अर्वणः] अर्वन् अङ्ग को [तृ] तृ आदेश होता है, यदि अर्वन् शब्द से परे [असौ] सु न हो, तथा वह अर्वन् शब्द [अनञः] नञ् से उत्तर भी न हो ॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् न् को तृ आदेश होकर अर्वतृ रहा। ऋकार की इत् संज्ञा होने से उगिदचां० (७।१।७०) से नुम् आगम होकर अर्वन्त् औ = अर्वन्तौ बना । उगितश्च (४।१।६) से ङीप् होकर अर्वती, तथा अपत्यार्थ विवक्षा में अण् होकर आर्वतम् बन गया ॥

यहाँ से 'तृ' की अनुवृत्ति ६।४।१२८ तक जायेगी ॥

मघवा बहुलम् ॥६।४।१२८॥

मघवा, सुब्व्यत्ययेनात्र षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ बहुलम् १।१॥ अनु०—तृ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मघवन् इत्येतस्याङ्गस्य बहुलं तृ इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—मघवान्, मघवन्तौ, मघवन्तः, मघवन्तम्, मघवन्तौ, मघवतः, मघवता । मघवती, माघवतम् । बहुलवचनात् न च भवति—मघवा, मघवानौ, मघवानः, मघवानम् मघवानौ, मघोनः, मघोना, मघोनी, माघवनम् ॥

भाषार्थः—[मघवा] मघवन् अङ्ग को [बहुलम्] बहुल करके तृ आदेश होता है ॥ मघवान् की सिद्धि में नुमादि कार्य परि० १।१।५ में प्रदर्शित चितवान् के समान जानें। जब तृ आदेश नहीं होगा, तो परि० १।१।४२ में प्रदर्शित 'राजा' के समान मघवा की सिद्धि होगी। मघवती माघवतम् में पूर्ववत् कार्य जानें ॥

भस्य ॥६।४।१२९॥

भस्य ६।१॥ अर्थः—अधिकारोऽयम् आ अध्यायपरिसमाप्तेः। यदित ऊर्ध्व-मनुक्रमिष्यामो भस्य इत्येवं तद् वेदितव्यम्॥ उदा०—वक्ष्यति पादः पत् (६।४।१३०)—द्विपदः पश्य, द्विपदा कृतम् ॥

भाषार्थः—भस्य यह अधिकारसूत्र है। अध्याय की समाप्तिपर्यन्त (६।४।१७५ तक) जायेगा। अतः आगे [भस्य] भ-संज्ञक को ऐसा अर्थ सर्वत्र सूत्रों में होता जायेगा ॥ यचि भम् (१।४।१८) से यकारादि अजादि सर्वनामस्थानभिन्न स्वादि प्रत्ययों के परे रहते पूर्व की भ संज्ञा कही है। अतः द्विपदः द्विपदा में शस् एवं टा परे रहते पूर्व की भ-संज्ञा होकर पादः पत् (६।४।१३०) से पाद् शब्द को पद् आदेश हो गया है ॥

पादः पत् ॥६।४।१३०॥

पादः ६।१॥ पत् १।१॥ अनु०—भस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—पाद्शब्दान्तस्याङ्गस्य भस्य पद् इत्ययमादेशो भवति॥उदा०—द्विपदः पश्य, द्विपदा कृतम्, द्विपदे, द्विपदिकां ददाति, त्रिपदिकां ददाति, वैयाघ्रपद्यः ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक [पादः] पाद्शब्दान्त अङ्ग को [पत्] पत् आदेश हो जाता है ॥ पाद् शब्द यहाँ अकारलोप किया हुआ लिया गया है। द्वौ पादौ अस्य द्विपाद्, यहाँ संख्यासुपूर्वस्य (५।४।१४०) से 'पाद' के 'द' के 'अ' का लोप होता है। द्विपदिकाम्, यहाँ पादशतस्य० (५।४।१) से वुन् प्रत्यय, एवं द के अ का लोप होता है। वैयाघ्रपद्यः, यहाँ पादस्य लोपो० (५।४।१३८) से अकारलोप हुआ है। इस प्रकार सर्वत्र हलन्त पाद् शब्द है। वैयाघ्रपद्यः में यञ् (४।१।१०५ से) परे रहते पाद् की भ-संज्ञा है, सो पत् आदेश हो गया ॥ समास में ही पाद के अकार का सर्वत्र लोप होता है, अतः 'पाद्शब्दान्त' ऐसा अर्थ किया है । 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इस नियम से सूत्र में निर्दिष्ट शब्द पाद् को ही पत् आदेश होगा, न कि सम्पूर्ण तदन्त शब्द को ॥

वसोः सम्प्रसारणम् ॥६।४।१३१॥

वसोः ६।१॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ अनु०—भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—वस्वन्तस्याङ्गस्य भस्य सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—विदुषः पश्य । विदुषा, विदुषे । पेचुषः पश्य, पेचुषा, पेचुषे । ययुषः ॥

भाषार्थः—[वसोः] वसु अन्तवाले भसंज्ञक अङ्ग को [सम्प्रसारणम्] सम्प्रसारण होता है ।। 'विद ज्ञाने' धातु से शतृ (३।२।१२४) प्रत्यय होकर 'विद् शतृ शस्' रहा । विदेः शतुर्वसुः (७।१।३६) से शतृ के स्थान में १।१।५४ से वसु आदेश होकर 'विद् वस् शस्' रहा। अब भ संज्ञा होकर सम्प्रसारण,एवं (८।३।५९ से) षत्व होकर विदुषः बना । इसी प्रकार पच धातु से लिट् होकर, तथा लिट् के स्थान में क्वसुश्च (३।२।११७) से क्वसु होकर 'पच् क्वसु' रहा । लिट्स्थानी क्वसु होने से लिट् के सब कार्य द्वित्वादि होकर 'प पच् वस्' रहा । अत एकहल्० (६।४।१२०) से अभ्यासलोप एवं एत्व होकर 'पेच् वस् शस्' रहा । सम्प्रसारण होकर पेचुषः बन गया । या से क्वसु होकर 'या या क्वसु'=य या वसु शस्=य या उस् अस्, यहाँ आतो लोप इटि च (६।४।६४) से आकारलोप होकर ययुषः बना । सम्प्रसारण हो जाने पर वलादि आर्धधातुक न होने से ७।२।६७ से इट् नहीं होता ।।

यहाँ से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति ६।४।१३३ तक जायेगी ।।

वाह ऊठ् ।।६।४।१३२।।

वाहः ६।१।। ऊठ् १।१।। अनु०—सम्प्रसारणम्, भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—वाह इत्येवमन्तस्याङ्गस्य भस्य ऊठ् इत्येतत् सम्प्रसारणं भवति ।। उदा०—प्रष्ठौहः, प्रष्ठौहा, प्रष्ठौहे; दित्यौहः, दित्यौहा, दित्यौहे ।।

भाषार्थः—[वाहः] वाह् अन्तवाले भसंज्ञक अङ्ग को सम्प्रसारण-संज्ञक [ऊठ्] ऊठ् होता है । ऊठ् के सम्प्रसारणसंज्ञक होने से जिस प्रकार सम्प्रसारण 'यण्' के स्थान में होता है, उसी प्रकार ऊठ् भी यण् के स्थान में, अर्थात् 'व्' को होता है । अन्यथा अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् को होता । सिद्धियाँ एत्येधत्यूठ्सु (६।१।८६) सूत्र में देखें ।।

श्वयुवमघोनामतद्धिते ।।६।४।१३३।।

श्वयुवमघोनाम् ६।३।। अतद्धिते ७।१।। स०—श्वा च युवा च मघवा च श्वयुवमघवानः, तेषां ...... इतरेतरद्वन्द्वः । अतद्धित इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—सम्प्रसारणम्, भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—श्वन्, युवन्, मघवन् इत्येतेषां भसंज्ञकानामङ्गानामतद्धिते प्रत्यये परतः सम्प्रसारणं भवति ।। उदा०—शुनः, शुना, शुने । यूनः, यूना, यूने । मघोनः, मघोना, मघोने ।।

भाषार्थः—[श्वयुवमघोनाम्] श्वन्, युवन्, मघवन् इन भसंज्ञक अङ्गों को [अतद्धिते] तद्धितभिन्न प्रत्यय परे रहते सम्प्रसारण होता है ।। युवन् के व् को सम्प्रसारण 'उ' होकर सवर्णदीर्घत्व होता है । तथा मघवन् को सम्प्रसारण होकर

आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश हो जाता है । सम्प्रसारण करने पर सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) सूत्र लग ही जायेगा ।।

अल्लोपोऽनः ।।६।४।१३४।।

अल्लोपः १।१।। अनः ६।१।। स०—अतो लोपोऽल्लोपः, षष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—भस्य, अङ्गस्य ।। **अर्थः**—अन् इत्येवमन्तस्याङ्गस्य भस्य अनोऽकारलोपो भवति ।। उदा०—राज्ञः पश्य, राज्ञा, राज्ञे । तक्ष्णः पश्य, तक्ष्णा, तक्ष्णे ।।

भाषार्थः—[अनः] अन् है अन्त में जिसके, ऐसे भसंज्ञक अङ्ग के अन् के [अल्लोपः] अकार का लोप होता है ।। राजन् शस्, यहाँ अकारलोप होने पर श्चुत्व (८।४।३९ से) होकर राज्ञः बना । तक्षन् शस् = तक्ष्न् अस् = तक्ष्णः णत्व होकर बन गया ।।

यहाँ से 'अत्' की अनुवृत्ति ६।४।१३८ तक, तथा 'लोपः' की ६।४।१४५ तक, एवं 'अनः' की ६।४।१३७ तक जायेगी ।।

षपूर्वहन्धृतराज्ञामणि ।।६।४।१३५।।

षपूर्वहन्धृतराज्ञाम् ६।३।। अणि ७।१।। स०—षकारः पूर्वो यस्मात् स षपूर्वः, बहुव्रीहिः । षपूर्वश्च हन् च धृतराजा च षपूर्वहन्धृतराजानः, तेषाम्···इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—अल्लोपोऽनः, भस्य, अङ्गस्य ।। **अर्थः**—षकारपूर्वो योऽन् तदन्तस्य, हनो धृत-राज्ञश्च अङ्गस्य भस्य अनोऽकारस्य अणि परतो लोपो भवति ।। उदा०—षपूर्व—उक्ष्णोऽपत्यम् = औक्ष्णः, ताक्ष्णः । हन्—भ्रूणं हतवान्—भ्रौणघ्नः । धृतराजन्—धार्तराज्ञः ।।

भाषार्थः—[षपूर्वहन्धृतराज्ञाम्] षकार पूर्व में है जिसके, ऐसा जो अन् तदन्त, तथा हन् एवं धृतराजन् भ-संज्ञक अङ्ग के अन् के अकार का लोप होता है, [अणि] अण् परे रहते ।। अन् (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव होने से अल्लोपोऽनः से अकारलोप प्राप्त नहीं था, इसलिये यह सूत्र है ।। उक्षन् तक्षन् शब्द षकारपूर्व अन्वाले हैं, अतः अपत्यार्थक (४।१।९२) अण् के परे रहते अकारलोप हो गया है । भ्रौणघ्नः में ब्रह्मभ्रूण० (३।२।८७) से क्विप् करके पश्चात् अण् (४।१।९२ से) हुआ है । हो हन्तेर्ञ्णि० (७।४।५४) से यहाँ ह् को कुत्व भी हो जाता है । धृत-राजन् शब्द में भी बहुव्रीहि समास होकर पूर्ववत् अण् प्रत्यय परे अकारलोप, एवं श्चुत्व होकर धार्तराज्ञः बना है ।।

विभाषा ङिश्योः ।।६।४।१३६।।

विभाषा १।१।। ङिश्योः ७।२।। स०—ङिश्योः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—

अल्लोपोऽनः, अङ्गस्य ।। अर्थः—ङि शी इत्येतयोः परतः अनोऽकारस्य विकल्पेन लोपो भवति ।। उदा०—ङि—राज्ञि, राजनि; साम्नि; सामनि । शी—साम्नी, सामनी ।।

भाषार्थः—[ङिश्योः] ङि तथा शी विभक्ति परे रहते अन् के अकार का लोप [विभाषा] विकल्प से हो जाता है ।। 'सामन् औ', यहाँ नपुंसकाच्च (७।१।१९) से औ को शी, तथा म के अ का लोप होकर साम्नी बना । पक्ष में सामनी बनेगा ।।

न संयोगाद्वमन्तात् ।।६।४।१३७।।

न अ० ।। संयोगात् ५।१।। वमन्तात् ५।१।। स०—वश्च मश्च वमौ, वमौ अन्ते यस्य स वमन्तः, तस्मात् ·····द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ।। अनु०—अल्लोपोऽनः, भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—वकारान्तात् मकारान्तात् संयोगादुत्तरस्य अनोऽकारस्य लोपो न भवति ।। उदा०—वकारान्तात्—पर्वणा, पर्वणे; अथर्वणा, अथर्वणे । मकारान्तात्—चर्मणा, चर्मणे ।।

भाषार्थः—[वमन्तात्] वकार तथा मकार अन्त में जिसके, ऐसे [संयोगात्] संयोग से उत्तर (तदन्त भसंज्ञक) अन् के अकार का लोप [न] नहीं होता ।। पर्वन् अथर्वन् में र् तथा व् का संयोग है, उससे उत्तर जो अन् उसका लोप नहीं हुआ । इसी प्रकार चर्मन् में र् तथा म् का संयोग है । अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ।।

अचः ।।६।४।१३८।।

अचः ६।१।। अनु०—अल्लोपः, भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—अच इत्ययमञ्चतिर्लुप्तनकारो गृह्यते ।। तदन्तस्य भस्य अकारस्य लोपो भवति।।उदा०—दधीचः पश्य, दधीचा, दधीचे । मधूचः पश्य, मधूचा, मधूचे ।।

भाषार्थः—अञ्चु धातु के नकार का लोप करके अचः यह निर्देश किया गया है ।। भसंज्ञक लुप्तनकारवाले [अचः] अञ्चु के अकार का लोप होता है ।। सिद्धियाँ ६।३।१३६ सूत्र में देखें ।।

यहाँ से 'अचः' की अनुवृत्ति ६।४।१३९ तक जायेगी ।।

उद ईत् ।।६।४।१३९।।

उदः ५।१।। ईत् १।१।। अनु०—अचः, भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—उद् उत्तरस्य भसंज्ञकस्याच ईकारादेशो भवति ।। उदा०—उदीचः, उदीचा, उदीचे ।।

भाषार्थः—[उदः] उत् उपसर्ग से उत्तर भसंज्ञक (अञ्चु) अच् को [ईत्] ईकारादेश होता है ।। आदेः परस्य (१।१।५३) से आदि अक्षर 'अ' को 'ई' होगा ।।

आतो धातोः ॥६।४।१४०॥

आतः ६।१॥ धातोः ६।१॥ अनु०—लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आकारान्तो यो धातुस्तदन्तस्य, भस्याङ्गस्य, लोपो भवति ॥ उदा०—कीलालपः पश्य, कीलालपा, कीलालपे; शुभंयः पश्य, शुभंया, शुभंये ॥

भाषार्थः—[आतः] आकारान्त जो [धातोः] धातु तदन्त भसंज्ञक अङ्ग के आकार का लोप होता है ॥ यहाँ आकारान्त पा या धातुओं से आतो मनिन्क्व० (३।२।७४) से विच् प्रत्यय उदाहरणों में होता है। अतः उदाहरणों में आकारान्त धातु के आकार का (१।१।५१) लोप प्रकृतसूत्र से हुआ है ॥

मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः ॥६।४।१४१॥

मन्त्रेषु७।३॥ आङि ।।७।१॥ आदेः६।१॥ आत्मनः६।१॥ अनु०—लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आङि परतो मन्त्रेषु आत्मन आदेर्लोपो भवति ॥ उदा०—त्मना देवेषु (ऋ० ७।७।१); त्मना सोमेषु ॥

भाषार्थः—[मन्त्रेषु] मन्त्र-विषय में [आङि] आङ् (=टा) परे रहते [आत्मनः] आत्मन् शब्द के [आदेः] आदि (=आकार) का लोप होता है ॥ पूर्वाचार्यों की टा तृतीया एकवचन के लिये 'आङ्' यह संज्ञा है ॥

ति विंशतेर्डिति ॥६।४।१४२॥

ति लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ विंशतेः ६।१॥ डिति ७।१॥ अनु०—लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भसंज्ञकस्य विंशतेस्तिशब्दस्य डिति प्रत्यये परतो लोपो भवति ॥ उदा०—विंशत्या क्रीतः=विंशकः। विंशतिरधिकाऽस्मिन्=विंशं शतम् । विंशतेः पूरणो विंशः, एकविंशः ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक [विंशतेः] विंशति अङ्ग के [ति] ति का [डिति] डित् प्रत्यय परे रहते लोप होता है ॥ विंशकः में विंशतित्रिंशद्भ्यां० (५।१।२४) से ड्वुन् डित् प्रत्यय हुआ है। तथा विंशम् में शदन्तविंशतेश्च (५।२।४६) से ड प्रत्यय हुआ है। एवं विंशः और एकविंशः में तस्य पूरणे डट् (५।२।४८) से डट् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'डिति' की अनुवृत्ति ६।४।१४३ तक जायेगी ॥

टेः ॥६।४।१४३॥

टेः ६।१॥ अनु०—डिति, लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति, डिति प्रत्यये परतः ॥ उदा०—कुमुद्वान्, नड्वान्, वेतस्वान्; उपसरजः, मन्दुरजः; त्रिंशता क्रीतः त्रिंशकः ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक अङ्ग की [टेः] टि का लोप होता है, डित् प्रत्यय के परे रहते ॥ कुमुद्वान् नड्वान् में कुमुदनडवेत० (४।२।८६) से ड्मतुप् प्रत्यय होता है। अतः कुमुद के टि (१।१।६३) भाग 'अ' का लोप होता है। सिद्धि उसी प्रकरण में देखें। उपसरजः में सप्तम्यां जनेर्डः (३।२।९७) से ड प्रत्यय हुआ है। त्रिंशकः में पूर्ववत् ड्वुन् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'टेः' की अनुवृत्ति ६।४।१४५ तक जायेगी ॥

नस्तद्धिते ॥६।४।१४४॥

नः ६।१॥ तद्धिते ७।१॥ अनु०—टेः, लोपः, भस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—नकारान्तस्य भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति तद्धिते परतः ॥ उदा०—अग्निशर्मणोऽपत्यम्= आग्निशर्मिः, औडुलोमिः ॥

भाषार्थः—[नः] नकारान्त भसंज्ञक अङ्ग के टि भाग का लोप होता है, [तद्धिते] तद्धित परे रहते ॥ अग्निशर्मन् तथा उडुलोमन् शब्द से बाह्वादिभ्यश्च (४।१।९६) से इञ् तद्धित प्रत्यय हुआ है। अतः उसके परे रहते टि भाग 'अन्' का लोप होगया है ॥

यहाँ से 'तद्धिते' की अनुवृत्ति ६।४।१४९ तक जायेगी ॥

अह्नष्टखोरेव ॥६।४।१४५॥

अह्नः ६।१॥ टखोः ७।२॥ एव अ० ॥ स०—टश्च खश्च टखौ, तयोः……… इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तद्धिते, टेर्लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अहन् इत्येतस्याङ्गस्य टखोरेव परतः टेर्लोपो भवति ॥ उदा०—द्व्यहः, त्र्यहः । खे—द्वे अहनी अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा द्व्यहीनः, त्र्यहीनः । अह्नां समूहः क्रतुः=अहीनः क्रतुः ॥

भाषार्थः—[अह्नः] अहन् इस अङ्ग के टि भाग को [टखोः] ट तथा ख तद्धित प्रत्यय परे रहते [एव] ही लोप होता है ॥ नान्त होने से पूर्वसूत्र से ही टिलोप प्राप्त था, नियमार्थ यह सूत्र है। अर्थात् ट ख परे हो लोप होगा, अन्य किसी के परे नहीं होगा ॥

द्व्यहः त्र्यहः की सिद्धि भाग १, परि० २।१।२२ में देखें। द्व्यहीनः में रात्र्यहः० (५।१।८६) से ख प्रत्यय होता है। तथा अहीनः में अह्नः खः क्रतौ (वा० ४। २।४१) इस वार्तिक से ख प्रत्यय होता है ॥

ओर्गुणः ॥६।४।१४६॥

ओः ६।१॥ गुणः १।१॥ अनु०—तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—उवर्णान्तस्याङ्गस्य भस्य गुणो भवति तद्धिते परतः ॥ उदा०—बाभ्रव्यः, माण्डव्यः, शङ्कव्यं दारु, पिचव्यः कार्पासः, कमण्डलव्या मृत्तिका, परशव्यः, औपगवः, कापटवः ॥

भाषार्थः—[ओः] उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग को [गुणः] गुण होता है, तद्धित परे रहते ॥ बाभ्रव्यः, माण्डव्यः की सिद्धि भाग २, सूत्र ४।१।१०६ में देखें। शङ्कव्यम् आदि में उगवादिभ्यो यत् (५।१।२) से यत् प्रत्यय होगा, सिद्धि बाभ्रव्यः के समान है। औपगवः कापटवः की सिद्धि परि० १।१।१ पृ० ६६२ में देखें ॥

यहां से 'ओः' की अनुवृत्ति ६।४।१४७ तक जायेगी ॥

ढे लोपोऽकद्र्वाः ॥६।४।१४७॥

ढे ७।१॥ लोपः १।१॥ अकद्र्वाः ६।१॥ स०—अकद्र्वा इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—ओः, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—कद्रूवर्जितस्योवर्णान्तस्याङ्गस्य भस्य ढे परतो लोपो भवति ॥ उदा०—कामण्डलेयः, जाम्बेयः, माद्रबाहेयः, शैतिबाहेयः ॥

भाषार्थः—[अकद्र्वाः] कद्रू को छोड़कर जो उवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग उसका [ढे] ढ तद्धित प्रत्यय परे रहते [लोपः] लोप होता है ॥ कामण्डलेयः में चतुष्पादभ्यो ढञ् (४।१।१३५) से ढञ् प्रत्यय हुआ है। मद्रबाहु शब्द से बाह्वन्तात्० (४।१।६७) से ऊङ् प्रत्यय करके, तदन्त से स्त्रीभ्यो ढक् (४।१।१२०) से ढक् हुआ है। अन्त्य अल् का लोप सर्वत्र जानें। जम्बू शृगाल का, तथा कमण्डलु शितिबाहु शब्द पशुविशेष के वाचक हैं ॥

यहां से 'लोपः' की अनुवृत्ति ६।४।१५६ तक जायेगी ॥

यस्येति च ॥६।४।१४८॥

यस्य ६।१॥ ईति ७।१॥ च अ० ॥ स०—इश्च अश्च यम् (गुणादेशे कृते), तस्य...समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—लोपः, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इवर्णान्तस्य अवर्णान्तस्य चाङ्गस्य भस्य ईकारे तद्धिते च परतो लोपो भवति ॥ उदा०—इवर्णान्तस्य ईकारे—दाक्षी, प्लाक्षी, सखी। इवर्णान्तस्य तद्धिते—दुलि=दौलेयः, बलि=बालेयः, अत्रि=आत्रेयः। अवर्णान्तस्य ईकारे—कुमारी, गौरी, शार्ङ्गरवी। अवर्णान्तस्य तद्धिते—दाक्षिः, प्लाक्षिः, चौडिः, बालाकिः, सौमित्रिः ॥

भाषार्थः—[यस्य] इवर्णान्त तथा अवर्णान्त भसंज्ञक अङ्ग का लोप होता है, [ईति] ईकार [च] तथा तद्धित के परे रहते ॥ पूर्ववत् अन्त्य वर्ण का लोप होगा ॥ दाक्षी प्लाक्षी में इतो मनुष्यजातेः (४।१।६५) से ङीष् होता है। सो ङीष् परे इकारलोप हुआ है। सखी शब्द भी सख्यशि० (४।१।६२) से ङीष्-प्रत्ययान्त निपातित है। दौलेयः आदि में इतश्चानिञः (४।१।१२२) से ढक् प्रत्यय हुआ है। कुमारी आदि की सिद्धि भाग २, परि० ४।१।२ देखें दाक्षिः आदि में

अत इञ् (४।१।९५) से इञ्, तथा बालाकिः सौमित्रिः में बाह्वादिभ्यश्च (४।१।९६) से इञ् हुआ है। सो उसके परे प्रकृतसूत्र से अवर्ण का लोप हुआ है ॥

यहाँ से 'ईति' की अनुवृत्ति ६।४।१५० तक जायेगी ॥

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानां य उपधायाः ॥६।४।१४९॥

सूर्यतिष्यागस्त्यमत्स्यानाम् ६।३॥ यः ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ स०—सूर्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—ईति, तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अङ्गस्य भसंज्ञकस्योपधायकारस्य लोपो भवति, ईति परतस्तद्धिते च, स चेद्यकारः सूर्य तिष्य अगस्त्य मत्स्य इत्येतेषां सम्बन्धी भवति ॥ उदा०—सौरी बलाका। तिष्य—तैषमहः; तैषी रात्रिः। अगस्त्य—आगस्ती; आगस्तीयः। मत्स्य—मात्सी ॥

भाषार्थः—भसंज्ञक अङ्ग के [उपधायाः] उपधा [यः] यकार का लोप होता है, ईकार तथा तद्धित के परे रहते, यदि वह 'य' [सूर्य ... नाम्] सूर्य तिष्य अगस्त्य तथा मत्स्य सम्बन्धी हो ॥ उदाहरणों में पहिले अवर्ण का लोप यस्येति च (६।४।१४८) से होगा, पीछे 'य' का लोप प्रकृत सूत्र से होगा ॥ असिद्धवदत्राभात् के नियम से अकारलोप के असिद्ध होने से 'य' से परे ई वा तद्धित नहीं रहता। अतः उपधा ग्रहण किया है। सिद्धि परिशिष्ट में देखें ॥

यहाँ से 'यः' की अनुवृत्ति ६।४।१५२ तक, तथा 'उपधायाः' की ६।४।१५० तक जायेगी ॥

हलस्तद्धितस्य ॥६।४।१५०॥

हलः ५।१॥ तद्धितस्य ६।१॥ अनु०—उपधायाः, यः, ईति, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—हल उत्तरस्य भसंज्ञकस्याङ्गस्योपधाभूतस्य तद्धितयकारस्य ईति परतो लोपो भवति ॥ उदा०—गार्गी, वात्सी ॥

भाषार्थः—[हलः] हल् से उत्तर भसंज्ञक अङ्ग के उपधाभूत [तद्धितस्य] तद्धित यकार का [च] भी ईकार परे रहते लोप होता है ॥ सिद्धि भाग २, परि० ४।१।१६ में देखें। यहाँ गार्ग्य का य् तद्धित का एवं हल् से उत्तर है। 'य्' का लोप करते समय अलोप असिद्ध (६।४।२२ से) हो जाता है, अतः य् की उपधा संज्ञा होगी ॥

यहाँ से 'हलः' की अनुवृत्ति ६।४।१५२ तक जायेगी ॥

आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ॥६।४।१५१॥

आपत्यस्य ६।१॥ च अ० ॥ तद्धिते ७।१॥ अनाति ७।१॥ स०—न आत् अनात्, तस्मिन् ... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—हलः, यः, लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥

अपत्यस्य इदम् आपत्यम्, तस्य...... ॥ अर्थः—हल उत्तरस्य भसंज्ञकस्याङ्गस्य आपत्ययकारस्यानाकारादौ तद्धिते परतो लोपो भवति ॥ उदा०—गार्गाणां समूहो= गार्गकम्, वात्सकम् ॥

भाषार्थः—हल् से उत्तर भसंज्ञक अङ्ग के [आपत्यस्य] अपत्य-सम्बन्धी यकार का [च] भी [अनाति] अनाकारादि [तद्धिते] तद्धित परे रहते लोप होता है ॥ गार्ग्य तथा वात्स्य यञन्त शब्द से गोत्रोक्षोष्ट्रो० (४।२।३८) से वुञ् तद्धित प्रत्यय होता है, सो उसके परे रहते य् का लोप हो गया। अकार का यस्येति च (६।४।१४८) से लोप हो ही जायेगा। यञ् प्रत्यय (४।१।१०५ से) अपत्य अर्थ में ही हुआ है। अतः अपत्य-सम्बन्धी यकार है ही ॥

यहाँ से 'आपत्यस्य' की अनुवृत्ति ६।४।१५२ तक, तथा 'तद्धिते' की ६।४।१५३ तक जायेगी ॥

क्यच्व्योश्च ॥६।४।१५२॥

क्यच्व्योः ७।२॥ च अ०॥ स०—क्यं० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—आपत्यस्य, हलः, लोपः, अङ्गस्य॥ अर्थः—हल उत्तरस्य अङ्गस्यापत्ययकारस्य क्य च्वि इत्येतयोश्च परतो लोपो भवति ॥ उदा०—वात्सीयति, गार्गीयति; वात्सीयते, गार्गीयते। च्वौ—गार्गीभूतः, वात्सीभूतः ॥

भाषार्थः—हल् से उत्तर अङ्ग के अपत्य-सम्बन्धी यकार का [क्यच्व्योः] क्य तथा च्वि परे रहते [च] भी लोप होता है ॥ पूर्ववत् य् अपत्यसम्बन्धी है ॥ गार्गीयति, वात्सीयति की सिद्धि परि० २।४।७१ के पुत्रीयति के समान जानें ॥ गार्गीयते वात्सीयते में कर्त्तुः क्यङ्० (३।१।११) से क्यङ् हुआ है, अतः ङित् होने से आत्मनेपद हो गया। गार्गीभूतः में कृभ्वस्तियोगे० (५।४।५०) से च्वि होता है, सिद्धि वहीं देखें ॥ 'क्य' से क्यच् तथा क्यङ् दोनों ही सामान्यनिर्देश से गृहीत हैं ॥

बिल्वकादिभ्यश्छस्य लुक् ॥६।४।१५३॥

बिल्वकादिभ्यः ५।३॥ छस्य ६।१॥ लुक् १।१॥ स०—बिल्वक् आदिर्येषां ते बिल्वकादयः, तेभ्यः...... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तद्धिते, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—बिल्वकादिभ्य उत्तरस्य भसंज्ञकस्य छस्य तद्धिते परतो लुक् भवति ॥ उदा०—बिल्वा यस्यां सन्ति बिल्वकीया, तस्यां भवाः बैल्वकाः। वेणुकीयाः—वैणुकाः। वेत्रकीयाः= वैत्रकाः ॥

भाषार्थः—[बिल्वकादिभ्यः] बिल्वकादि शब्दों से उत्तर भसंज्ञक [छस्य]

छ का [लुक्] लुक् (=अदर्शन) होता है ॥ बिल्वादि शब्द नडादिगण में पठित हैं। सो नडादीनां कुक् च (४।२।९०) से कुक् आगम करके सूत्र में बिल्वक् निर्देश किया है। 'छ' प्रत्यय करने पर बिल्वकीया वेणुकीया बना। पश्चात् तत्र भवः (४।३।५३) से अण् करके, उस अण् तद्धित के परे रहते छ अर्थात् ईय् का लुक् हो गया, तो आदि अच् को वृद्धि आदि कार्य होकर बैल्वकाः वैणुकाः वैत्रकाः बन गये ॥

तुरिष्ठेमेयस्सु ॥६।४।१५४॥

तुः-६।१॥ इष्ठेमेयस्सु ७।३॥ स०—इष्ठश्च इमा च ईयांश्च इष्ठेमेयांसः, तेषु ······ इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तृ इत्येतस्य भस्याङ्गस्य इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् इत्येतेषु परतो लोपो भवति ॥ उदा०—इष्ठन्—आसुतिं करिष्ठः, विजयिष्ठः, वहिष्ठः। ईयसुन्—दोहीयसी धेनुः ॥

भाषार्थः—[तुः] तृ का लोप होता है [इष्ठेमेयस्सु] इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते ॥ नकारलोप करके 'इष्ठेमेयस्सु' निर्देश किया है। इमनिच् ग्रहण उत्तरार्थ है, क्योंकि तृन्त से 'तुश्छन्दसि' (५।३।५९) से इष्ठन् ईयसुन् का ही विधान है, न कि इमनिच् का। अतः यहाँ इष्ठन् ईयसुन् के ही उदाहरण दिये हैं। करिष्ठः तथा दोहीयसी की सिद्धि भाग २, परि० ५।३।५९ में देखें। इसी प्रकार इष्ठन् परे रहते विजेतृ से विजयिष्ठः, एवं वोढृ से वहिष्ठः बना है ॥

यहाँ से 'इष्ठेमेयस्सु' की अनुवृत्ति ६।४।१६३ तक जायेगी ॥

टेः ॥६।४।१५५॥

टेः ६।१॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, लोपः, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इष्ठेमेयस्सु परतः भसंज्ञकस्याङ्गस्य टेर्लोपो भवति ॥ उदा०—पटु—पटिष्ठः, पटिमा, पटीयान्। लघु—लघिष्ठः, लघिमा, लघीयान् ॥

भाषार्थः—इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते भसंज्ञक अङ्ग के [टेः] टि भाग का लोप होता है। सिद्धियाँ भाग २, सूत्र ५।३।५५ एवं ५७ में देखें। ईयसुन्= ईयस् के परे रहते नुम् आगमादि कार्य परि० १।१।१ के चितवान् के सदृश हो ही जायेंगे ॥

स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः ॥६।४।१५६॥

स्थूल··· णाम् ६।३॥ यणादिपरम् १।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ च अ० ॥ गुणः १।१॥ स०—स्थूल० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। यण् आदिर्यस्य तद् यणादि, बहुव्रीहिः। यणादि च अदः परञ्च यणादिपरम्, कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु,

लोप:, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थ:—स्थूल, दूर, युव, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र इत्येतेषां यणादि-परं लुप्यते, इष्ठेमेयस्सु परत:, पूर्वस्य च गुणो भवति ॥ उदा०—स्थूल—स्थविष्ठ:, स्थवीयान् । दूर—दविष्ठ:, दवीयान् । युवन्—यविष्ठ:, यवीयान् । ह्रस्व—ह्रसिष्ठ:, ह्रसीयान्, ह्रसिमा । क्षिप्र—क्षेपिष्ठ:, क्षेपीयान्, क्षेपिमा । क्षुद्र—क्षोदिष्ठ:, क्षोदीयान्, क्षोदिमा ॥

भाषार्थ:—[स्थूल ··· णाम्] स्थूल, दूर, युव, ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र इन अङ्गों का [यणादिपरम्] पर जो यणादि भाग उसका लोप होता है, इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते, [च] तथा उस यणादि से [पूर्वस्य] पूर्व को [गुण:] गुण होता है ॥ स्थूल दूर आदि में पर जो ल र आदि यणादि (शब्द) उनका लोप, तथा पूर्व इक् के स्थान में (१।१।३) गुण होकर स्थो इष्ठ = स्थविष्ठ: बनता है । पर यणादि का लोप इसलिये कहा कि युव ह्रस्व शब्दों के पूर्ववाले यणादि का लोप न हो जाये । ह्रस्व क्षिप्र क्षुद्र शब्द पृथ्वादि गण में पढ़े हैं, अत: पृथ्वादिभ्य: (५।१।१२१) से इमनिच् हुआ है । इस प्रकार इन्हीं शब्दों के इमनिच् परे का उदाहरण है, अन्यों का नहीं । ह्रस्व शब्द में यणादि पर से पूर्व इक् न होने से गुण नहीं हुआ है । ईयसुन् में सु परे रहते पूर्ववत् नुमादि होकर सिद्धि जानें ॥

प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दा: ॥६।४।१५७॥

प्रिय ····णाम् ६।३॥ प्रस्थ ····वृन्दा: १।३॥ स०—उभयत्रेतरेतरद्वन्द्व: ॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य॥ अर्थ:—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इत्येतेषामङ्गानां स्थाने प्र, स्थ, स्फ, वर, बंहि, गर, वर्षि, त्रप, द्राघि, वृन्द इत्येते यथासंख्यमादेशा भवन्ति, इष्ठेमेयस्सु परत: ॥ उदा०—प्रिय—प्रेष्ठ:, प्रेमा, प्रेयान् । स्थिर—स्थेष्ठ:, स्थेयान् । स्फिर—स्फेष्ठ:, स्फेयान् । उरु—वरिष्ठ:, वरिमा, वरीयान् । बहुल—बंहिष्ठ:, बंहिमा, बंहीयान् । गुरु—गरिष्ठ:, गरिमा, गरीयान् । वृद्ध—वर्षिष्ठ:, वर्षीयान् । तृप्र—त्रपिष्ठ:, त्रपीयान् । दीर्घ—द्राघिष्ठ:, द्राघिमा, द्राघीयान् । वृन्दारक—वृन्दिष्ठ:, वृन्दीयान् ॥ ॥१५७

भाषार्थ:—[प्रिय · णाम्] प्रिय, स्थिर, स्फिर, उरु, बहुल, गुरु, वृद्ध, तृप्र, दीर्घ, वृन्दारक इन अङ्गों को [प्रस्थ ·· वृन्दा:] प्र, स्थ, स्फ, वर, बंहि, गर, वर्षि, त्रप, द्राघि, वृन्द ये आदेश यथासंख्य करके हो जाते हैं, इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते ॥ प्रिय, उरु, गुरु, बहुल तथा दीर्घ शब्द पृथ्वादि गण में पढ़े हैं । अत: उनके ही इमनिच् परे का उदाहरण दिखाया है, अन्यों का नहीं ॥ बंहि के इकार का

टेः (६।४।१५५) से लोप होता है। प्रेष्ठः में टेः की प्रवृत्ति प्रकृत्यैकाच् (६।४।१६३) से प्रकृतिवत् होने से नहीं होती। सो आद् गुणः (६।१।८४) लगकर प्रेष्ठः बनता है॥

बहोर्लोपो भू च बहोः ॥६।४।१५८॥

बहोः ५।१॥ लोपः १।१॥ भू लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ च अ०॥ बहोः ६।१॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—बहोरुत्तरेषामिष्ठेमेयसां लोपो भवति, तस्य च बहोः स्थाने भू इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—भूयान्, भूमा॥

भाषार्थः—[बहोः] बहु शब्द से उत्तर इष्ठन्, इमनिच् तथा ईयसुन् का [लोपः] लोप होता है, और उस [बहोः] बहु के स्थान में [भू] भू आदेश [च] भी होता है॥ यहाँ 'इष्ठेमेयस्सु' षष्ठ्यन्त में बदल जाता है। बहु शब्द पृथ्वादि गण में पढ़ा है। इष्ठन् परे का उदाहरण यहाँ इसलिये नहीं दिखाया है, क्योंकि वह अगले सूत्र का उदाहरण बन जाता है, अतः वहीं देखें॥ आदेः परस्य (१।१।५३) से ईयसुन् इमनिच् के इवर्ण का ही लोप हुआ है। भू यस्=भूयान्। अनेकाल्० (१।१।५४) से सम्पूर्ण बहु को भू आदेश होगा॥

यहाँ से 'बहोः भू च बहोः' की अनुवृत्ति ६।४।१५९ तक जायेगी॥

इष्ठस्य यिट् च ॥६।४।१५९॥

इष्ठस्य ६।१॥ यिट् १।१॥ च अ०॥ अनु०—बहोः भू च बहोः, भस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—बहोः परस्य इष्ठन् इत्येतस्य यिट् आगमो भवति, बहोश्च भूरादेशो भवति॥ उदा०—भूयिष्ठः॥

भाषार्थः—बहु शब्द से उत्तर [इष्ठस्य] इष्ठन् को [यिट्] यिट् आगम होता है, [च] तथा बहु शब्द को भू आदेश भी होता है॥ यिट् में इकार उच्चारणार्थ है। टित् होने से इष्ठन् के आदि को यिट् होकर भू य् इष्ठ=भूयिष्ठः बन गया॥

ज्यादादीयसः ॥६।४।१६०॥

ज्यात् ५।१॥ आत् १।१॥ ईयसः ६।१॥ अनु०—भस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—ज्यात् उत्तरस्य ईयस आकार आदेशो भवति॥ उदा०—ज्यायान्॥

भाषार्थः—[ज्यात्] ज्य अङ्ग से उत्तर [ईयसः] ईयस् को [आत्] आकार आदेश होता है॥ पूर्ववत् आदि अक्षर ईयसुन् के 'ई' को आकारादेश होगा। ज्य च (५।३।६१) से प्रशस्य शब्द को ज्य आदेश होता है। ज्य आ यस्=ज्यायान्॥

र ऋतो हलादेर्लघोः ॥६।४।१६१॥

र: १।१॥ ऋतः ६।१॥ हलादेः ६।१॥ लघोः ६।१॥ स०—हल् आदिर्यस्य तद् हलादि, तस्य ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थ:—हलादेरङ्गस्य भस्य लघोः ऋकारस्य स्थाने र आदेशो भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ उदा०—प्रथिष्ठः, प्रथिमा, प्रथीयान् । म्रदिष्ठः, म्रदिमा, म्रदीयान् ॥

भाषार्थ:—[हलादेः] हल् आदिवाले भसंज्ञक अङ्ग के [लघोः] लघु [ऋतः] ऋकार के स्थान में [र] र् आदेश होता है, इष्ठन् इमनिच् तथा ईयसुन् परे रहते ॥ पृथु मृदु का ऋकार ह्रस्वं लघु (१।४।१०) से लघु-संज्ञक एवं हल् आदिवाला है, सो उसे र आदेश हो गया । यहाँ अकारविशिष्ट 'र' का ग्रहण है । सिद्धियाँ ५।१।१२१ सूत्र में ही देखें ॥

यहाँ से 'ऋतः' की अनुवृत्ति ६।४।१६२ तक जायेगी ॥

विभाषर्जोश्छन्दसि ॥६।४।१६२॥

विभाषा १।१॥ ऋजोः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—र ऋतः, इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थ:—छन्दसि विषये ऋजु इत्येतस्याङ्गस्य ऋतः स्थाने विभाषा र आदेशो भवति, इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ उदा०—रजिष्ठमेति पन्थानम् । त्वं रजिष्ठमनु नेषि (ऋ० १।९१।१) । पक्षे—त्वमृजिष्ठः ॥

भाषार्थ:—[ऋजोः] ऋजु अङ्ग के ऋकार के स्थान में [विभाषा] विकल्प से र आदेश होता है, [छन्दसि] वेद-विषय में, इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् परे रहते ॥ वेद का यथाप्राप्त इष्ठन् परे का ही उदाहरण यहाँ दिया है ॥ ऋजु इष्ठ, यहाँ टेः (६।४।१५५) से टि का लोप, एवं ऋ को र होकर रजिष्ठः बन गया ॥

प्रकृत्यैकाच् ॥६।४।१६३॥

प्रकृत्या ३।१॥ एकाच् १।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् तद् एकाच् बहुव्रीहिः ॥ अनु०—इष्ठेमेयस्सु, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थ:—एकाच् यद् भसंज्ञकमङ्गं तत् प्रकृत्या भवति इष्ठेमेयस्सु परतः ॥ उदा०—स्रजिष्ठः, स्रजीयान्, स्रजयति[1] । स्रुचिष्ठः, स्रुचीयान्, स्रुचयति[1] ॥

भाषार्थ:—[एकाच्] एक अच्वाला भसंज्ञक अङ्ग [प्रकृत्या] प्रकृति से रह जाता है, इष्ठन् इमनिच् ईयसुन् परे रहते ॥ अस्मायामेधा० (५।२।१२१) से

१. णाविष्ठवत् प्रातिपदिकस्य (वा० ६।४।१५५) से णिच् को इष्ठवत् कार्य होता है, अतः ये उदाहरण दिये हैं ॥

स्रग्विन् में विनि प्रत्यय होकर पश्चात् इष्ठन् आदि प्रत्यय हुये हैं। इष्ठन् आदि के परे विन्मतोर्लुक् (५।३।६५) से विन् का लुक् हुआ है। इस प्रकार स्रज् शब्द इष्ठनादि के परे एक अच् वाला है, अतः प्रकृतिभाव हो गया। प्रकृतिभाव होने से टेः (६।४।१५५) से जो टिभाग का लोप प्राप्त था, वह नहीं हुआ। इसी प्रकार स्रग्वत् मतुप्प्रत्ययान्त शब्द से स्रजिष्ठः आदि की सिद्धि जानें॥

यहाँ से 'प्रकृत्या' की अनुवृत्ति ६।४।१७० तक जायेगी॥

इनण्यनपत्ये ॥६।४।१६४॥

इन् १।१॥ अणि ७।१॥ अनपत्ये ७।१॥ स०—अन० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—अनपत्यार्थेऽणि परत इन्नन्तं भसंज्ञकमङ्गं प्रकृत्या भवति॥ उदा०—सांकुटिनम्, सांराविणम्, सांमार्जिनम्। स्रग्वी—स्रग्विण इदं स्राग्विणम्, तस्येदम् (४।३।१२०) इत्यण्॥

भाषार्थः—[अनपत्ये] अपत्य अर्थ से भिन्न अर्थ में वर्त्तमान [अणि] अण् प्रत्यय के परे रहते [इन्] इन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को प्रकृतिभाव हो जाता है। सिद्धियाँ परि० ३।३।४४, पृ० ६०७ में देखें। यहाँ अण् अपत्य अर्थ में नहीं आया है। इसी प्रकार मृजूष् धातु से सांमार्जिनम् भी समझें॥ नस्तद्धिते (६।४।१४४) की प्राप्ति में यह सूत्र है॥

यहाँ से 'इन्' की अनुवृत्ति ६।४।१६६ तक, तथा 'अणि' की ६।४।१७१ तक जायेगी॥

गाथिविदथिकेशिगणिपणिनश्च ॥६।४।१६५॥

गाथि.........नः १।३॥ च अ० ॥ स०—गाथी च विदथी च केशी च गणी च पणी च, गाथि.........नः, इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—इन्, अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन् इत्येते च अणि परतः प्रकृत्या भवन्ति॥ गाथिनोऽपत्यम्=गाथिनः, वैदथिनः, कैशिनः, गाणिनः, पाणिनः॥

भाषार्थः—[गाथि...नः] गाथिन्, विदथिन्, केशिन्, गणिन्, पणिन् इन अङ्गों को [च] भी अण् परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है॥ ये शब्द मत्वर्थीय इनि (५।२।११५) प्रत्ययान्त हैं॥ इन्नन्त होने से पूर्वसूत्र से ही प्रकृतिभाव सिद्ध था, यहाँ अपत्यार्थक अण् परे रहते भी हो जाये, इसलिये यह सूत्र है॥ सर्वत्र तस्यापत्यम् (४।१।९२) से अण् प्रत्यय हुआ है॥ पूर्ववत् नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टिलोप प्राप्त था, तदपवाद है॥

संयोगादिश्च ॥६।४।१६६॥

संयोगादिः १।१॥ च अ० ॥ स०—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—इन्, अणि, प्रकृत्या ॥ अर्थः—संयोगादिश्च इन् अणि परतः प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—शङ्खिनोऽपत्यं, शाङ्खिनः, माद्रिणः, वाज्रिणः ॥

भाषार्थः—[संयोगादिः] संयोग आदि में है, जिस 'इन्' के उसको [च] भी अण् परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ इस सूत्र का भी आरम्भ अपत्यार्थक अण् परे रहते भी हो जाये इसलिये है ॥ पूर्ववत् शङ्खिन् आदि इनिप्रत्ययान्त हैं, तदन्त से अण् प्रत्यय अपत्यार्थ में हुआ है। पूर्ववत् यहाँ भी टिलोप प्राप्त था ॥ शङ्खिन्, मद्रिन्, वज्रिन् में 'इन्' से पूर्व संयोग (ङ्ख् आदि का) है ही ॥

अन् ॥६।४।१६७॥

अन् १।१॥ अनु०—अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अन्नन्तं भसंज्ञकमङ्गमणि परतः प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—सामनः, वैमनः, सौत्वनः, जैत्वनः ॥

भाषार्थः—[अन्] अन् अन्तवाले, भसंज्ञक अङ्ग को अण् परे रहते प्रकृतिभाव हो जाता है ॥ सामान्य अण् (अपत्यार्थक हो या अनपत्यार्थक) परे रहते यह विधि है ॥ सामनः, वैमनः में तस्येदम् (४।३।१२०) से अण् हुआ है। षुञ् धातु से सुयजो० (३।२।१०३) से ङ्वनिप्, एवं ६।१।६९ से तुक् आगम होकर सुत्वन् बना। तत्पश्चात् तस्यापत्यम् (४।१।९२) से अण् होकर सौत्वनः बन गया। इसी प्रकार जि धातु से अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते (३।२।७५) से क्वनिप् होकर जित्वन् बनता है। पूर्ववत् नस्तद्धिते (६।४।१४४) से टिलोप प्राप्त था, तदपवाद है ॥

यहाँ से 'अन्' की अनुवृत्ति ६।४।१७० तक जायेगी ॥

ये चाभावकर्मणोः ॥६।४।१६८॥

ये ७।१॥ च अ० ॥ अभावकर्मणोः ७।२॥ स०—भावश्च कर्म च भावकर्मणी, न भावकर्मणी अभावकर्मणी, तयोः द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अन्, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य । आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति (६।४।१५१) इत्यतः 'तद्धिते' इत्यनुवर्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—यकारादौ च तद्धिते परतोऽभावकर्मणोरर्थयोरन् प्रकृत्या भवति ॥ उदा०—सामसु साधुः सामन्यः, वेमन्यः ॥

भाषार्थः—[अभावकर्मणोः] भाव तथा कर्म से भिन्न अर्थ में वर्तमान [ये]

यकारादि तद्धित के परे रहते [च] भी अन्नन्त भसंज्ञक अङ्ग को प्रकृतिभाव हो जाता है ।। सिद्धि तत्र साधुः (४।४।९८) सूत्र में देखें ।।

आत्माध्वानौ खे ।।६।४।१६९।।

आत्माध्वानौ १।२।। खे ७।१।। स०—आत्मा च अध्वा च आत्माध्वानौ, इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—आत्मन् अध्वन् इत्येतावङ्गौ खे प्रत्यये परतः प्रकृत्या भवतः ।। उदा०—आत्मने हितः=आत्मनीनः । अध्वानमलङ्गामी=अध्वनीनः ।।

भाषार्थः—[आत्माध्वानौ] आत्मन् तथा अध्वन् भसंज्ञक अङ्गों को [खे] ख प्रत्यय परे रहते प्रकृतिभाव होता है ।। आत्मनीनः में आत्मन्विश्व० (५।१।९) से ख प्रत्यय होता है । तथा अध्वनीनः में अध्वनो यत्खौ (५।२।१६) से ख होता है । उसके परे रहते पूर्ववत् (६।४।१४४ से) टिलोप प्राप्त था, प्रकृतिभाव कह दिया ।।

न मपूर्वोऽपत्येऽवर्म्मणः ।।६।४।१७०।।

न अ० ।। मपूर्वः १।१।। अपत्ये ७।१।। अवर्म्मणः ६।१।। स०—मकारः पूर्वो यस्य (अनः) स मपूर्वः, बहुव्रीहिः । न वर्म्मा अवर्म्मा, तस्य ..... नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—अन्, अणि, प्रकृत्या, भस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—अपत्यार्थकेऽणि परतोऽवर्म्मणो ऽङ्गस्य भस्य मपूर्वोऽन् प्रकृत्या न भवति ।। उदा०—सुषाम्णोऽपत्यं सौषामः, चान्द्रसामः ।।

भाषार्थः—[अपत्ये] अपत्यार्थक अण् के परे रहते [अवर्मणः] वर्म्मन् शब्द के अन् को छोड़कर जो [मपूर्वः] मकार पूर्ववाला अन्, उसको प्रकृतिभाव [न] नहीं होता ।। अन् (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव प्राप्त था, निषेध कर दिया । तो यथाप्राप्त सुषामन् चन्द्रसामन् के टि (अन्) का लोप नस्तद्धिते (६।४।१४४ से) अण् (४।१।९२) परे रहते हो गया । सुषामन् चन्द्रसामन् शब्दों के अन् से पूर्व मकार है ही । वर्म्मन् में भी मकार-पूर्व था, अतः निषेध कर दिया ।।

यहाँ से 'अपत्ये' की अनुवृत्ति ६।४।१७१ तक जायेगी ।।

ब्राह्मोऽजातौ ।।६।४।१७१।।

ब्राह्मः १।१।। अजातौ ७।१।। स०—न जातिः अजातिः, तस्याम् ... नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—अपत्ये ।। अर्थः—ब्राह्म इति निपात्यते, अपत्ये जातौ न ।। योगविभागोऽत्र कर्त्तव्यः । अजातावित्यनेन 'अपत्ये' इति सम्बध्यते, न तु निपातनेन । तेन ब्राह्म इत्यत्र

टिलोपो निपात्यतेऽनपत्येऽणि । 'ततोऽजातौ'—अपत्ये जातावणि ब्रह्मणः टिलोपो न भवतीत्ययमर्थः सम्पद्यते ॥ उदा०—ब्राह्मो गर्भः, ब्राह्मम् अस्त्रम्, ब्राह्मं हविः ॥ अपत्ये जातौ न भवति—ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—[ब्राह्मः] ब्राह्म शब्द में टिलोप निपातन किया जाता है, अपत्य [अजातौ] जाति अर्थ को छोड़कर ॥ इस सूत्र में योगविभाग करके महाभाष्यादि में इष्ट अर्थ का प्रतिपादन इस प्रकार किया गया है—'ब्राह्मः' ब्राह्म शब्द में टिलोप अनपत्य अण् के परे रहते निपातन से होता है । पश्चात् 'अजातौ' कहा, सो उसमें पूर्वसूत्रोक्त 'अपत्ये' की अनुवृत्ति आकर अर्थ हुआ—'अपत्यार्थक जाति में ब्रह्मन् के टि का लोप नहीं होता' । अर्थात् 'अपत्ये' का सम्बन्ध अजातौ से लगेगा, न कि ब्राह्मः निपातन के साथ । सो ब्रह्मणोऽपत्यं ब्राह्मणः, यहाँ अपत्यार्थक जाति को कहने में टिलोप नहीं हुआ[1] ॥ अनपत्य अर्थ में ब्राह्म के टि का लोप जाति अजाति सर्वत्र होगा, किन्तु 'अपत्य' अर्थ में जाति में नहीं' यह प्रतिषेध कर दिया ॥

ब्राह्म निपातन के साथ 'अपत्ये' अनुवृत्ति का सम्बन्ध न करने से पूर्वसूत्र से प्रकृतिभाव का निषेध ब्राह्म में नहीं प्राप्त हुआ, अर्थात् अन् (६।४।१६७) से प्रकृतिभाव ही प्राप्त हुआ । अतः टिलोपार्थ यह वचन है ॥

कार्म्मस्ताच्छील्ये ॥६।४।१७२॥

कार्म्मः १।१॥ ताच्छील्ये ७।१॥ अनु०—अङ्गस्य, भस्य ॥ अर्थः—कार्म्म इति ताच्छील्ये णे टिलोपो निपात्यते ॥ उदा०—कर्म्मशीलः=कार्म्मः ॥

भाषार्थः—[कार्म्मः] कार्म्म इस शब्द में [ताच्छील्ये] ताच्छील्यार्थक ण परे रहते टिलोप निपातन किया जाता है ॥ छत्रादिभ्यो णः (४।४।६२) से कर्मन् शब्द से ण प्रत्यय होता है । टिभाग=अन् का लोप प्रकृतसूत्र से हो गया है ॥

औक्षमनपत्ये ॥६।४।१७३॥

औक्षम् १।१॥ अनपत्ये ७।१॥ स०—अन० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—भस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अनपत्येऽणि औक्षमिति टिलोपो निपात्यते ॥ उदा०—औक्षं पदम् ॥

---

१. ब्रह्मभिर्ब्राह्मणैर्विरचितानि वेदव्याख्यानानि ब्राह्मणानि । यहां अपत्यार्थक जाति न होने से टि का लोप प्राप्त होता है, उसका अभाव छन्दोब्राह्मणानि च तद्विषयाणि (४।२।६५) इत्यादि सूत्रों में ग्रन्थविशेषवाचक ब्राह्मण शब्द के निपातन से होता है ॥

भाषार्थः—[अनपत्ये] अनपत्यार्थक अण् परे रहते [औक्षम्] औक्षम् यहाँ टिलोप निपातन किया जाता है ॥ उक्षन् शब्द से तस्येदम् (४।३।१२०) से अण् प्रत्यय एवं टिलोप होकर औक्षम् बना है ॥

दाण्डिनायनहास्तिनायनाथर्वणिकजैह्माशिनेयवाशिनायनिभ्रौणहत्यधैवत्यसारवैक्ष्वाकमैत्रेयहिरण्मयानि ॥६।४।१७४॥

दाण्डि०...यानि १।३॥ स० — दाण्डि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अर्थः— दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आथर्वणिक, जैह्माशिनेय, वाशिनायनि, भ्रौणहत्य, धैवत्य, सारव, ऐक्ष्वाक, मैत्रेय, हिरण्मय इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते ॥ दण्डिन्, हस्तिन् इत्येतौ शब्दौ नडादिषु पठ्येते, (४।१।९९) तयोरायने परतः प्रकृतिभावो निपात्यते । दण्डिनोऽपत्यं दाण्डिनायनः, हस्तिनोऽपत्यं हास्तिनायनः ॥ अथर्वन् शब्दो वसन्तादिषु पठ्यते । अथर्वाणमधीते यः स आथर्वणिकः, वसन्तादिभ्यष्ठक् (४।२। ६२) इत्यनेन ठक् प्रत्ययः । अत्रापि इके परतः प्रकृतिभावो निपात्यते ॥ जिह्माशिनोऽपत्यं जैह्माशिनेयः, शुभ्रादित्वादत्र (४।१।१२३) ढक्प्रत्ययो निपातनाच्च प्रकृतिभावः ॥ वाशिनोऽपत्यं वाशिनायनिः, उदीचां वृद्धाद० (४।१।१५७) इत्यनेन फिञ्प्रत्ययः, प्रकृतिभावश्च निपातनात् ॥ भ्रौणहत्य धैवत्य, इत्यत्र भ्रूणहन्, धीवन् इत्येतयोः ष्यञि परतस्तकारादेशो निपात्यते । भ्रूणघ्नो भावः भ्रौणहत्यम्, धीव्नो भावः धैवत्यम् ॥ सारव इत्यत्र सरयू इत्येतस्य अणि परतो यूशब्दस्य स्थाने व इत्ययमादेशो निपात्यते । सरय्वां भवं सारवमुदकम् ॥ ऐक्ष्वाक इति आद्युदात्तो अन्तोदात्तश्च निपात्यते, उकारलोपश्च । इक्ष्वाकोरपत्यं ऐक्ष्वाकः, जनपदशब्दा० (४।१।१६६) इत्यनेन अञ् । अथवा इक्ष्वाकुषु जनपदेषु भवः ऐक्ष्वाकः, कोपधाद्अण् (४।२।१३१) इत्यण् प्रत्ययः, अत्रापि उकारलोपो निपातनात् । मित्रयुशब्दो गृष्ट्यादिषु पठ्यते, तत्र गृष्ट्यादिभ्यश्च (४।१।१३६) इत्यनेन ढञ् । ततो ढञि परतः केकयमित्रयु० (७।३।२) इत्यनेन यकारादेः स्थाने प्राप्तस्य इयादेशस्यापवादो युलोपो निपात्यते । मित्रयोरपत्यम् मैत्रेयः इति ॥ हिरण्मयम् इत्यत्र हिरण्यस्य मयटि (४।३।१४१) परतो यादिलोपो निपात्यते । हिरण्यस्य विकारः हिरण्मयः ॥

भाषार्थः—[दाण्डि...यानि] दाण्डिनायन, हास्तिनायन, आथर्वणिक, जैह्माशिनेय, वाशिनायनि, भ्रौणहत्य, धैवत्य, सारव, ऐक्ष्वाक, मैत्रेय, हिरण्मय ये शब्द निपातन किये जाते हैं ॥

दण्डिन् हस्तिन् शब्द नडादिगण में पढ़े हैं, अतः नडादिभ्यः फक् (४।१।९९) से

फक् प्रत्यय हुआ है। निपातन से आयन् परे रहते यहाँ प्रकृतिभाव होता है, अर्थात् ६।४।१४४ से टिलोप नहीं होता = दाण्डिनायन:, हास्तिनायन: ॥ आथर्वणिक, यहाँ अथर्वन् शब्द वसन्तादिगण में पठित है, अत: वसन्तादिभ्य:० से ठक् प्रत्यय हुआ है। ठ को इक होकर, इक परे प्रकृतिभाव निपातन है। अथर्वन् ऋषि के द्वारा प्रोक्त ग्रन्थ भी अथर्वन् उपचार से कहा जायेगा, अत: उस ग्रन्थ को पढ़नेवाला आथर्वणिक कहायेगा ॥ जैह्माशिनेय, यहाँ जिह्माशिन् शब्द से शुभ्रादिभ्यश्च से ढक् होकर उसके परे प्रकृतिभाव निपातन है ॥ वाशिनायनि, यहाँ वाशिन् शब्द से उदीचां वृद्धा० से फिञ् प्रत्यय हुआ है, पूर्ववत् प्रकृतिभाव निपातन है ॥ भ्रौणहत्य, धैवत्य, यहाँ भ्रूणहन् धीवन् इन शब्दों को ष्यञ् (५।१।१२३) प्रत्यय परे रहते तकारादेश निपातन से होता है। अलोऽन्त्यस्य से अन्त्य अल् न् को 'त्' होगा ॥ सारव, यहाँ सरयू शब्द के 'यू' के स्थान में व आदेश अण् परे रहते निपातन है ॥ ऐक्ष्वाक शब्द सूत्र में एकश्रुति से पढ़ा है, सो उसे आद्युदात्त एवं अन्तोदात्त तथा उकारलोप निपातन से होता है। जब इक्ष्वाकु शब्द से जनपदशब्दात्० सूत्र से अञ् होता है, तो निपातन से एकश्रुति हटकर यथाप्राप्त (६।१।१६१) आद्युदात्त स्वर होता है, तथा कोपधादण् से अण् करने पर यथाप्राप्त (३।१।३) अन्तोदात्त स्वर होगा। दोनों पक्षों में उकारलोप होगा ही ॥ मैत्रेय, यहाँ मित्रयु शब्द से गृष्ट्यादिभ्यश्च से ढञ् करके, उस ढञ् के परे रहते यादि='य्' आदिवाले अर्थात् 'यु' को, जो केकयमित्रयु० से इय् आदेश प्राप्त था, उसको बाधकर यहाँ 'यु' का लोप निपातन से होता है। मित्रयु ढ=मित्र एय=यस्येति लोपादि होकर मैत्रेय: बना ॥ हिरण्मय, यहाँ हिरण्य शब्द के 'य' का मयट् परे रहते लोप निपातन है ॥

ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि च्छन्दसि ॥६।४।१७५॥

ऋत्व्य····· यानि १।३॥ छन्दसि ७।१॥ स०—ऋत्व्य० इत्यत्रेतरद्वन्द्व: ॥ अर्थ:—ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी, हिरण्यय इत्येतानि शब्दरूपाणि निपात्यन्ते, छन्दसि विषये ॥ ऋतु वास्तु इत्येतयो: यति (४।४।११०) परतो यणादेशो निपात्यते। ऋतौ भवम् ऋत्व्यम्, वास्तौ भवं वास्त्व्यम् ॥ वास्त्वमिति वस्तुशब्दस्य अणि परतो यणादेशो निपात्यते। वस्तुनि भवो वास्त्व: ॥ माध्वी इत्यत्र मधुशब्दस्य अणि परतो स्त्रियां यणादेशो निपात्यते। माध्वीर्न: सन्त्वोषधी: (ऋ० १।९०।६) ॥ हिरण्ययम् इत्यत्र हिरण्यशब्दाद् विहितस्य मयटो मशब्दस्य लोपो निपात्यते। हिरण्ययेन सविता रथेन (ऋ० १।३५।२) ॥

भाषार्थ:—[ऋत्व्य·· यानि] ऋत्व्य, वास्त्व्य, वास्त्व, माध्वी, हिरण्यय ये शब्दरूप निपातन किये जाते हैं, [छन्दसि] वेद-विषय में ॥ ऋतु वास्तु, इन शब्दों

को यत् परे रहते यणादेश निपातन से ऋत्व्यम् वास्त्व्यम् शब्दों में किया गया है। भवे छन्दसि (४।४।११०) से यहाँ यत् प्रत्यय होता है।। वास्त्व, यहाँ वस्तु को अण् (४।३।५३) परे रहते यणादेश निपातन है। ओर्गुणः (६।४।१४६) से गुण प्राप्त था, यणादेश कह दिया।। माध्वी, यहाँ मधु शब्द से अण् (४।३।१२०) परे रहते स्त्रीलिङ्ग में यणादेश निपातन है। पूर्ववत् गुण की प्राप्ति थी, यणादेश कह दिया।। हिरण्यय, यहाँ हिरण्य शब्द से विहित मयट् (४।३।१४१) के मकार का लोप निपातन से होता है।।

इति षष्ठोऽध्यायः।।

अथ सप्तमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

युवोरनाकौ ॥७।१।१॥

युवोः[1] ६।१॥ अनाकौ १।२॥ स०—युश्च वुश्च युवु, तस्य ... समाहारद्वन्द्वः। अनश्च अकश्च अनाकौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—अङ्गसम्बन्धिनोः यु वु इत्येतयोः स्थाने यथासङ्ख्यम् अन अक इत्येतावादेशौ भवतः ॥ उदा०—नन्दनः, रमणः, सायन्तनः, चिरन्तनः। अक—कारकः, हारकः, वासुदेवकः, अर्जुनकः ॥

भाषार्थः—अङ्ग सम्बन्धी [युवोः] यु तथा वु के स्थान में [अनाकौ] अन तथा अक आदेश यथासङ्ख्य करके हो जाते हैं ॥ नन्दनः, रमणः की सिद्धि भाग १, सूत्र ३।१।१३४ में देखें। सायन्तनम्, चिरन्तनम् में सायंचिरं० (४।३।२३) से ट्यु प्रत्यय तथा तुट् आगम होता है। ट्यु का यु शेष रहेगा, तथा उसे अन आदेश हो जायेगा। कारकः, हारकः की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें। वासुदेवकः, अर्जुनकः में वासुदेवार्जुनाभ्यां० (४।३।९८) से वुन् प्रत्यय होता है ॥

आयनेयीनीयियः फढखछघां प्रत्ययादीनाम् ॥७।१।२॥

आयनेयीनीयियः १।३॥ फढखछघाम् ६।३॥ प्रत्ययादीनाम् ६।३॥ स०—आयन् च एय् च इन् च ईय् च इय् च आयनेयीनीयियः। फश्च ढश्च खश्च छश्च घ् च फढखछघः, तेषाम् ... उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः। प्रत्ययस्य आदयः प्रत्ययादयः, तेषाम् ... षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—प्रत्ययादीनां फ्, ढ्, ख्, छ्, घ् इत्येतेषां

---

१. 'युवोः' इति निर्देशे द्वौ पक्षौ—समाहारद्वन्द्वो वा स्यात्, इतरेतरयोगो वा। तत्र समाहारद्वन्द्वपक्षे नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२) इत्यनेनागमशासनस्यानित्यत्वात् नुम् आगमो न भवति। तेन 'युवुनः' इति न निर्दिष्टः। इतरेतरपक्षे तु 'युव्वोः' इति भवितव्यम्, तन्न भवति छान्दसत्वात्। छान्दसोऽत्र वर्णलोपो द्रष्टव्यः। यद्वा-'ऊकालोऽज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः' (१।२।२७) इति पुंस्त्वनिर्देशात् समाहारस्य नपुंसकत्वं प्रायिकमिति द्रष्टव्यम्, तथा सत्यञ्जसा रूपं सिध्यति ॥

स्थाने यथासङ्ख्यम् आयन्, एय्, ईन्, ईय्, इय् इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ फादिवर्णेषूच्चारणार्थोऽकारोऽन्त्यवर्जम् ॥ उदा०—'फ' इत्येतस्य आयन् आदेशो भवति । नडादिभ्यः फक्—नाडायनः, चारायणः । ढस्य एय् आदेशो भवति । स्त्रीभ्यो ढक्—सौपर्णेयः, वैनतेयः । खस्य ईन् आदेशो भवति । कुलात्खः—आढ्यकुलीनः, श्रोत्रियकुलीनः । छस्य ईय् आदेशो भवति । वृद्धाच्छः—गार्गीयः, वात्सीयः । 'घ' इत्येतस्य इय् आदेशो भवति । क्षत्राद् घः—क्षत्रियः ॥

भाषार्थः—[प्रत्ययादीनाम्] प्रत्यय के आदि के जो फ्, ढ्, ख्, छ् तथा घ् उनको यथासङ्ख्य करके [आयनेयीनीयियः] आयन्, एय्, ईन्, ईय् तथा इय् आदेश होते हैं ॥ ये आदेश फ् इत्यादि हल्मात्र के स्थान में होते हैं, इनमें अकार उच्चारणार्थ है ॥

यहाँ से 'प्रत्ययस्य'[1] की अनुवृत्ति ७।१।५ तक जायेगी ॥

झोऽन्तः ॥७।१।३॥

झः ६।१॥ अन्तः १।१॥ अनु०—प्रत्ययस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—प्रत्ययस्यावयवस्य झस्य स्थाने अन्त इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—कुर्वन्ति, सुन्वन्ति, चिन्वन्ति । प्रतिभिः सह शयान्तै ॥ जरन्तः, वेशन्तः ॥

भाषार्थः—प्रत्यय के अवयव [झः] झ् के स्थान में [अन्तः] अन्त आदेश होता है ॥ 'अन्त' के त् में अ उच्चारणार्थ है, वस्तुतः 'अन्त्' आदेश होता है ॥ कुर्वन्ति में अत उत् सार्व० (६।४।११०) से उत्व होता है । चिन्वन्ति, सुन्वन्ति की सिद्धि परि० १।१।५ में देखें । शयान्तै लेट् का रूप है, इसकी सिद्धि भाग १, परि० ३।४।९६ के गृह्यान्तै के समान जानें । जरन्तः, वेशन्तः में जृविशिभ्यां झच् (उणा० ३।१२६) से झच् प्रत्यय हुआ है, उसे झ् को अन्त् आदेश हो जाता है ॥

यहाँ से 'झः' की अनुवृत्ति ७।१।८ तक जायेगी ॥

अदभ्यस्तात् ॥७।१।४॥

अत् १।१॥ अभ्यस्तात् ५।१॥ अनु०—झः, प्रत्ययस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अभ्यस्तादङ्गादुत्तरस्य प्रत्ययस्यावयवस्य झकारस्य स्थाने 'अत्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—ददति, ददतु । दधति, दधतु । जक्षति, जक्षतु । जाग्रति, जाग्रतु ॥

भाषार्थः—[अभ्यस्तात्] अभ्यस्त अङ्ग से उत्तर प्रत्यय के अवयव झकार

१. स्वरितत्वादेकदेशस्यानुवृत्तिर्द्रष्टव्या ॥

के स्थान में [अत्] अत् आदेश हो जाता है ।। ददति जक्षति आदि की सिद्धियाँ परि० ६।१।५, एवं ६।१।६ में देखें ।।

यहाँ से 'अत्' की अनुवृत्ति ७।१।८ तक जायेगी ।।

आत्मनेपदेष्वनतः ।।७।१।५।।

आत्मनेपदेषु ७।३।। अनतः ५।१।। स०—न अत् अनत्, तस्मात् नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—अत्, झः, प्रत्ययस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—अनकारान्तादङ्गादुत्तरस्य आत्मनेपदेषु वर्त्तमानस्य प्रत्ययस्य झकारस्य स्थाने 'अत्' इत्ययमादेशो भवति ।। उदा०—चिन्वते, चिन्वताम्, अचिन्वत । लुनते, लुनताम्, अलुनत । पुनते, पुनताम्, अपुनत ।।

भाषार्थः—[अनतः] अनकारान्त अङ्ग से उत्तर [आत्मनेपदेषु] आत्मनेपद में वर्त्तमान जो प्रत्यय का झकार उसके स्थान में अत् आदेश होता है ।। परि० १।१।५ के चिन्वन्ति के समान चिन्वते में सब कार्य जानें । केवल यहाँ आत्मनेपद के झ को अत्, एवं टित आत्मने० (३।४।७९) से एत्व होता है । चि नु अते= चिन्वते । 'चि नु' यह अनकारान्त अङ्ग है ही । चिन्वताम्, यहाँ आमेतः (३।४।९०) से लोट् के 'ए' को आम् हुआ है, शेष झ को अत् हो ही जायेगा । अचिन्वत, लङ् का रूप है । लुनते आदि की सिद्धि परि० १।३।१४ के व्यतिलुनते के समान जानें।।

शीङो रुट् ।।७।१।६।।

शीङः ५।१।। रुट् १।१।। अनु०—अत्, झः, अङ्गस्य ।। अर्थः—शीङोऽङ्गादुत्तरस्य झकारादेशस्यातो रुट् आगमो भवति ।। उदा०—शेरते, शेरताम्, अशेरत ।।

भाषार्थः—[शीङः] शीङ् अङ्ग से उत्तर झकार के स्थान में हुआ जो अत् आदेश उसको [रुट्] रुट् का आगम होता है ।। शी शप् झ, अदादिगणस्थ होने से शप् का लुक् होकर 'शी अत् अ' रहा । आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से अत् के आदि को रुट् आगम, तथा शीङः सार्वधातुके० (७।४।२१) से शीङ् को गुण होकर—'शे रुट् अते' = शेरते बन गया । इसी प्रकार शेरताम् (लोट्) तथा अशेरत (लङ्) में जानें ।।

यहाँ से 'रुट्' की अनुवृत्ति ७।१।८ तक जायेगी ।।

वेत्तेर्विभाषा ।।७।१।७।।

वेत्तेः ५।१।। विभाषा १।१।। अनु०—रुट्, अत्, झः, अङ्गस्य ।। अर्थः—वेत्तेरङ्गादुत्तरस्य झादेशस्यातो विकल्पेन रुट् आगमो भवति ।। उदा०—संविद्रते—संविदते । संविद्रताम्—संविदताम् । समविद्रत—समविदत ।।

भाषार्थः—[वेत्तेः] विद् अङ्ग से उत्तर झ के स्थान में हुआ जो अत् आदेश

उसको [विभाषा] विकल्प से रुट् आगम होता है ॥ यह अप्राप्त विभाषा है। समो गम्यृ० (१।३।२९) सूत्रस्थ 'समो गमादिषु विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्' वार्त्तिक से संविद्रते आदि में आत्मनेपद तथा शप् का लुक् पूर्ववत् होगा ॥

बहुलं छन्दसि ॥७।१।८॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—रुट्, अत्, झः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छन्दसि विषये झादेशस्यातो बहुलं रुडागमो भवति ॥ उदा०—देवा अदुह्र (मै० ४।२।१); गन्धर्वाप्सरसो अदुह्र (मै० ४।२।१३)। न च भवति—अदुहत। झादेशस्यातोऽन्यत्रापि बहुलवचनाद् भवति—अदृश्रमस्य केतवः (ऋ० १।५०।३)॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद-विषय में झादेश अत् को [बहुलम्] बहुल करके रुट् का आगम होता है ॥ अट् दुह् शप् झ, यहाँ शप् का लुक्; एवं झ को अत् होकर 'अदुह् अत' रहा। रुट् आगम एवं लोपस्त आत्मने० (७।१।४१) से 'त' का लोप होकर—अदुह् रुट् अ अ=अदुह् र् अ अ=अतो गुणे से पररूप होकर अदुह्र बना। बहुल कहने से रुट् अभाव होकर अदुहत बना। एवं झादेश अत् से अन्यत्र भी बहुलवचन से रुट् होकर 'अदृश्रम्' लुङ् के उत्तम पुरुष के एकवचन में बना है। यहाँ इरितो वा (३।१।५७) से च्लि को अङ् होता है, उसी को रुट् का आगम हुआ है ॥

अतो भिस ऐस् ॥७।१।९॥

अतः ५।१॥ भिसः ६।१॥ ऐस् १।१॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—अदन्ताद् अङ्गादुत्तरस्य भिसः स्थाने ऐस् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—वृक्षैः, प्लक्षैः ॥

भाषार्थः—[अतः] अकारान्त अङ्ग से उत्तर [भिसः] भिस के स्थान में [ऐस्] ऐस् आदेश होता है ॥ परि० १।१।५४ के 'पुरुषैः' के समान सिद्धियाँ जानें ॥

यहाँ से 'अतः' की अनुवृत्ति ७।१।१७ तक, एवं 'भिस ऐस्' की अनुवृत्ति ७।१।११ तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दसि ॥७।१।१०॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—अतो भिस ऐस्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छन्दसि विषये अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य बहुलं भिस ऐस् आदेशो भवति ॥ उदा०—अत इत्युक्तम्, अनतोऽपि भवति—नद्यैः। अकारान्तादपि न भवति—भद्रं कर्णेभिः (यजु० २५।२१)। देवेभिः सर्वेभिः प्रोक्तम् ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद-विषय में अकारान्त अङ्ग से उत्तर [बहुलम्]

बहुल करके भिस् को ऐस् आदेश होता है ।। बहुल कहने से अनकारान्त अङ्ग से उत्तर भी भिस् को ऐस् हो जाता है । एवं अकारान्त कर्ण देव आदियों से उत्तर भी नहीं होता ।।

नेदमदसोरकोः ।।७।१।११।।

भिस् → ऐस् निषेध

न, अ० ।। इदमदसोः ६।२।। अकोः ६।२।। स०—इदम् च अदस् च इदमदसौ, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः । अविद्यमानः ककारो ययोस्तौ अकौ, तयोः...बहुव्रीहिः ।। अनु०—भिस ऐस्, अङ्गस्य ।। अर्थः—इदम् अदस् इत्येतयोरककारयोर्भिस ऐस् न भवति ।। उदा०—एभिः, अमीभिः ।।

भाषार्थः—[अकोः] ककाररहित [इदमदसोः] इदम् अदस् के भिस् को ऐस् [न] नहीं होता ।। एभिः की सिद्धि में भाग १, परि० १।१।२० के आभ्याम् के अनुसार सब कार्य होकर 'अ भिस्' रहा । यहाँ अ अदन्त अङ्ग से उत्तर भिस् को ऐस् प्राप्त था । निषेध हो गया, तो बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से अ को एत्व होकर एभिः बन गया । अमीभिः की सिद्धि परि० १।१।१२ में प्रदर्शित अमी के समान जानें । केवल यहाँ भिस् परे है, एवं वहाँ जस् परे था, यही भेद है । बहुवचने० से जो यहाँ एत्व हुआ था, उसी को ईकारादेश (८।२।८१) होकर अमीभिः बना है ।।

टाङसिङसामिनात्स्याः ।।७।१।१२।।

टा. टा → इन
ङसि → आत्
ङस → स्य

टाङसिङसाम् ६।३।। इनात्स्याः १।३।। स०—टाश्च ङसिश्च ङश्च टाङसिङसः, तेषाम्... । इन् च आत् च स्यश्च इनात्स्याः । उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—अतः, अङ्गस्य ।। अर्थः—अदन्तादङ्गादुत्तरेषां टा, ङसि, ङस् इत्येतेषां स्थाने यथासङ्ख्यं इन, आत्, स्य इत्येते आदेशा भवन्ति ।। उदा०—टा—वृक्षेण, प्लक्षेण । ङसि—वृक्षात्, प्लक्षात् । ङस्—वृक्षस्य, प्लक्षस्य ।।

भाषार्थः—अदन्त अङ्ग से उत्तर [टाङसिङसाम्] टा, ङसि, ङस् के स्थान में क्रमशः [इनात्स्याः] इन्, आत्, स्य आदेश होते हैं ।। वृक्षेण, प्लक्षेण की सिद्धि परि० १।१।५५ के 'कैन' के समान जानें । केवल यहाँ अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से णत्व करना ही विशेष है । वृक्ष आत्=सवर्ण दीर्घ होकर—वृक्षात् बना ।।

ङेर्यः ।।७।१।१३।।

ङे → य

ङेः ६।१।। यः १।१।। अनु०—अतः, अङ्गस्य ।। अर्थः—अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य ङे इत्येतस्य स्थाने य इत्ययमादेशो भवति ।। उदा०—वृक्षाय, प्लक्षाय ।।

भाषार्थः—अकारान्त अङ्ग से उत्तर [ङेः] 'ङे' के स्थान में [यः] 'य' आदेश होता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।१।५५ के 'पुरुषाय' के समान जानें ॥

यहाँ से 'ङेः' की अनुवृत्ति ७।१।१४ तक जायेगी ॥

सर्वनाम्नः स्मै ॥७।१।१४॥

सर्वनाम्नः ५।१॥ स्मै १।१॥ अनु०—ङेः, अतः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अकारान्तात् सर्वनाम्न उत्तरस्य ङेः स्थाने स्मै इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—सर्वस्मै, विश्वस्मै, यस्मै, कस्मै, तस्मै ॥

भाषार्थः—अकारान्त [सर्वनाम्नः] सर्वनाम अङ्ग से उत्तर 'ङे' के स्थान में [स्मै] स्मै आदेश होता है ॥ किम् शब्द को किमः कः (७।२।१०३) से 'क' आदेश; तथा तद् यद् को त्यदादीनामः (७।२।१०२) से अत्त्व कर लेने पर अदन्त अङ्ग मिल जाता है। अतः स्मै आदेश हो गया, शेष सब पूर्ववत् है। सर्वादीनि सर्व० (१।१।२६) से सर्वनाम संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'सर्वनाम्नः' की अनुवृत्ति ७।१।१७ तक जायेगी ॥

ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ ॥७।१।१५॥

ङसिङ्योः ६।२॥ स्मात्स्मिनौ १।२॥ स०—ङसिश्च ङिश्च ङसिङी, तयोः ....। स्मात् च स्मिन् च स्मात्स्मिनौ, उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सर्वनाम्नः, अतः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अकारान्तात् सर्वनाम्न उत्तरयोः ङसि ङि इत्येतयोः स्थाने यथासङ्ख्यं स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ भवतः ॥ उदा०—सर्वस्मात्, विश्वस्मात्, यस्मात्, तस्मात्, कस्मात्। ङि—सर्वस्मिन्, विश्वस्मिन्, यस्मिन्, तस्मिन्, कस्मिन् ॥

भाषार्थः—अकारान्त सर्वनाम अङ्ग से उत्तर [ङसिङ्योः] ङसि तथा ङि के स्थान में क्रमशः [स्मात्स्मिनौ] स्मात् तथा स्मिन् आदेश होते हैं ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।१६ तक जायेगी ॥

पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा ॥७।१।१६॥

पूर्वादिभ्यः ५।३॥ नवभ्यः ५।३॥ वा अ० ॥ स०—पूर्व आदिर्येषां ते पूर्वादयः, तेभ्यः ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ, सर्वनाम्नः, अतः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पूर्वादिभ्यो नवभ्यः सर्वनाम्न उत्तरयोर्ङसिङ्योः स्थाने स्मात् स्मिन् इत्येतावादेशौ विकल्पेन भवतः ॥ उदा०—पूर्वस्मात्, पूर्वस्मिन्। पक्षे—पूर्वात्, पूर्वे। एवमग्रे—परस्मात्, परस्मिन्। परात्, परे। अवर—अवरस्मात्, अवरस्मिन्। अवरात्, अवरे। दक्षिण—दक्षिणस्मात्, दक्षिणस्मिन्। दक्षिणात्, दक्षिणे। उत्तर—उत्तरस्मात्, उत्तरस्मिन्। उत्तरात्, उत्तरे। अपर—अपरस्मात्, अपरस्मिन्। अपरात्,

अधरे । अधर—अधरस्मात्, अधरस्मिन् । अधरात्, अधरे । स्व—स्वस्मात्, स्वस्मिन् । स्वात्, स्वे । अन्तर—अन्तरस्मात्, अन्तरस्मिन् । अन्तरात्, अन्तरे ॥

भाषार्थः—[पूर्वादिभ्यः] पूर्व है आदि में जिनके, ऐसे (गणपठित) [नवभ्यः] नौ ९ सर्वनामों से उत्तर ङसि तथा ङि के स्थान में क्रमशः स्मात् तथा स्मिन् आदेश [वा] विकल्प से होते हैं ॥ पक्ष में जब स्मात् आदेश नहीं होगा, तो टाङसि० (७।१।१२) से 'आत्' आदेश होकर पूर्वात् आदि रूप बनेंगे । तथा जब स्मिन् आदेश नहीं हुआ, तो आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर पूर्वे आदि रूप बन गये ॥

जसः शी ॥७।१।१७॥

जसः ६।१॥ शी लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अनु०—सर्वनाम्नः, अतः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अकारान्तात् सर्वनाम्नोऽङ्गाद् उत्तरस्य जसः स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—सर्वे, विश्वे, ये, के, ते ॥

भाषार्थः—अकारान्त सर्वनाम अङ्ग से उत्तर [जसः] जस् के स्थान में [शी] 'शी' आदेश होता है ॥ सर्वे आदि की सिद्धियाँ परि० १।१।२६ में देखें । पूर्ववत् ये, के, ते में 'अ' आदेश एवं अत्व कर लेने पर अदन्त अङ्ग हो जाता है ॥

यहाँ से 'शी' की अनुवृत्ति ७।१।१९ तक जायेगी ॥

औङ आपः ॥७।१।१८॥

औङः ६।१॥ आपः ५।१॥ अनु०—शी, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आबन्तादङ्गादुत्तरस्य औङः स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति ॥ औङ् इति, औ औट् इत्येतयोः पूर्वाचार्याणां संज्ञा ॥ उदा०—खट्वे तिष्ठतः, खट्वे पश्य । बहुराजे, कारीषगन्ध्ये ॥

भाषार्थः—[आपः] आबन्त अङ्ग से उत्तर [औङः] औङ्=औ तथा औट् के स्थान में शी आदेश होता है ॥ औङ् यह औ तथा औट् की पूर्वाचार्यों की संज्ञा है ॥ खट्वे आदि की सिद्धि भाग १, परि० १।१।११ के माले के समान जानें ॥

यहाँ से 'औङः' की अनुवृत्ति ७।१।१९ तक जायेगी ॥

नपुंसकाच्च ॥७।१।१९॥

नपुंसकात् ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—औङः, शी, अङ्गस्य ॥ अर्थः—नपुंसकादङ्गादुत्तरस्य औङः स्थाने शी इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—कुण्डे तिष्ठतः, कुण्डे पश्य ॥

भाषार्थः—[नपुंसकात्] नपुंसक अङ्ग से उत्तर [च] भी औङ् (=औ,

औट्) के स्थान में शी आदेश होता है ।। कुण्ड औ=कुण्ड शी; गुण एकादेश (६।१।८४) होकर कुण्डे बना ।।

यहाँ से 'नपुंसकात्' की अनुवृत्ति ७।१।२० तक जायेगी ।।

जस्, शस् → शि **जश्शसोः शिः ॥७।१।२०॥**

जश्शसोः ६।२।। शिः १।१।। स०—जश् च शस् च जश्शसौ, तयोः........ इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—नपुंसकात्, अङ्गस्य ।। अर्थः—नपुंसकादङ्गादुत्तरयोर्जश्शसोः स्थाने शि इत्ययमादेशो भवति ।। उदा०—कुण्डानि तिष्ठन्ति, कुण्डानि पश्य; दधीनि, मधूनि, त्रपूणि, जतूनि ।।

भाषार्थः—नपुंसकलिङ्गवाले अङ्ग से उत्तर [जश्शसोः] जस् और शस् के स्थान में [शिः] शि आदेश होता है ।। सिद्धियाँ भाग १, परि० १।१।४१ में देखें ।।

यहाँ से 'जश्शसोः' की अनुवृत्ति ७।१।२२ तक जायेगी ।।

जस्, शस् → औश् **अष्टाभ्य औश् ॥७।१।२१॥**

अष्टाभ्यः ५।३।। औश् १।१।। अनु०—जश्शसोः, अङ्गस्य ।। अर्थः—कृताकारात् अष्टन् शब्दाद् उत्तरयोर्जश्शसोः स्थाने 'औश्' इत्ययमादेशो भवति ।।उदा०—अष्टौ तिष्ठन्ति, अष्टौ पश्य ।।

भाषार्थः—आत्व किये हुये [अष्टाभ्यः] अष्टन् शब्द से उत्तर जस् और शस् के स्थान में [औश्] औश् आदेश होता है ।। सूत्र में 'अष्टाभ्यः' ऐसा 'आ' करके निर्देश होने से ज्ञापित होता है कि अष्टन आ विभक्तौ (७।२।८४) सूत्र विकल्प से आत्व करता है । अतः जहां आत्व होकर अष्टन् को अष्टा हो जाता है, उस आत्व किये हुये अष्टन् से उत्तर ही जस् शस् को औश् आदेश होता है ।। अष्टन् जस्=अन्त्य अल् को अष्टन आ० (७।२।८४) से आत्व होकर अष्टा जस्=अष्टा औ=अष्टौ बन गया । इसी प्रकार अष्टा शस्=अष्टा औ=अष्टौ ।।

जस्, शस् लुक् **षड्भ्यो लुक् ॥७।१।२२॥**

षड्भ्यः ५।३।। लुक् १।१।। अनु०—जश्शसोः, अङ्गस्य ।। अर्थः—षट्संज्ञकेभ्य उत्तरयोर्जश्शसोर्लुग् भवति ।। उदा०—षट् तिष्ठन्ति, षट् पश्य । पञ्च, सप्त, नव, दश ।।

भाषार्थः—[षड्भ्यः] षट्संज्ञक से उत्तर जस् शस् का [लुक्] लुक् होता है ।। सिद्धियाँ भाग १, परि० १।१।२३ में देखें ।।

यहाँ से 'लुक्' की अनुवृत्ति ७।१।२३ तक जायेगी ।।

स्वमोर्नपुंसकात् ॥७।१।२३॥ सु, अम् लुक्

स्वमोः ६।२॥ नपुंसकात् ५।१॥ स०—सुश्च अम् च स्वमौ, तयोः........ इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—लुक्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—नपुंसकादङ्गादुत्तरयोः सु अम् इत्येतयोर्लुक् भवति ॥ उदा०—दधि तिष्ठति, दधि पश्य; मधु तिष्ठति, मधु पश्य। त्रपु, जतु ॥

भाषार्थः—[नपुंसकात्] नपुंसकलिङ्गवाले अङ्ग से उत्तर [स्वमोः] सु और अम् (=द्वितीया एकवचन) का लुक् होता है ॥

यहाँ से 'स्वमोः' की अनुवृत्ति ७।१।२६ तक, तथा 'नपुंसकात्' की अनुवृत्ति ७।१।२४ तक जायेगी ॥

सु, अम् → अम्

अतोऽम् ॥७।१।२४॥

अतः ५।१॥ अम् १।१॥ अनु०—स्वमोर्नपुंसकात्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अदन्तात्-नपुंसकादङ्गादुत्तरयोः स्वमोः स्थाने 'अम्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—कुण्डं तिष्ठति, कुण्डं पश्य; वनम्, पीठम् ॥

भाषार्थः—[अतः] अकारान्त नपुंसकलिङ्गवाले अङ्ग से उत्तर सु और अम् के स्थान में [अम्] अम् आदेश होता है ॥ अम् होकर अमि पूर्वः (६।१।१०३) से पूर्वरूप एकादेश उदाहरणों में हो जायेगा ॥

सु, अम् → अद्ड्

अद्ड् डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः ॥७।१।२५॥

अद्ड् १।१॥ डतरादिभ्यः ५।३॥ पञ्चभ्यः ५।३॥ स०—डतर आदिर्येषां ते डतरादयः, तेभ्यः........बहुव्रीहिः ॥ अनु०—स्वमोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—डतरादिभ्यः पञ्चभ्यः परयोः स्वमोः 'अद्ड्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—कतरत् तिष्ठति, कतरत्पश्य। कतमत् तिष्ठति, कतमत्पश्य। इतरत्, अन्यतरत्, अन्यत् ॥

भाषार्थः—[डतरादिभ्यः] डतर आदि में है जिनके, ऐसे सर्वादिगणपठित [पञ्चभ्यः] पाँच शब्दों से परे सु तथा अम् को [अद्ड्] अद्ड् आदेश होता है ॥ कतर सु = कतर अद्ड्, डित् होने से डित्सामर्थ्यादभस्या० (वा० ६।४।१४३) से टिलोप होकर कतर् अद् रहा। वावसाने (८।४।५५) से चर्त्व होकर कतरत् बन गया ॥

यहाँ से 'अद्ड्' की अनुवृत्ति ७।१।२६ तक जायेगी ॥

नेतराच्छन्दसि ॥७।१।२६॥ अद्ड् आदेश निषेध

न अ० ॥ इतरात् ५।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—अद्ड्, स्वमोः, अङ्गस्य ॥

अर्थः—इतरशब्दादुत्तरयोः स्वमोः स्थाने 'अदड्' इत्ययमादेशो न भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—इतरमितरमण्डमजायत, वार्त्रघ्नमितरम् ॥

भाषार्थः—[इतरात्] इतर शब्द से उत्तर सु तथा अम् के स्थान में [छन्दसि] वेद-विषय में अद्ड आदेश [न] नहीं होता है ॥ पूर्वसूत्र से प्राप्ति थी, वेद-विषय में निषेध कर दिया, तो अतोऽम् (७।१।२४) से अम् आदेश ही हो गया ॥

युष्मदस्मद्भ्यां ङसोऽश् ॥७।१।२७॥

युष्मदस्मद्भ्याम् ५।२॥ ङसः ६।१॥ अश् १।१॥ स०—युष्म० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—युष्मद् अस्मद् इत्येताभ्यामङ्गाभ्यामुत्तरस्य ङसः स्थाने 'अश्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—तव स्वम् । मम स्वम् ॥

भाषार्थः—[युष्मदस्मद्भ्याम्] युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग से उत्तर [ङसः] ङस् के स्थान में [अश्] अश् आदेश होता है ॥ तव मम की सिद्धि भाग १, परि० २।२।१६, पृ० ८४४ में देखें ॥ युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त को तव मम आदेश, तवममौ ङसि (७।२।९६) से होकर, शेष बचे 'अद्' भाग का लोप शेषे लोपः (७।२।९०) से हो जाता है, ऐसा जानें ॥

यहाँ से 'युष्मदस्मद्भ्याम्' की अनुवृत्ति ७।१।३२ तक जायेगी ॥

ङे प्रथमयोरम् ॥७।१।२८॥

ङे लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ प्रथमयोः ६।२॥ अम् १।१॥ अनु०—युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—युष्मदस्मद्भ्यामङ्गाभ्यामुत्तरस्य ङे इत्येतस्य प्रथमाद्वितीययोश्च विभक्त्योः स्थाने 'अम्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—ङे—तुभ्यं दीयते; मह्यं दीयते । प्रथमयोः—त्वम् युवाम् यूयम्; त्वाम् युवाम् । अहम् आवाम् वयम्; माम् आवाम् ॥

भाषार्थः—युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग से उत्तर [ङे] ङे विभक्ति के स्थान में तथा [प्रथमयोः] प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति के स्थान में [अम्] अम् आदेश होता है ॥ 'प्रथमयोः' इस द्विवचन-निर्देश से प्रथमा एवं द्वितीया विभक्ति ली गई है । प्रथमा च प्रथमा च ते प्रथमे, तयोः प्रथमयोः ऐसा एकशेष सरूपा० (१।२।६४) करके निर्देश है ॥ द्वितीया बहुवचन में इस सूत्र का अपवादस्वरूप आगे नकारादेश कहा है, अतः यहाँ उसका उदाहरण नहीं दिया ॥

शसो न ॥७।१।२९॥

शसः ६।१॥ न लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अनु०—युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य ॥

अर्थः—युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य शसो 'न' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—युष्मान् ब्राह्मणान्; अस्मान् ब्राह्मणान् । युष्मान् ब्राह्मणीः; अस्मान् ब्राह्मणीः । युष्मान् कुलानि, अस्मान् कुलानि ॥

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग से उत्तर [शसः] शस् के स्थान में [न] नकारादेश होता है। 'न' में अ उच्चारणार्थ है, वस्तुतः न् आदेश होता है॥ शस् परे युष्मद् अस्मद् के अन्त्य अल् (१।१।५१) को द्वितीयायां च (७।२।८७) से आत्व, तथा प्रकृतसूत्र से आदेः परस्य (१।१।५३) लगकर शस् के आदि को न् होकर युष्म आ न् स्, अस्म आ न् स् रहा। संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) से स् का लोप होकर युष्मान् अस्मान् बन गया ॥

भ्यसोभ्यम् ॥७।१।३०॥

भ्यसः ६।१॥ भ्यम्[1] १।१॥ (अभ्यम् इत्यपि पदच्छेदः सम्भवति)॥ अनु०—युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य भ्यसः स्थाने भ्यम् (अभ्यम् इति वा) आदेशो भवति ॥ उदा०—युष्मभ्यं दीयते; अस्मभ्यं दीयते ॥

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग से उत्तर [भ्यसः] भ्यस् के स्थान में [भ्यम्] भ्यम् अथवा अभ्यम् आदेश होता है ॥ युष्मद् भ्यस्, अस्मद् भ्यस्, यहाँ प्रकृतसूत्र से भ्यम् आदेश, एवं शेषे लोपः (७।२।९०) से अन्त्य द् (१।१।५१) का लोप होकर युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् बन गया । अथवा, अभ्यम् आदेश एवं शेषे लोपः से टि (अद् भाग का) लोप करके युष्म् अभ्यम् = युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् बन गया ॥

यहाँ से 'भ्यसः' की अनुवृत्ति ७।१।३१ तक जायेगी ॥

पञ्चम्या अत् ॥७।१।३१॥

पञ्चम्याः ६।१॥ अत् १।१॥ अनु०—भ्यसः, युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य ॥

---

1. 'भ्यम्' अथवा 'अभ्यम्' दोनों प्रकार से ही यहाँ पदच्छेद हो सकता है। ये दोनों पक्ष ही भाष्य में हैं, एवं भाष्याभित हैं । अर्थात् यदि 'भ्यम्' आदेश मानेंगे, तो शेषे लोपः (७।२।९०) से युष्मद् अस्मद् के टि का लोप नहीं, किन्तु अन्त्य द् का लोप इष्टसिद्ध्यर्थ मानना पड़ेगा। एवं यदि 'अभ्यम्' आदेश मानें, तो शेषे लोपः से टिलोप होता है ऐसा मानना होगा, अन्त्य का नहीं । इन दोनों प्रकारों में जो भी दोष आते हैं, उनका परिहार भाष्य में कर दिया गया है । विस्तार के लिये वहीं देखें ॥

अर्थः—युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य पञ्चम्या भ्यसः स्थाने 'अत्' इत्ययमादेशो भवति ॥
उदा०—युष्मद् गच्छन्ति; अस्मद् गच्छन्ति ॥

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग से उत्तर [पञ्चम्याः] पञ्चमी विभक्ति के भ्यस् के स्थान में [अत्] अत् आदेश होता है ॥ 'युष्मद् भ्यस्, अस्मद् भ्यस्', यहाँ शेषे लोपः से लोप, एवं अत् आदेश होकर युष्मत्, अस्मत् बन गया । अन्त्यलोप पक्ष में अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होगा ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।३२ तक जायेगी ॥

एकवचनस्य च ॥७।१।३२॥

एकवचनस्य ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—पञ्चम्या अत्, युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य पञ्चम्या एकवचनस्य च स्थाने अत् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—त्वत्, मत् ॥

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग से उत्तर पञ्चमी के [एकवचनस्य] एकवचन (ङसि) के स्थान में [च] भी अत् आदेश होता है ॥ युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त के स्थान में त्वमावेकवचने (७।२।९७) से त्व म आदेश, एवं पूर्ववत् टिलोप (अद् भाग का) होकर 'त्व अत् म अत् रहा' । अतो गुणे (६।१।९४) से पररूप होकर त्वत्, मत् बना ॥

साम आकम् ॥७।१।३३॥

सामः ६।१॥ आकम् १।१॥ अनु०—युष्मदस्मद्भ्याम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—युष्मदस्मद्भ्यामुत्तरस्य सामः स्थाने आकम् इत्ययमादेशो भवति ॥ साम इत्यनेन षष्ठीबहुवचनमागतसुट्कं परिगृह्यते ॥ उदा०—युष्माकम्, अस्माकम् ॥

भाषार्थः—युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग से उत्तर [सामः] साम् के स्थान में [आकम्] आकम् आदेश होता है ॥ 'साम्' से, सुट्सहित जो षष्ठी बहुवचन आम् है उसका ग्रहण है । अर्थात् आमि सर्वनाम्नः सुट् (७।१।५२) से आम् को सुट् का आगम होकर जो साम् रूप बनता है, उसके स्थान में प्रकृतसूत्र से आकम् आदेश हो जाता है । पूर्ववत् अद् भाग का लोप होकर युष्माकम्, अस्माकम् बन गया ॥

आत औ णलः ॥७।१।३४॥

आतः ५।१॥ औ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ णलः ६।१॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—आकारान्तादङ्गादुत्तरस्य णलः स्थाने औकारादेशो भवति ॥ उदा०—पपौ, तस्थौ, जग्लौ, मम्लौ ॥

भाषार्थः—[आतः] आकारान्त अङ्ग से उत्तर [णलः] णल् के स्थान में

[औ] औकारादेश हो जाता है ।। 'पा णल्', यहाँ प्रथम प्रकृतसूत्र से णल् के स्थान में औ होकर 'पा औ' रहा । तब वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश होकर 'पौ' बन गया । पश्चात् द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से रूपातिदेश स्थानिवत् होकर पा पौ द्वित्व हुआ । ततः ह्रस्वः (७।४।५९) से ह्रस्व होकर पपौ बन गया । यही क्रम अन्यों में भी जानें । तस्थौ में शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहता है । जग्लौ में कुहोश्चुः (७।४।६२) से अभ्यास को चुत्व होता है ।।

तुह्योस्तातङाशिष्यन्यतरस्याम् ।।७।१।३५।। तु, हि → तातङ्

तुह्योः ६।२।। तातङ् १।१।। आशिषि ७।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। स०—तुह्योः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—अङ्गस्य ।। अर्थः—आशिषि विषये तु हि इत्येतयोः तातङ् आदेशो भवति विकल्पेन ।। उदा०—जीवताद् भवान् । जीवतात् त्वम् । पक्षे—जीवतु भवान् । जीव त्वम् ।।

भाषार्थः—[आशिषि] आशीर्वाद-विषय में [तुह्योः] तु और हि के स्थान में [तातङ्] तातङ् आदेश होता है [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके ।। आशिषि लिङ्लोटौ (३।३।१७३) से लोट् में एरुः (३।४।८६) तथा सेर्ह्यपिच्च (३।४।८७) लगकर जो 'तु हि' बने थे, उनको ही यहाँ तातङ् आदेश होगा । तातङ् में ङित्करण गुणवृद्धि के प्रतिषेध के लिये चरितार्थ होने से 'ङिच्च' (१।१।५२) से अन्तादेश न होकर अनेकाल्० (१।१।५४) से सब के स्थान में आदेश हो जाता है । पक्ष में नहीं होगा तो जीवतु, जीव बनेगा । 'जीव' में अतो हेः (६।४।१०५) से हि का लुक् होता है ।।

विदेः शतुर्वसुः ।।७।१।३६।। शतृ → वसु

विदेः ५।१।। शतुः ६।१।। वसुः १।१।। अनु०—अङ्गस्य ।। अर्थः—विद ज्ञाने इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य शतुर्वसुरादेशो भवति ।। उदा०—विद्वान्, विद्वांसौ, विद्वांसः।।

भाषार्थः—[विदेः] विद ज्ञाने धातु से उत्तर [शतुः] शतृ के स्थान में [वसुः] वसु आदेश होता है ।। 'विद् शतृ', यहाँ शतृ को वसु आदेश होकर, एवं अन्य नुमागमादि कार्य परि० १।१।५ के चितवान् के समान होकर विद्वान् बन गया । आगे विद्वान्स् औ = विद्वान्सौ, नश्चापदान्तस्य० (८।३।२४) के अनुस्वार होकर विद्वांसौ, विद्वांसः बन गये ।।

समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ।।७।१।३७।। क्त्वा → ल्यप्

समासे ७।१।। अनञ्पूर्वे ७।१।। क्त्वः ६।१।। ल्यप् १।१।। स०—न नञ् अनञ्, नञ्तत्पुरुषः । अनञ् पूर्वो (अवयवो) यस्मिन् सोऽनञ्पूर्वः, तस्मिन् , बहुव्रीहिः ।।

अर्थः—अनञ्पूर्वे समासे क्त्वा इत्येतस्य स्थाने ल्यप् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—प्रकृत्य, प्रहृत्य, पार्श्वतःकृत्य, नानाकृत्य, द्विधाकृत्य ॥

भाषार्थः—[अनञ्पूर्वे] नञ् से भिन्न, पूर्व (अवयव) है जिसमें, ऐसे [समासे] समास में [क्त्वः] क्त्वा के स्थान में [ल्यप्] ल्यप् आदेश होता है ॥ प्रकृत्य प्रहृत्य की सिद्धि भाग १, परि० १।१।५५ में देखें । पार्श्वतःकृत्य में स्वाङ्गे तस्० (३।४।६१) से क्त्वा प्रत्यय होता है । तथा नानाकृत्य द्विधाकृत्य में नाधार्थप्रत्यये० (३।४।६२) से क्त्वा होगा, एवं क्त्वा च (२।२।२२) से यहाँ समास भी जानें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।३८ तक जायेगी ॥

क्त्वा → क्त्वा, ल्यप् **क्त्वापि छन्दसि ॥७।१।३८॥**

क्त्वा लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ अपि अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप् ॥ अर्थः—अनञ्पूर्वे समासे क्त्वा इत्येतस्य स्थाने क्त्वा इत्ययमादेशो भवति, ल्यबपि भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—कृष्णं वासो यजमानं परिधापयित्वा। प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा । ल्यबपि भवति—उद्धृत्य जुहोति ॥

भाषार्थः—अनञ्पूर्ववाले समास में क्त्वा के स्थान में [क्त्वा] क्त्वा आदेश होता है, तथा ल्यप् आदेश [अपि] भी [छन्दसि] वेद-विषय में होता है ॥ धा तथा ऋ धातु से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच्, एवं अर्तिह्री० (७।३।३६) से पुक् करके धापि=धापय् इत्वा=धापयित्वा, अर्पयित्वा=प्रत्यर्पयित्वा बना है । उद्धृत्य, यहाँ झयो होऽन्य० (८।४।६१) से ह् को ध् होकर उद्धृत्य बना है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ७।१।५० तक जायेगी ॥

सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजालः ॥७।१।३९॥

सुपाम् ६।३॥ सुलु......जालः १।३॥ स०—सुश्च लुक् च पूर्वसवर्णश्च आश्च आत् च शेश्च याश्च डाश्च ड्याश्च याच् च आल् च, सुलुक्......जालः, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि ॥ अर्थः—छन्दसि विषये सुपां स्थाने सु, लुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल् इत्येते आदेशा भवन्ति ॥ उदा०—सु—अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थाः (ऋ० १०।८५।२३) । पन्थान इति प्राप्ते । लुक्—आर्द्रे चर्मन् (तै० ७।५।९।३), रोहिते चर्मन् (काठ० २४।२) । चर्मणीति प्राप्ते । हविर्धाने यत्सुन्वन्ति तत्सामिधेनीरन्वाह । यस्मिन् सुन्वन्ति तस्मिन् सामिधेनीरिति प्राप्ते । पूर्वसवर्णः—धीती मती सुष्टुती । धीत्या मत्या सुष्टुत्या इति प्राप्ते । आ—उभा यन्तारौ । उभौ यन्तारौ इति प्राप्ते । आत्—न ताद् ब्राह्मणाद् निन्दामि

तान् ब्राह्मणान् इति प्राप्ते । शे—न युष्मे वाजबन्धवः (ऋ० ८।६८।१९), अस्मे इन्द्राबृहस्पती (ऋ० ४।४९।४) । यूयं वयमिति प्राप्ते । या—उरुया, धृष्णुया । उरुणा धृष्णुनेति प्राप्ते । डा—नाभा पृथिव्याम् (ऋ० १।१४३।४) । नाभौ पृथिव्यामिति प्राप्ते । ड्या—अनुष्ट्या च्यावयतात् । अनुष्टुभेति प्राप्ते । याच्—साधुया (ऋ० १।४६।११) । साधु इति (नपुंसकलिङ्गे) प्राप्ते । आल्—वसन्ता यजेत । वसन्ते इति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—[सुपाम्] सुपों के स्थान में [सुलुक्......जालः] सु, लुक्, पूर्वसवर्ण, आ, आत्, शे, या, डा, ड्या, याच्, आल् ये आदेश होते हैं, वेद-विषय में ॥ पन्थाः, यहाँ जस् सुप् के स्थान में सु आदेश हो गया है, अन्यथा बहुवचन में पन्थानः प्राप्त था । पन्थाः की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें ॥ चर्मन्, यद्, तद् में सप्तमी एकवचन ङि का लुक् हुआ है ॥ धीती मती सुष्टुती में धीति मति सुष्टुति से परे तृतीया एकवचन 'टा' को पूर्वसवर्ण आदेश, अर्थात् पूर्व जैसे इकार था, वैसे टा को भी 'इ' हो गया । पश्चात् दोनों इकारों को सवर्णदीर्घ (६।१।९७) होकर धीती आदि बन गया ॥ उभ शब्द से परे 'औ' को 'आ' आदेश, तथा प्रथमयोः० (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण एकादेश होकर 'उभा' बनता है ॥ तान् ब्राह्मणात् में शस्[1] के स्थान में आत् हुआ है ॥ युष्मे, यहाँ सप्तमी बहुवचन सु को शे आदेश हुआ है । 'अस्मे' की सिद्धि परि० १।१।१३ में देखें, तद्वत् यह भी है ॥ उरुया धृष्णुया, यहाँ 'टा' के स्थान में याच् हुआ है ॥ नाभि शब्द से परे ङि को 'डा' आदेश होकर नाभा बनता है । डित् होने से टि भाग का लोप होता है ॥ अनुष्टुप् से परे 'टा' को ड्या आदेश एवं टिलोप होकर अनुष्ट्या बनता है ॥ साधु शब्द से परे प्रथमा एकवचन सु को याच् आदेश होकर साधुया बनता है ॥ वसन्ता, यहाँ ङि के स्थान में आल् आदेश हुआ है ॥

अमो मश् ॥७।१।४०॥

अमः ६।१॥ मश् १।१॥ अनु०—छन्दसि ॥ अर्थः—अमः स्थाने मश् आदेशो भवति छन्दसि विषये । 'अम्' इति मिबादेशो गृह्यते ॥ उदा०—वधीं वृत्रम् (ऋ० १।१६५।८); क्रमीं वृक्षस्य शाखाम् ॥

भाषार्थः—[अमः] अम् के स्थान में [मश्] मश् आदेश होता है, वेद-विषय में ॥ तस्थस्थ० (३।४।१०१) से जो मिप् के स्थान में अम् आदेश होता है, वह यहाँ लिया गया है ॥ मश् में अकार उच्चारणार्थ है, तथा शित्करण सर्वा-

१. न्यासे 'द्वितीयैकवचनस्यात्' इति पाठः ॥

देशार्थ (१।१।५४) है ।। हन् धातु से लुङ् में 'वधीम्' बना है । बहुलं छन्दस्य० (६।४।७५) से अट् आगम का अभाव यहाँ हुआ है, तथा लुङि च (२।४।४३) से हन् को वध आदेश होता है । शेष कार्य परि० १।१।१ के अलावीत् के समान होकर वध् इ ई अम् रहा । अम् को मश् होकर वधी म् = वधीम् बन गया । इसी प्रकार क्रमु धातु से क्रमीम् बना है, केवल यहाँ स्नुक्रमोर० (७।२।३६) से इट् आगम ही विशेष है ।।

त. लोप **लोपस्त आत्मनेपदेषु** ।।७।१।४१।।

लोप: १।१।। तः ६।१।। आत्मनेपदेषु ७।३।। अनु०—छन्दसि ।। अर्थः—आत्मनेपदेषु यस्तकारस्तस्य छन्दसि विषये लोपो भवति ।। उदा०—देवा अदुह्र; गन्धर्वाप्सरसो अदुह्र । अदुहतेति प्राप्ते । दुहामश्विभ्याम् पयो अघ्न्येयम्, दक्षिणतः शये ।।

भाषार्थः—वेद-विषय में [आत्मनेपदेषु] आत्मनेपद में जो [तः] तकार उसका [लोपः] लोप हो जाता है ।। सिद्धि परिशिष्ट में देखें ।।

ध्वमः ध्वात् **ध्वमो ध्वात्** ।।७।१।४२।।

ध्वमः ६।१।। ध्वात् १।१।। अनु०—छन्दसि ।। अर्थः—छन्दसि विषये ध्वमः स्थाने ध्वात् इत्ययमादेशो भवति ।। उदा०—अन्तरेवोष्माणं वारयध्वात् (ऐ० ब्रा० २।६) । वारयध्वमिति प्राप्ते ।।

भाषार्थः—वेद-विषय में [ध्वमः] ध्वम् के स्थान में [ध्वात्] ध्वात् आदेश होता है ।। वृङ् अथवा वृञ् धातु से हेतुमति च (३।१।२६) से णिच् करके लोट् का वारयध्वात् रूप है । वारि शप् ध्वम् = गुण अयादेश तथा ध्वात् होकर वारयध्वात् बन गया ।।

यजध्वैनमिति च ।।७।१।४३।। निपातन

यजध्वैनम्[1] १।१।। इति अ० ।। च अ० ।। अनु०—छन्दसि ।। अर्थः—यजध्वैनमिति निपात्यते छन्दसि । यजध्वम् इत्यस्य एनम् इत्येतस्मिन् परतो मकारलोपो निपात्यते ।। उदा०—यजध्वैनं प्रियमेधाः (ऋ० ८।२।३७) । यजध्वमेनमिति प्राप्ते ।।

भाषार्थः—वेद-विषय में [यजध्वैनम्] यजध्वैनम् [इति] यह शब्द [च] भी निपातन किया जाता है । एनम् परे रहते यजध्वम् के मकार का लोप निपातित है । यजध्वमेनम् प्राप्त था, यजध्वैनम् हो गया ।।

---

१. काशिकाकार ने 'यजध्यैनम्' पाठ माना है । पदमञ्जरीकार ने 'यजध्वैनम्' पाठान्तर बताया है । सिद्धान्तकौमुदी में 'यजध्यैनम्' पाठ को प्रामादिक कहा है ।।

तस्य तात् ॥७।१।४४॥

तस्य ६।१॥ तात् १।१॥ अनु०—छन्दसि ॥ अर्थः—लोट्मध्यमपुरुषबहुवचनस्य तशब्दस्य स्थाने छन्दसि विषये तात् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—गात्रं गात्रमस्या नूनं कृणुतात् (ऐ० ब्रा० २।६) । कृणुत इति प्राप्ते । ऊवध्यगोहं पार्थिवं खनतात् (ऐ० ब्रा० २।६) । खनत इति प्राप्ते । अस्नारक्षः संसृजतात् (ऐ० ब्रा० २।६) । संसृजतेति प्राप्ते । सूर्यं चक्षुर्गमयतात् (ऐ० ब्रा० २।६) । गमयतेति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—'त' से यहाँ लोट् के मध्यम पुरुष में जो तस्थस्थमिपां० (३।४।१०१) से किया हुआ त आदेश वह लिया गया है ॥ लोट्मध्यमपुरुष बहुवचन का जो [तस्य] त उसके स्थान में [तात्] तात् आदेश वेद-विषय में होता है ॥ कृणुतात् में धिन्विकृण्व्योः० (३।१।८०) सूत्र लगता है । पूरी सिद्धि की प्रक्रिया परि० ३।१।८० के कृणोति की सिद्धि में ही देख लें । संसृजतात् में तुदादिभ्यः शः (३।१।७७) से श हुआ है । तथा गमयतात् में णिजन्त से लोट् हुआ जानें ॥

यहाँ से 'तस्य' की अनुवृत्ति ७।१।४५ तक जायेगी ॥

तप्तनप्तनथनाश्च ॥७।१।४५॥

तप्तनप्तनथनाः १।३॥ च अ० ॥ स०—तप० इत्यत्रेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तस्य, छन्दसि ॥ अर्थः—छन्दसि विषये तस्य स्थाने तप, तनप्, तन, थन इत्येते आदेशाः भवन्ति ॥ उदा०—तप्—शृणोत ग्रावाणः । शृणुतेति प्राप्ते । सुनोत । सुनुत इति प्राप्ते । तनप्—संवरत्रा दधातन (ऋ० ८।१०१।५) । धत्तेति प्राप्ते । तन—ऋभवस्त जुजुष्टन (ऋ० ४।३६।७) । जुषतेति प्राप्ते । थन—यदिष्ठन । यदिच्छतेति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—त के स्थान में [तप्तनप्तनथनाः] तप्, तनप्, तन, थन ये आदेश [च] भी छन्द-विषय में होते हैं ॥ पूर्ववत् 'त' लोट्मध्यमपुरुषबहुवचन का लिया गया है ॥ शृणोत में श्रुवः शृ च (३।१।७४) से श्नु प्रत्यय, एवं शृ आदेश हुआ है । तप् के पित् होने से सार्वधातु० (१।२।४) से ङित्वत् न होने से गुण हो गया है । सुनोत में श्नु (३।१।७३) विकरण हुआ है ॥ दधातन में श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व हुआ है ॥ जुजुष्टन, यहाँ जुष धातु से बहुलं छन्दसि (२।४।७६) से शप् को श्लु आदेश हुआ है । पश्चात् द्वित्व एवं तन आदेश होकर ष्टुत्व हुआ है ॥ यद् इष्ठन, यहाँ इषु धातु के श विकरण का बहुलं छन्दसि (२।४।७३) से लुक् हुआ है । इष् थन=ष्टुत्व होकर इष्ठन बन गया ॥

मस → मसि

इदन्तो मसि ॥७।१।४६॥

इदन्तः १।१॥ मसि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ स०—इत् अन्तोऽवयवो यस्य स इदन्तः, बहुव्रीहिः ॥ अन्तः शब्दोऽत्रावयववचनः ॥ अनु०—छन्दसि ॥ अर्थः—मस् इत्ययं शब्द इकारान्तो भवति छन्दसि विषये ॥ मसि इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ॥ उदा०—पुनस्त्वा दीपयामसि । 'दीपयामः' इति प्राप्ते । शलभं भञ्जयामसि । 'भञ्जयामः' इति प्राप्ते । त्वयि रात्रिं वासयामसि । 'वासयामः' इति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—वेद-विषय में [मसि] मस् (सकारान्त शब्द) [इदन्तः] इत्=इकार अन्त=अवयववाला हो जाता है । अर्थात् मस् को इकार आगम होता है, और वह अन्त को होता है ॥ दीपी भञ्ज तथा वस धातु के ण्यन्त से लट् में दीपयामसि आदि प्रयोग बने हैं ॥

क्त्वा → क्त्वा + यक्

क्त्वो यक् ॥७।१।४७॥

क्त्वः ६।१॥ यक् १।१॥ अनु०—छन्दसि ॥ अर्थः—छन्दसि विषये क्त्वा इत्येतस्य यक् आगमो भवति ॥ उदा०—दत्वाय सविता धियः । 'दत्वा' इति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—वेद-विषय में [क्त्वः] क्त्वा को [यक्] यक् आगम होता है ॥ दत्वा, यहाँ आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से अन्त में यक् आगम होकर दत्वा यक्=दत्वाय बन गया ॥

निपातन

इष्ट्वीनमिति च ॥७।१।४८॥

इष्ट्वीनम् १।१॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ अनु०—छन्दसि ॥ अर्थः—छन्दसि विषये इष्ट्वीनमिति शब्दो निपात्यते । यजेः क्त्वाप्रत्ययान्तस्य ईनमन्तादेशो निपात्यते ॥ उदा०—इष्ट्वीनं देवान् । इष्ट्वा देवान् इति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—वेद-विषय में [इष्ट्वीनम्] इष्ट्वीनम् [इति] यह क्त्वा-प्रत्ययान्त शब्द [च] भी निपातन किया जाता है ॥ यज से क्त्वा प्रत्यय करके इष्ट्वा परि० १।१।४४ के इष्टः के समान बनता है । उसको यहाँ ईनम् अन्तादेश निपातन किया जाता है । इष्ट्वाईनम्=इष्ट्वीनम् बना ॥

निपातन

स्नात्व्यादयश्च ॥७।१।४९॥

स्नात्व्यादयः १।३॥ च अ० ॥ स०—स्नात्वी आदिर्येषां ते स्नात्व्यादयः, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—छन्दसि ॥ अर्थः—स्नात्वी इत्येवमादयः शब्दाः छन्दसि विषये निपात्यन्ते । निपातनाद् ईकारान्तादेशो भवति ॥ उदा०—स्नात्वी मलादिव (मै० ३।११।१०) । 'स्नात्वा' इति प्राप्ते । पीत्वी सोमस्य वावृधे (ऋ० ३।४०।७) । 'पीत्वा' इति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—[स्नात्व्यादयः] स्नात्वी इत्यादि शब्द [च] भी वेद-विषय में निपातन किये जाते हैं। ईकार अन्तादेश ही यहाँ निपातन है॥

आज्जसेरसुक् ॥७।१।५०॥

आत् ५।१॥ जसेः ६।१॥ असुक् १।१॥ अनु०—छन्दसि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अवर्णान्तादङ्गादुत्तरस्य जसेरसुक् आगमो भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—ब्राह्मणासः (ऋ० ७।१०३।७-८)। पितरः सोम्यासः (ऋ० १०।१५।१)। ब्राह्मणाः, सोम्याः इति प्राप्ते॥

भाषार्थः—वेद-विषय में [आत्] अवर्णान्त अङ्ग से उत्तर [जसेः] जस् को [असुक्] असुक् आगम होता है ॥ पूर्ववत् जस् के अन्त को असुक् होकर, ब्राह्मण जस् असुक्=ब्राह्मण अस् अस् रहा। प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) लगकर ब्राह्मणास् अस्=रुत्व विसर्जनीय होकर 'ब्राह्मणासः' बन गया॥

यहाँ से 'आत्' की अनुवृत्ति ७।१।५२ तक, तथा 'असुक्' की अनुवृत्ति ७।१।५१ तक जायेगी॥

अश्वक्षीरवृषलवणानामात्मप्रीतौ क्यचि ॥७।१।५१॥

अश्वक्षीरवृषलवणानाम् ६।३॥ आत्मप्रीतौ ७।१॥ क्यचि ७।१॥ स०—अश्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। आत्मनः प्रीतिः आत्मप्रीतिः, तस्याम् ... षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—असुक्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अश्व, क्षीर, वृष, लवण इत्येतेषामङ्गानामात्मप्रीतिविषये क्यचि परतोऽसुक् आगमो भवति॥ उदा०—आत्मनोऽश्वमिच्छति=अश्वस्यति वडवा। क्षीरस्यति माणवकः। वृषस्यति गौः। लवणस्यत्युष्ट्रः॥

भाषार्थः—[अश्वक्षीरवृषलवणानाम्] अश्व, क्षीर, वृष, लवण इन अङ्गों को [क्यचि] क्यच् परे रहते [आत्मप्रीतौ] आत्मा की प्रीति-विषय में असुक् आगम होता है॥ अश्व+क्यच्, यहाँ अङ्ग को असुक् (१।१।४५) होकर अश्व असुक् य=अश्व अस् य रहा। अतो गुणे (६।१।९४) से पररूपत्व, एवं धातु-संज्ञा (३।१।३२ से) होकर अश्वस्यति बन गया। इसी प्रकार सब में जानें। सर्वत्र सुप आत्मनः क्यच् (३।१।८) से क्यच् हुआ है। अतः आत्मप्रीति (=अपने को जो प्रिय) विषय है॥ उदा०—अश्वस्यति वडवा (=घोड़ी अश्व को चाहती है)। क्षीरस्यति माणवकः (=बालक दूध चाहता है) इत्यादि सब इसी प्रकार हैं॥

आमि सर्वनाम्नः सुट् ॥७।१।५२॥

आमि ७।१॥ सर्वनाम्नः ५।१॥ सुट् १।१॥ अनु०—आत्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—

अवर्णान्तात् सर्वनाम्न उत्तरस्यामः सुट् आगमो भवति ॥ उदा०—सर्वेषाम्, विश्वेषाम्, येषाम्, तेषाम्, सर्वासाम्, यासाम्, तासाम् ॥

भाषार्थः—अवर्णान्त [सर्वनाम्नः] सर्वनाम से उत्तर [आमि] आम् को [सुट्] सुट् का आगम होता है ॥ तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) से सर्वनाम से उत्तर 'आमि' का षष्ठी विभक्ति में परिवर्तन होकर 'आम्' को सुट् होता है, यह अर्थ हुआ ॥ सर्वेषाम् विश्वेषाम् की सिद्धि परि० १।१।२६ में देखें । यद् तद् को त्यदाद्यत्व होकर इसी प्रकार येषाम् तेषाम् बनेगा । स्त्रीलिङ्ग में टाप् होकर 'यद् टाप् सुट् आम्' रहा । त्यदाद्यत्व होकर—य अ आ स् आम् = यासाम् आदि बनेगा ॥ ह्रस्वान्तों से ह्रस्वनद्यापो० (७।१।५४) से नुट् की प्राप्ति थी, सुट् कह दिया ॥

यहाँ से 'आमि' की अनुवृत्ति ७।१।५७ तक जायेगी ॥

त्रेस्त्रयः ॥७।१।५३॥

त्रेः ६।१॥ त्रयः १।१॥ अनु०—आमि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—त्रि इत्येतस्याङ्गस्य त्रय इत्ययमादेशो भवत्यामि परतः ॥ उदा०—त्रयाणाम् ॥

भाषार्थः—[त्रेः] त्रि अङ्ग को [त्रयः] त्रय आदेश आम् परे रहते होता है ॥ त्रि आम् = त्रय आम्, यहाँ ह्रस्वनद्यापो० (७।१।५४) से नुट् आगम होकर त्रय नुट् आम् रहा । सुपि च (७।३।१०२) से दीर्घत्व एवं णत्व (८।४।२ से) होकर त्रयाणाम् बन गया ॥

ह्रस्वनद्यापो नुट् ॥७।१।५४॥

ह्रस्वनद्यापः ५।१॥ नुट् १।१॥ स०—ह्रस्वश्च नदी च आप् च ह्रस्वनद्याप्, तस्मात्......समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—आमि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ह्रस्वान्तात् नद्यन्तात् आबन्ताच्चाङ्गादुत्तरस्यामो नुट् आगमो भवति ॥ उदा०—ह्रस्वान्तात्—वृक्षाणाम्, प्लक्षाणाम्, अग्नीनाम्, वायूनाम्, कर्तॄणाम्, हर्तॄणाम् ॥ नद्यन्तात्—कुमारीणाम्, किशोरीणाम्, गौरीणाम्, शार्ङ्गरवीणाम्, लक्ष्मीणाम्, ब्रह्मबन्धूनाम्, वीरबन्धूनाम् । आबन्तात्—खट्वानाम्, मालानाम्, बहुराजानाम्, कारीषगन्ध्यानाम् ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वनद्यापः] ह्रस्वान्त नद्यन्त तथा आप् अन्तवाले अङ्ग से उत्तर आम् को [नुट्] नुट् का आगम होता है ॥ अकारान्तों में सुपि च (७।३।१०२)-से, तथा अन्यत्र नामि (६।४।३)-से दीर्घत्व हुआ जानें । कुमारी

१. इस बात की विशेष व्याख्या महाभाष्य में देखें ॥

किशोरी आदि की यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३) से नदी-संज्ञा है । बहुराजा में डाबुभाभ्या० (४।१।१३) से डाप् हुआ है ॥

यहाँ से 'नुट्' की अनुवृत्ति ७।१।५७ तक जायेगी ॥

षट्चतुर्भ्यश्च ॥७।१।५५॥　नुट् - आगम

षट्चतुर्भ्यः ५।३॥ च अ०॥ स०—षट् च चत्वारश्च षट्चत्वारः, तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नुट्, आमि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—षट्संज्ञकेभ्यश्चतुःशब्दाच्चोत्तरस्यामो नुट् आगमो भवति ॥ उदा०—षण्णाम्, पञ्चानाम्, सप्तानाम्, नवानाम्, दशानाम् । चतुर्णाम् ॥

भाषार्थः—[षट्चतुर्भ्यः] षट्संज्ञक तथा चतुर् शब्द से उत्तर [च] भी आम् को नुट् का आगम होता है ॥ षष् नुट् आम् = षष् नाम्, यहाँ झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व होकर षड् नाम् रहा । यरोऽनुना० (८।४।४४) से अनुनासिक होकर षण् नाम् हुआ, तथा ष्टुत्व होकर षण्णाम् बन गया । पञ्चानाम् आदि की सिद्धि ६।४।७ सूत्र में देखें । ष्णान्ता षट् (१।१।२३) से षट्-संज्ञा है ही ॥

श्रीग्रामण्योश्छन्दसि ॥७।१।५६॥　नुट्

श्रीग्रामण्योः ६।२॥ छन्दसि ७।१॥ स०—श्रीश्च ग्रामणीश्च श्रीग्रामण्यौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नुट्, आमि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—श्री ग्रामणी इत्येतयोश्छन्दसि विषये आमो नुडागमो भवति ॥ उदा०—श्रीणामुदारो धरुणो रयीणाम् (ऋ० १०।४५।५) । अप्यत्र सूतग्रामणीनाम् ॥

भाषार्थः—[श्रीग्रामण्योः] श्री तथा ग्रामणी अङ्ग के आम् को [छन्दसि] वेद-विषय में नुट् का आगम होता है ॥ श्री शब्द की वामि (१।४।५) से विकल्प से नदी-संज्ञा प्राप्त है । सो जब नदी-संज्ञा नहीं होगी, तो ह्रस्वनद्यो० (७।१।५४) से नुट् नहीं हो सकेगा । अतः नित्य ही नुट् हो, इसलिये श्री का ग्रहण है ॥ सूताश्च ग्रामण्यश्च सूतग्रामण्यस्तेषाम् सूतग्रामणीनाम्, यहाँ इतरेतरद्वन्द्व समास है । इतरेतरद्वन्द्व में ह्रस्व न होने से पूर्ववत् नुट् प्राप्ति नहीं थी, तदर्थ यह वचन है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ७।१।५७ तक जायेगी ॥

गोः पादान्ते ॥७।१।५७॥　नुट् - आगम

गोः ५।१॥ पादान्ते ७।१॥ स०—पादस्य अन्तः पादान्तः, तस्मिन् षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—छन्दसि, नुट्, आमि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छन्दसि विषये गोः

इत्येतस्माद् ऋक्पादान्ते वर्त्तमानादुत्तरस्यामो नुडागमो भवति ॥ उदा०—विद्मा हि त्वा गोपतिं शूरगोनाम् (ऋ० १०।४७।१) ॥

भाषार्थः—वेद-विषय में [पादान्ते] ऋचा के पाद के अन्त में वर्त्तमान [गोः] गो शब्द से उत्तर आम् को नुट् का आगम होता है ॥ यहाँ छन्द का अधिकार होने से ऋचा का पादान्त ही लिया जायेगा, न कि श्लोक का पादान्त ॥ उपर्युक्त मन्त्रखण्ड मन्त्र के तीसरे पाद का है। उसमें 'गो' शब्द पाद के अन्त में है ही, सो नुम् हो गया ॥

इदितो नुम् धातोः ॥७।१।५८॥ नुम् आगम

इदितः ६।१॥ नुम् १।१॥ धातोः ६।१॥ स०—इत् इत् यस्य स इदित्, तस्य ....बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—इदितो धातोर्नुमागमो भवति ॥ उदा०—कुडि—कुण्डिता, कुण्डितुम्, कुण्डितव्यम्, कुण्डा । हुडि—हुण्डिता, हुण्डितुम्, हुण्डितव्यम्, हुण्डा ॥

भाषार्थः—[इदितः] इकार इत्संज्ञक है, जिसका ऐसे [धातोः] धातु को [नुम्] का आगम होता है ॥ कुण्डा, हुण्डा की सिद्धि परि० १।४।११ में देखें, शेष सब स्पष्ट ही है ॥ यह नुमागम प्रत्ययोत्पत्ति से पूर्व ही होता है। अत एव नुम् होने पर संयोगे गुरु (१।४।११) से गुरु-संज्ञा होकर गुरोश्च हलः (३।३।१०३) से स्त्रीलिङ्ग में अङ् प्रत्यय हो जाता है ॥

यहाँ से 'नुम्' की अनुवृत्ति ७।१।८३ तक जायेगी ॥

शे मुचादीनाम् ॥७।१।५९॥ नुम् - आगम

शे ७।१॥ मुचादीनाम् ६।३॥ स०—मुच् आदिर्येषां ते मुचादयः, तेषाम् ......, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—शे प्रत्यये परतो मुचादीनामङ्गानां नुमागमो भवति ॥ उदा०—मुच्लृ—मुञ्चति । लुप्लृ—लुम्पति । विद्लृ—विन्दति । लिपि—लिम्पति । षिच्—सिञ्चति । कृती—कृन्तति । खिद—खिन्दति । पिश—पिंशति ॥

भाषार्थः—[शे] श प्रत्यय परे रहते [मुचादीनाम्] मुचादि धातुओं को नुम् आगम होता है ॥ मुञ्चति की सिद्धि परि० १।१।४६, पृ० ७१६ में देखें । इसी प्रकार अन्यों में भी जानें ॥

मस्जिनशोर्झलि ॥७।१।६०॥ नुम् - आगम

मस्जिनशोः ६।२॥ झलि ७।१॥ स०—मस्जि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मस्जि नशि इत्येतयोरङ्गयोर्झलादौ प्रत्यये परतो नुमागमो भवति ॥ उदा०—मङ्क्ता, मङ्क्तुम्, मङ्क्तव्यम् । नंष्टा, नंष्टुम्, नंष्टव्यम् ॥

भाषार्थः—[मस्जिनशोः] 'टुमस्जो शुद्धौ' तथा 'णश अदर्शने' धातुओं को [झलि] झलादि प्रत्यय परे रहते नुम् आगम होता है ॥ टुमस्जो=मस्ज तृच, यहाँ मस्जेरन्त्यात् पूर्वं नुममिच्छन्त्यनुषङ्गसंयोगादिलोपार्थम् (वा० १।१।४६) इस वार्त्तिक से अन्त्य अल् से पूर्व को नुम् आगम हुआ । अर्थात् मिदचोऽन्त्यात्परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् म के अ से परे नुम् की प्राप्ति थी । इस वार्त्तिक से अन्त्य से पूर्व कहने से ज् से पूर्व नुम् हुआ । मस् नुम् ज् तृच्=मसन्ज् तृ, यहाँ स्कोः संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९) से सकारलोप, एवं चोः कुः (८।२।३०) से जकार को कुत्व, तथा खरि च (८।४।५४) से चर्त्व होकर मन्क्ता रहा । अब नश्चापदान्त० (८।३।२४) से नकार को अनुस्वार, एवं अनुस्वारस्य० (८।४।५७) से परसवर्ण होकर मङ्क्ता बन गया । एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से यहाँ इट् निषेध होता है ॥ नंष्टा, यहाँ रधादिभ्यश्च (७।२।४५) से जिस पक्ष में इट् नहीं हुआ, उस पक्ष में नुम्, तथा व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से षत्व, एवं ष्टुत्व होकर नंष्टा बना है । इट् पक्ष में झलादित्व का अभाव होने से नुम् नहीं हुआ ॥

रधिजभोरचि ॥७।१।६१॥ नुम् आगम

रधिजभोः ६।२॥ अचि ७।१॥ स०—रधि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अजादौ प्रत्यये परतो रधि, जभि इत्येतयोरङ्गयोर्नुमागमो भवति ॥ उदा०—रन्धयति, रन्धकः, साधुरन्धी, रन्धंरन्धम्, रन्धो वर्त्तते । जभि—जम्भयति, जम्भकः, साधुजम्भी, जम्भञ्जम्भम्, जम्भो वर्त्तते ॥

भाषार्थः—[अचि] अजादि प्रत्यय परे रहते [रधिजभोः] 'रध हिंसासंराद्ध्योः' तथा 'जभ गात्रविनामे' अङ्ग को नुम् आगम होता है ॥ रन्धयति, जम्भयति में णिच् (३।१।२६ से) होकर लट् प्रत्यय हुआ है । रन्धकः में ण्वुल्, तथा साधुरन्धी में सुप्यजातौ णिनि० (३।२।७८) से णिनि हुआ है । रन्धंरन्धम्, यहाँ आभीक्ष्ण्ये० (३।४।२२) से णमुल्, तथा आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः (वा० ८।१।१२) से द्वित्व हुआ है । रन्धः में भावे (३।३।१८) से घञ् हुआ है । इसी प्रकार जम्भकः आदि में जानें ॥

यहाँ से 'अचि' की अनुवृत्ति ७।१।६४ तक जायेगी ॥

नेट्यलिटि रधेः ॥७।१।६२॥ नुम आगम निषेध

न अ० ॥ इटि ७।१॥ अलिटि ७।१॥ रधेः ६।१॥ स०—न लिट् अलिट्, तस्मिन् ...... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इडादावलिटि प्रत्यये परतो रधेरङ्गस्य नुमागमो न भवति ॥ उदा०—रधिता, रधितुम्, रधितव्यम् ॥

भाषार्थः—[अलिटि] लिट्-भिन्न [इटि] इडादि प्रत्यय परे रहते [रधेः] रध अङ्ग को नुम् आगम [न] नहीं होता ॥ पूर्वसूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया । रधादिभ्यश्च (७।२।४५) से पक्ष में जब इट् आगम होता है, तभी ये उदाहरण बनेंगे ॥

नुम् - आगम

रभेरशब्लिटोः ॥७।१।६३॥

रभेः ६।१॥ अशब्लिटोः ७।२॥ स०—शप् च लिट् च शब्लिटौ, इतरेतरद्वन्द्वः । न शब्लिटौ अशब्लिटौ, तयोः······नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अचि, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—शब्लिड्वर्जितेऽजादौ प्रत्यये परतो रभेरङ्गस्य नुमागमो भवति ॥ उदा०—आरम्भयति, आरम्भकः, साध्वारम्भी, आरम्भमारम्भम्, आरम्भो वर्तते ॥

भाषार्थः—[अशब्लिटोः] शप् तथा लिट्वर्जित अजादि प्रत्ययों के परे रहते [रभेः] 'रभ राभस्ये' अङ्ग को नुम् आगम होता है ॥ पूर्ववत् (७।१।६१) सिद्धियों के सूत्र जानें । नुम् को अनुस्वार एवं परसवर्ण भी पूर्ववत् ही होगा ॥

यहाँ से 'अशब्लिटोः' की अनुवृत्ति ७।१।६४ तक जायेगी ॥

नुम्-आगम

लभेश्च ॥७।१।६४॥

लभेः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—अशब्लिटोः, अचि, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—लभेरङ्गस्य च शब्लिड्वर्जितेऽजादौ प्रत्यये परतो नुमागमो भवति ॥ उदा०—लम्भयति, लम्भकः, साधुलम्भी, लम्भंलम्भम्, लम्भो वर्तते ॥

भाषार्थः—शप् तथा लिट्वर्जित अजादि प्रत्ययों के परे रहते [लभेः] 'डुलभष् प्राप्तौ' अङ्ग को [च] भी नुम् आगम होता है ॥ सिद्धियाँ पूर्ववत् हैं ॥

यहाँ से 'लभेः' की अनुवृत्ति ७।१।६९ तक जायेगी ॥

नुम्-आगम

आङो यि ॥७।१।६५॥

आङः ५।१॥ यि ७।१॥ अनु०—लभेः, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आङ उत्तरस्य लभेर्यकारादिप्रत्ययविषये नुमागमो भवति ॥ उदा०—आलम्भ्या गौः, आलम्भ्या वडवा ॥

भाषार्थः—[आङः] आङ् से उत्तर [यि] यकारादि प्रत्यय के विषय में लभ अङ्ग को नुम् आगम होता है ॥ यि में विषयसप्तमी मानने से पहले नुम् करके पश्चात् ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् होता है । नुम् कर लेने पर अदुपधत्व न होने से पोरदुपधात् (३।१।९८) से यत् न होकर ण्यत् ही हो, यही विषयसप्तमी का प्रयोजन है ॥

यहाँ से 'यि' की अनुवृत्ति ७।१।६६ तक जायेगी ॥

उपात् प्रशंसायाम् ॥७।१।६६॥ नुम्-आगम

उपात् ५।१॥ प्रशंसायाम् ७।१॥ अनु०—यि, लभेः, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—प्रशंसायां गम्यमानायामुपादुत्तरस्य लभेरङ्गस्य यकारादिप्रत्ययविषये नुमागमो भवति ॥ उदा०—उपलम्भ्या भवता विद्या, उपलम्भ्यानि धनानि ॥

भाषार्थः—[प्रशंसायाम्] प्रशंसा गम्यमान होने पर [उपात्] उप उपसर्ग से उत्तर लभ अङ्ग को यकारादि प्रत्यय के विषय में नुम् आगम होता है ॥ पूर्ववत् ण्यत् प्रत्यय उदाहरणों में जानें। उपलम्भ्या भवता विद्या='आप से विद्या प्राप्त करने योग्य है' अर्थात् आप विद्या प्राप्त करने में समर्थ हैं, ऐसा कहकर प्रशंसा व्यक्त की जा रही है ॥

उपसर्गात् खल्घञोः ॥७।१।६७॥ नुम्-आगम

उपसर्गात् ५।१॥ खल्घञोः ७।२॥ स०—खल्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—लभेः, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—खल्घञोः परत उपसर्गादुत्तरस्य लभेर्नुमागमो भवति ॥ उदा०—ईषत्प्रलम्भः, सुप्रलम्भः, दुष्प्रलम्भः। घञि—प्रलम्भः, विप्रलम्भः ॥

भाषार्थः—[खल्घञोः] खल् तथा घञ् प्रत्ययों के परे रहते [उपसर्गात्] उपसर्ग से उत्तर लभ अङ्ग को नुम् आगम होता है ॥ ईषद्दुःसुषु० (३।३।१२६) से खल् प्रत्यय होता है। दुष्प्रलम्भः में इदुदुपधस्य० (८।३।४१) से षत्व हुआ है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।७८ तक जायेगी ॥

न सुदुर्भ्यां केवलाभ्याम् ॥७।१।६८॥ नुम्-आगम निषेध

न अ० ॥ सुदुर्भ्याम् ५।२॥ केवलाभ्याम् ५।२॥ स०—सुश्च दुर् च सुदुरौ, ताभ्याम् ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपसर्गात्, खल्घञोः, लभेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सु दुर् इत्येताभ्यां केवलाभ्याम्=उपसर्गान्तररहिताभ्यां लभेर्नुम् न भवति, खल्घञोः परतः ॥ उदा०—सुदुर्लभम्, सुलभम्, दुर्लभम्। घञि—सुलाभः, दुर्लाभः ॥

भाषार्थः—[केवलाभ्याम्] केवल [सुदुर्भ्याम्] सु तथा दुर् उपसर्गों से उत्तर लभ धातु को खल् तथा घञ् प्रत्यय परे रहते नुम् आगम [न] नहीं होता है ॥ केवल ग्रहण इसलिये है कि कोई अन्य उपसर्ग सु दुर् से पूर्व एवं उत्तर में न हो ॥

विभाषा चिण्णमुलोः ॥७।१।६९॥ नुम्-आगम विकल्प

विभाषा १।१॥ चिण्णमुलोः ७।२॥ स०—चिण्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—लभेः, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—लभेरङ्गस्य चिण् णमुल् इत्येतयोः परतो विकल्पेन नुम् भवति ॥ उदा०—चिण्—अलाभि, अलम्भि। णमुल्—लाभंलाभम्, लम्भंलम्भम् ॥

भाषार्थः—लभ अङ्ग को [चिण्णमुलोः] चिण् तथा णमुल् प्रत्यय परे रहते [विभाषा] विकल्प से नुम् आगम होता है ॥ अलाभि अलम्भि में चिण् भाव० (३।१।६६) से चिण् हुआ है। एवं णमुल् प्रत्यय पूर्ववत् जानें ॥

नुम्-आगम

उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधातोः ।।७।१।७०।।

उगिदचाम् ६।३।। सर्वनामस्थाने ७।१।। अधातोः ६।१।। स०—उक् इत् येषां ते उगितः बहुव्रीहिः। उगितश्च अच्च उगिदचः, तेषाम् ······इतरेतरद्वन्द्वः। न धातुरधातुः, तस्य······नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—नुम्, अङ्गस्य ।। अर्थः—धातुवर्जितानामुगितामङ्गानामञ्चतेश्च नुमागमो भवति, सर्वनामस्थाने परतः ।। उदा०—भवतु—भवान्, भवन्तौ, भवन्तः । ईयसुन्—श्रेयान्, श्रेयांसौ, श्रेयांसः। शतृ—पचन्, पचन्तौ, पचन्तः। अञ्चतेः—प्राङ्, प्राञ्चौ, प्राञ्चः ।।

भाषार्थः—[अधातोः] धातुवर्जित [उगिदचाम्] उक् इत्संज्ञक है जिनका, ऐसे अङ्ग को तथा अञ्चु धातु को [सर्वनामस्थाने] सर्वनामस्थान परे रहते नुम् आगम होता है ।। भवान् की सिद्धि ६।४।१४ सूत्र में देखें । यहाँ डवतुप् प्रत्यय उगित् है । श्रेयान्, यहाँ ईयसुन् परे रहते प्रशस्यस्य श्रः (५।३।६०) से श्र आदेश, ६।४।१० से दीर्घ, तथा प्रकृत्यैकाच् (६।४।१६३) से प्रकृतिभाव हुआ है ।। पचन् आदि की सिद्धि परि० ३।२।१२४ के पचन्तम् आदि के समान जानें । प्राङ् की सिद्धि परि० ३।२।५९, पृ० ८९२ में देखें । सर्वत्र सर्वनामस्थान परे है ही ।।

यहाँ से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति ७।१।७२ तक जायेगी ।।

नुम्-आगम

युजेरसमासे ।।७।१।७१।।

युजेः ६।१।। असमासे ७।१।। स०—असः० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—सर्वनामस्थाने, नुम्, अङ्गस्य ।। अर्थः—युजेरङ्गस्यासमासे सर्वनामस्थाने परतो नुमागमो भवति ।। उदा०—युङ्, युञ्जौ, युञ्जः ।।

भाषार्थः—[असमासे] असमास में [युजेः] युजि अङ्ग को सर्वनामस्थान परे रहते नुम् आगम होता है ।। युङ् की सिद्धि पूर्ववत् परि० ३।२।५९ में देखें ।।

नुम्-आगम

नपुंसकस्य झलचः ।।७।१।७२।।

नपुंसकस्य ६।१।। झलचः ६।१।। स०—झल् च अच् च झलच्, तस्य······समाहारद्वन्द्वः ।। अनु०—सर्वनामस्थाने, नुम्, अङ्गस्य ।। अर्थः—झलन्तस्य अजन्तस्य च नपुंसकस्याङ्गस्य सर्वनामस्थाने परतो नुमागमो भवति ।। उदा०—झलन्तस्य—उदश्वित्ति, शकृन्ति, यशांसि, पयांसि । अजन्तस्य—कुण्डानि, वनानि, त्रपूणि, जतूनि ।।

भाषार्थः—[झलचः] झलन्त तथा अजन्त [नपुंसकस्य] नपुंसक लिङ्गवाले अङ्ग को सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते नुम् आगम होता है ॥ यशांसि पयांसि की सिद्धि परि० १।१।४६; तथा कुण्डानि वनानि की परि० १।१।४१ में देखें । इसी प्रकार शकृत् से शकृन्ति, उदश्वित् से उदश्विन्ति में जानें ॥

यहाँ से 'नपुंसकस्य' की अनुवृत्ति ७।१।७७ तक जायेगी ।

इकोऽचि विभक्तौ ॥७।१।७३॥ नुम-आगम

इकः ६।१॥ अचि ७।१॥ विभक्तौ ७।१॥ अनु०—नपुंसकस्य, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इगन्तस्य नपुंसकस्याङ्गस्याजादौ विभक्तौ परतो नुमागमो भवति ॥ उदा०—त्रपुणी, जतुनी, तुम्बुरुणी । त्रपुणे, जतुने, तुम्बुरुणे ॥

भाषार्थः—[इकः] इक् अन्तवाले नपुंसक अङ्ग को [अचि] अजादि [विभक्तौ] विभक्ति परे रहते नुम् आगम होता है ॥ त्रपु नुम् औ, यहाँ औ को नपुंसकाच्च (७।१।१९) से शी आदेश होकर त्रपु न् शी = त्रपुणी णत्व होकर बन गया । त्रपु जतु आदि शब्द इगन्त हैं ही । त्रपुणे आदि में ङे विभक्ति परे है ॥

यहाँ से 'इकः' की अनुवृत्ति ७।१।७४ तक, तथा 'अचि विभक्तौ' की अनुवृत्ति ७।१।७५ तक जायेगी ॥ नुम - आगम

तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य ॥७।१।७४॥

तृतीयादिषु ७।३॥ भाषितपुंस्कम् १।१॥ पुंवत् अ० ॥ गालवस्य ६।१॥ स०—तृतीया आदिर्यासां ताः तृतीयादयः, तासु ········ बहुव्रीहिः । भाषितः पुमान् येन (समानायामाकृतौ एकस्मिन् प्रवृत्तिनिमित्ते) तत् भाषितपुंस्कम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—इकोऽचि विभक्तौ, नपुंसकस्य, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तृतीयादिष्वजादिषु विभक्तिषु भाषितपुंस्कं नपुंसकम् इगन्तमङ्गं गालवस्याचार्यस्य मतेन पुंवद् भवति ॥ यथा पुंसि ह्रस्वनुमौ न भवतस्तद्वदत्रापि न भवत इत्यर्थः ॥ उदा०—ग्रामण्या ब्राह्मणकुलेन, ग्रामणिना ब्राह्मणकुलेन; ग्रामण्ये ब्राह्मणकुलाय, ग्रामणिने ब्राह्मणकुलाय; ग्रामण्यो ब्राह्मणकुलात्, ग्रामणिनो ब्राह्मणकुलात्; ग्रामण्यो ब्राह्मणकुलस्य, ग्रामणिनो ब्राह्मणकुलस्य; ग्रामण्योर्ब्राह्मणकुलयोः, ग्रामणिनोर्ब्राह्मणकुलयोः; ग्रामण्यां ब्राह्मणकुलानाम्, ग्रामणीनां ब्राह्मणकुलानाम्; ग्रामण्यां ब्राह्मणकुले, ग्रामणिनि ब्राह्मणकुले । शुचिना ब्राह्मणकुलेन, शुचिना ब्राह्मणकुलेन; शुचये ब्राह्मणकुलाय, शुचिने ब्राह्मणकुलाय; शुचेर्ब्राह्मणकुलात्, शुचिनो ब्राह्मणकुलात्; शुचेर्ब्राह्मणकुलस्य, शुचिनो ब्राह्मणकुलस्य; शुच्योर्ब्राह्मणकुलयोः, शुचिनोर्ब्राह्मणकुलयोः; शुचौ ब्राह्मणकुले, शुचिनि ब्राह्मणकुले ॥

भाषार्थः—[तृतीयादिषु] तृतीया विभक्ति से लेकर आगे की अजादि

विभक्तियों के परे रहते [भाषितपुंस्कम्] भाषितपुंस्क नपुंसकलिङ्गवाले इगन्त अङ्ग को [गालवस्य] गालव आचार्य के मत में [पुंवत्] पुंवद्भाव हो जाता है ।। जिस प्रकार पुंल्लिङ्ग में ह्रस्व (१।२।४७), तथा नुम् (७।१।७३) नहीं होते, तद्वत् पुंवद्भाव करने से यहां भी पुंवद्भाव पक्ष में नहीं होंगे, यही पुंवद्भाव का फल है ।। भाषितपुंस्क की व्याख्या ६।३।३२ सूत्र में कर आये हैं, वहीं देखें ।। 'गालव आचार्य के मत में' कहने से अन्य आचार्यों के मत में पुंवद्भाव नहीं होगा, सो दो पक्ष बनेंगे। तद्वत् उदाहरण प्रदर्शित कर दिये हैं ॥

पुंवद्भाव पक्ष में ग्रामण्या ब्राह्मणकुलेन, यहां नुम् एवं ह्रस्व नहीं हुआ है। एरनेकाचो० (६।४।८२) से यणादेश हो गया है। अपुंवद्भाव पक्ष में ग्रामणी को ह्रस्वो नपुंसके० से ह्रस्वत्व हो जायेगा। ग्रामणिना, शुचिना, यहां आङो ना० (७।३।११९) से टा को नाभाव हो गया है। इसी प्रकार आगे की विभक्तियों में भी सिद्धियां समझते जायें ।। पुंवद्भाव पक्ष में शुचये शुचेः आदि में घेर्ङिति (७।३।१११) से गुण हुआ है। अपुंवद्भाव पक्ष में शुचिने आदि में नुम् ७।१।७३ सूत्र से हो ही जायेगा ।। ग्रामणी तथा शुचि शब्द एक ही प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर पुंल्लिङ्ग को भी कहते हैं अतः भाषितपुंस्क शब्द हैं ही ।।

यहां से 'तृतीयादिषु' की अनुवृत्ति ७।१।७५ तक जायेगी ।।

अनङ् - आदेश

अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः ।।७।१।७५।।

अस्थि ... णाम् ६।३।। अनङ् १।१।। उदात्तः १।१।। स०—अस्थि च दधि च सक्थि च अक्षि च अस्थि ...... क्षीणि, तेषां ...... इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—तृतीयादिषु, अचि विभक्तौ, नपुंसकस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि इत्येतेषां नपुंसकानामङ्गानां तृतीयादिष्वजादिषु विभक्तिषु परतोऽनङ् इत्ययमादेशो भवति, स चोदात्तो भवति ।। उदा०—अस्थ्ना, अस्थ्ने, अस्थ्नः इत्येवमादयः। दध्ना, दध्ने, दध्नः। सक्थ्ना, सक्थ्ने, सक्थ्नः। अक्ष्णा, अक्ष्णे, अक्ष्णः ।।

भाषार्थः—[अस्थि ... क्ष्णाम्] अस्थि, दधि, सक्थि, अक्षि इन नपुंसकलिङ्गवाले अङ्गों को तृतीयादि अजादि विभक्तियों के परे रहते [अनङ्] अनङ् आदेश होता है, और वह [उदात्तः] उदात्त होता है ।। इकोऽचि विभक्तौ (७।१।७३) से नुम् प्राप्त थी, अनङ् कह दिया ।। अस्थि आदि शब्द नब्विषयस्या० (फिट० २६) से आद्युदात्त हैं, सो शेष को अनुदात्त (६।१।१५२) होने से अनुदात्त 'इ' के स्थान में अनुदात्त अनङ् स्थानिवत् से प्राप्त था, उदात्त कह दिया ।। ङिच्च (१।१।५२) से अन्त्य अल् को अनङ् होकर अस्थ् अनङ् टा=अस्थन् आ

रहा। अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) से उदात्त अकार का लोप होकर अस्थ्ना बन गया। उदात्त का लोप होने पर उदात्तनिवृत्तिस्वर (६।१।१५५) से विभक्ति उदात्त हुई, शेष को अनुदात्त हो गया। इसी प्रकार सब में जानें॥

यहाँ से 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् उदात्तः' की अनुवृत्ति ७।१।७७ तक, तथा 'अनङ्' की ७।१।७६ तक जायेगी॥

छन्दस्यपि दृश्यते ॥७।१।७६॥ अनङ् - आदेश

छन्दसि ७।१॥ अपि अ० ॥ दृश्यते क्रियापदम् ॥ अनु०—अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः, नपुंसकस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णां छन्दस्यप्यनङ् दृश्यते। यत्र विहितस्ततोऽन्यत्रापि दृश्यते इत्यर्थः॥ उदा०—अचीत्युक्तमनजादावपि दृश्यते—इन्द्रो दधीचो अस्थभिः (ऋ० १।८४।१३); भद्रं पश्येमाक्षभिः (यजु० २५।२१)। तृतीयादिष्वित्युक्तमतृतीयादिष्वपि दृश्यते—अस्थान्युत्कृत्य जुहोति। विभक्तावित्युक्तमविभक्तावपि दृश्यते—अक्षण्वता लाङ्गलेन। अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति॥

भाषार्थः—अस्थि दधि आदि अङ्गों को [छन्दसि] वेद-विषय में [अपि] भी अनङ् [दृश्यते] देखा जाता है। अर्थात् जहाँ विधान किया गया है, उससे अन्यत्र भी देखा जाता है। यथा पूर्वसूत्र में अजादि परे कहा है, अनजादि परे भी देखा जाता है। तृतीयादि में कहा है, अतृतीयादि में भी होता है। एवं विभक्ती कहा है, अविभक्ति परे भी देखा जाता है। सभी उदाहरण ऊपर दिखा दिये हैं। अस्थानि उत्कृत्य यहाँ अस्थानि में द्वितीयाबहुवचन है। अस्थभिः आदि में अनङ् करके नकार-लोप नलोपः० (८।२।७) से हुआ है। अक्षण्वता, यहाँ विभक्ति से भिन्न मतुप् परे रहते भी अनङ् होकर 'अक्षन् मत्' रहा। अनो नुट् (८।२।१६) से मतुप् को नुट् आगम, तथा मादुपधा० (८।२।९) से मतुप् को वत्व होकर 'अक्षन् न् वत् टा' रहा। पूर्ववत् अनङ् वाले न् का लोप, एवं णत्व होकर अक्षण्वता, एवं अस्थन्वन्तम् (२।१) बन गया॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ७।१।७७ तक जायेगी॥

ई च द्विवचने ॥७।१।७७॥ ईकार - आदेश

ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ द्विवचने ७।१॥ अनु०—छन्दसि, अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णाम् उदात्तः, नपुंसकस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छन्दसि विषये द्विवचने परतोऽस्थ्यादीनामीकारादेशो भवति, स चोदात्तः॥ उदा०—अक्षी ते इन्द्र पिङ्गले कपेरिव। अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्याम् (ऋ० १०।१६३।१)॥

भाषार्थः—[द्विवचने] द्विवचन विभक्ति परे रहते वेद विषय में अस्थि आदि शब्दों को [ई] ईकारादेश होता है, [च] और वह उदात्त होता है ॥ अक्षि शी, यहाँ नपुंसकाच्च (७।१।१९) से औ को शी आदेश, तथा प्रकृतसूत्र से अन्त्य अल् को ई होकर 'अक्ष् ई शी' रहा। अब प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से प्राप्त पूर्वसवर्ण दीर्घ का निषेध दीर्घाज्जसि च (६।१।१०१) से, हुआ, तो वा छन्दसि (६।१।१०२) से पुनः प्राप्त करा दिया गया। पूर्वसवर्ण दीर्घ होकर 'अक्षी' बना। भ्याम् परे रहते भी ईकार होकर अक्षीभ्याम् बनेगा ॥

नुमागम - निषेध नाभ्यस्ताच्छतुः ॥७।१।७८॥

न अ० ॥ अभ्यस्तात् ५।१॥ शतुः ६।१॥ अनु०—नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अभ्यस्तादङ्गादुत्तरस्य शतुर्नुम् न भवति ॥ उदा०—ददत्, ददतौ, ददतः । दधत्, दधतौ, दधतः । जक्षत्, जक्षतौ, जक्षतः । जाग्रत्, जाग्रतौ, जाग्रतः ॥

भाषार्थः—[अभ्यस्तात्] अभ्यस्त अङ्ग से उत्तर [शतुः] शतृ को नुम् आगम [न] नहीं होता है ॥ उगिदचां० (७।१।७०) से नुम् आगम प्राप्त था, निषेध कर दिया। ददत् दधत् में दा धा के आ का लोप श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) से हुआ है। दा दा शतृ = द दा अत् = द द् अत् = ददत् बन गया। जक्षत् और जाग्रत् में जक्षित्यादयः षट् (६।१।६) से अभ्यस्त संज्ञा हुई है ॥

यहाँ से 'अभ्यस्तात्' की अनुवृत्ति ७।१।७९ तक, तथा 'शतुः' की ७।१।८१ तक जायेगी ॥

नुमागम विकल्प वा नपुंसकस्य ॥७।१।७९॥

वा अ० ॥ नपुंसकस्य ६।१॥ अनु०—अभ्यस्ताच्छतुः, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अभ्यस्तादङ्गादुत्तरो यः शतृप्रत्ययस्तदन्तस्य नपुंसकस्य वा नुमागमो भवति ॥ उदा०—ददति कुलानि, ददन्ति कुलानि । दधति दधन्ति वा कुलानि । जक्षति, जक्षन्ति । जाग्रति, जाग्रन्ति ॥

भाषार्थः—अभ्यस्त अङ्ग से उत्तर जो शतृ प्रत्यय तदन्त [नपुंसकस्य] नपुंसक शब्द को [वा] विकल्प से नुम् आगम होता है ॥ 'ददत् जस्' पूर्ववत् होकर नपुंसक लिङ्ग में जश्शसोः० (७।१।२०) से जस् को शि होकर ददति बन गया। पक्ष में नुम् होकर ददन्ति बन गया। इसी प्रकार अन्यों में भी जानें ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।१।८० तक जायेगी ॥

आच्छीनद्योर्नुम् ॥७।१।८०॥

आत् ५।१॥ शीनद्योः ७।२॥ नुम् १।१॥ स०—शीनद्योः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥

अनु०—वा, नुम्, शतुः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अवर्णान्तादङ्गादुत्तरस्य शतुर्वा नुमागमो भवति, शीनद्योः परतः ॥ उदा०—श्याम्—तुदती कुले, तुदन्ती कुले । याती कुले, यान्ती कुले । करिष्यती कुले, करिष्यन्ती कुले । नद्याम्—तुदती ब्राह्मणी, तुदन्ती ब्राह्मणी । याती ब्राह्मणी, यान्ती ब्राह्मणी । करिष्यती ब्राह्मणी, करिष्यन्ती ब्राह्मणी ॥

भाषार्थः—[आत्] अवर्णान्त अङ्ग से उत्तर [शीनद्योः] शी तथा नदी परे रहते शतृ प्रत्यय को विकल्प से [नुम्] नुम् आगम होता है ॥ तुद श अत् औ = तुदत् औ, यहाँ नपुंसकाच्च (७।१।१९) से शी आदेश होकर तुदत् शी = तुदती बन गया । पक्ष में तुदन्ती बना ॥ नदी परे के उदाहरणों में स्त्रीलिङ्ग में तुदत् से ङीप् प्रत्यय उगितश्च (४।१।६) से हुआ है, सो एकवचन में तुदती बना । यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३) से नदी-संज्ञा हो ही जायेगी ॥

यहाँ से 'शीनद्योः' की अनुवृत्ति ७।१।८१ तक जायेगी ॥

शप्श्यनोर्नित्यम् ॥७।१।८१॥

शप्श्यनोः ६।२॥ नित्यम् १।१॥ स०—शप्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—शीनद्योः, शतुः, नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—शप् श्यन् इत्येतयोः शतुः शीनद्योः परतो नित्यं नुमागमो भवति ॥ उदा०—श्याम्—पचन्ती कुले । दीव्यन्ती कुले, सीव्यन्ती कुले । नद्याम्—पचन्ती ब्राह्मणी । दीव्यन्ती ब्राह्मणी, सीव्यन्ती ब्राह्मणी ॥

भाषार्थः—[शप्श्यनोः] शप् तथा श्यन् का जो शतृ प्रत्यय उसको [नित्यम्] नित्य ही नुम् का आगम होता है ॥ पचन्ती कुले में पूर्ववत् शी प्रत्यय हुआ है । एवं पच् के भ्वादिगणस्थ होने से शप् विकरण हुआ है, इस प्रकार शप्-सम्बन्धी शतृ है । दीव्यन्ती में श्यन् विकरण हुआ है । नदी परेवाले उदाहरणों में पूर्ववत् ङीप् हुआ जानें ॥

सावनडुहः ॥७।१।८२॥

सौ ७।१॥ अनडुहः ६।१॥ अनु०—नुम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सौ परतोऽनडुहोऽङ्गस्य नुमागमो भवति ॥ उदा०—अनड्वान्, हे अनड्वन् ॥

भाषार्थः—[सौ] सु परे रहते [अनडुहः] अनडुह् अङ्ग को नुम् आगम होता है ॥ अनडुह् सु, यहाँ मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे प्रकृतसूत्र से नुम् होकर—अनडु नुम् ह् स् रहा । अब चतुरनडुहोरामुदात्तः (७।१।९८) से अनडुह् को आम् आगम पूर्ववत् अन्त्य अच् से परे होकर अनडु आम् नम् ह् स् = अनडु आम् न् ह् स् रहा । हल्ङ्यादि लोप, यणादेश एवं संयो-

गान्तलोप (८।२।२३ से) होकर अनड्वान् बना। सम्बुद्धि में अम्—सम्बुद्धौ (७।१।९९) से आम् का अपवाद अम् आगम होगा, अतः हे अनड्वन् बनेगा॥

यहाँ से सौ की अनुवृत्ति ७।१।८५ तक जायेगी॥

नुम-आगम दृक्स्ववःस्वतवसां छन्दसि ॥७।१।८३॥

दृक्स्ववःस्वतवसाम् ६।३॥ छन्दसि ७।१॥ स०—दृक्० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—सौ, नुम्, अङ्गस्य॥ अर्थः—दृक्, स्ववस्, स्वतवस्, इत्येतेषामङ्गानां सौ परतो नुमागमो भवति, छन्दसि विषये॥ उदा०—ईदृङ्, कीदृङ्, तादृङ्, यादृङ्, सदृङ्। स्ववान्। स्वतवाँ पायुरग्ने (ऋ० ४।२।६)॥

भाषार्थः—[दृक्स्ववःस्वतवसाम्] दृक्, स्ववस्, स्वतवस् इन अङ्गों को [छन्दसि] वेद-विषय में सु परे रहते नुम् आगम होता है॥ भाग १ के ३।२।६ सूत्र में यादृक्, तादृक् की सिद्धि की है, तद्वत् सब कार्य यहाँ हुआ है। केवल नुम् आगम विशेष होकर यादृ न श् रहा, संयोगान्तलोप होकर यादृन् रहा। अब क्विन् प्रत्ययस्य० (८।२।६२) से कुत्व हुआ अर्थात् आन्तर्य से न् को ङ् हुआ। ईदृङ् कीदृङ् में भी इसी प्रकार जानें। केवल यहाँ इदम् को ईश् तथा किम् को 'की' आदेश हुआ है, ऐसा जानें। स्वव नुम् स् सु=स्ववन्स् स्, यहाँ हल्ङ्याब्भ्यो लोप, संयोगादिलोप, तथा दीर्घत्व (६।४।१० से) होकर स्ववान् बन गया। इसी प्रकार स्वतवान् में समझें। संहिता-पाठ में 'स्वतवाँ पायुः' स्वतवान्पायौ (८।३।११) से नकार को रु तथा रु को विसर्जनीय होकर बनेगा। अत्रानुनासिकः पूर्वस्य० (८।३।२) से पूर्व को अनुनासिक आदेश हो ही जायेगा। पदपाठ में स्वतवान् पायुः रहेगा॥

औकारादेश दिव औत् ॥७।१।८४॥

दिवः ६।१॥ औत् १।१॥ अनु०—सौ, अङ्गस्य॥ अर्थः—दिव इत्येतस्य अङ्गस्य सौ परतः औत् इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—द्यौः॥

भाषार्थः—[दिवः] दिव् अङ्ग को सु परे रहते [औत्] औकारादेश होता है। यहाँ अनुबन्धरहित दिव् प्रातिपदिक का ग्रहण है, सानुबन्धक दिवु धातु का ग्रहण नहीं है। सिद्धि भाग १, परि० १।१।४१ में देखें॥

आकारादेश पथिमथ्यृभुक्षामात् ॥७।१।८५॥

पथिमथ्यृभुक्षाम् ६।३॥ आत् १।१॥ स०—पन्थाश्च मन्थाश्च ऋभुक्षाश्च पथिमथ्यृभुक्षाणः, तेषाम् इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—सौ, अङ्गस्य॥ अर्थः—पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन् इत्येतेषामङ्गानां सौ परतः आकारादेशो भवति॥ उदा०—पन्थाः। मन्थाः। ऋभुक्षाः॥

भाषार्थः—[पथिमथ्यृभुक्षाम्] पथिन्, मथिन्, तथा ऋभुक्षिन् इन अङ्गों को सु परे रहते [आत्] आकारादेश होता है ॥ पन्थाः की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें । इसी प्रकार अन्यों में भी समझें । केवल ऋभुक्षाः में थो न्थः (७।१।८७) नहीं लगेगा, यह विशेष है ॥

यहाँ से 'पथिमथ्यृभुक्षाम्' की अनुवृत्ति ७।१।८८ तक जायेगी ॥

इतोऽत्सर्वनामस्थाने ॥७।१।८६॥ अकारादेश

इतः ६।१॥ अत् १।१॥ सर्वनामस्थाने ७।१॥ अनु०—पथिमथ्यृभुक्षाम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पथिन् मथिन् ऋभुक्षिन् इत्येतेषामिकारस्य स्थाने अकारादेशो भवति, सर्वनामस्थाने परतः ॥ उदा०—पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः, पन्थानम्, पन्थानौ। मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, मन्थानम्, मन्थानौ । ऋभुक्षाः, ऋभुक्षाणौ, ऋभुक्षाणः, ऋभुक्षाणम्, ऋभुक्षाणौ ॥

भाषार्थः—पथिन् मथिन् तथा ऋभुक्षिन् अङ्गों के [इतः] इकार के स्थान में [अत्] अकारादेश होता है [सर्वनामस्थाने] सर्वनामस्थान परे रहते ॥ सिद्धियाँ पूर्ववत् जानें । 'सु' से अन्यत्र पूर्वसूत्र से आकारादेश नहीं होगा । अतः पथिन् औ, यहाँ इकार को अकार होकर, एवं न्थ आदेश होकर—पन्थन् औ रहा । सर्वनामस्थाने० (६।४।८) से दीर्घ होकर पन्थानौ आदि प्रयोग बनेंगे ॥

यहाँ से 'सर्वनामस्थाने' की अनुवृत्ति ७।१।९८ तक जायेगी ॥

थो न्थः ॥७।१।८७॥ थ् > न्थ

थः ६।१॥ न्थः १।१॥ अनु०—सर्वनामस्थाने, पथिमथोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पथिमथोस्थकारस्य स्थाने 'न्थ' इत्ययमादेशो भवति, सर्वनामस्थाने परतः ॥ उदा०—पन्थाः, पन्थानौ, पन्थानः, पन्थानम्, पन्थानौ । मन्थाः, मन्थानौ, मन्थानः, मन्थानम्, मन्थानौ ॥

भाषार्थः—पथिन् तथा मथिन् अङ्ग के [थः] थकार के स्थान में [न्थः] न्थ आदेश होता है ॥

विशेष—सामर्थ्य से यहाँ ऋभुक्षिन् की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगता । क्योंकि इस शब्द में थकार है ही नहीं, जिसके स्थान में न्थ आदेश हो ।

भस्य टेर्लोपः ॥७।१।८८॥ टि-लोप

भस्य ६।१॥ टेः ६।१॥ लोपः १।१॥ अनु०—पथिमथ्यृभुक्षाम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पथ्यादीनां भसंज्ञकानां टेर्लोपो भवति ॥ उदा०—पथः, पथा, पथे । मथः, मथा, मथे । ऋभुक्षः, ऋभुक्षा, ऋभुक्षे ॥

भाषार्थः—पथिन् मथिन् तथा ऋभुक्षिन् [भस्य] भसंज्ञक अङ्गों को [टेः] टि का [लोपः] लोप होता है । पथिन् ङस्, यहाँ यचि भम् (१।४।१८) से पथिन् की भ संज्ञा होकर प्रकृतसूत्र से टि भाग का लोप हो गया, तो पथ् अस् = पथः बन गया । इसी प्रकार सब में जानें ॥

असुङ् आदेश पुंसोऽसुङ् ॥७।१।८९॥

पुंसः ६।१॥ असुङ् १।१॥ अनु०—सर्वनामस्थाने, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पुंस इत्येतस्याङ्गस्य सर्वनामस्थाने परतोऽसुङ् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पुमान्, पुमांसौ, पुमांसः, पुमांसम्, पुमांसौ ॥

भाषार्थः—[पुंसः] पुंस् अङ्ग के स्थान में सर्वनामस्थान परे रहते [असुङ्] असुङ् आदेश होता है ॥ पुम्स् सु, यहाँ ङिच्च (१।१।५२) से अन्त्य अल् स् को असुङ् होकर पुम् असुङ् सु=पुमस् स् रहा । उगिदचां० (७।१।७०) से नुम्, एवं सान्तमहतः० (६।४।१०) से दीर्घ होकर पुमा नुम् स् स् = पुमान् स् स् रहा । हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० से सु का लोप, एवं संयोगान्तलोप होकर 'पुमान्' बना । इसी प्रकार पुमांसौ आदि जानें ॥

णित्वत् गोतो णित् ॥७।१।९०॥

गोतः ५।१॥ णित् १।१॥ स०—णकार इत् यस्य स णित्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सर्वनामस्थाने, अङ्गस्य ॥ अर्थः—गोशब्दात्परं सर्वनामस्थानं णित् भवति ॥ उदा०—गौः, गावौ, गावः, गाम्, गावौ ॥

भाषार्थः—[गोतः] गो शब्द से उत्तर सर्वनामस्थान विभक्ति [णित्] णित्वत् होती है, अर्थात् णित् के समान कार्य हो जाते हैं ॥ यह अतिदेश सूत्र है ॥ गो सु, यहाँ सु को णित्वत् अतिदेश होने से अचो ञ्णिति (७।२।११५) से गो अङ्ग को वृद्धि होकर गौ स् बना । रुत्व विसर्जनीय होकर गौः बन गया । औ औट् तथा जस् परे रहते भी इसी प्रकार जानें । केवल वहाँ एचोऽयवायावः (६।१।७५) से आव् आदेश होगा । अम् परे रहते, औतोऽम्शसोः (६।१।९०) से आकारादेश होता है ॥ णित् के साथ सामानाधिकरण्य होने से 'सर्वनामस्थाने' पद यहाँ प्रथमान्त में बदल जाता है ॥

यहाँ से 'णित्' की अनुवृत्ति ७।१।९२ तक जायेगी ॥

णित्वत्—विकल्प णलुत्तमो वा ॥७।१।९१॥

णल् १।१॥ उत्तमः १।१॥ वा अ० ॥ अनु०—णित् ॥ अर्थः—उत्तमो णल् विकल्पेन णित् भवति ॥ उदा०—अहं चकर, अहं चकार; अहं पपच, अहं पपाच ॥

भाषार्थः—[उत्तमः] उत्तम पुरुष का जो [णल्] णल् उसको [वा] विकल्प से णित्वत् होता है ॥ णित् पक्ष में पूर्ववत् कु तथा अच् को वृद्धि, तथा अणित् पक्ष में वृद्धि नहीं होगी, यही विशेष है । सिद्धियों का प्रकार परि० ६।१।१ में देखें ॥

सख्युरसंबुद्धौ ॥७।१।९२॥ णित्वत्

सख्युः ५।१॥ असंबुद्धौ ७।१॥ स०—न संबुद्धिरसंबुद्धिः, तस्याम् नञ्तत्पुरुषः । अनु०—णित्, सर्वनामस्थाने, अङ्गस्य ॥ अर्थः—असंबुद्धौ यः सखिशब्दस्तस्मात् परं सर्वनामस्थानं णित् भवति ॥ उदा०—सखायौ, सखायः, सखायम्, सखायौ ॥

भाषार्थः—[असंबुद्धौ] संबुद्धि परे नहीं है, जिससे ऐसे [सख्युः] सखि शब्द से उत्तर सर्वनामस्थान विभक्ति णित्वत् होती है ॥ पूर्ववत् णित् होने से सखि को वृद्धि होकर 'सखै औ' रहा, आयादेश होकर सखायौ बन गया ॥

यहाँ से 'सख्युः' की अनुवृत्ति ७।१।९३ तक, तथा 'असंबुद्धौ' की अनुवृत्ति ७।१।९५ तक जायेगी ॥

अनङ् सौ ॥७।१।९३॥ अनङ् - आदेश

अनङ् १।१॥ सौ ७।१॥ अनु०—सख्युरसंबुद्धौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सखि इत्येतस्याङ्गस्य सौ परतोऽनङ् इत्ययमादेशो भवति, स चेत् सुशब्दः संबुद्धेर्न स्यात् ॥ उदा०—सखा ॥

भाषार्थः—सखि अङ्ग को संबुद्धिभिन्न [सौ] सु परे रहते [अनङ्] अनङ् आदेश होता है ॥ ङिच्च (१।१।५२) से अन्त्य अल् को अनङ् होगा । सख् अनङ् सु=सखन् स्, यहाँ सर्वनामस्थाने० (६।४।८) से दीर्घ, एवं हल्ङ्यादि लोप, तथा नलोप होकर 'सखा' बन गया ॥

यहाँ से 'अनङ् सौ' की अनुवृत्ति ७।१।९४ तक जायेगी ॥

ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसां च ॥७।१।९४॥ अनङ् आदेश

ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम् ६।३॥ च अ० ॥ स०—ऋच्च उशना च पुरुदंसा च अनेहा च ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसः, तेषाम् इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अनङ् सौ, असंबुद्धौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऋकारान्तानामङ्गानाम्, उशनस्, पुरुदंसस्[1], अनेहस्

१. अष्टाध्याय्यां 'पुरुदंशस्' पाठान्तरं दृश्यते । वैदिकवाङ्मये 'पुरुदंसस्' पदस्यैवोपलम्भादस्माभिः दन्त्यसकारवान् पाठ एवादृतः । धातुपाठे दंश दंस उभावपि धातू पठ्येते, तन्मूलक एवायं पाठभेदः स्यादित्यनुमीयते ॥

इत्येतेषां चाङ्गानामसंबुद्धौ सौ परतोऽनङादेशो भवति ।। उदा०—ऋत्—कर्त्ता, हर्त्ता, माता, पिता, भ्राता । उशना । पुरुदंसा । अनेहा ।।

भाषार्थः—[ऋदुशनस्पुरुदंसोऽनेहसाम्] ऋकारान्त अङ्ग को, तथा उशनस् पुरुदंसस् अनेहस् अङ्गों को [च] भी संबुद्धिभिन्न सु परे रहते अनङ् आदेश होता है ।। कर्त्ता हर्त्ता की सिद्धि भाग १, परि० १।१।२ में देखें । इसी प्रकार मातृ पितृ शब्द से माता पिता बनेगा । उशनस् आदि में भी अन्त्य सकार को अनङ् होकर—उशन् अनङ् स् रहा । अतो गुणे (६।१।९४) आदि लगकर पूर्ववत् उशना आदि बन गये ।।

तृज्वत् क्रोष्टुः ।।७।१।९५।।

तृज्वत् अ० ।। क्रोष्टुः १।१।। अनु०—सर्वनामस्थाने, असंबुद्धौ, अङ्गस्य ।। तृचा तुल्यं वर्त्तते इति तृज्वत्, तेन तुल्यं० (५।१।११४) इति वतिः ।। अर्थः—सर्वनामस्थानेऽसंबुद्धौ परतस्तुन्प्रत्ययान्तः क्रोष्टुशब्दस्तृज्वत् भवति ।। रूपातिदेशोऽयम् ।। तृजन्तस्य यद् रूपं तदस्य भवतीत्यर्थः ।। उदा०—क्रोष्टा, क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः, क्रोष्टारम्, क्रोष्टारौ ।।

भाषार्थः—संबुद्धिभिन्न सर्वनामस्थान परे रहते तुन्प्रत्ययान्त [क्रोष्टुः] क्रोष्टु शब्द [तृज्वत्] तृच्वत् हो जाता है । अर्थात् तृच् प्रत्यय में जो रूप इस शब्द का होगा, तद्वत् सर्वनामस्थान परे रहते तुन्प्रत्ययान्त (उणा० १।६९) इस क्रोष्टु को भी अतिदिष्ट हो जाता है ।। इस प्रकार सर्वनामस्थान परे रहते तृच् के समान इस शब्द के रूप चलेंगे ।। यह रूपातिदेश सूत्र है । सो क्रोष्टु को क्रोष्टृ ऐसा रूप अतिदेश सर्वनामस्थान परे रहते होकर सब कार्य आगे, परि० १।१।२ के चेता के समान हो गये । क्रोष्टारौ, क्रोष्टारः में ऋतो ङि० (७।३।११०) से गुण, तथा अप्तृन्तृच्० (६।४।११) से दीर्घ होता है ।।

यहां से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।१।९७ तक जायेगी ।।

स्त्रियां च ।।७।१।९६।।

स्त्रियाम् ७।१।। च अ० ।। अनु०—तृज्वत् क्रोष्टुः, अङ्गस्य ।। अर्थः—स्त्रियां च क्रोष्टुशब्दस्य तृज्वत् भवति ।। असर्वनामस्थानार्थोऽयमारम्भः ।। उदा०—क्रोष्ट्री, क्रोष्ट्रीभ्याम्, क्रोष्ट्रीभिः ।।

भाषार्थः—[स्त्रियाम्] स्त्रीलिङ्ग में वर्त्तमान क्रोष्टु शब्द को [च] भी तृजन्त शब्द के समान अतिदेश हो जाता है ।। असर्वनामस्थान परे रहते भी हो जाये, इसलिये इस सूत्र का आरम्भ है ।। क्रोष्टु को तृज्वत् रूप अतिदेश क्रोष्टृ ऋकारान्त

बना लेने पर ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५) से ङीप्, एवं यणादेश होकरे क्रोष्ट्री आदि रूप बन गये ॥

विभाषा तृतीयादिष्वचि ॥७।१।९७॥

विभाषा १।१॥ तृतीयादिषु ७।३॥ अचि ७।१॥ स०—तृतीया आदिर्यासां ताः तृतीयादयः, तासु ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तृज्वत् क्रोष्टुः, अङ्गस्य ॥ **अर्थः**—तृतीयादिष्वजादिषु विभक्तिषु परतः क्रोष्टु विभाषा तृज्वत् भवति ॥ उदा०—क्रोष्ट्रा, क्रोष्टुना । क्रोष्ट्रे, क्रोष्टवे । क्रोष्टुः, क्रोष्टोः । क्रोष्टरि, क्रोष्टौ । क्रोष्ट्रोः, क्रोष्ट्वोः ॥

भाषार्थः—[तृतीयादिषु] तृतीयादि [अचि] अजादि विभक्तियों के परे रहते क्रोष्टु शब्द को [विभाषा] विकल्प से तृज्वत् अतिदेश होता है ॥ इस प्रकार तृतीयादि अजादि विभक्ति परे रहते दो-दो रूप बनेंगे ॥ तृज्वत् पक्ष में यणादेश होकर 'टा' परे रहते क्रोष्ट्रा, एवं अतृज्वत् पक्ष में आङो ना० (७।३।११९) से नाभाव होकर क्रोष्टुना बना है। ङे, ङसि, ङस् परे रहते अतृज्वद्भाव पक्ष में घेर्ङिति (७।३।१११) से गुण, एवं अवादेश होगा। क्रोष्टुः, क्रोष्टोः की सिद्धि क्रमशः ६।१।१०६, एवं १०७ सूत्रों में होतुः तथा वायोः के समान जानें ॥ क्रोष्टरि में ऋतो ङि० (७।३।११०) से गुण होता है। एवं क्रोष्टौ में औदच्च घेः (७।३। ११८) से क्रोष्टु को अकारान्तादेश तथा ङि को औत्व होकर क्रोष्ट औ रहा, वृद्धि एकादेश होकर क्रोष्टौ बन गया ॥ क्रोष्ट्रोः क्रोष्ट्वोः में यणादेश पूर्ववत् समझें ॥

चतुरनडुहोरामुदात्तः ॥७।१।९८॥

चतुरनडुहोः ६।२॥ आम् १।१॥ उदात्तः १।१॥ स०—चतुरश्च अनडुँश्च चतुरनडुहौ, तयोः ...... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सर्वनामस्थाने, अङ्गस्य ॥ **अर्थः**—चतुर् अनडुह् इत्येतयोः सर्वनामस्थाने परत आम् आगमो भवति, स चोदात्तः ॥ उदा०—चत्वारः । अनड्वान्, अनड्वाहौ, अनड्वाहः, अनड्वाहम्, अनड्वाहौ ॥

भाषार्थः—[चतुरनडुहोः] चतुर् तथा अनडुह् इन अङ्गों को सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते [आम्] आम् आगम होता है और वह [उदात्तः] उदात्त होता है ॥ सिद्धि ७।१।८२ सूत्र में देखें । आगमा अनुदात्ता भवन्ति (परि० ११०) इस परिभाषा से आगम अनुदात्त होते हैं, अतः उदात्त कह दिया । चतु आम् र् जस् = चत्वारस् = चत्वारः ॥

यहाँ से चतुरनडुहोः की अनुवृत्ति ७।१।९९ तक जायेगी ॥

अम्-आगम- अम् सम्बुद्धौ ॥७।१।९९॥

अम् १।१॥ सम्बुद्धौ ७।१॥ अनु०—चतुरनडुहोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—संबुद्धौ परतश्चतुरनडुहोरमागमो भवति ॥ उदा०—हे प्रियचत्वः, हे अनड्वन्, हे प्रियानड्वन् ॥

भाषार्थः—[संबुद्धौ] संबुद्धि परे रहते चतुर् तथा अनडुह् अङ्ग को [अम्] अम् आगम होता है ॥ पूर्वसूत्र का यह अपवाद है ॥

इकारादेश ऋत इद्धातोः ॥७।१।१००॥

ऋतः ६।१॥ इत् १।१॥ धातोः ६।१॥ अनु०—अङ्गस्य॥ अर्थः—ऋकारान्तस्य धातोरङ्गस्य इकारादेशो भवति ॥ उदा०—किरति, गिरति, आस्तीर्णम्, विशीर्णम् ॥

भाषार्थः—[ऋतः] ऋकारान्त [धातोः] धातु अङ्ग को [इत्] इकारादेश होता है ॥ किरति गिरति की सिद्धि परि० १।१।५० में देखें। स्तृ तथा शॄ धातु से निष्ठा में आस्तीर्णम्, विशीर्णम् बना है। प्रकृतसूत्र से इत्व रपरत्व होकर रदाभ्यां० (८।२।४२) से निष्ठा के त् को न्, एवं रषाभ्यां० (८।४।१) से णत्व, तथा हलि च (८।२।७७) से दीर्घत्व यहाँ हुआ है। श्र्युकः किति (७।२।११) से यहाँ इट् आगम का निषेध भी होता है ॥

यहाँ से 'ऋतः धातोः' की अनुवृत्ति ७।१।१०२ तक, तथा 'इत्' की ७।१।१०१ तक जायेगी ॥

इकारादेश उपधायाश्च ॥७।१।१०१॥

उपधायाः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—ऋत इद्धातोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—धातोरङ्गस्य उपधाया ऋकारस्य स्थाने इकारादेशो भवति ॥ उदा०—कीर्त्तयति, कीर्त्तयतः, कीर्त्तयन्ति ॥

भाषार्थः—धातु अङ्ग की [उपधायाः] उपधा ऋकार के स्थान में [च] भी इकारादेश होता है ॥ कृत् णिच्, यहाँ ऋ को इत्व रपरत्व होकर—किर् त् इ रहा। उपधायां च (८।२।७८) से दीर्घत्व होकर 'कीर्त्ति' धातु बनी। पश्चात् शप् तिप् आकर 'कीर्त्तयति' बन गया ॥

उकारादेश- उदोष्ठ्यपूर्वस्य ॥७।१।१०२॥

उत् १।१॥ ओष्ठ्यपूर्वस्य ६।१॥ स०—ओष्ठ्यः पूर्वो यस्मात् स ओष्ठ्यपूर्वः, तस्य...... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—ऋतः धातोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ओष्ठ्य

पूर्वो यस्मात् ऋकारात् तदन्तस्य धातोरङ्गस्य उकारादेशो भवति ॥ उदा०—पूर्त्ताः पिण्डाः, पुपूर्षति, मुमूर्षति ॥

भाषार्थः—[ओष्ठ्यपूर्वस्य] ओष्ठ्य वर्ण पूर्व है जिस ऋकार से, तदन्त धातु को [उत्] उकारादेश होता है ॥ पृ धातु के ऋकार से पूर्व प् ओष्ठ्य वर्ण है । इसी प्रकार मृङ् में भी सन् के इको झल् (१।२।९) से कित् होने से गुण नहीं होता । तत्पश्चात् अज्झनगमां सनि (६।४।१६) से दीर्घ 'ॠ' होने पर इस सूत्र से उत्व रपरत्व होकर मुर् स, पुर् स रहा । शेष कार्य परि० १।१।५७ में प्रदर्शित चिकीर्षकः के समान जानें । न ध्याख्यापृ० (८।२।५७) से निष्ठा के नत्व का निषेध होकर निष्ठा में पूर्त्ताः बनेगा ॥

यहाँ से 'उत्' की अनुवृत्ति ७।१।१०३ तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दसि ॥७।१।१०३॥ उकारादेश

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—उत्, ॠतः धातोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छन्दसि विषये ऋकारान्तस्य धातोरङ्गस्य बहुलम् उकारादेशो भवति ॥ उदा०—ओष्ठ्यपूर्वस्येत्युक्तमनोष्ठ्यपूर्वस्यापि भवति—मित्रावरुणौ ततुरिः । दूरे ह्यध्वा जगुरिः । ओष्ठ्यपूर्वस्यापि न भवति—पप्रितमम् । वव्रितमम् । क्वचिद् भवति च—पपुरिः ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद-विषय में ऋकारान्त धातु अङ्ग को [बहुलम्] बहुल करके उकारादेश होता है ॥ बहुल-ग्रहण से ओष्ठ्यपूर्व को कहा था, अनोष्ठ्य-पूर्व तृ गृ के ऋ को भी उत्व होता है । तथा ओष्ठ्यपूर्व को भी कहीं होता है, कहीं नहीं होता । ततुरिः, जगुरिः की सिद्धि भाग १, परि० ३।२।१७१ में देखें । पृ से इसी प्रकार पपुरिः बनेगा । पृ धातु से ही 'कि' प्रत्यय तथा द्वित्वादि इसी प्रकार करके पृ पृ कि रहा । अभ्यासकार्य उरदत्व (७।४।६६ से) करके प पृ इ रहा । यणादेश करके 'पप्रि' प्रातिपदिक बना । तमप् प्रत्यय करके पप्रितमम्, एवं वृ से वव्रितमम् बन गया । यहाँ बहुल कहने से पूर्वसूत्र से प्राप्त होने पर भी उत्व नहीं हुआ ॥

इति प्रथमः पादः ॥

—:o:—

द्वितीयः पादः

[वृद्धि-प्रकरणम्]

वृद्धि

सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु ॥७।२।१॥

सिचि ७।१॥ वृद्धिः १।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—परस्मैपदपरे सिचि परत इगन्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्भवति ॥ उदा०—अचैषीत्; अनैषीत्; अलावीत्, अपावीत्; अकार्षीत्, अहार्षीत् ॥

भाषार्थः—[परस्मैपदेषु] परस्मैपद प्रत्यय परे हैं जिसके ऐसे [सिचि] सिच् के परे रहते इगन्त अङ्ग को [वृद्धिः] वृद्धि होती है ॥ गुणवृद्धि के विधान-स्थल में इको गुणवृद्धी (१।१।३) परिभाषासूत्र की उपस्थिति होने से यहाँ 'इगन्त अङ्ग' ऐसा अर्थ किया गया है ॥ सब सिद्धियाँ परि० १।१।१ में देखें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।२।७ तक जायेगी ॥

वृद्धि

अतो ल्रान्तस्य ॥७।२।२॥

अतः ६।१॥ ल् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ अन्तस्य ६।१॥ स०—ल् च रश्च ल्रम्, तस्य…समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अतोऽन्तौ=अकारसमीपौ यौ रेफलकारौ तदन्तस्याङ्गस्य अत एव स्थाने वृद्धिर्भवति, परस्मैपदपरे सिचि परतः ॥ समीपवचनोऽयमन्तशब्दः ॥ उदा०—लान्तस्य—ज्वल—अज्वालीत्, ह्मल—अह्मालीत् । रेफान्तस्य—क्षर—अक्षारीत् । त्सर—अत्सारीत् ॥

भाषार्थः—अकार के [अन्तस्य] समीप जो [ल्र] रेफ तथा लकार तदन्त अङ्ग के [अतः] अकार के स्थान में ही वृद्धि होती है, परस्मैपदपरक सिच् परे हो तो ॥ अन्त शब्द यहाँ समीपवाची लिया गया है, अतः सन्निकट होने से समीपस्थ अकार ही लिया जायेगा ॥ ज्वल क्षर आदि में ल् तथा रेफ के समीप 'अ' है ही, अतः उसको वृद्धि हो गई है ॥ अतो हलादेर्लघोः (७।२।७) से लघु अकार को विकल्प से वृद्धि प्राप्त थी, तदपवाद है ॥ सिद्धियाँ पूर्ववत् जानें ॥

वृद्धि

वदव्रजहलन्तस्याचः ॥७।२।३॥

वदव्रजहलन्तस्य ६।१॥ अचः ६।१॥ स०—हल् अन्ते यस्य स हलन्तः, बहुव्रीहिः। वदश्च व्रजश्च हलन्तश्च वदव्रजहलन्तम्, तस्य…समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—वद व्रज इत्येतयोः हलन्तानां चाङ्गानामचः स्थाने वृद्धिर्भवति, परस्मैपदपरे सिचि परतः ॥ उदा०—अवादीत्, अव्राजीत् । हलन्तानाम्—अप्राक्षीत्, अभैत्सीत्, अच्छैत्सीत्, अरौत्सीत् ॥

भाषार्थ:—[वदव्रजहलन्तस्य] वद व्रज तथा हलन्त अङ्गों के [अच:] अच् के स्थान में वृद्धि होती है, परस्मैपदपरक सिच् परे हो तो ॥ सिचि वृद्धि:० (७।२।१) से इगन्त अङ्ग को वृद्धि प्राप्त थी, अतिगतार्थ इस सूत्र का आरम्भ है ॥ वद व्रज धातुएं हलन्त हैं ही, पुन: इनका पृथक् ग्रहण अतो हलादेर्लघो: (७।२।७) से प्राप्त विकल्प के बाधन के लिये है ॥ अभैत्सीत् आदि की सिद्धि परि० ३।१।५७ में देखें। 'डुपचष् पाके' से अपाक्षीत् चो: कु: (८।२।३०) से कुत्व होकर बनेगा ॥

यहाँ से 'हलन्तस्य' की अनुवृत्ति ७।२।४ तक जायेगी ॥ वृद्धि निषेध

नेटि ॥७।२।४॥

न अ० ॥ इटि ७।१॥ अनु०—हलन्तस्य, सिचि वृद्धि: परस्मैपदेषु, अङ्गस्य॥ अर्थ:—इडादौ सिचि परस्मैपदेषु परतो हलन्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्न भवति ॥ उदा०—दिवु—अदेवीत्, सिवु—असेवीत्, कुष—अकोषीत्, मुष—अमोषीत् ॥

भाषार्थ:—परस्मैपद परे है जिससे ऐसे [इटि] इडादि सिच् परे रहते हलन्त अङ्ग को वृद्धि [न] नहीं होती ॥ इस प्रकार अनिडादि सिच् परे हलन्त अङ्ग को पूर्वसूत्र से वृद्धि होगी। क्योंकि इडादि सिच् परे रहते प्रकृतसूत्र से निषेध कहा है। पूर्वसूत्र से जो अतिव्याप्ति थी, उसका यहाँ प्रतिषेध हो गया ॥ सिद्धियाँ पूर्ववत् अलावीत् के समान ही जानें ॥

यहाँ से 'नेटि' की अनुवृत्ति ७।२।७ तक जायेगी ॥ वृद्धि-निषेध

ह्म्यन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम् ॥७।२।५॥

ह्म्यन्त...श्व्येदिताम् ६।३॥ स०—ह् च म् च य् च ह्म्य:, ह्म्योऽन्ते यस्य स ह्म्यन्त:, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहि: । एकार इत् यस्य स एदित्, बहुव्रीहि: । ह्म्यन्तश्च क्षणश्च श्वसश्च जागृ च णिश्च श्विश्च एदित् च ह्म्यन्त...दित:, तेषाम्...इतरेतरद्वन्द्व: ॥ अनु०—नेटि, सिचि वृद्धि: परस्मैपदेषु, अङ्गस्य ॥ अर्थ:—हकारान्तानां मकारान्तानां यकारान्तानां चाङ्गानां, क्षण, श्वस, जागृ, णि, श्वि इत्येतेषाम् एदितां च इडादौ सिचि परस्मैपदे परतो वृद्धिर्न भवति ॥ उदा०—हकारान्तानाम्—अग्रहीत् । मकारान्तानाम्—अस्यमीत्, अवमीत् । यकारान्तानाम्—अव्ययीत् । क्षण—अक्षणीत् । श्वस—अश्वसीत् । जागृ—अजागरीत् । णिजन्तस्य—औनयीत्, ऐलयीत् । श्वि—अश्वयीत् । एदिताम्—कखे—अकखीत्, रगे—अरगीत्, हसे—अहसीत् ॥

भाषार्थ:—[ह्म्यन्त...दिताम्] हकारान्त, मकारान्त तथा यकारान्त अङ्गों को, एवम् क्षण, श्वस, जागृ, णि, श्वि तथा एदित् अङ्गों को परस्मैपदपरक

इडादि सिच् परे रहते वृद्धि नहीं होती ।। हकारान्त मकारान्त तथा यकारान्त एवम् क्षण् श्वस् तथा एदित अङ्गों को अतो हलादेर्लघोः (७।२।७) से विकल्प से वृद्धि प्राप्त थी, निषेध कर दिया है । एवं जागृ णि तथा श्वि को सिचि वृद्धिः० (७।२।१) से नित्य वृद्धि प्राप्त थी, प्रतिषेध कर दिया ।। णि से यहाँ णिजन्त धातु का ग्रहण होता है । अश्वयीत् की सिद्धि परि० ३।१।४९ में देखें । ऊन णिजन्त धातु से औनयीत्, एवं इल णिजन्त से ऐलयीत् की सिद्धि सूत्र ३।१।५१ में देखें ।।

वृद्धि विकल्प **ऊर्णोतेर्विभाषा ॥७।२।६॥**

ऊर्णोतेः ६।१।। विभाषा १।१।। अनु०—नेटि, सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु, अङ्गस्य ।। अर्थः—ऊर्णुञ् इत्येतस्याङ्गस्येडादौ सिचि परस्मैपदपरे परतो विभाषा वृद्धिर्न भवति ।। उदा०—प्रौर्णावीत्, प्रौर्णवीत्, ङित्पक्षे—प्रौर्णुवीत् ।।

भाषार्थः—[ऊर्णोतेः] ऊर्णुञ् अङ्ग को परस्मैपदपरक इडादि सिच् परे रहते [विभाषा] विकल्प से वृद्धि नहीं होती ।। सिचि वृद्धिः० (७।२।१) से नित्य वृद्धि प्राप्त थी, विकल्पार्थ यह वचन है ।। विभाषोर्णोः (१।२।३) से जिस पक्ष में ङित्वत् नहीं होता, उस पक्ष में ही यहाँ वृद्धि विकल्प से होगी । जब पक्ष में वृद्धि नहीं होगी, तो ऊर्णु के णु के उ को गुण अवादेश होकर प्रौर्णवीत् बनेगा । ऊर्णु के 'उ' एवं 'आट्' को आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर और्णवीत् बना, एवं प्र उपसर्ग के साथ वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश होकर प्रौर्णवीत् आदि बन गया । ङित्वत् पक्ष में गुणवृद्धि का निषेध (१।१।५), तथा उवङ् आदेश होकर प्रौर्णुवीत् रूप बनेगा ।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ७।२।७ तक जायेगी ।।

वृद्धि **अतो हलादेर्लघोः ॥७।२।७॥**

अतः ६।१।। हलादेः ६।१।। लघोः ६।१।। स०—हल् आदिर्यस्य स हलादिः, तस्य ... बहुव्रीहिः ।। अनु०—विभाषा, नेटि, सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु, अङ्गस्य ।। अर्थः—हलादेरङ्गस्य लघोरकारस्य इडादौ सिचि परस्मैपदेषु परतो विभाषा वृद्धिर्न भवति ।। उदा०—अकणीत्, अकाणीत्, अरणीत्, अराणीत् ।।

भाषार्थः—[हलादेः] हलादि अङ्ग के [लघोः] लघु [अतः] अकार को परस्मैपदपरक इडादि सिच् के परे रहते विकल्प से वृद्धि नहीं होती, अर्थात् विकल्प से होती है ।। नेटि (७।२।४) प्रतिषेध प्राप्त था, विकल्प से विधान कर दिया ।। सिद्धियाँ पूर्ववत् हैं ।।

[इट्निषेध-प्रकरणम्]

इट्-निषेध

नेड् वशि कृति ॥७।२।८॥

न अ० ॥ इट् १।१॥ वशि ७।१॥ कृति ७।१॥ अर्थः—वशादौ कृति प्रत्यये परत इडागमो न भवति ॥ उदा०—ईश्—ईश्वरः । दीप्—दीप्रः । भस्—भस्म । याच्—याच्ञा ॥

भाषार्थः—[वशि] वशादि [कृति] कृत् प्रत्यय परे रहते [इट्] इट् का आगम [न] नहीं होता ॥ आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से, इट् आगम प्राप्त था, निषेध कह दिया । यह इट्निषेध-प्रकरण आर्धधातुकस्येड्० का पुरस्तादपवाद अर्थात् विधान से पूर्व ही अपवाद है ॥ ईश्वरः, यहाँ स्थेशभास० (३।२।१७५) से वशादि वरच् कृत् प्रत्यय हुआ है । दीप्रः में नमिकम्पि० (३।२।१६७) से वशादि 'र' प्रत्यय हुआ है । भस्म, यहाँ अन्येभ्योऽपि० (३।२।७५) से मनिन् प्रत्यय हुआ है । भस्मन्=नपुंसकलिङ्ग में भस्म बना । याच्ञा में यजयाच० (३।३।९०) से नङ् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'नेट्' की अनुवृत्ति ७।२।३४ तक, तथा 'कृति' की ७।२।९ तक जायेगी ॥

इट्-निषेध

तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च ॥७।२।९॥

तितु···सेषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—तितु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नेट्, कृति ॥ अर्थः—ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क, स इत्येतेषु कृत्सु परतो इडागमो न भवति ॥ 'ति' इत्यनेन क्तिन्क्तिचोः सामान्येन ग्रहणम् ॥ उदा०—क्तिच्—तन्तिः । क्तिन्—दीप्तिः । तु—सक्तुः । त्र—पत्रम्, तन्त्रम् । त—हस्तः, लोतः, पोतः, धूर्त्तः । थ—कुष्ठम्, काष्ठम् । सि—कुक्षिः । सु—इक्षुः । सर—अक्षरम् । क—शल्कः । स—वत्सः ॥

भाषार्थः—[तितु···सेषु] ति, तु, त्र, त, थ, सि, सु, सर, क, स इन कृत्संज्ञक प्रत्ययों के परे रहते [च] भी इट् आगम नहीं होता ॥ पूर्ववत् आर्धधातु० (७।२।३५) से सर्वत्र इट् आगम प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया । ति, तु, त्र आदि प्रत्यय वशादि नहीं हैं, अतः पूर्वसूत्र से निषेध नहीं हो सकता था, सो पृथक् प्रतिषेध कर दिया ॥ 'ति' से क्तिच् क्तिन् दोनों का ही सामान्यरूप से यहाँ ग्रहण होता है । सिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें ॥

इट्-निषेध

एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् ॥७।२।१०॥

एकाचः ५।१॥ उपदेशे ७।१॥ अनुदात्तात् ५।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् स

एकाच्, तस्मात्···बहुव्रीहिः। न विद्यते उदात्तो यस्मिन् स अनुदात्तः, तस्मात्··· बहुव्रीहिः ॥ अनु०—नेट् ॥ अर्थः—उपदेशे यो धातुरेकाच् अनुदात्तश्च तस्माद् इडागमो न भवति ॥ उदा०—दाता, नेता, चेता, स्तोता, कर्त्ता, हर्त्ता ॥

भाषार्थः—[उपदेशे] उपदेश में जो धातु [एकाचः] एक अच्वाले, तथा [अनुदात्तात्] अनुदात्त उनसे उत्तर इट् का आगम नहीं होता ॥ पूर्ववत् इडागम प्राप्त था ॥ डुदाञ् णीञ् आदि धातु उपदेश में एकाच् एवं अनुदात्त हैं ॥ इस सूत्र की व्यवस्थानुसार अनिट् (=जिससे इट् नहीं होता) धातुयें कितनी हैं, यह धात्वार्तिक एवं काशिका में कारिकारूप में पढ़ दिया है ॥

इट्-आगम-निषेध श्र्युकः किति ॥७।२।११॥

श्र्युकः ६।१॥ किति ७।१॥ स०—श्रिश्च उक् च श्र्युक्, तस्य···समाहारद्वन्द्वः। कितीत्यत्र बहुव्रीहिः ॥ अनु०—नेट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—श्रि इत्येतस्य उगन्तानां च किति प्रत्यये परतो इडागमो न भवति ॥ उदा०—श्रित्वा, श्रितः, श्रितवान्। उगन्तानाम्—युत्वा, युतः, युतवान्। लूत्वा, लूनः, लूनवान्। वृत्वा, वृतः, वृतवान्। तीर्त्वा, तीर्णः, तीर्णवान् ॥

भाषार्थः—[श्र्युकः] श्रि तथा उगन्त धातुओं को [किति] कित् प्रत्यय परे रहते इट् आगम नहीं होता ॥ लूनः में ल्वादिभ्यः (८।२।४४) से; तथा तीर्णः में रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से निष्ठा के त् को न् हुआ है। तीर्णः की सिद्धि ७।१।१०० सूत्र पर देखें ॥ उदाहरणों में यु, लू, वृ आदि धातुयें उक् (प्रत्याहार) अन्तवाली हैं ही ॥

इस प्रकरण में जहाँ-जहाँ सूत्रों में धातुओं का निर्देश षष्ठी से किया है, वहाँ-वहाँ पञ्चम्यर्थ में षष्ठी समझें। इससे इट् का आगम वा प्रतिषेध धातु को न होकर तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) के नियम से प्रत्यय को होगा ॥

यहाँ से 'उकः' की अनुवृत्ति ७।२।१२ तक जायेगी ॥

इट्-निषेध सनि ग्रहगुहोश्च ॥७।२।१२॥

सनि ७।१॥ ग्रहगुहोः ६।२॥ च अ० ॥ स०—ग्रह० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उकः, नेट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ग्रह, गुह इत्येतयोरुगन्तानां च सनि प्रत्यये परत इडागमो न भवति ॥ उदा०—जिघृक्षति। जुघुक्षति। उगन्तानाम्—रुरूषति, लुलूषति ॥

भाषार्थः—[ग्रहगुहोः] ग्रह गुह [च] तथा उगन्त अङ्ग को [सनि] सन् प्रत्यय परे रहते इट् आगम नहीं होता ॥ परि० १।३।८ में जिघृक्षति की सिद्धि

देखें, तद्वत् जुघुक्षति को भी समझें। रु धातु से रुरूषति की सिद्धि परि० १।२।९ में प्रदर्शित चिचीषति के समान समझें। लूञ् से लुलूषति में कुछ भी विशेष नहीं है॥

कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि॥७।२।१३॥ इट्-निषेध

कृसृ……श्रुवः ६।१॥ लिटि ७।१॥ स०—कृसृ० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः॥ अनु०—नेट्, अङ्गस्य॥ अर्थः—कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु इत्येतेषामङ्गानां लिटि प्रत्यये परतः इडागमो न भवति॥ सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः—क्रादय एव लिट्यनिटस्ततोऽन्ये सेट इति॥ उदा०—कृ—चकृव, चकृम। सृ—ससृव, ससृम। भृ—बभृव, बभृम। वृञ्—ववृव, ववृम। वृङ्—ववृवहे, ववृमहे। स्तु—तुष्टुव, तुष्टुम। द्रु—दुद्रुव, दुद्रुम। स्रु—सुस्रुव, सुस्रुम। श्रु—शुश्रुव, शुश्रुम॥

भाषार्थः—[कृसृ……श्रुवः] कृ, सृ, भृ, वृ, स्तु, द्रु, स्रु, श्रु इन अङ्गों को [लिटि] लिट् प्रत्यय परे रहते इट् आगम नहीं होता॥ वृ से यहाँ वृङ् वृञ् दोनों का ही ग्रहण है॥

वृङ् वृञ् को छोड़कर कृ सृ आदि सभी धातुओं को एकाच उप० (७।२।१०) से इट्निषेध प्राप्त है। तथा वृङ् वृञ् को भी श्र्युकः किति (७।२।११) से कित् प्रत्यय परे (असंयोगाल्लिट् कित् १।२।५ से लिट् प्रत्यय कित् है) इट्निषेध होता है। सो इन्हें इट् निषेध प्राप्त था, पुनः सिद्ध होने पर भी इस सूत्र का विधान नियमार्थ है। अर्थात्—कृ सृ आदि धातुओं से ही लिट् परे रहते इट् न हो, इनसे भिन्न अन्यों से इट् हो, यह नियम ज्ञापित हुआ। सो भिद् इत्यादि जो धातुयें अनिट् हैं, उनको लिट् परे रहते इट् आगम इस नियम से हो जायेगा—बिभिदिव, बिभिदिम॥

श्वीदितो निष्ठायाम्॥७।२।१४॥ इट्-निषेध

श्वीदितः ६।१॥ निष्ठायाम् ७।१॥ स०—ईत् इत् यस्य स ईदित्, बहुव्रीहिः। श्विश्च ईदिच्च श्वीदित्, तस्य…… समाहारद्वन्द्वः॥ अनु०—नेट्, अङ्गस्य॥ अर्थः—श्वि इत्येतस्य ईदितश्च निष्ठायाम् इडागमो न भवति॥ उदा०—शूनः, शूनवान्। ईदितः—ओलस्जी—लग्नः, लग्नवान्। ओविजी—उद्विग्नः, उद्विग्नवान्। दीपी—दीप्तः, दीप्तवान्॥

भाषार्थः—[श्वीदितः] टुओश्वि, तथा ईकार इत्संज्ञक है जिनका उन धातुओं को [निष्ठायाम्] निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता॥ शूनः शूनवान् की सिद्धि सूत्र ६।१।१५ में देखें। लग्नः उद्विग्नः आदि में ओदितश्च (८।२।४५)

से निष्ठा के तकार को नत्व हुआ है। पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) से लग्नः आदि के निष्ठा को नत्व चोः कुः (८।२।३०) की दृष्टि में असिद्ध होकर ज को ग होता है। लग्नः में लस्ज् के स् का स्कोः संयो० (८।२।२९) से लोप होता है ॥

यहाँ से "निष्ठायाम्" की अनुवृत्ति ७।२।३४ तक जायेगी ॥

यस्य विभाषा ॥७।२।१५॥

यस्य ६।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०— निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः— यस्य धातोर्विभाषा क्वचिदिडुक्तस्तस्य निष्ठायां परत इडागमो न भवति ॥ उदा०— स्वरतिसूतिसूयति० (७।२।४४) इत्यनेन विकल्पेन इडागम उक्तस्तस्य निष्ठायाम् इट् प्रतिषेधः— विधूतः, विधूतवान् । गुहू— गूढः, गूढवान् । उदितो वा (७।२।५६) इत्युक्तं तस्य निष्ठायां इट्प्रतिषेधः— वृद्धः, वृद्धवान् ॥

भाषार्थः— [यस्य] जिस धातु को कहीं भी इट् विधान [विभाषा] विकल्प से किया गया है, उसको निष्ठा के परे रहते इडागम नहीं होता ॥ उदाहरणों में स्वरतिसूति० तथा उदितो वा से इट् विकल्प से कहा है। अतः प्रकृतसूत्र से निष्ठा परे रहते इट् निषेध हो गया ॥ गूढः, गूढवान् की सिद्धि ६।१।१५ सूत्र में प्रदर्शित ऊढः ऊढवान् के समान जानें। केवल यहाँ सम्प्रसारण नहीं हो सकता, यही विशेष है। वृधु से वृद्धः वृद्धवान् में निष्ठा के त को झषस्तथो० (८।२।४०) से धत्व, एवं धातु के घ को झलां जश्झशि (८।४।५२) से जश्त्व होता है ॥

आदितश्च ॥७।२।१६॥

आदितः ६।१॥ च अ० ॥ स०— आत् इत् यस्य स आदित्, तस्य बहुव्रीहिः ॥ अनु०— निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः— आदितश्च धातोर्निष्ठायामिडागमो न भवति ॥ उदा०— ञिमिदा— मिन्नः, मिन्नवान् । ञिक्ष्विदा— क्ष्विण्णः, क्ष्विण्णवान् । ञिष्विदा— स्विन्नः, स्विन्नवान् ॥

भाषार्थः— [आदितः] आकार इत्संज्ञक है जिनका, ऐसे धातुओं को [च] भी निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता ॥ सिद्धियाँ भाग १, परि० १।३।५ में देखें ॥

यहाँ से 'आदितः' की अनुवृत्ति ७।२।१७ तक जायेगी ॥

विभाषा भावादिकर्मणोः ॥७।२।१७॥

विभाषा १।१॥ भावादिकर्मणोः ७।२॥ स०— भावश्च आदिकर्म च भावादिकर्मणी, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०— आदितः, निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः— भावे आदिकर्मणि च आदितो धातोर्विभाषा निष्ठायामिडागमो न भवति ॥

उदा०—भावे—मिन्नमनेन; मेदितमनेन। आदिकर्मणि—प्रमिन्नः, प्रमिन्नवान्; प्रमेदितः, प्रमेदितवान् ॥

भाषार्थः—[आवादिकर्मणोः] भाव तथा आदिकर्म में वर्त्तमान आकार इत्वाली धातुओं को निष्ठा परे रहते [विभाषा] विकल्प से इट् आगम नहीं होता ॥ मिन्नमनेन, यहाँ नपुंसके भावे क्तः (३।३।११४) से क्त प्रत्यय हुआ है। मेदितम् में निष्ठा शीङ्० (१।२।१९) से किल्व का प्रतिषेध होने पर गुण हो जाता है। प्रमिन्नः यहाँ आदिकर्म का द्योतन करने के लिये प्र उपसर्ग लगाया है। आदिकर्मणि क्तः० (३।४।७१) से यहाँ कर्त्ता में क्त होता है ॥ भाव में क्तवतु नहीं होता, अतः उसका उदाहरण नहीं दर्शाया है ॥

क्षुब्धस्वान्तध्वान्तलग्नम्लिष्टविरिब्धफाण्टबाढानि मन्थमनस्तमः-सक्ताविस्पष्टस्वरानायासभृशेषु ॥७।२।१८॥

क्षुब्ध······बाढानि १।३॥ मन्थ··· शेषु ७।३॥ स०—उभयोः पदयोरितरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—क्षुब्ध, स्वान्त, ध्वान्त, लग्न, म्लिष्ट, विरिब्ध, फाण्ट, बाढ इत्येते शब्दाः निष्ठायाम् परतो यथासङ्ख्यं मन्थ, मनः, तमः, सक्त, अविस्पष्ट, स्वर, अनायास, भृश इत्येतेष्वर्थेषु निपात्यन्ते ॥ अत्र इडागमाभावः सर्वत्र निपात्यते ॥ उदा०—क्षुब्धो मन्थः। अन्यत्र क्षुभितं भवति, एवं सर्वत्र ज्ञेयम्। स्वान्तं मनः। ध्वान्तं तमः। लग्नं सक्तम्, निष्ठानत्वमपि निपातनादत्र भवति। म्लिष्टमविस्पष्टम्, म्लेच्छधातोरत्र म्लिष्टं व्युत्पाद्यते। तत्र एकारस्य स्थाने इत्वमपि निपातनाद् भवति। विरिब्धः स्वरः, अत्रापि रेभृधातुस्तस्य इत्वं निपात्यते। फाण्टम् अनायासः। बाढम् भृशम् ॥

भाषार्थः—[क्षुब्ध···बाढानि] क्षुब्ध, स्वान्त, ध्वान्त, लग्न, म्लिष्ट, विरिब्ध, फाण्ट, बाढ ये शब्द निष्ठा परे रहते यथासङ्ख्य करके [मन्थ···शेषु] मन्थ, मनस्, तमस्, सक्त, अविस्पष्ट, स्वर, अनायास, भृश इन अर्थों में निपातन किये जाते हैं ॥ इट् आगम का अभाव सर्वत्र निपातन है। केवल 'लगे' धातु से लग्नः में निष्ठा को नत्व, तथा 'म्लेच्छ' से म्लिष्टः, एवं 'रेभृ' से विरिब्धः यहाँ एकार के स्थान में इकार भी निपातन से हुआ है। क्षुभ धातु से क्षुब्धः, तथा विरिब्धः, यहाँ निष्ठा को धत्व तथा जश्त्व ७।२।१५ सूत्र में कहे वृद्धः के अनुसार जानें। 'स्वन' से स्वान्त, 'ध्वन' से ध्वान्त, तथा 'फण' से फाण्ट में अनुनासिकस्य० (६।४।१५) से दीर्घ, एवं ८।४।४० से ष्टुत्व भी हो जायेगा। 'बाहृ प्रयत्ने' से बाढम् की सिद्धि ७।२।१५ में प्रदर्शित गूढ के समान जानें। मन्थः पानी में घुले हुये सत्तू को, एवं फाण्टम् गरम पानी में चूर्ण डालकर तैयार किये हुये काषाय (=काढ़े) को कहते हैं ॥

धृषिशसी वैयात्ये ॥७।२।१९॥

धृषिशसी १।२।। वैयात्ये ७।१।। स०—धृषि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। विरूपं यातं (=गमनं) यस्य स वियातः=अविनीत इत्यर्थः, वियातस्य भावो वैयात्यम् ।। अनु०—निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ।। अर्थः—धृषि शसि इत्येतौ धातू निष्ठायाम् परतो वैयात्येऽविनयेऽर्थेऽनिटौ भवतः ।। उदा०—धृष्टोऽयम् । विशस्तोऽयम् ।।

भाषार्थः—[धृषिशसी] 'ञिधृषा प्रागल्भ्ये' तथा 'शसु हिंसायाम्' धातु निष्ठा परे रहते [वैयात्ये] अविनीतता गम्यमान होने पर अनिट् होते हैं, अर्थात् इट् आगम नहीं होता ।। धृष् त=ष्टुत्व होकर धृष्टः (=ढीठ) बना ।।

दृढः स्थूलबलयोः ॥७।२।२०॥

दृढः १।१।। स्थूलबलयोः ७।२।। स०—स्थूल०- इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ।। अर्थः—दृढ इति निष्ठायां परतो निपात्यते स्थूले बलवति चार्थे । दृंहेः क्तप्रत्यये इडभावः, हकारनकारयोर्लोपः, निष्ठातकारस्य च ढत्वं निपात्यते ।। उदा०—दृढः स्थूलः । दृढो बलवान् ।।

भाषार्थः—[दृढः] दृढ शब्द निष्ठा परे रहते [स्थूलबलयोः] स्थूल तथा बलवान् अर्थ में निपातन किया जाता है ।। 'दृंहि' धातु को क्त प्रत्यय परे रहते इट् आगम का अभाव, तथा दृंहि के हकार तथा नकार का लोप, एवं निष्ठा[1] के त को ढ यहाँ निपातन से होता है । 'दृह' से दृढः बनाने पर भी नकारलोप छोड़कर ये ही सब कार्य निपातित हैं, सो दृह से भी दृढः बन सकता है ।।

प्रभौ परिवृढः ॥७।२।२१॥

प्रभौ ७।१।। परिवृढः १।१।। अनु०—निष्ठायाम्, नेटि, अङ्गस्य ।। अर्थः—परिवृढ इति निपात्यते निष्ठायां प्रभुश्चेद् भवति ।। पूर्ववत् परिपूर्वात् वृंहेः क्तप्रत्यये इडभवः, हकारनकारयोर्लोपः, निष्ठातकारस्य च ढत्वं निपात्यते ।। उदा०—परिवृढः कुटुम्बी ।।

भाषार्थः—[परिवृढः] परिवृढ शब्द निष्ठा परे रहते [प्रभौ] प्रभु=स्वामी अर्थ को कहने में निपातन किया जाता है ।। पूर्ववत् दृढः के समान ही यहाँ 'वृहि वृद्धौ', अथवा वृह धातु से इडागमाभावादि कार्य निपातन से जानें ।।

---

१. निष्ठा को धत्व ष्टुत्व तथा ढो ढे लोपः (८।३।१३) से ढ लोप करके दृढः बन ही जाता, पुनः निपातन पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) से असिद्धत्व न हो इसलिये है । जिसका प्रयोजन द्वितीयावृत्ति में समझ में आयेगा ।।

इडागम-निषेध

कृच्छ्रगहनयोः कषः ॥७।२।२२॥

कृच्छ्रगहनयोः ७।२॥ कषः ६।१॥ स०—कृच्छ्र० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—कृच्छ्र गहन इत्येतयोरर्थयोः कषधातोर्निष्ठाया-मिडागमो न भवति ॥ उदा०—कष्टोऽग्निः, कष्टं व्याकरणम्, कष्टतराणि सामानि । गहने—कष्टानि वनानि, कष्टाः पर्वताः ॥

भाषार्थः—[कृच्छ्रगहनयोः] कृच्छ्र (=दुःख) तथा गहन (=गभीर) अर्थ में [कषः] 'कष हिंसायाम्' धातु को निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता ॥ कष्टम् में पूर्ववत् ष्टुत्व जानें । 'कष्टोऽग्निः' का अर्थ है—यज्ञ में अग्निचयन कष्टकर है । इसी प्रकार कष्टं व्याकरणम् आदि में जानें ॥

इडागम-निषेध

घुषिरविशब्दने ॥७।२।२३॥

घुषिः १।१॥ अविशब्दने ७।१॥ स०—न विशब्दनमविशब्दनं, तस्मिन्......नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—निष्ठायां परतो घुषि-र्धातुरविशब्दनेऽर्थेऽनिट् भवति ॥ उदा०—घुष्टा रज्जुः, घुष्टौ पादौ ॥

भाषार्थः—निष्ठा परे रहते [घुषिः] घुषिर् धातु [अविशब्दने] अवि-शब्दन अर्थ में अनिट् होती है ॥ 'विशब्दन' शब्दों द्वारा अपने भावों के प्रकाशन को कहते हैं, सो अप्रकाशन अविशब्दन है । घुष्टा रज्जुः=जिसकी लड़ें घुटकर एका-कारसी हो गई हैं । घुष्टौ पादौ=रगड़कर धोए हुए पैर ॥

इडागम-निषेध

अर्देः सन्निविभ्यः ॥७।२।२४॥

अर्देः ६।१॥ सन्निविभ्यः ५।३॥ स०—सम् च निश्च विश्च संनिवयः, तेभ्यः ...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सम्, नि, वि, इत्येतेभ्य उत्तरस्यार्देर्निष्ठायामिडागमो न भवति ॥ उदा०—समर्णः, न्यर्णः, व्यर्णः ॥

भाषार्थः—[सन्निविभ्यः] सम् नि तथा वि उपसर्ग से उत्तर [अर्देः] अर्द धातु को निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता ॥ रदाभ्यां० (८।२।४२) से निष्ठा तकार एवं पूर्व दकार को नत्व, तथा रषाभ्यां० (८।४।१) से णत्व, ष्टुना० (८।४।४०) से पर नकार को णकार होकर सम् अर्ण् ण रहा । हलो यमां यमि० (८।४।६३) से पूर्व णकार का लोप होकर समर्णः आदि प्रयोग बन गये ॥

यहाँ से 'अर्देः' की अनुवृत्ति ७।२।२५ तक जायेगी ॥

इडागम-निषेध

अभेश्चाविदूर्ये ॥७।२।२५॥

अभेः ५।१॥ च अ०॥ आविदूर्ये ७।१॥ स०—विशेषेण दूरं विदूरम् । न विदूरम-

विदूरम्, नञ्तत्पुरुषः, तस्य भाव आविदूर्यम्, गुणवचनब्राह्मण० (५।१।१२३) इत्यनेन ष्यञ्प्रत्ययः ।। अनु०—अर्दः, निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ।। अर्थः—अभिशब्दादुत्तरस्यार्देराविदूर्येऽर्थे निष्ठायामिडागमो न भवति ।। उदा०—अभ्यर्णा सेना, अभ्यर्णा शरत् ।।

भाषार्थः—[अभेः] अभि उपसर्ग से उत्तर [च] भी [आविदूर्ये] आविदूर्य=अविप्रकृष्ट (=सन्निकट) अर्थ में अर्द धातु से निष्ठा परे रहते इट् आगम नहीं होता ।। सिद्धि पूर्वसूत्रानुसार जानें ।।

णेरध्ययने वृत्तम् ।।७।२।२६।।

णेः ६।१।। अध्ययने ७।१।। वृत्तम् १।१।। अनु०—निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य।। अधीयते इत्यध्ययनम्, कृत्यल्युटो० (३।३।११३) इत्यनेन कर्मणि ल्युट् ।। अर्थः—निष्ठायां ण्यन्तस्य वृतेः वृत्तमिति इडभावो णिलुक् च निपात्यते अध्ययने गम्यमाने ।। उदा०—वृत्तो गुणो देवदत्तेन, वृत्तं पारायणं देवदत्तेन ।।

भाषार्थः—[अध्ययने] अध्ययन को कहने में निष्ठा के विषय में [णेः] ण्यन्त वृति धातु का [वृत्तम्] वृत्त शब्द निपातन किया जाता है ।। यहाँ इट् का अभाव तथा णिलुक् निपातन से होता है । णिलुक् होने से न लुमताङ्गस्य (१।१।६२) से प्रत्ययलक्षण कार्य का निषेध हो जाता है । अतः णि को मानकर यहाँ गुण भी नहीं होता ।। वृत्तो गुणो देवदत्तेन, यहाँ 'गुण' नाम क्रमपाठ का है, जिसमें पद और संहिता दोनों रूप का पाठ होता है ।।

यहाँ से 'णेः' की अनुवृत्ति ७।२।२७ तक जायेगी ।।

वा दान्तशान्तपूर्णदस्तस्पष्टच्छन्नज्ञप्ताः ।।७।२।२७।।

वा अ० ।। दान्त...ज्ञप्ताः १।३।। स०—दान्त० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—णेः, निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ।। अर्थः—दम्, शम्, पूरी, दस्, स्पश्, छद्, ज्ञप् इत्येतेषां ण्यन्तानां धातूनां विकल्पेनानिट्त्वं णिलुक्च निष्ठायां परतो निपात्यते । तेन पक्षे दान्त, शान्त, पूर्ण, दस्त, स्पष्ट, छन्न, ज्ञप्त इत्येते प्रयोगाः सिद्ध्यन्ति।। उदा०—दान्तः, दमितः । शान्तः, शमितः । पूर्णः, पूरितः । दस्तः, दासितः । स्पष्टः, स्पाशितः। छन्नः, छादितः । ज्ञप्तः, ज्ञपितः ।।

भाषार्थः—दम्, शम्, पूरी, दस्, स्पश्, छद् तथा ज्ञप्, इन ण्यन्त धातुओं को [वा] विकल्प से अनिट्त्व तथा णि का लुक् निपातन से होकर पक्ष में [दान्त... ज्ञप्ताः] दान्त, शान्त, पूर्ण, दस्त, स्पष्ट, छन्न, ज्ञप्त प्रयोग बनते हैं ।। शान्त दान्त, यहाँ णिलुक् तथा इट् का प्रतिषेध निपातन से कर लेने पर अनुनासिकस्य० (६।४।

१५) से दीर्घ होता है । वस्तुतः शम्, दम् की जनिजृष्क्नसु० (धातुपाठ) से मित् संज्ञा होने से अत उपधायाः (७।२।११६) से हुई वृद्धि को मितां ह्रस्वः (६।४।९२) से ह्रस्व हो जाता है। अतः ६।४।१५ से दीर्घ करने की आवश्यकता होती है । दमितः शमितः में इसी प्रकार ह्रस्व हो गया है।। 'पूरी आप्यायने' से पूर्णः में निष्ठा को नत्व (८।२।४२ से) हुआ है ।। दसु से दस्तः, स्पश से स्पष्टः, छद से छन्नः, तथा ज्ञप (चुरादि) से ज्ञप्तः में जो उपधा को वृद्धि हुई थी, उसे निपातन से ह्रस्व भी हो जाता है ।। ज्ञप का ग्रहण यहाँ सनीवन्तर्ध० (७।२।४९) से विकल्प से प्राप्त इडागम का जो यस्य विभाषा (७।२।१५) से नित्य इट्प्रतिषेध प्राप्त था, वहाँ भी विकल्प से इट् प्राप्त कराने के लिये है ।।

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।२।३० तक जायेगी ।।

रुष्यमत्वरसंघुषास्वनाम् ।।७।२।२८।। अनिट् → इट्

रुष्य...नाम् ६।३।। स०—रुष्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—वा, निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य।। अर्थः—रुषि, अम, त्वर, संघुष, आस्वन इत्येतेषामङ्गानां निष्ठायां परतो वा इडागमो न भवति ।। उदा०—रुष्टः, रुषितः । अम—अभ्यान्तः, अभ्यमितः । त्वर—तूर्णः, त्वरितः । संघुष—संघुष्टौ पादौ, संघुषितौ पादौ। संघुष्टं वाक्यमाह, संघुषितं वाक्यमाह । आस्वन—आस्वान्तो देवदत्तः, आस्वनितो देवदत्तः । आस्वान्तं मनः, आस्वनितं मनः ।।

भाषार्थः—[रुष्य......नाम्] रुषि, अम, त्वर, सम्पूर्वक घुष, तथा आङ्पूर्वक स्वन, अङ्ग को निष्ठा परे रहते विकल्प से इट् आगम नहीं होता ।। रुष धातु को तीषसहलुभ० (७।२।४८) से विकल्प से इट् आगम प्राप्त होने पर निष्ठा परे रहते यस्य विभाषा (७।२।१५) से नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, वहाँ विकल्प प्राप्त कराने के लिये यहाँ रुष का ग्रहण है । अभ्यान्तः में अनुनासिकस्य० (६।४।१५) से दीर्घ, तथा म् को अनुस्वार (८।३।२४ से), एवं अनुस्वार को परसवर्ण (८।४।५७ से) न होता है । तूर्णः की सिद्धि ६।४।२० सूत्र में देखें । यहाँ आदितश्च (७।२।१६) से नित्य इट्प्रतिषेध प्राप्त था, विकल्पार्थ त्वर का ग्रहण है ।।

हृषेर्लोमसु ।।७।२।२९।। हृष → अनिट्

हृषेः ६।१।। लोमसु ७।३।। अनु०—वा, निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ।। अर्थः—लोमसु वर्त्तमानस्य हृषेर्निष्ठायाम् परतो वा इडागमो न भवति ।। उदा०—हृष्टानि लोमानि, हृषितानि लोमानि । हृष्टं लोमभिः, हृषितं लोमभिः । हृष्टाः केशाः, हृषिताः केशाः । हृष्टं केशैः, हृषितं केशैः ।।

भाषार्थः—[लोमसु] लोम विषय में [हृषेः] हृष धातु को निष्ठा परे रहते इट् आगम विकल्प से नहीं होता है ॥ हृष से यहाँ 'हृषु अलीके, हृष तुष्टौ' दोनों का ग्रहण है। सो धात्वर्थ हर्ष-विषय में वर्त्तमान लोम हों, तो विकल्प से इट् नहीं होगा। 'हृष्टानि लोमानि' का अर्थ होगा 'हर्ष से खड़े हो गये जो लोम'। यहाँ गत्यर्थाकर्मक० (३।४।७२) से कर्त्ता में क्त हुआ है। तथा हृष्टं लोमभिः, हृष्टं केशैः में नपुंसके भावे क्तः (३।३।११४) से भाव में क्त हुआ है ॥ लोम से यहाँ केश तथा लोम दोनों का ही अविशेषतः ग्रहण है ॥

अपचितश्च ॥७।२।३०॥

अपचितः १।१॥ च अ० ॥ अनु०—वा, निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अपचित इति वा निपात्यते। अपपूर्वस्य चायृधातोर्निष्ठायां परतोऽनिट्त्वं चिभावश्च वा निपात्यते ॥ उदा०—अपचितोऽनेन गुरुः, अपचायितोऽनेन गुरुः ॥

भाषार्थः—[अपचितः] अपचित शब्द [च] भी विकल्प से निपातन किया जाता है। अपपूर्वक चायृ धातु को निष्ठा परे रहते अनिट्त्व तथा चायृ को 'चि' भाव विकल्प से निपातित है। जब पक्ष में निपातन कार्य नहीं होंगे, तो अपचायितः प्रयोग बनेगा ॥

ह्रु ह्वरेश्छन्दसि ॥७।२।३१॥

ह्रु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ ह्वरेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—निष्ठायाम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ह्वरतेरङ्गस्य निष्ठायां परतश्छन्दसि विषये ह्रु इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—ह्रुतस्य चाह्रुतस्य च। अह्रुतमसि हविर्धानम् (यजु० १।६)॥

भाषार्थः—[ह्वरेः] 'ह्वृ कौटिल्ये' धातु को निष्ठा परे रहते [छन्दसि] वेदविषय में [ह्रु] ह्रु आदेश होता है ॥ ह्वृ धातु अनुदात्त है, अतः एकाच उपदेशे (७।२।१०) से इट्प्रतिषेध तो प्राप्त ही था, आदेशार्थ ही यह वचन है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ७।२।३४ तक जायेगी ॥

अपरिह्वृताश्च ॥७।२।३२॥

अपरिह्वृताः १।३॥ च अ० ॥ अनु०—छन्दसि, निष्ठायाम्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छन्दसि विषये अपरिह्वृता इति निपात्यते ॥ ह्रु आदेशस्य पूर्वेण प्राप्तिः, तस्याभावोऽत्र निपात्यते ॥ उदा०—अपरिह्वृताः सनुयाम वाजम् (ऋ० १।१००।१९) ॥

भाषार्थः—वेदविषय में [अपरिह्वृताः] अपरिह्वृता (बहुवचनान्त) शब्द

[च] भी निपातन किया जाता है ।। पूर्व सूत्र से ह् रु आदेश प्राप्त था, उसका अभाव निपातन है ।। वेद में यह शब्द बहुवचनान्त ही देखा जाता है, अतः सूत्र में बहुवचनान्त निर्देश है ।।

सोमे ह्वरितः ॥७।२।३३॥

सोमे ७।१।। ह्वरितः १।१।। अनु०—छन्दसि, निष्ठायाम्, अङ्गस्य ।। अर्थः—ह्वरित इति निपात्यते छन्दसि विषये सोमश्चेत्स भवति ।। निष्ठायाम् इडागमो गुणश्चात्र निपात्यते ।। उदा०—मा नः सोमो ह्वरितः; विह्वरितस्त्वम् ।।

भाषार्थः—[ह्वरितः] ह्वरित शब्द छन्द विषय में [सोमे] सोम वाच्य होने पर निपातन किया जाता है ।। निष्ठा परे रहते इट् आगम तथा गुण एवं ह् रु आदेश का अभाव यहां निपातन है । अनुदात्त होने से (७।२।१०से) इट् प्राप्त नहीं था, निपातन से कह दिया ।।

ग्रसितस्कभितस्तभितोत्तभितचत्तविकस्ता विशस्तृशंस्तृशास्तृतरुतृतरूतृवरुतृवरूतृवरूत्रीरुज्ज्वलितिक्षरितिक्षमितिवमित्यमितीति च ॥७।२।३४॥

ग्रसित···विकस्ताः १।३।। विशस्तृ, शंस्तृ इत्यादिषु प्रत्येकं लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः, केवलं वरूत्रीः इत्यत्र श्रूयमाणप्रथमाबहुवचनम्, एवञ्च सर्वाणीमानि पृथक्-पृथक् निर्दिष्टानि पदानि ।। इति अ० ।। च अ० ।। स०—ग्रसित···विकस्ताः, इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—छन्दसि, निष्ठायाम्, नेट्, अङ्गस्य ।। अर्थः—ग्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित, चत्त, विकस्त, विशस्तृ, शंस्तृ, शास्तृ, तरुतृ, तरूतृ, वरुतृ, वरूतृ, वरूत्रीः, उज्ज्वलिति, क्षरिति, क्षमिति, वमिति, अमिति इत्येतानि पदानि छन्दसि निपात्यन्ते ।। ग्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित इत्यत्र ग्रसु, स्कम्भु स्तम्भु इत्येतेषामुदित्वात् उदितो वा (७।२।५६) इति विकल्पविधानात्, निष्ठायाम् यस्य विभाषा (७।२।१५) इति नित्ये इट्प्रतिषेधे प्राप्ते इडागमोऽत्र निपात्यते । चत्त, विकस्त इत्यत्र क्रमेण चतेः विपूर्वस्य कसेश्च निष्ठायामिडभावो निपात्यते । विशस्तृ, शंस्तृ, शास्तृ इत्यत्र विपूर्वस्य शसेः, शंसेः, शासेश्च तृचि इडभावो निपात्यते । तरुतृ, तरूतृ, वरुतृ, वरूतृ, वरूत्रीः इत्यत्र तरतेर्वृङ्वञोश्च तृचि उट् ऊट् इत्येतावागमौ निपात्येते । उज्ज्वलिति, क्षरिति, क्षमिति, वमिति, अमिति इत्यत्र उत्पूर्वस्य ज्वलतेः क्षर क्षम वम अम इत्येतेषां च तिपि शप इकारादेशो निपात्यते । अथवा शपो लुक् इडागमश्च निपात्यते[1] ।। उदा०—ग्रसित—ग्रसितं वा एतत् सोमस्य (मै०

---

१. अयं पक्षो युक्ततरः । लोकेऽपि रोदितीत्यादौ क्वचिद् इडागमस्य दर्शनात् (द्र०—७।२।७६) ।

३।७।४)। स्कभित—विष्कभिते अजरे (ऋ० ६।७०।१)। स्तभित—येन स्वः स्तभितम् (य० ३२।६)। उत्तभित—सत्येनोत्तभिता भूमिः (ऋ० १०।८५।१)। चत्त—चत्ता वर्षेण विद्युत्। विकस्त—उत्तानाया हृदयं यद् विकस्तम्। विशस्तृ—एकस्त्वष्टुरश्वस्याविशस्ता (ऋ० १।१६२।१९)। शंस्तृ—उत शंस्ता सुविप्रः (ऋ० १।१६२।५)। शास्तृ—प्रशास्ता (ऋ० २।५।४)। तरुतृ—तरुतारं रथानाम् (ऋ० १०।१७८।१)। तरूतृ—तरूतारम्। वरुतृ—वरुतारं रथानाम्। वरूतृ—वरूतारं रथानाम्। वरूत्रीः—वरूत्रीष्ट्वा देवीर्विश्वदेव्यावती (य० ११।६१)। होत्रा वै वरूत्रयः (तै० ५।१।७।२)। छान्दसिकमत्र ह्रस्वत्वम्। उज्ज्वलिति—अग्निरुज्ज्वलिति। क्षरिति—स्तोकं क्षरिति। क्षमिति—स्तोमं क्षमिति। वमिति—यः सोमं वमिति। अमिति—अभ्यमिति वरुणः॥

भाषार्थः—[प्रसित······वमिति] प्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित, चत्त, विकस्त, विशस्तृ, शंस्तृ, शास्तृ, तरुतृ, तरूतृ, वरुतृ, वरूतृ, वरूत्रीः, उज्ज्वलिति, क्षरिति, क्षमिति, वमिति अमिति, [इति] ये शब्द [च] भी वेदविषय में निपातित हैं॥ प्रसित, स्कभित, स्तभित, उत्तभित, यहां प्रसु, स्कम्भु, स्तम्भु इन धातुओं के उदित् होने से (७।२।५६) यस्य विभाषा (७।२।१५) से इट्प्रतिषेध प्राप्त था, निपातन से इट् कह दिया। ६।४।२४ से यहां अनुनासिक लोप भी जानें। उत्तभित, यहां उदः स्थास्तम्भो० (८।४।६०) से पूर्वसवर्ण हुआ है। उत् स्तभित=उत्तभित॥ चत्त, विकस्त, यहां क्रमशः 'चते याचने' तथा विपूर्वक कस धातु से निष्ठा परे रहते इडभाव निपातन है॥ विशस्तृ शंस्तृ शास्तृ, यहां क्रमशः विपूर्वक शसु शंसु तथा शासु से तृच् परे रहते इट् अभाव निपातन है॥ तरुतृ, तरूतृ, यहां तॄ धातु से तृच् परे रहते क्रमशः उट् ऊट् आगम निपातन हैं। वरुतृ, वरूतृ, वरूत्रीः, यहां वृङ् अथवा वृञ् धातु से पूर्ववत् उट् ऊट् आगम निपातन हैं। वरूत्रीः, यहां ऋन्नेभ्यो ङीप् (४।१।५) से ङीप् भी हो गया है। वृ उट् तृच्=गुण रपरत्व होकर वरुतृ बना। वृ ऊट् तृच्=वरूतृ। वरूतृ ङीप्=यणादेश होकर वरूत्री बना। जस् विभक्ति आकार वा छन्दसि (६।१।१०२) से पूर्वसवर्ण दीर्घ करके 'वरूत्रीः' ऐसा सूत्र में निर्देश किया है। 'वरूत्रयः' उदाहरण में वरूत्री को जस् परे रहते यणादेश होकर वरूत्र्यः अनिष्ट रूप बनता था। अतः छान्दसिक ह्रस्वत्व मानकर यहां जसि च (७।३।१०९) से गुण हुआ है, ऐसा जानना चाहिये॥ उज्ज्वलिति, क्षरिति, क्षमिति, वमिति, अमिति, यहां क्रमशः उत्पूर्वक ज्वल, क्षर, क्षम, वम, अम इन धातुओं से तिप् परे रहते शप् के अकार के स्थान में इकारादेश निपातन है। अथवा—शप् का लुक् करके इट् आगम निपातन से मानकर भी ये प्रयोग सिद्ध हो सकते हैं॥

सूत्र में प्रसित से लेकर विकस्त पर्यन्त समस्त प्रथमाबहुवचनान्त पद हैं, तथा

विशस्तृ से आगे सभी पद पृथक्-पृथक् असमस्त निर्दिष्ट हैं। वह्नत्रीः प्रथमा बहुवचनान्त (वा छन्दसि लगकर) पद है ॥

इडागम

आर्धधातुकस्येड् वलादेः ॥७।२।३५॥

आर्धधातुकस्य ६।१॥ इट् १।१॥ वलादेः ६।१॥ स०—वल् आदिर्यस्य स वलादिः, तस्य ··· बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—वलादेरार्धधातुकस्य इडागमो भवति ॥ उदा०—लविता, लवितुम्, लवितव्यम् । पविता, पवितुम्, पवितव्यम् ॥

भाषार्थः—[वलादेः] वल् (प्रत्याहार) आदि में है जिसके ऐसे [आर्धधातुकस्य] आर्धधातुक को [इट्] इट् का आगम होता है ॥ लविता पविता की सिद्धि परि० १।१।२ के 'चेता' के समान जानें। लो इ ता=लविता बना ॥

यहाँ से 'आर्धधातुकस्य' की अनुवृत्ति ७।२।७५ तक, तथा 'इट् वलादेः' की ७।२।७८ तक जायेगी ॥

इडागम

स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते ॥७।२।३६॥

स्नुक्रमोः ६।२॥ अनात्मनेपदनिमित्ते १।२॥ स०—स्नु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । आत्मनेपदस्य निमित्ते आत्मनेपदनिमित्ते, षष्ठीतत्पुरुषः । न आत्मनेपदनिमित्ते अनात्मनेपदनिमित्ते, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आर्धधातुकस्येड् वलादेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्नुक्रमोः वलादेरार्धधातुकस्य इडागमो भवति, न चेत् स्नुक्रमौ आत्मनेपदस्य निमित्तं भवतः ॥ उदा०—प्रस्नविता, प्रस्नवितुम्, प्रस्नवितव्यम् । प्रक्रमिता, प्रक्रमितुम्, प्रक्रमितव्यम् ॥

भाषार्थः—[स्नुक्रमोः] स्नु तथा क्रम के (अर्थात् स्नु क्रम से उत्पन्न) वलादि आर्धधातुक को इट् आगम होता है, यदि स्नु तथा क्रम [अनात्मनेपदनिमित्ते] आत्मनेपद के निमित्त न हों तो। अर्थात् उनके आश्रित आत्मनेपद न हो रहा हो तो ॥

इट्—दीर्घ

ग्रहोऽलिटि दीर्घः ॥७।२।३७॥

ग्रहः ५।१॥ अलिटि ७।१। दीर्घः १।१॥ स०—न लिट् अलिट् तस्मिन्······ नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—आर्धधातुकस्येड् वलादेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ग्रह उत्तरस्य इटोऽलिटि दीर्घो भवति ॥ उदा०—ग्रहीता, ग्रहीतुम्, ग्रहीतव्यम् ॥

भाषार्थः—[ग्रहः] ग्रह धातु से उत्तर [अलिटि] लिट्भिन्न वलादि आर्धधातुक परे रहते इट् को [दीर्घः] दीर्घ होता है ॥ ग्रह् इट् तृ=ग्रह् ई ता=ग्रहीता बना ॥

यहाँ से "अलिटि" की अनुवृत्ति ७।२।३८ तक, तथा 'दीर्घः' की ७।२।४० तक जायेगी॥

इट-दीर्घ

वृतो वा ॥७।२।३८॥

वृतः ५।१॥ वा अ० ॥ स०—वृ च ऋत्, च वृत् तस्मात् समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अलिटि दीर्घः, आर्धधातुकस्येड् वलादेः, अङ्गस्य॥ अर्थः—वृ इत्येतस्मात् ऋकारान्तेभ्यश्चेटो वा दीर्घो भवति ॥ उदा०—वरिता, वरीता; प्रावरिता, प्रावरीता । ऋकारान्तेभ्यः—तरिता, तरीता; आस्तरिता, आस्तरीता ॥

भाषार्थः—[वृतः] वृ तथा ऋकारान्त धातुओं से उत्तर इट को [वा] विकल्प से लिट्भिन्न वलादि आर्धधातुक परे रहते दीर्घ होता है ॥ वृ से यहाँ वृङ् तथा वृञ् दोनों का ग्रहण है ॥

यहाँ से 'वृतः' की अनुवृत्ति ७।२।४२ तक जायेगी ॥

इट-अदीर्घ

न लिङि ॥७।२।३९॥

न अ० ॥ लिङि ७।१॥ अनु०—वृतः, दीर्घः, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—वृत उत्तरस्य इटो लिङि दीर्घो न भवति ॥ उदा०—विवरिषीष्ट, प्रावरिषीष्ट, आस्तरिषीष्ट, विस्तरिषीष्ट ॥

भाषार्थः—वृ तथा ऋकारान्त धातुओं से उत्तर इट् को [लिङि] लिङ् परे रहते दीर्घ [न] नहीं होता ॥ पूर्वसूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ सिद्धियाँ परि० १।२।१२ के संस्तीष्ट के समान जानें । केवल यहाँ इट् आगम एवं वृ को वर् गुण ही विशेष है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।२।४० तक जायेगी ॥

इट-अदीर्घ

सिचि च परस्मैपदेषु ॥७।२।४०॥

सिचि ७।१॥ च अ० ॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ अनु०—न, वृतः, दीर्घः, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—वृत उत्तरस्य परस्मैपदपरे सिचि परत इटो दीर्घो न भवति ॥ उदा०—प्रावारिष्टाम्, प्रावारिषुः; अतारिष्टाम्, अतारिषुः; आस्तारिष्टाम्, आस्तारिषुः ॥

भाषार्थः—[परस्मैपदेषु] परस्मैपदपरक [सिचि] सिच् परे रहते [च] भी वृ तथा ऋकारान्त धातुओं से उत्तर इट् को दीर्घ नहीं होता ॥ प्र अट् वृ इट् सिच् तस्=प्रा व इ स ताम्, सिचि वृद्धिः० (७।२।१) से वृ को वृद्धि होकर—प्रावारिष्टाम् बन गया । तॄ से अतारिष्टाम्, तथा आङ्पूर्वक स्तॄ से आस्तारिष्टाम् आदि बन ही जायेंगे ॥

इडागम विकल्प

इट् सनि वा ॥७।२।४१॥

इट् १।१॥ सनि ७।१॥ वा ग्र०॥ अनु०—वृतः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—वृत उत्तरस्य सनो वा इडागमो भवति ॥ उदा०—वुवूर्षते, विवरिषते, विवरीषते । प्रावुवूर्षति, प्राविवरीषति, प्राविवरीषति । ऋकारान्तेभ्यः—तितीर्षति, तितरिषति, तितरीषति । आतितीर्षति, आतितरिषति, आतितरीषति ॥

भाषार्थः—वृ तथा ऋकारान्त धातु से उत्तर [सनि] सन् आर्धधातुक को [वा] विकल्प से [इट्] इट् आगम होता है ॥ सनि ग्रहगुहोश्च (७।२।१२) से नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, यहाँ पक्ष में विधान कर दिया ॥ वुवूर्षते आदि में उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७।१।१०२) से उत्व हुआ है । शेष कार्य परि० १।१।५७ में प्रदर्शित चिकीर्षकः के समान जानें । आतितीर्षति में ऋत इद्धातोः (७।१।१००) से इत्व हुआ है । वृतो वा (७।२।३८) से इट् को पक्ष में दीर्घ हुआ है, इस प्रकार तीन रूप बने ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।२।४३ तक जायेगी ॥

इडागम विकल्प

लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु ॥७।२।४२॥

लिङ्सिचोः ७।२॥ आत्मनेपदेषु ७।३॥ स०—लिङ् इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वा, वृतः, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—वृत उत्तरं लिङि सिचि चात्मनेपदे परतो वा इडागमो भवति ॥ उदा०—वृषीष्ट, वरिषीष्ट । प्रावृषीष्ट, प्रावरिषीष्ट । आस्तरिषीष्ट, आस्तीर्षीष्ट । सिचि—अवृत, अवरिष्ट, अवरीष्ट । प्रावृत, प्रावरिष्ट, प्रावरीष्ट । आस्तीर्ष्ट, आस्तरिष्ट, आस्तरीष्ट ॥

भाषार्थः—वृ तथा ऋकारान्त धातुओं से उत्तर [आत्मनेपदेषु] आत्मनेपद परक [लिङ्सिचोः] लिङ् तथा सिच् को विकल्प से इट् आगम होता है । सिद्धियाँ परि० १।२।११ एवं १।२।१२ के प्रयोगों के समान जानें । लिङ् में इट् को दीर्घ न लिङि (७।२।३९) से नहीं होता । सिच् में पूर्ववत् पक्ष में दीर्घत्व भी होता है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।२।४३ तक जायेगी ॥

इडागम-विकल्प

ऋतश्च संयोगादेः ॥७।२।४३॥

ऋतः ५।१॥ च अ०॥ संयोगादेः ५।१॥ स०—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, तस्मात् बहुव्रीहिः ॥ अनु०—लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु, वा, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—संयोगादिर्यो धातुः ऋकारान्तस्तस्मादुत्तरयोर्लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु वा इडागमो भवति ॥ उदा०—ध्वृषीष्ट, ध्वरिषीष्ट । स्मृषीष्ट, स्मरिषीष्ट । सिचि—अध्वृषाताम्, अध्वरिषाताम् । अस्मृषाताम्, अस्मरिषाताम् ॥

भाषार्थः—[संयोगादेः] संयोग है आदि में जिसके ऐसे [ऋतः] ऋकारान्त धातु से उत्तर [च] भी आत्मनेपदपरक लिङ्, सिच् को विकल्प से इट् आगम होता है ॥ सिद्धियाँ पूर्वोक्त स्थलों के समान ही समझें। उदाहरणों में भावकर्मणोः (१।३।१३) से आत्मनेपद हुआ है ॥

इडागम विकल्प **स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा ॥७।२।४४॥**

स्वरति······दितः ५।१॥ वा अ०॥ स०—ऊत् इत् यस्य स ऊदित्,बहुव्रीहिः। स्वरतिश्च सूतिश्च सूयतिश्च धूञ् च ऊदित् च स्वरित······ दित्, तस्मात् समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—आर्धधातुकस्येड् वलादेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्वरति, सूति, सूयति, धूञ् इत्येतेभ्यः ऊदिद्भ्यश्चोत्तरस्य वलादेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति ॥ उदा०—स्वृ—स्वर्त्ता, स्वरिता। षूङ् (अदा०)—प्रसोता, प्रसविता। षूङ् (दिवा०)—सोता, सविता। धूञ्—धोता, धविता। ऊदिद्भ्यः—गाहू—विगाढा, विगाहिता। गुपू—गोप्ता, गोपिता ॥

भाषार्थः—[स्व······दितः] स्वरति (=स्वृ शब्दोपतापयोः),सूति (षूङ्=प्राणिगर्भविमोचने) सूयति (षूङ् प्राणिप्रसवे),धूञ् कम्पने, तथा ऊदित् धातुओं से उत्तर वलादि आर्धधातुक को [वा] विकल्प से इट् आगम होता है ॥ गाहू आदि ऊदित् धातुएं हैं। विगाढा में पूर्ववत् ढत्व ढत्व (८।२।३१ से), ष्टुत्व तथा ढलोप (८।३।१३ से) जानें ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।२।५१ तक जायेगी ॥

इडागम विकल्प **रधादिभ्यश्च ॥७।२।४५॥**

रधादिभ्यः ५।३॥ च अ०॥ स०—रध आदिर्येषां ते रधादयः,तेभ्यः······ बहुव्रीहिः ॥ अनु०—वा, आर्धधातुकस्येड् वलादेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—रधादिभ्य उत्तरस्य वलादेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति ॥ उदा०—रद्धा, रधिता। नंष्टा, नशिता। त्रप्ता, तर्प्ता, तर्पिता। द्रप्ता, दर्प्ता, दर्पिता। द्रोग्धा, द्रोढा, द्रोहिता। मोग्धा, मोढा, मोहिता। स्नोग्धा, स्नोढा, स्नोहिता। स्नेग्धा, स्नेढा, स्नेहिता ॥

भाषार्थः—[रधादिभ्यः] रधादि आठ धातुओं से उत्तर [च] भी वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् आगम होता है ॥ नंष्टा की सिद्धि सूत्र ७।१।६० में देखें। त्रप्ता,द्रप्ता आदि की सिद्धि सूत्र ६।१।५८ में देखें। द्रोग्धा, यहाँ द्रुह् धातु के ह् को वा द्रुहमुहष्णुह० (८।२।३३) से घत्व होकर झषस्तथोर्धोऽधः (८।२।४०) से धत्व, एवं झलां जश्० (८।४।५२) से घ् को जश्त्व गकार हुआ है। इसी प्रकार

मोग्धा, स्नोग्धा, स्नेग्धा में जानें। जब ग्रा द्रुहमुह० (८।२।३३) से ह् को घ् नहीं हुआ, तो हो ढः (८।२।३१) से ढत्व होकर द्रोढा मोढा आदि रूप बने।। इट् पक्ष में द्रोहिता मोहिता रूप बनेंगे । इस प्रकार द्रुह्, मुह्, ष्णुह्, ष्णिह् धातुओं के तीन-तीन रूप बनते हैं ।।

निरः कुषः ।।७।२।४६।। इडागम-विकल्प

निरः ५।१।। कुषः ५।१।। अनु०—वा, आर्धधातुकस्येड् वलादेः, अङ्गस्य ।। अर्थः—निर् इत्येवम्पूर्वात् कुषः अङ्गादुत्तरस्य वलादेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति ।। उदा०—निष्कोष्टा, निष्कोषिता । निष्कोष्टुम्, निष्कोषितुम् । निष्कोष्टव्यम्, निष्कोषितव्यम् ।।

भाषार्थः—[निरः] निर् पूर्वक [कुषः] कुष अङ्ग से उत्तर वलादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् आगम होता है ।। निर् के विसर्जनीय को षत्व इदुदुपधस्य० (८।३।४१) से हुआ है ।।

यहाँ से 'निरः कुषः' की अनुवृत्ति ७।२।४७ तक जायेगी ।।

इण्निष्ठायाम् ।।७।२।४७।। इडागम-[illegible]

इट् १।१।। निष्ठायाम् ७।१।। अनु०—निरः कुषः, अङ्गस्य ।। अर्थः—निर् इत्येवंपूर्वात् कुष उत्तरं निष्ठायामिडागमो भवति ।। उदा०—निष्कुषितः, निष्कुषितवान् ।।

भाषार्थः—निर् पूर्वक कुष से उत्तर [निष्ठायाम्] निष्ठा को [इट्] इट् आगम होता है ।। 'वा' की अनुवृत्ति आते हुये भी इट् ग्रहण करने से यहाँ सम्बद्ध नहीं होती ।।

तीषसहलुभरुषरिषः ।।७।२।४८।। इडागम-विकल्प

ति ७।१।। इषसहलुभरुषरिषः ५।१।। स०—इषश्च सहश्च लुभश्च रुषश्च रिट् च इष…रिट्, तस्मात् समाहारद्वन्द्वः ।। अनु०—वा, आर्धधातुकस्येड्, अङ्गस्य ।। अर्थः—इषु, सह, लुभ, रुष, रिष इत्येतेभ्य तकारादावार्धधातुके वा इडागमो भवति ।। उदा०—इषु—एष्टा, एषिता । सह—सोढा, सहिता । लुभ—लोब्धा, लोभिता । रुष—रोष्टा, रोषिता । रिष—रेष्टा, रेषिता ।।

भाषार्थः—[इष…रिषः] इषु इच्छायाम्, षह मर्षणे, लुभ, रुष, रिष इन धातुओं से उत्तर [ति] तकारादि आर्धधातुक को विकल्प से इट् आगम होता है ।। ये धातुयें उदात्त हैं, अतः आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५) से इट् प्राप्त ही था, विकल्पार्थ इस सूत्र का आरम्भ है । लोब्धा में पूर्ववत् त् को ध्, एवं भ् को जश्त्व

(८।४।५८) से व हुआ है। सोढा में सहिवहोरोदवर्णस्य (६।३।११०) से ओत्व हुआ है ॥

सनीवन्तर्धभ्रस्जदम्भुश्रिस्वृयूर्णुभरज्ञपिसनाम् ॥७।२।४९॥

सनि ७।१॥ इवन्त...नाम् ६।३॥ स०—इव् अन्ते येषां ते इवन्ताः, बहुव्रीहिः । इवन्ताश्च ऋधश्च भ्रस्जश्च दम्भुश्च श्रिश्च स्वृश्च युश्च ऊर्णुश्च भरश्च ज्ञपिश्च सश्च इवन्त...सनः, तेषाम् ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वा, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थ— इवन्तानां धातूनां ऋधु, भ्रस्ज्, दम्भु, श्रि, स्वृ, यु, ऊर्णु, भर, ज्ञपि, सन्, इत्येतेषां च सनि आगमो भवति ॥ उदा०—इवन्तानाम् — दिदेविषति, दुद्यूषति । सिसेविषति, सुस्यूषति । ऋधु—अर्दिधिषति, ईर्त्सति । भ्रस्ज—बिभ्रज्जिषति, बिभ्रक्षति, बिभर्जिषति, बिभर्क्षति । दम्भु—दिदम्भिषति, धिप्सति, धीप्सति । श्रि—उच्छिश्रयिषति, उच्छिश्रीषति । स्वृ—सिस्वरिषति, सुस्वूर्षति । यु—यियविषति, युयूषति । ऊर्णु—प्रोर्णुनविषति, प्रोर्णुनुविषति, प्रोर्णुनूषति । भर—बिभरिषति, बुभूर्षति । ज्ञपि—जिज्ञपयिषति, ज्ञीप्सति । सन—सिसनिषति, सिषासति ॥

भाषार्थः—[इवन्त...नाम्] इव् अन्त में है जिनके उनसे, तथा ऋधु वृद्धौ, भ्रस्ज पाके, दम्भु दम्भे, श्रिञ् सेवायाम्, स्वृ शब्दोपतापयोः, यु मिश्रणे, ऊर्णुञ् आच्छादने, भृञ् भरणे, ज्ञपि, सन् (='षणु दाने', एवं षण संभक्तौ दोनों का यहाँ सन् से ग्रहण है) इन धातुओं से उत्तर [सनि] सन् को विकल्प से इट् आगम होता है। सिद्धि परिशिष्ट में देखें ॥

क्लिशः क्त्वानिष्ठयोः ॥७।२।५०॥

क्लिशः ५।१॥ क्त्वानिष्ठयोः ६।२॥ स०—क्त्वा च निष्ठा च क्त्वानिष्ठे, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वा इट् अङ्गस्य ॥ अर्थः—क्लिश उत्तरयोः क्त्वानिष्ठयोर्वा इडागमो भवति ॥ उदा०—क्लिष्ट्वा, क्लिशित्वा । निष्ठा—क्लिष्टः, क्लिष्टवान्; क्लिशितः, क्लिशितवान् ॥

भाषार्थः—[क्लिशः] क्लिश धातु से उत्तर [क्त्वानिष्ठयोः] क्त्वा तथा निष्ठा को इट् आगम विकल्प से होता है ॥ क्लिष्ट्वा आदि में व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से श् को ष् एवं ष्टुत्व हुआ है। क्लिशित्वा में मृडमृदगुध० (१।२।७) से क्त्वा को कित्वत् हुआ है, अतः गुण नहीं हुआ है ॥

यहाँ से 'क्त्वानिष्ठयोः' की अनुवृत्ति ७।२।५४ तक जायेगी ॥

पूङश्च ॥७।२।५१॥

पूङः ५।१॥ च अ०॥ अनु०—क्त्वानिष्ठयोः, वा, इट् अङ्गस्य ॥ अर्थः—

पूङश्च क्त्वानिष्ठयोर्वा इडागमो भवति ॥ उदा०—पूत्वा, पवित्वा । सोमोऽतिपूतः, सोमोऽतिपवितः । पूतवान्, पवितवान् ॥

भाषार्थः—[पूङः] पूङ् धातु से उत्तर [च] भी क्त्वा तथा निष्ठा को इट् आगम विकल्प से होता है ॥ श्र्युकः किति (७।२।११) से पूङ् के उगन्त होने से इट्प्रतिषेध नित्य प्राप्त था, यहाँ विकल्प विधान कर दिया ॥ पूङः क्त्वा च (१।२।२२) से क्त्वा तथा निष्ठा के कित् का प्रतिषेध होने से पवित्वा आदि में गुण हो जाता है ॥

वसतिक्षुधोरिट् ॥७।२।५२॥

वसतिक्षुधोः ६।२॥ इट् १।१॥ स०—वसति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—क्त्वानिष्ठयोः, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—वस निवासे, क्षुध बुभुक्षायाम् इत्येतयोः क्त्वानिष्ठयोरिडागमो भवति ॥ उदा०—उषित्वा, उषितः, उषितवान् । क्षुधित्वा, क्षुधितः, क्षुधितवान् ॥

भाषार्थः—[वसतिक्षुधोः] वस तथा क्षुध धातु के क्त्वा तथा निष्ठा प्रत्यय को [इट्] इट् आगम होता है ॥ ये दोनों धातु अनुदात्त हैं,अतः इट्प्रतिषेध (७।२।१०) प्राप्त था । क्त्वा निष्ठा को इट्विधानार्थ यह वचन है ॥ उषित्वा की सिद्धि परि० १।२।७ में देखें । इसी प्रकार उषितः आदि भी जानें ॥

अञ्चेः पूजायाम् ॥७।२।५३॥

अञ्चेः ५।१॥ पूजायाम् ७।१॥ अनु०—क्त्वानिष्ठयोः, इट् अङ्गस्य ॥ अर्थः—अञ्चेः उत्तरस्य पूजायामर्थे क्त्वानिष्ठयोरिडागमो भवति ॥ उदा०—अञ्चित्वा जानु जुहोति । अञ्चिता अस्य गुरवः ॥

भाषार्थः—[अञ्चेः] अञ्चु धातु से उत्तर [पूजायाम्] पूजा अर्थ में क्त्वा तथा निष्ठा को इट् आगम होता है ॥ अञ्चिता की सिद्धि सूत्र ६।४।३० में देखें । अञ्चित्वा में भी इसी प्रकार समझें ॥

लुभो विमोहने ॥७।२।५४॥

लुभः ५।१॥ विमोहने ७।१॥ अनु०—क्त्वानिष्ठयोः, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—विमोहनेऽर्थे वर्त्तमानात् लुभ उत्तरयोः क्त्वानिष्ठयोरिडागमो भवति ॥ उदा०—लुभित्वा, लोभित्वा; विलुभिता: केशाः, विलुभितः सीमन्तः, विलुभितानि पदानि ॥

भाषार्थः—[विमोहने] विमोहन=व्याकुल करने अर्थ में वर्त्तमान [लुभः] लुभ् धातु से उत्तर क्त्वा तथा निष्ठा को इट् आगम होता है ॥ रलो व्युपधाद्०

(१।२।२६) से क्त्वा को विकल्प से कित्वत् होने से लुभित्वा-लोभित्वा गुण होकर दो रूप बनेंगे ।। क्त्वा परे रहते तीषसह० (७।२।४८) से इट् विकल्प से प्राप्त था। एवं निष्ठा में यस्य विभाषा (७।२।१५) से नित्य इट्प्रतिषेध प्राप्त था, अतः यह सूत्र है ।। विलुभिताः केशाः (= अव्यवस्थित केश) ।।

जृव्रश्च्योः क्त्वि ।।७।२।५५।।

जृव्रश्च्योः ६।२।। क्त्वि ७।१।। स०—जृ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—इट्, अङ्गस्य ।। अर्थः—जृ व्रश्चि इत्येतयोः क्त्वाप्रत्यये परतो इडागमो भवति ।। उदा०—जरित्वा, जरीत्वा । व्रश्चित्वा ।।

भाषार्थः—[जृव्रश्च्योः] 'जृ वयोहानौ' तथा 'ओव्रश्चू छेदने' धातु के [क्त्वि] क्त्वा प्रत्यय को इट् आगम होता है ।। जरीत्वा में वृतो वा (७।२।३८) से पक्ष में इट् को दीर्घ होता है। व्रश्चित्वा, यहाँ न क्त्वा सेट् (१।२।१८) से क्त्वा के कित् का प्रतिषेध होने से ग्रहिज्यावयि० (६।१।१६) से सम्प्रसारण नहीं होता ।।

यहाँ से 'क्त्वि' की अनुवृत्ति ७।२।५६ तक जायेगी ।।

उदितो वा ।।७।२।५६।।

उदितः ५।१।। वा अ०।। स०—उत् इत् यस्य स उदित्,तस्मात् · बहुव्रीहिः ।। अनु०—क्त्वि, इट्, अङ्गस्य ।। अर्थः—उदित धातोः क्त्वाप्रत्यये परतो वा इडागमो भवति ।। उदा०—शमु—शमित्वा,शान्त्वा । तमु—तमित्वा,तान्त्वा । दमु—दमित्वा, दान्त्वा ।।

भाषार्थः—[उदितः] उकार इत्संज्ञक है जिनका ऐसे धातुओं से उत्तर क्त्वा को [वा] विकल्प से इट् आगम होता है ।। अनिट् पक्ष में शान्त्वा आदि में अनुनासिकस्य० (६।४।१५) से दीर्घ होता है ।।

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।२।५७ तक जायेगी ।।

सेऽसिचि कृतचृतच्छृदतृदनृतः ।।७।२।५७।।

से ७।१।। असिचि ७।१।। कृतचृतच्छृदतृदनृतः ५।१।। स०—न सिच् असिच्, तस्मिन्···नञ्तत्पुरुषः । कृत० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ।। अनु०—वा, आर्धधातुकस्येड्, अङ्गस्य ।। अर्थः—कृती, चृती, उच्छृदिर्, उतृदिर्, नृती इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य असिचः सकारादेरार्धधातुकस्य वा इडागमो भवति ।। उदा०—कृती—कर्त्स्यति, अकर्त्स्यत्, चिकृत्सति । पक्षे—कर्तिष्यति, अकर्तिष्यत्, चिकर्तिषति । चृती—चर्त्स्यति, अचर्त्स्यत्, चिचृत्सति । पक्षे—चर्तिष्यति,अचर्तिष्यत्,चिचर्तिषति । छृद—

छत्स्यंति, अच्छत्स्यंत्, चिच्छृत्सति । पक्षे—छर्दिष्यति, अच्छर्दिष्यत्, चिच्छर्दिषति ।
तृद—तर्त्स्यति, अतर्त्स्यत्, तितृत्सति । पक्षे—तर्दिष्यति, अतर्दिष्यत्, तितर्दिषति ।
नृत्—नर्त्स्यति, अनर्त्स्यत्, निनृत्सति । पक्षे—नर्तिष्यति, अनर्तिष्यत्, निनर्तिषति ॥

भाषार्थः—[कृत···नृतः] कृती, चृती, उच्छृदिर्, उतृदिर्, नृती इन धातुओं से उत्तर [असिचि] सिच्-भिन्न [से] सकारादि आर्धधातुक को, विकल्प से इट् का आगम होता है॥ ये धातुएं उदात्त हैं, अतः इट् सिद्ध ही था, विकल्पार्थ यह वचन है। सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है। भाग १ परि० १।३।६२ की सिद्धियों के समान ही सब कार्य जानें। अन्यत्र भी हम दिखा चुके हैं। सकारादि आर्धधातुक सर्वत्र है ही॥

यहाँ से 'से' की अनुवृत्ति ७।२।६० तक जायेगी॥

गमेरिट् परस्मैपदेषु ॥७।२।५८॥

गमेः ५।१॥ इट् १।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ अनु०—से, आर्धधातुकस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—गमेरुत्तरस्य सकारादेरार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो भवति॥ उदा०—गमिष्यति, अगमिष्यत्, जिगमिषति॥

भाषार्थः—[गमेः] गम्लृ धातु से उत्तर सकारादि आर्धधातुक को [परस्मैपदेषु] परस्मैपद परे रहते [इट्] इट् का आगम होता है॥ गम्लृ धातु अनुदात्त है, अतः इट् प्राप्त नहीं था। सकारादि आर्धधातुक को प्राप्त करा दिया है॥ जिगमिषति की सिद्धि २।४।४७ सूत्र में देखें॥

यहाँ से 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति ७।२।६० तक जायेगी॥

न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः ॥७।२।५९॥

न अ० ॥ वृद्भ्यः ५।३॥ चतुर्भ्यः ५।३॥ अनु०—परस्मैपदेषु, से, आर्धधातुकस्येड्, अङ्गस्य॥ अर्थः—वृतादिभ्यश्चतुर्भ्य उत्तरस्य सकारादेरार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो न भवति॥ उदा०—वृतु—वर्त्स्यति, अवर्त्स्यत्, विवृत्सति। वृधु—वर्त्स्यति, अवर्त्स्यत्, विवृत्सति। शृधु—शर्त्स्यति, अशर्त्स्यत्, शिशृत्सति। स्यन्दू—स्यन्त्स्यति, अस्यन्त्स्यत्, सिस्यन्त्सति॥

भाषार्थः—[वृद्भ्यः] वृतु इत्यादि [चतुर्भ्यः] चार धातुओं से उत्तर सकारादि आर्धधातुक को परस्मैपद परे रहते इट् का आगम [न] नहीं होता॥ वृद्भ्यः में बहुवचन निर्देश से आदि अर्थ प्रतीत होता है॥ वृतु, वृधु, शृधु उदात्त धातुएं हैं, अतः नित्य इट् प्राप्त था, निषेध कर दिया। तथा स्यन्दू के ऊदित् होने से ७।२।४४ से विकल्प से

इट् प्राप्त था, नित्य निषेध कर दिया ।। वृतादि चार धातुओं को स्य सन् परे रहते परस्मैपद वृद्भ्यः स्यसनोः (१।३।९२) से होता है। अतः सकारादि आर्धधातुक स्य सन् के ही यहाँ उदाहरण दिये हैं, अन्य सकारादि सिच् आदि के नहीं । क्योंकि वहाँ परस्मैपद परे सम्भव ही नहीं है ।। सिद्धियाँ परि० १।३।९२ में ही देखें ।। हलन्ताच्च (१।२।१०) से सन् को कित्वत् होने से सर्वत्र गुण नहीं होता है ।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।२।६५ तक जायेगी ।।

तासि च क्लृपः ।।७।२।६०।।

तासि लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। च अ० ।। क्लृपः ५।१।। अनु०—न, से, आर्धधातुकस्येड्, परस्मैपदेषु, अङ्गस्य ।। अर्थः—'कृपू सामर्थ्ये' इत्येतस्मादुत्तरस्य तासेः सकारादेश्चार्धधातुकस्य परस्मैपदेषु इडागमो न भवति ।। उदा०—श्वः कल्प्ता, कल्प्स्यति, अकल्प्स्यत्, चिक्लृप्सति ।।

भाषार्थः—[क्लृपः] 'कृपू सामर्थ्ये' धातु से उत्तर [तासि] तास् [च] तथा सकारादि आर्धधातुक को इट् आगम नहीं होता परस्मैपद परे रहते ।। सिद्धियाँ भाग १, सूत्र १।३।९३ में देखें ।। कृपू धातु ऊदित् है, अतः पूर्ववत् विकल्प से इट् प्राप्त होने पर निषेध कर दिया है ।।

अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम् ।।७।२।६१।।

अचः ५।१।। तास्वत् अ० ।। थलि ७।१।। अनिटः ५।१।। नित्यम् १।१।। स०—न इट् यस्य स अनिट्, तस्मात् ······ बहुव्रीहिः ।। अनु०—न, इट्, अङ्गस्य, उत्तरसूत्राद् 'उपदेशे' इत्यपकृष्यते ।। तासाविव तास्वत्, तत्र तस्येव (५।१।११५) इत्यनेन सप्तम्यर्थे वतिः ।। अर्थः—उपदेशेऽजन्ता ये धातवस्तासौ नित्यानिटस्तेभ्यस्तासाविव थलि इडागमो न भवति ।। उदा०—याता—ययाथ । चेता—चिचेथ । नेता—निनेथ । होता—जुहोथ ।।

भाषार्थः—उपदेश में जो [अचः] अजन्त धातु तास् के परे रहते [नित्यम्] नित्य [अनिटः] अनिट्, उससे उत्तर [तास्वत्] तास् के समान ही [थलि] थल् को इट् आगम नहीं होता । अर्थात् जिस प्रकार तास् परे रहते अनिट् धातु थी, उसी प्रकार थल् में इट् आगम नहीं होता ।। उत्तर सूत्र उपदेशेऽत्वतः (७।२।६२) से यहाँ 'उपदेशे' का अपकर्षण 'अचः' के विशेषणार्थ किया जाता है, ऐसा समझें ।। याता आदि तास् में रूप अनिट्त्व प्रदर्शनार्थ हैं ।।

यहाँ से 'थलि' की अनुवृत्ति ७।२।६६ तक, तथा 'तास्वत् अनिटो नित्यम्' की ७।२।६३ तक जायेगी ।।

उपदेशेऽत्वतः ॥७।२।६२॥

उपदेशे ७।१॥ अत्वतः ५।१॥ अत् (=अकारः) अस्मिन्नस्तीति अत्वान्, तस्मात् । तदस्या० (५।२।६४) इत्यनेन मतुप् ॥ अनु०—तास्वत्, थल्यनिटो नित्यम्, न, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—उपदेशे यो धातुरकारवान् तासौ नित्यमनिट् तस्मादुत्तरस्य थलस्तासाविव इडागमो न भवति ॥ उदा०—पक्ता—पपक्थ । यष्टा—इयष्ठ । शक्ता—शशक्थ ॥

भाषार्थः—[उपदेशे] उपदेश में जो धातु [अत्वतः] अकारवान् और तास् के परे रहने पर नित्य अनिट्, उससे उत्तर थल् को तास् के समान ही इट् आगम नहीं होता ॥ पच् यज् आदि धातु अकारवान् और तास् में अनिट् हैं, अतः थल् को इट् आगम नहीं हुआ । यज् के ज् को व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से ष्, तथा ष्टुत्व हुआ है । लिट्यभ्या० (६।१।१७) से सम्प्रसारण होकर इयष्ठ बन गया ॥

ऋतो भारद्वाजस्य ॥७।२।६३॥

ऋतः ५।१॥ भारद्वाजस्य ६।१॥ अनु०—तास्वत् थल्यनिटो नित्यम्, न, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तासौ नित्यानिट् ऋकारान्ताद्धातोर्भारद्वाजस्याचार्यस्य मतेन तासाविव थल इडागमो न भवति ॥ उदा०—स्मर्त्ता—सस्मर्थ । ध्वर्त्ता—दध्वर्थ ॥

भाषार्थः—तास् परे रहते जो नित्य अनिट् [ऋतः] ऋकारान्त धातु, उससे उत्तर [भारद्वाजस्य] भारद्वाज आचार्य के मत में तास के समान ही थल् को इट् आगम नहीं होता ॥ ऋकारान्त धातु के अजन्त होने से अचस्तास्वत्० (७।२।६१) से ही थल् को इट् निषेध सिद्ध था, पुनः यह सूत्र नियमार्थ है । जो इस प्रकार है—"भारद्वाज आचार्य के मत में तास् परे नित्य अनिट् ऋकारान्त धातु से ही उत्तर थल् को इट् न हो, अन्य धातुओं को थल् परे भारद्वाज के मत में इट् हो ही जायेगा" । इस प्रकार सभी अजन्तों को नित्य इट् निषेध की प्राप्ति होने पर ऋकारान्त से अन्यों की व्यावृत्ति कर दी, अर्थात् उनको पक्ष में प्राप्त करा दिया । सो ययिथ, वविथ, पेचिथ आदि में भारद्वाज के मत से इट् आगम हो जाता है ॥

बभूथाततन्थजगृभ्मववर्थेति निगमे ॥७।२।६४॥

बभूथ आततन्थ जगृभ्म ववर्थ सर्वाणि पृथक्-पृथक् असमस्तानि लुप्तप्रथमान्तानि पदानि ॥ इति अ० ॥ निगमे ७।१॥ अनु०—थलि, न, इट् ॥ अर्थः—बभूथ, आततन्थ, जगृभ्म, ववर्थ—इत्येतानि पदानि थलि परतो निपात्यन्ते, निगमविषये ॥ निगमो वेदः ॥ बभूथादिषु क्रादिनियमादिटः प्राप्तस्याभावो निपात्यते ॥ उदा०—

त्वं हि होता प्रथमो बभूथ । येनान्तरिक्षमुर्वाततन्थ (ऋ० ३।२२।२) । जगृम्मा ते दक्षिणमिन्द्र हस्तम् (ऋ० १०।४७।१) । ववर्थ त्वं हि ज्योतिषा ॥

भाषार्थः—[बभूथा…ववर्थ] बभूथ, आततन्थ, जगृम्म, ववर्थ [इति] ये शब्द थल् परे रहते निपातन किये जाते हैं, [निगमे] वेदविषय में ॥ बभूथ आदि में क्रादिनियम (७।२।१३) से इट् प्राप्त था, उसका अभाव निपातन है ॥ बभूथ में परि० १।२।६ के बभूव के समान कार्य जानें । आततन्थ आङ्पूर्वक 'तनु विस्तारे' से बना है । जगृम्म ग्रह धातु के मस् का रूप है । मस् को म आदेश परस्मैपदानां० (३।४।८२) से हुआ है, तथा ग्रहिज्या० (६।१।१६) से सम्प्रसारण, और हृग्रहोर्भश्छन्दसि हस्य० (८।२।३२ वा०) से हकार को भकार भी जानें । 'वृञ् वरणे' से ववर्थ बना है । ववर्थ में इट् प्रतिषेध (७।२।१३ से) प्राप्त ही था, पुनः निपातन नियमार्थ है—वेद में ही वृञ् से उत्तर थल् को इट् का प्रतिषेध है । अतः भाषा में ववरिथ रूप होता है ॥

विभाषा सृजिदृशोः ॥७।२।६५॥

विभाषा १।१॥ सृजिदृशोः ६।२॥ स०—सृजि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—थलि, न, इट् अङ्गस्य ॥ अर्थः—'सृज विसर्गे,' 'दृशिर् प्रेक्षणे' इत्येतयोस्थलो विभाषा इडागमो न भवति ॥ उदा०— सस्रष्ठ, ससर्जिथ । दद्रष्ठ, ददर्शिथ ॥

भाषार्थः—[सृजिदृशोः] सृज तथा दृशिर् अङ्ग के थल् को [विभाषा] विकल्प से इट् आगम नहीं होता ॥ क्रादिनियम से यहाँ भी नित्य इट् प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है ॥ सस्रष्ठ दद्रष्ठ में व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से षत्व, तथा सृजिदृशो० (६।१।५७) से अम् आगम हुआ है ॥

इडत्यर्त्तिव्ययतीनाम् ॥७।२।६६॥

इट् १।१॥ अत्त्यर्त्तिव्ययतीनाम् ६।३॥ स०—अत्त्यर्त्ति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—थलि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अत्ति, अर्ति, व्ययति, इत्येतेषामङ्गानाम् थलि इडागमो भवति ॥ उदा०—आदिथ, आरिथ, संविव्ययिथ ॥

भाषार्थः—[अत्त्यर्त्तिव्ययतीनाम्] 'अद भक्षणे,' 'ऋ गतौ,' 'व्येञ् संवरणे' इन अङ्गों के थल् को [इट्] इट् आगम होता है ॥ आदिथ आरिथ में अभ्यास के आदि अकार को अत आदेः (७।४।७०) से दीर्घ होता है । यहाँ संविव्ययिथ की सिद्धि ६।१।४५ सूत्र में देखें ॥ इट् ग्रहण 'न विभाषा' की स्पष्ट निवृत्ति के लिये है ॥

वस्वेकाजाद्घसाम् ॥७।२।६७॥

वसु लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः ॥ एकाजाद्घसाम् ६।३॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, बहुव्रीहिः। एकाच् च आत् च घस्च एकाजाद्घसः, तेषाम्... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—एकाचां (कृतद्विर्वचनानाम्) धातूनां आकारान्तानां घसेश्च वसौ इडागमो भवति ॥ उदा०—आदिवान्, आशिवान्, पेचिवान्, शेकिवान् ॥ आत्—या—ययिवान्; स्था—तस्थिवान्। घस्—जक्षिवान् ॥

भाषार्थः—[एकाजाद्घसाम्] एकाच् (द्विर्वचन कर लेने के पश्चात्) धातु, तथा आकारान्त एवं घस् से उत्तर [वसु] वसु को इट् का आगम होता है॥ द्विर्वचन कर लेने पर जो एकाच् धातु, वह यहाँ एकाच् से गृहीत है। वसु से लिट् के स्थान में जो क्वसु (३।२।१०७ से) आदेश उसका ग्रहण है॥ जक्षिवान् की सिद्धि सूत्र ३।२।१०७ में देखें। तद्वत् अन्य सिद्धियाँ भी वहीं देख लें। केवल आदिवान् तथा आशिवान् में अद् अश् द्वित्व होकर अभ्यास के अकार को दीर्घत्व अत आदेः (७।४।७०) से हो जाता है, पश्चात् दोनों अकारों को सवर्णदीर्घत्व हुआ है। पेचिवान् शेकिवान् में अत एकहल्० (६।४।१२०) से अभ्यासलोप एवं एत्व होता है। क्रादिनियम से इन धातुओं से उत्तर लिट्स्थानी वसु को इट् आगम सिद्ध ही था, पुनर्विधान नियमार्थ है। जो इस प्रकार है—"वसु को इट् आगम इन धातुओं से उत्तर ही हो, अन्यों से उत्तर नहीं", अर्थात् क्रादिनियम से अन्य धातुओं से उत्तर भी वसु को इट् आगम प्राप्त था, उसकी इस नियम ने व्यावृत्ति कर दी, तो बिभिद्वान् आदि में इट् नहीं हुआ॥

यहाँ से 'वसु' की अनुवृत्ति ७।२।६६ तक जायेगी॥

विभाषा गमहनविदविशाम् ॥७।२।६८॥

विभाषा १।१॥ गमहनविदविशाम् ६।३॥ स०—गम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—वसु, इट्, अङ्गस्य॥ अर्थः—गम्लृ, हन, विद्लृ लाभे, विश प्रवेशने इत्येतेषां धातूनां वसोः विभाषा इडागमो भवति॥ उदा०—जग्मिवान्, जगन्वान्। हन—जघ्निवान्, जघन्वान्। विद—विविदिवान्, विविद्वान्। विश—विविशिवान्, विविश्वान्॥

भाषार्थः—[गमहनविदविशाम्] गम्लृ, हन, विद्लृ, विश इन अङ्गों से उत्तर वसु को [विभाषा] विकल्प से इट् आगम होता है॥ पूर्वसूत्रानुसार ही सिद्धियों का प्रकार है। जगन्वान् में गम् के म् को म्वोश्च (८।२।६५) से न्

हुआ है। जग्मिवान्, जघ्निवान् में गमहनजन० (६।४।९८) से उपधालोप करके पश्चात् पूर्ववत् द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) के योग से द्वित्व होगा। जघ्निवान् में अभ्यासाच्च (७।३।५५) से अभ्यास से उत्तर ह् को कुत्व घ् भी हुआ है। शेष पूर्ववत् है। 'विद्लृ लाभे' से विविदिवान् आदि जानें॥

सनिससनिवांसम् ॥७।२।६९॥

सनिससनिवांसम् १।१॥ अनु०—वसु, इट्, अङ्गस्य॥ अर्थः—सनिम् इत्येवं-पूर्वात् सनतेः सनोतेर्वा वसोरिड् एत्वाभ्यासलोपाभावश्च निपात्यते॥ छन्दस्येतत् निपातनम्॥ उदा०—अग्निजत्वाग्ने सनिससनिवांसम्॥

भाषार्थः—सनिम्पूर्वक 'षणु दाने' अथवा षण धातु से क्वसु को इट् आगम, तथा अत एकहल्मध्ये० (६।४।१२०) से प्राप्त एत्व, तथा अभ्यास के लोप का अभाव करके [सनिससनिवांसम्] सनिससनिवांसम् यह शब्द निपातन किया जाता है॥ द्वितीया विभक्ति के एकवचन में ही यह शब्द निपातन है। अतः इसकी नियतानुपूर्वी देखकर वेद में ही यह शब्द निपातन है, ऐसा मानना चाहिये। क्योंकि नियतानुपूर्वी वेद में ही होती है॥

ऋद्धनोः स्ये ॥७।२।७०॥

ऋद्धनोः ६।२॥ स्ये ७।१॥ स०—ऋद्धनोः इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—इट्, अङ्गस्य॥ अर्थः—ऋकारान्तानां धातूनां हन्तेश्च स्ये इडागमो भवति॥ उदा०—ऋकारान्तानाम्—करिष्यति, हरिष्यति। हन्तेः—हनिष्यति॥

भाषार्थः—[ऋद्धनोः] ऋकारान्त तथा हन् धातु के [स्ये] स्य को इट् आगम होता है॥ ऋकारान्त एवं हन् के अनुदात्त होने से एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से इट्निषेध प्राप्त था, इससे इट् प्राप्त करा दिया॥ सिद्धियाँ परि० १।४।१३ में देखें॥

अञ्चेः सिचि ॥७।२।७१॥

अञ्जेः ५।१॥ सिचि ७।१॥ अनु०—इट्, अङ्गस्य॥ अर्थः—अञ्जेः उत्तरस्य सिच इडागमो भवति॥ उदा०—आञ्जीत्, आञ्जिष्टाम्, आञ्जिषुः॥

भाषार्थः—[अञ्जेः] अञ्जू धातु से उत्तर [सिचि] सिच् को इट् का आगम होता है॥ ऊदित् होने से स्वरतिसूति० (७।२।४४) से इट् विकल्प से प्राप्त था, नित्य कह दिया॥ सिद्धियाँ परि० १।१।१ के अनुसार जानें॥ ६।४।७२ से यहाँ आट् आगम होता है॥

यहाँ से 'सिचि' की अनुवृत्ति ७।२।७३ तक जायेगी॥

स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु ॥७।२।७२॥

स्तुसुधूञ्भ्यः ५।३॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ स०—स्तु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सिचि, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्तु, सु, धूञ् इत्येतेभ्य उत्तरस्य सिच इडागमो भवति परस्मैपदेषु परतः ॥ उदा०—अस्तावीत् । असावीत् । अधावीत् ॥

भाषार्थः—[स्तुसुधूञ्भ्यः] ष्टुञ् षुञ् तथा धूञ् धातु से उत्तर [परस्मैपदेषु] परस्मैपद परे रहते सिच् को इट् का आगम होता है ॥ ष्टुञ् षुञ् धातु अनुदात्त हैं, अतः उन्हें नित्य प्रतिषेध प्राप्त था । तथा धूञ् स्वरति० (७।२।४४) में पठित है, अतः पूर्ववत् विकल्प प्राप्त था, तदर्थ यह सूत्र है ॥

यहाँ से 'परस्मैपदेषु' की अनुवृत्ति ७।२।७३ तक जायेगी ॥

यमरमनमातां सक् च ॥७।२।७३॥

यमरमनमाताम् ६।३॥ सक् १।१॥ च अ० ॥ स०—यम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—परस्मैपदेषु, सिचि, इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—यम, रमु, णम इत्येतेषामङ्गानामाकारान्तानाञ्च सक् आगमो भवति, सिच इडागमश्च परस्मैपदेषु परतः ॥ उदा०—यम—अयंसीत्, अयंसिष्टाम्, अयंसिषुः । रमु—व्यरंसीत्, व्यरंसिष्टाम्, व्यरंसिषुः । णम—अनंसीत्, अनंसिष्टाम्, अनंसिषुः ॥ आत्—अयासीत्, अयासिष्टाम्, अयासिषुः ॥

भाषार्थः—[यमरमनमाताम्] यम, रमु, णम तथा आकारान्त अङ्ग को [सक्] सक् आगम होता है, [च] तथा सिच् को परस्मैपद परे इट् आगम होता है ॥ 'अट् यम् सक्, इट्, सिच्, ईट्, तिप्', यहाँ इट ईटि (८।२।२८) से सिच् के सकार का लोप, तथा पूर्ववत् सब होकर अ यम् स् ई त् = अयंसीत् बना । सक् कित् होने से यम् के अन्त में, तथा इट् टित् होने से सिच् के आदि में बैठेगा । व्यरंसीत् में व्याङ्परिभ्यो० (१।३।८३) से परस्मैपद होता है । वदव्रज० (७।२।३) से सर्वत्र वृद्धि प्राप्त होने पर नेटि (७।२।४) से प्रतिषेध होता है ॥ सभी आत् अनुदात्त हैं, अतः इट् प्रतिषेध प्राप्त होने पर यह विधान है, इट् के सन्नियोग से सक् आगम भी होता है ॥

स्मिपूङ्रञ्ज्वशां सनि ॥७।२।७४॥

स्मिपूङ्रञ्ज्वशाम् ६।३॥ सनि ७।१॥ स०—स्मि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—इट्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्मिङ्, पूङ्, ऋ, अञ्जू, अशू इत्येतेषां धातूनां सन इडागमो भवति ॥ उदा०—सिस्मयिषते । पिपविषते । अरिरिषति । अञ्जिजिषति । अशिशिषते ॥

भाषार्थः—[स्मि...शाम्] स्मिङ्, पूङ्, ऋ, अञ्जू, अशू इन धातुओं के [सनि] सन् को इट् आगम होता है॥ पिपविषते में अभ्यास के उ को इत्व ओः पुयण्ज्यपरे (७।४।८०) से हुआ है। पू को गुण अवादेश करके द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) के योग से पू पाव् द्वित्व होगा। अरिरिषति में ऋ को गुण रपरत्व करके 'रिष् रिष्' द्वित्व अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से होगा। तथा अञ्जिजिषति में न न्द्राः संयोगादयः (६।१।३) से नकार को (अञ्जू में परसवर्ण होकर न् को ञ् हुआ है, वस्तुतः वह 'न्' है) भी द्वित्व का निषेध होकर 'जिष् जिष्' द्वित्व होता है॥ अञ्जू तथा अशू के ऊदित् होने से पूर्ववत् विकल्प प्राप्त था, स्मिङ् में एकाच० (७।२।१०) से, तथा शेष धातुओं के उगन्त होने से सनि ग्रहगुहोश्च (७।२।१२) से नित्य इट्निषेध प्राप्त था, तदर्थ यह आरम्भ है॥

यहाँ से 'सनि' की अनुवृत्ति ७।२।७५ तक जायेगी॥

किरश्च पञ्चभ्यः ॥७।२।७५॥

किरः ५।१॥ च अ०॥ पञ्चभ्यः ५।३॥ अनु०—सनि, इट्, अङ्गस्य॥ अर्थः—किरादिभ्यः पञ्चभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य सन इडागमो भवति॥ उदा०—कॄ—चिकरिषति। गॄ—जिगरिषति। दृङ्—दिदरिषते। धृङ्—दिधरिषते। प्रच्छ—पिपृच्छिषति॥

भाषार्थः—[किरः] कॄ इत्यादि [पञ्चभ्यः] पाँच धातुओं से उत्तर [च] भी सन् को इट् आगम होता है॥ दृङ् धृङ् के उगन्त होने से सनि ग्रहगुहोश्च (७।२।१२) से इट्प्रतिषेध प्राप्त था। तथा अन्यों के अनुदात्त होने से इट् निषेध प्राप्त था, विधान कर दिया॥ पिपृच्छिषति की सिद्धि परि० १।२।८ में देखें। इसी प्रकार अन्यों की भी जानें॥

यहाँ से 'पञ्चभ्यः' की अनुवृत्ति ७।२।७६ तक जायेगी॥

रुदादिभ्यः सार्वधातुके ॥७।२।७६॥

रुदादिभ्यः ५।३॥ सार्वधातुके ७।१॥ स०—रुद आदिर्येषां ते रुदादयः, तेभ्यः बहुव्रीहिः॥ अनु०—पञ्चभ्यः, वलादेः, इट्, अङ्गस्य॥ अर्थः—रुदादिभ्यः पञ्चभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य वलादेः सार्वधातुकस्य इडागमो भवति॥ उदा०—रुद्—रोदिति। स्वप्—स्वपिति। श्वस्—श्वसिति। अन्—प्राणिति। जक्ष्—जक्षिति॥

भाषार्थः—[रुदादिभ्यः] रुदादि पाँच धातुओं से उत्तर वलादि [सार्वधातुके]

सार्वधातुक को इट् आगम होता है ।। प्राणिति में अनितेः (८।४।१६) से णत्व हुआ है ।। ये सब धातुएं अदादिगणस्थ हैं ।।

यहाँ से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति ७।२।८१ तक जायेगी ।।

ईशः से ।।७।२।७७।।

ईशः ५।१।। से लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। अनु०—सार्वधातुके, इट्, अङ्गस्य ।। अर्थः—ईश उत्तरस्य से इत्येतस्य सार्वधातुकस्य इडागमो भवति ।। उदा०—ईशिषे, ईशिष्व ।।

भाषार्थः—[ईशः] ईश ऐश्वर्ये धातु से उत्तर [से] से सार्वधातुक को इट् आगम होता है ।।थासः से (३।४।८०) से जो थास् को से आदेश होता है, उसका यहाँ 'से' से ग्रहण है । ईशिषे, यहाँ पूर्ववत् अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से शप् का लुक् होगा । एकदेशविकृतमनन्यवद् भवति (परि० ३७) इस परिभाषा से 'से' के एकार को जो सवाभ्यां वामौ (३।४।९१) से व आदेश होता है, उसका भी इस सूत्र से ग्रहण हो सकता है । अतः ईशिष्व में भी इट् आगम होता है ।।

यहाँ से 'से' की अनुवृत्ति ७।२।७८ तक जायेगी ।।

ईडजनोर्ध्वे च ।।७।२।७८।।

ईडजनोः ६।२।। ध्वे लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। च अ० ।। स०—ईड० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—से, सार्वधातुकस्य, इट्, अङ्गस्य ।। अर्थः—ईड, जन इत्येताभ्यां धातुभ्यामुत्तरस्य ध्वे इत्येतस्य च सार्वधातुकस्य इडागमो भवति ।। उदा०—ईडिध्वे, ईडिध्वम्, ईडिषे, ईडिष्व । जनिध्वे, जनिध्वम्, जनिषे, जनिष्व ।। ईशोऽपि ध्वे इडिष्यते—ईशिध्वे, ईशिध्वम् ।।

भाषार्थः—[ईडजनोः] ईड तथा जन धातु से उत्तर [ध्वे] ध्वे [च] तथा 'से' सार्वधातुक को इट् आगम होता है ।। ईडिध्वम्, जनिध्वम् ये लोट् के रूप हैं । ईश धातु से भी ध्व परे इडागम इष्ट है—ईशिध्वे, ईशिध्वम् । सवाभ्यां वामौ (३।४।९१) से यहाँ 'म' आदेश होगा ।।

लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य ।।७।२।७९।।

लिङः ६।१।। सलोपः १।१।। अनन्त्यस्य ६।१।। स०—सस्य लोपः सलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । अन्ते भवोऽन्त्यः, न अन्त्योऽनन्त्यः, तस्य नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—सार्वधातुके, अङ्गस्य ।। अर्थः—सार्वधातुके यो लिङ् तस्यानन्त्यस्य सकारस्य लोपो भवति ।। उदा०—कुर्यात्, कुर्याताम्, कुर्युः । कुर्वीत, कुर्वीयाताम्, कुर्वीरन् ।।

भाषार्थः—सार्वधातुक में जो [लिङः] लिङ् लकार का [अनन्त्यस्य] अनन्त्य

[सलोपः] सकार, उसका लोप होता है ॥ सार्वधातुक लिङ् कहने से विधिलिङ् के स् का ही लोप होगा, आशीर्लिङ् तो लिङाशिषि (३।४।११६) से आर्धधातुक होता है ॥ लिङ् लकार को हुये यासुट्, सुट्, तथा सीयुट् आगम के सकार ही अनन्त्य सकार हैं, सो उन्हीं का लोप होता है ॥ कुर्यात् आदि की सिद्धि सूत्र ६।४।१०९ में देखें । कुर्वीत आदि में सीयुट् तथा सुट् के स् का लोप हुआ है । कुरु ईय् त=लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) लगकर कुर्वीत बन गया ॥

अतो येयः ॥७।२।८०॥

अतः ५।१॥ या लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ इयः १।१॥ अनु०—सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य या इत्येतस्य सार्वधातुकस्य इय् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पचेत्, पचेताम्, पचेयुः ॥

भाषार्थः—[अतः] अकारान्त अङ्ग से उत्तर सार्वधातुक के [या] या के स्थान में [इयः] इय् आदेश होता है ॥ अर्थ की दृष्टि से 'सार्वधातुके' सप्तम्यन्त यहाँ षष्ठ्यन्त में बदल जाता है । सार्वधातुक का 'या' कहने से पूर्ववत् विधिलिङ् का 'या' लिया जायेगा । पच् शप् यास् सुट् त=पच् अ या त्=पच इय् त, यहाँ लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) लगकर पचेत् बन गया । इसी प्रकार पचेताम् आदि जानें । तस्थस्थ० (३।४।१०१) से यहाँ तस् को ताम् होता है ॥

यहाँ से 'अतः' की अनुवृत्ति ७।२।८२ तक, तथा 'इयः' की ७।२।८१ तक जायेगी ॥

आतो ङितः ॥७।२।८१॥

आतः ६।१॥ ङितः ६।१॥ स०—ङ् इत् यस्य स ङित्, तस्य बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अतः, इयः, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अकारान्तादङ्गादुत्तरस्य ङिदवयवस्य आकारस्य सार्वधातुकस्य इय् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—पचेते, पचेथे, पचेताम्, पचेथाम् । यजेते, यजेथे, यजेताम्, यजेथाम् ॥

भाषार्थः—अकारान्त अङ्ग के उत्तर [ङितः] ङित् सार्वधातुक के अवयव [आतः] आकार के स्थान में इय् आदेश होता है ॥ पचेते पचेथे की सिद्धि परि० १।१।११ में देखें । तद्वत् लोट् में आमेतः (३।४।९०) लगकर पचेताम् पचेथाम् की सिद्धि जानें ॥ सार्वधातुक० (१।२।४) से 'आताम्' ङित् है । अतः उसके अवयव 'आ' को इय् हो गया ॥

आने मुक् ॥७।२।८२॥

आने ७।१॥ मुक् १।१॥ अनु०—अतः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आने परतोऽङ्गस्यातो मुक् आगमो भवति ॥ उदा०—पचमानः, यजमानः ॥

भाषार्थः—[आने] आन परे रहते अङ्ग के अकार को [मुक्] मुक् आगम होता है ॥ 'अतः' पञ्चम्यन्त की अनुवृत्ति जो ऊपर से आ रही है, वह 'आने' में सप्तमी होने से तस्मिन्निति० (१।१।६५) सूत्र के कारण षष्ठी में बदल जाती है। भाष्य में तस्मिन्निति० सूत्र का इस प्रकार अर्थ किया है ॥ परि० ३।२।१२४ में द्वितीयान्त पचमानम् की सिद्धि की है, तद्वत् प्रथमान्त पचमानः भी जानें। यहाँ अङ्ग के अप् के 'अ' को मुक् आगम होता है, न कि अङ्ग को ॥

यहाँ से 'आने' की अनुवृत्ति ७।२।८३ तक जायेगी ॥

ईदासः ॥७।२।८३॥

ईत् १।१॥ आसः ५।१॥ अनु०—आने, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आस उत्तरस्य आनस्य ईकारादेशो भवति ॥ उदा०—आसीनो यजते ॥

भाषार्थः—[आसः] आस् से उत्तर आन को [ईत्] ईकारादेश होता है ॥ 'आसः' में पञ्चमी होने से पूर्ववत् 'आने' षष्ठ्यन्त में तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) के नियम से बदल जायेगा ॥ आसीनः की सिद्धि परि० १।१।५२ में देखें ॥

अष्टन आ विभक्तौ ॥७।२।८४॥

अष्टनः ६।१॥ आः १।१॥ विभक्तौ ७।१॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—अष्टनो विभक्तौ परत आकारादेशो भवति ॥ उदा०—अष्टाभिः, अष्टाभ्यः, अष्टानाम्, अष्टासु ॥

भाषार्थः—[अष्टनः] अष्टन् अङ्ग को [विभक्तौ] विभक्ति परे रहते [आः] आकारादेश हो जाता है ॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् न् के स्थान में आत्व हो जाता है। अष्ट आ भिस्=अष्टाभिः बना। अष्टानाम् में षट्चतुर्भ्यश्च (७।१।५५) से नुट् आगम होता है। अष्ट आ नुट् आम्=अष्टानाम् बना ॥

यहाँ से 'आः' की अनुवृत्ति ७।२।८८ तक, तथा 'विभक्तौ' की अनुवृत्ति ७।२।११३ तक जायेगी ॥

रायो हलि ॥७।२।८५॥

रायः ६।१॥ हलि ७।१॥ अनु०—आः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—रै इत्येतस्याङ्गस्य हलादौ विभक्तौ परत आकारादेशो भवति ॥ उदा०—राभ्याम्, राभिः ॥

भाषार्थः—[रायः] रै अङ्ग को [हलि] हलादि विभक्ति परे रहते आकारादेश होता है॥ पूर्ववत् यहाँ भी अन्तिम अल् 'ऐ' के स्थान में आत्व होगा॥

युष्मदस्मदोरनादेशे ॥७।२।८६॥

युष्मदस्मदोः ६।२॥ अनादेशे ७।१॥ स०- युष्मच्च अस्मच्च युष्मदस्मदी, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः। न आदेशः अनादेशः, तस्मिन्... नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—आः विभक्तौ, अङ्गस्य॥ अर्थः—युष्मद् अस्मद् इत्येतयोरनादेशे विभक्तौ परत आकारादेशो भवति॥ उदा०—युष्माभिः, अस्माभिः। युष्मासु, अस्मासु॥

भाषार्थः—[युष्मदस्मदोः] युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग को [अनादेशे] आदेश रहित (जिसमें कोई आदेश नहीं हुआ है) विभक्ति के परे रहते आकारादेश होता है॥ भिस् तथा सुप् विभक्ति को कोई आदेश नहीं होता है, अतः अनादेश विभक्ति परे है। सो अन्त्य अल् 'द्' को आत्व हो गया॥

यहाँ से 'युष्मदस्मदोः' की अनुवृत्ति ७।२।९८ तक, तथा 'अनादेशे' की ७।२।८९ में ही जायेगी॥

द्वितीयायां च ॥७।२।८७॥

द्वितीयायाम् ७।१॥ च अ०॥ अनु०—युष्मदस्मदोः, आः विभक्तौ, अङ्गस्य॥ अर्थः—द्वितीयायां च विभक्तौ परत युष्मदस्मदोराकारादेशो भवति॥ उदा०—त्वाम्, माम्। युवाम्, आवाम्। युष्मान्, अस्मान्॥

भाषार्थः—[द्वितीयायाम्] द्वितीया विभक्ति के परे रहते [च] भी युष्मद् तथा अस्मद् अङ्ग को आकारादेश होता है॥ पूर्व सूत्र में अनादेश विभक्ति कहा था, यहाँ ङे प्रथमयो० (७।१।२८) से अम् आदेश होने से आदेशरूप विभक्ति है, तदर्थ यह वचन है॥ त्वाम् आदि की सिद्धियाँ परि० ७।१।२८ में, तथा युष्मान् अस्मान् की सिद्धि सूत्र ७।१।२९ में देखें॥

प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायाम् ॥७।२।८८॥

प्रथमायाः ६।१॥ च अ० ॥ द्विवचने ७।१॥ भाषायाम् ७।१॥ अनु०—युष्मदस्मदोः, आः विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—प्रथमायाश्च द्विवचने विभक्तौ परतो युष्मदस्मदोराकारादेशो भवति भाषायां विषये ॥ उदा०—युवाम्, आवाम् ॥

भाषार्थः—[प्रथमायाः] प्रथमा विभक्ति के [द्विवचने] द्विवचन के परे रहते [च] भी [भाषायाम्] भाषाविषय में युष्मद् अस्मद् को आकारादेश होता है॥

यह सूत्र भी आदेशरूप विभक्ति परे रहते प्राप्त कराने के लिये है ।। सिद्धि परि० (७।१।२८) में देखें ।।

योऽचि ।।७।२।८९।।

यः १।१।। अचि ७।१।। अनु०—युष्मदस्मदोरनादेशे, विभक्तौ, अङ्गस्य ।। अर्थः—अजादावनादेशे विभक्तौ परतो युष्मदस्मदोर्यकारादेशो भवति ।। उदा०—त्वया, मया । त्वयि, मयि । युवयोः, आवयोः ।।

भाषार्थः—कोई आदेश जिसको नहीं हुआ है, ऐसी [अचि] अजादि विभक्ति के परे रहते युष्मद् अस्मद् अङ्ग को [यः] यकारादेश होता है ।। मपर्यन्त युष्म् अस्म् को त्वमावेकवचने (७।२।९७) से त्व म आदेश, तथा प्रकृत सूत्र से द् को य् आदेश होकर त्व अ य् टा रहा । अतो गुणे (६।१।९४) लगकर त्वया मया आदि बन गये । इसी प्रकार युवयोः आवयोः में युवावौ द्विवचने (७।२।९२) से युव आव आदेश करके सिद्धि जानें ।।

शेषे लोपः ।।७।२।९०।।

शेषे ७।१।। लोपः १।१।। अनु०—युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ।। अर्थः—शेषे विभक्तौ युष्मदस्मदोर्लोपो भवति ।। कश्च शेषः ? यत्र आकारो यकारश्च न विहितः ।। उदा०—त्वम्, अहम् । यूयम्, वयम् । तुभ्यम्, मह्यम् । युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् । त्वत्, मत् । युष्मत्, अस्मत् । तव, मम । युष्माकम्, अस्माकम् ।।

भाषार्थः—[शेषे] शेष विभक्ति के परे रहने पर युष्मद् अस्मद् अङ्ग का [लोपः] लोप होता है ।। यहाँ प्रश्न होता है कि किससे शेष विभक्ति के परे ? उत्तर है—जहाँ पूर्व सूत्रों से यकार एवं आकार कहा है, उनसे अन्य में = शेष में । इस प्रकार पूर्वोक्त उदाहरण ही उनसे शेष हैं ।।

यहाँ से आगे युष्मद् अस्मद् को जो आदेश कहे हैं, वे युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त को कहे हैं । अतः मपर्यन्त को आदेश कर लेने पर जो अद् भाग शेष रहता है, उस 'अद्' अर्थात् टि भाग का लोप इस सूत्र से हो, अथवा अन्त्य लोप (१।१।५१) द् मात्र का हो, ये दोनों ही पक्ष भाष्य में (मा० भा० ७।१।३०) माने गये हैं । सो अन्त्य लोप पक्ष में 'अ' को अतो गुणे (६।१।९४) से पररूपत्व, एवं अमि पूर्वः (६।१।१०३) से पूर्वरूप होकर सिद्धि होगी । टिलोप पक्ष में कोई कठिनाई ही नहीं ।।

त्वम्, अहम्, यूयम्, वयम्, तुभ्यम्, मह्यम् की सिद्धि परि० ७।१।२८ में देखें । युष्मभ्यम्, अस्मभ्यम् की सिद्धि सूत्र ७।१।३०, एवं त्वत् मत की

७।१।३२ तथा युष्मत् अस्मत् एवं युष्माकम् अस्माकम् की ७।१।३१-३३ में देखें। तव मम की सिद्धि परि० २।२।१६ में देखें। अद् भाग का लोप पूर्ववत् यहाँ भी हो गया ॥

मपर्यन्तस्य ॥७।२।९१॥

मपर्यन्तस्य ६।१॥ स०—मः पर्यन्तो यस्य स मपर्यन्तः, तस्य बहुव्रीहिः ॥ अर्थः—इतोऽग्रे वक्ष्यमाणा आदेशा मपर्यन्तस्यैव भवन्तीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ उदा०—वक्ष्यति युवावौ द्विवचने (७।२।९२)—युवाम्, आवाम् ॥

भाषार्थः—यहाँ से आगे ७।२।९८ तक सब आदेश, [मपर्यन्तस्य] मकारपर्यन्त को होंगे ॥ अर्थात् युष्मद् अस्मद् को जो आदेश कहेंगे, वे आदेश युष्मद् अस्मद् के मकार तक जितना अंश युष्म् अस्म् है उसके स्थान में हों, ऐसा अधिकार जानना चाहिये ॥ यह अधिकार सूत्र है ॥

युवावौ द्विवचने ॥७।२।९२॥

युवावौ १।२॥ द्विवचने १।२॥ स०—युवश्च आवश्च युवावौ, इतरेतरद्वन्द्वः । वक्तीति वचनं कर्त्तरि ल्युट् । द्वयोः (अर्थयोः) वचने द्विवचने, षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—द्विवचने=द्वयर्थाभिधानविषये ये युष्मदस्मदी तयोर्मपर्यन्तस्य स्थाने युव आव इत्येतावादेशौ भवतः ॥ उदा०—युवाम्, आवाम् । युवाभ्याम्, आवाभ्याम् । युवयोः, आवयोः ॥

भाषार्थः—[द्विवचने] द्विवचन=दो अर्थों को कथन करनेवाले युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त के स्थान में क्रमशः [युवावौ] युव आव आदेश हो जाते हैं ॥ मपर्यन्त को युव आव होकर युव अद् भ्याम्, आव अद् भ्याम् रहा । यहाँ युष्मदस्मदो० (७।२।८६) से द् को 'आ' आदेश, पश्चात् सवर्णदीर्घत्व होकर—युवाभ्याम् आवाभ्याम् बन गया । युवयोः आवयोः में भी योऽचि (७।२।८९) से द् को य् होकर सिद्धि जानें ॥

यूयवयौ जसि ॥७।२।९३॥

यूयवयौ १।२॥ जसि ७।१॥ स०—यूयश्च वयश्च यूयवयौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जसि विभक्तौ परतो यथासङ्ख्यं युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य यूय वय इत्येतावादेशौ भवतः ॥ उदा०—यूयम्, वयम् ॥

भाषार्थः—[जसि] जस् विभक्ति परे हो तो युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त

को क्रमशः [यूयवयौ] यूय वय आदेश होते हैं ।। सिद्धि परि० ७।१।२८ में देखें ।।

त्वाहौ सौ ॥७।२।९४॥

त्वाहौ १।२।। सौ ७।१।। स०—त्वाहौ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ।। अर्थः—सौ विभक्तौ परतो युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य यथासङ्ख्यं त्व अह इत्येतावादेशौ भवतः ।। उदा०—त्वम्, अहम् । परमत्वम्, परमाहम् । अतित्वम्, अत्यहम् ।।

भाषार्थः—[सौ] सु विभक्ति परे रहते युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः [त्वाहौ] त्व तथा अह आदेश होते हैं ।। त्वमावे० (७।२।९७) से अस्मद् को म आदेश एकवचन में प्राप्त था, तदपवाद यह सूत्र है ।। परमत्वम् आदि में कर्मधारय तत्पुरुष समास है । अतित्वम् आदि में स्वती पूजायाम् (२।२।१८ वा०) से समास हुआ है । सिद्धियाँ परि० ७।१।२८ में देखें ।।

तुभ्यमह्यौ ङयि ॥७।२।९५॥

तुभ्यमह्यौ १।२।। ङयि ७।१।। स०—तुभ्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ।। अर्थः—युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य यथाक्रमं तुभ्य मह्य इत्येतावादेशौ भवतो ङयि विभक्तौ परतः ।। उदा०—तुभ्यम्, मह्यम् । परमतुभ्यम्, परममह्यम् । अतितुभ्यम्, अतिमह्यम् ।।

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः [तुभ्यमह्यौ] तुभ्य मह्य आदेश [ङयि] ङे विभक्ति परे रहते होते हैं ।। सिद्धि परि० ७।१।२८ में देखें ।।

तवममौ ङसि ॥७।२।९६॥

तवममौ १।२।। ङसि ७।१।। स०—तव० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ।। अर्थः—युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य यथाक्रमं तव मम इत्येतावादेशौ भवतो ङसि विभक्तौ परतः ।। उदा०—तव, मम । परमतव, परममम । अतितव, अतिमम ।।

भाषार्थः—युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः [तवममौ] तव तथा मम आदेश [ङसि] ङस् विभक्ति परे रहते होते हैं ।। सिद्धि परि० २।२।१६ में देखें । अद् भाग का शेषे लोपः (७।२।९०) से लोप हो जायेगा ।।

त्वमावेकवचने ॥७।२।९७॥

त्वमौ १।२।। एकवचने ७।१।। स०—त्व० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । एकवचन इत्यत्र पूर्ववत् षष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ।।

अर्थः—एकवचने ये युष्मदस्मदी तयोर्मपर्यन्तस्य त्व म इत्येतावादेशौ भवतः ॥ उदा०—त्वाम्, माम् । त्वया, मया । त्वत्, मत् । त्वयि, मयि ॥

भाषार्थः—[एकवचने] एकवचन=एक अर्थ का कथन करनेवाले युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः [त्वमौ] त्व म आदेश होते हैं ॥ पूर्वोक्त सूत्रों में ही सिद्धियाँ देखें । त्वया, मया आदि में योऽचि (७।२।८९) से यकारादेश जानें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।२।९८ तक जायेगी ॥

प्रत्ययोत्तरपदयोश्च ॥७।२।९८॥

प्रत्ययोत्तरपदयोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—प्रत्ययश्च उत्तरपदञ्च प्रत्ययोत्तरपदे, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—त्वमावेकवचने, मपर्यन्तस्य, युष्मदस्मदोः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—प्रत्यये उत्तरपदे च परतः एकार्थकोर्युष्मदस्मदोर्मपर्यन्तस्य त्व म इत्येतावादेशौ भवतः ॥ उदा०—प्रत्यये—तवायम्=त्वदीयः, मदीयः । अतिशयेन त्वम्=त्वत्तरः, मत्तरः । त्वामिच्छति=त्वद्यति, मद्यति । त्वमिवाचरति=त्वद्यते, मद्यते । उत्तरपदे—तव पुत्रस्त्वत्पुत्रः, मत्पुत्रः । त्वं नाथोऽस्य=त्वन्नाथः, मन्नाथः ॥

भाषार्थः—[प्रत्ययोत्तरपदयोः] प्रत्यय तथा उत्तरपद परे रहते [च] भी एकत्व अर्थ में वर्त्तमान युष्मद् अस्मद् अङ्ग के मपर्यन्त को क्रमशः त्व म आदेश होते हैं ॥ त्वदीयः मदीयः में युष्मद् अस्मद् की त्यदादीनि च (१।१।७३) से वृद्ध संज्ञा होने से वृद्धाच्छः (४।२।११३) से छ प्रत्यय हुआ है । 'युष्मद् ङस्' यहाँ मपर्यन्त को त्व आदेश होकर 'त्व अद्' रहा । पश्चात् छ प्रत्यय होकर त्व अद् ईय रहा । अतो गुणे (६।१।९४) लगकर त्वदीयः बन गया । शालीयः के समान सब कार्य यहाँ जानें । छ प्रत्यय यहाँ परे है ही । त्व अद् तरप्=त्वत्तरः, मत्तरः में तरप् प्रत्यय (५।३।५७ से) हुआ है । त्वद्यति, मद्यति में सुप आत्मनः० (३।१।८) से क्यच्, तथा त्वद्यते, मद्यते में कर्त्तुः क्यङ् सलोपश्च (३।१।११) से क्यङ् प्रत्यय हुआ है । 'युष्मद् ङस् पुत्र सु' यहाँ प्रकृत सूत्र से मपर्यन्त को त्व आदेश होकर त्व अद् पुत्र स्=त्वद् पुत्रः, चर्त्व होकर त्वत्पुत्रः बना । इसी प्रकार मत्पुत्रः में जानें । त्वन्नाथः में यरोऽनुनासिके० (८।४।४४) से त् को न् हुआ है ॥

त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ ॥७।२।९९॥

त्रिचतुरोः ६।२॥ स्त्रियाम् ७।१॥ तिसृचतसृ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ स०—त्रिश्च चतुर् च त्रिचतुरौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः । तिसृ च चतसृ च तिसृचतसृ (सुपां सुलुक्० इत्यनेन विभक्तेलुक्) इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—विभक्तौ, अङ्गस्य ॥

अर्थः—त्रि चतुर् इत्येतयोः स्त्रियां तिसृ चतसृ इत्येतावादेशौ भवतो विभक्तौ परतः ॥
उदा०—तिस्रः, चतस्रः । तिसृभिः, चतसृभिः ॥

भाषार्थः—[त्रिचतुरोः] त्रि तथा चतुर् अङ्ग को [स्त्रियाम्] स्त्रीलिङ्ग में क्रमशः [तिसृचतसृ] तिसृ चतसृ आदेश विभक्ति परे रहते होते हैं ॥ तिसृ जस् अथवा शस्, यहाँ अचि र ऋतः (७।२।१००) से ऋ के स्थान में रेफादेश होकर तिस्रः चतस्रः बन गया ॥

यहाँ से 'तिसृचतसृ' की अनुवृत्ति ७।२।१०० तक जायेगी ॥

अचि र ऋतः ॥७।२।१००॥

अचि ७।१॥ र १।१॥ ऋतः ६।१॥ अनु०—तिसृचतसृ, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तिसृ चतसृ इत्येतयोर्ऋतः स्थाने रेफादेशो भवति, अजादौ विभक्तौ परतः ॥ उदा०—तिस्रस्तिष्ठन्ति, तिस्रः पश्य । चतस्रस्तिष्ठन्ति, चतस्रः पश्य । प्रियतिस्र आनय, प्रियचतस्र आनय । प्रियतिस्रः स्वम्, प्रियचतस्रः स्वम् । प्रियतिस्रि निधेहि, प्रियचतस्रि निधेहि ॥

भाषार्थः—तिसृ चतसृ अङ्गों के [ऋतः] ऋकार के स्थान में [अचि] अजादि विभक्ति परे रहते [रः] रेफ आदेश होता है ॥ यहाँ इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश करके ही रेफ सिद्ध था, पुनः इस सूत्र का आरम्भ शस् में प्रथमयोः पूर्वसवर्णः (६।१।९८) से प्राप्त पूर्वसवर्ण न हो, तथा ङसि ङस् परे रहते ऋत उत् (६।१।१०७) से उत्व, एवं ङि तथा जस् परे ऋतो ङि० (७।३।११०) से गुण न हो, इसलिये है । इस प्रकार यह सूत्र तत्तत् सूत्रों का अपवाद बनता है ॥

यहाँ से 'अचि' की अनुवृत्ति ७।२।१०१ तक जायेगी ॥

जराया: जरसन्यतरस्याम् ॥७।२।१०१॥

जरायाः ६।१॥ जरस् १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—अचि, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अजादौ विभक्तौ परतो जरा इत्येतस्य जरस् इत्ययमादेशो भवति विकल्पेन ॥ उदा०—जरसौ—जरे, जरसः—जराः । जरसा दन्ताः शीर्यन्ते, जरया दन्ताः शीर्यन्ते । जरसे त्वा परिदद्युः, जरायै त्वा परिदद्युः । एवमजादौ सर्वत्र ज्ञेयम् ॥

भाषार्थः—[जरायाः] जरा शब्द को अजादि विभक्तियों के परे रहते [अन्यतरस्याम्] विकल्प से [जरस्] जरस् आदेश होता है ॥ जरस् औ=जरसौ । पक्ष में जरा औ, औ को औङ आपः (७।१।१८) से शी होकर जरा ई=आद् गुणः (६।१।८४) लगकर जरे बना । इसी प्रकार जरया में आङि चापः (७।३।

१०५) से जरा को एत्व होकर जरे आ, अयादेश होकर=जरया बना। जराये में याडापः (७।३।११३) से याट् आगम होकर जरा याट् ए=जराया ए रहा। वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर जराये बन गया। पक्ष में जरसा आदि में कुछ भी विशेष नहीं है॥

त्यदादीनामः ॥७।२।१०२॥

त्यदादीनाम् ६।३॥ अः १।१॥ स०—त्यद् आदिर्येषां ते त्यदादयः, तेषां बहुव्रीहिः ॥ अनु०—विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—त्यदादीनामङ्गानामकारादेशो भवति विभक्तौ परतः ॥ उदा०—त्यद्—स्यः, त्यौ, त्ये ॥ तद्—सः, तौ, ते। यद्—यः, यौ, ये। एतद्—एषः, एतौ, एते ॥

भाषार्थः—[त्यदादीनाम्] त्यदादि अङ्गों को विभक्ति परे रहते [अः] अकारादेश होता है॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् को 'अ' होगा॥ स्यः में तदोः सः० (७।२।१०६) से तकार को सकार होता है। सर्वे की सिद्धि परि० १।१।२६ में की है, तद्वत् बहुवचन में त्ये ते आदि की सिद्धि जानें। सः की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें। इसी प्रकार एतद् से एषः में भी त् को स् होकर सिद्धि जानें॥

किमः कः ॥७।२।१०३॥

किमः ६।१॥ कः १।१॥ अनु०—विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—किम् इत्येतस्य स्थाने क इत्ययमादेशो भवति विभक्तौ परतः॥ उदा०—कः, कौ, के॥

भाषार्थः—[किमः] किम् अङ्ग को विभक्ति परे रहते [कः] क आदेश होता है॥ अनेकाल्० (१।१।५४) से सम्पूर्ण किम् को 'क' आदेश होगा॥ कः की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें, तथा 'के' की सिद्धि पूर्ववत् सर्वे के समान जानें॥

यहाँ से 'किमः' की अनुवृत्ति ७।२।१०५ तक जायेगी॥

कु तिहोः ॥७।२।१०४॥

कु १।१॥ तिहोः ७।२॥ स०—तिश्च हश्च तिहौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—किमः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तकारादौ हकारादौ च विभक्तौ परतः किमः कु इत्ययमादेशो भवति॥ ति इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः॥ उदा०—कुतः, कुत्र। हकारादौ—कुह॥

भाषार्थः—[तिहोः] तकारादि तथा हकारादि विभक्तियों के परे रहते किम् को [कु] कु आदेश होता है॥ 'ति' में इकार उच्चारणार्थ है, अतः 'तकारादि' ऐसा अर्थ किया है॥ कुतः में तसिल् तथा कुत्र में त्रल् प्रत्यय विभक्तिसंज्ञक (५।३।१ से)

हुये हैं। कुह में वा ह च च्छन्दसि (५।३।१३) से विभक्तिसंज्ञक ह प्रत्यय हुआ है। सिद्धिप्रकार परि० १।१।३७ में समझें॥

क्वाति ॥७।२।१०५॥

क्व लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ अति ७।१॥ अनु०—किमः, विभक्तौ, अङ्गस्य॥ अर्थः—अति विभक्तौ परतः किमः क्व इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—क्व गमिष्यसि, क्व भोक्ष्यसे॥

भाषार्थः—[अति] अत् विभक्ति के परे रहते किम् अङ्ग को [क्व] क्व आदेश होता है॥ सिद्धि किमोऽत् (५।३।१२) सूत्र में देखें॥

तदोः सः सावनन्त्ययोः ॥७।२।१०६॥

तदोः ६।२॥ सः १।१॥ सौ ७।१॥ अनन्त्ययोः ६।२॥ स०—तश्च दश्च तदौ, तयोः⋯इतरेतरद्वन्द्वः। न अन्त्यौ अनन्त्यौ, तयोः⋯नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—विभक्तौ, अङ्गस्य, 'त्यदादीनाम्' इति चानुवर्त्तते मण्डूकगत्या॥ अर्थः—त्यदादीनामनन्त्ययोस्तकारदकारयोः स्थाने सकारादेशो भवति सौ परतः॥ उदा०—त्यद्—स्यः। तद्—सः। एतद्—एषः। दकारस्य—अदस्—असौ॥

भाषार्थः—त्यदादि अङ्गों के [अनन्त्ययोः] अनन्त्य (=जो अन्त में नहीं ऐसे) [तदोः] तकार तथा दकार के स्थान में [सौ] सु विभक्ति परे रहते [सः] सकारादेश होता है॥ त्यद् आदि के अन्तिम दकार को छोड़कर अन्य तकार-दकार को स् हो गया है। सः की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें॥ एषः में आदेशः (८।३।५६) से षत्व हुआ है। असौ, यहाँ सु परे रहते अदस् के स् के स्थान में अदस औ० (७।२।१०७) से 'औ' आदेश तथा सु का लोप होकर अद औ रहा। द को प्रकृत सूत्र से स, तथा वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश होकर असौ बन गया॥

यहाँ से 'सौ' की अनुवृत्ति ७।२।१०८ तक जायेगी॥

अदस औ सुलोपश्च ॥७।२।१०७॥

अदसः ६।१॥ औ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ सुलोपः १।१॥ च अ०॥ स०—सोर्लोपः सुलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—सौ, विभक्तौ, अङ्गस्य॥ अर्थः—अदसः सौ परत औकारादेशो भवति सोश्च लोपो भवति॥ उदा०—असौ॥

भाषार्थः—[अदसः] अदस् को सु परे रहते [औ] औ आदेश, [च] तथा [सुलोपः] सु का लोप होता है॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य सकार को ही 'औ' आदेश होता है॥ सिद्धि पूर्वसूत्र में दिखा आये हैं॥

इदमो मः ॥७।२।१०८॥

इदमः ६।१॥ मः १।१॥ अनु०—सौ, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इदमः सौ विभक्तौ परतो मकारोऽन्तादेशो भवति ॥ उदा०—अयम्, इयम् ॥

भाषार्थः—[इदमः] इदम् को सु विभक्ति परे रहते [मः] मकारादेश होता है ॥ यहाँ भी अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् 'म्' को मकारादेश होगा ॥ मकार को मकारवचन त्यदादीनामः (७।२।१०२) से अत्व के निवृत्त्यर्थ है । पुंल्लिङ्ग में इदम् के 'इद्' भाग को इदोऽय् पुंसि (७।२।१११) से अय् आदेश होकर अय् अम् सु रहा । हल्ङ्यादि लोप होकर अयम् बन गया । स्त्रीलिङ्ग में इदम् के द् को यः सौ (७।२।११०) से य् होकर इयम् बना । सु लोप हल्ङ्याभ्यो० (६।१।६६) से पूर्ववत् हो गया ॥

यहाँ से 'इदमः' की अनुवृत्ति ७।२।११३ तक, तथा 'म' की ७।२।१०९ तक जायेगी ॥

दश्च ॥७।२।१०९॥

दः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—इदमो मः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इदमो दकारस्य च स्थाने मकारादेशो भवति विभक्तौ परतः ॥ उदा०—इमौ, इमे, इमम्, इमौ, इमान् ॥

भाषार्थः—इदम् के [दः] दकार के स्थान में [च] भी मकार आदेश होता है, विभक्ति परे रहते ॥ इदम् औ, यहाँ त्यदादीनामः (७।२।१०२) से अकारादेश होकर इद् अ औ रहा ॥ प्रकृत सूत्र से द् को म्, तथा पूर्वरूप ६।१।९४ से होकर, इम औ=इमौ बना ॥ शेष उदाहरणों की सिद्धि पूर्ववत् है । इमान् में तस्माच्छसो० (६।१।९९) से नत्व होगा ॥

यहाँ से 'दः' की अनुवृत्ति ७।२।११० तक जायेगी ॥

यः सौ ॥७।२।११०॥

यः १।१॥ सौ ७।१॥ अनु०—दः, इदमः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इदमो दकारस्य स्थाने यकारादेशो भवति सौ विभक्तौ परतः ॥ उदा०—इयम् ॥

भाषार्थः—इदम् के दकार के स्थान में [यः] यकारादेश [सौ] सु विभक्ति परे रहते होता है ॥ सूत्र ७।२।१०८ में सिद्धि देखें । यहाँ इदमो मः (७।२।१०८) से मकार को मकार कहने से त्यदादीनामः (७।२।१०२) से अत्व नहीं हुआ है ॥

यहाँ से 'सौ' की अनुवृत्ति ७।२।१११ तक जायेगी ॥

इदोऽय् पुंसि ॥७।२।१११॥

इदः ६।१॥ अय् १।१॥ पुंसि ७।१॥ अनु०—सौ, इदमः, विभक्तौ, अङ्गस्य॥ अर्थः—इदम इद्‌रूपस्य पुंसि सौ विभक्तौ परतोऽय् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—अयं ब्राह्मणः ॥

भाषार्थः—इदम् शब्द के [इदः] इद् रूप को [पुंसि] पुँलिङ्ग में [अय्] अय् आदेश होता है, सु विभक्ति परे रहते ॥ सिद्धि ७।२।१०८ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'इदः' की अनुवृत्ति ७।२।११३ तक जायेगी ॥

अनाप्यकः ॥७।२।११२॥

अन लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ आपि ७।१॥ अकः ६।१॥ स०—न विद्यते ककारो यस्मिन् तत् अक्, तस्य...बहुव्रीहिः ॥ अनु०—इदः, इदमः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इदमोऽककारस्य इद्‌रूपस्य स्थाने अन इत्ययमादेशो भवति, आपि विभक्तौ परतः ॥ उदा०—अनेन, अनयोः ॥

भाषार्थः—[अकः] ककार से रहित इदम् शब्द के इद् भाग को [अन] अन आदेश होता है, [आपि] आप् विभक्ति परे रहते ॥

आप् से यहाँ प्रत्याहार का ग्रहण होता है, जो कि तृतीया एकवचन 'टा' से लेकर सप्तमी बहुवचन 'सुप्' के पकार तक लिया गया है । हलादि विभक्तियों के परे रहते अगले सूत्र से इद् भाग का लोप कहा है । अतः वहाँ इस सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होगी । अजादियों में भी टा तथा ओस् परे ही इस सूत्र की प्रवृत्ति होती है, ऐसा जानना चाहिये ॥ 'अकच्' के ककार से युक्त होने पर न हो जाये, अतः 'अकः' निषेध किया है । इदम् टा=इद् अ टा=अन अ टा, यहाँ टाङसि० (७।१।१२) से टा को इन होकर अन इन=अनेन बना । इसी प्रकार अनयोः में जानें । ओसि च (७।३।१०४) से यहाँ न के 'अ' को ऐत्व एवं अयादेश ही विशेष है ॥

यहाँ से 'अकः' की अनुवृत्ति ७।२।११३ तक जायेगी ॥

हलि लोपः ॥७।२।११३॥

हलि ७।१॥ लोपः १।१॥ अनु०—अकः, इदः, इदमः, विभक्तौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इदमोऽककारस्य इद्‌रूपस्य लोपो भवति, हलादौ विभक्तौ परतः ॥ उदा०—आभ्याम्, एभिः, एभ्यः, एषाम्, एषु ॥

भाषार्थः—ककाररहित इदम् शब्द के इद् भाग का [हलि] हलादि विभक्ति परे रहते [लोपः] लोप होता है ॥ आभ्याम् की सिद्धि परि० १।१।२० में देखें । तद्वत् भिस् भ्यस् आदि परे रहते 'अ भिस्' ऐसा होकर बहुवचने झल्येत् (७।३।

१०३) से अ को एत्व हो जाता है । एषाम् में आमि सर्वनाम्नः० (७।१।५२) से सुट् आगम हुआ है । अतः हलादि विभक्ति परे मिल ही जायेगी । आदेशप्रत्ययोः (८।३।५९) से षत्व जानें ॥

[वृद्धि-प्रकरणम्]

मृजेर्वृद्धिः ॥७।२।११४॥

मृजेः ६।१॥ वृद्धिः १।१॥ अनु०—अङ्गस्य॥ अर्थः—मृजेरङ्गस्य इकः स्थाने वृद्धिर्भवति ॥ उदा०—मार्ष्टि, मार्ष्टा, मार्ष्टुम्, मार्ष्टव्यम् ॥

भाषार्थः—[मृजेः] मृज् अङ्ग के इक् के स्थान में [वृद्धिः] वृद्धि होती है ॥ मार्ष्टि की सिद्धि परि० १।१।३ में देखें । तद्वत् तृच् में मार्ष्टा आदि समझें । तृजन्त की सिद्धि-प्रक्रिया परि० १।१।२ में प्रदर्शित चेता के समान जानें ॥

यहाँ से 'वृद्धि' की अनुवृत्ति ७।३।३५ तक जायेगी ॥

अचो ञ्णिति ॥७।२।११५॥

अचः ६।१॥ ञ्णिति ७।१॥ स०—ञश्च णश्च ञ्णौ, ञ्णौ इतौ यस्य स ञ्णित्, तस्मिन्···द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अजन्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्भवति, ञिति णिति च प्रत्यये परतः ॥ उदा०—ञिति—एकस्तण्डलनिचायः । द्वौ शूर्पनिष्पावौ । कारः, हारः । णिति—गौः, गावौ, गावः । सखायौ, सखायः । जैत्रम्, यौत्रम्, च्यौत्नः ॥

भाषार्थः—[अचः] अजन्त अङ्ग को [ञ्णिति] ञित् णित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है ॥ तण्डुलनिचायः, शूर्पनिष्पावौ में घञ् प्रत्यय हुआ है । सूत्र ३।३।२० में देखें । गौः सखायौ आदि की सिद्धि क्रमशः सूत्र ७।१।९० एवं ७।१।९२ में देखें । जैत्रम्, यौत्रम् में जि तथा यु धातु से सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् (उणा० ४।१५९) से ष्ट्रन् प्रत्यय और बहुल वचन से णित् हुआ है । च्यौत्नः में च्यु धातु से जनिदाच्यु० (उणा० ४।१०४) से त्नण् णित् प्रत्यय हुआ है । कारः हारः में घञ् (३।३।१८ से) हुआ है ॥

यहाँ से 'अचः' की अनुवृत्ति ७।३।३१ तक, तथा 'ञ्णिति' की ७।३।३५ तक जायेगी ॥

अत उपधायाः ॥७।२।११६॥

अतः ६।१॥ उपधायाः ६।१॥ अनु०—ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अङ्गस्योपधाया अकारस्य स्थाने वृद्धिर्भवति, ञिति णिति प्रत्यये परतः ॥ उदा०—ञिति—भागः, पाकः, त्यागः, यागः । णिति—पाचयति, पाचकः, पाठयति, पाठकः ॥

भाषार्थः—अङ्ग की [उपधायाः] उपधा [अतः] अकार के स्थान में वृद्धि होती है, ञित् णित् प्रत्यय परे रहते ॥ भागः आदि की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें। पाचयति, पाठयति में हेतुमति च (३।१।२६) से णिच्, तथा पाठकः आदि में ण्वुल् हुआ है ॥

तद्धितेष्वचामादेः ॥७।२।११७॥

तद्धितेषु ७।३॥ अचाम् ६।३॥ आदेः ६।१॥ अनु०—अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तद्धिते ञिति णिति च प्रत्यये परतोऽङ्गस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति ॥ उदा०—ञिति—गार्ग्यः, वात्स्यः, दाक्षिः, प्लाक्षिः । णिति—औपगवः, कापटवः ॥

भाषार्थः—ञित् णित् [तद्धितेषु] तद्धित परे रहते अङ्ग के [अचाम्] अचों के [आदेः] आदि अच् को वृद्धि होती है ॥ औपगवः, कापटवः की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें । गार्ग्यः, वात्स्यः में गर्गादिभ्यो यञ् (४।१।१०५) से यञ्, तथा दाक्षिः, प्लाक्षिः अत इञ् (४।१।९५) से इञ् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।३।३१ तक जायेगी ॥

किति च ॥७।२।११८॥

किति ७।१॥ च अ० ॥ स०—क् इत् यस्य स कित्, तस्मिन् बहुव्रीहिः ॥ अनु०—तद्धितेष्वचामादेः, अचः, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—किति च तद्धिते परतोऽङ्गस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति ॥ उदा०—नाडायनः, चारायणः । आक्षिकः, शालाकिकः ॥

भाषार्थः—[किति] कित् तद्धित परे रहते [च] भी अङ्ग के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है ॥ नाडायनः आदि में नडादिभ्यः फक् (४।१।९९) से फक्, तथा आक्षिकः आदि में प्राग्वहतेष्ठक् (४।४।१) से ठक् हुआ है । ठस्येकः (७।३।५०) से ठ को इक हो ही जायेगा ।

यहाँ से 'किति' की अनुवृत्ति ७।३।३१ तक जायेगी ॥

इति द्वितीयः पादः ॥

—:o:—

तृतीयः पादः

देविकाशिंशपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात् ॥७।३।१॥

देविका…यसाम् ६।३॥ आत् १।१॥ स०—देवि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—देविका, शिंशपा, दित्यवाट्, दीर्घसत्र, श्रेयस् इत्येतेषामङ्गानामचामादेरचः स्थाने ञिति णिति किति तद्धिते परतो वृद्धिप्रसङ्गे आकारो भवति ॥ उदा०—देविकायां भवमुदकम्=दाविकमुदकम् । देविकाकूले भवाः शालयः=दाविकाकूलाः शालयः । पूर्वदेविकायां भवः=पूर्वदाविकः ग्रामः । शिंशपायाः विकारश्चमसः=शांशपश्चमसः । शिंशपास्थले भवाः=शांशपास्थलाः । पूर्वशिंशपायां भवः=पूर्वशांशपः । दित्यवाट्—दित्यौहि इदं दात्यौहम् । दीर्घसत्र—दीर्घसत्रे भवं=दार्घसत्रम् । श्रेयस्—श्रेयसि भवं=श्रायसम् ॥

भाषार्थः—[देविका…श्रेयसाम्] देविका, शिंशपा, दित्यवाट्, दीर्घसत्र, तथा श्रेयस् इन अङ्गों के अचों में आदि अच् को वृद्धि का प्रसङ्ग होने पर ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते [आत्] आकारादेश होता है ॥ पूर्वदेविका पूर्वशिंशपा आदि प्राच्य देश के ग्राम विशेष की संज्ञायें हैं । सो यहाँ तत्र भवः (४।३।५३) अर्थ में प्रत्यय कर लेने पर उत्तरपद के आदि अच् को प्राचां ग्रामनगराणाम् (७।३।१४) से वृद्धि प्राप्त थी । तदपवाद प्रकृत सूत्र से आत्व होकर पूर्वदाविकः, पूर्वशांशपः बन गया । शांशपश्चमसः में पलाशादिभ्यो वा (४।३।१३९) से अण् प्रत्यय, अथवा अनुदात्तादि मानकर अनुदात्तादेश्च (४।३।१३८) से विकार अर्थ में अञ् हुआ है । सो तद्धिते० (७।२।११७) से वृद्धि प्राप्त होने पर आत्व हो गया है । इसी प्रकार अन्यत्र भी भवः अर्थ में प्रत्यय होकर वृद्धि प्राप्त होने पर आत्व हुआ है ॥ देविका नाम लाहौर से कुछ मील दूर बहनेवाली नदी का है । इसके किनारे पर होनेवाले चावल प्रसिद्ध हैं ॥

केकयमित्रयुप्रलयानां यादेरियः ॥७।३।२॥

केकयमित्रयुप्रलयानाम् ६।३॥ यादेः ६।१॥ इयः १।१॥ स०—केकय० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । य आदिर्यस्य स यादिः, तस्य…बहुव्रीहिः ॥ अनु०—किति, तद्धितेषु, ञ्णिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—केकय, मित्रयु, प्रलय इत्येतेषामङ्गानां यकारादेरिय इत्ययमादेशो भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—केकयस्यापत्यं=कैकेयः । मित्रयुभावेन श्लाघते=मैत्रेयिकया श्लाघते । प्रलयादागतं=प्रालेयमुदकम् ॥

भाषार्थ:—[केकयमित्रयुप्रलयानाम्] केकय मित्रयु प्रलय इन अङ्गों के [यादे:] य आदिवाले भाग को [इय:] इय आदेश होता है । अर्थात् केकय आदि शब्दों में 'य' तथा 'यु' को इय हो जायेगा ।। कैकेय: में जनपदशब्दात्० (४।१।१६६) से अञ् प्रत्यय हुआ है, सो ञित् परे है ।। केकय अञ्=केक् इय अ= यस्येति लोप, एवं आद्गुण: (६।१।८४), लगकर केकेय, एवं तद्धितेष्व० (७।२।११७) से वृद्धि होकर कैकेय: बन गया । मैत्रेयिकया में गोत्रचरणा० (५।१।१३३) से वुञ् प्रत्यय हुआ है । मित्रयु वुञ्=मित्रयु अक्=यु को इय होकर मैत्र इय अक=मैत्रेयक बना । टाप् तथा प्रत्ययस्थात० (७।३।४४) से इत्व होकर तृतीया एकवचन में आङि चाप: (७।३।१०५) लगकर मैत्रेयिकया, बन गया । प्रालेयम् में तत आगत: (४।३।७४) से अण् हुआ है ।।

न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् ।।७।३।३।।

न अ० ।। य्वाभ्याम् ५।२।। पदान्ताभ्याम् ५।२।। पूर्वौ १।२।। तु अ० ।। ताभ्याम् ५।२।। ऐच् १।१।। स०—य् च व् च य्वौ, ताभ्याम् इतरेतरद्वन्द्व: । पदस्य अन्तौ पदान्तौ, ताभ्याम् षष्ठीतत्पुरुष: ।। अनु०—किति, तद्धितेष्वचामादे:, अचो ञ्णिति, वृद्धि:, अङ्गस्य ।। अर्थ:—पदान्ताभ्यां यकारवकाराभ्यामुत्तरस्य अचामादेरच: स्थाने वृद्धिर्न भवति, ञिति णिति किति च तद्धिते परत:, ताभ्यां (यकारवकाराभ्याम्) पूर्वौ तु क्रमादैजागमौ भवत: ।। यकारादैकार:, वकारादौकार: ।। उदा०—व्यसने भवं वैयसनम्, वैयाकरण: । स्वश्वस्यापत्यं सौवश्व: ।।

भाषार्थ:—[पदान्ताभ्याम्] पदान्त [य्वाभ्याम्] यकार तथा वकार से उत्तर ञित् णित् कित् तद्धित परे रहते अङ्ग के अचों में आदि अच् को वृद्धि [न] नहीं होती, किन्तु [ताभ्याम्] उन (यकार वकार) से [पूर्वौ] पूर्व [तु] तो क्रमश: [ऐच्] ऐच्=ऐ औ आगम होता है, अर्थात् य् से पूर्व ऐ, एवं व् से पूर्व औ आगम होता है ।। वि असन अण्, यहाँ यणादेश होकर व्य् असन् अ रहा । अब यहाँ पदान्त जो य्, उससे उत्तर आदि अच् को प्रकृतसूत्र सूत्र से, (७।२।११७ से प्राप्त) वृद्धि का निषेध, तथा य् से पूर्व को ऐ आगम होकर व् ऐ य् असन=वैयसनम् बना । इसी प्रकार व्याकरण से तदधीते तद्वेद (४।२।५८) से अण् होकर=व् ऐ य् आकरण अण्=वैयाकरण: बना । सु अश्व=स्व् अश्व अण्, यहाँ शिवादिभ्यो० (४।१।११२) से अपत्यार्थ में अण्, तथा यणादेश होकर प्रकृतसूत्र से औ आगम होकर 'स् औ व् अश्व अ=सौवश्व:' बन गया ।।

यहाँ से 'न य्वाभ्याम् पूर्वौ ताभ्याम् ऐच्' की अनुवृत्ति ७।३।५ तक जायेगी ।।

द्वारादीनां च ॥७।३।४॥

द्वारादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ द्वार आदिर्येषां ते द्वारादयः,तेषाम् ···बहुव्रीहिः ॥ अनु०—न य्वाभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—द्वार इत्येवमादीनां य्वाभ्यामुत्तरस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्न भवति, पूर्वौ तु ताभ्यामैजागमौ भवतस्तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ अपदान्तार्थोऽयमारम्भः ॥ उदा०—द्वारे नियुक्तः दौवारिकः । द्वारपालस्येदं दौवारपालम् । स्वरमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः=सौवरः ॥

भाषार्थः—[द्वारादीनाम्] द्वार इत्यादि शब्दों के यकार वकार से उत्तर [च] भी ञित् णित् कित् तद्धित परे रहते अङ्ग के अचों में आदि अच् को वृद्धि नहीं होती, किन्तु यकार वकार से पूर्व को ऐच् आगम तो हो जाता है ॥ पूर्वसूत्र में पदान्त यकार वकार से उत्तर कहा था, अपदान्तार्थ इस सूत्र का आरम्भ है ॥ दौवारिकः में तत्र नियुक्तः (४।४।६९) से ठक् हुआ है । पूर्ववत् सिद्धियाँ जानें ॥

न्यग्रोधस्य च केवलस्य ॥७।३।५॥

न्यग्रोधस्य ६।१॥ च अ० ॥ केवलस्य ६।१॥ अनु०—न य्वाभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—न्यग्रोधशब्दस्य केवलस्य यकारादुत्तरस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्न भवति, तस्माच्च पूर्वमैकार आगमो भवति ॥ उदा०—न्यग्रोधस्य विकारः=नैयग्रोधश्चमसः ॥

भाषार्थः—[केवलस्य] केवल जो [न्यग्रोधस्य] न्यग्रोधस्य शब्द उसके अचों में आदि अच् को [च] भी वृद्धि नहीं होती; किन्तु उसके य् से पूर्व को ऐकार आगम तो होता है ॥ यहाँ केवल य् का ही प्रसङ्ग होने से ऐकार आगम ही होगा, न कि औकार ॥

न कर्मव्यतिहारे ॥७।३।६।

न अ० ॥ कर्मव्यतिहारे ७।१॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—कर्मव्यतिहारेऽर्थे पूर्वेण यदुक्तं तन्न भवति ॥ प्रकृतयोः वृद्धिप्रतिषेधैजागमयोरयं प्रतिषेधः ॥ उदा०—व्यावक्रोशी, व्यावलेखी, व्याववर्त्ती ॥

भाषार्थः—[कर्मव्यतिहारे] कर्मव्यतिहार अर्थ में पूर्वसूत्रों से जो कुछ कहा है, वह [न] नहीं होता । अर्थात् ऐच् आगम कहा है, वह नहीं होता । एवं वृद्धि-प्रतिषेध कहा है, वह (=प्रतिषेध) भी नहीं होता, अर्थात् वृद्धि होती है ॥ सिद्धि परि० ३।३।४३ में देखें ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।९ तक जायेगी ॥

स्वागतादीनां च ॥७।३।७॥

स्वागतादीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ स०—स्वागत आदिर्येषां ते स्वागतादयः, तेषां बहुव्रीहिः ॥ अनु०—न, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्वागत इत्येवमादीनां यदुक्तं तन्न भवति ॥ उदा०—स्वागतमित्याह=स्वागतिकः । स्वध्वरेण चरति=स्वाध्वरिकः । स्वङ्गस्यापत्यं=स्वाङ्गिः ॥

भाषार्थः—[स्वागतादीनाम्] स्वागत इत्यादि शब्दों को [च] भी जो कुछ कहा है, वह नहीं होता ॥ पूर्ववत् ही ऐच् आगम एवं वृद्धि के प्रतिषेध का प्रतिषेध यहाँ भी प्रकृतसूत्र से जानें ॥ आहौ प्रभूतादिभ्यः (४।४।१ वा०) इस वार्त्तिक से स्वागतिकः शब्द में ठक् हुआ है । स्वाध्वरिकः में चरति (४।४।८) से ठक्, एवं स्वाङ्गिः में अत इञ् (४।१।९५) से इञ् हुआ है ॥ सर्वत्र न य्वाभ्यां (७।३।३) से प्राप्त ऐच् आगम एवं वृद्धि-निषेध नहीं होता है ॥

श्वादेरिञि ॥७।३।८॥

श्वादेः ६।१॥ इञि ७।१॥ स०—श्वा आदिर्यस्य स श्वादिः, तस्य बहुव्रीहिः ॥ अनु०—न, अङ्गस्य ॥ अर्थः—श्वादेरङ्गस्य इञि परतो यदुक्तं तन्न भवति ॥ उदा०—श्वभस्त्रस्यापत्यं श्वाभस्त्रिः, श्वादंष्ट्रिः ॥

भाषार्थः—[श्वादेः] श्वन् आदि में है जिसके, ऐसे अङ्ग को [इञि] इञ् प्रत्यय परे रहते जो कुछ कहा है, वह नहीं होता ॥ पूर्ववत् ऐच् आगम, एवं वृद्धि-निषेध न य्वाभ्यां० (७।३।३) से प्राप्त था, नहीं हुआ । उदाहरण में श्वभस्त्र आदि श्वन् शब्द आदिवाले अङ्ग हैं ही ॥

यहाँ से 'श्वादेः' की अनुवृत्ति ७।३।९ तक जायेगी ॥

पदान्तस्यान्यतरस्याम् ॥७।३।९॥

पदान्तस्य ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—पद शब्द अन्ते यस्य तत् पदान्तम्, तस्य बहुव्रीहिः ॥ अनु०—न, श्वादेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पदशब्दान्तस्य श्वादेरङ्गस्य यदुक्तं तत् विकल्पेन न भवति ॥ उदा०—शुन इव पदमस्य=श्वापदः, श्वापदस्येदं=श्वापदम्, शौवापदम् ॥

भाषार्थः—[पदान्तस्य] पद शब्द अन्त में है जिसके, ऐसे श्वन् आदिवाले अङ्ग को जो ऐच् आगम, एवं वृद्धिप्रतिषेध कहा है, वह [अन्यतरस्याम्] विकल्प से नहीं होता, अर्थात् पक्ष में नहीं होता है ॥ श्वापदम् में शुनो दन्तदंष्ट्राकर्ण० (६।३।१३५ वा०) इस वार्त्तिक से दीर्घ होता है । अतः यहाँ केवल ऐजागम का विकल्प ही होता है ॥

॥ उत्तरपदस्य ॥७।३।१०॥

उत्तरपदस्य ६।१॥ अर्थः—'उत्तरपदस्य' इत्ययमधिकारो वेदितव्यः, हनस्तो० (७।३।३२) इत्येतस्मात् प्राग् ॥ उदा०—वक्ष्यति, अवयवादृतोः (७।३।११) — पूर्ववार्षिकम्, अपरवार्षिकम् । पूर्वहैमनम्, अपरहैमनम् ॥

भाषार्थः—'उत्तरपदस्य' यह अधिकारसूत्र है, ७।३।३२ से पूर्व तक जायेगा। सो वहाँ से पूर्व के सूत्रों में कहे हुये कार्य [उत्तरपदस्य] उत्तरपद को हुआ करेंगे, ऐसा जानना चाहिये ॥

अवयवादृतोः ॥७।३।११॥

अवयवात् ५।१॥ ऋतोः ६।१॥ अनु०—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अवयववाचिनः पूर्वपदादुत्तरस्य ऋतुवाचिन उत्तरपदस्याचामादेरचो वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—पूर्ववार्षिकम्, पूर्वहैमनम् । अपरवार्षिकम्, अपरहैमनम् ॥

भाषार्थः—[अवयवात्] अवयववाची पूर्वपद से उत्तर [ऋतोः] ऋतुवाची उत्तरपद शब्द के अचों में आदि अच् को तद्धित ञित् णित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है ॥ पूर्वं वर्षाणाम्, अपरं वर्षाणाम् ऐसा विग्रह करके पूर्ववार्षिकम् आदि में पूर्वापराधरोत्तर० (२।२।१) से समास हुआ है। पश्चात् तत्र भवः अर्थ में वर्षाभ्यष्ठक्, एवं सर्वत्राण् च त० (४।३।१८, २२) से ठक्, एवं अण् प्रत्यय उदाहरणों में होते हैं। पूर्व अपर शब्द अवयववाची हैं ही ॥ 'उत्तरपदस्य' का अधिकार होने से पूर्वपद का यहाँ आक्षेप से ग्रहण हो जाता है ॥ सर्वत्र समस्त हुये सम्पूर्ण शब्द के आदि अच् को वृद्धि प्राप्त होने पर तदपवाद उत्तरपद के आदि को वृद्धि कहा है, ऐसा जानें ॥

सुसर्वार्द्धाज्जनपदस्य ॥७।३।१२॥

सुसर्वार्द्धात् ५।१॥ जनपदस्य ६।१॥ स०—सुश्च सर्वश्च अर्द्धञ्च सुसर्वार्द्धम्, तस्मात् ... समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सु, सर्व, अर्द्ध इत्येतेभ्य उत्तरस्य जनपदवाचिन उत्तरपदस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—सुपाञ्चालकः, सर्वपाञ्चालकः, अर्द्धपाञ्चालकः ॥

भाषार्थः—[सुसर्वार्द्धात्] सु सर्व तथा अर्द्ध शब्द से उत्तर [जनपदस्य] जनपदवाची उत्तरपद शब्द के अचों में आदि अच् को तद्धित ञित् णित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है ॥ अवृद्धादपि बहु० (४।२।१२४) से उदाहरणों

में वुञ् ञित् प्रत्यय हुआ है । सुपाञ्चालकः में कुगतिप्रा० (२।२।१८) से, तथा सर्वपाञ्चालकः में पूर्वकालैक० (२।१।४८) से, एवं अर्द्धपाञ्चालकः में अर्द्धं नपुं० (२।२।२) से समास होता है ॥

—यहाँ से 'जनपदस्य' की अनुवृत्ति ७।३।१३ तक जायेगी ॥

दिशोऽमद्राणाम् ॥७।३।१३॥

दिशः ५।१॥ अमद्राणाम् ६।३॥ स०—न मद्रा अमद्राः, तेषां नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—जनपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—दिग्वाचिन उत्तरस्य जनपदवाचिन उत्तरपदस्य मद्रवर्जितस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—पूर्वेषु पञ्चालेषु भवः=पूर्वपाञ्चालकः, अपरपाञ्चालकः, दक्षिणपाञ्चालकः ॥

भाषार्थः—[दिशः] दिशावाची शब्दों से उत्तर [अमद्राणाम्] मद्र शब्द वर्जित जनपदवाची उत्तरपद शब्द के अचों में आदि अच् को तद्धित ञित् णित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है ॥ उदाहरणों में तद्धितार्थो० (२।१।५१) से समास होता है । पूर्ववत् वुञ् प्रत्यय भी हुआ जानें ॥

यहाँ से 'दिशः' की अनुवृत्ति ७।३।१४ तक जायेगी ॥

प्राचां ग्रामनगराणाम् ॥७।३।१४॥

प्राचाम् ६।३॥ ग्रामनगराणाम् ६।३॥ स०—ग्रामाश्च नगराणि च ग्रामनगराणि, तेषां इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—दिशः, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—प्राचां देशे दिग्वाचिन उत्तराणि यानि ग्रामनगराणि तेषामचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च प्रत्यये परतः ॥ उदा०—ग्रामाणाम्—पूर्वेषुकामशम्यां भवः=पूर्वेषुकामशमः, अपरेषुकामशमः, पूर्वकार्ष्णमृत्तिकः, अपरकार्ष्णमृत्तिकः । नगराणाम्—पूर्वस्मिन् पाटलिपुत्रे भवः=पूर्वपाटलिपुत्रकः, अपरपाटलिपुत्रकः, पूर्वकान्यकुब्जः, अपरकान्यकुब्जः ॥

भाषार्थः—दिशावाची शब्दों से उत्तर [प्राचाम्] प्राच्य देश में जो [ग्रामनगराणाम्] ग्राम तथा नगरवाची शब्द, उनके अचों में आदि अच् को तद्धित ञित् णित् तथा कित् प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है ॥ पूर्वेषुकामशमी की सिद्धि सूत्र २।१।४९ में देखें । पश्चात् इससे दिक्पूर्व० (४।२।१०७) से ञ हो जाता है । पूर्वपाटलिपुत्रकः में रोपधेतोः० (४।२।१२२) से वुञ् हुआ है ॥

सङ्ख्यायाः संवत्सरसङ्ख्यस्य च ॥७।३।१५॥

सङ्ख्यायाः ५।१॥ संवत्सरसङ्ख्यस्य ६।१॥ च अ० ॥ स०—संवत्सरश्च

सङ्ख्या च संवत्सरसङ्ख्यम्, तस्य समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सङ्ख्यायाः उत्तरस्य संवत्सरशब्दस्य सङ्ख्यायाश्चामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—द्वौ संवत्सरावधीष्टो भृतो भूतो भावी वा=द्विसांवत्सरिकः । सङ्ख्यायाः—द्वे षष्टी अधीष्टो भृतो भूतो भावी वा=द्विषाष्टिकः, द्विसाप्ततिकः ॥

भाषार्थः—[सङ्ख्यायाः] सङ्ख्यावाची शब्द से उत्तर [संवत्सरसङ्ख्यस्य] संवत्सर शब्द के, तथा सङ्ख्यावाची शब्द के अचों में आदि अच् को [च] भी ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है ॥ पूर्ववत् तद्धितार्थ में द्विसांवत्सरिकः आदि में समास हुआ है । उदाहरणों में तमधीष्टो० (५।१।७९) से ठञ् प्रत्यय जानें ॥

यहाँ से 'सङ्ख्यायाः' की अनुवृत्ति ७।३।१७ तक जायेगी ॥

वर्षस्याभविष्यति ॥७।३।१६॥

वर्षस्य ६।१॥ अभविष्यति ७।१॥ स०—न भविष्यत् अभविष्यत्, तस्मिन् ... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सङ्ख्यायाः, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सङ्ख्याया उत्तरस्य वर्षशब्दस्याचामादेरचो वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः, स चेत्तद्धितो भविष्यत्यर्थे न भवति ॥ उदा०—द्वे वर्षे अधीष्टो भृतो भूतो वा=द्विवार्षिकः, त्रिवार्षिकः ॥

भाषार्थः—सङ्ख्या शब्द से उत्तर [वर्षस्य] वर्ष शब्द के अचों में आदि अच् को ञित् णित् तथा कित् तद्धित प्रत्यय परे रहते वृद्धि होती है, यदि वह तद्धित प्रत्यय [अभविष्यति] भविष्यत् अर्थ में न हुआ हो तो ॥ पूर्ववत् सिद्धि जानें ॥

परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः ॥७।३।१७॥

परिमाणान्तस्य ६।१॥ असंज्ञाशाणयोः ७।२॥ स०—परिमाणमन्ते यस्य स परिमाणान्तः, तस्य ... बहुव्रीहिः । संज्ञा च शाणञ्च संज्ञाशाणे, न संज्ञाशाणे असंज्ञाशाणे, तयोः ... द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सङ्ख्यायाः, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—परिमाणान्तस्याङ्गस्य सङ्ख्याया उत्तरस्योत्तरपदस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः, संज्ञायां विषये शाणे चोत्तरपदे न भवति ॥ उदा०—द्वौ कुडवौ प्रयोजनमस्य=द्विकौडविकः, द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतम्=द्विसौवर्णिकम्, द्विनैष्किकम् ॥

भाषार्थः—[परिमाणान्तस्य] परिमाणवाची शब्द अन्त में है जिस अङ्ग के, उसके सङ्ख्यावाची शब्द से उत्तर उत्तरपद के अचों में आदि अच् को ञित्

णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है, [असंज्ञाशाणयोः] संज्ञा-विषय एवं शाण शब्द उत्तरपद को छोड़कर ॥ द्विकौडविकम् आदि में प्रयोजनम् (५।१।१०८) से ठञ् होता है। द्विसौवर्णिकम् में तेन क्रीतम् से हुए ठक् प्रत्यय का सुवर्णशतमान० (५।१।२९ वा०) इस वार्त्तिक से अध्यर्द्धपूर्व० (५।१।२८) से नित्य प्राप्त प्रत्यय के लुक् का विकल्प होता है। अतः पक्ष में लुक् होकर द्विसुवर्णम् बनेगा। द्विनैष्किकम् में तेन क्रीतम् (५।१।३६) से हुए ठक् प्रत्यय का द्वित्रिपूर्वान्निष्कात् (५।१।३०) से पक्ष में लुक् होता है ॥

जे प्रोष्ठपदानाम् ॥७।३।१८॥

जे ७।१॥ प्रोष्ठपदानाम् ६।३॥ अनु०—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—'जे' इत्यनेन जातार्थो निर्दिश्यते । जातार्थे यः प्रत्ययो विहितस्तस्मिन् तद्धिते ञिति णिति किति च परतः प्रोष्ठपदानामुत्तरपदस्याचामादेरचो वृद्धिर्भवति ॥ उदा०—प्रोष्ठपदासु जातः=प्रोष्ठपादो माणवकः ॥ प्रोष्ठपदानामित्यत्र बहुवचननिर्देशात् तत्पर्यायो भद्रपदाशब्दोऽपि गृह्यते । भद्रपदासु जातो भद्रपादो माणवकः ॥

भाषार्थः—'जे' से यहाँ जात अर्थ का ग्रहण है ॥ [जे] जात (४।३।२५) अर्थ में विहित जो ञित् णित् तथा कित् तद्धित उसके परे रहते [प्रोष्ठपदानाम्] प्रोष्ठपद अङ्ग के उत्तरपद के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है ॥ सूत्र में बहुवचन निर्देश से प्रोष्ठपदा का पर्याय भद्रपदा भी लिया जाता है ॥ प्रोष्ठपद नाम का नक्षत्र है, उससे तथा उसके पर्याय भद्रपदा से नक्षत्रेण युक्त० (४।२।३) से अण् होकर लुबविशेषे (४।२।४) से लुप् हुआ है। ततः सन्धिवेलाद्यृतु० (४।३।१६) से अण् होकर प्रोष्ठपादः भद्रपादः बन गया ॥ प्रोष्ठपदा अथवा भाद्रपदा ४ नक्षत्रों का समूह है[1]। दो पूर्वप्रोष्ठपदा अथवा पूर्वभाद्रपदा कहाते हैं, और दो उत्तरप्रोष्ठपदा अथवा उत्तरभाद्रपदा कहे जाते हैं ॥

हृद्भगसिन्ध्वन्ते पूर्वपदस्य च ॥७।३।१९॥

हृद्भगसिन्ध्वन्ते ७।१॥ पूर्वपदस्य ६।१॥ च अ० ॥ स०—हृत् च भगञ्च सिन्धुश्च हृद्भगसिन्धु, तदन्ते यस्य तद् हृद्भगसिन्ध्वन्तम्, तस्मिन्⋯द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—हृद्, भग, सिन्धु इत्येवमन्तेऽङ्गे पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाचामादेरचः

१. प्रोष्ठः=भद्रः=गौः, तस्येव पादाः सुप्राति० (५।४।१२०) इत्यनेन समासान्तः पदादेशः ।

स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च प्रत्यये परतः ।। उदा०—सुहृदयस्य भावः=सौहार्द्यम् । सुहृदयस्येदं=सौहार्दम् । सुभगस्य भावः=सौभाग्यम्, दौर्भाग्यम् । सुभगाया अपत्यं=सौभागिनेयः, दौर्भागिनेयः । सक्तुप्रधाना: सिन्धवः सक्तुसिन्धवः, सक्तुसिन्धुषु भवः=साक्तुसैन्धवः पानसैन्धवः ।।

भाषार्थः—[हृद्भगसिन्ध्वन्ते] हृद्, भग, सिन्धु ये शब्द अन्त में हैं जिन अङ्गों के, उनके [पूर्वपदस्य] पूर्वपद के [च] तथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को भी ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है ।। सौहार्द्यम् में गुणवचन० (५।१।१२३) से ष्यञ् एवं वा शोक० (६।३।४६) से हृदय को हृद् आदेश होता है । तथा सौहार्दम् में तस्येदम् (४।३।१२०) से अण् एवं हृदयस्य हृल्ले० (६।३।४८) से हृदय को हृद् आदेश होता है । सौभागिनेयः दौर्भागिनेयः में कल्याण्यादीनामिनङ् (४।१।१२६) से ढक् प्रत्यय एवं इनङ् आदेश होता है । सक्तुसिन्धवः में पहले शाकपार्थिवादीनां० (२।१।६० वा०) समास होकर पश्चात् भव अर्थ में अण् प्रत्यय होता है ।।

यहाँ से 'पूर्वपदस्य' की अनुवृत्ति ७।३।२५ तक जायेगी ।।

अनुशतिकादीनां च ।।७।३।२०।।

अनुशतिकादीनाम् ६।३।। च अ० ।। स०—अनुशतिक आदिर्येषां तेऽनुशतिकादयः, तेषाम् बहुव्रीहिः ।। अनु०—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ।। अर्थः—अनुशतिक इत्येवमादीनां चाङ्गानां पूर्वपदस्य चोत्तरपदस्य चाचामादेरचः स्थाने तद्धिते ञिति किति परतो वृद्धिर्भवति ।। उदा०—अनुशतिकस्येदम्=आनुशातिकम्, अनुहोडेन चरति=आनुहौडिकः, अनुसंवरणे दीयते=आनुसांवरणम्, आनुसांवत्सरिकः ।।

भाषार्थः—[अनुशतिकादीनाम्] अनुशतिक इत्यादि अङ्गों के पूर्वपद तथा उत्तरपद (दोनों) के अचों में आदि अच् को [च] भी ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है ।। आनुसांवरणम् में तत्र च दीयते० (५।१।९५) से भववत् अतिदेश होने से सामान्य अण् हो गया है । आनुसांवत्सरिकः में तत्र च दीयते० (५।१।९५) से भववत् अतिदेश होकर बह्वचो० (४।३।६७) से ठञ् हुआ है, शेष सुस्पष्ट ही हैं ।।

देवताद्वन्द्वे च ।।७।३।२१।।

देवताद्वन्द्वे ७।१।। च अ० ।। स०—देवतानां द्वन्द्वः देवताद्वन्द्वः, तस्मिन्... षष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो

ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ।। अर्थः—देवताद्वन्द्वे च पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ।। उदा०—आग्निवारुणी-मनडवाहीमालभेत । आग्निमारुतं कर्म । आग्निमारुतीं पृश्निमालभेत (मै० सं० २।५।७) ।।

भाषार्थः—[देवताद्वन्द्वे] देवतावाची द्वन्द्व समास में [च] भी पूर्वपद तथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है ।। ६।३।२७ सूत्र में सिद्धियाँ देखें ।।

यहाँ से 'देवताद्वन्द्वे' की अनुवृत्ति ७।३।२३ तक जायेगी ।।

नेन्द्रस्य परस्य ।।७।३।२२।।

न अ० ।। इन्द्रस्य ६।१।। परस्य ६।१।। अनु०—देवताद्वन्द्वे, किति, तद्धितेष्व-चामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ।। अर्थः—इन्द्रशब्दस्य परस्य अचामादेरचः स्थाने पूर्वेण सूत्रेण वृद्धिर्न भवति ।। उदा०—सौमेन्द्रः, आग्नेन्द्रः ।।

भाषार्थः—[परस्य] पर [इन्द्रस्य] इन्द्र शब्द के (अर्थात् समास किये हुए अङ्ग के पर=उत्तरपद में स्थित इन्द्र शब्द के) अचों में आदि अच् की पूर्व सूत्र (७।३।२१) से प्राप्त वृद्धि [न] नहीं होती ।। परे स्थित इन्द्र शब्द को निषेध करने पर तद्धितेष्वचामादेः (७।२।११७) से अङ्ग के आदि अच् की वृद्धि हो जाती है ।। देवताद्वन्द्वे च (६।३।२४) से आनङ् आदेश करके सोमा इन्द्र अण्, आद्गुणः (६।१।८४) लगकर सौमेन्द्रः बन गया । सास्य देवता (४।२।२३) से यहाँ अण् हुआ है ।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।२३ तक जायेगी ।।

दीर्घाच्च वरुणस्य ।।७।३।२३।।

दीर्घात् ५।१।। च अ० ।। वरुणस्य ६।१।। अनु०—न, देवताद्वन्द्वे, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ।। अर्थः—दीर्घादुत्तरस्य वरुणस्य यदुक्तं तन्न भवति ।। उदा०—ऐन्द्रावरुणम्, मैत्रावरुणम् ।।

भाषार्थः—[दीर्घात्] दीर्घ से उत्तर [च] भी [वरुणस्य] वरुण शब्द के अचों में आदि अच् को ७।३।२१ से प्राप्त वृद्धि नहीं होती ।। यहाँ भी उत्तरपद स्थित वरुण शब्द की वृद्धि का निषेध होने पर तद्धितेष्व० (७।२।११७) से वृद्धि हो जाती है ।। पूर्ववत् आनङ् कर लेने पर दीर्घ से उत्तर वरुण शब्द हो जायेगा ।। यहाँ भी सास्य देवता (४।२।२३) से अण् होगा ।।

प्राचां नगरान्ते ॥७।३।२४॥

प्राचाम् ६।३॥ नगरान्ते ७।१॥ स०—नगरम् अन्ते यस्य तद् नगरान्तं, तस्मिन्…बहुव्रीहिः ॥ अनु०—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—प्राचां देशे नगरान्तेऽङ्गे पूर्वपदस्योत्तरपदस्य चाचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—सुह्मनगरे भवः=सौह्मनागरः, पौण्ड्रनागरः ॥

भाषार्थः—[प्राचाम्] प्राच्य देश में [नगरान्ते] नगर अन्तवाला जो अङ्ग उसके पूर्वपद तथा उत्तरपद के अचों में आदि अच् को ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते वृद्धि होती है ॥

जङ्गलधेनुवलजान्तस्य विभाषितमुत्तरम् ॥७।३।२५॥

जङ्गल…स्य ६।१॥ विभाषितम् १।१॥ उत्तरम् १।१॥ स०—जङ्गलञ्च धेनुश्च वलजञ्च जङ्गलधेनुवलजम्, तद् अन्ते यस्य तद् जङ्गल…जान्तम्, तस्य…द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—पूर्वपदस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जङ्गल, धेनु, वलज इत्येवमन्तस्याङ्गस्य पूर्वपदस्याचामादेरचः स्थाने नित्यं वृद्धिर्भवति, उत्तरम्=उत्तरपदस्य विभाषितम् तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—कुरुजङ्गलेषु भवम् कौरुजङ्गलम्, कौरुजाङ्गलम् । वैश्वधेनवम्, वैश्वधैनवम् । सौवर्णवलजः, सौवर्णवालजः ॥

भाषार्थः—[जङ्गल…स्य] जङ्गल, धेनु तथा वलज अन्तवाले अङ्ग के पूर्वपद के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है, तथा इन अङ्गों का [उत्तरम्] उत्तरपद [विभाषितम्] विकल्प से वृद्धिवाला होता है, ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते ॥ 'उत्तरम्' से यहाँ उत्तरपद का ग्रहण है ॥

अर्धात् परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा ॥७।३।२६॥

अर्धात् ५।१॥ परिमाणस्य ६।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ तु अ० ॥ वा अ० ॥ अनु०—उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अर्धात्परस्य परिमाणवाचिन उत्तरपदस्याचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, पूर्वपदस्य तु विकल्पेन भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—अर्धद्रोणेन क्रीतम्=अर्धद्रौणिकम्, आर्धद्रौणिकम् । अर्धकौडविकम्, आर्धकौडविकम् ॥

भाषार्थः—[अर्धात्] अर्ध शब्द से उत्तर [परिमाणस्य] परिमाणवाची उत्तरपद के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है, [पूर्वस्य] पूर्वपद को [तु] तो [वा] विकल्प से होती है; ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते ॥ उदाहरणों

में अर्धं नपुंसकम् (२।२।२) से समास, तथा तेन क्रीतम् (५।१।३६) से ठञ् हुआ है ।। 'पूर्वस्य' से यहाँ पूर्वपद लिया है ।।

यहाँ से 'अर्धात् परिमाणस्य' की अनुवृत्ति ७।३।२७ तक, तथा 'पूर्वस्य' की ७।३।३१ तक, एवं 'वा तु' की ७।३।३० तक जायेगी ।।

नातः परस्य ।।७।३।२७।।

न अ० ।। अतः ६।१।। परस्य ६।१।। अनु०—अर्धात् परिमाणस्य पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ।। अर्थः—अर्धात् परस्य परिमाणवाचिनोऽकारस्य वृद्धिर्न भवति, पूर्वपदस्य तु वा भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ।। उदा०—अर्धप्रस्थिकः, आर्धप्रस्थिकः । अर्धकंसिकः, आर्धकंसिकः ।।

भाषार्थः—अर्ध शब्द से [परस्य] परे परिमाणवाची शब्द के अचों में आदि [अतः] अकार को वृद्धि [न] नहीं होती, पूर्वपद को तो विकल्प से होती है; ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते ।। पूर्ववत् उदाहरणों में समास एवं प्रत्यय जानें ।।

प्रवाहणस्य ढे ।।७।३।२८।।

प्रवाहणस्य ६।१।। ढे ७।१।। अनु०—पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, तद्धितेष्वचामादेः, अचः, वृद्धिः, अङ्गस्य ।। अर्थः—प्रवाहणस्याङ्गस्य ढे तद्धिते परत उत्तरपदस्याचामादेरचो नित्यं वृद्धिर्भवति, पूर्वपदस्य तु वा भवति ।। उदा०—प्रवाहणस्यापत्यं प्रावाहणेयः, प्रवाहणेयः ।।

भाषार्थः—[प्रवाहणस्य] प्रवाहण अङ्ग के उत्तरपद के अचों में आदि अच् को नित्य वृद्धि होती है, पूर्वपद को तो विकल्प से होती है, [ढे] ढ तद्धित प्रत्यय परे रहते ।। प्रपूर्वक णिजन्त 'वह' धातु से कृत्यल्युटो बहुलम् (३।३।११३) से कर्ता में ल्युट् होकर प्रवाहण शब्द बना है । प्रादि समास एवं णेर्विभाषा (८।४।३१) से णत्व भी यहाँ होता है । पश्चात् शुभ्रादिभ्यश्च (४।१।१२३) से ढक् प्रत्यय होकर प्रावाहणेयः-प्रवाहणेयः बन गया ।।

यहाँ से 'प्रवाहणस्य' की अनुवृत्ति ७।३।२९ तक जायेगी ।।

तत्प्रत्ययस्य च ।।७।३।२९।।

तत्प्रत्ययस्य ६।१।। च अ० ।। स०—स प्रत्ययो यस्मात् स तत्प्रत्ययः, तस्य ... बहुव्रीहिः ।। अनु०—प्रवाहणस्य, पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ।। अर्थः—ढक्प्रत्ययान्तस्य प्रवाहणाङ्गस्योत्तरपदस्या-

चामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, पूर्वपदस्य तु वा भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—प्रवाहणेयस्यापत्यम् = प्रावाहणेयिः, प्रवाहणेयिः । प्रावाहणेयकम्, प्रवाहणेयकम् ॥

भावार्थः—[तत्प्रत्ययस्य] तत् = ढक्प्रत्ययान्त प्रवाहण अङ्ग के उत्तरपद के अचों में आदि अच् को [च] भी वृद्धि होती है, पूर्वपद को तो विकल्प से होती है, ञित् णित् कित् तद्धित परे रहते ॥ तत् पद से यहाँ प्रकरणस्थ 'ढक्' का ग्रहण है ॥ प्रवाहणेय ढक्प्रत्ययान्त शब्द से युवापत्य में अत इञ् (४।१।९५) से इञ् होकर प्रावाहणेयिः आदि बना है । प्रावाहणेयकम् आदि में गोत्रचरणाद् वुञ् (४।३।१२६) से वुञ् होता है ॥

नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम् ॥७।३।३०॥

नञः ५।१॥ शुची॰॰नाम् ६।३॥ स०—शुची० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पूर्वस्य तु वा, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—नञ उत्तरेषां शुचि, ईश्वर, क्षेत्रज्ञ, कुशल, निपुण इत्येतेषामचामादेरचः स्थाने वृद्धिर्भवति, पूर्वपदस्य तु वा भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥ उदा०—शुचि = आशौचम्, अशौचम् । ईश्वर—आनैश्वर्यम्, अनैश्वर्यम् । क्षेत्रज्ञ—आक्षैत्रज्ञ्यम्, अक्षैत्रज्ञ्यम् । कुशल—आकौशलम्, अकौशलम् । निपुण—आनैपुणम्, अनैपुणम् ॥

भावार्थः—[नञः] नञ् से उत्तर [शुची॰॰नाम्] शुचि, ईश्वर, क्षेत्रज्ञ, कुशल, निपुण इन शब्दों के अचों में आदि अच् को वृद्धि होती है, तथा पूर्वपद को विकल्प से होती है, ञित् णित् तथा कित् तद्धित परे रहते ॥ नास्य शुचयो विद्यन्ते = अशुचिः, ऐसा विग्रह करके पश्चात् इगन्ताच्च० (५।१।१३०) से अण् प्रत्यय करके आशौचम्, अशौचम् बना । अनीश्वर तथा अक्षेत्रज्ञ शब्द नञ्तत्पुरुष समास करके ब्राह्मणादि गण में पठित हैं । अतः इनसे गुणवचन० (५।१।१२३) से ष्यञ् हुआ है । आकौशलम्, आनैपुणम् आदि में तस्येदम् (४।३।१२०) से अण् हुआ है ॥

यहाँ से 'नञः' की अनुवृत्ति ७।३।३१ तक जायेगी ॥

यथातथयथापुरयोः पर्यायेण ॥७।३।३१॥

यथातथयथापुरयोः ६।२॥ पर्यायेण ३।१॥ स०—यथातथ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नञः, पूर्वस्य, उत्तरपदस्य, किति, तद्धितेष्वचामादेः, अचो ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—नञ उत्तरयोः यथातथ यथापुर इत्येतयोरङ्गयोः पूर्वपदस्योत्तर-

पदस्याचामादेरचः स्थाने पर्यायेण वृद्धिर्भवति, तद्धिते ञिति णिति किति च परतः ॥
उदा०—आयथातथ्यम्, अयाथातथ्यम् । आयथापुर्यम्, अयाथापुर्यम् ॥

भाषार्थः—नञ् से उत्तर [यथातथयथापुरयोः] यथातथ तथा यथापुर अङ्गों के पूर्वपद एवं उत्तरपद के अचों में आदि अच् को [पर्यायेण] पर्याय से वृद्धि होती है, ञित णित तथा कित तद्धित परे रहते ॥ नञ्समास किये हुये अयथातथ तथा अयथापुर शब्द ब्राह्मणादि गण में पढ़े हुये मानना चाहिये। सो पूर्ववत् ष्यञ् प्रत्यय हो गया है । पर्याय कथन से एक बार नञ् को तथा एक बार 'य' के 'अ' को वृद्धि हुई है ॥

हनस्तोऽचिण्णलोः ॥७।३।३२॥

हनः ६।१॥ तः १।१॥ अचिण्णलोः ७।२॥ स०—चिण् च णल् च चिण्णलौ, इतरेतरद्वन्द्वः । न चिण्णलौ अचिण्णलौ, तयोः नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—ञ्णिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—हनस्तकारादेशो भवति, ञिति णिति च परतः, चिण्णलौ वर्जयित्वा ॥
उदा०—घातयति । घातकः । साधुघाती । घातंघातं वर्त्तते । घातो वर्त्तते ॥

भाषार्थः—[हनः] हन् अङ्ग को [तः] तकारादेश [अचिण्णलोः] चिण् तथा णल् प्रत्ययों को छोड़कर ञित् णित् प्रत्यय परे रहते होता है ॥ चिण् णल् प्रत्यय णित् हैं, अतः तकारादेश इनके परे प्राप्त था, निषेध कर दिया ॥ अन्त्य अल् (१।१।५१ से) न् को त् होता है ॥ घातयति णिजन्त में बना है । हो हन्तेर्ञि० (७।३।५४) से ह् को घ् सर्वत्र हुआ है । शेष अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि आदि हो ही जायेगी । घातकः में ण्वुल्, तथा घातंघातम् में आभीक्ष्ण्ये णमुल् च (३।४।२२) से णमुल् एवं घातः में घञ् हुआ है । आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः (८।१।१२ वा०) से घातंघातम् में द्वित्व हुआ है ॥

आतो युक् चिण्कृतोः ॥७।३।३३॥

आतः ६।१॥ युक् १।१॥ चिण्कृतोः ७।२॥ स०—चिण० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—ञ्णिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आकारान्तस्याङ्गस्य चिणि कृति ञ्णिति च प्रत्यये परतो युक् आगमो भवति ॥ उदा०—चिणि—अदायि, अधायि । ञ्णिति कृति—दायः, दायकः । धायः, धायकः ॥

भाषार्थः—[आतः] आकारान्त अङ्ग को [चिण्कृतोः] चिण् तथा ञित् णित् कृत् प्रत्यय परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ चिण्भाव० (३।१।

---

१. ब्राह्मणादि गण आकृतिगण है ॥

५६) से चिण् होकर अट् वा युक् इ=अदायि बना। दायः में घञ्, तथा दायकः में ण्वुल् हुआ है। आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से अङ्ग के अन्त में युक् बैठेगा ॥

यहाँ से 'चिण्कृतोः' की अनुवृत्ति ७।३।३५ तक जायेगी ॥

नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः ॥७।३।३४॥

न अ० ॥ उदात्तोपदेशस्य ६।१॥ मान्तस्य ६।१॥ अनाचमेः ६।१॥ स०—उपदेशे उदात्तः उदात्तोपदेशः, तस्य ···सप्तमीतत्पुरुषः। मोऽन्ते यस्य स मान्तः, तस्य ···बहुव्रीहिः। न आचमिः अनाचमिः, तस्य ···नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—चिण्कृतोः, ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ **अर्थः**—उदात्तोपदेशस्य मकारान्तस्याङ्गस्याचमिवर्जितस्य चिणि कृति ञ्णिति च यदुक्तं तन्न भवति ॥ **उदा०**—अशमि, अतमि, अदमि। कृति ञ्णिति—शमकः, तमकः, दमकः। शमः, तमः, दमः ॥

भाषार्थः—[उदात्तोपदेशस्य] उपदेश में जो उदात्त, तथा [मान्तस्य] मकारान्त धातु उनको चिण् तथा ञित् णित् कृत् (३।१।९३) परे रहते जो कहा गया, वह [न] नहीं होता, [अनाचमेः] आङ्पूर्वक चम् धातु को छोड़कर॥ उदाहरणों में अत उपधायाः (७।२।११६) से प्राप्त वृद्धि का प्रतिषेध हुआ है ॥ शमः, दमः, तमः में घञ् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।३५ तक जायेगी ॥

जनिवध्योश्च ॥७।३।३५॥

जनिवध्योः ६।२॥ च अ० ॥ स०—जनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, चिण्कृतोः, ञ्णिति, वृद्धिः, अङ्गस्य ॥ **अर्थः**—जनि वधि इत्येतयोश्चिणि कृति ञ्णिति च यदुक्तं तन्न भवति ॥ **उदा०**—अजनि, अवधि। कृति ञ्णिति—जनकः, प्रजनः। वधकः, वधः ॥

भाषार्थः—[जनिवध्योः] जन तथा वध अङ्ग को [च] चिण् तथा ञित् णित् कृत् परे रहते जो कहा गया, वह नहीं होता ॥ प्रजनः वधः में घञ् हुआ है॥ पूर्ववत् अत उपधायाः (७।२।११६) की प्राप्ति में निषेध है ॥ वध हिंसायाम् जो भ्वादिगण में पढ़ी है, उसका यहाँ ग्रहण है, न कि हन् को जो वध आदेश होता है उसका ॥

अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुग्णौ ॥७।३।३६॥

अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्याताम् ६।३॥ पुक् १।१॥ णौ ७।१॥ स०—अर्ति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ **अर्थः**—ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी, इत्येतेषामाकारान्तानाञ्चाङ्गानां पुक् आगमो भवति णौ परतः ॥ **उदा०**—ऋ—

अर्पयति । ह्री—ह्रेपयति । व्ली—व्लेपयति । री—रेपयति । क्नूयी—क्नोपयति ।
क्ष्मायी—क्ष्मापयति । आकारान्तानाम्—दापयति, धापयति ॥

भाषार्थः—[अर्त्ति···यातांम्] ऋ, ह्री, व्ली, री, क्नूयी, क्ष्मायी अङ्ग को तथा आकारान्त अङ्ग को [णौ] णिच् परे रहते [पुक्] पुक् आगम होता है ॥ सिद्धियों में कुछ भी विशेष नहीं है । ऋ पुक् णिच्=अर् प् इ शप् तिप्=अर्प अ ति=अर्पयति बन गया ॥

यहाँ से 'णौ' की अनुवृत्ति ७।३।४३ तक जायेगी ॥

शाच्छासाह्वाव्यावेपां युक् ॥७।३।३७॥

शाच्छासाह्वाव्यावेपाम् ६।३॥ युक् १।१॥ स०—शाच्छा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—णौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—शो तनूकरणे, छो छेदने, षोऽन्तकर्मणि, ह्वेञ् स्पर्द्धायाम्, व्येञ् संवरणे, वेञ् तन्तुसन्ताने, पा पाने, पै शोषणे (द्वयोरपि ग्रहणम्) इत्येतेषामङ्गानां युगागमो भवति णौ परतः ॥ उदा०—निशाययति । अवच्छाययति । अवसाययति । ह्वाययति । संव्याययति । वाययति । पाययति ॥

भाषार्थः—[शाच्छा···वेपाम्] शो, छो, षो, ह्वेञ्, व्येञ्, वेञ्, पा इन अङ्गों को णि परे रहते [युक्] युक् आगम होता है ॥ शो आदि को आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व, तथा षो के ष् को स् धात्वादेः० (६।१।६२) से हुआ है । अवच्छाययति में छ से पूर्व तुक् आगम (६।१।७१ से), तथा श्चुत्व हुआ है ॥ सभी धातुओं के आकारान्त हो जाने से पूर्वसूत्र से पुक् आगम प्राप्त था, युक् कह दिया है ॥

वो विधूनने जुक् ॥७।३।३८॥

वः ६।१॥ विधूनने ७।१॥ जुक् १।१॥ अनु०—णौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—विधूननेऽर्थे वर्त्तमानस्य वा इत्येतस्य जुगागमो भवति णौ परतः ॥ उदा०—पक्षेणोपवाजयति ॥

भाषार्थः—[विधूनने] विधूनन (=कंपाना) अर्थ में वर्त्तमान [वः] वा धातु को णि परे रहते [जुक्] जुक् आगम होता है ॥ पुक् आगम प्राप्त था, तदपवाद है ॥

लीलोर्नुग्लुकावन्यतरस्यां स्नेहविपातने ॥७।३।३९॥

लीलोः ६।२॥ नुग्लुकौ १।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स्नेहविपातने ७।१॥स०—लीलोः, नुग्लुकौ उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः । स्नेहस्य विपातनं स्नेहविपातनं=द्रवत्वापादनं, तस्मिन्·· षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—णौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ली ला इत्येतयोरङ्गयो-

विकल्पेन स्नेहविपातनेऽर्थे यथासंख्यं नुक् लुक् इत्येतावागमौ भवतो णौ परतः ॥
उदा०—घृतं विलीनयति, विलाययति । ला—विलालयति, विलापयति ॥

भाषार्थः—[लीलोः] ली तथा ला अङ्ग को [स्नेहविपातने] स्नेह (=घृतादि पदार्थ) के विपातन=पिघलना अर्थ में णि परे रहते [अन्यतरस्याम्] विकल्प से क्रमशः [नुग्लुकौ] नुक् तथा लुक् आगम होता है ॥ विलीनयति में नुक् आगम, तथा पक्ष में विलाययति में नुक् नहीं हुआ । वि ली इ=वि लै इ=विलायि शप् तिप्=विलाये अ ति=विलाययति । विभाषा लीयतेः (६।१।५०) से पक्ष में आत्व तथा लुक् आगम होकर विलालयति बना । पुनः इसी सूत्र से पक्ष में लुक् विकल्प होने से पुक् आगम होकर विलापयति बना। ली में ईकार प्रश्लिष्ट निर्दिष्ट है, अतः अर्थ होगा कि ईकारान्त ली को ही नुक् हो, विभाषा लीयतेः (६।१।५०) से आत्व कर लेने पर नहीं। इसीलिये आत्व पक्ष में नुक् का उदाहरण नहीं दिखाया। ली से यहां लीङ् श्लेषणे तथा ली श्लेषणे, दोनों का ही ग्रहण है । ला से यहां 'ला आदाने' और ली को जब पक्ष में आत्व हो जाता है, उन दोनों का ग्रहण है । ला को लुक् तथा पक्ष में पुक् आगम होकर विलापयति, विलालयति रूप बनता है ॥

भियो हेतुभये षुक् ॥७।३।४०॥

भियः ६।१॥ हेतुभये ७।१॥ षुक् १।१॥ स०—हेतोर्भयं हेतुभयम्, तस्मिन् षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—णौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भी इत्येतस्य हेतुभयेऽर्थे षुगागमो भवति णौ परतः ॥ उदा०—मुण्डो भीषयते, जटिलो भीषयते ॥

भाषार्थः—[भियः] 'ञिभी भये' अङ्ग को [हेतुभये] हेतुभय अर्थ में णि परे रहते [षुक्] आगम होता है ॥ स्वतन्त्र कर्त्ता के प्रयोजक (१।४।५५) को हेतु कहते हैं, उससे जो भय वह हेतुभय कहायेगा । 'भी' में ईकार का प्रश्लेष माना जाता है । इससे ईकारान्त भी को ही षुक् का आगम होगा । आकारान्त भापयते (बिभेतेर्हेतुभये ६।१।५५) में पुक् ही होगा ॥ सिद्धि परि० १।१।४५ में देखें ॥

स्फायो वः ॥७।३।४१॥

स्फायः ६।१॥ वः १।१॥ अनु०—णौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—स्फाय् इत्येतस्याङ्गस्य वकारादेशो भवति णौ परतः ॥ उदा०—स्फावयति ॥

भाषार्थः—[स्फायः] 'स्फायी वृद्धौ' अङ्ग को णि परे रहते [वः] वकारादेश होता है ॥ स्फायी णिच्=स्फाय् इ=अन्त्य अल् य् को व् होकर स्फाव् इ=स्फावयति बन गया ॥

शदेरगतौ तः ॥७।३।४२॥

शदेः ६।१॥ अगतौ ७।१॥ तः १।१॥ स०—न गतिरगतिः, तस्मिन् नञ्-

तत्पुरुषः ॥ अनु०—णौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अगतावर्थे वर्त्तमानस्य शदेरङ्गस्य तकारादेशो भवति णौ परतः ॥ उदा०—पुष्पाणि शातयति ॥

भाषार्थः—[अगतौ] अगति अर्थ में वर्त्तमान [शदेः] शद्लृ शातने अङ्ग को [तः] तकारादेश होता है, णि परे रहते ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को तकारादेश होगा ॥

रुहः पोऽन्यतरस्याम् ॥७।३।४३॥

रुहः ६।१॥ पः १।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—णौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—रुह् इत्येतस्याङ्गस्य पकारादेशो भवति विकल्पेन णौ परतः ॥ उदा०—व्रीहीन् रोपयति । पक्षे—रोहयति ॥

भाषार्थः—[रुहः] रुह् अङ्ग को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से णि परे रहते [पः] पकारादेश होता है ॥

प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ॥७।३।४४॥

प्रत्ययस्थात् ५।१॥ कात् ५।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ अतः ६।१॥ इत् १।१॥ आपि ७।१॥ असुपः ५।१॥ स०—प्रत्यये तिष्ठतीति प्रत्ययस्थः, तस्मात् ... उपपदतत्पुरुषः । न सुप् असुप् तस्मात् ... नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—प्रत्ययस्थात् ककारात् पूर्वस्याकारस्य स्थाने इकारादेशो भवति आपि परतः, स चेदाप् सुपः परो न भवति ॥ उदा०—जटिलिका, मुण्डिका, कारिका, हारिका, एतिकाश्चरन्ति ॥

भाषार्थः—[प्रत्ययस्थात्] प्रत्यय में स्थित [कात्] ककार से [पूर्वस्य] पूर्व [अतः] अकार के स्थान में [इत्] इकारादेश होता है, [आपि] आप् (टाप्, डाप्, चाप्) परे रहते, यदि वह आप् [असुपः] सुप् से उत्तर न हो तो ॥ जटिलिका मुण्डिका में जटिला मुण्डा शब्द से प्रागिवात्कः (५।३।७०) से क प्रत्यय, एवं केऽणः (७।४।१३) से ह्रस्वत्व हुआ है । कारिका, हारिका में ण्वुल् तथा एतिकाः में एतद् शब्द से अव्ययसर्व० (५।३।७१) से अकच् हुआ है । सर्वत्र ककार से पूर्व 'अ' को इत्व हुआ है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।३।४९ तक जायेगी ॥

न यासयोः ॥७।३।४५॥

न अ० ॥ यासयोः ६।२॥ स०—या० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ॥ अर्थः—प्रत्ययस्थात् ककारात् पूर्वस्य या सा इत्येतयोरकारस्य स्थाने इकारादेशो न भवति ॥ पूर्वेण प्राप्तिः प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—यका, सका । यकां यकामधीमहे, तकां तकां पचामहे ॥

भावार्थ:—प्रत्यय में स्थित ककार से पूर्व [यासयो:] या तथा सा के अकार के स्थान में इकारादेश [न] नहीं होता ॥ यद् तद् शब्द से स्त्रीलिङ्ग में टाप् एवं त्यदाद्यत्व करके या सा बना है, जो कि सूत्र में निर्दिष्ट है, अतः इन्हीं या, सा शब्दों से अव्ययसर्व० (५।३।७१) से टि भाग से पहले अकच् होकर य् अकच् आ =यका सका बना । यका सका में प्रत्ययस्थात्० (७।३।४४) से नित्य इत्व प्राप्त था, सो प्रकृतसूत्र से निषेध हो गया ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।४८ तक जायेगी ॥

उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः ॥७।३।४६॥

उदीचाम् ६।३॥ आतः ६।१॥ स्थाने ७।१॥ यकपूर्वायाः ६।१॥ स०—यश्च कश्च यकौ, तौ पूर्वौ यस्याः (=आतः) सा यकपूर्वा, तस्याः⋯द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—न, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात् इदाप्यसुपः ॥ अर्थः—यकारपूर्वायाः ककारपूर्वायाश्चातःस्थाने योऽकारस्तस्य प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्य स्थाने इकारादेशो न भवति, उदीचामाचार्याणां मतेन ॥ उदा०—यकारपूर्वायाः—इभ्यका, इभ्यिका । क्षत्रियका, क्षत्रियिका । ककारपूर्वायाः—चटकका, चटकिका । मूषिकका, मूषिकिका ॥

भाषार्थ:—[यकपूर्वायाः] यकार तथा ककार पूर्व में हैं जिस आकार से [आतः] उस आकार के [स्थाने] स्थान में जो प्रत्ययस्थित ककार से पूर्व अकार उसके स्थान में इकारादेश [उदीचाम्] उदीच्य आचार्यों के मत में नहीं होता है ॥ उदीच्य कहने से पाणिनि मुनि के मत में इत्व होकर दो पक्ष बनेंगे ॥ इभ्या क्षत्रिया आदि सुबन्त शब्दों से अज्ञातादि अर्थों में क प्रत्यय हुआ है । केऽणः (७।४।१३) से क परे रहते 'आ' को ह्रस्व हो गया तो, इभ्यका, क्षत्रियका आदि बना । अब यहाँ आकार जिसके स्थान में ह्रस्व अकार हुआ है, वह यकार एवं ककार पूर्ववाला तथा प्रत्ययस्थित ककार से पूर्ववाला भी है, सो प्रत्ययस्थात० से नित्य इत्व प्राप्त था, प्रकृतसूत्र से विकल्प से हो गया ॥

यहाँ से 'उदीचाम्' की अनुवृत्ति ७।३।४८ तक, तथा 'आतः' की ७।३।४९ तक जायेगी ॥

भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वा नञ्पूर्वाणामपि ॥७।३।४७॥

भस्त्रैषाजाज्ञाद्वास्वाः १।३॥ षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ नञ्पूर्वाणाम् ६।३॥ अपि अ०॥ स०—भस्त्रै० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । नञ् पूर्वो येषां ते नञ्पूर्वाः, तेषां⋯बहुव्रीहिः ॥ अनु०—न, उदीचाम् आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः ॥ अर्थः—भस्त्रा, एषा, अजा, ज्ञा, द्वा, स्वा इत्येतेषां नञ्पूर्वाणामपि आतः स्थाने योऽकारस्तस्य

उदीचामाचार्याणां मतेन इत्वं न भवति ॥ उदा०—भस्त्रा—भस्त्रका, भस्त्रिका । नञ्पूर्वाणामपि—अविद्यमाना भस्त्रा यस्याः सा अभस्त्रा=अभस्त्रका, अभस्त्रिका । एषा—एषका, एषिका । अजा—अजका, अजिका । अनजका, अनजिका । ज्ञा—ज्ञका, ज्ञिका । अज्ञका, अज्ञिका । द्वा—द्वके, द्विके । स्वा—स्वका, स्विका । अस्वका, अस्विका ॥

भाषार्थः—[भस्त्रै···स्वाः] भस्त्रा, एषा, अजा, ज्ञा, द्वा, स्वा ये शब्द [नञ्पूर्वाणाम्] नञ् पूर्ववाले हों तो [अपि] भी (न हों तो भी) इनके आकार के स्थान में जो अकार उसको उदीच्य आचार्यों के मत में इत्व नहीं होता है ॥ पूर्ववत् यहाँ भी उदीच्य ग्रहण से दो रूप बनेंगे ॥ नञ्पूर्वक एषा तथा द्व में सुबन्त से उत्तर होने से इत्व की प्राप्ति न होने से एक ही रूप बनता है । 'एषा द्व' से अकच् हुआ है । द्व अकच् इ=द्वकि औ, त्यदादी० (७।२।१०२) से अकार, टाप् तथा शी भाव होकर द्वके रूप बना है ॥ स्व शब्द जब सर्वनाम होता है, तब उसमें भी उपयुक्त हेतु से कोई विशेषता नहीं होती, किन्तु ज्ञाति और धन अर्थ में सर्वनाम संज्ञा न होने से नञ्पूर्वक अस्वका अस्विका प्रयोग होते हैं । भस्त्रका आदि में प्रागिवात्कः (५।३।७०) अधिकार में अल्पे (५।३।८५) से क हुआ है, तथा पूर्ववत् ह्रस्वत्व भी जानें ॥

यहाँ से 'नञ्पूर्वाणामपि' की अनुवृत्ति ७।३।४९ तक जायेगी ॥

अभाषितपुंस्काच्च ॥७।३।४८॥

अभाषितपुंस्कात् ५।१॥ च अ० ॥ स०—भाषितः पुमान् येन (यस्मिन्नर्थे) स भाषितपुंस्कः, न भाषितपुंस्कोऽभाषितपुंस्कः, तस्मात् बहुव्रीहिगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—न, नञ्पूर्वाणामपि, उदीचाम् आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदापि ॥ अर्थः—नञ्पूर्वाद् अनञ्पूर्वाच्च अभाषितपुंस्काद् विहितस्य आतः स्थाने योऽकारः प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्तस्योदीचामाचार्याणां मतेन इकारादेशो न भवति ॥ उदा०—खट्वका, खट्विका । अखट्वका, अखट्विका । परमखट्वका, परमखट्विका ॥

भाषार्थः—[अभाषितपुंस्कात्] अभाषितपुंस्क शब्द से विहित, प्रत्ययस्थित ककार से पूर्व, आकार के स्थान में जो अकार उसको नञ्पूर्व होने पर [च] और अनञ्पूर्व होने पर भी उदीच्य आचार्यों के मत में इकारादेश नहीं होता है ॥ पूर्ववत् यहाँ भी विकल्प जानें ॥ खट्वा शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग है, अतः अभाषितपुंस्क है । अखट्विका आदि में नञ् समास तथा परमखट्विका आदि में सन्महत्परमो० (२।१।६०) से कर्मधारय समास हुआ है । पूर्ववत् क प्रत्यय तथा केऽणः (७।

४।१३) से ह्रस्वत्व हुआ जाने। विहित विशेषण मानने का फल यह है कि बहुव्रीहि समास में कप् पक्ष में अखट्वका शब्द सिद्ध हो जाता है ॥

यहाँ से 'अभाषितपुंस्कात्' की अनुवृत्ति ७।३।४९ तक जायेगी ॥

आदाचार्याणाम् ॥७।३।४९॥

आत् १।१॥ आचार्याणाम् ६।३॥ अनु०—अभाषितपुंस्कात्, नञ्पूर्वाणामपि, आतः स्थाने, प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात ओपि ॥ अर्थः—अभाषितपुंस्काद नञ्पूर्वादपि शब्दाभनञ्पूर्वाच्चात: स्थाने योऽकारस्तस्याचार्याणां मतेनाकारादेशो भवति ॥ उदा०—खट्वाका, अखट्वाका, परमखट्वाका ॥

भाषार्थः—अभाषितपुंस्क से विहित, प्रत्ययस्थित ककार से पूर्व आकार के स्थान में जो अकार उसको नञ्पूर्व और अनञ्पूर्व रहते हुये भी [आचार्याणाम्] आचार्यों (=उदीच्य आचार्य से अन्य) के मत में [आत्] आकारादेश होता है ॥ पूर्ववत् ह्रस्वत्व कर लेने पर इत्व पूर्व सूत्र से प्राप्त था, तदपवाद आत्व विधान कर दिया । इस प्रकार अभाषितपुंस्क शब्द में तीन रूप बनते हैं ॥

ठस्येकः ॥७।३।५०॥

ठस्य ६।१॥ इकः १।१॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—अङ्गस्य निमित्तं यष्ठस्तस्य इक इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—प्राग्वहतेष्ठक्—आक्षिकः, शालाकिकः । लवणाट्ठञ्—लावणिकः ॥

भाषार्थः—अङ्ग के निमित्त (जिसके कारण अङ्ग-संज्ञा हुई हो, ऐसे) [ठस्य] ठ को [इकः] इक आदेश होता है ॥

यहाँ से 'ठस्य' की अनुवृत्ति ७।३।५१ तक जायेगी ॥

इसुसुक्तान्तात् कः ॥७।३।५१॥

इसुसुक्तान्तात् ५।१॥ कः १।१॥ स०—इस् च उस् च उक् च तश्च इसुसुक्तम् । इसुसुक्तमन्ते यस्य स इसुसुक्तान्तः, तस्मात् द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—ठस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इसन्तात्, उसन्तात्, उगन्तात्, तकारान्तात् चाङ्गादुत्तरस्य ठस्य स्थाने क इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—इसन्तात्—सार्पिष्कः । उसन्तात्—धानुष्कः, याजुष्कः । उगन्तात्—नैषादकर्षुकः, शाबरजम्बुकः, मातृकम्, पैतृकम् । तान्तात्—औदश्वित्कः, शाकृत्कः, याकृत्कः ॥

भाषार्थः—[इसुसुक्तान्तात्] इसन्त, उसन्त, उगन्त तथा तकारान्त अङ्ग से उत्तर ठ के स्थान में [कः] क आदेश होता है ॥ सर्पिस् शब्द से सार्पिष्कः में तदस्य पण्यम् (४।४।५१) से ठक् हुआ है। स् को रुत्व-विसर्जनीय होकर 'सर्पिः कः'

रहा । इणः षः (८।४।३९) से विसर्जनीय को षत्व होकर सार्पिष्कः बना । इसी प्रकार धनुस् शब्द से धानुष्कः तथा याजुष्कः में जानें । यहाँ तेन दीव्यति-खनति० (४।४।२) से ठक् प्रत्यय हुआ है । निषादकर्षू शब्द से नैषादकर्षुकः में प्रोर्देशे ठञ् (४।२।११८) से ठञ् तथा केऽणः (७।४।१३) से ह्रस्वत्व होता है । मातृकम्, पैतृकम् में ऋतष्ठञ् (४।३।७८) से ठञ् प्रत्यय तथा औदश्वितकः में उदश्वितो० (४।२।१९) से ठक् हुआ है । शाकुत्कः आदि में संसृष्टे (४।४।२२) से ठक् हुआ है ॥

चजोः कु घिण्ण्यतोः ॥७।३।५२॥

चजोः ६।२॥ कु १।१॥ घिण्ण्यतोः ७।२॥ स०—चश्च जश्च चजौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः । घ् इत् यस्य स घित्, बहुव्रीहिः । घित् च ण्यत् च घिण्ण्यतौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अर्थः—चकारजकारयोः स्थाने कवर्गादेशो भवति घिति ण्यति च प्रत्यये परतः ॥ उदा०—घिति—पाकः, त्यागः, रागः । ण्यति—पाक्यम्, वाक्यम्, रेक्यम् ॥

भाषार्थः—[चजोः] चकार तथा जकार के स्थान में [कु] कवर्ग आदेश होता है, [घिण्ण्यतोः] घित् तथा ण्यत् प्रत्यय परे रहते ॥ सिद्धियाँ परि० १।१।१ में देखें । ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् प्रत्यय होता है ॥

यहाँ से 'चजोः कु' की अनुवृत्ति ७।३।६९ तक जायेगी ॥

न्यङ्क्वादीनां च ॥७।३।५३॥

न्यङ्क्वादीनाम् ६।३॥ च अ०॥ स०—न्यङ्कुः आदिर्येषां ते न्यङ्क्वादयः, तेषां बहुव्रीहिः ॥ अनु०—चजोः कु ॥ अर्थः—न्यङ्कु इत्येवमादीनां कवर्गादेशो भवति ॥ उदा०—न्यङ्कुः, मद्गुः, भृगुः ॥

भाषार्थः—[न्यङ्क्वादीनाम्] न्यङ्कु आदि गणपठित शब्दों के चकार-जकार को [च] भी कवर्ग आदेश होता है ॥ नि पूर्वक अञ्चु से नावञ्चेः (उणा० १।१७) से उ प्रत्यय हुआ है । न्यञ्च् उ = न्यञ्चु = च् को क् होकर न्यङ्कुः (= ञ् को परसवर्णादि ८।४।५७ होकर) बन गया । मद्गुः में टुमस्जो धातु से भृमृशी० (उणा० १।७) से 'उ' हुआ है । झलां जश्० (८।४।५२) से स् को द् हो जायेगा । भृगु यहाँ भ्रस्ज पाके से प्रथिम्रदि० (उणा० १।२८) से उ प्रत्यय तथा सम्प्रसारण एवं सलोप हुआ है । सर्वत्र यहाँ कुत्व हो गया है ॥

हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु ॥७।३।५४॥

हः ६।१॥ हन्तेः ६।१॥ ञ्णिन्नेषु ७।३॥ स०—ञ्च णश्च ञ्णौ, ञ्णौ इतौ

येषां ते ञ्णितः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः। ञ्णितश्च नश्च, ञ्णिन्नाः, तेषु, इतरेतरद्वन्द्वः ।।
अनु०—कु, अङ्गस्य ।। अर्थः—हन्तेर्हकारस्य स्थाने कवर्गादेशो भवति, ञिति णिति प्रत्यये परतो नकारे च ।। उदा०—ञिति—घातो वर्त्तते । णिति—घातयति, घातकः, साधुघाती, घातंघातम् । नकारे—घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन् ।।

भाषार्थः—[हन्तेः] हन् धातु के [हः] हकार के स्थान में कवर्गादेश होता है [ञ्णिन्नेषु] ञित् णित् प्रत्यय तथा नकार परे रहते । सिद्धियाँ ७।३। ३२ सूत्र में देखें ।। घ्नन्ति इत्यादि में ह के अ का लोप गमहनजन० (६।४।९८) से होता है । घ्नन्तु लोट् तथा अघ्नन् लङ् प्रथमपुरुष बहुवचन का रूप है । आन्तर्य से यहाँ सर्वत्र ह को घ् ही कुत्व होता है ।।

यहाँ से 'हः' की अनुवृत्ति ७।३।५६ तक, तथा 'हन्तेः' की अनुवृत्ति ७।३।५५ तक जायेगी ।।

अभ्यासाच्च ।।७।३।५५।।

अभ्यासात् ५।१।। च अ० ।। अनु०—हो हन्तेः, कु, अङ्गस्य ।। अर्थः—अभ्यासादुत्तरस्य हन्तेर्हकारस्य कवर्गादेशो भवति ।। उदा०—जिघांसति, जङ्घन्यते, अहं जघन ।।

भाषार्थः—[अभ्यासात्] अभ्यास से उत्तर [च] भी हन् धातु के हकार को कवर्गादेश होता है । जिघांसति में अज्झनगमां सनि (६।४।१६) से दीर्घ तथा कुहोश्चुः (७।४।६२) से अभ्यास को चुत्व 'झ' एवं अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से जश्त्व 'ज' होता है । जङ्घन्यते यङन्त का रूप है । नुगतोऽनुनासि० (७।४।८५) से यहाँ अभ्यास को नुक् आगम होता है । शेष पूर्ववत् है । 'जघन' यह लिट् उत्तम पुरुष का अणित् (७।१।९१) पक्ष का रूप है ।। णित् पक्ष में तो पूर्वसूत्र से ही णित् परे मानकर हो जाता, अतः अणित् पक्ष का उदाहरण दिया है ।।

यहाँ से 'अभ्यासात्' की अनुवृत्ति ७।३।५८ तक जायेगी ।।

हेरचङि ।।७।३।५६।।

हेः ६।१।। अचङि ७।१।। स०—न चङ् अचङ्, तस्मिन् ... नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—अभ्यासात्, हः, कु, अङ्गस्य ।। अर्थः—अभ्यासादुत्तरस्य हिनोतेर्हकारस्य कवर्गादेशो भवति, अचङि परतः ।। उदा०—प्रजिघीषति, प्रजेघीयते, प्रजिघाय ।।

भाषार्थः—अभ्यास से उत्तर [हेः] हि गतौ धातु के हकार को कवर्गादेश होता है, [अचङि] चङ् परे न हो तो ।। प्रजिघीषति में एकाच उप० (७।२।

१०) से इट् निषेध तथा इको झल् (१।२।६) से कित् होने से गुण निषेध, एवं अज्झनगमां सनि (६।४।१६) से दीर्घ होता है। प्रजेघीयते (यङन्त) में अकृत्सार्वधातु० (७।४।२५) से दीर्घ तथा गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से अभ्यास को गुण हुआ है। प्रजिघाय यहाँ णल् परे रहते वृद्धि तथा आयादेश हुआ है।

सन्लिटोर्जेः ॥७।३।५७॥

सन्लिटोः ७।२॥ जेः ६।१॥ स०—सन० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अभ्यासात्, कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जेरङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्मादुत्तरस्य कवर्गादेशो भवति, सनि लिटि च प्रत्यये परतः ॥ उदा०—जिगीषति, जिगाय ॥

भाषार्थः—अभ्यास से उत्तर [जेः] जि अङ्ग को [सन्लिटोः] सन् तथा लिट् परे कवर्गादेश होता है ॥ आदेः परस्य (१।१।५३) से आदि ज् को ग् अभ्यास से उत्तर होता है। जिगीषति में पूर्ववत् दीर्घादि तथा जिगाय में वृद्धि आयादेश जानें ॥

यहाँ से 'सन्लिटोः' की अनुवृत्ति ७।३।५८ तक जायेगी ॥

विभाषा चेः ॥७।३।५८॥

विभाषा १।१॥ चेः ६।१॥ अनु०—सन्लिटोः, अभ्यासात्, कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अभ्यासादुत्तरस्य चिनोतेरङ्गस्य विभाषा कवर्गादेशो भवति, सनि लिटि च परतः ॥ उदा०—चिचीषति, चिकीषति। लिटि—चिचाय, चिकाय ॥

भाषार्थः—अभ्यास से उत्तर [चेः] चि अङ्ग को [विभाषा] विकल्प से कवर्गादेश होता है, सन् तथा लिट् परे रहते ॥ पूर्ववत् यहाँ भी सभी कार्य उदाहरणों में जानें ॥

न क्वादेः ॥७।३।५९॥

न अ०॥ क्वादेः ६।१॥ स०—कुः (कवर्गः) आदिर्यस्य स क्वादिः, तस्य बहुव्रीहिः ॥ अनु०—चजोः, कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—कवर्गादेर्धातोश्चजोः स्थाने कवर्गादेशो न भवति ॥ उदा०—कूजो वर्त्तते, खर्जः, गर्जः। कूज्यं भवता, खर्ज्यं गर्ज्यं भवता ॥

भाषार्थः—[क्वादेः] कवर्ग आदिवाले धातु के चकार तथा जकार के स्थान में कवर्गादेश [न] नहीं होता ॥ चजोः कु घि० (७।३।५२) से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ कूजः आदि में घञ् तथा कूज्यं आदि में ण्यत् प्रत्यय हुआ है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।६९ तक जायेगी ॥

अजिव्रज्योश्च ॥७।३।६०॥

अजिव्रज्योः ६।२॥ च अ० ॥ स०—अजि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अजि व्रजि इत्येतयोश्च चजोः कवर्गादेशो न भवति॥ उदा०—समाजः, उदाजः । व्रजि—परिव्राजः । परिव्राज्यम् ॥

भाषार्थः—[अजिव्रज्योः] अज तथा व्रज धातुओं के जकार को [च] भी कवर्गादेश नहीं होता ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ समाजः उदाजः में हलश्च (३।३।१२१) से घञ् हुआ है, तथा परिव्राजः में भावे (३।३।१८) से हुआ है । अज को अजेर्व्य० (२।४।५६) से आर्धधातुक में 'वी' आदेश हो जाता है, अतः अज का ण्यत् परे का उदाहरण नहीं दिखाया है ॥

भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः ॥७।३।६१॥

भुजन्युब्जौ १।२॥ पाण्युपतापयोः ७।२॥ स०—भुज०, पाण्यु० उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भुज न्युब्ज इत्येतौ शब्दौ यथाक्रमं पाणावुपतापे चार्थे निपात्येते ॥ उदा०—भुज्यतेऽनेनेति=भुजः पाणिः । न्युब्जिताः (=अधोमुखाः) शेरतेऽस्मिन्निति=न्युब्जः उपतापः ॥ पूर्वत्र कुत्वाभावो गुणाभावश्चापरत्र कुत्वाभावो निपात्यते ॥

भाषार्थः—[भुजन्युब्जौ] भुज तथा न्युब्ज शब्द क्रमशः [पाण्युपतापयोः] पाणि (=हाथ) और उपताप (=रोग) अर्थ में निपातन किये जाते हैं ॥ भुज में कुत्व का अभाव एवं गुण का अभाव तथा न्युब्ज में कुत्वाभाव निपातन है ॥ भुजः में भुज धातु से तथा न्युब्जः में नि-पूर्वक उब्ज आर्जवे धातु से हलश्च (३।३।१२१) से घञ् प्रत्यय हुआ है ॥ सर्वत्र पूर्ववत् कुत्व प्राप्ति में निषेध समझें ॥

प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे ॥७।३।६२॥

प्रयाजानुयाजौ १।२॥ यज्ञाङ्गे ७।१॥ स०—प्रया० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । यज्ञस्य अङ्गं यज्ञाङ्गं तस्मिन् षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—प्रयाज, अनुयाज इत्येतौ यज्ञाङ्गे निपात्येते । कुत्वाभावोऽत्रापि निपात्यते ॥ उदा०—पञ्च प्रयाजाः । त्रयोऽनुयाजाः । त्वमग्ने प्रयाजानां पश्चात् त्वं पुरस्तात् ॥

भाषार्थः—[प्रयाजानुयाजौ] प्रयाज[1] तथा अनुयाज[1] शब्द [यज्ञाङ्गे] यज्ञ का अङ्ग हो तो निपातन किये जाते हैं ॥ कुत्वाभाव पूर्ववत् यहाँ भी निपातित है ॥ अकर्त्तरि च कारके० (३।३।१९) से प्रयाज, अनुयाज में घञ् हुआ है ॥

---

१. प्रयाज अनुयाज नाम के याग दर्शपौर्णमास आदि यज्ञों में होते हैं । प्रयाज संज्ञक याग प्रधान याग से पूर्व होते हैं और अनुयाज पश्चात् ॥

वञ्चेर्गतौ ॥७।३।६३॥

वञ्चेः ६।१॥ गतौ ७।१॥ अनु०—न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—गतौ वर्त्तमानस्य वञ्चेरङ्गस्य कवर्गादेशो न भवति ॥ उदा०—वञ्च्यं वञ्चन्ति वणिजः ॥

भाषार्थः—[गतौ] गति अर्थ में वर्त्तमान [वञ्चेः] वञ्चु अङ्ग को कवर्गादेश नहीं होता ॥ वञ्च्य में ण्यत् हुआ है ॥ वञ्च्यं वञ्चन्ति वणिजः, अर्थात् गन्तव्य स्थान को वणिक् लोग जाते हैं ॥

ओक उचः के ॥७।३।६४॥

ओकः १।१॥ उचः ६।१॥ के ७।१॥ अनु०—चजोः कु ॥ अर्थः—उचेर्धातोः के प्रत्यये परत ओक इति निपात्यते । कुत्वं गुणश्चात्र निपात्यते ॥ उदा०—न्योकः शकुन्तः, न्योको गृहम् ॥

भाषार्थः—[उचः] 'उच समवाये' धातु से [के] क प्रत्यय परे रहते [ओकः] ओक शब्द निपातन किया जाता है ॥ कुत्व तथा गुण यहाँ निपातित हैं, क्योंकि 'क' प्रत्यय परे रहते दोनों ही प्राप्त नहीं थे ॥ न्युचतीति न्योकः (=समुदाय बनाकर रहनेवाला), यहाँ नि पूर्वक उच से इगुपधज्ञाप्री० (३।१।१३५) से कर्त्ता में 'क' प्रत्यय हुआ है । न्युचन्त्यस्मिन् = न्योकः में अधिकरण कारक में घञर्थे क विधानम्० (३।३।५८ वा०) से 'क' होता है ॥

ण्य आवश्यके ॥७।३।६५॥

ण्ये ७।१॥ आवश्यके ७।१॥ अनु०—न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ण्ये परत आवश्यकेऽर्थेऽङ्गस्य चजोः कवर्गादेशो न भवति ॥ उदा०—अवश्यपाच्यम्, अवश्यवाच्यम्, अवश्यरेच्यम् ॥

भाषार्थः—[ण्ये] ण्य परे रहते [आवश्यके] आवश्यक अर्थ में अङ्ग के चकार जकार को कवर्गादेश नहीं होता ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ कृत्याश्च (३।३।१७१) से आवश्यक अर्थ में ऋहलोर्ण्यत् से उदाहरणों में ण्यत्, मयूरव्यंसका० (२।१।७१) से समास, एवं अवश्यमः० (भा० ६।१।१३९) से अवश्यम् के म् का लोप हुआ है ॥

यहाँ से 'ण्ये' की अनुवृत्ति ७।३।६६ तक जायेगी ॥

यजयाचरुचप्रवचर्चश्च ॥७।३।६६॥

यजयाचरुचप्रवचर्चः ६।१॥ च अ० ॥ स०—यजश्च याचेश्च रुचश्च प्रवचश्च ऋच् च यज⋯र्चर्, तस्य⋯समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—ण्ये, न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—यज, याच, रुच, प्रवच, ऋच इत्येतेषामङ्गानां चजोः स्थाने ण्ये परतः कवर्गादेशो न भवति ॥ उदा०—याज्यम्, याच्यम्, रोच्यम्, प्रवाच्यम्, अर्च्यम् ॥

भाषार्थः—[यज ... वचः] यज, याच, रुच, प्रपूर्वक वच, ऋच इन अङ्गों के चकार जकार को [च] भी ण्य प्रत्यय परे रहते कवर्गादेश नहीं होता॥

वचोऽशब्दसंज्ञायाम् ॥७।३।६७॥

वचः ६।१॥ अशब्दसंज्ञायाम् ७।१॥ स०—शब्दस्य संज्ञा, शब्दसंज्ञा, षष्ठीतत्पुरुषः । न शब्दसंज्ञा अशब्दसंज्ञा, तस्याम् ... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—ण्ये, न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अशब्दसंज्ञायां वचोऽङ्गस्य ण्ये परतः कवर्गादेशो न भवति ॥ उदा०—वाच्यमाह, अवाच्यमाह ॥

भाषार्थः—[अशब्दसंज्ञायाम्] शब्द की संज्ञा न हो, तो [वचः] वच् अङ्ग को ण्य परे रहते कवर्गादेश नहीं होता ॥ वाच्यम् (= कहने योग्य) यह शब्द की संज्ञा नहीं है ॥ 'वाक्यम्' शब्दसमूह की संज्ञा है, अतः यहाँ कुत्व हो जाता है ॥

प्रयोज्यनियोज्यौ शक्यार्थे ॥७।३।६८॥

प्रयोज्यनियोज्यौ १।२॥ शक्यार्थे ७।१॥ स०—प्रयोज्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ शक्योऽर्थः शक्यार्थः, तस्मिन् ... कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—ण्ये, न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—प्रयोज्य नियोज्य इत्येतौ शब्दौ शक्यार्थे निपात्येते । कुत्वाभावो निपात्यतेऽत्र ॥ उदा०—शक्यः प्रयोक्तुं = प्रयोज्यः । शक्यो नियोक्तुं = नियोज्यः ॥

भाषार्थः—[प्रयोज्यनियोज्यौ] प्रयोज्य तथा नियोज्य ण्यत् प्रत्ययान्त शब्द [शक्यार्थे] शक्य अर्थ में निपातित हैं ॥ कुत्वाभाव ही यहाँ निपातन से जानें ॥ शकि लिङ् च (३।३।१७२) से शक्यार्थ में ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत् होता है ॥

भोज्यं भक्ष्ये ॥७।३।६९॥

भोज्यम् १।१॥ भक्ष्ये ७।१॥ अनु०—ण्ये, न, चजोः कु, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भोज्यमिति निपात्यते भक्ष्येऽभिधेये ॥ उदा०—भोज्य ओदनः, भोज्या यवागूः ॥

भाषार्थः—[भोज्यम्] भोज्यम् शब्द [भक्ष्ये] भक्ष्य अभिधेय होने पर निपातन किया जाता है ॥ यहाँ भी कुत्वाभाव ही निपातन से जानें ॥

घोर्लोपो लेटि वा ॥७।३।७०॥

घोः ६।१॥ लोपः १।१॥ लेटि ७।१॥ वा अ० ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—घुसंज्ञकानामङ्गानां लेटि परतो वा लोपो भवति ॥ उदा०—दधद् रत्नानि दाशुषे (ऋ० ४।१५।३) । सोमो ददद् गन्धर्वाय (ऋ० १०।८५।४१) । न च भवति—यदग्निरग्नये ददात् ॥

भाषार्थः—[घोः] घुसंज्ञक अङ्ग का [लेटि] लेट् परे रहते [वा]

विकल्प से [लोपः] लोप होता है ॥ डुधाञ् धातु से लेट् में शप् को श्लु, एवं श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व इत्यादि होकर द धा तिप् रहा । लेटोऽडाटौ (३।४।९४) से अट् आगम तथा प्रकृत सूत्र से अन्त्य अल् 'आ' का लोप होकर द ध् अट् त् = दधत् बन गया । इसी प्रकार दा धातु से ददत् में जानें । पक्ष में जब लोप नहीं हुआ तो 'ददात्' बन गया ॥

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ७।३।७२ तक जायेगी ॥

ओतः श्यनि ॥७।३।७१॥

ओतः ६।१॥ श्यनि ७।१॥ अनु०—लोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ओकारान्तस्याङ्गस्य श्यनि परतो लोपो भवति ॥ उदा०—शो—निश्यति । छो—अवच्छ्यति । दो—अवद्यति । सो—अवस्यति ॥

भाषार्थः—[ओतः] ओकारान्त अङ्ग का [श्यनि] श्यन् परे रहते लोप होता है ॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् 'ओ' का लोप होता है ॥ नि श्ओ श्यन् ति = निश्यति ॥

क्सस्याचि ॥७।३।७२॥

क्सस्य ६।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—लोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—क्सस्याजादौ प्रत्यये परतो लोपो भवति ॥ उदा०—अधुक्षाताम्, अधुक्षाथाम्, अधुक्षि ॥

भाषार्थः—[क्सस्य] क्स का [अचि] अजादि प्रत्यय परे रहते लोप होता है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् 'स' के अ का लोप यहाँ भी जानें । अधुक्षत् की सिद्धि परि० ३।१।४५ में की है, तद्वत आताम् आथाम् तथा उत्तम पुरुष के इट् परे रहते यहाँ भी जानें । अधुक्ष् आताम् = अधुक्षाताम् ॥

यहाँ से 'क्सस्य' की अनुवृत्ति ७।३।७३ तक जायेगी ॥

लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये ॥७।३।७३॥

लुक् १।१॥ वा अ० ॥ दुहदिहलिहगुहाम् ६।३॥ आत्मनेपदे ७।१॥ दन्त्ये ७।१॥ स०—दुह० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ दन्ते भवो दन्त्यः, तस्मिन् ; शरीरावयवाच्च (४।३।५५) इति यत् प्रत्ययः ॥ अनु०—क्सस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—दुह, दिह, लिह, गुह इत्येतेषामङ्गानामात्मनेपदे दन्त्यादौ परतः क्सस्य वा लुग् भवति ॥ उदा०—दुह—अदुग्ध, अधुक्षत । अदुग्धाः, अधुक्षथाः । अधुग्ध्वम्, अधुक्षध्वम् । अदुह्वहि, अधुक्षावहि । दिह—अदिग्ध, अधिक्षत, इत्येवमादयः । लिह—अलीढ, अलिक्षत । गुह—न्यगूढ, न्यघुक्षत ॥

भाषार्थः—[दुहदिहलिहगुहाम्] दुह प्रपूरणे, दिह उपचये, लिह आस्वादने;

गुहू संवरणे इन धातुओं के क्स का [वा] विकल्प से [लुक्] लुक् होता है, [दन्त्ये] दन्त से उच्चरित अक्षर आदि में है जिनके ऐसे [आत्मनेपदे] आत्मनेपद-संज्ञक प्रत्ययों के परे रहते ॥ इस प्रकार आत्मनेपद के तवर्गादि[1] तथा वकारादि[2] वाले प्रत्यय गृहीत होंगे। सो उनके परे रहते विकल्प से लुक् होगा ॥ लुक् कहने से सम्पूर्ण 'क्स' का लुक् होता है, क्योंकि लुक् संज्ञा सम्पूर्ण प्रत्यय के अदर्शन की है, एकदेश की नहीं ॥

अदुग्ध की सिद्धि परि० ३।१।६३ में देखें। यहाँ दन्त्यादि 'त' प्रत्यय परे है। जब पक्ष में क्स का लुक् नहीं हुआ, तो परि० ३।१।४५ के अधुक्षत् के समान अधुक्षत बन गया। इसी प्रकार थास् ध्वम् तथा वहि परे रहते अदुग्धाः आदि रूप बनेंगे। एकाचो बशो० (८।२।३७) आदि सूत्र यथाप्राप्त लगते जायेंगे। इसी प्रकार लिह् आदि धातुओं से भी रूप जानें। अलीढ में लिह् के ह् को हो ढः (८।२।३१) से ढत्व, एवं 'त' को पूर्ववत् धत्व तथा ष्टुत्व होकर 'अ लिढ् ढ' रहा। अब ढो ढे लोपः (८।३।१३) से एक ढ का लोप, एवं ढ्रलोपे पूर्वस्य० (६।३।१०९) से दीर्घ होकर अलीढ बन गया। इसी प्रकार नि पूर्वक गुह से न्यगूढ में भी जानें। न्यघुक्षत पूर्ववत् बनेगा ॥

शमामष्टानां दीर्घः श्यनि ॥७।३।७४॥

शमाम् ६।३॥ अष्टानाम् ६।३॥ दीर्घः १।१॥ श्यनि ७।१॥ अनु०—अङ्गस्य॥ अर्थः—शमादीनामष्टानामङ्गानां दीर्घो भवति श्यनि परतः ॥ उदा०—शमु—शाम्यति। तमु—ताम्यति। दमु—दाम्यति। श्रमु—श्राम्यति। भ्रमु—भ्राम्यति। क्षमु—क्षाम्यति। क्लमु—क्लाम्यति। मदी—माद्यति ॥

भाषार्थः—[शमाम्] शम् इत्यादि [अष्टानाम्] आठ अङ्गों को [श्यनि] श्यन् परे रहते [दीर्घः] होता है। 'शमाम्' यहाँ बहुवचन-निर्देश होने से 'आदि' अर्थ की प्रतीति होती है ॥

यहाँ से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति ७।३।७६ तक जायेगी ॥

ष्ठिवुक्लमुचमां शिति ॥७।३।७५॥

ष्ठिवुक्लमुचमाम् ६।३॥ शिति ७।१॥ सं०—ष्ठिवु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। शकार इत् यस्य स शित्, तस्मिन्... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—दीर्घः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ष्ठिवु क्लमु चम् इत्येतेषामङ्गानां दीर्घो भवति शिति परतः ॥ उदा०—ष्ठीवति। क्लामति। आचामति ॥

भाषार्थः—[ष्ठिवुक्लमुचमाम्] ष्ठिवु, क्लमु, तथा चमु अङ्गों को [शिति],

---

१. लृतुलसा दन्त्याः (वर्णो० ३२) से तवर्ग दन्त्य हैं।

२. वकारो दन्त्योष्ठ्यः (वर्णो० ३३) से वकार दन्त एवं ओष्ठ दोनों से बोला जाता है ॥

शित् प्रत्यय परे रहते दीर्घ होता है ॥ महाभाष्यानुसार आङ्पूर्वक चम् को ही दीर्घ होता है, अन्यत्र नहीं ॥ शप् शित् प्रत्यय सर्वत्र उदाहरणों में परे है ॥

यहाँ से 'शिति' की अनुवृत्ति ७।३।८२ तक जायेगी ॥

क्रमः परस्मैपदेषु ॥७।३।७६॥

क्रमः ६।१॥ परस्मैपदेषु ७।३॥ अनु० —शिति, दीर्घः, अङ्गस्य ॥ अर्थः— क्रमोऽङ्गस्य परस्मैपदपरे शिति परतो दीर्घो भवति ॥ उदा०— क्रामति, क्रामतः, क्रामन्ति ॥

भाषार्थः—[क्रमः] क्रमु अङ्ग को [परस्मैपदेषु] परस्मैपदपरक शित् प्रत्यय के परे दीर्घ होता है ॥

इषुगमियमां छः ॥७।३।७७॥

इषुगमियमाम् ६।३॥ छः १।१॥ स०—इषु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०— शिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इषु, गम्लृ, यम इत्येतेषामङ्गानां शिति परतश्छकारादेशो भवति ॥ उदा०—इच्छति, गच्छति, यच्छति ॥

भाषार्थः—[इषुगमियमाम्] इषु, गम्लृ तथा यम् अङ्गों को शित् प्रत्यय परे रहते [छः] छकारादेश (=अन्त्य अल् को) होता है ॥ परि० १।३।१५ में व्यतिगच्छन्ति की सिद्धि की है, तद्वत् अन्य सिद्धियाँ भी जानें ॥

पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः ॥७।३।७८॥

पाघ्रा···सदाम् ६।३॥ पिब···सीदाः १।३॥ स०—पाघ्रा०, पिब० उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—शिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पा पाने, घ्रा गन्धोपादाने, ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः, ष्ठा गतिनिवृत्तौ, म्ना अभ्यासे, दाण् दाने, दृशिर् प्रेक्षणे, ऋ गतिप्रापणयोः, सृ गतौ, शद्लृ शातने, षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु इत्येतेषामङ्गानां स्थाने यथाक्रमं पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय, सीद इत्येते आदेशा भवन्ति शिति प्रत्यये परतः ॥ उदा०—पा—पिबति । घ्रा—जिघ्रति । ध्मा—धमति । स्था—तिष्ठति । म्ना—मनति । दाण्—यच्छति । दृशि—पश्यति । ऋ—ऋच्छति । सृ—धावति । शद—शीयते । सद—सीदति ॥

भाषार्थः—[पाघ्रा···सदाम्] पा, घ्रा, ध्मा, स्था (=ष्ठा), म्ना, दाण्, दृशिर्, ऋ, सृ, शद्लृ, षद्लृ इन अङ्गों को शित् प्रत्यय परे रहते यथासङ्ख्य करके [पिब···सीदाः] पिब, जिघ्र, धम, तिष्ठ, मन, यच्छ, पश्य, ऋच्छ, धौ, शीय, सीद ये आदेश होते हैं ॥ शदेः शितः (१।३।६०) से शीयते में आत्मनेपद होता है ॥

ज्ञाजनोर्जा ॥७।३।७९॥

ज्ञाजनोः ६।२॥ जा लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ स०—ज्ञाजनोरित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—शिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ज्ञा, जनी प्रादुर्भावे (दैवादिकस्य ग्रहणम्) इत्येतयोरङ्गयोः स्थाने शिति प्रत्यये परतो जा इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—ज्ञा—जानाति। जनी—जायते ॥

भाषार्थः—[ज्ञाजनोः] ज्ञा तथा जनी (दिवादिस्थ) अङ्ग को शित् प्रत्यय परे रहते [जा] जा आदेश होता है ॥ ज्ञा के क्र्यादिगण में होने से श्ना विकरण होकर जानाति बना। जा श्यन् त=जायते ॥

प्वादीनां ह्रस्वः ॥७।३।८०॥

प्वादीनाम् ६।३॥ ह्रस्वः १।१॥ स०—पूः आदिर्येषां ते प्वादयः, तेषां बहुव्रीहिः ॥ अनु०—शिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पूञ् पवने इत्येवमादीनामङ्गानां ह्रस्वो भवति शिति परतः ॥ क्र्यादिषु प्वादयः पठ्यन्ते ॥ उदा०—पूञ्—पुनाति। लूञ्—लुनाति। स्तॄञ्—स्तृणाति ॥

भाषार्थः—[प्वादीनाम्] पूञ् इत्यादि अङ्गों को शित् प्रत्यय परे रहते [ह्रस्वः] ह्रस्व होता है ॥ क्रयादि गण में प्वादि धातुएं पढ़ी हैं ॥

यहां से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति ७।३।८१ तक जायेगी ॥

मीनातेर्निगमे ॥७।३।८१॥

मीनातेः ६।१॥ निगमे ७।१॥ अनु०—ह्रस्वः, शिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मीनातेरङ्गस्य शिति प्रत्यये परतो ह्रस्वो भवति निगमे विषये ॥ उदा०—प्रमिणन्ति व्रतानि ॥

भाषार्थः—[मीनातेः] मीञ् हिंसायाम् अङ्ग को शित् प्रत्यय परे रहते [निगमे] निगम विषय में ह्रस्व होता है ॥ प्रमिणन्ति में हिनु मीना० (८।४।१५) से णत्व, तथा श्ना के आ का श्नाभ्यस्तयो० (६।४।११२) से लोप होता है ॥

मिदेर्गुणः ॥७।३।८२॥

मिदेः ६।१॥ गुणः १।१॥ अनु०—शिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मिदेरङ्गस्य इको गुणो भवति शिति प्रत्यये परतः ॥ उदा०—मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति ॥

भाषार्थः—[मिदेः] मिद् अङ्ग के इक् को शित् प्रत्यय परे रहते [गुणः] गुण हो जाता है ॥ सिद्धियां परि० १।१।३ में देखें ॥

यहां से 'गुणः' की अनुवृत्ति ७।३।८८ तक जायेगी ॥

जुसि च ॥७।३।८३॥

जुसि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—गुणः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जुसि च प्रत्यये परत इगन्तस्य अङ्गस्य गुणो भवति ॥ उदा०—अजुहवुः, अबिभयुः, अबिभरुः ॥

भाषार्थः—[जुसि] जुस् प्रत्यय परे रहते [च] भी इगन्त अङ्ग को गुण होता है ॥ अजुहवुः तथा अबिभयुः की सिद्धि परि० ३।४।१०६ में देखें, तद्वत् डुभृञ् धातु से अबिभरुः की सिद्धि जानें ॥ जुस् के ङित् (१।२।४ से) होने से जुस् परे रहते गुण का प्रतिषेध (१।१।५) प्राप्त था, गुण विधान कर दिया ॥

सार्वधातुकार्धधातुकयोः ॥७।३।८४॥

सार्वधातुकार्धधातुकयोः ७।२॥ स०—सार्वधातुकञ्च आर्धधातुकञ्च सार्वधातुकार्धधातुके, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—गुणः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सार्वधातुके आर्धधातुके च प्रत्यये परत इगन्तस्याङ्गस्य गुणो भवति ॥ उदा०—सार्वधातुके—तरति, नयति, भवति । आर्धधातुके—कर्त्ता, चेता, स्तोता ॥

भाषार्थः—[सार्वधातुकार्धधातुकयोः] सार्वधातुक तथा आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते इगन्त अङ्ग को गुण होता है ॥ सभी सिद्धियाँ परि० १।१।२ में देखें ।

यहाँ से 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' की अनुवृत्ति ७।३।८६ तक जायेगी ॥

जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु ॥७।३।८५॥

जाग्रः ६।१॥ अविचिण्णल्ङित्सु ७।३॥ स०—ङ् इत् यस्य स ङित्, बहुव्रीहिः । विश्च चिण् च णल् च ङित् च विचिण्णल्ङितः, इतरेतरद्वन्द्वः । न विचिण्णल्ङितः अविचिण्णल्ङितः, तेषु नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सार्वधातुकार्धधातुकयोः, गुणः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जागृ इत्येतस्याङ्गस्य गुणो भवति, अविचिण्णल्ङित्सु सार्वधातुकार्धधातुकेषु प्रत्ययेषु परतः ॥ उदा०—जागरयति, जागरकः, साधुजागरी, जागरंजागरम्, जागरो वर्त्तते । जागरितः, जागरितवान् ॥

भाषार्थः—[जाग्रः] जागृ अङ्ग को गुण होता है [अविचिण्णल्ङित्सु] वि, चिण्, णल् तथा ङ् इत्वाले प्रत्ययों को छोड़कर अन्य सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्ययों के परे रहते ॥ जागरयति में णिच् परे रहते, जागरकः में ण्वुल्, एवं साधुजागरी में ताच्छील्यार्थक णिनि (३।२।७८) परे रहते गुण हुआ है । जागरंजागरम् में आभीक्ष्ण्ये णमुल् च (३।४।२२) से णमुल्, तथा आभीक्ष्ण्ये द्वे भवतः (८।१।१२ वा०) से द्वित्व हुआ है । जागरः में भावे (३।३।१८) से घञ् हुआ है । यहाँ सर्वत्र ञित् परे होने से अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि प्राप्त थी, गुण कह दिया । जागरितः जागरितवान्, यहाँ तो सार्वधातुका० से प्राप्त गुण का क्ङिति

च (१।१।५) से निषेध प्राप्त था, प्रकृतसूत्र से गुण हो गया। इस प्रकार वृद्धि के विषय में, एवं प्रतिषेध के विषय में दोनों ही स्थलों में प्रकृतसूत्र से गुण होता है।।

पुगन्तलघूपधस्य च ॥७।३।८६॥

पुगन्तलघूपधस्य ६।१।। च अ० ।। स०—पुकि अन्तः पुगन्तः, सप्तमीतत्पुरुषः। लघ्वी चासौ उपधा च लघूपधा, कर्मधारयतत्पुरुषः। पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधम्, तस्य···समाहारद्वन्द्वः ।। अनु०—सार्वधातुकार्धधातुकयोः, गुणः, अङ्गस्य ।। अर्थः—पुगन्तस्याङ्गस्य लघूपधस्य च इकः सार्वधातुके आर्धधातुके च परतो गुणो भवति ।। उदा०—पुगन्तस्य—क्लेपयति, ह्रेपयति, क्नोपयति। लघूपधस्य—भेदनम्, छेदनम्, भेत्ता, छेत्ता ।।

भाषार्थः—[पुगन्तलघूपधस्य] पुक् परे रहने पर तत्समीपस्थ अङ्ग के इक को, तथा लघुसंज्ञक इक् उपधा को [च] भी सार्वधातुक तथा आर्धधातुक परे रहते गुण हो जाता है। 'पुगन्त' यहां अन्त शब्द समीपवाची है। सो अर्थ होगा—'पुक् परे रहते समीपस्थ जो अङ्ग का इक्'। इको गुणवृद्धी (१।१।३) परिभाषासूत्र की उपस्थिति से यहां 'इक्' शब्द अर्थ करने में रखा है। क्ली पुक् इ, यहां पुक् के समीप जो इक् उसे गुण होकर क्लेपयति बन गया। इसी प्रकार सब में जानें ।।

यहां से 'लघूपधस्य' की अनुवृत्ति ७।३।८७ तक जायेगी ।।

नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके ॥७।३।८७॥

न अ० ।। अभ्यस्तस्य ६।१।। अचि ७।१।। पिति ७।१।। सार्वधातुके ७।१।। स०—पकार इत् यस्य स पित्, तस्मिन्···बहुव्रीहिः ।। अनु०—लघूपधस्य, गुणः, अङ्गस्य ।। अर्थः—अभ्यस्तसंज्ञकस्याङ्गस्य लघूपधस्य इकः अजादौ पिति सार्वधातुके परतो गुणो न भवति ।। उदा०—नेनिजानि, अनेनिजम् । वेविजानि, अवेविजम् । परिवेविषाणि, पर्यवेविषम् ।।

भाषार्थः—[अभ्यस्तस्य] अभ्यस्त-संज्ञक अङ्ग की लघु उपधा इक् को [अचि] अजादि [पिति] पित् [सार्वधातुके] सार्वधातुक परे रहते गुण [न] नहीं होता। पूर्वसूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ।। णिजिर् शौचपोषणयोः धातु के ण को न णो नः (६।१।६३) से होकर लोट्स्थानी मिप् को मेर्निः (३।४।८९) से नि होकर निज् नि रहा। आडुत्तमस्य० (३।४।९२) से आट् आगम, श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व, एवं अभ्यास कार्य होकर 'नि निज् आट् नि' रहा। निजां त्रयाणां गुणः० (७।४।७५) से अभ्यास को गुण होकर ने निज् आनि रहा। अब यहां अजादि पित्स्थानी सार्वधातुक 'आनि' परे है, सो ७।३।८६

से गुण प्राप्त था, उसका प्रकृतसूत्र से निषेध हो गया । इसी प्रकार विष्लृ तथा विजिर् धातु से वेविषाणि एवं वेविजानि में जानें । लङ् लकार में अनेनिजम् आदि भी इसी प्रकार समझें । यहाँ तस्थस्थ० (३।४।१०१) से मिप् को 'अम्' हुआ है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ७।३।८८ तक, तथा 'पिति' की ७।३।९४ तक, एवं 'सार्वधातुके' की ७।३।१०१ तक जायेगी ॥

भूसुवोस्तिङि ॥७।३।८८॥

भूसुवोः ६।२॥ तिङि ७।१॥ स०—भूश्च सूश्च भूसुवौ,तयोः... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न पिति सार्वधातुके, गुणः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भू सू इत्येतयोस्तिङि पिति सार्वधातुके गुणो न भवति ॥ उदा०—अभूत्, अभूः, अभूवम् । सुवै, सुवावहै, सुवामहै ॥

भाषार्थः—[भूसुवोः] भू तथा षूङ् अङ्ग को [तिङि] तिङ् पित् सार्वधातुक परे रहते गुण नहीं होता ॥ अभूत् आदि के सिच् का लुक् गातिस्थाघुपा० (२।४।७७) से होता है । सिच्लुक् कर देने पर पित् तिङ् परे है ही, सो गुण प्राप्त था, निषेध कर दिया । अभूवम् में भुवो वुग्लुङ्० (६।४।८८) से वुक् आगम, एवं मिप् को अम् हुआ है । वुक् आगम से पूर्व प्राप्त गुण[1] का निषेध यहाँ हो जाता है ॥ सुवै आदि की सिद्धि सूत्र ३।४।९३ के करवै आदि के समान जानें । पित् आट् परे रहते गुण प्राप्त था, उसका निषेध कर दिया ॥

उतो वृद्धिर्लुकि हलि ॥७।३।८९॥

उतः ६।१॥ वृद्धिः १।१॥ लुकि ७।१॥ हलि ७।१॥ अनु०—पिति सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—उकारान्तस्याङ्गस्य वृद्धिर्भवति लुकि सति हलादौ पिति सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—यौति, यौषि, यौमि । नौति, नौषि, नौमि । स्तौति, स्तौषि, स्तौमि ॥

भाषार्थः—[उतः] उकारान्त अङ्ग को [लुकि] लुक् हो जाने पर [हलि] हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते [वृद्धिः] वृद्धि होती है ॥ स्तौति की सिद्धि परि० १।१।६० में की है, तद्वत् अन्य सिद्धियां भी जानें ॥

यहाँ से 'वृद्धिः' की अनुवृत्ति ७।३।९० तक, तथा 'हलि' की ७।३।१०० तक जायेगी ॥

---

१. इन्धिभवतिभ्यां च (१।२।६) में गुणप्रतिषेधार्थ कित्व का विधान होने से ज्ञापित होता है कि वुक् नित्य होने पर भी पहले गुण की प्राप्ति होती है । अन्यथा सूत्रविधान व्यर्थ है ।

ऊर्णोतेर्विभाषा ॥७।३।९०॥

ऊर्णोतेः ६।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—वृद्धिः, हलि, पिति, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऊर्णोतेर्विभाषा वृद्धिर्भवति, हलादौ पिति सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—प्रोर्णौति, प्रोर्णोति । प्रोर्णौषि, प्रोर्णोषि । प्रोर्णौमि, प्रोर्णोमि ॥

भाषार्थः— हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते [ऊर्णोतेः] 'ऊर्णुञ् आच्छादने' धातु को [विभाषा] विकल्प से वृद्धि होती है ॥ पूर्वसूत्र से नित्य वृद्धि प्राप्त थी, विकल्प कह दिया ॥ प्र ऊर्णु ति (६।१।८४ से गुण)=प्रोर्णु ति=प्रोर्णौति । जब वृद्धि नहीं हुई, तो गुण होकर प्रोर्णोति बना । शप् का लुक् पूर्ववत् जानें ॥

यहाँ से 'ऊर्णोतेः' की अनुवृत्ति ७।३।९१ तक जायेगी ॥

गुणोऽपृक्ते ॥७।३।९१॥

गुणः १।१॥ अपृक्ते ७।१॥ अनु०—ऊर्णोतेः, हलि, पिति, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऊर्णुञ् इत्येतस्य अङ्गस्यापृक्ते हलि पिति सार्वधातुके परतो गुणो भवति ॥ उदा०—प्रौर्णोत्, प्रौर्णोः ॥

भाषार्थः—ऊर्णुञ् अङ्ग को [अपृक्ते] अपृक्त हल् पित् सार्वधातुक परे रहते [गुणः] गुण होता है ॥ पूर्वसूत्र से विकल्प से वृद्धि प्राप्त थी, यहाँ नित्य गुण विधान कर दिया ॥ लङ् लकार में आट् (६।४।७२) को आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश होकर प्रौर्णु त्=प्रौर्णोत् और प्रौर्णो स्=प्रौर्णोः बन गया । 'त्, स्' यहाँ अपृक्त सार्वधातुक परे हैं ही ॥

तृणह इम् ॥७।३।९२॥

तृणहः ६।१॥ इम् १।१॥ अनु०—हलि, पिति, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तृणह् इत्येतस्याङ्गस्य इमागमो भवति, हलादौ पिति सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—तृणेढि, तृणेक्षि, तृणेह्मि । अतृणेट् ॥

भाषार्थः— [तृणहः] 'तृह हिंसायाम्' (रुधादिगणस्थ) अङ्ग को हलादि पित् सार्वधातुक परे रहते [इम्] इम् आगम होता है ॥ तृह् धातु का श्नम् विकरणसहित निर्देश इस बात को जनाने के लिये किया है कि सिद्धि में श्नम् विकरण कर लेने के पश्चात् ही इम् आगम हो, पहले नहीं ॥

तृ श्नम् ह् ति=तृ ण ह् ति=इम् आगम अन्त्य अच् (१।१।४६) से परे होकर तृ ण इम् ह् ति=रहा । आद् गुणः (६।१।८४) लगकर तृणेह् ति रहा । शेष ह् को ढत्व धत्वादि कार्य सूत्र ७।३।७३ के अलीढ के समान होकर तृणेढि बन गया ॥ तृणेक्षि में सिप् परे रहते षढोः कः सि (८।२।४१) से ढ् को

'क्', तथा सिप् के स् को षत्व हुआ है। लङ् लकार के अतृणेट् में भी सभी कार्य इसी प्रकार हैं। केवल तिप् के त् का हल्ङ्यादि लोप, एवं ढ् को जश्त्व (८।२।३९ से) ड्, तथा वावसाने (८।४।५५) से चर्त्व 'ट्' हुआ है, यही विशेष है।।

ब्रुव ईट् ।।७।३।९३।।

ब्रुवः ५।१।। ईट् १।१।। अनु०—हलि, पिति, सार्वधातुके, अङ्गस्य ।। अर्थः—ब्रूञ् इत्येतस्मादङ्गादुत्तरस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य ईट् आगमो भवति।।उदा०—ब्रवीति, ब्रवीषि, ब्रवीमि ।।

भाषार्थः—[ब्रुवः] ब्रूञ् अङ्ग से उत्तर हलादि पित् सार्वधातुक को [ईट्] ईट् आगम होता है।। 'सार्वधातुके' आदि सप्तम्यन्त पद षष्ठ्यन्त में तस्मादित्युत्तरस्य (१।१।६६) से बदल जाते हैं। अतः टित् होने से तिप् के आदि में ईट् होकर ब्रू ईट् तिप् = ब्रो ई ति = ब्रवीति बन गया। शप् का लुक् अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से हो ही जायेगा ।।

यहाँ से 'ईट्' की अनुवृत्ति ७।३।९८ तक जायेगी।।

यङो वा ।।७।३।९४।।

यङः ५।१।। वा अ०।। अनु०—ईट, हलि, पिति, सार्वधातुके ।। अर्थः—यङ उत्तरस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य ईडागमो विकल्पेन भवति।। उदा०—शाकुनिको लालपीति । दुन्दुभिर्वावदीति । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति (ऋ० ४।५८।३)। न च भवति—वर्वर्ति चक्रम् । चर्कर्ति ।।

भाषार्थः—[यङः] यङ् से उत्तर हलादि पित् सार्वधातुक को [वा] विकल्प से ईट् आगम होता है।। लालपीति आदि की सिद्धि परि० २।४।७४ में देखें। रु धातु से रोरवीति में अभ्यास को गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से गुण होता है।। वृञ् से वर्वर्ति, कृञ् से चर्कर्ति में केवल ईट् आगम नहीं हुआ। शेष उरत् (७।४।६६) आदि अभ्यासकार्य पूर्ववत् हैं। ऋतश्च (७।४।९२) से अभ्यास को रुक् आगम ही यहाँ विशेष है।।

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।३।९५ तक जायेगी।।

तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके ।।७।३।९५।।

तुरुस्तुशम्यमः ५।१।। सार्वधातुके ७।१।। स०—तुश्च रुश्च स्तुश्च शमिश्च अम् च तुरु...म्यम्, तस्मात्...समाहारो...द्वन्द्वः ।। अनु०—वा, ईट्, हलि, अङ्गस्य ।। अर्थः—तु, रु, ष्टुञ्, शम्, अम इत्येतेभ्य उत्तरस्य हलादेः सार्वधातुकस्य वा ईडागमो भवति।। उदा०—उत्तवीति, उत्तौति । उपरवीति, उपरौति । उपस्तवीति, उपस्तौति । शमीध्वम्, शन्ध्वम् । अभ्यमीति, अभ्यन्ति ।।

भाषार्थः—[तुरुस्तुशम्यमः] तु (सौत्र धातु), रु, ष्टुञ्, शम तथा अम धातुओं से उत्तर हलादि सार्वधातुक को विकल्प से ईट् आगम होता है ॥ उत्तौति आदि के शप् का बहुलं छन्दसि (२।४।७३) से लुक्, तथा उतो वृद्धि० (७।३।८९) से वृद्धि होती है। ईट् पक्ष में गुण अवादेश होगा ॥ [1]शन्ध्वम् शमीध्वम्, और अम्यन्ति अम्यमीति में विकरण का लुक् होकर ईट् की प्राप्ति तथा अप्राप्ति होगी ॥

अस्तिसिचोऽपृक्ते ॥७।३।९६॥

अस्तिसिचः ५।१॥ अपृक्ते ७।१॥ स०—अस्तिश्च सिच् च अस्तिसिच्, तस्मात्⋯समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—ईट्, हलि, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अस्तेरङ्गात् सिजन्ताच्च उत्तरस्यापृक्तस्य हलादेः सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति ॥ उदा०—अस्तेः—आसीत्, आसीः। सिजन्तात्—अकार्षीत्, अहार्षीत्। अपावीत्, अलावीत् ॥

भाषार्थः—[अस्तिसिचः] अस धातु से उत्तर तथा सिच् से उत्तर [अपृक्ते] अपृक्त हलादि सार्वधातुक को ईट् आगम होता है ॥ अकार्षीत् आदि की सिद्धि परि० १।१।१ में देखें। लङ् लकार में आसीत् की सिद्धि में आट् का आगम (६।४।७२ से) और आटश्च (६।१।८७) से वृद्धि एकादेश, तथा अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से शप् का लुक् हुआ है। आ अस् ई त्=आसीत् ॥

यहाँ से 'अस्तिसिचः' की अनुवृत्ति ७।३।९७ तक, तथा 'अपृक्ते' की ७।३।१०० तक जायेगी ॥

बहुलं छन्दसि ॥७।३।९७॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—अस्तिसिचोऽपृक्ते, ईट्, हलि, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अस्तिसिचोऽपृक्तस्य हलादेः सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति, बहुलं छन्दसि विषये ॥ उदा०—आप एवेदं सलिलं सर्वमाः। बहुलग्रहणात् भवति च—अहरेवासीन्न रात्रिः। सिचः—गोभिरक्षाः (ऋ० ९।१०७।९); प्रत्यञ्चमत्साः (ऋ० १०।२८।४)। भवति च—अभैषीर्मा पुत्रक ॥

भाषार्थः—अस तथा सिच् से उत्तर हलादि अपृक्त सार्वधातुक को [बहुलम्]

---

१. शमु दिवादि और अम भ्वादि का धातु है। जब तक विकरण का लुक् न हो, तब तक धातु से परे हलादि सार्वधातुक उपलब्ध नहीं होता। अतः यहां छान्दस प्रयोग मानकर शप्लुक् करना चाहिए। उभयथा ईट् के अभाव का रूप भी विकरण लुक् पक्ष में ही दिखाना चाहिए। विकरण रहने पर तो ईट् स्वतः ही प्राप्त नहीं होता। अतः ईडभाव पक्ष में सविकरण रूप दिखाना अशुद्ध है ॥

बहुल करके [छन्दसि] वेद-विषय में ईट् आगम होता है ॥ सर्वम् 'आः', यहां अस् धातु से पूर्ववत् लङ् लकार में आट् आगमादि होकर, तिप् का हल्ङ्यादि लोप करके आस्='आः' बन गया। इसी प्रकार क्षर से अक्षाः, एवं त्सर से अत्साः भी लुङ् लकार में बनेगा। अतो ल्रान्तस्य (७।२।२) से वृद्धि होकर अट् क्षार् स् त् रहा। इट् का अभाव छान्दस है। प्रकृतसूत्र से ईट् आगम का अभाव तथा हल्ङ्यादि लोप होकर 'अक्षार् स्' रहा। रात्सस्य (८।२।२४) से रेफ से उत्तर स् का लोप, तथा र् को विसर्जनीय होकर अक्षाः, अत्साः बन गया ॥ भिषी धातु से अभैषीः में बहुल कहने से ईट् आगम हुआ है। सिचि वृद्धिः० (७।२।१) से वृद्धि होकर अभैस् ईस्=अभैषीः परि० १।१।१ के अचैषीत् के समान बन गया। छान्दस प्रयोग होने से माङ् का योग होने पर भी यहाँ अट् आगम (६।४।७५ से) हुआ है ॥

रुदश्च पञ्चभ्यः ॥७।३।९८॥

रुदः ५।१॥ व्यत्ययेन बहुवचनस्यैकत्वम् ॥ च अ० ॥ पञ्चभ्यः ५।३॥ अनु०—अपृक्ते, हलि, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—रुदादिभ्यः पञ्चभ्योऽङ्गेभ्य उत्तरस्य हलादेरपृक्तस्य सार्वधातुकस्य ईडागमो भवति ॥ उदा०—रुदिर्—अरोदीत्, अरोदीः। स्वप—अस्वपीत्, अस्वपीः। श्वस—अश्वसीत्, अश्वसीः। अन—प्राणीत्, प्राणीः। जक्ष—अजक्षीत्, अजक्षीः ॥

भाषार्थः—[रुदः] रुदिर् इत्यादि [पञ्चभ्यः] पांच अङ्गों से उत्तर [च] भी हलादि अपृक्त सार्वधातुक को ईट् आगम होता है ॥ लङ् लकार में अट् रुद् ईट् त्=अरोदीत् बन गया। सर्वत्र अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से शप् का लुक्, तथा प्राणीत्, प्राणीः में अनितेरन्तः (८।४।१९) से णत्व हुआ है ॥

यहां से 'रुदः पञ्चभ्यः' की अनुवृत्ति ७।३।९९ तक जायेगी ॥

अड् गार्ग्यगालवयोः ॥७।३।९९॥

अट् १।१॥ गार्ग्यगालवयोः ६।२॥ स०—गार्ग्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—रुदः पञ्चभ्यः, अपृक्ते, हलि, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—रुदादिभ्यः पञ्चभ्य उत्तरस्य हलादेरपृक्तस्य सार्वधातुकस्य 'अट्' आगमो भवति, गार्ग्यस्य गालवस्य च मतेन ॥ उदा०—अरोदत्, अरोदः। अस्वपत्, अस्वपः। अश्वसत्, अश्वसः। प्राणत्, प्राणः। अजक्षत्, अजक्षः ॥

भाषार्थः—रुदादि पांच अङ्गों से उत्तर हलादि अपृक्त सार्वधातुक को [अट्]

अट् आगम [गार्ग्यगालवयोः] गार्ग्य तथा गालव आचार्यों के मत में होता है ॥ अट् रोद् अद् त्=अरोदत् ॥

यहां से 'अट्' की अनुवृत्ति ७।३।१०० तक जायेगी ॥

अदः सर्वेषाम् ॥७।३।१००॥

अदः ५।१॥ सर्वेषाम् ६।३॥ अनु०—अट्, अपृक्ते, हलि, सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—'अद भक्षणे' अस्मादुत्तरस्य हलादेरपृक्तस्य सार्वधातुकस्याडागमो भवति, सर्वेषामाचार्याणां मतेन ॥ उदा०—आदत्, आदः ॥

भाषार्थः—[अदः] अद् अङ्ग से उत्तर हलादि अपृक्त सार्वधातुक को [सर्वेषाम्] सभी आचार्यों के मत में अट् आगम होता है ॥ आट् अद् अट् त्=आदत्, शप् का लुक् (२।४।७२ से), एवं आट् को वृद्धि एकादेश होकर बन गया ॥ सर्वत्र अडादि आगम आद्यन्तौ० (१।१।४५) से तिप् के आदि में बैठेंगे ॥

अतो दीर्घो यञि ॥७।३।१०१॥

अतः ६।१॥ दीर्घः १।१॥ यञि ७।१॥ अनु०—सार्वधातुके, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अकारान्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति, यञादौ सार्वधातुके परतः ॥ उदा०—पचामि, पचावः, पचामः । पक्ष्यामि, पक्ष्यावः, पक्ष्यामः ॥

भाषार्थः—[अतः] अकारान्त अङ्ग को [दीर्घः] दीर्घ होता है, [यञि] यञ् प्रत्याहार आदिवाले सार्वधातुक प्रत्यय के परे रहते ॥ पक्ष्यामि में चोः कुः (८।२।३०) से च् को क् हुआ है । पक् ष्य मि=पक्ष्यामि । एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से इट्निषेध यहां होता है ॥

यहां से 'अतः' की अनुवृत्ति ७।३।१०४ तक, तथा 'दीर्घो यञि' की ७।३।१०२ तक जायेगी ॥

सुपि च ॥७।३।१०२॥

सुपि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—अतो दीर्घो यञि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अकारान्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति सुपि च परतः ॥ उदा०—वृक्षाय, प्लक्षाय । वृक्षाभ्याम् प्लक्षाभ्याम् ॥

भाषार्थः—अकारान्त अङ्ग को यञादि [सुपि] सुप् परे रहते [च] भी दीर्घ होता है ॥ वृक्षाय की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें । वृक्षभ्याम्=वृक्षाभ्याम् ॥

यहां से 'सुपि' की अनुवृत्ति ७।३।११९ तक जायेगी ॥

बहुवचने झल्येत् ॥७।३।१०३॥

बहुवचने ७।१॥ झलि ७।१॥ एत् १।१॥ अनु०—सुपि, अतः, अङ्गस्य ॥
अर्थः—अकारान्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति, बहुवचने झलादौ सुपि परतः ॥
उदा०—वृक्षेभ्यः, प्लक्षेभ्यः । वृक्षेषु, प्लक्षेषु ॥

भाषार्थः—अकारान्त अङ्ग को [बहुवचने] बहुवचन [झलि] झलादि सुप् परे रहते [एत्] एकारादेश होता है ॥ सिद्धि सूत्र १।४।२ में देखें ॥

यहाँ से 'एत्' की अनुवृत्ति ७।३।१०६ तक जायेगी ॥

ओसि च ॥७।३।१०४॥

ओसि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—एत्, अतः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ओसि च परतोऽकारान्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति ॥ उदा०—वृक्षयोः स्वम्, प्लक्षयोः स्वम् । वृक्षयोर्निधेहि, प्लक्षयोर्निधेहि ॥

भाषार्थः—[ओसि] ओस् परे रहते [च] भी अकारान्त अङ्ग को एकारादेश होता है ॥ वृक्ष ओस् = वृक्षे ओस् = वृक्षयोस् = वृक्षयोः ॥

यहाँ से 'ओसि' की अनुवृत्ति ७।३।१०५ तक जायेगी ॥

आङि चापः ॥७।३।१०५॥

आङि ७।१॥ च अ० ॥ आपः ६।१॥ अनु०—ओसि, एत्, अङ्गस्य ॥
अर्थः—आबन्तस्याङ्गस्य आङि परतश्चकारादोसि च परत एकारादेशो भवति ॥
आङ् इति पूर्वाचार्यनिर्देशेन तृतीयैकवचनं गृह्यते ॥ उदा०—खट्वया, मालया । खट्वयोः, मालयोः । बहुराजया, कारीषगन्ध्यया । बहुराजयोः, कारीषगन्ध्ययोः ॥

भाषार्थः—[आपः] आबन्त अङ्ग को [आङि] आङ् = टा परे रहते [च] तथा ओस् परे रहते एकारादेश होता है ॥ तृतीया एकवचन 'टा' को पूर्वाचार्य आङ् पढ़ते थे, सो यहाँ सूत्र में निर्देश किया है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् = 'आ' को ही एत्व होगा । खट्वा टा = खट्वे आ = खट्वय् आ = खट्वया । खट्वे ओस् = खट्वयोः ॥

यहाँ से 'आपः' की अनुवृत्ति ७।३।१०६ तक जायेगी ॥

सम्बुद्धौ च ॥७।३।१०६॥

सम्बुद्धौ ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—आपः, एत्, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सम्बुद्धौ च परत आबन्तस्याङ्गस्य एकारादेशो भवति ॥ उदा०—हे खट्वे, हे बहुराजे, हे कारीषगन्ध्ये ॥

भाषार्थः—[सम्बुद्धौ] सम्बुद्धि परे रहते [च] भी आबन्त अङ्ग को एकारादेश होता है ॥ हे खट्वे सु = हे खट्वे स्, यहाँ स् का एङ्ह्रस्वात्० (६।१।६७) से लोप होकर हे खट्वे बन गया ॥ एकवचनं० (२।३।४९) से सम्बुद्धि संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'सम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति ७।३।१०८ तक जायेगी ॥

अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः ॥७।३।१०७॥

अम्बार्थनद्योः ६।२॥ ह्रस्वः १।१॥ स०—अम्बा अर्थो यस्य स अम्बार्थः, बहुव्रीहिः । अम्बार्थश्च नदी च अम्बार्थनद्यौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सम्बुद्धौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अम्बार्थानां नद्यन्तानां चाङ्गानां ह्रस्वो भवति सम्बुद्धौ परतः ॥ उदा०—हे अम्ब, हे अक्क, हे अल्ल । नद्याः—हे कुमारि, हे शार्ङ्गरवि, हे ब्रह्मबन्धु, हे वीरबन्धु ॥

भाषार्थः—[अम्बार्थनद्योः] अम्बा (=माँ) के अर्थवाले अङ्गों को, तथा नदीसंज्ञक अङ्गों को सम्बुद्धि परे रहते [ह्रस्वः] ह्रस्व हो जाता है ॥ अक्का आदि अम्बार्थक शब्द हैं, तथा कुमारी आदि की यू स्त्र्याख्यौ० (१।४।३) से नदी-संज्ञा है, अतः सम्बुद्धि का सु परे रहते ह्रस्व हो गया। पश्चात् 'स्' का एङ्ह्रस्वात्० (६।१।६७) से लोप हो गया ॥

ह्रस्वस्य गुणः ॥७।३।१०८॥

ह्रस्वस्य ६।१॥ गुणः १।१॥ अनु०—सम्बुद्धौ, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति सम्बुद्धौ परतः ॥ उदा०—हे अग्ने, हे वायो, हे पटो ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वस्य] ह्रस्वान्त अङ्ग को सम्बुद्धि परे रहते [गुणः] गुण होता है ॥ गुण कर लेने पर सु के स् का एङ्ह्रस्वात्० (६।१।६७) से लोप हो जायेगा ॥

यहाँ से 'ह्रस्वस्य' की अनुवृत्ति ७।३।१०९ तक, तथा 'गुणः' की ७।३।१११ तक जायेगी ॥

जसि च ॥७।३।१०९॥

जसि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—ह्रस्वस्य गुणः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जसि च परतो ह्रस्वान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति ॥ उदा०—अग्नयः, वायवः, पटवः, धेनवः, बुद्धयः ॥

भाषार्थः—[जसि] जस् परे रहते [च] भी ह्रस्वान्त अङ्ग को गुण होता है ॥ अग्नि जस् = अग्ने अस् = अग्नयस् = अग्नयः । वायो अस् = वायवः ॥

ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ॥७।३।११०॥

ऋतः ६।१॥ ङिसर्वनामस्थानयोः ७।२॥ स०—ङिश्च सर्वनामस्थानञ्च ङिसर्वनामस्थाने, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—गुणः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऋकारान्तास्याङ्गस्य ङौ सर्वनामस्थाने च परतो गुणो भवति ॥ उदा०—ङौ—मातरि, पितरि, भ्रातरि, कर्त्तरि । सर्वनामस्थाने—कर्त्तारौ, कर्त्तारः, कर्त्तारम्, कर्त्तारौ । पितरौ, भ्रातरौ ॥

भाषार्थः – [ऋतः] ऋकारान्त अङ्ग को [ङिसर्वनामस्थानयोः] ङि तथा सर्वनामस्थान विभक्ति परे रहते गुण होता है ॥ गुण करने में उरण् रपरः (१।१।५०) से सर्वत्र रपरत्व होगा । कर्त्तारौ कर्त्तारः आदि में गुण करके अप्तृन्तृच्स्वसृ० (६।४।११) से दीर्घ हो जाता है । कर्त्तर् औ = कर्त्तारौ ॥

घेर्ङिति ॥७।३।१११॥

घेः ६।१॥ ङिति ७।१॥ स०—ङकार इत् यस्य स ङित्, तस्मिन्... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—गुणः, अङ्गस्य, सुपि ॥ अर्थः—घ्यन्तस्याङ्गस्य गुणो भवति ङिति सुपि प्रत्यये परतः ॥ उदा०—अग्नये, वायवे । अग्नेः, वायोः । अग्नेः स्वम्, वायोः स्वम् ॥

भाषार्थः—[घेः] घिसंज्ञक अङ्ग को [ङिति] ङित् सुप् प्रत्यय परे रहते गुण होता है ॥ ङे, ङसि, ङस् तथा ङि ये ङित् प्रत्यय हैं ॥ अग्नेः, वायोः की सिद्धि सूत्र ६।१।१०६ में देखें । अग्ने ङे = अग्नय् ए = अग्नये । शेषो घ्यसखि (१।४।७) से घि-संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'ङिति' की अनुवृत्ति ७।३।११५ तक जायेगी ॥

आण् नद्याः ॥७।३।११२॥

आट् १।१॥ नद्याः ५।१॥ अनु०—ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—नद्यन्तादङ्गादुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्याडागमो भवति ॥ उदा०—कुमार्यै । ब्रह्मबन्ध्वै । कुमार्याः, ब्रह्मबन्ध्वाः ॥

भाषार्थः—[नद्याः] नदी-संज्ञक अङ्ग से उत्तर ङित् प्रत्यय को [आट्] आट् आगम होता है ॥ यू स्त्र्याख्यौ० (१।४।३) से नदी-संज्ञा होती है ॥ कुमार्यै आदि की सिद्धि भाग २, परिशिष्ट ४।१।२ में देखें ॥

याडापः ॥७।३।११३॥

याट् १।१॥ आपः ५।१॥ अनु०—ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आबन्तादङ्गादुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य याडागमो भवति ॥ उदा०—खट्वायै, बहुराजायै, कारीषगन्ध्यायै । खट्वायाः, बहुराजायाः, कारीषगन्ध्यायाः ॥

भाषार्थः—[आपः] आबन्त अङ्ग से उत्तर ङित् प्रत्यय को [याट्] याट् आगम होता है॥ सिद्धियाँ भाग २, परि० ४।१।२ में देखें। खट्वा में टाप्, बहुराजा में डाप् (४।१।१३), तथा कारीषगन्ध्या शब्द में ष्याप् (४।१।७४) प्रत्यय हुआ है। इस प्रकार ये आबन्त हैं॥

यहाँ से 'आपः' की अनुवृत्ति ७।३।११४ तक जायेगी॥

सर्वनाम्नः स्याड्ढ्रस्वश्च॥७।३।११४॥

सर्वनाम्नः ५।१॥ स्याट् १।१॥ ह्रस्वः १।१॥ च अ०॥ अनु०—आपः, ङिति, अङ्गस्य॥ अर्थः—सर्वनाम्न आबन्तादङ्गादुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य स्याडागमः सर्वनाम्नो ह्रस्वश्च भवति॥ उदा०—सर्वस्यै, विश्वस्यै, यस्यै, तस्यै, कस्यै, अन्यस्यै। सर्वस्याः, विश्वस्याः, यस्याः, तस्याः, कस्याः, अन्यस्याः॥

भाषार्थः—आबन्त [सर्वनाम्नः] सर्वनाम अङ्ग से उत्तर ङित् प्रत्यय को [स्याट्] स्याट् आगम होता है, [च] तथा उस आबन्त सर्वनाम को [ह्रस्वः] ह्रस्व भी हो जाता है॥ याडापः का अपवाद यह सूत्र है॥ 'सर्वा ङे' यहाँ सर्वनाम शब्द को ह्रस्वत्व, तथा ङे को स्याट् आगम होकर सर्व स्याट् ए रहा। वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर सर्वस्यै बन गया। इसी प्रकार सब में जानें। सर्व स्याट् ङस्=सर्वस्या अस्, सवर्णदीर्घत्व होकर सर्वस्याः बन गया॥

यहाँ से 'स्याड् ह्रस्वश्च' की अनुवृत्ति ७।३।११५ तक जायेगी॥

विभाषा द्वितीयातृतीयाभ्याम्॥७।३।११५॥

विभाषा १।१॥ द्वितीयातृतीयाभ्याम् ५।२॥ स०—द्वितीया० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—स्याड् ह्रस्वश्च, ङिति, अङ्गस्य॥ अर्थः—द्वितीया तृतीया इत्येताभ्यामुत्तरस्य ङितः प्रत्ययस्य विभाषा स्याडागमो भवति, द्वितीयातृतीययोः ह्रस्वश्च भवति॥ उदा०—द्वितीयस्यै, द्वितीयायै। तृतीयस्यै, तृतीयायै॥

भाषार्थः—[द्वितीयातृतीयाभ्याम्] द्वितीया तथा तृतीया शब्द से उत्तर ङित् प्रत्यय को [विभाषा] विकल्प से स्याट् आगम होता है, तथा द्वितीया तृतीया शब्द को स्याट् के योग में ह्रस्व भी हो जाता है॥ द्वितीया तृतीया के सर्वनामसंज्ञक न होने से पूर्वसूत्र से प्राप्ति नहीं थी, अप्राप्त विधान है॥ सिद्धियाँ परि० १।१।२७ में प्रदर्शित उत्तरपूर्वस्यै उत्तरपूर्वायै आदि के समान ही हैं॥

ङेराम्नद्याम्नीभ्यः॥७।३।११६॥

ङेः ६।१॥ आम् १।१॥ नद्याम्नीभ्यः ५।३॥ स०—नदी च आप् च नीश्च नद्याम्न्यः, तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—अङ्गस्य॥ अर्थः—नद्यन्तादाबन्तात

नी इत्येतस्मादुत्तरस्य ङेः 'आम्' इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—नद्यन्तात्—कुमार्याम्, गौर्याम्, ब्रह्मबन्ध्वाम्, वीरबन्ध्वाम् । आबन्तात्—खट्वायाम्, बहुराजायाम्, कारीषगन्ध्यायाम् । नी—राजन्याम्, सेनान्याम् ॥

भाषार्थः—[नद्याम्नीभ्यः] नदीसंज्ञक आबन्त तथा नी से उत्तर [ङेः] ङि विभक्ति के स्थान में [आम्] आम् आदेश होता है ॥ अनेकाल्० (१।१।५४) से सम्पूर्ण ङि के स्थान में आम् आदेश होगा ॥ सभी सिद्धियां भाग २, परि० ४।१।२ में देखें ॥

यहां से 'ङेः' की अनुवृत्ति ७।३।११८ तक, तथा 'आम् नद्याः' की ७।३।११७ तक जायेगी ॥

इदुद्भ्याम् ॥७।३।११७॥

इदुद्भ्याम् ५।२॥ स०—इत् च उत् च इदुतौ, ताभ्यां—इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नद्याः, ङेराम् ॥ अर्थः—इकारोकाराभ्यां नदीसंज्ञकाभ्यामुत्तरस्य ङेराम् आदेशो भवति ॥ उदा०—कृत्याम्, धेन्वाम् ॥

भाषार्थः—[इदुद्भ्याम्] इकारान्त उकारान्त नदी-संज्ञक से उत्तर ङि के स्थान में 'आम्' आदेश होता है ॥ पूर्वसूत्र से ही सिद्ध था, पुनर्विधान उत्तरसूत्र से औकारादेश परत्व मानकर न हो जाये, इसलिये है ॥

यहां से 'इदुद्भ्याम्' की अनुवृत्ति ७।३।११९ तक जायेगी ॥

औदच्च घेः ॥७।३।११८॥

औत् १।१॥ अत् १।१॥ च अ०॥ घेः ६।१॥ अनु०—इदुद्भ्याम्, ङेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—इदुद्भ्यामुत्तरस्य ङेरौकारादेशो भवति, घिसंज्ञकस्य अकारादेशश्च भवति ॥ उदा०—सख्यौ, पत्यौ । अग्नौ, वायौ, कृतौ, धेनौ, पटौ ॥

भाषार्थः—इकारान्त उकारान्त अङ्ग से उत्तर ङि को [औत्] औकारादेश होता है, [च] तथा [घेः] घिसंज्ञक को [अत्] अकारादेश भी (अन्त्य अल्

---

1. महाभाष्य में इस सूत्र में 'औत्', 'अच्च घेः' ऐसा योगविभाग करके दो सूत्र बनाये हैं । पहले सूत्र का अर्थ 'इदुद्भ्याम्' की अनुवृत्ति आकर हुआ—इकारान्त उकारान्त से उत्तर ङि को औत् = औकारादेश होता है । यही अभिप्राय उपरिलिखित अर्थ में एकसूत्र मानकर भी प्रकट किया है । तदनुसार इकारान्त उकारान्त से औकारादेश का विधान प्रधान है, और घिसंज्ञक को अकारादेश का विधान अन्वाचयरूप है । अतः जहां घि संज्ञा नहीं होती, वहां सख्यौ पत्यौ में केवल औत्व, तथा घिसंज्ञक अग्नौ आदि में औत्व और अत्व दोनों कार्य हो जाते हैं ॥

को) होता है ॥ सख्यौ पत्यौ औकारादेश होने पर यणादेश करके (घिसंज्ञा न होने से) बने हैं। अग्नि ङि= अग्न् अ औ, वृद्धिरेचि (६।१।८५) लगकर अग्नौ बन गया ॥

यहाँ से 'घेः' की अनुवृत्ति ७।३।११९ तक जायेगी ॥

आङो नाऽस्त्रियाम् ॥७।३।११९॥

आङः ६।१॥ ना १।१॥ अस्त्रियाम् ७।१॥ स०— न स्त्री अस्त्री, तस्याम् ... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—घेः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—घेरुत्तरस्य आङो ना इत्ययमादेशो भवति, अस्त्रियाम् ॥ उदा०—अग्निना, वायुना, पटुना ॥

भाषार्थः—घिसंज्ञक अङ्ग से उत्तर [आङः] आङ् =तृतीया एकवचन 'टा' के स्थान में [ना] ना आदेश होता है, [अस्त्रियाम्] स्त्रीलिङ्गवाले शब्द को छोड़कर ॥ शेषो घ्यसखि (१।४।७) से घि-संज्ञा हो ही जायेगी ॥

इति तृतीयः पादः ॥

—:o:—

चतुर्थः पादः

णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः ॥७।४।१॥

णौ ७।१॥ चङि ७।१॥ उपधायाः ६।१॥ ह्रस्वः १।१॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—चङ्परे णौ यदङ्गं तस्योपधायाः ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—अचीकरत्, अजीहरत्, अलीलवत्, अपीपवत् ॥

भाषार्थः—[चङि] चङ् परे है जिसके, ऐसे [णौ] णिच् के परे रहते अङ्ग की [उपधायाः] उपधा को [ह्रस्वः] ह्रस्व होता है ॥ 'चङि' तथा 'णौ' दोनों पदों में सप्तमी होने से "चङ्परक जो णि उसके परे रहते" ऐसा अर्थ हुआ है ॥ अचीकरत् अजीहरत् की सिद्धि परि० १।४।१० में देखें। लूञ् से लावि धातु बनाकर ह्रस्वत्व; ओः पुय० (७।४।८०) से इत्व करके अलीलवत् की सिद्धि अपीपठत् के समान परि० ६।१।११ में देखें ॥

यहाँ से 'णौ चङ्युपधायाः' की अनुवृत्ति ७।४।८ तक, तथा 'ह्रस्वः' की ७।४।३ तक जायेगी ॥

नाग्लोपिशास्वृदिताम् ॥७।४।२॥

न अ०॥ अग्लोपिशास्वृदिताम् ६।३॥ स०—अको लोपः अग्लोपः, षष्ठीतत्पुरुषः। सोऽस्यास्तीति अग्लोपी, मतुबर्थे इनिप्रत्ययः। ऋत् इत् यस्य स ऋदित्, बहुव्रीहिः। अग्लोपी च शासुश्च ऋदित् च अग्लोपिशास्वृदितः, तेषां, इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अग्लोपिनामङ्गानां शासेः ऋदितां चाङ्गानां णौ चङ्युपधाया ह्रस्वो न भवति ॥ उदा०—अग्लोपिनाम्—मालामाख्यत् = अममालत्। मातरमाख्यत् = अममातत्। राजानमतिक्रान्तवान् = अत्यरराजत्। लोमान्यनुमृष्टवान् = अन्वलुलोमत्। शासेः—अशशासत्। ऋदिताम्—बाधृ—अबबाधत्। याचृ—अययाचत्। ढौकृ—अडुढौकत्॥

भाषार्थः—[अग्लोपिशास्वृदिताम्] अक् प्रत्याहार के किसी अक्षर का लोप हुआ है जिस अङ्ग में उसके, तथा शासु अनुशिष्टौ एवं ऋदित् अङ्गों के उपधा को चङ्परक णि परे रहते ह्रस्व [न] नहीं होता है॥ पूर्वसूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया॥ परि० १।१।५६ में प्रदर्शित पटयति के समान माला शब्द से णिच् आकर, एवं टि भाग का लोप होकर 'माल् इ' धातु बनी। टि भाग 'आ' का लोप होने से यह अग्लोपी अङ्ग है। अतः आगे 'अचीकरत्' (परि० १।४।१०) के समान चङ् इत्यादि आकर पूर्वसूत्र से उपधा-ह्रस्वत्व प्राप्त था, निषेध हो गया। इसी प्रकार मातृ शब्द से अममातत् में 'ऋ' (टिभाग) अक् का, तथा राजन् से अत्यरराजत्, लोमन् से अन्वलुलोमत् में 'अन्' का लोप होने से अग्लोपी अङ्ग हैं। अन्वलुलोमत् में सत्यापपाश० (३।१।२५) से णिच्, तथा अत्यरराजत् में प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च (धातुपाठ चुरादिगण) से णिच् हुआ है। अनुबन्धों के अनवयव होने से शासु तथा ऋदित् धातु अग्लोपी नहीं हैं, अतः अलग से कह दिया है॥

भ्राजभासभाषदीपजीवमीलपीडामन्यतरस्याम् ॥७।४।३॥

भ्राज...पीडाम् ६।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—भ्राज० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—भ्राज, भास, भाष, दीप, जीव, मील, पीड इत्येतेषामङ्गानां णौ चङ्युपधाया ह्रस्वो विकल्पेन भवति ॥ उदा०—भ्राज—अबिभ्रजत्, अबभ्राजत्। भास—अबीभसत्, अबभासत्। भाष—अबीभषत्, अबभाषत्। दीपी—अदीदिपत्, अदिदीपत्। जीव—अजीजिवत्, अजिजीवत्। मील—अमीमिलत्, अमिमीलत्। पीड—अपीपिडत्, अपिपीडत्॥

भाषार्थः—[भ्राज...पीडाम्] भ्राज, भास, भाष, दीपी, जीव, मील, पीड

इन अङ्गों की उपधा को चङ्परक णि परे रहते [अन्यतरस्याम्] विकल्प से ह्रस्व होता है ॥ जब पक्ष में ह्रस्वत्व हो गया, तो पूर्ववत् अचीकरत् के समान सिद्धि जानें। इस पक्ष में अबिभ्रजत् में लघु अभ्यास न होने से दीर्घो लघोः (७।४।९४) के अभ्यास को दीर्घ नहीं होता ॥ पक्ष में जब उपधा-ह्रस्वत्व नहीं हुआ, तो लघु धात्वक्षर परे न होने से सन्वल्लघुनि० (७।४।९३) से सन्वद्भाव न होने से सन्यतः (७।४।७९) से इत्व नहीं होगा। केवल अभ्यास को ह्रस्वः (७।४।५९) से ह्रस्व हो जायेगा ॥

लोपः पिबतेरीच्चाभ्यासस्य ॥७।४।४॥

लोपः १।१॥ पिबतेः ६।१॥ ईत् १।१॥ च अ० ॥ अभ्यासस्य ६।१॥ अनु०—णौ चङ्युपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पिबतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधाया लोपो भवति, अभ्यासस्य च ईकारादेशो भवति ॥ उदा०—अपीप्यत्, अपीप्यताम्, अपीप्यन् ॥

भाषार्थः—[पिबतेः] 'पा पाने' अङ्ग की उपधा का चङ्परक णि परे रहते [लोपः] लोप होता है, [च] तथा [अभ्यासस्य] अभ्यास को [ईत्] ईकारादेश होता है ॥ उपधा-ह्रस्वत्व (७।४।१ से) प्राप्त था, लोप विधान कर दिया। पा णिच्=शाच्छासाह्वा० (७।३।३७) से युक् आगम होकर—पा युक् णिच्=पा य् इ लुङ्=पाय् इ चङ् तिप् रहा। पश्चात् णि लोप हुआ। यहाँ पाय् की उपधा 'आ' को लोप प्रकृत सूत्र से होकर द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से रूपातिदेश होकर पाय् प्य् द्वित्व हुआ। अभ्यास के अन्त्य अल् आ को ईत्व होकर पीप्य अ त्=अट् पीप्यत्=अपीप्यत् बन गया ॥

तिष्ठतेरित् ॥७।४।५॥

तिष्ठतेः ६।१॥ इत् १।१॥ अनु०—णौ चङ्युपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तिष्ठतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधाया इकारादेशो भवति ॥ उदा०—अतिष्ठिपत्, अतिष्ठिपताम्, अतिष्ठिपन् ॥

भाषार्थः—[तिष्ठतेः] ष्ठा अङ्ग की उपधा को चङ्परक णि परे रहते [इत्] इकारादेश होता है ॥ यह सूत्र भी उपधा-ह्रस्वत्व (७।४।१ से) का अपवाद है ॥ अर्तिह्री० (७।३।३६) से पुक् आगम होकर स्थाप् इ चङ् त् रहा। णि लोप एवं स्थाप् की उपधा को इत्व होकर स्थिप् अ त् रहा। पूर्ववत् द्वित्व तथा शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१), अभ्यासे चर्च (८।४।५३) लगाकर 'अ ति स्थि प् अ त्' रहा। षत्व तथा ष्टुत्व थ् को ठ् होकर अतिष्ठिपत् बन गया ॥

यहां से 'इत्' की अनुवृत्ति ७।४।६ तक जायेगी ॥

जिघ्रतेर्वा ॥७।४।६॥

जिघ्रतेः ६।१॥ वा अ० ॥ अनु०—इत्, णौ चङ्युपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—जिघ्रतेरङ्गस्य णौ चङ्युपधायाः विकल्पेन इकारादेशो भवति ॥ उदा०—अजिघ्रिपत्, अजिघ्रिपताम्, अजिघ्रिपन् । पक्षे—अजिघ्रपत्, अजिघ्रपताम्, अजिघ्रपन् ॥

(भाषार्थः—[जिघ्रतेः] 'घ्रा गन्धोपादाने' अङ्ग की उपधा को चङ्परक णि परे रहते [वा] विकल्प से इकारादेश होता है ॥ इकारादेश पक्ष में अजिघ्रिपत् की सिद्धि पूर्वसूत्र में प्रदर्शित अतिष्ठिपत् के समान जानें । जब पक्ष में इकारादेश नहीं हुआ, तो ७।४।१ से उपधा-ह्रस्वत्व, एवं सन्वद्भाव, तथा अभ्यास को इत्व सन्यतः (७।४।७९ से) होकर अजिघ्रपत् बन गया ॥

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ७।४।७ तक जायेगी ॥

उर्ऋत् ॥७।४।७॥

उः ६।१॥ ऋत् १।१॥ अनु० वा, णौ चङ्युपधायाः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—णौ चङ्यङ्गस्योपधाया ऋवर्णस्य स्थाने वा ऋकारादेशो भवति ॥ इररारामपवादः ॥ उदा०—इर्—अचीकृतत्, अचिकीर्त्तत् । अर्—अवीवृतत्, अववर्त्तत् । आर्—अमीमृजत्, अममार्जत् ॥

भाषार्थः—चङ्परक णि परे रहते अङ्ग की उपधा [उः] ऋवर्ण के स्थान में विकल्प से [ऋत्] ऋकारादेश होता है ॥ यह सूत्र इर्, अर्, आर् जो इत्व, गुण, वृद्धि को उरण्रपरः (१।१।५०) लगकर प्राप्त थे, उनका अपवाद है । पक्ष में वे भी होते हैं ॥ कृत धातु से अचीकृतत्, यहाँ उपधा ऋ को उपधायाश्च (७।१।१०१) उरण्रपरः (१।१।५०) से इर् प्राप्त था, ऋवर्ण को ऋकार ही विधान कर देने से नहीं हुआ । कृत् कृत् द्वित्व, तथा अभ्यास को उरत् (७।४।६६) आदि लगकर अचीकृतत् पूर्ववत् बन जायेगा । पक्ष में जब इर् हो गया, तो किर् त् चङ् त् होकर, तथा द्वित्व करने के पश्चात् उपधायां च (८।२।७८) से दीर्घ करके अचिकीर्त्तत् बन गया । वृतु से अवीवृतत्, यहाँ पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गुण होकर अर् प्राप्त था, ऋकार विधान कर दिया । पक्ष में अर् भी हो जाता है । मृजूष् धातु को मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से वृद्धि होकर 'आर्' प्राप्त था, पक्ष में वह भी होता है । आर् पक्ष में लघु प्रत्यक्षर परे न होने से सन्वद्भाव नहीं होता ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।४।८ तक जायेगी ॥

नित्यं छन्दसि ॥७।४।८॥

नित्यम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—उर्ऋत्, णौ चङ्युपधायाः, अङ्गस्य ॥

अर्थः—छन्दसि विषये णौ चङ्युपधाया ऋवर्णस्य स्थाने नित्यम् ऋकारादेशो भवति॥ उदा०—अवीवृधत् पुरोडाशेन । अवीवृधताम्, अवीवृधन् ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद-विषय में चङ्परक णि परे रहते उपधा ऋवर्ण के स्थान में [नित्यम्] नित्य ही ऋकारादेश होता है ॥ पूर्ववत् ऋकारादेश करके अचीकृतत् के समान ही वृध् वृध् द्वित्व होकर, अभ्यास को उरत् (७।४।६६) लगकर अवीवृधत् बन गया ॥ सिद्धियों की प्रक्रिया सर्वत्र १।४।१० में प्रदर्शित अचीकरत् के समान ही समझते जायें ॥

दयतेर्दिगि लिटि ॥७।४।९॥

दयतेः ६।१॥ दिगि लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ लिटि ७।१॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—दयतेरङ्गस्य लिटि परतो दिगि इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—अवदिग्ये, अवदिग्याते, अवदिग्यिरे ॥

भाषार्थः—[दयतेः] 'देङ् रक्षणे' धातु को [लिटि] लिट् लकार परे रहते [दिगि] दिगि आवेश होता है ॥ लिटस्तझ० (३।४।८१) से त को एश् होकर दे एश्=दिगि एश् रहा । अब यहाँ दिगि आदेश द्विर्वचन (६।१।८) का बाधक=अपवाद है, अतः द्विर्वचन नहीं होता । सो एरनेकाचो० (६।४।८२) से यणादेश होकर दिग्ये दिग्याते बन गया ॥ यहाँ 'दयतेः' निर्देश से दय धातु का ग्रहण नहीं होता, क्योंकि उससे आम् प्रत्यय (३।१।३७) कह चुके हैं ॥

यहाँ से 'लिटि' की अनुवृत्ति ७।४।१२ तक जायेगी ॥

ऋतश्च संयोगादेर्गुणः ॥७।४।१०॥

ऋतः ६।१॥ च अ० ॥ संयोगादेः ६।१॥ गुणः १।१॥ स०—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, तस्य ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—लिटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—संयोगादेः ऋकारान्तस्याङ्गस्य गुणो भवति लिटि परतः ॥ उदा०—स्वृ—सस्वरतुः, सस्वरुः । ध्वृ—दध्वरतुः, दध्वरुः । स्मृ—सस्मरतुः, सस्मरुः ॥

भाषार्थः—[संयोगादेः] संयोग आदि में है जिसके ऐसे [ऋतः] ऋकारान्त अङ्ग को [च] भी [गुणः] गुण होता है, लिट् परे रहते ॥ स्मृ लिट्, यहाँ प्रकृत सूत्र से गुण होकर स्मर् अतुस् रहा । द्वित्व होकर स्मर् स्मर् अतुस्, अभ्यासकार्य होकर—स स्मर् अतुस्=सस्मरतुः बन गया । इसी प्रकार अन्यों में जानें ॥

यहाँ से 'गुणः' की अनुवृत्ति ७।४।११ तक जायेगी ॥

ऋच्छत्यृताम् ॥७।४।११॥

ऋच्छत्यृताम् ६।३॥ स०—ऋच्छतिश्च ऋ च ऋतश्च ऋच्छत्यृतः, तेषां … इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—गुणः, लिटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऋच्छतेरङ्गस्य ऋ इत्येतस्य ऋकारान्तानां च लिटि परतो गुणो भवति ॥ उदा०—ऋच्छ—आनर्च्छ, आनर्च्छतुः, आनर्च्छुः। ऋ—आरतुः, आरुः। ऋकारान्तानाम्—निचकरतुः, निचकरुः॥

भाषार्थः—[ऋच्छत्यृताम्] ऋच्छ, ऋ (धातु), तथा ऋकारान्त अङ्गों को लिट् परे रहते गुण होता है ॥ ऋच्छ धातु का ऋ लघु उपधा नहीं है, अतः गुण की प्राप्ति ही नहीं थी, विधान कर दिया। तथा ऋ एवं ऋकारान्त धातु को कित् लिट् (अर्थात् णल्, थल्, णल् पित्स्थानी को छोड़कर) परे रहते गुण (१।१।५ से) अप्राप्त था, विधान कर दिया॥ प्रकृतसूत्र से गुण तथा द्वित्व होकर अर्च्छ् अर्च्छ् णल्=अ अर्च्छ् अ रहा। अब यहाँ अतो गुणे (६।१।९४) का बाधकसूत्र अत आदेः (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ, एवं तस्मान्नुड् द्विहलः (७।४।७१) से द्विहल् अङ्ग को नुट् आगम होकर—आ नुट् अर्च्छ् अ=आनर्च्छ बन गया। इसी प्रकार अन्यत्र जानें। आरतुः में भी प्रकृतसूत्र से गुण, द्वित्व, पूर्ववत् अभ्यासदीर्घत्व होकर—आ अर् अतुस् रहा। सवर्णदीर्घत्व होकर आरतुः बना। कृ से निचकरतुः आदि प्रयोग बनेंगे॥

शृदॄप्रां ह्रस्वो वा ॥७।४।१२॥

शृदॄप्राम् ६।३॥ ह्रस्वः १।१॥ वा अ० ॥ स०—शृ च दॄ च पॄ च शृदॄप्रः, तेषाम् … इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—लिटि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—शॄ हिंसायाम्, दॄ विदारणे, पॄ पालनपूरणयोः इत्येतेषामङ्गानां लिटि परतो वा ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—विशश्रतुः, विशश्रुः। पक्षे—विशशरतुः, विशशरुः। विदद्रतुः, विदद्रुः। पक्षे—विददरतुः, विददरुः। निपप्रतुः, निपप्रुः। पक्षे—निपपरतुः, निपपरुः॥

भाषार्थः—[शृदॄप्राम्] शॄ दॄ तथा पॄ अङ्ग को लिट् परे रहते [वा] विकल्प से [ह्रस्वः] ह्रस्व होता है॥ जब पक्ष में ह्रस्वत्व नहीं होता, तो इन धातुओं के ऋकारान्त होने से पूर्वसूत्र से गुण हो जाता है। इस प्रकार नित्य गुण की प्राप्ति में यहाँ विकल्प से ह्रस्वत्व विधान है। विशश्रतुः आदि में ह्रस्व करके शृ शृ द्वित्व, उरदत्व, एवं यणादेश (६।१।७४ से) होता है॥

यहाँ से 'ह्रस्वः' की अनुवृत्ति ७।४।१५ तक जायेगी॥

केऽणः ॥७।४।१३॥

के ७।१॥ अणः ६।१॥ अनु०—ह्रस्वः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—के प्रत्यये परतोऽणो ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—ज्ञका, कुमारिका, किशोरिका ॥

भाषार्थः—[के] क प्रत्यय के परे रहते [अणः] अण्=अ, इ, उ को ह्रस्व होता है ॥ जानातीति ज्ञः, यहाँ इगुपधज्ञा० (३।१।१३५) से क प्रत्यय, तथा तवन्त से दाप् होकर 'ज्ञा' बना । पश्चात् अल्पादि अर्थ में प्रागिवात्कः (५।३।७०) से क होकर ज्ञा क रहा । प्रकृतसूत्र से ज्ञा को ह्रस्वत्व तथा टाप् करके ज्ञका बन गया । इसी प्रकार कुमारी किशोरी से क प्रत्यय होकर ह्रस्वत्व जानें ॥

यहाँ से 'अणः' की अनुवृत्ति ७।४।१४ तक जायेगी ॥

न कपि ॥७।४।१४॥

न अ० ॥ कपि ७।१॥ अनु०—अणः, ह्रस्वः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—कपि प्रत्यये परतोऽणो ह्रस्वो न भवति ॥ उदा०—बहुकुमारीकः, बहुवधूकः, बहुलक्ष्मीकः ॥

भाषार्थः—[कपि] कप् प्रत्यय परे रहते अण् को ह्रस्व [न] नहीं होता है । सिद्धि भाग २, सूत्र ५।४।१५३ में देखें ॥ पूर्वसूत्र से ह्रस्वत्व की प्राप्ति थी, निषेध हो गया ॥

यहाँ से 'न कपि' की अनुवृत्ति ७।४।१५ तक जायेगी ॥

आपोऽन्यतरस्याम् ॥७।४।१५॥

आपः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—न कपि, ह्रस्वः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—आबन्तस्याङ्गस्य कपि परतो विकल्पेन ह्रस्वो न भवति ॥ उदा०—बहुखट्वकः, बहुखट्वाकः । बहुमालकः, बहुमालाकः ॥

भाषार्थः—[आपः] आबन्त अङ्ग को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से (पक्ष में) ह्रस्व नहीं होता, कप् प्रत्यय परे रहते ॥ शेषाद्विभाषा (५।४।१५४) से यहाँ कप् होता है ॥

ऋदृशोऽङि गुणः ॥७।४।१६॥

ऋदृशः ६।१॥ अङि ७।१॥ गुणः १।१॥ स०—ऋ च दृश् च ऋदृश्, तस्य ... समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऋवर्णान्तानामङ्गानां दृशेश्च अङि परतो गुणो भवति ॥ उदा०—शकलाङ्गुष्ठकोऽकरत् । अहं तेभ्योऽकरं नमः । असरत् आरत्, जरा । दृशेः—अदर्शत्, अदर्शताम्, अदर्शन् ॥

भाषार्थः—[ऋदृशः] ऋवर्णान्त तथा दृशिर् अङ्ग को [अङि] अङ् परे रहते [गुणः] गुण होता है ॥ अङ् के ङित् होने से क्ङिति च (१।१।५) से गुण का प्रतिषेध प्राप्त था, विधान कर दिया ॥ अकरत् में कृमृदृरुहि० (३।१।५९) से च्लि के स्थान में अङ्, तथा असरत् आदि में सर्तिशास्त्यर्ति० (३।१।५६) से अङ् हुआ है । जरा में जॄष् धातु से षिद्भिदादि० (३।३।१०४) से अङ् प्रत्यय,

एवं टाप् हुआ है। अदर्शत में च्लि को अङ इरितो वा (३।१।५७) से हुआ है। अदर्शत की सिद्धि परि० ३।१।४७ में, तथा असरत आदि की परि० ३।१।५६ में देखें॥

यहाँ से 'अङि' की अनुवृत्ति ७।४।२० तक जायेगी॥

अस्यतेस्थुक् ॥७।४।१७॥

अस्यतेः ६।१॥ थुक् १।१॥ अनु०—अङि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—असु क्षेपणे इत्यस्याङ्गस्य थुक् आगमो भवत्यङि परतः॥ उदा०—आस्थत, आस्थताम्, आस्थन्॥

भाषार्थः—[अस्यतेः] 'असु क्षेपणे' अङ्ग को अङ् परे रहते [थुक्] थुक् आगम होता है॥ अस्यतिवक्ति० (३।१।५२) से आस्थत् में च्लि के स्थान में अङ् होता है। आट् अस् थुक् अङ् त् = आस्थत्॥

श्वयतेरः ॥७।४।१८॥

श्वयतेः ६।१॥ अः १।१॥ अनु०—अङि, अङ्गस्य॥ अर्थः—श्वयतेरङ्गस्याकारादेशो भवत्यङि परतः॥ उदा०—अश्वत्, अश्वताम्, अश्वन्॥

भाषार्थः—[श्वयतेः] टुओश्वि अङ्ग को अङ् परे रहते [अः] अकारादेश होता है॥ सिद्धि भाग १, परि० ३।१।४९ में देखें॥

पतः पुम् ॥७।४।१९॥

पतः ६।१॥ पुम् १।१॥ अनु०—अङि, अङ्गस्य॥ अर्थः—पत्लृ गतौ इत्येतस्याङ्गस्य पुम् आगमो भवत्यङि परतः॥ उदा०—अपप्तत्, अपप्तताम्, अपप्तन्॥

भाषार्थः—[पतः] पत्लृ अङ्ग को अङ् परे रहते [पुम्] पुम् आगम होता है॥ पुषादिद्युता० (३।१।५५) से यहाँ पत्लृ के लृदित् होने से च्लि को अङ् होता है॥ मिदचोऽन्त्यात् परः (१।१।४६) से अन्त्य अच् से परे पुम् होकर—अट् प पुम् त् अङ् त् = अ प प् त् अ त् = अपप्तत् बन गया॥

वच उम् ॥७।४।२०॥

वचः ६।१॥ उम् १।१॥ अनु०—अङि, अङ्गस्य॥ अर्थः—वच इत्येतस्याङ्गस्याङि परत उम् आगमो भवति॥ उदा०—अवोचत्, अवोचताम्, अवोचन्॥

भाषार्थः—[वचः] वच अङ्ग को अङ् परे रहते [उम्] उम् आगम होता है॥ सिद्धियाँ परि० ३।१।५२ में देखें॥

शीङः सार्वधातुके गुणः ॥७।४।२१॥

शीङः ६।१॥ सार्वधातुके ७।१॥ गुणः १।१॥ अनु०—अङ्गस्य॥ अर्थः—शीङोऽङ्गस्य सार्वधातुके परतो गुणो भवति॥ उदा०—शेते, शयाते, शेरते॥

भाषार्थः—[शीङः] शीङ् अङ्ग को [सार्वधातुके] सार्वधातुक परे रहते [गुणः] गुण होता है ॥ अपित् सार्वधातुक परे रहते जहाँ (१।१।५ से) गुण नहीं प्राप्त था, वहाँ के लिये यह सूत्र है। पित् सार्वधातुक[1] परे तो सार्वधातुका० (७।३।८४) से हो ही जाता ॥ शेरते की सिद्धि सूत्र ७।१।६ में देखें ॥

यहाँ से 'शीङः' की अनुवृत्ति ७।४।२२ तक जायेगी ॥

अयङ् यि क्ङिति ॥७।४।२२॥

अयङ् १।१॥ यि ७।१॥ क्ङिति ७।१॥ स०—कश्च ङश्च क्ङौ, क्ङौ इतौ यस्य स क्ङित्, तस्मिन् ... द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—शीङः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—यकारादौ क्ङिति प्रत्यये परतः शीङोऽङ्गस्य अयङ् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—शय्यते। शाशय्यते। प्रशय्य। उपशय्य ॥

भाषार्थः—[यि] यकारादि [क्ङिति] कित् ङित् प्रत्यय परे रहते शीङ् अङ्ग को [अयङ्] अयङ् आदेश होता है ॥ शय्यते भाववाच्य में बना है, सो सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से यक् कित् प्रत्यय होता है। उसके परे रहते अयङ् हो गया। ङिच्च (१।१।५२) से शी के 'ई' को अयङ् होकर—श् अयङ् यक् त=शय् य ते=शय्यते बना। शाशय्यते में यङ्, तथा प्रशय्य आदि में क्त्वा को ल्यप् हुआ है। शाशय्यते में द्विर्वचन करने से पहले परत्व से अयङ् होकर शय् शय् द्वित्व होता है। शेष सिद्धि परि० ६।१।९ के पापच्यते के समान जानें। प्रशय्य भी परि० १।१।५५ के प्रकृत्य के समान जानें ॥

यहाँ से 'क्ङिति' की अनुवृत्ति ७।४।२५ तक, तथा 'यि' की अनुवृत्ति ७।४।२९ तक जायेगी ॥

उपसर्गाद्ध्रस्व ऊहतेः ॥७।४।२३॥

उपसर्गात् ५।१॥ ह्रस्वः १।१॥ ऊहतेः ६।१॥ अनु० यि क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—उपसर्गादुत्तरस्य ऊहतेरङ्गस्य यकारादौ क्ङिति प्रत्यये परतो ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—समुह्यते, समुह्य गतः। अभ्युह्यते, अभ्युह्य गतः ॥

भाषार्थः—[उपसर्गात्] उपसर्ग से उत्तर [ऊहतेः] 'ऊह वितर्के' अङ्ग को यकारादि कित् ङित् प्रत्यय परे रहते [ह्रस्वः] ह्रस्व होता है ॥ सम् ऊह् यक् त, ह्रस्व होकर समुह्यते बना। ल्यप् में समुह्य बन गया ॥

यहाँ से 'उपसर्गात् ह्रस्वः' की अनुवृत्ति ७।४।२४ तक जायेगी ॥

---

१. लोट् के उत्तमपुरुष को आडुत्तमस्य पिच्च (३।४।९२) से पित् होने से पित् सार्वधातुक मिलता है ॥

एतेर्लिङि ॥७।४।२४॥

एतेः ६।१॥ लिङि ७।१॥ अनु०—उपसर्गाद्ध्रस्वः, यि क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—उपसर्गादुत्तरस्य एतेरङ्गस्य लिङि यकारादौ क्ङिति परतो ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—उदियात्, समियात्, अन्वियात् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग से उत्तर [एतेः] 'इण् गतौ' अङ्ग को यकारादि कित् ङित् [लिङि] लिङ् परे रहते ह्रस्व होता है ॥ किदाशिषि (३।४।१०४) से आशीर्लिङ् कित् है, अतः उसी के उदाहरण यहां होंगे। यासुट् यकारादि परे है ही, सो उसके परे रहते जब इण् को अकृत् सार्व० (७।४।२५) से दीर्घ हो जाता है, तो इस सूत्र से उपसर्ग से उत्तर ह्रस्व हो जाता है। यासुट् तथा सुट् के स् का स्कोः संयोगा० (८।२।२९) से लोप होता है ॥

अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः ॥७।४।२५॥

अकृत्सार्वधातुकयोः ७।२॥ दीर्घः १।१॥ स०—कृच्च सार्वधातुकञ्च कृत्सार्वधातुके, इतरेतरद्वन्द्वः। न कृत्सार्वधातुके अकृत्सार्वधातुके, तयोः नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—यि क्ङिति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अकृद्यकारे असार्वधातुकयकारे च क्ङिति परतोऽजन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति ॥ उदा०—भृशायते, सुखायते, दुःखायते। चीयते, चेचीयते, स्तूयते, तोष्टूयते। चीयात्, स्तूयात् ॥

भाषार्थः—[अकृत्सार्वधातुकयोः] कृत तथा सार्वधातुक से भिन्न कित् ङित् यकार परे रहते अजन्त अङ्ग को [दीर्घः] दीर्घ होता है ॥ अचश्च (१।२।२८) परिभाषासूत्र से अचों को ही ह्रस्व-दीर्घ प्लुत होते हैं। अतः उसकी इस सूत्र में उपस्थिति[1] होने से ही 'अजन्त अङ्ग को' ऐसा सूत्रार्थ किया गया है ॥

भृशायते में भृशादिभ्यो० (३।१।१२) से क्यङ्, तथा सुखायते दुःखायते में सुखादिभ्यः० (३।१।१८) से क्यङ् प्रत्यय होता है। चीयते स्तूयते में कर्म में यक्, तथा चेचीयते आदि में यङ् हुआ है। तोष्टूयते में शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) से खय् शेष रहेगा। चीयात् स्तूयात्, यहां आशीर्लिङ् में यासुट् परे रहते चि स्तु को दीर्घ हुआ है। ये सब कृतभिन्न एवं असार्वधातुक यकार हैं ही ॥

यहां से 'अकृत्सार्वधातुकयोः' की अनुवृत्ति ७।४।२९ तक, तथा 'दीर्घः' की ७।४।२६ तक जायेगी ॥

च्वौ च ॥७।४।२६॥

च्वौ ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—दीर्घः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—च्विप्रत्यये परतो-

---

१. कार्यकालं संज्ञापरिभाषम् (परि० २) के हेतु से यहां उपस्थिति होगी ॥

ऽजन्तस्याङ्गस्य दीर्घो भवति ॥ उदा०—शुचीकरोति, शुचीभवति, शुचीस्यात् । पटूकरोति, पटूभवति, पटूस्यात् ॥

भाषार्थः—[च्वौ] च्वि प्रत्यय परे रहते [च] भी अजन्त अङ्ग को दीर्घ होता है ॥ शुचि तथा पटु शब्द से कृभ्वस्तियोगे० (५।४।५०) से च्वि होकर पुनः इन शब्दों को दीर्घ हुआ है । शेष 'व्' लोपादि की प्रक्रिया ५।४।५० सूत्र में ही देखें ॥

यहाँ से 'च्वौ' की अनुवृत्ति ७।४।२७ तक जायेगी ॥

रीङ् ऋतः ॥७।४।२७॥

रीङ् १।१॥ ऋतः ६।१॥ अनु०—च्वौ, अकृत्सार्वधातुकयोः, यि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऋकारान्तस्याङ्गस्य अकृद्यकारेऽसार्वधातुकयकारे च्वौ च परतो रीङ् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—मात्रीयति, पित्रीयति । मात्रीयते, पित्रीयते । चेक्रीयते । च्वौ—मात्रीभूतः । पित्र्यम् ॥

भाषार्थः—[ऋतः] ऋकारान्त अङ्ग को कृत्भिन्न एवं सार्वधातुकभिन्न यकार परे हो तथा च्वि परे हो, तो [रीङ्] रीङ् आदेश होता है ॥ मात्रीयति में सुप आत्मनः० (३।१।८) से क्यच्, मात्रीयते में, कर्त्तुः क्यङ्० (३।१।११) से क्यङ्, चेक्रीयते में कृ धातु से यङ्, तथा मात्रीभूतः में च्वि, एवं पित्र्यम् में पितुर्यच्च (४।३।७६) से यत् प्रत्यय हुआ है । ङिच्च (१।१।५२) से अन्त्य अल् ऋ के स्थान में रीङ् होगा । मातृ क्यच् = मात् रीङ् य = मात्रीयते । चेक्रीयते में गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से अभ्यास को गुण होता है ॥ पित्र्यम् में यस्येति च (६।४।१४८) से रीङ् के ईकार का लोप होता है ॥

यहाँ से 'ऋतः' की अनुवृत्ति ७।४।३० तक जायेगी ॥

रिङ् शयग्लिङ्क्षु ॥७।४।२८॥

रिङ् १।१॥ शयग्लिङ्क्षु ७।३॥ स०—शश्च यक् च लिङ् च शयग्लिङः, तेषु… इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—ऋतः, असार्वधातुके, यि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऋकारान्तस्याङ्गस्य श यक् इत्येतयोः लिङि च यकारादौ असार्वधातुके परतो रिङ् इत्ययमादेशो भवति ॥ उदा०—श—आद्रियते, आध्रियते । यक्—क्रियते, ह्रियते । लिङ्—क्रियात्, ह्रियात् ॥

भाषार्थः—ऋकारान्त अङ्ग को [शयग्लिङ्क्षु] श यक् तथा यकारादि सार्वधातुक भिन्न लिङ् परे रहते [रिङ्] रिङ् आदेश होता है ॥ आशीर्लिङ् असार्वधातुक लिङ् (३।४।११६ से) है, सो वहीं यासुट् परे रहते रिङ् आदेश

होंगे ।। क्रियते ह्रियते की सिद्धि परि० ३।१।६३ में देखें । आङ् पूर्वक दृङ् धृङ् धातु से आद्रियते आध्रियते में श (३।१।७७) परे रहते रिङ् होकर—'आ दृ रि श ते' रहा। अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से 'द्रि' के इकार के स्थान में इयङ् होकर—आ द्र् इयङ् अ त = आद्रिय् अ ते = आद्रियते बन गया ।।

यहाँ से 'शयग्लिङ्क्षु' की अनुवृत्ति ७।४।२६ तक जायेगी ।।

गुणोऽर्त्तिसंयोगाद्योः ।।७।४।२६।।

गुणः १।१।। अर्त्तिसंयोगाद्योः ६।२।। स०—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, बहुव्रीहिः । अर्त्तिश्च संयोगादिश्च अर्त्तिसंयोगादी, तयोः ··· इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—यकि, लिङि, ऋतः, असार्वधातुके, धि, अङ्गस्य । 'श' इत्यत्रासम्भवात् न सम्बध्यते ।। अर्थः—अर्त्तेः संयोगादीनामृकारान्तानामङ्गानां यकि लिङि च यकारादावसार्वधातुके परतो गुणो भवति ।। उदा०—यकि अर्त्तेः—अर्यते । लिङि—अर्यात् । संयोगादीनाम् ऋकारान्तानाम् यकि—स्मर्यते । लिङि—स्मर्यात् ।।

भाषार्थः—[अर्त्तिसंयोगाद्योः] ऋ तथा संयोग आदि में है जिसके, ऐसे ऋकारान्त धातु को यक् तथा यकारादि असार्वधातुक लिङ् परे रहते [गुणः] गुण होता है ।। ऋ एवं संयोगादि ऋकारान्त धातुओं के तुदादिगण की न होने से यहाँ 'श' प्रत्यय का आना सम्भव ही नहीं । अतः 'श' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध यहाँ नहीं लगता ।। सर्वत्र कित् यकार परे होने से सार्वधातुकार्ध० से गुण की प्राप्ति नहीं थी, विधान कर दिया ।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।४।३० तक जायेगी ।।

यङि च ।।७।४।३०।।

यङि ७।१।। च अ० ।। अनु०—गुणोऽर्त्तिसंयोगाद्योः, ऋतः, अङ्गस्य ।। अर्थः—अर्त्तेः संयोगादीनाम् ऋकारान्तानामङ्गानां यङि च परतो गुणो भवति ।। उदा०—ऋ—अरार्यते । संयोगादीनामृकारान्तानाम्—स्वृ—सास्वर्यते । ध्वृ—दाध्वर्यते । स्मृ—सास्मर्यते ।।

भाषार्थः—ऋ तथा संयोग आदिवाले ऋकारान्त अङ्ग को [यङि] यङ् परे रहते [च] भी गुण होता है ।। अरार्यते की सिद्धि परि० ६।१।६ में देखें । सास्वर्यते आदि में अभ्यास को दीर्घोऽकितः (७।४।८३) से दीर्घ होता है ।।

यहाँ से 'यङि' की अनुवृत्ति ७।४।३१ तक जायेगी ।।

ई घ्राध्मोः ।।७।४।३१।।

ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। घ्राध्मोः ६।२।। स०—घ्रा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।।

अनु०—यङि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—घ्रा ध्मा इत्येतयोरङ्गयोर्यङि परत ईकारादेशो भवति ॥ उदा०—घ्रा—जेघ्रीयते । ध्मा—देध्मीयते ॥

भाषार्थः—[घ्राध्मोः] घ्रा तथा ध्मा अङ्ग को यङ् परे रहते [ई] ईकारादेश होता है ॥ घ्रा यङ्, अन्त्य अल् (१।१।५१) को ईत्व होकर 'घ्री य' रहा । द्वित्व, अभ्यासकार्य, एवं गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से गुण इत्यादि होकर जेघ्रीयते, देध्मीयते बन गया ॥

यहां से 'ई' की अनुवृत्ति ७।४।३३ तक जायेगी ॥

अस्य च्वौ ॥७।४।३२॥

अस्य ६।१॥ च्वौ ७।१॥ अनु०—ई, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अवर्णान्तस्याङ्गस्य च्वौ परत ईकारादेशो भवति ॥ उदा०—शुक्लीभवति, शुक्लीस्यात् । खट्वीकरोति, खट्वीस्यात् ॥

भाषार्थः—[अस्य] अवर्णान्त अङ्ग को [च्वौ] च्वि परे रहते ईकारादेश होता है ॥ सिद्धि भाग २, सूत्र ५।४।५० में देखें ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को 'ई' होगा । च्वौ च (७।४।२६) का यह अपवादसूत्र है ॥

यहां से 'अस्य' की अनुवृत्ति ७।४।३५ तक जायेगी ॥

क्यचि च ॥७।४।३३॥

क्यचि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—अस्य, ई, अङ्गस्य ॥ अर्थः—क्यचि च परतोऽवर्णान्तस्याङ्गस्य ईकारादेशो भवति ॥ उदा०—पुत्रीयति, खट्वीयति, घटीयति, मालीयति ॥

भाषार्थः—[क्यचि] क्यच् परे रहते [च] भी अवर्णान्त अङ्ग को ईकारादेश होता है ॥ यह सूत्र अकृत्सार्व० (७।४।२५) का अपवाद है ॥ सिद्धि परि० २।४।७१ में देखें ॥

यहां से 'क्यचि' की अनुवृत्ति ७।४।३६ तक जायेगी ॥

अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु ॥७।४।३४॥

अशनायोदन्यधनायाः १।३॥ बुभुक्षापिपासागर्धेषु ७।३॥ स०—अशना० बुभुक्षा० उभयत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—क्यचि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अशनाय, उदन्य, धनाय इत्येतानि शब्दरूपाणि यथाक्रमं बुभुक्षा पिपासा गर्ध इत्येतेष्वर्थेषु निपात्यन्ते ॥ अशनाय इत्यत्र अशनशब्दस्यात्वं क्यचि परतो निपात्यते । उदन्य इत्यत्र उदकशब्दस्य उदन् आदेशो निपात्यते क्यचि परतः । धनाय इत्यत्रापि धनशब्दस्यात्वं क्यचि परतो निपात्यते ॥ उदा०—अशनायतीति भवति बुभुक्षा चेत् । अन्यत्र अशनीयति । उदन्यतीति पिपासा चेत् । उदकीयतीत्येवान्यत्र । धनायतीति गर्धश्चेत् । अन्यत्र धनीयति ॥

भाषार्थः—[अशनायोदन्यधनायाः] अशनाय, उदन्य, धनाय ये शब्द क्रमशः [बुभुक्षापिपासागर्धेषु] बुभुक्षा, पिपासा, गर्ध इन अर्थों में निपातन किये जाते हैं ॥ बुभुक्षा अर्थ में अशन शब्द को क्यच् परे रहते आत्व 'अशनाय' यहाँ निपातन है। अन्य अर्थों में क्यचि च (७।४।३३) से ईत्व होगा। उदन्य शब्द में उदक को क्यच् परे उदन् आदेश पिपासा अर्थ में निपातित है। धनाय, यहाँ धन शब्द को क्यच् परे आत्व गर्ध (लालच) अर्थ में निपातित है ॥

न च्छन्दस्यपुत्रस्य ॥७।४।३५॥

न अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ अपुत्रस्य ६।१॥ स०—न पुत्रोऽपुत्रः, तस्य...नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—क्यचि, अस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—पुत्रवर्जितस्यावर्णान्तस्याङ्गस्य छन्दसि विषये क्यचि परतो यदुक्तं तन्न भवति ॥ दीर्घत्वमीत्वञ्चोक्तं तन्न भवति ॥ उदा०—मित्रयुः, संस्वेदयुः, देवाञ्जिगाति सुम्नयुः (ऋ० ३।२७।१) ॥

भाषार्थः—[अपुत्रस्य] पुत्र शब्द को छोड़कर अवर्णान्त अङ्ग को [छन्दसि] वेद-विषय में क्यच् परे रहते जो कुछ कहा है, वह [न] नहीं होता ॥ अकृत्सार्व० (७।४।२५), तथा क्यचि च (७।४।३३) से दीर्घत्व एवं ईत्व की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया। अतः ईत्व का प्रतिषेध कर देने पर औत्सर्गिक सूत्र अकृत्० (७।४।२५) से, जो दीर्घत्व प्राप्त था, वह भी नहीं हुआ ॥ सिद्धियाँ ३।२।१७० सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ७।४।३६ तक जायेगी ॥

दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति ॥७।४।३६॥

दुरस्युः १।१॥ द्रविणस्युः १।१॥ वृषण्यति क्रियापदम् ॥ रिषण्यति क्रियापदम् ॥ अनु०—छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—दुरस्युः, द्रविणस्युः, वृषण्यति, रिषण्यति इत्येतानि शब्दरूपाणि क्यचि छन्दसि विषये निपात्यन्ते। 'दुरस्युः' इत्यत्र दुष्ट-शब्दस्य दुरस्भावः क्यचि निपात्यते। तथा च द्रविणशब्दस्य द्रविणस्भावः 'द्रविणस्युः' इत्यत्र। वृषशब्दस्य वृषणभावो 'वृषण्यति' इत्यत्र। रिष्टशब्दस्य च रिषणभावो 'रिषण्यति' इत्यत्र निपात्यते ॥ उदा०—अवियोता दुरस्युः। दुष्टीयतीति प्राप्ते। द्रविणस्युर्विपन्यया (ऋ० ६।१६।३४)। द्रविणीयतीति प्राप्ते। वृषण्यति। वृषीयतीति प्राप्ते। रिषण्यति। रिष्टीयतीति प्राप्ते ॥

भाषार्थः—[दुरस्यु...रिषण्यति] दुरस्युः, द्रविणस्युः, वृषण्यति, रिषण्यति ये शब्द क्यच्प्रत्ययान्त वेद-विषय में निपातित किये जाते हैं ॥ दुरस्युः में दुष्ट शब्द को दुरस् आदेश, द्रविणस्युः में द्रविण शब्द को द्रविणस्, तथा वृषण्यति में वृष शब्द को वृषण्, एवं रिषण्यति में रिष्ट शब्द को रिषण् आदेश क्यच् परे रहते निपातित है ॥ दुरस्युः तथा द्रविणस्युः में क्याच्छन्दसि (३।२।१७०) से 'उ' प्रत्यय हुआ है।

अश्वाघस्यात् ॥७।४।३७॥

अश्वाघस्य ६।१॥ आत् १।१॥ स०—अश्वश्च अघश्च अश्वाघम्, तस्मात्... समाहारो द्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अश्व अघ इत्येतयोः क्यचि परतश्छन्दसि विषये आकारादेशो भवति ॥ उदा०—अश्वायन्तो मघवन् (ऋ० ७।३२।२३)। मा त्वा वृका अघायवो विदन् ॥

भाषार्थः—[अश्वाघस्य] अश्व अघ अङ्गों को क्यच् परे रहते वेद-विषय में [आत्] आकारादेश होता है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् 'अ' को आत्व होता है ॥ क्यचि च (७।४।३३) का यह अपवाद है ॥ अघायवः (१।२) में क्याच्छ० (३।२।१७०) से 'उ' प्रत्यय होता है। अश्वाय बनकर आगे शतृ प्रत्यय के बहुवचन में अश्वायन्तः बना है। शतृप्रत्ययान्त की सिद्धि परि० ३।२।१२४ में देखें ॥

यहाँ से 'आत्' की अनुवृत्ति ७।४।३८ तक जायेगी ॥

देवसुम्नयोर्यजुषि काठके ॥७।४।३८॥

देवसुम्नयोः ६।२॥ यजुषि ७।१॥ काठके ७।१॥ स०—देव० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—आत्, छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—देव, सुम्न इत्येतयोः क्यचि परत आकारादेशो भवति यजुषि काठके ॥ उदा०—देवायन्तो यजमानाय। सुम्नायन्तो हवामहे (काठ० सं० ८।१७) ॥

भाषार्थः—[देवसुम्नयोः] देव तथा सुम्न अङ्ग को क्यच् परे रहते आकारादेश होता है, [यजुषि] यजुर्वेद की [काठके] काठक शाखा में ॥

कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः ॥७।४।३९॥

कव्यध्वरपृतनस्य ६।१॥ ऋचि ७।१॥ लोपः १।१॥ स०—कविश्च अध्वरश्च पृतना च कव्यध्वरपृतनम्, तस्य...समाहारद्वन्द्वः ॥ नपुंसकलिङ्गे ह्रस्वत्वे कृते (१।२।४७) निर्देशः ॥ अनु०—छन्दसि, क्यचि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—कवि, अध्वर, पृतना इत्येतेषामङ्गानां क्यचि परतो लोपो भवति, ऋचि विषये ॥ उदा०—कव्यन्तः सुमनसः। अध्वर्यन्तः। पृतन्यन्तस्तिष्ठन्ति ॥

भाषार्थः—[कव्य...स्य] कवि, अध्वर, पृतना इन अङ्गों का क्यच परे रहते [लोपः] लोप होता है, [ऋचि] पादबद्धमन्त्र के विषय में ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् (१।१।५१) का ही लोप होगा ॥ सभी उदाहरण शतृ के बहुवचन में हैं ॥ कवि क्यच्=कव्य शप् शतृ=कव्य अ अन्त् जस्, अतो गुणे (६।१।९४) लगकर कव्यन्तः बन गया ॥

द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति ॥७।४।४०॥

द्यतिस्यतिमास्थाम् ६।३॥ इत् १।१॥ ति ७।१॥ किति ७।१॥ स०—द्यतिश्च स्यतिश्च माश्च स्थाश्च द्यति स्थाः, तेषां ··· इतरेतरद्वन्द्वः । क् इत् यस्य स कित्, तस्मिन् ··· बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः—दो अवखण्डने, षो अन्तकर्मणि, मा, स्था इत्येतेषामङ्गानामिकारादेशो भवति, तकारादौ किति प्रत्यये परतः॥ उदा०—द्यति—निर्दितः, निर्दितवान् । स्यति—अवसितः, अवसितवान् । मा—मितः, मितवान् । स्था—स्थितः, स्थितवान् ॥

भाषार्थः—[द्यति ··· स्थाम्] द्यति=दो, स्यति=षो, मा तथा स्था अङ्गों को [ति] तकार आदिवाले [किति] कित् प्रत्यय के परे रहते [इत्] इकारादेश होता है ॥ अन्त्य अल् को इकारादेश होकर निर् द् इ त=निर्दितः आदि प्रयोग बन गये ॥

यहाँ से 'इत्' की अनुवृत्ति ७।४।४१ तक, तथा 'ति किति' की ७।४।४७ तक जायेगी ॥

शाच्छोरन्यतरस्याम् ॥७।४।४१॥

शाच्छोः ६।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—शाश्च छाश्च शाच्छौ, तयोः ··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—इत्, ति किति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—शो तनूकरणे, छो छेदने इत्येतयोरन्यतरस्यामिकारादेशो भवति, तकारादौ किति प्रत्यये परतः॥ उदा०—शा—निशितम्, पक्षे—निशातम् । निशितवान्, निशातवान् । छा—अवच्छितम्, अवच्छातम् । अवच्छितवान्, अवच्छातवान् ॥

भाषार्थः—[शाच्छोः] शो तथा छो अङ्ग को [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके इकारादेश होता है, तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते ॥ आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व करके, पुनः अन्त्य अल् 'आ' को 'इ' होकर निशितम् आदि प्रयोग बने । अवच्छितम् आदि में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, एवं श्चुत्व भी हुआ है ॥

दधातेर्हिः ॥७।४।४२॥

दधातेः ६।१॥ हिः १।१॥ अनु०—ति किति, अङ्गस्य ॥ अर्थः—दधातेरङ्गस्य 'हि' इत्ययमादेशो भवति, तकारादौ किति प्रत्यये परतः ॥ उदा०—हितः, हितवान्, हित्वा ॥

भाषार्थः—[दधातेः] डुधाञ् अङ्ग को [हिः] हि आदेश तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते होता है ॥

यहाँ से 'हिः' की अनुवृत्ति ७।४।४४ तक जायेगी ॥

जहातेश्च क्त्वि ॥७।४।४३॥

जहातेः ६।१।। च अ० ।। क्त्वि ७।१।। अनु०—हिः, अङ्गस्य ।। अर्थः—जहातेश्चाङ्गस्य क्त्वाप्रत्यये परतो हीत्ययमादेशो भवति ।। उदा०—हित्वा राज्यं वनं गतः । हित्वा गच्छति ।।

भाषार्थः—[जहातेः] 'ओहाक् त्यागे' अङ्ग को [च] भी [क्त्वि] क्त्वा-प्रत्यय परे रहते 'हि' आदेश होता है ।।

यहाँ से 'जहातेः क्त्वि' की अनुवृत्ति ७।४।४४ तक जायेगी ।।

विभाषा छन्दसि ॥७।४।४४॥

विभाषा १।१।। छन्दसि ७।१।। अनु०—जहातेः क्त्वि, हिः, अङ्गस्य ।। अर्थः—जहातेरङ्गस्य छन्दसि विषये विकल्पेन हीत्ययमादेशो भवति, क्त्वाप्रत्यये परतः ।। उदा०—हित्वा शरीरं यातव्यम् । हात्वा ।।

भाषार्थः—ओहाक् अङ्ग को [विभाषा] विकल्प से [छन्दसि] वेद-विषय में क्त्वा प्रत्यय परे रहते 'हि' आदेश होता है ।। हात्वा, यहाँ घुमास्थागापा० (६।४।६६) से ईत्व छान्दस प्रयोग होने से नहीं होता ।।

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ७।४।४५ तक जायेगी ।।

सुधितवसुधितनेमधितधिष्वधिषीय च ॥७।४।४५॥

सुधित० इत्यादीनि लुप्तप्रथमान्तानि पृथक् पृथक् निर्दिष्टानि पदानि ।। धिष्व, धिषीय इति क्रियापदम् ।। च अ० ।। अनु०—छन्दसि, अङ्गस्य ।। अर्थः—सुधित, वसुधित, नेमधित, धिष्व, धिषीय इत्येतानि छन्दसि विषये निपात्यन्ते ।। तत्र सुधित, वसुधित, नेमधित, इत्यत्र यथाक्रमं सुवसुनेमपूर्वस्य दधातेः क्तप्रत्यये परत इत्वम्, अथवा प्रत्ययस्य इडागमो निपात्यते । धिष्व इत्यत्र लोट्मध्यमपुरुषैकवचने दधातेरित्वं प्रत्ययस्येडागमो वा, द्विर्वचनाभावश्च निपात्यते । धिषीय इत्यत्रापि आशीर्लिङ्यात्मनेपदोत्तमपुरुषैकवचने दधातेरित्वं प्रत्ययस्य इडागमो वा निपात्यते ।। उदा०—गर्भं माता सुधितम् (ऋ० १०।२७।१६) । सुहितमिति प्राप्ते । वसुधितमग्नौ जुहोति । वसुहितमिति प्राप्ते । नेमधिता न पौंस्या (ऋ० १०।९३।१३) । नेमहिता इति प्राप्ते । धिष्व सोमम् । धत्स्वेति प्राप्ते । धिषीय । धासीयेति प्राप्ते ।।

भाषार्थः—[सुधित ·· धिषीय] सुधित, वसुधित, नेमधित, धिष्व, धिषीय ये शब्द [च] भी वेद-विषय में निपातित हैं ।। सुधित, वसुधित, नेमधित इन शब्दों में क्रमशः सु, वसु तथा नेम पूर्व में रहते धा धातु को क्त प्रत्यय परे रहते इत्व

अथवा प्रत्यय को इट् आगम निपातन है। यदि प्रत्यय को इट् आगम करके इन शब्दों की सिद्धि करेंगे, तो धा के आ का आतो लोप० (६।४।६४) से लोप हो जायेगा। इत्व करने पर तो 'आ' को ही इत्व होगा। सुधितम् में कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से, तथा वसुधितम् में विशेषणं विशेष्येण० (२।१।५६) से, एवं नेमधितम् में सामि[1] (२।१।२६) से समास हुआ है॥ धिष्व यहाँ लोट् मध्यम पुरुष के एकवचन थास् के परे रहते 'धा' धातु को इत्व, अथवा प्रत्यय को इट् आगम, एवं श्लौ (६।१।१०) से प्राप्त द्विर्वचन का अभाव निपातन है। थासः से (३।४।८०) से थास् को 'से', एवं सवाभ्यां वामौ (३।४।९१) से 'व' हो ही जायेगा। इट् करने पर धा के आ का लोप छान्दसत्वात् जानें॥ धिषीय, यहाँ आत्मनेपद में आशीर्लिङ् के उत्तम पुरुष एकवचन के परे रहते धा को पूर्ववत् इत्व अथवा प्रत्यय को इडागम निपातन है। इटोऽत् (३।४।१०६) से 'इट्' को अत्व हो ही जायेगा॥

दो दद् घोः॥७।४।४६॥

दः ६।१॥ दद् १।१॥ घोः ६।१॥ अनु०—ति किति, अङ्गस्य॥ अर्थः—घुसंज्ञकस्य दा इत्येतस्य स्थाने 'दद्' इत्ययमादेशो भवति, तकारादौ किति प्रत्यये परतः॥ उदा०—दत्तः, दत्तवान्, दत्तिः॥

भाषार्थः—[घोः] घुसंज्ञक [दः] दा धातु के स्थान में [दद्] दद् आदेश होता है, तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते॥ दा+क्त=दद्+त, खरि च (८।४।५४) से चर्त्व होकर दत्तः बन गया॥

यहां से 'दः घोः' की अनुवृत्ति ७।४।४७ तक जायेगी॥

अच उपसर्गात्तः॥७।४।४७॥

अचः ५।१॥ उपसर्गात् ५।१॥ तः १।१॥ अनु०—दः घोः, ति किति, अङ्गस्य॥ अर्थः—अजन्तादुपसर्गादुत्तरस्य घुसंज्ञकस्य दा इत्येतस्याङ्गस्य त इत्ययमादेशो भवति, तकारादौ किति प्रत्यये परतः॥ उदा०—प्रत्तम्, अवत्तम्, नीत्तम्, परीत्तम्॥

भाषार्थः—[अचः] अजन्त [उपसर्गात्] उपसर्ग से उत्तर घुसंज्ञक 'दा' अङ्ग को तकारादि कित् प्रत्यय परे रहते [तः] तकारादेश होता है॥ 'त' में अकार मुखसुखार्थ रखा है, वस्तुतः 'त्' आदेश होता है। दा के आ को त् आदेश होकर—'प्र द् त् क्त' रहा। खरि च (८।४।५४) से द् को त् होकर—प्र त् त् त रहा। अनचि च (८।४।४६) से द्वित्व होकर ४ तकार हो गये, तो झरो झरि० (८।४।६४) से मध्य के दो तकारों का लोप होकर—प्र त् त अम्=प्रत्तम् आदि

1. सामि इत्यत्रार्थग्रहणमाश्रित्य। तदभावे कर्मधारयः॥

बन गये। नीत्तम्, परीत्तम् में दस्ति (६।३।१२२) से उपसर्ग को दीर्घ हुआ है॥ यहाँ 'अचः' पद की आवृत्ति करने से दा का 'अच्' स्थानी मिल जाता है। अतः 'दा' के अच्=आकार के स्थान में 'त' होता है। अन्यथा आदेः परस्य (१।१।५३) से उपसर्ग से परे 'द्' के स्थान में होता॥

यहाँ से 'तः' की अनुवृत्ति ७।४।४९ तक जायेगी॥

अपो भि ॥७।४।४८॥

अपः ६।१॥ भि ७।१॥ अनु०—तः, अङ्गस्य॥ अर्थः—अप् इत्येतस्याङ्गस्य भकारादौ प्रत्यये परतः 'तः' इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—अद्भिः, अद्भ्यः॥

भाषार्थः—[अपः] अप् अङ्ग को [भि] भकारादि प्रत्यय के परे रहते तकारादेश होता है॥ अप् के अन्त्य अल् 'प्' को त् होगा। पश्चात् अत् भिस्= अद्भिः, झलां जशो० (८।२।३९) से त् को द् होकर बना॥

सः स्यार्धधातुके ॥७।४।४९॥

सः ६।१॥ सि ७।१॥ आर्धधातुके ७।१॥ अनु०—तः, अङ्गस्य॥ अर्थः— सकारान्तस्याङ्गस्य सकारादावार्धधातुके परतस्तकारादेशो भवति॥ उदा०—वत्स्यति, अवत्स्यत्, विवत्सति। जिघत्सति॥

भाषार्थः—[सः] सकारान्त अङ्ग को [सि] सकारादि [आर्धधातुके] आर्धधातुक के परे रहते तकारादेश होता है॥ वस् स्य ति, यहाँ 'स्य' सकारादि आर्धधातुक के परे रहते वस् के अन्त्य अल् स् को त् होकर वत्स्यति बन गया। लृङ् में अवत्स्यत्, तथा सन् में विवत्सति बनेगा। जिघत्सति की सिद्धि परि० २।४।३७ में देखें॥

यहाँ से 'सः' की अनुवृत्ति ७।४।५२ तक, तथा 'सि' की ७।४।५७ तक जायेगी॥

तासस्त्योर्लोपः ॥७।४।५०॥

तासस्त्योः ६।२॥ लोपः १।१॥ स०—तास् च अस्तिश्च तासस्ती, तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—सः सि, अङ्गस्य॥ अर्थः—तासेरस्तेश्च सकारस्य सकारादौ प्रत्यये परतो लोपो भवति॥ उदा०—तासेः—कर्त्तासि, कर्त्तासे। अस्ति—त्वम् असि। व्यतिसे॥

भाषार्थः—[तासस्त्योः] तास् और अस् धातु के सकार का सकारादि प्रत्यय परे रहते [लोपः] लोप होता है॥ पठिता की सिद्धि परि० १।१।६ में दिखा चुके हैं, तद्वत् यहाँ भी सब कार्य होकर कृ तास् सिप्=कर्तास् सि रहा। एकाच उपदेशे०

(७।२।१०) से यहाँ इट् निषेध होगा। प्रकृतसूत्र से स् का लोप, तथा अचो रहाभ्यां० (८।४।४५) से त् को द्वित्व होकर कर्त्तासि बना। (१।३।७२ से) आत्मनेपद में थासः से (३।४।८०) से थास् को 'से' होकर कर्त्तासे बना। अस् शप् सि—अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से शप् लुक् होकर अस् सि=असि बन गया। कर्मव्यतिहार में कर्त्तरि कर्म० (१।३।१४) से आत्मनेपद होकर—'व्यति अस् शप् थास्', पूर्ववत् स् लोपादि सब होकर—व्यति अ से रहा। श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से अस् के 'अ' का लोप होकर—व्यतिसे बन गया॥

यहाँ से 'तासस्त्योः' की अनुवृत्ति ७।४।५२ तक, तथा 'लोपः' की ७।४।५३ तक जायेगी॥

रि च ॥७।४।५१॥

रि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—तासस्त्योर्लोपः, सः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—रेफादौ प्रत्यये परतस्तासेरस्तेश्च सकारस्य लोपो भवति ॥ उदा०—कर्त्तारौ, कर्त्तारः। अध्येतारौ, अध्येतारः ॥

भाषार्थः—[रि] रेफादि प्रत्यय के परे रहते [च] भी तास् और अस् के सकार का लोप होता है ॥ लौकिक प्रयोग विषय में अस् से परे रेफादि प्रत्यय सम्भव ही नहीं, अतः उदाहरण नहीं दिखाया ॥ कर् तास् रौ=कर्त्तारौ बन गया। अध्येतारौ आदि में आत्मनेपद के आताम्, झ को रौ रस् हुआ है। सिद्धि सूत्र २।४।८५ में भी देखी जा सकती है ॥

ह एति ॥७।४।५२॥

हः १।१॥ एति ७।१॥ अनु०—तासस्त्योर्लोपः, सः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तासस्त्योः सकारस्य हकारादेशो भवति एति परतः॥ लोप इति अनुवर्त्तमानं सदपि न संबध्यते हकारविधानात् ॥ उदा०—कर्त्ताहे। अस्तेः—व्यतिहे ॥

भाषार्थः—तास् तथा अस् के सकार को [हः] हकारादेश [एति] एकार परे रहते होता है ॥ लोप की अनुवृत्ति आने पर भी हकार विधानसामर्थ्य से संबद्ध नहीं होती। उत्तम पुरुष एकवचन में—कृ तास् इट्, टित आत्मने० (३।४।७९) से एत्व होकर कर्त्तास् ए=कर्त्ताह् ए=कर्त्ताहे बन गया। इसी प्रकार कर्मव्यतिहार आत्मनेपद में पूर्ववत् (७।४।५० में प्रदर्शित) 'अ' का लोप होकर व्यतिहे बन गया ॥

यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः ॥७।४।५३॥

यीवर्णयोः ७।२॥ दीधीवेव्योः ६।२॥ स०—यिश्च इवर्णश्च यीवर्णौ, तयोः···

इतरेतरद्वन्द्वः। दीधीश्च वेवीश्च दीधीवेव्यौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—लोपः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—दीधीङ् वेवीङ् इत्येतयोर्यकारादौ इवर्णादौ च प्रत्यये परतो लोपो भवति ॥ उदा०—यकारादौ—आदीध्य गतः, आवेव्य गतः। आदीध्यते, आवेव्यते। इवर्णादौ—आदीधिता, आवेविता। आदीधीत, आवेवीत ॥

भाषार्थः—[दीधीवेव्योः] दीधीङ् तथा वेवीङ् अङ्ग का [यीवर्णयोः] यकारादि एवं इवर्ण आदिवाला प्रत्यय परे हो तो लोप होता है ॥ 'यि' में इकार उच्चारणार्थ है, वस्तुतः 'य्' है, अतः यकारादि अर्थ किया है ॥ आ दीधी क्त्वा= आ दीधी ल्यप्, प्रकृतसूत्र से अन्त्य अल् (१।१।५१) का लोप होकर आदीध्य तथा आवेव्य बन गया। कर्मवाच्य में (३।१।६७ से) यक् परे रहते लोप होकर आदीध्यते आवेव्यते बना। तृच् में—आ दीधी इट् तृच्=आदीध् इ ता=आदीधिता बना। विधिलिङ् में—आ दीधी शप् सीयुट् सुट् त=आ दीधी सीय् स् त रहा। शप् का लुक् (२।४।७२ से), एवं दोनों सकारों का लिङः सलोपो० (७।२।७९) से लोप होकर—आ दीधी ईय् त=आ दीध् ईय् त, अब लोपो व्योर्वलि (६।१।६४) लगकर आदीधीत आवेवीत बन गया ॥

सनि मीमाघुरभलभशकपतपदामच इस् ॥७।४।५४॥

सनि ७।१॥ मीमा···पदाम् ६।३॥ अचः ६।१॥ इस् १।१॥ स०—मीश्च माश्च घुश्च रभश्च लभश्च शकश्च पत् च पद् च मीमा···पदः, तेषां ··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सि, अङ्गस्य ॥ अर्थः—मी इत्यनेन मीञ् हिंसायाम्, डुमिञ् प्रक्षेपणे उभयोरपि ग्रहणम्। मा इत्यनेनापि मेङ् प्रभृतीनां त्रयाणां[2] ग्रहणम्। मी, मा, घु, रभ, डुलभष्, शक्लृ, पत्लृ, पद इत्येतेषामङ्गानामचः स्थाने इस् इत्ययमादेशो भवति, सनि सकारादौ प्रत्यये परतः ॥ उदा०—मीञ्—मित्सति; डुमिञ्—प्रमित्सति। मा—मित्सति, मित्सते, अपमित्सते[1]। घुसंज्ञकानाम्—दित्सति, धित्सति। रभ—आरिप्सते। लभ—आलिप्सते। शक—शिक्षति। पत—पित्सति। पद—प्रपित्सते ॥

भाषार्थः—[मीमा···पदाम्] मी, मा, तथा घुसंज्ञक, एवं रभ, डुलभष्, शक्लृ, पत्लृ और पद अङ्गों के [अचः] अच् के स्थान में [इस्] इस् आदेश होता है, सकारादि [सनि] सन् प्रत्यय परे रहते ॥ सन् तो सकारादि है ही, पुनः सकारादि कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ इट् आगम सन् को हुआ हो, तो वहाँ 'इस्' न हो ॥ मी सन्=म् इस् स=मिस् स, सः स्यार्धधातुके (७।४।४९) लगकर

---

१. मिञोऽपि सनि दीर्घत्वे मीरूपत्वात् ॥ २. गामादाग्रहणेष्वविशेषः (परि० ९२) इति परिभाषया ॥

मित् स रहा। द्वित्व होकर मित् मित् स = मि मित्स रहा। अत्र लोपोऽभ्या० (७।४।५८) से अभ्यास लोप होकर मित्सति बना। इसी प्रकार मेङ् को आदेच० (६।१।४४) से आत्व होकर मित्सते बना। आ रभ् स, अच् को इस् होकर—आ र् इस् भ् स = आरिस् भ् स रहा। भ् को खरि च (८।४।५४) से चर्त्व प्, एवं स्कोः संयो० (८।२।२९) से सकारलोप होकर आरिप्सते आलिप्सते बन गया। सर्वत्र अभ्यास का लोप पूर्ववत् हो जायेगा॥

यहां से 'अचः' की अनुवृत्ति ७।४।५६ तक, तथा 'सनि' की ७।४।५७ तक जायेगी॥

आप्ज्ञप्यृधामीत् ॥७।४।५५॥

आप्ज्ञप्यृधाम् ६।३॥ ईत् १।१॥ स०—आप्ज्ञ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—अचः, सनि, सः, अङ्गस्य॥ अर्थः—आप्, ज्ञपि, ऋध् इत्येतेषामङ्गानामचः स्थाने ईकारादेशो भवति, सनि सकारादौ प्रत्यये परतः॥ उदा०—आप्—ईप्सति। ज्ञपि—ज्ञीप्सति। ऋध्—ईर्त्सति॥

भाषार्थः—[आप्ज्ञप्यृधाम्] आप्, ज्ञपि तथा ऋध् अङ्गों के अच् के स्थान में [ईत्] ईकारादेश होता है, सकारादि सन् प्रत्यय परे रहते॥ ज्ञीप्सति तथा ईर्त्सति की सिद्धि परि० ७।२।४९ में देखें। इसी प्रकार आप्लृ धातु से ईप्सति की सिद्धि में प्स प्स द्वित्व, एवं आ को ईत्व तथा अभ्यास का लोप होता है॥

यहां से 'ईत्' की अनुवृत्ति ७।४।५६ तक जायेगी॥

दम्भ इच्च ॥७।४।५६॥

दम्भः ६।१॥ इत् १।१॥ च अ०॥ अनु०—ईत्, अचः, सनि, सः, अङ्गस्य॥ अर्थः—दम्भेरङ्गस्य अचः स्थाने इकारादेशो भवति, चकारादीच्च सनि सकारादौ परतः॥ उदा०—धिप्सति, धीप्सति॥

भाषार्थः—[दम्भः] दम्भ अङ्ग के अच् के स्थान में [इत्] इकारादेश होता है, [च] तथा चकार से ईकारादेश भी होता है, सकारादि सन् प्रत्यय परे रहते॥ सिद्धि परि० ७।२।४९ में देखें॥

मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा ॥७।४।५७॥

मुचः ६।१॥ अकर्मकस्य ६।१॥ गुणः १।१॥ वा अ०॥ स०—न विद्यते कर्म यस्य स अकर्मकः, तस्य ··· बहुव्रीहिः॥ अनु०—सनि, सः, अङ्गस्य॥ अर्थः—अकर्मकस्य मुचोऽङ्गस्य गुणो विकल्पेन भवति, सनि सकारादौ परतः॥ उदा०—मोक्षते वत्सः स्वयमेव। मुमुक्षते वत्सः स्वयमेव॥

भाषार्थः—[अकर्मकस्य] अकर्मक [मुचः] मुच्लृ धातु को [गुणः] गुण [वा] विकल्प से होता है, सकारादि सन् प्रत्यय परे रहते ॥ हलन्ताच्च (१।२।१०) से यहाँ झलादि सन् के कित् होने से पुगन्त० (७।३।८६) से गुण प्राप्त नहीं (१।१।५) था, विकल्प से प्राप्त करा दिया ॥

मोक्षते आदि प्रयोग कर्मकर्त्ता में बने हैं, क्योंकि कर्मकर्त्ता में ही मुच्लृ धातु अकर्मक होता है । वत्सं मोक्तुमिच्छति=वत्स को छोड़ना चाहता है । यहाँ जब वत्स स्वयं छूटने में=स्वतन्त्र होने में अनुकूलता प्रदर्शित करता है, सो वत्स कर्मकर्त्ता बन जाता है । इस प्रकार कर्मवत् कर्मणा० (३।१।८७) से कर्मवद्भाव[1] होकर मोक्षते मुमुक्षते में भावकर्मणोः (१।३।१३) से आत्मनेपद होता है । यहाँ सार्वधातुके यक् (३।१।६७) से यक् भी प्राप्त था, किन्तु भूषाकर्मकिरादिसनां चान्यत्रात्मनेपदात् (भा० वा० ३।१।८७) इस वार्त्तिक से आत्मनेपद को छोड़कर कर्मकर्त्ता में प्राप्त यक्, चिण्, एवं चिण्वद्भाव का निषेध हो जाता है । द्वित्व, एवं चोः कुः (८।२।३०) से च् को क् यहाँ हो ही जायेगा । गुण पक्ष में अभ्यास का ७।४।५८ से लोप होकर मोक् षते=मोक्षते बनेगा । तथा जब गुण नहीं हुआ, तो मुच् मुच् स=मु मुक् ष ते =मुमुक्षते बन गया ॥

अत्र लोपोऽभ्यासस्य ॥७।४।५८॥

अत्र अ० ॥ लोपः १।१॥ अभ्यासस्य ६।१॥ अनु०—अङ्गस्य ॥ अर्थः— अत्र=सनि मीमा० (७।४।५४) इत्यारभ्य मुचोऽकर्मकस्य० (७।४।५७) इति यावद् विधिषु सत्सु अभ्यासस्य लोपो भवति ॥ पूर्वेषु सूत्रेष्वेवोदाहरणानि द्रष्टव्यानि ॥

भाषार्थः—[अत्र] यहाँ सन् परे रहते जो कार्य कहा है, वहाँ अर्थात् सनि मीमा० सूत्र से लेकर मुचोऽकर्मकस्य० सूत्र तक जिन प्रयोगों में इस् ईत् आदि का विधान किया है, उनके [अभ्यासस्य] अभ्यास का [लोपः] लोप होता है॥ पूर्व सूत्रों में उदाहरण दिखा ही चुके हैं ॥

यहाँ से 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति ७।४।९७ तक जायेगी ॥

ह्रस्वः ॥७।४।५९॥

ह्रस्वः १।१॥ अनु०—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अङ्गस्याभ्यासस्य, ह्रस्वो भवति ॥ उदा०—डुढौकिषते, तुत्रौकिषते । डुढौके, तुत्रौके । अडुढौकत्, अतुत्रौकत्॥

भाषार्थः—अङ्ग के अभ्यास को [ह्रस्वः] ह्रस्व होता है ॥ ढौकृ त्रौकृ से

१. कर्मवद्भाव के लिये ३।१।८७ सूत्र द्रष्टव्य है ।

सन्नन्त में डुढौकिषते तुत्रौकिषते; लिट् में त को एश् (३।४।८१) होकर डुढौके तुत्रौके; एवं णिजन्त के लुङ् में अडुढौकत् अतुत्रौकत् बना है। 'ढौ' अभ्यास को यहाँ हु ह्रस्व हो जाता है। सन्नन्त में पूर्ववत्सनः (१।३।६२) से आत्मनेपद हुआ है॥

हलादिः शेषः॥७।४।६०॥

हलादिः १।१॥ शेषः १।१॥ स०—हल् चासौ आदिश्च हलादिः, कर्मधारय-तत्पुरुषः॥ अनु०—अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—अभ्यासस्यादिर्हल् शिष्यते, अर्थात् अनादिर्हल् लुप्यते॥ उदा०—जग्लौ, मम्लौ। पपाच, पपाठ। आट, आटतुः, आटुः॥

भाषार्थः—अभ्यास का [हलादिः] आदि हल् [शेषः] शेष रहता है॥ फलित यह हुआ कि जो आदि का हल् न हो उसका लोप हो जाता है। क्योंकि शेष तभी कहा जा सकता है, जब अनादि हल् का लोप हो जाये॥

जग्लौ मम्लौ की सिद्धि सूत्र ७।१।३४ में देखें। आट, यहां अट् अट् द्वित्व होकर अनादि हल् का लोप होकर—अ अट् शल् रहा। अत आदेः (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ होकर आ अट् अ रहा। सवर्णदीर्घत्व होकर 'आट' बन गया। तद्वत् आटतुः आटुः में भी समझें॥

यहाँ से 'शेषः' की अनुवृत्ति ७।४।६१ तक जायेगी॥

शर्पूर्वाः खयः॥७।४।६१॥

शर्पूर्वाः १।३॥ खयः १।३॥ स०—शर् पूर्वो येषां ते शर्पूर्वाः, बहुव्रीहिः॥ अनु०—शेषः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—अभ्यासस्य शर्पूर्वाः खयः शिष्यन्ते, अन्ये हलो लुप्यन्ते॥ उदा०—चुश्च्योतिषति, तिष्ठासति, पिस्पन्दिते॥

भाषार्थः—[शर्पूर्वाः] शर् प्रत्याहार का कोई वर्ण पूर्व में है जिस [खयः] खय् प्रत्याहार के ऐसा अभ्यास का खय् (प्रत्याहार) शेष रहता है॥ अन्य हलों का लोप हो जाता है, यह फलितार्थ हुआ॥ यह सूत्र पूर्व सूत्र का अपवाद है॥ श्च्युतिर् धातु के आदि में शर् प्रत्याहार का वर्ण है, उसके पश्चात् च् वर्ण खय् है, सो द्वित्व होने पर अभ्यास में च् शेष रहेगा, अन्यों का लोप हो जायेगा। इसी प्रकार स्था एवं स्पदि धातु से भी नुम् (७।१।५८) होकर जानें॥ इन दोनों सूत्रों से हलों की ही लोपविधि की गई है, सो अचों का लोप नहीं होता। अतः श्च्युतिर् के अभ्यास में च् के साथ-साथ 'उ' भी शेष रहता है। स्पदि में इकारसहित 'प' रहता है, ऐसा सर्वत्र जानें॥

कुहोश्चुः ॥७।४।६२॥

कुहोः ६।२।। चुः १।१।। स०—कुश्च ह् च कुहौ, तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अभ्यासस्य कवर्गहकारयोश्चवर्गादेशो भवति ॥ उदा०—कृ—चकार । खन्—चखान । गम्—जगाम । अद्—जघास । हकारस्य—हन्—जघान । हृ—जहार, जिहीर्षति । ओहाक्—जहौ ॥

भाषार्थः—अभ्यास के [कुहोः] कवर्ग तथा हकार को [चुः] चवर्ग आदेश होता है ॥ सिद्धियाँ सभी पूर्व दर्शा आये हैं । जघास में अद् को लिट्यन्यतरस्याम् (२।४।४०) से घस्लृ आदेश होता है, वहीं सिद्धि-प्रकार भी देखें । खन् में अभ्यास के ख को पहले इस सूत्र से चुत्व छ, पश्चात् अभ्यासे चर्च(८।४।५३) से च हुआ है । परि० १।१।५७ के चिकीर्षकः के समान जिहीर्षति का प्रकार जानें । आत औ० (७।१।३४) से णल् को औ होकर जहौ बन गया ॥

यहाँ से 'चुः' की अनुवृत्ति ७।४।६४ तक जायेगी ॥

न कवतेर्यङि ॥७।४।६३॥

न अ० ॥ कवतेः ६।१॥ यङि ७।१॥ अनु०—चुः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—कुङ् (भ्वा०) इत्येतस्याङ्गस्याभ्यासस्य यङि परतश्चवर्गादेशो न भवति ॥ पूर्वेण प्राप्तः प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—कोकूयते उष्ट्रः । कोकूयते खरः ॥

भाषार्थः—[कवतेः] कुङ् अङ्ग के अभ्यास को [यङि] यङ् परे रहते चवर्गादेश [न] नहीं होता ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ यहाँ 'कवतेः' निर्देश से कुङ् धातु भ्वादिगणस्थ ही लेनी है ॥ अकृत्सार्व० (७।४।२५) से अङ्ग को दीर्घ होकर कु कू य=यहाँ गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से अभ्यास को गुण होकर कोकूयते बन गया ॥

यहाँ से 'न यङि' की अनुवृत्ति ७।४।६४ तक जायेगी ॥

कृषेश्छन्दसि ॥७।४।६४॥

कृषेः ६।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—न यङि, चुः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—कृष विलेखने इत्येतस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य छन्दसि विषये यङि परतश्चुत्वं न भवति ॥ उदा०—करीकृष्यते यज्ञकुणपः ॥

भाषार्थः—[कृषेः] कृष अङ्ग के अभ्यास को [छन्दसि] वेद-विषय में यङ् परे रहते चवर्गादेश नहीं होता ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ करीकृष्यते में रीगृदुपधस्य च (७।४।९०) से अभ्यास को रीक् आगम हुआ है । क रीक् कृष् य शप् त् ए=करीकृष्यते ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ७।४।६५ तक जायेगी ॥

दाधर्त्तिदर्धर्त्तिदर्धर्षिबोभूतुतेतिक्तेऽलर्ष्यापनीफणत्संसनिष्यदत्करिक्रत्कनिक्रदद्भरिभ्रद्दविध्वतोदविद्युतत्तरित्रतःसरीसृपतंवरीवृजन्मर्मृज्यागनीगन्तीति च ॥७।४।६५॥

दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति इत्येवमादीनि सर्वाणि पृथक्-पृथक् निर्दिष्टानि पदानि ॥। इति अ० ॥ च अ० ॥ **अनु०**—छन्दसि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ **अर्थः**—दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति, दर्धर्षि, बोभूतु, तेतिक्ते, अलर्षि, आपनीफणत्, संसनिष्यदत्, करिक्रत्, कनिक्रदत्, भरिभ्रत्, दविध्वतः, दविद्युतत्, तरित्रतः, सरीसृपतम्, वरीवृजत्, मर्मृज्य, आगनीगन्ति इत्येतानि अष्टादश रूपाणि छन्दसि विषये निपात्यन्ते ॥ दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति, दर्धर्षि इति ण्यन्तात् धृञो धृङो वा श्लौ यङ्लुकि वा निपात्यते। तत्र दाधर्त्ति इत्यत्र यदा धारयतेः (धृञ्) श्लौ तदा णिलुक्, अभ्यासस्य दीर्घत्वं च निपात्यते । यदा धृङस्तदापि श्लावभ्यासदीर्घत्वं परस्मैपदं त्वत्र निपात्यते । यङ्परत्वाण्णेरनिटीत्यनेन णिलोपः दीर्घोऽकितः (७।४।८३) इत्यनेन च दीर्घत्वन्तु सिद्धमेव । यङ्लुक्पक्षे शुद्धात् धृङः ऋतश्चेत्यनेन प्राप्तस्य रुगादेरपवादो दीर्घत्वं निपात्यते । दर्धर्त्ति इत्यत्र तु यङ्लुक्पक्षे धारयतेरनेकाच्त्वादप्राप्तो यङ् निपात्यते, उपधाह्रस्वत्वञ्च । शुद्धाद् यङ्लुक्पक्षे दीर्घोऽकितः इत्यनेन प्राप्तस्य दीर्घत्वस्य अभावश्च निपात्यते, रुक् तु ऋतश्च (७।४।९२) इत्यनेन सिद्धः । यदा तु धारयतेः श्लौ तदाऽभ्यासस्य रुगागमो णिलोपश्च निपात्यते ॥ दर्धर्षि इत्यत्र उभयोः पक्षयोः सिपि परतो दर्धर्त्तिवत् ज्ञेयम् ॥ 'बोभूतु' इत्यत्र भवतेर्यङ्लुगन्तस्य लोटि गुणा[१]भावो निपात्यते ॥ तेतिक्ते इत्यत्र तिजेर्यङ्लुगन्तस्यात्मने[२]पदत्वं निपात्यते ॥ अलर्षि इत्यत्र ऋ गतौ इत्येतस्मात् लटि सिपि श्लौ (६।१।१०) इति द्वित्वे, उरदत्वे च कृते हलादिशेषापवादोऽभ्यासस्य रेफस्य लत्वं, अर्तिपिपर्त्योश्च (७।४।७७) इत्यभ्यासस्य त्वाभावोऽपि निपात्यते ॥ आपनीफणत् इत्यत्र आङ्पूर्वस्य फणतेर्यङ्लुगन्तस्य शतर्यभ्यासस्य नीगागमो निपात्यते ॥ संसनिष्यदत् इत्यत्र संपूर्वस्य स्यन्देर्यङ्लुगन्तस्य शतर्यभ्यासस्य निक् आगमो धातुसकारस्य च षत्वं निपात्यते ॥ करिक्रदिति करोतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि अभ्यासककारस्य चुत्वाभावो रिगागमश्च निपात्यते ॥ कनिक्रददिति क्रन्देर्लुङि च्लेरङादेशो

१. अत्र भूसुवोस्तिङि (७।४।८८) इति गुणाभावः सिद्धः, ज्ञापनार्थमेतन्निपातनम्—अन्यत्र यङ्लुगन्तस्य गुणप्रतिषेधो न भवति—बोभोति, बोभवीति ॥

२. यङो ङित्वात् प्रत्ययलक्षणेनात्मनेपदं सिद्धमेव, ज्ञापनार्थमेतदपि निपातनम्—अन्यत्र यङ्लुगन्तादात्मनेपदं न भवति । अदादिगणस्थं अदादित्वविधायकं परस्मैपदविधायकं च 'चर्करीतम्' गणसूत्रमनपेक्ष्यैतदुक्तम् । तदपेक्षायामप्राप्तमात्मनेपदं विधीयते ।

द्विर्वचनमभ्यासस्य चुत्वाभावो निगागमश्च निपात्यते ।। भरिभ्रदिति डुभृञ् इत्येतस्य यङ्लुगन्तस्य शतरि जश्त्वाभावः, श्लौ वा भृञामिदिति अभ्यासस्य प्राप्तस्येत्वाभावो जश्त्वाभावो रिगागमश्च निपात्यते ।। दविध्वतः इत्यत्र ध्वरतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि जसि अभ्यासस्य विगागम ऋकारलोपश्च निपात्यते ।। दविद्युतदिति द्युतेर्यङ्लुगन्तस्य शतरि द्युतिस्वाप्योः० (७।४।६७) इत्यनेनाभ्यासस्य प्राप्तस्य सम्प्रसारणस्याभावोऽत्वं विगागमश्च निपात्यते ।। तरित्रत इति तरतेः शतरि श्लौ षष्ठ्येकवचनेऽभ्यासस्य रिगागमो निपात्यते ।। सरीसृपतमिति सृपेः शतरि श्लौ द्वितीयैकवचनेऽभ्यासस्य रीगागमो निपात्यते ।। वरीवृजदिति वृजेः शतरि श्लौ रीगागमोऽभ्यासस्य निपात्यते ।। मर्मृज्येति मृजेर्लिटि णलि अभ्यासस्य रुगागमो धातोश्च युगागमो निपात्यते ।। आगनीगन्ति इत्यत्र आङ्पूर्वस्य गमेर्लटि श्लौ अभ्यासस्य चुत्वाभावो नीगागमश्च निपात्यते।।

भाषार्थः—[दाधर्त्ति···गन्ति] दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति, दर्धर्षि, बोभूतु, तेतिक्ते, अलर्षि, आपनीफणत्, संसनिष्यदत्, करिक्रत्, कनिक्रदत्, भरिभ्रत्, दविध्वतः, दविद्युतत्, तरित्रतः, सरीसृपतम्, वरीवृजत्, मर्मृज्य, आगनीगन्ति [इति] ये शब्द [च] वेद-विषय में निपातन किये जाते हैं ।। दाधर्त्ति, दर्धर्त्ति, दर्धर्षि ये शब्द णिजन्त 'धृञ् धारणे' अथवा 'धृङ् अवस्थाने' या 'धृङ् अवध्वंसने' धातुओं से श्लु में अथवा यङ्लुक् में निपातन हैं । दाधर्त्ति, यहाँ जब णिजन्त धृञ् से श्लु में निपातन मानेंगे, तो णि का लुक् एवं अभ्यास को दीर्घत्व निपातन से होगा । शप् को श्लु बहुलं छन्दसि (२।४।७६) से सर्वत्र होगा । जब धृङ् से दाधर्त्ति की सिद्धि करेंगे, तो श्लु परे रहते अभ्यासदीर्घत्व एवं परस्मैपदत्व निपातन से होगा । तुदादिगणस्थ धृङ् को मानने पर श विकरण को पहिले व्यत्यय से शप् कर लेने पर पूर्वोक्तानुसार श्लु होगा । यङ्लुक् में दाधर्त्ति की निष्पत्ति मानने पर धारि (धृञ्) णिजन्त धातुओं के अनेकाच् होने से यङ् प्राप्त नहीं था, निपातन से प्राप्त करा दिया । तथा उपधा-ह्रस्वत्व भी निपातन से जानना चाहिये । इस पक्ष में यङ् के आर्धधातुक होने से णेरनिटि (६।४।५१) से णिलोप, एवं दीर्घोऽकितः (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घत्व हो जायेगा, अतः ये विधियाँ निपातन नहीं हैं ।।[1] दर्धर्त्ति, यहाँ पूर्ववत् धारि धातु से श्लु में रुक् आगम, एवं णिलोप निपातन है । यङ्लुक् पक्ष में दीर्घोऽकितः (७।४।८३) से प्राप्त दीर्घत्व का अभाव धारि के अनेकाच् होने से अप्राप्त यङ् भी निपातन है । दर्धर्त्ति में रुक् आगम तो ऋतश्च (७।४।९२) से सिद्ध ही है । दर्धर्त्ति के समान ही दर्धर्षि में भी सिप् परे रहते सब कार्य जानें ।। सर्वत्र यथाप्राप्त द्वित्व, एवं अभ्यासकार्यादि समझते जायें ।। बोभूतु, यहाँ भू धातु के यङ्लुक् में लोट् परे रहते सार्वधातु० (७।३।८४) से प्राप्त गुण का अभाव

1. इस विषय में पृ० ४५३ की टिप्पणी १ द्रष्टव्य है ।।

निपातन है ॥ तेतिक्ते, यहाँ तिज धातु के यङ्लुक् में आत्मनेपदत्व[1] निपातन है । ज् को क् चोः कुः (८।२।३०) तथा खरि च (८।४।५४) से हो जायेगा ॥ यङ्लुक् की सिद्धि का प्रकार परि० २।४।७४, तथा सूत्र ७।३।९४ में देख लें ॥ अर्लर्षि, यहाँ ऋ गतौ (जुहो०) धातु के लट् में सिप् परे रहते श्लौ (६।१।१०) से द्वित्व, एवं उरत् (७।४।६६) इत्यादि लगकर अर् अर् सि रहा । अब यहाँ हलादिः शेषः (७।४।६०) का अपवादस्वरूप इस सूत्र से अभ्यास के रेफ् को निपातन से लत्व होकर अल् अर् षि=अर्लर्षि बन गया । अर्तिपिपर्त्योश्च से प्राप्त अभ्यास के इत्व का अभाव भी यहाँ निपातन से जानें ॥ आपनीफणत्, यहाँ आङ्पूर्वक फण धातु के यङ्लुक् में शतृ प्रत्यय परे रहते अभ्यास को नीक् आगम निपातन है । आ प फण् शतृ=आ प नीक् फण् अत्=आपनीफणत् बन गया ॥ संसनिष्यदत्, यहाँ सम्पूर्वक स्यन्द धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते अभ्यास को निक् आगम, तथा धातु के सकार को षत्व निपातन है । सम् स निक् स्यद् अत्=(यङ् परे रहते अनिदितां० ६।४।२४ से अनुनासिकलोप होकर) सं स नि ष्यद् अत्=संसनिष्यदत् बन गया ॥ करिक्रत् में डुकृञ् धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते कुहोश्चुः (७।४।६२) से प्राप्त अभ्यास के चुत्व का अभाव, तथा रिक् आगम निपातन है । उरत् इत्यादि लगाकर क कृ अत्=क रिक् कृ अत्, यणादेश होकर करिक्रत् बन गया ॥ कनिक्रदत्, यहाँ क्रन्द धातु के लुङ् में च्लि को अङ्, द्विर्वचन, अभ्यास को चुत्व का अभाव तथा निक् आगम निपातन है ॥ भरिभ्रत्, यहाँ डुभृञ् धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते जश्त्वाभाव अथवा श्लु होने पर भृञामित् (७।४।७६) से प्राप्त अभ्यास के इत्व का अभाव, एवं अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से प्राप्त जश्त्व का अभाव, तथा रिक् आगम निपातन है ॥ दविध्वतः, यह ध्वृ धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते जस् का रूप है । यहाँ अभ्यास को विक् आगम, तथा ध्वृ के ऋकार का लोप निपातन से होता है। नाभ्यस्ताच्छतुः (७।१।७८) से, यहाँ उगिदचां० (७।१।७०) से प्राप्त नुम् आगम का निषेध हो जाता है । दविध्वतो रश्मयः सूर्यस्य (ऋ० ४।१३।४) ॥ दविद्युतत्, यहाँ द्युत् धातु के यङ्लुक् में शतृ परे रहते द्युतिस्वाप्योः० (७।४।६७) से अभ्यास को प्राप्त सम्प्रसारण का अभाव, एवं अत्व तथा विक् आगम निपातन है । दु द्युत् अत्, अत्व, एवं विक् आगम होकर—द विक् द्युतत्=दविद्युतत् बन गया ॥ तरित्रतः, यहाँ तॄ धातु से शतृ परे रहते शप् को श्लु पूर्ववत् करके, षष्ठी के एकवचन में अभ्यास को रिक् आगम निपातन है । श्लौ से द्वित्व करके तॄ तॄ अत्, उरत् आदि लगकर त तृ अत्=त रिक् त्र अत् ङस्=तरित्रतः बन गया ॥ सहोर्जा तरित्रतः (ऋ० ४।४०।३) ॥ सरीसृपतम्, यहाँ भी सृप्लृ धातु से शतृ

1. यहाँ भी पृष्ठ ४५३ की टिप्पणी २ द्रष्टव्य है ।

परे रहते शप् को श्लु होकर, द्वितीया के एकवचन में अभ्यास को रीक् आगम निपातन है ॥ वरीवृजत्, यहाँ भी वृजी धातु से शप् को श्लु पूर्ववत् होकर, शतृ परे रहते अभ्यास को रीक् आगम निपातन है ॥ सर्वत्र शप् को श्लु करने का प्रयोजन द्वित्व करना ही है ॥ मर्मृज्य. यहाँ मृजूष् धातु से लिट् में णल् परे रहते अभ्यास को रुक् आगम, तथा धातु को युक् आगम निपातन है । मृज् मृज् णल्, उरत् आदि लगकर—म मृज् णल्=म रुक् मृज् युक् अ=मर मृज्य् अ=मर्मृज्य बन गया। यहाँ युक् आगम (१।१।४५) कर लेने पर मृज् धातु के अलघूपध हो जाने से मृजेर्वृद्धि: (७।२।११४) से वृद्धि नहीं होती ॥ आगनीगन्ति, यहाँ आङ्पूर्वक गम् धातु के लट् में शप् को श्लु पूर्ववत् करके, अभ्यास को कुहोश्चुः (७।४।६२) से प्राप्त चुत्व का अभाव, तथा नीक् आगम निपातन है। आ ग गम् ति=आ ग नीक् गम् ति, म् को अनुस्वार (८।३।२३ से), तथा परसवर्ण (८।४।५७ से) होकर आगनीगन्ति बन गया। वक्ष्यन्ती वेवागनीगन्ति कर्णम् (ऋ० ६।७५।३) ॥

उरत् ॥७।४।६६॥

उः ६।१॥ अत् १।१॥ अनु०—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऋवर्णान्तस्याभ्यासस्याकारादेशो भवति ॥ उदा०—ववृते, ववृधे । नर्नर्त्ति, नरिनर्ति, नरीनर्त्ति ॥

भाषार्थः—[उः] ऋवर्णान्त अभ्यास को [अत्] अकारादेश होता है ॥ अत्व करने में उरण्रपरः (१।१।५०) लगकर रपरत्व हो जायेगा, और उसका हलादिः शेषः (७।४।६०) से लोप हो जायेगा । यङ्लुक् में नृत् धातु को द्वित्वादि होकर रुग्रिकौ च लुकि (७।४।९१) से अभ्यास को रुक् रिक् एवं रीक् आगम होकर नर्नर्त्ति आदि प्रयोग बनते हैं ॥

द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम् ॥७।४।६७॥

द्युतिस्वाप्योः ६।२॥ सम्प्रसारणम् १।१॥ स०—द्युतिश्च स्वापिश्च द्युतिस्वापी तयोः'''इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—द्युति स्वापि इत्येतयोरभ्यासस्य सम्प्रसारणं भवति ॥ उदा०—लिटि—विदिद्युते । ण्यन्ताल्लुङि—व्यदिद्युतत् । सनि—विदिद्योतिषते, विदिद्युतिषते । यङि—विदेद्युत्यते । स्वापेः—सुष्वापयिषति ॥

भाषार्थः—[द्युतिस्वाप्योः] 'द्युत दीप्तौ', तथा ण्यन्त स्वापि, अङ्ग के अभ्यास को [सम्प्रसारणम्] सम्प्रसारण होता है ॥ द्युत् द्युत् त, यहां त को एश् (३।४।८१ से), तथा य् को सम्प्रसारण होकर दि द् इ उ त् द्युत् एश्, सम्प्रसारणाच्च (६।

१।१०४) तथा हलादिः शेषः (७।४।६०) लगकर विविद्युते बन गया। विविद्योतिषते में रलो व्युप० (१।२।२६) से सन् को विकल्प से कित्वत् होकर गुण, एवं गुणनिषेध करके दो पक्ष बनेंगे। व्यविद्युतत् पूर्ववत् चङ् की सिद्धियों के समान सूत्र ७।४।१ में समझें। ञिष्वप् धातु से णिजन्त में स्वापि धातु बनकर पश्चात् सन् में सुष्वापयिषति बनता है। स्वापि इट् सन्, यहां द्विर्वचन करते समय णौ कृतं स्थानिवद् भवति (भाष्यज्ञापक १।१।५७) से अद्विर्वचननिमित्तक णि के इ (अच्) के परे रहते भी रूपातिदेश होकर—'स्वप् स्वापि इ स' रहा। सम्प्रसारण होकर—'स् उ अ स्वापि इ स' रहा। पूर्ववत् गुणकार्य होकर—सु स्वापे इ स=सुस्वापयि स, आदेश० (८।३।५९) से सन् के सकार को षत्व होकर—सुस्वापयिष शप् तिप् रहा। स्तौतिण्योः० (८।३।६१) से अभ्यास से उत्तर षत्व होकर सुष्वापयिषति बन गया॥

यहाँ से 'सम्प्रसारणम्' की अनुवृत्ति ७।४।६८ तक जायेगी॥

व्यथो लिटि ॥७।४।६८॥

व्यथः ६।१॥ लिटि ७।१॥ अनु०—सम्प्रसारणम्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—व्यथ भयसञ्चलनयोरित्येतस्याभ्यासस्य लिटि परतः सम्प्रसारणं भवति॥ उदा०—विव्यथे, विव्यथाते, विव्यथिरे॥

भावार्थः—[व्यथः] व्यथ अङ्ग के अभ्यास को [लिटि] लिट् परे रहते सम्प्रसारण होता है॥ हलादिः शेषः (७।४।६०) से अभ्यास के य् का लोप प्राप्त था; सम्प्रसारण हो गया। 'व्' को तो न सम्प्रसारणे० (६।१।३६) से सम्प्रसारण का निषेध हो जाता है। व्यथ् व्यथ् त=वि व्यथ् एश=विव्यथे॥

यहां से 'लिटि' की अनुवृत्ति ७।४।७४ तक जायेगी॥

दीर्घ इणः किति ॥७।४।६९॥

दीर्घः १।१॥ इणः ६।१॥ किति ७।१॥ स०—क् इत् यस्य स कित्, तस्मिन् बहुव्रीहिः॥ अनु०—लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—इणोऽङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य दीर्घो भवति, किति लिटि परतः॥ उदा०—ईयतुः, ईयुः॥

भावार्थः—[इणः] इण् अङ्ग के अभ्यास को [किति] कित् लिट् परे रहते [दीर्घः] दीर्घ होता है॥ इण् को द्विर्वचन करने से पूर्व इणो यण् (६।४।८१) से यणादेश होकर पश्चात् द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से रूपातिदेश होकर—इ य् अतुस्, दीर्घ होकर ईयतुः बन गया॥

यहां से 'दीर्घः' की अनुवृत्ति ७।४।७० तक जायेगी॥

अत आदेः ॥७।४।७०॥

अतः ६।१॥ आदेः ६।१॥ अनु०—दीर्घः, लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अभ्यासस्यादेरकारस्य दीर्घो भवति लिटि परतः ॥ अतो गुणे (६।१।९४) इत्यनेन पररूपत्वे प्राप्ते तदपवादो दीर्घत्वं विधीयते। उदा०—आट, आटतुः, आटुः॥

भाषार्थः—अभ्यास के [आदेः] आदि [अतः] अकार को लिट् परे रहते दीर्घ होता है ॥ सिद्धि ७।४।६० सूत्र में देखें ॥

तस्मान्नुड् द्विहलः ॥७।४।७१॥

तस्मात् ५।१॥ नुट् १।१॥ द्विहलः ६।१॥ स०—द्वौ हलौ यस्य तद् द्विहल्, तस्य बहुव्रीहिः ॥ अनु०—लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तस्माद् दीर्घीभूतादभ्यासादुत्तरस्य द्विहलोऽङ्गस्य नुडागमो भवति ॥ उदा०—आनङ्ग, आनङ्गतुः, आनङ्गुः । आनञ्ज, आनञ्जतुः, आनञ्जुः ॥

भाषार्थः—[तस्मात्] अभ्यास के दीर्घ हुए आकार से उत्तर [द्विहलः] दो हल्वाले अङ्ग को [नुट्] नुट् आगम होता है ॥ तस्मात् से समीपस्थ अत आदेः से दीर्घ किये हुये आकार का यहाँ आक्षेप है ॥ अगि धातु को इदितो नुम्० (७।१।५८) से नुम् होकर अङ्ग् बना । अङ्ग् अङ्ग् द्वित्व, तथा पूर्वसूत्र से दीर्घत्व होकर—'आ अङ्ग् अ' रहा । यहाँ दीर्घत्व किये हुये 'आ' से उत्तर दो हल्वाले अङ्ग् को नुट् आगम (१।१।४५) हो गया । अङ्ग् यहां ङ् तथा ग् दो हल् हैं ही, सो 'अङ्ग्' धातु दो हल्वाला है ॥ इसी प्रकार अञ्जू धातु से आनञ्ज आदि में समझें । यहाँ भी ञ् तथा ज दो हल् हैं, सो अञ्ज् दो हल्वाला अङ्ग है ॥

यहाँ से 'तस्मान्नुट्' की अनुवृत्ति ७।४।७२ तक जायेगी ॥

अश्नोतेश्च ॥७।४।७२॥

अश्नोतेः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—लिटि, तस्मान्नुट्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अश्नोतेश्चाङ्गस्य दीर्घीभूतादभ्यासादुत्तरस्य नुडागमो भवति ॥ अद्विहलर्थोऽयमारम्भः ॥ उदा०—व्यानशे, व्यानशाते, व्यानशिरे ॥

भाषार्थः—[अश्नोतेः] अश्नोति='अशू व्याप्तौ' अङ्ग के दीर्घ किये हुये अभ्यास से उत्तर [च] भी नुट् आगम होता है ॥ अश् अङ्ग दो हल्वाला नहीं है । अतः पूर्व सूत्र से नुट् की प्राप्ति नहीं थी, विधान कर दिया ॥ पूर्ववत् अत आदेः (७।४।७०) से दीर्घ करके नुट् होगा ॥

भवतेरः ॥७।४।७३॥

भवतेः ६।१॥ अः १।१॥ अनु०—लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—

भवतेरङ्गस्याभ्यासस्याकारादेशो भवति लिटि परतः ॥ उदा०—बभूव, बभूवतुः, बभूवुः। अनुबभूवे ॥

भाषार्थः—[भवतेः] भू अङ्ग के अभ्यास को [अः] अकारादेश लिट् परे रहते होता है॥ बभूव की सिद्धि परि० १।१।५६ में देखें। अनुबभूवे कर्मवाच्य में आत्मनेपद (१।३।१३), तथा 'त' को एश् होकर बना है॥

यहां से 'अः' की अनुवृत्ति ७।४।७४ तक जायेगी॥

ससूवेति निगमे ॥७।४।७४॥

ससूव क्रियापदम्॥ इति अ०॥ निगमे ७।१॥ अनु०—अः, लिटि, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—ससूव इति निपात्यते। सूतेर्लिटि परस्मैपदं वुक् आगमोऽभ्यासस्य चात्वं निगमे (=वेदे) विषये निपात्यते॥ उदा०—ससूव स्थविरं विपश्चिताम्॥

भाषार्थः—[ससूव] ससूव [इति] यह शब्द [निगमे] वेद-विषय में निपातन किया जाता है॥ षूङ् धातु से लिट् परे रहते परस्मैपद, सू को वुक् आगम, तथा अभ्यास को अत्व निपातन है। धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से ष को स होकर—सू वुक् णल्=सूव सूव अ=ससूव बन गया॥

निजां त्रयाणां गुणः श्लौ ॥७।४।७५॥

निजाम् ६।३॥ त्रयाणाम् ६।३॥ गुणः १।१॥ श्लौ ७।१॥ अनु०—अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—निजादीनां त्रयाणां धातूनामभ्यासस्य गुणो भवति श्लौ सति॥ उदा०—णिजिर्—नेनेक्ति। विजिर्—वेवेक्ति। विष्लृ—वेवेष्टि॥

भाषार्थः—[निजाम्] णिजिर् आदि [त्रयाणाम्] तीन धातुओं के अभ्यास को [श्लौ] श्लु होने पर [गुणः] गुण होता है॥ 'निजाम्' में बहुवचन-निर्देश से आदि अर्थ निकलता है॥ नेनेक्ति की सिद्धि परि० ३।४।८५ में देखें॥

यहां से 'त्रयाणाम्' की अनुवृत्ति ७।४।७६ तक, तथा 'श्लौ' की ७।४।७८ तक जायेगी॥

भृञामित् ॥७।४।७६॥

भृञाम् ६।३॥ इत् १।१॥ अनु०—त्रयाणाम्, श्लौ, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—भृञादीनां त्रयाणां धातूनामभ्यासस्येकारादेशो भवति श्लौ सति॥ उदा०—डुभृञ्—बिभर्त्ति। माङ्—मिमीते। ओहाङ्—जिहीते॥

भाषार्थः—[भृञाम्] (डुभृञ् आदि) तीन धातुओं के अभ्यास को [इत्] इकारादेश होता है, श्लु होने पर॥ (१।१।५१) से अभ्यास के अन्त्य अल् को ही

इत्व सर्वत्र जानें। पूर्ववत् 'भृआम्' में बहुवचन होने से आवि अर्थ लिया गया है ॥ मिमीते, जिहीते में ई हल्यघोः (६।४।११३) से अभ्यस्त अङ्ग के आ को 'ई' हुआ है। मा त, श्लौ से द्वित्व होकर=मा मा त=म मा त, इत्व होकर — मि मा त =मि म् ई ते=मिमीते बन गया। बिभर्ति की सिद्धि परि० २।४।७५ में देखें ॥

यहां से 'इत्' की अनुवृत्ति ७।४।८१ तक जायेगी ॥

अर्त्तिपिपर्त्योश्च ॥७।४।७७॥

अर्त्तिपिपर्त्योः ६।२॥ च अ०॥ स०—अर्त्ति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—इत्, श्लौ, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऋ गतौ, पृ पालनपूरणयोः इत्येतयोरभ्यासस्य इकारादेशो भवति श्लौ सति ॥ उदा०—इयर्त्ति धूमम् । पिपर्त्ति सोमम् ॥

भाषार्थः—[अर्त्तिपिपर्त्योः] ऋ तथा पृ धातुओं के अभ्यास को [च] भी श्लु होने पर इकारादेश होता है ॥ इयर्त्ति की सिद्धि सूत्र ६।४।७८ में देखें ॥

बहुलं छन्दसि ॥७।४।७८॥

बहुलम् १।१॥ छन्दसि ७।१॥ अनु०—इत्, श्लौ, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—छन्दसि विषयेऽभ्यासस्य बहुलमिकारादेशो भवति श्लौ सति ॥ उदा०—पूर्णा विवष्टि । जनिमा विवक्ति । वत्सं न माता सिषक्ति । जिघर्त्ति सोमम् । न च भवति—ददातीत्येवं ब्रूयात् । जजनमिन्द्र माता यद्वीरं दधनम् धनिष्ठा ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेद-विषय में अभ्यास को [बहुलम्] बहुल करके श्लु होने पर इकारादेश होता है ॥ विवष्टि विवक्ति की सिद्धि परि० २।४।७६ में देखें। षच धातु से सिषक्ति, एवं घृ से, जिघर्त्ति बनेगा। जन से लङ् में जजनम्, तथा धन से दधनम् इत्व न होकर बनेगा। बहुलं छन्दस्य० (६।४।७५) से अट् आगम का अभाव, एवं श्लौ से द्वित्व तथा मिप् को अम् (३।४।१०१) होकर जजनम्, दधनम् बन गया ॥

सन्यतः ॥७।४।७९॥

सनि ७।१॥ अतः ६।१॥ अनु०—इत्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—सनि परतोऽकारान्तस्याभ्यासस्य इकारादेशो भवति ॥ उदा०—पिपक्षति, यियक्षति, तिष्ठासति, पिपासति ॥

भाषार्थः—[सनि] सन् परे रहते [अतः] अकारान्त अभ्यास को इत्व होता है ॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् 'अ' को 'इ' होगा ॥ पच्, यज् अनिट् धातुएं हैं। पिपक्षति में चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व, तथा यियक्षति में यज् के ज् को ८।२।३६ से ष्, एवं षढोः कः० (८।२।४१) से क् हुआ है ॥

यहाँ से 'सनि' की अनुवृत्ति ७।४।८१ तक जायेगी ॥

ओः पुयण्ज्यपरे ॥७।४।८०॥

ओः ६।१॥ पुयणजि ७।१॥ अपरे ७।१॥ स०—पुश्च यण् च ज् च पुयण्ज्, तस्मिन्... समाहारद्वन्द्वः । अः परो यस्मात् पुयण्जस्तदपरम्, तस्मिन्... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सनि, इत्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥अर्थः—उवर्णान्तस्याभ्यासस्य पवर्गे यणि (य, व, र ल) जकारे चावर्णपरे परत इकारादेशो भवति सनि प्रत्यये परतः ॥ उदा०—पवर्गेऽपरे—पिपविषते, पिपावयिषति । बिभावयिषति । यण्परे—यियविषति, यियावयिषति । रिरावयिषति, लिलावयिषति ।-ज्यपरे—जु—जिजावयिषति ॥.

भाषार्थः—[अपरे] अवर्णपरक [पुयणजि] पवर्ग, यण् (=यण् प्रत्याहार का कोई वर्ण), तथा जकार परेवाला जो [ओः] उवर्णान्त अभ्यास, उसको इकारादेश होता है, सन् परे रहते । अर्थात् उवर्णान्त अभ्यास के परे ऐसा पवर्ग यण् तथा जकार हो जिससे परे अवर्ण हो ॥ पिपविषते आदि में उवर्णान्त अभ्यास 'पु' से उत्तर अवर्णपरक पवर्गादि हैं ही, सो इत्व हो गया ॥ उवर्णान्त अभ्यास होने से पूर्वसूत्र से प्राप्ति ही नहीं थी, विधान कर दिया ॥ स्मिपूङ्० (७।२।७४) से पिपविषते में इट् आगम होता है, गुण अवादेश करके स्थानिवद्भाव करके पू पव् द्वित्व होगा । इसी प्रकार सब में द्वित्व की प्रक्रिया समझें । पिपावयिषति आदि में ण्यन्त से सन् हुआ है, सो 'पू पाव्' द्वित्व सर्वत्र होगा ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ७।४।८१ तक जायेगी ॥

स्रवतिशृणोतिद्रवतिप्रवतिप्लवतिच्यवतीनां वा ॥७।४।८१॥

स्रवति...तीनाम् ६।३॥ वा अ० ॥ स०—स्रवति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—ओः पुयण्ज्यपरे, सनि, इत्, अभ्यासस्य ॥ अर्थः—स्रु गतौ, श्रु श्रवणे, द्रु गतौ, प्रुङ्, प्लुङ्, च्युङ् गतौ इत्येतेषामभ्यासस्य ओरवर्णपरे यणि परतो विकल्पेनेत्वं भवति, सनि प्रत्यये परतः ॥ उदा०—स्रु—सिस्रावयिषति, सुस्रावयिषति । श्रु—शिश्रावयिषति, शुश्रावयिषति । द्रु—दिद्रावयिषति, दुद्रावयिषति । प्रु—पिप्रावयिषति, पुप्रावयिषति । प्लु—पिप्लावयिषति, पुप्लावयिषति । च्यु—चिच्यावयिषति, चुच्यावयिषति ॥

भाषार्थः—[स्रवति...तीनाम्] स्रु, श्रु, द्रु, प्रुङ्, प्लुङ्, च्युङ् इनके अवर्णपरक यण् परे हैं जिससे, ऐसे होनेवाले उवर्णान्त अभ्यास को [वा] विकल्प से इकारादेश होता है ॥ यहाँ सर्वत्र इन ण्यन्त धातुओं से ही सन् होता है ॥ पूर्ववत् स्थानिवत् से 'स्रु स्राव्' ऐसा सर्वत्र द्वित्व होगा ॥ सभी उदाहरणों में अभ्यास से सीधा अवर्णपरक यण् परे नहीं है, मध्य में स्, श्, द् आदि का व्यवधान है, सो यहाँ

वचन-सामर्थ्य से उवर्णान्त अभ्यास, एवं अवर्णपरक यण् के मध्य में एक वर्ण का व्यवधान होने पर भी इकारादेश हो जाता है। पूर्व सूत्र से अनन्तर यण् के परे ही प्राप्ति थी अतः इस सूत्र में अप्राप्त विभाषा है ॥ यहां 'ओःयण्ज्यपरे' की अनुवृत्ति आते हुये भी केवल 'यण् अपरे' का ही सम्बन्ध सम्भव होने से लगता है, अन्य का नहीं ॥

गुणो यङ्लुकोः ॥७।४।८२॥

गुणः १।१॥ यङ्लुकोः ७।२॥ स०—यङ् च लुक् च यङ्लुकौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—यङि यङ्लुकि च परतोऽभ्यासस्य गुणो भवति ॥ लुगिह यङ एव विवक्षितः, समीपे उपस्थितत्वात् ॥ उदा०—यङि—चेचीयते, लोलूयते। यङ्लुकि—जोहवीति। क्रुश—चोक्रुशीति ॥

भाषार्थः—[यङ्लुकोः] यङ् तथा यङ्लुक् के परे रहते इगन्त (१।१।३) अभ्यास को [गुणः] गुण होता है॥ यहां 'लुक्' कहने से समीपस्थ यङ् के लुक् का ही ग्रहण होता है, अन्य किसी का नहीं॥ यङ्लुक् में सिद्धि परि० २।४।७४, तथा यङ् में परि० ३।१।८२ में देखें ॥

यहां से 'यङ्लुकोः' की अनुवृत्ति ७।४।९० तक जायेगी ॥

दीर्घोऽकितः ॥७।४।८३॥

दीर्घः १।१॥ अकितः ६।१॥ स०—ककार इत् यस्य स कित्, बहुव्रीहिः। न कित् अकित्, तस्य नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—अकितोऽभ्यासस्य दीर्घो भवति, यङि यङ्लुकि च परतः ॥ उदा०—पापच्यते, पापचीति; यायज्यते, यायजीति ॥

भाषार्थः—[अकितः] कित्भिन्न अभ्यास को [दीर्घः] दीर्घ होता है, यङ तथा यङ्लुक् के परे रहते ॥ सिद्धियां परि० २।४।७४, तथा ३।१।८२ में देखें ॥

नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसुभ्रंसुकसपतपदस्कन्दाम् ॥७।४।८४॥

नीक् १।१॥ वञ्चु स्कन्दाम् ६।३॥ स०—वञ्चु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—वञ्चु, स्रंसु, ध्वंसु, भ्रंसु, कस, पत्लृ, पद, स्कन्दिर् इत्येतेषामभ्यासस्य नीगागमो भवति, यङि यङ्लुकि च परतः ॥ उदा०—वनीवच्यते, वनीवञ्चीति (यङ्लुकि)। स्रंसु—सनीस्रस्यते, सनीस्रंसीति। ध्वंसु—दनीध्वस्यते, दनीध्वंसीति। भ्रंसु—बनीभ्रस्यते, बनीभ्रंसीति। कस—चनीकस्यते, चनीकसीति। पत्—पनीपत्यते, पनीपतीति। पद—पनीपद्यते, पनीपदीति। स्कन्द—चनीस्कद्यते, चनीस्कन्दीति ॥

भाषार्थः—[वञ्चु...स्कन्दाम्] वञ्चु, स्रंसु, ध्वंसु, भ्रंसु, कस, पत्लृ, पद, स्कन्दिर् इन धातुओं के अभ्यास को यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते [नीक्] नीक् आगम होता है ।। सर्वत्र अनिदितां हल० (६।४।२४) से अनुनासिकलोप यङ् परे रहते हुआ है । यङ्लुक् में तो यङ् ङित् प्रत्यय के परे न होने से, तथा न लुमता-ङ्गस्य (१।१।६२) से प्रत्ययलक्षण का भी निषेध हो जाने से अनुनासिक लोप नहीं होता ।।

नुगतोऽनुनासिकान्तस्य ।।७।४।८५।।

नुक् १।१।। अतः ६।१।। अनुनासिकान्तस्य ६।१।। स०—अनुनासिकोऽन्ते यस्य तद् अनुनासिकान्तम्, तस्य...बहुव्रीहिः ।। अनु०—यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—अनुनासिकान्तस्याङ्गस्य योऽकारान्तोऽभ्यासस्तस्य नुगागमो भवति, यङि यङ्-लुकि च परतः ।। उदा०—तन्—तन्तन्यते, तन्तनीति । गम्—जङ्गम्यते, जङ्गमीति । यम्—यंयम्यते, यंयमीति । रम्—रंरम्यते, रंरमीति ।।

भाषार्थः [अनुनासिकान्तस्य] अनुनासिकान्त अङ्ग का जो [अतः] अकारान्त अभ्यास उसको [नुक्] नुक् आगम होता है, यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते ।। तन् गम् आदि अनुनासिकान्त अङ्ग हैं, उनको द्वित्वादि करने पर त तन् रहा । अब यहाँ अनुनासिकान्त अङ्ग का अकारान्त अभ्यास है, सो नुक् आगम (१।१।४५) हो गया । यह नुक् आगम अनुस्वार के रूप में होता है । अतः झल् परे न होने पर भी यंयम्यते रंरम्यते आदि में अनुस्वार होता है । पश्चात् पदान्तवच्चेति वक्तव्यम् (वा० ७।४।८५) से पदान्तवत् अतिदेश होने से जङ्गम्यते, यंयम्यते आदि में वा पदान्तस्य (८।४।५८) से विकल्प से परसवर्ण हुआ है । केवल रंरम्यते रंरमीति में रेफ का सवर्ण न होने से परसवर्ण नहीं हुआ है ।

यहाँ से 'नुक्' की अनुवृत्ति ७।४।८७ तक जायेगी ।।

जपजभदहदशभञ्जपशां च ।।७।४।८६।।

जपजभदहदशभञ्जपशाम् ६।३।। च अ० ।। स०—जप० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—नुक्, यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ।। अर्थः—जप व्यक्तायां वाचि, जभी गात्रविनामे, दह भस्मीकरणे, दंश दशने, भञ्जो आमर्दने, पश (सौत्रो धातुः) इत्येतेषामभ्यासस्य नुगागमो भवति, यङि यङ्लुकि च परतः ।। उदा०—जप—जञ्जप्यते, जञ्जपीति । जभ—जञ्जभ्यते, जञ्जभीति । दह—दन्दह्यते, दन्दहीति । दंश—दन्दश्यते, दन्दशीति । भञ्ज—बम्भज्यते, बम्भञ्जीति । पश—पम्पश्यते, पम्पशीति ।।

भाषार्थः—[जप...प्रशाम्] जप, जभी, दह, दंश, भञ्ज, पश इन अङ्गों के अभ्यास को [च] भी नुक् आगम होता है, यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते ॥ पूर्व सूत्र से अप्राप्त था, विधान कर दिया ॥ दंश धातु का सूत्र में 'दश' निर्देश यह बताने के लिये किया है कि इसके अनुनासिक का लोप भी हो जाता है। अतः यङ्-लुक् में भी अनुनासिक लोप होगा। यङ् परे तो अनिदितां० (६।४।२४) से हो ही जाता ॥ जञ्जप्यते आदि की सिद्धि परि० ३।१।२४ में देखें। आदि की ४ धातुओं को लुपसद० (३।१।२४) से यङ् तथा भञ्ज, पश को धातोरेकाचो० (३।१।२२) सामान्य सूत्र से यङ् होता है ॥

चरफलोश्च ॥७।४।८७॥

चरफलोः ६।२॥ च अ०॥ स०—चरश्च फल् च चरफलौ, तयोः... इतरेतर-द्वन्द्वः ॥ अनु०—नुक्, यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—चर फल इत्येतयो-रभ्यासस्य नुगागमो भवति, यङि यङ्लुकि च परतः ॥ उदा०—चञ्चूर्यते, चञ्चु-रीति। फल—पम्फुल्यते, पम्फुलीति ॥

भाषार्थः—[चरफलोः] 'चर गतौ' तथा 'ञिफला विशरणे' अथवा 'फल निष्पत्तौ' (फल से यहां इन दोनों का ग्रहण है) अङ्ग के अभ्यास को [च] भी यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते नुक् आगम होता है ॥ चञ्चूर्यते की सिद्धि परि० ३।१।२४ में देखें। तद्वत् पम्फुल्यते में समझें। यङ्लुक् में चञ्चूर्यते के समान सब कार्य होकर, तथा ईट् (७।३।९४ से) आगम होकर चञ्चुरीति बना। हल् परे न होने से यहां हलि च (८।२।७७) से दीर्घ नहीं हुआ ॥

यहां से 'चरफलोः' की अनुवृत्ति ७।४।८९ तक जायेगी॥

उत्परस्यातः ॥७।४।८८॥

उत् १।१॥ परस्य ६।१॥ अतः ६।१॥ अनु०—चरफलोः, यङ्लुकोः, अभ्या-सस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—चर, फल इत्येतयोरभ्यासात् परस्य अकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति, यङि यङ्लुकि च परतः ॥ उदा०—चञ्चूर्यते, चञ्चुरीति। पम्फुल्यते, पम्फुलीति ॥

भाषार्थः—चर तथा फल धातुओं के अभ्यास से [परस्य] परे जो [अतः] अकार उसके स्थान में [उत्] उकारादेश यङ् तथा यङ्लुक् परे रहते होता है ॥ 'च चर् य' यहां अभ्यास से उत्तर 'च' का अ है, उसको उत्व हो गया ॥

यहां से 'उत् अतः' की अनुवृत्ति ७।४।८९ तक जायेगी ॥

ति च ॥७।४।८९॥

ति ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—उत्, अतः, चरफलोः, अङ्गस्य ॥ अर्थः—तकारादौ प्रत्यये च परतश्चरफलोरकारस्य स्थाने उकारादेशो भवति ॥ उदा०—चूर्त्तिः। प्रफुल्तिः। प्रफुल्ताः सुमनसः॥

भाषार्थः—[ति] तकारादि प्रत्यय परे रहते [च] भी चर तथा फल अङ्ग के अकार के स्थान में उकारादेश होता है॥ 'यङ्लुकोः' तथा 'अभ्यासस्य' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध यहां सूत्र के वचनसामर्थ्य से नहीं लगता। क्योंकि यङ् तथा यङ्लुक् के तकारादि प्रत्यय परे तो पूर्व सूत्र से ही सिद्ध था॥ चूर्त्तिः में क्तिन् प्रत्यय, हलि च (८।२।७७) से दीर्घ, तथा अचो रहा० (८।४।४५) से त् को द्वित्व हुआ है। प्रफुल्ताः क्त के बहुवचन स्त्रीलिङ्ग का रूप है॥

रीगृदुपधस्य च ॥७।४।९०॥

रीक् १।१॥ ऋदुपधस्य ६।१॥ च अ० ॥ स०—ऋकार उपधा यस्य तद् ऋदुपधम्, तस्य ... बहुव्रीहिः॥ अनु०—यङ्लुकोः, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—ऋकारोपधस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रीगागमो भवति, यङि यङ्लुकि च परतः॥ वृतु—वरीवृत्यते, वरीवृतीति। वृधु—वरीवृध्यते, वरीवृधीति। नृती—नरीनृत्यते, नरीनृतीति॥

भाषार्थः—[ऋदुपधस्य] ऋकार उपधावाले अङ्ग के अभ्यास को [च] भी यङ् तथा यङ्लुक् में [रीक्] रीक् आगम होता है॥ वृत् वृध् आदि ऋदुपध धातुएं हैं, सो पूर्वोक्तानुसार सिद्धिक्रम है। वरीवृद्ध्यते में अनचि च (८।४।४६) से 'ध्' को द्वित्व, तथा झलां जश्० (८।४।५२) से पूर्व ध् को द् हुआ है॥

यहां से 'ऋदुपधस्य' की अनुवृत्ति ७।४।९१ तक, तथा 'रीक्' की ७।४।९२ तक जायेगी॥

रुग्रिकौ च लुकि ॥७।४।९१॥

रुग्रिकौ १।२॥ च अ० ॥ लुकि ७।१॥ स०—रुग्रिकावित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—रीक्, ऋदुपधस्य, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—ऋकारोपधस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रुग्रिकावागमौ भवतः, चकाराद्रीक् च यङ्लुकि॥ उदा०—रुक्—नर्नर्त्ति। रिक्—नरिनर्त्ति। रीक्—नरीनर्त्ति। वर्वर्त्ति, वरिवर्त्ति, वरीवर्त्ति॥

भाषार्थः—ऋकार उपधावाले अङ्ग के अभ्यास को [रुग्रिकौ] रुक् रिक् तथा [च] चकार से रीक् आगम होते हैं, [लुकि] यङ्लुक् में॥ यहां 'लुकि' ग्रहण से यङ्लुक् में ही होता है, यङ् परे नहीं॥ रुक् का रेफमात्र शेष रहेगा॥

यहां से 'रुग्रिकौ लुकि' की अनुवृत्ति ७।४।९२ तक जायेगी॥

ऋतश्च ॥७।४।९२॥

ऋतः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—रुग्रिकौ लुकि, रीक्, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—ऋकारान्तस्याङ्गस्य योऽभ्यासस्तस्य रुक् रिक् रीक् इत्येते आगमा भवन्ति यङ्लुकि ॥ उदा०—कृ—चर्कर्ति, चरिकर्ति, चरीकर्ति । हृ—जर्हर्ति, जरिहर्ति, जरीहर्ति ॥

भाषार्थः—[ऋतः] ऋकारान्त अङ्ग के अभ्यास को [च] भी रुक् रिक् तथा रीक् का आगम यङ्लुक् होने पर होता है ॥

सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे ॥७।४।९३॥

सन्वत् अ० ॥ लघुनि ७।१ । चङ्परे ७।१॥ अनग्लोपे ७।१॥ स०—चङ् परो यस्माद् तच्चङ्परं, तस्मिन्… बहुव्रीहिः । अको लोपः अग्लोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । नास्ति अग्लोपो यस्मिन् तदनग्लोपम्, तस्मिन्…बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—चङ्परे णौ परतो यदङ्गं तस्य योऽभ्यासस्तस्य सनीव कार्यं भवति, लघुनि धात्वक्षरे परतोऽनग्लोपे ॥ उदा०—सन्यत इत्युक्तं चङ्परेऽपि भवति, तथा—अचीकरत्, अपीपचत् । ओः पुयण्ज्यपरे (७।४।८०) इत्युक्तं चङ्परेऽपि तथा—अपीपवत्, अलीलवत्, अजीजवत् । स्रवतिशृणोतीत्युक्तं चङ्परेऽपि तथा—असिस्रवत्, असुस्रवत् । अशिश्रवत्, अशुश्रवत् । अदिद्रवत्, अदुद्रवत् । अपिप्रवत्, अपुप्रवत् । अपिप्लवत्, अपुप्लवत् । अचिच्यवत्, अचुच्यवत् ॥

भाषार्थः—[चङ्परे] चङ् परे है जिससे ऐसे णि के परे रहते जो अङ्ग, उसके अभ्यास को [लघुनि] लघु धात्वक्षर परे रहते [सन्वत्] सन् के समान कार्य होता है, यदि अङ्ग के [अनग्लोपे] अक् (प्रत्याहार) का लोप न हुआ हो तो । 'सन् के समान कार्य होता है' अर्थात् सन्यतः (७।४।७९) इत्यादि से जो कार्य सन् के परे रहते कहा है, वह यहाँ चङ्परक णि परे रहते अभ्यास को भी अतिदिष्ट हो जाये । सन्यतः इत्यादि से अभ्यास को इत्व कहा है, वही यहाँ हो जाता है ॥ सिद्धियाँ परि० १।४।१०, ६।१।११ आदि में देखें । 'अ प पच् अ त्', इस अवस्था में अभ्यास से परे 'प' का अ लघु धात्वक्षर है, तथा चङ्परे प्रत्ययलक्षण से चङ्परक णि परे है । सो अभ्यास को सन्वत् अतिदेश होकर इत्व हो गया । यहाँ सर्वत्र ही लघु धात्वक्षर तथा अभ्यास के मध्य में एक वर्ण का (प आदि का) व्यवधान रहते हुये भी वचनसामर्थ्य से कार्य हो जाता है ॥ चङ् णिच् में ही सम्भव है, अतः यहाँ 'चङ्परे णि' कहा है ॥

असिस्रवत् आदि में स्रवतिशृणोति० (७।४।८१) से विकल्प से इत्व

विधान होने के कारण यहां भी विकल्प हुआ है। सिद्धि प्रकार सब में एक जैसा है॥ स्तु को स्ताव् इ वृद्धि एवं ह्रस्व तथा स्थानिवत् होकर स्तु अब् द्वित्वादि हुये हैं॥

यहां से 'लघुनि अनग्लोपे' की अनुवृत्ति ७।४।६४ तक, तथा 'चङ्परे' की ७।४।६७ तक जायेगी॥

दीर्घो लघोः॥७।४।६४॥

दीर्घः १।१॥ लघोः ६।१॥ अनु०—लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—लघुनि धात्वक्षरे परतो लघोरभ्यासस्य दीर्घो भवति, चङ्परेऽनग्लोपे॥ उदा०—अचीकरत्, अजीहरत्, अलीलवत्, अपीपचत्॥

भावार्थः—चङ्परक णि परे रहते जो अङ्ग उसके [लघोः] लघु अभ्यास को लघु धात्वक्षर परे रहते [दीर्घः] दीर्घ होता है॥ इत्व पूर्ववत् करके दीर्घ हो जायेगा॥

अत् स्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशाम्॥७।४।६५॥

अत् १।१॥ स्मृ···स्पशाम् ६।३॥ स०—स्मृ० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—चङ्परे, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—स्मृ चिन्तायाम्, दृ भये, ञित्वरा संभ्रमे, प्रथ प्रख्याने, म्रद मर्दने, स्तृञ् आच्छादाने, स्पश बाधनस्पर्शनयोः इत्येतेषामभ्यासस्य अकारादेशो भवति, चङ्परे णौ परतः॥ उदा०—स्मृ—असस्मरत्। दृ—अददरत्। त्वर—अतत्वरत्। प्रथ—अपप्रथत्। म्रद—अमम्रदत्। स्तृ—अतस्तरत्। स्पश—अपस्पशत्॥

भावार्थः—[स्मृ···स्पशाम्] स्मृ, दृ, ञिस्वरा, प्रथ, म्रद, स्तृञ्, स्पश इन अङ्गों के अभ्यास को चङ्परक णि परे रहते [अत्] अकारादेश होता है॥ सन्वल्लघुनि० (७।४।९३) से सन्वद्भाव होने से सन्यतः से इत्व की प्राप्ति थी, अकारादेश विधान कर दिया॥

यहां से 'अत्' की अनुवृत्ति ७।४।९७ तक जायेगी॥

विभाषा वेष्टिचेष्ट्योः॥७।४।९६॥

विभाषा १।१॥ वेष्टिचेष्ट्योः ६।२॥ स०—वेष्टि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—अत्, चङ्परे, अभ्यासस्य, अङ्गस्य॥ अर्थः—वेष्ट वेष्टने, चेष्ट चेष्टायाम् इत्येतयोरभ्यासस्य विभाषा अकारादेशो भवति, चङ्परे णौ परतः॥ उदा०—अववेष्टत्, अविवेष्टत्। अचचेष्टत्, अचिचेष्टत्॥

भावार्थः—[वेष्टिचेष्ट्योः] वेष्ट तथा चेष्ट अङ्ग के अभ्यास को चङ्परक

णि परे रहते [विभाषा] विकल्प से अकारादेश होता है ॥ इन धातुओं के अभ्यास से परे लघु धात्वक्षर (१।४।१०) परे नहीं है, अतः सन्वद्भाव (७।४।९३) से इत्व प्राप्त ही नहीं था। विकल्प से यहाँ अत्व कहने से पक्ष में अभ्यास के एकार को ह्रस्वः (७।४।५९) से ह्रस्वत्व होकर इकार जाता है ॥

ई च गणः ॥७।४।९७॥

ई लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ गणः ६।१॥ अनु०—अत्, चङ्परे, अभ्यासस्य, अङ्गस्य ॥ अर्थः—गणेरभ्यासस्येकारादेशो भवति, चकाराद् च, चङ्परे णौ परतः ॥ उदा०—अजीगणत्, अजगणत् ॥

भावार्थः—[गणः] गण धातु के अभ्यास को [ई] ईकारादेश [च] तथा चकार से अकारादेश भी होता है, चङ्परक णि परे रहते ॥ इस प्रकार दो पक्ष बनेंगे ॥

गण धातु चुरादिगण में अदन्त पढ़ी है। सो इसके अकार का अतो लोपः (६।४।४८) से लोप होने के कारण अग्लोपी यह अङ्ग है। अतः इसके अभ्यास को सन्वद्भाव होकर इत्व, एवं दीर्घो लघोः (७।४।९४) से दीर्घत्व प्राप्त नहीं था, ईकारादेश कर दिया, तथा पर्याय से अत् भी विधान कर दिया ॥

॥ इति सप्तमोऽध्यायः ॥

—:o:—

अथ अष्टमोऽध्यायः

प्रथमः पादः

सर्वस्य द्वे ॥८।१।१॥

सर्वस्य ६।१॥ द्वे १।२॥ अर्थः—अधिकारोऽयम् । इत उत्तरं यद्वक्ष्यामः पदस्येत्यतः प्राक्, तत्र सर्वस्य द्वे भवत इत्येवं तद्वेदितव्यम् ॥ वक्ष्यति नित्यवीप्सयोः (८।१।४), तत्र सर्वस्य स्थाने द्वे भवतः ॥ उदा०—पचति पचति । ग्रामो ग्रामो रमणीयः ॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है । पदस्य, (८।१।१६) से पहले-पहले जायेगा ॥ यहाँ से आगे 'पदस्य' से पहले-पहले जो भी कहेंगे, वहाँ [सर्वस्य] सब के स्थान में [द्वे] द्वित्व होता है, ऐसा अर्थ होता जायेगा ॥ यथा नित्यवीप्सयोः (८।१।४) आगे कहेंगे, सो वहाँ अर्थ होगा—"नित्यता तथा वीप्सा अर्थ में (सर्वस्य) सबको (द्वे) द्वित्व हो" ॥

तस्य परमाम्रेडितम् ॥८।१।२॥

तस्य ६।१॥ परम् १।१॥ आम्रेडितम् १।१॥ अर्थः—तस्य द्विरुक्तस्य यत्परं शब्दरूपं तदाम्रेडितसंज्ञं भवति ॥ उदा०—चोर चोर३, वृषल वृषल३, दस्यो दस्यो३ घातयिष्यासि त्वा, बन्धयिष्यामि त्वा ॥

भाषार्थः—[तस्य] उस द्वित्व किये हुये के [परम्] परवाले (अर्थात् दूसरे) शब्द की [आम्रेडितम्] आम्रेडित संज्ञा होती है ॥ 'चोर' आदि शब्दों को वाक्यादेराम० (८।१।८) से द्वित्व होकर 'चोरचोर' बना । अब परवाले चोर की आम्रेडित-संज्ञा हो जाने से आम्रेडितं भर्त्सने (८।२।९५) से आम्रेडितसंज्ञक चोर की टि को प्लुत हो गया । इसी प्रकार सर्वत्र जानें । चोर के 'सु' का एङ्ह्रस्वात्० (६।१।६७) से लोप होकर द्वित्व हुआ है । एवं दस्यो दस्यो३ में ह्रस्वस्य गुणः (७।३।१०८) से गुण हुआ है ॥

यहाँ से 'आम्रेडितम्' की अनुवृत्ति ८।१।३ तक जायेगी ॥

अनुदात्तं च ॥८।१।३॥ अनुदात्त

अनुदात्तम् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—आम्रेडितम् ॥ अर्थः—यदाम्रेडितसंज्ञं तदनुदात्तं च भवति ॥ उदा०—भुङ्क्ते भुङ्क्ते । पशून् पशून् ॥

भाषार्थः—जिसकी आम्रेडित-संज्ञा होती है, वह [अनुदात्तम्] अनुदात्त [च] भी होता है ॥ नित्यवीप्सयोः से भुङ्क्ते आदि में द्वित्व होता है । भुङ्क्ते की सिद्धि परि० १।३।६४ के प्रयुङ्क्ते के समान है । भुजोऽनवने (१।३।६६) से यहां आत्मनेपद हुआ है । भुज उदात्तेत् है, प्रत्ययस्वर से उदात्त हुआ । सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते (वा० ६।१।१५२) से श्नम् को अनुदात्त प्राप्त हुआ । परन्तु श्नम् के अदुपदेश होने से तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० (६।१।१८०) से 'ते' अनुदात्त हो गया । सो श्नम् प्रत्यय स्वर से उदात्त हुआ । पश्चात् श्नम् के उदात्त अकार के लोप होने पर अनुदात्तस्य च० (६।१।१५५) से अनुदात्त ते उदात्त हो गया । द्वित्व होने के पश्चात् पर भाग में भी यही स्वर प्राप्त होने पर इसकी आम्रेडित-संज्ञा होने से सब स्वर हटकर सारा पद अनुदात्त हुआ । पश्चात् भु के उ को स्वरित (८।४।६५), एवं अन्य अनुदात्तों को एकश्रुति हो गई । इसी प्रकार पशु शब्द अर्जिदृशि० (उणा० १।२७) से कुप्रत्ययान्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है । परवाला भाग आम्रेडित-संज्ञा होने से सारा अनुदात्त हो गया ॥

नित्यवीप्सयोः॥८।१।४॥ द्वित्व

नित्यवीप्सयोः ७।२॥ स०—नित्यञ्च वीप्सा च नित्यवीप्से, तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः—नित्ये चार्थे वीप्सायां च यः शब्दो वर्त्तते, तस्य सर्वस्य द्वे भवतः ॥ उदा०—नित्ये—पचति पचति । जल्पति जल्पति । भुक्त्वा भुक्त्वा व्रजति । भोजं भोजं व्रजति । लुनीहि लुनीहि इत्येवमयं लुनाति । वीप्सायाम्—ग्रामो ग्रामो रमणीयः । जनपदो जनपदो रमणीयः । पुरुषः पुरुषो निधनमुपैति ॥

भाषार्थः—[नित्यवीप्सयोः] नित्यता एवं वीप्सा अर्थ में जो शब्द उस सम्पूर्ण शब्द को द्वित्व होता है ॥

नित्यता आभीक्ष्ण्य=पौनःपुन्य को कहते हैं । वह नित्यता तिङ् तथा कृत् जो अव्यय-संज्ञक उनमें ही होती है, सो उसी प्रकार उदाहरण दर्शा दिये हैं । वीप्सा भिन्न-भिन्न पदार्थों की क्रिया तथा गुण की व्याप्ति को एक साथ कहने की इच्छा को कहते हैं । यथा जनपद जनपद रमणीय है । यहां भिन्न-भिन्न जनपदों के रमणीयतागुण को एक साथ कह दिया । इस प्रकार वीप्सा सुपों का ही धर्म है ॥ आभीक्ष्ण्ये णमुल् च (३।४।२२) से उदाहरणों में क्त्वा णमुल्, तथा क्रियासमभिहारे० (३।४।२)

से लुनीहि में लोट् को 'हि' हुआ है। क्त्वा तथा णमुल् क्त्वातोसुन्० (१।१।३९) एवं कृन्मेजन्तः (१।१।३८) से अव्ययसंज्ञक, तथा कृत्संज्ञक (३।१।९३ से) भी हैं। सो उनकी नित्यता अर्थ में द्वित्व हुआ है ॥

परेर्वर्जने ॥८।१।५॥

परेः ६।१॥ वर्जने ७।१॥ अनु०—सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः—परीत्येतस्य वर्जनेऽर्थे वर्तमानस्य द्वे भवतः ॥ उदा०—परि परि त्रिगर्त्तेभ्यो वृष्टो देवः। परि परि सौवीरेभ्यः। परि परि सर्वसेनेभ्यः ॥

भावार्थः—[वर्जने] वर्जन=छोड़ने अर्थ में वर्त्तमान [परेः] परि शब्द को द्वित्व होता है ॥ अपपरी वर्जने (१।४।८७) से 'परि' शब्द की यहाँ कर्मप्रवचनीय-संज्ञा होने से पञ्चम्यपाङ्० (२।३।१०) से त्रिगर्त्तेभ्यः आदि में पञ्चमी हुई है। विभाषाऽप॰ (२।१।११) से विकल्प से समास कहा है, सो असमास पक्ष में ही इस सूत्र से द्विर्वचन होता है। समास पक्ष में द्वित्व नहीं होता, ऐसा समझना चाहिये, क्योंकि समास पक्ष में समास ही वर्जन अर्थ को कह देता है। यहाँ वीप्सा अर्थ में द्विर्वचन प्राप्त था, नियमार्थ सूत्र है ॥

प्रसमुपोदः पादपूरणे ॥८।१।६॥

प्रसमुपोदः ६।१॥ पादपूरणे ७।१॥ स०—प्रश्च सम् च उपश्च उद् च प्रसमुपोद्, तस्य समाहारद्वन्द्वः। पादस्य पूरणं पादपूरणं, तस्मिन् ; षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः—प्र, सम्, उप, उद् इत्येतेषां द्वे भवतो द्विर्वचनेन चेत्पादः पूर्यते ॥ उदा०—प्रप्रायमग्निर्भरतस्य शृण्वे (ऋ० ७।८।४)। संसमिद्युवसे (ऋ० १०।१९१।१)। उपोप मे परामृश (ऋ० १।१२६।७)। किं नोदुदु हर्षसे दातवा उ (ऋ० ४।२१।९) ॥

भावार्थः—[प्रसमुपोदः] प्र, सम्, उप, तथा उद् उपसर्गों को [पादपूरणे] पाद की पूर्त्ति करनी हो (अक्षरादि कम हों तो, पूर्त्ति करने में) तो द्वित्व हो जाता है ॥ इस प्रकार का प्रयोग भाषा-विषय में नहीं होता। अतः सामर्थ्य से यह सूत्र छन्द में ही प्रवृत्त होगा ॥

उपर्यध्यधसः सामीप्ये ॥८।१।७॥

उपर्यध्यधसः ६।१॥ सामीप्ये ७।१॥ स०—उपर्य० इत्यत्र समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः—उपरि, अधि, अधस् इत्येतेषां द्वे भवतः सामीप्ये विवक्षिते ॥ उदा०—उपर्युपरि दुःखम्। उपर्युपरि ग्रामम्। अध्यधि ग्रामम्। अधोऽधो नगरम् ॥

भाषार्थः—[उपर्यध्यधसः] उपरि, अधि, अधस् इनको [सामीप्ये] समीपता अर्थ कहना हो, तो द्वित्व होता है ॥ उपर्युपरि आदि में यणादेश हुआ है। उपर्युपरि दुःखम्, अर्थात् अभी-अभी दुःख का क्षण दूर हुआ है॥ उपरि आदि अव्यय शब्द हैं॥

द्वित्व

वाक्यादेरामन्त्रितस्यासूयासम्मतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु ॥८।१।८॥

वाक्यादेः ६।१॥ आमन्त्रितस्य ६।१॥ असूया…भर्त्सनेषु ७।३॥ स०—वाक्यस्य आदिः वाक्यादिः, तस्य षष्ठीतत्पुरुषः। असूया च सम्मतिश्च कोपश्च कुत्सनञ्च भर्त्सनञ्च असूया…नानि, तेषु…इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—सर्वस्य द्वे॥ अर्थः—वाक्यादेरामन्त्रितस्य द्वे भवतः, असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन, भर्त्सन इत्येतेषु यदि तद्वाक्यं भवति॥ उदा०—असूया—माणवक ३ माणवक अभिरूपक३ अभिरूपक रिक्तं ते आभिरूप्यम्। सम्मतौ—माणवक३ माणवक अभिरूपक३ अभिरूपक शोभनः खल्वसि। कोपे—माणवक ३ माणवक अविनीतक३ अविनीतक इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म। कुत्सने—शक्तिके ३ शक्तिके यष्टिके ३ यष्टिके रिक्ता ते शक्तिः। भर्त्सने—चौर चौर ३ वृषल वृषल ३ घातयिष्यामि त्वा बन्धयिष्यामि त्वा॥

भाषार्थः—[वाक्यादेः] वाक्य के आदि के [आमन्त्रितस्य] आमन्त्रित को द्वित्व होता है, यदि वाक्य से [असूया…भर्त्सनेषु] असूया, सम्मति, कोप, कुत्सन, भर्त्सन गम्यमान हो रहा हो तो॥ दूसरे के गुणों को न सहन करने को असूया, सत्कार को सम्मति, क्रोध को कोप, निन्दा को कुत्सन, तथा डराने धमकाने को भर्त्सन कहते हैं॥

उदाहरणों में माणवक आदि शब्द आमन्त्रित (२।३।४८ से) एवं वाक्य में स्थित हैं, सो द्वित्व हो गया है। वाक्य से असूयादि अर्थों की प्रतीति हो ही रही है॥ सर्वत्र असूयादि अर्थों में द्वित्व किये हुये पूर्ववाले पद को स्वरितमाम्रेडिते० (८।२।१०३) से प्लुत स्वरित होता है। केवल भर्त्सन अर्थ में आम्रेडितं भर्त्सने (८।२।९५) से परवाले पद=आम्रेडित को प्लुत उदात्त हुआ है, सो उदाहरणों में दर्शा दिया है॥

द्वित्व

एकं बहुव्रीहिवत् ॥८।१।९॥

एकम् १।१॥ बहुव्रीहिवत् अ०॥ बहुव्रीहेरिवेति बहुव्रीहिवत्॥ अर्थः—द्विरुक्तमेकमित्येतच्छब्दरूपं बहुव्रीहिवद् भवति॥ बहुव्रीहिवद्भावस्य प्रयोजनं—सुब्लोपपुंवद्भावौ॥ उदा०—एकैकमक्षरं पठति। एकैकयाऽऽहुत्या जुहोति॥

भाषार्थः—द्वित्व किये हुये [एकम्] एक शब्द को [बहुव्रीहिवत्] बहुव्रीहि के समान कार्य हो जाता है॥ एकैकम्, यहाँ वीप्सा अर्थ (८।१।४) में द्वित्व होकर

बहुव्रीहिवद्भाव होने से 'एकम् एकम्' यहाँ जो विभक्ति थी, उसका सुपो धातु० (२।४।७१) से लुक् हो गया। पश्चात् वृद्धि एकादेश (६।१।८५ से) करके एकैक से अम् आया, उसको अतोऽम् (७।१।२४) से अम् होकर एकैकम् बन गया। स्त्रीलिङ्ग में एकैकया, यहाँ भी इसी प्रकार एकया एकया में विभक्ति लुक् करके 'एका एकया' रहा, स्त्रियाः पुंवद्० (६।३।३२) से पुंवद्भाव होकर एकएकया बना। पुनः वृद्धि-एकादेश करके एकैकया (३।१) बन गया॥

यहाँ से 'बहुव्रीहिवत्' की अनुवृत्ति ८।१।१० तक जायेगी॥

आबाधे च ॥८।१।१०॥

आबाधे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—बहुव्रीहिवत्, सर्वस्य द्वे ॥ आबाधनमाबाधः=पीडा। भावे (३।३।१८) इत्यनेनात्र घञ् ॥ अर्थः—आबाधे वर्त्तमानस्य द्वे भवतो बहुव्रीहिवच्चास्य कार्यं भवति ॥ उदा०—गतगतः, नष्टनष्टः, पतितपतितः। गतगता, नष्टनष्टा, पतितपतिता ॥

भाषार्थः—[आबाधे] आबाध=पीडा अर्थ में वर्तमान शब्द को [च] भी द्वित्व होता है; तथा उस शब्द को बहुव्रीहिवत् कार्य भी होता है ॥ पूर्ववत् बहुव्रीहिवत् करने के प्रयोजन हैं॥

कोई अपने प्रिय के चले जाने पर पीड़ित=दुःखित हुआ-हुआ वियोग में कहता है—'गतगतः=चला गया, नष्टनष्टः=नष्ट हो गया', सो यही यहाँ आबाध अर्थ है। इस प्रकार प्रयोक्ता के कथन से यहाँ आबाधत्व की प्रतीति है॥ गतगतः आदि में सुप् लोप तथा गतगता आदि में सुप् लोप एवं पुंवद्भाव दोनों हुये हैं॥

कर्मधारयवदुत्तरेषु ॥८।१।११॥

कर्मधारयवत् अ० ॥ उत्तरेषु ७।३॥ अर्थः—इत उत्तरेषु द्विर्वचनेषु कर्मधारयवत् कार्यं भवतीति वेदितव्यम् ॥ कर्मधारय इव कर्मधारयवत् ॥ कर्मधारयवत्त्वे प्रयोजनं—सुब्लोपपुंवद्भावान्तोदात्तत्वानि ॥ उदा०—सुब्लोपः—पटुपटुः, मृदुमृदुः, पण्डितपण्डितः। पुंवद्भावः—पटुपट्वी, मृदुमृद्वी, कालककालिका। अन्तोदात्तत्वम्—पटुपटुः, पटुपट्वी ॥

भाषार्थः—यहाँ से [उत्तरेषु] आगे द्विर्वचन करने में [कर्मधारयवत्] कर्मधारय समास के समान कार्य होते हैं, ऐसा जानना चाहिये ॥ यह कार्यातिदेश है॥ कर्मधारयवत् करने का प्रयोजन—सुब्लोप, पुंवद्भाव, तथा अन्तोदात्तत्व हैं। सुप् का लोप तथा पुंवद्भाव पूर्ववत् है। वोतो गुणवचनात् (४।१।४४) से पट्वी मृद्वी शब्दों में ङीष् हुआ है। पूर्वपद में उसी की निवृत्ति पुंवद्भाव करने से होकर

पटु मृदु शब्द रह गये । यदि इस सूत्र का आरम्भ न करके बहुव्रीहिवत् की अनुवृत्ति लाई जाती, तो कालककालिका यहाँ न कोपधायाः (६।३।३५) से पुंवद्भाव का प्रतिषेध होता । कर्मधारयवत्त्व होने से पुंवत् कर्मधारय० (६।३।४०) से पुंवद्भाव हो गया, तो पूर्वपदवाले कालिका के टाप् एवं तन्निमित्तक इकार की निवृत्ति होकर कालककालिका बन गया । काला शब्द से प्रागिवात्कः (५।३।७०) से क, केऽणः (७।४।१३) से ह्रस्वत्व, एवं प्रत्ययस्थात्० (७।३।४४) से इत्व होकर कालिका शब्द बना है, उसी को पुंवद्भाव हो गया । अन्तोदात्तत्व समासस्य[1] (६।१।२१७) से कर्मधारयवत् मानने से होता है । अनुदात्तं च (८।१।३) से आम्रेडित को अनुदात्त प्राप्त था, कर्मधारयवत् होने से वह न होकर समास अन्तोदात्तत्व ही हुआ ।। प्रकारे गुण० (८।१।१२) से सर्वत्र द्वित्व हुआ है ।।

यहाँ से 'कर्मधारयवत्' की अनुवृत्ति ८।१।१५ तक जायेगी ।।

प्रकारे गुणवचनस्य ।।८।१।१२।।

प्रकारे ७।१।। गुणवचनस्य ६।१।। स०—गुणमुक्तवान् गुणवचनः, तस्य··· तत्पुरुषः ।। अनु०—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे ।। अर्थः—प्रकारे वर्त्तमानस्य गुणवचनस्य द्वे भवतः, कर्मधारयवत् चास्य कार्यं भवति ।। प्रकारः सादृश्यमिह गृह्यते ।। उदा०—पटुपटुः, मृदुमृदुः, पण्डितपण्डितः ।।

भाषार्थः—[प्रकारे] प्रकार अर्थ में वर्त्तमान [गुणवचनस्य] गुणवचन शब्दों को द्वित्व होता है, और उसे कर्मधारयवत् कार्य भी होता है । सादृश्य अर्थवाले 'प्रकार' का यहाँ ग्रहण है । सो पटुपटुः का अर्थ है—कुछ कम पटु गुणवाला, अर्थात् यहाँ पूर्ण पटु की अपेक्षा से किसी में कुछ न्यूनता दिखाकर प्रकार=सादृश्य (=उपमा) कहा जा रहा है । मृदुमृदुः का अर्थ होगा—परिपूर्ण मृदुवाले की अपेक्षा से कुछ कम मृदु गुणवाला, सो सब में ऐसा ही जानें ।। पूर्व सूत्र से कर्मधारयवत् होने से पूर्ववत् अन्तोदात्तत्व अनुदात्तं च (८।१।३) का बाधक हो जायेगा ।।

अकृच्छ्रे प्रियसुखयोरन्यतरस्याम् ।।८।१।१३।।

अकृच्छ्रे ७।१।। प्रियसुखयोः ६।२।। अन्यतरस्याम् ७।१।। स०—न कृच्छ्रम् अकृच्छ्रम्, तस्मिन्···नञ्तत्पुरुषः । प्रियञ्च सुखञ्च प्रियसुखे, तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः ।।

---

१. इस सूत्र को कार्यातिदेश मानने पर समासस्य के बाधक अनुदात्तं च (८।१।३) से परत्व से अनुदात्त ही होना चाहिये । अतः इसी सूत्र से समास के अन्त को उदात्त विधान भी मानना चाहिये । शास्त्रातिदेश पक्ष में तो समासस्य(६।१।२१७)हो जायेगा ।।

अनु०—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः—प्रिय सुख इत्येतयोरकृच्छ्रे द्योत्येऽन्यतरस्यां द्वे भवतः, कर्मधारयवच्चास्य कार्यं भवति ॥ उदा०—प्रियप्रियेण ददाति, सुखसुखेन ददाति । पक्षे—प्रियेण ददाति, सुखेन ददाति ॥

भाषार्थः—[प्रियसुखयोः] प्रिय तथा सुख शब्दों को [अकृच्छ्रे] अकृच्छ्र (=कष्ट न होना) अर्थ द्योत्य हो, तो [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके द्वित्व होता है, एवं कर्मधारयवत् कार्य उसको (द्वित्व किये हुये को) होता है ॥ 'प्रियप्रियेण ददाति' का अर्थ है—अत्यन्त निर्धन होने पर भी कोई वस्तु अनायास प्रसन्नता से दे देता है । इसी प्रकार 'सुख-सुखेन' में समझें, यही यहाँ अकृच्छ्र है ॥ प्रियेण सुखेन तृतीयान्त शब्दों को द्वित्व करने पर कर्मधारयवत् होने से सुप् का लुक् हो गया, तो 'प्रियप्रिय' रहा । पुनः तदन्त शब्द से तृतीया एकवचन 'टा' आकर प्रियप्रियेण, सुखसुखेन बन गया ॥

यथास्वे यथायथम् ॥८।१।१४॥ द्वित्व, कर्मधारयवत्

यथास्वे ७।१॥ यथायथम् १।१॥ स०—यो यः स्वो यथास्वम्, तस्मिन्...। यथाऽसादृश्ये (२।१।७) इति वीप्सायामव्ययीभावसमासः ॥ स्वशब्दो ह्यत्रात्मवचनः, आत्मीयवचनो वा ॥ अनु०—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे ॥ अर्थः—यथास्वेऽर्थे यथायथमिति निपात्यते, कर्मधारयवच्चास्य कार्यं भवति । यथाशब्दस्य द्विर्वचनं नपुंसकलिङ्गता च निपातनेन भवति । नपुंसकलिङ्गतया ह्रस्वो नपुंसके० (१।२।४७) इत्यनेन ह्रस्वः ॥ उदा०—ज्ञाताः सर्वे पदार्था यथायथम् । सर्वेषां तु यथायथम् ॥

भाषार्थः—[यथास्वे] यथास्वम् अर्थ में [यथायथम्] 'यथायथम्' शब्द निपातन है, तथा कर्मधारयवत् कार्य भी इसे होता है । यथा शब्द को द्विवचन तथा नपुंसकलिङ्गता निपातन से होती है । नपुंसकलिङ्ग होने से ह्रस्वो नपुंसके० (१।२।४७) से ह्रस्व होकर यथायथम् बनेगा ॥

यथास्वे में 'स्व' शब्द आत्मा (वस्तु का अपना स्वभाव) अथवा आत्मीय (उसकी अपनी स्वाभाविकता) अर्थ का वाचक है ॥ 'ज्ञाताः सर्वे पदार्थाः यथायथम्' का अर्थ है—"मैंने सब पदार्थों के उनके अपने स्वभाव को जान लिया है" । सर्वेषां तु यथायथम् =अर्थात् सब की आत्मीयता=स्वाभाविकता को । कर्मधारयवत् होने से पूर्ववत् अन्तोदात्तत्व होता है ॥ द्वन्द्व निपातन

द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु ॥८।१।१५॥

द्वन्द्वम् १।१॥ रहस्य...व्यक्तिषु ७।३॥ स०—यज्ञपात्राणां प्रयोगः यज्ञपात्र-

प्रयोगः, षष्ठीतत्पुरुषः। मर्यादायाः वचनं मर्यादावचनं, षष्ठीतत्पुरुषः। रहस्यञ्च मर्यादावचनञ्च व्युत्क्रमणञ्च यज्ञपात्रप्रयोगश्च अभिव्यक्तिश्च रहस्य···व्यक्तयः, तेषु···इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—कर्मधारयवत्, सर्वस्य द्वे॥ अर्थः—रहस्य, मर्यादावचन, व्युत्क्रमण, यज्ञपात्रप्रयोग, अभिव्यक्ति इत्येतेष्वर्थेषु द्वन्द्वमिति निपात्यते, कर्मधारयवत् चास्य कार्यं भवति॥ द्वन्द्वमित्यत्र द्विशब्दस्य द्विर्वचनम्, द्विर्वचने कृते पूर्वपदस्याम्भावः, उत्तरपदस्य चात्वं निपात्यते॥ उदा०—रहस्ये—द्वन्द्वं मन्त्रयन्ते। मर्यादावचने—आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनायन्ते। माता पुत्रेण पौत्रेण प्रपौत्रेण च मिथुनं गच्छति। व्युत्क्रमणे—द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः। यज्ञपात्रप्रयोगे—द्वन्द्वं न्यञ्चि यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति धीरः। अभिव्यक्तौ—द्वन्द्वं नारदपर्वतौ, द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ॥

भाषार्थः—[रहस्य···क्तिषु] रहस्य, मर्यादावचन, व्युत्क्रमण, यज्ञपात्रप्रयोग अभिव्यक्ति इन अर्थों में [द्वन्द्वम्] द्वन्द्वम् यह शब्द निपातन है, कर्मधारयवत् कार्य भी इसको होता है॥ द्वि शब्द को द्विर्वचन कर लेने के पश्चात् पूर्वपद के इकार को अम् भाव, एवं उत्तरपद के 'इ' को अत्व, तथा नपुंसकत्व यहाँ निपातन है। 'द्वि औ, द्वि औ' इस स्थिति में कर्मधारयवद्भाव होने से सुप् का लुक् पूर्ववत् हुआ, एवं निपातन से अम् भाव, एवं अत्व भी होकर—द्वन्द्व रहा। नपुंसकलिङ्ग होने से द्वन्द्व शब्द से आये हुये सु को अम् (७।१।२४ से) होकर द्वन्द्वम् बन गया। कर्मधारयवद्भाव होने से अन्तोदात्तत्व भी यहाँ पूर्ववत् होगा॥ रहस्य अर्थात् एकान्त। मर्यादावचन का अर्थ है—स्थिति का अनतिक्रमण। व्युत्क्रमण—पृथक् अवस्थिति भेद को कहते हैं। अभिव्यक्ति अर्थात् साहचर्य॥ उदा०—रहस्य में—द्वन्द्वं मन्त्रयन्ते (=दो-दो मिलकर परस्पर मन्त्रणा करते हैं)। मर्यादावचन में—आचतुरं हीमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनायन्ते (=चौथी पीढ़ी तक ये पशु परस्पर मैथुन करते हैं)। माता पुत्रेण पौत्रेण प्रपौत्रेण च मिथुनं गच्छति (=माता पुत्र-पौत्र-प्रपौत्र से संयुक्त होती है)। व्युत्क्रमण में—द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः (=दो-दो वर्ग बनाकर चले गए)। यज्ञपात्रप्रयोग में—द्वन्द्वं न्यञ्चि यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति धीरः (=धैर्यशाली अर्वाग्बिल=उलटे यज्ञपात्रों को दो-दो को इकट्ठा वेदि में रखता है)। अभिव्यक्ति में—द्वन्द्वं नारदपर्वतौ (=नारद और पर्वत दोनों का साहचर्य)। द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ (=संकर्षण और वासुदेव दोनों का साहचर्य)॥

पदस्य ॥८।१।१६॥

पदस्य ६।१॥ अर्थः—प्रागपदान्तादधिकाराद् इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि पदस्य भवन्तीत्यधिकारो वेदितव्यः॥ उदा०—वक्ष्यति संयोगान्तस्य लोपः (८।२।२३) पचन्, यजन्॥

भाषार्थ: यह अधिकारसूत्र है ।। अपदान्तस्य मूर्धन्य: (८।३।५५) से पहिले-पहिले अर्थात् ८।३।५४ तक के कहे हुये कार्य [पदस्य] पद के स्थान में होते हैं, ऐसा अधिकार जानना चाहिये ।। शतृप्रत्ययान्त, पचन्त् यजन्त् पद के अन्त संयोग का लोप पचन् यजन् में हुआ है ।।

पदात् ।।८।१।१७।।

पदात् ५।१।। अनु०—पदस्य ।। अर्थ:—अयमप्यधिकार: । प्राक् कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ (८।१।६६) इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि पदात् पदस्य भवन्ति ।। उदा०—वक्ष्यति आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) पचसि देवदत्त ।।

भाषार्थ: यह भी अधिकारसूत्र है । कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ (८।१।६९) से पहिले-पहिले कहे हुये कार्य [पदात्] पद से उत्तरपद के स्थान में होते हैं,ऐसा अधिकार जानना चाहिये ।। पचसि देवदत्त, यहाँ पचसि पद से उत्तर देवदत्त आमन्त्रित-संज्ञक पद को अनुदात्त हुआ है ।।

अनुदात्तं सर्वमपादादौ ।।८।१।१८।।

अनुदात्तम् १।१।। सर्वम् १।१।। अपादादौ ७।१।। स०—पादस्य आदि: पादादि:, षष्ठीतत्पुरुष: । न पादादिरपादादि:, तस्मिन् ... नञ्तत्पुरुष: ।। अर्थ: —अयमप्यधिकार:, तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) इत्येतत्पर्यन्तम् । इत उत्तरं यद् वक्ष्याम: 'अनुदात्तं सर्वमपादादौ' इत्येवं तद् वेदितव्यम् ।। उदा०—वक्ष्यति आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) इति—पचसि देवदत्त ।।

भाषार्थ: यह भी अधिकारसूत्र है, तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) तक जायेगा । यहाँ से आगे जो कुछ कहेंगे, वहाँ [अपादादौ] पाद के आदि में न हो, तो [सर्वम्] सारा [अनुदात्तम्] अनुदात्त होता है, ऐसा अधिकार बैठता जायेगा ।। पाद से यहाँ ऋचा का अथवा श्लोक का पाद गृहीत है, सो उसके आदि में न हो तो ऐसा अर्थ होगा ।। पचसि देवदत्त, यहाँ सम्पूर्ण आमन्त्रित-संज्ञक (२।३।४८ से) को अनुदात्त होता है, क्योंकि इस सूत्र का आमन्त्रितस्य च में अधिकार है।।

आमन्त्रितस्य च ।।८।१।१९।।

आमन्त्रितस्य ६।१।। च अ० ।। अनु०—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य।। अर्थ:—पदात् परस्यामन्त्रितस्य पदस्यापादादौ वर्त्तमानस्य सर्वस्यानुदात्तो भवति ।। उदा०—पचसि देवदत्त । पचसि यज्ञदत्त ।।

भाषार्थ:—पद से उत्तर [आमन्त्रितस्य] आमन्त्रित संज्ञक सम्पूर्ण पद को [च] भी पाद के आदि में वर्त्तमान न हो, तो अनुदात्त होता है ।। आमन्त्रितस्य च

(६।१।१६२) से आद्युदात्त प्राप्त था, निघात कर दिया ॥ सामन्त्रितम् (२।३।४८) से आमन्त्रित संज्ञा होती है ॥

युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोर्वान्नावौ ॥८।१।२०॥

युष्मदस्मदोः ६।२॥ षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः ६।२॥ वान्नावौ १।२॥ स०—युष्मद् च अस्मद् च युष्मदस्मदौ, तयोः… इतरेतरद्वन्द्वः । षष्ठी च चतुर्थी च द्वितीया च षष्ठीचतुर्थीद्वितीयाः, तासु यौ तिष्ठतस्तौ षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थौ, तयोः… इतरेतरद्वन्द्वगर्भतत्पुरुषः । वाम् च नौ च वान्नावौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—पदादुत्तरयोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं वाम् नौ इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ भवतः ॥ उदा०—षष्ठी—ग्रामो वां स्वम् । जनपदो नौ स्वम् । चतुर्थी—ग्रामो वां दीयते । जनपदो नौ दीयते । द्वितीया—ग्रामो वां पश्यति । ग्रामो नौ पश्यति ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर [षष्ठी…स्थयोः] षष्ठ्यादि विभक्ति में स्थित अर्थात् षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त तथा द्वितीयान्त जो अपादादि में वर्त्तमान [युष्मदस्मदोः] युष्मद् अस्मद् शब्द, उनके सम्पूर्ण के स्थान में क्रमशः [वान्नावौ] वाम् तथा नौ आदेश होते हैं, एवं उन आदेशों को अनुदात्त भी होता है ॥ युष्मद् अस्मद् के षष्ठी चतुर्थी द्वितीया के बहुवचन तथा एकवचन में अन्य आदेश कहेंगे । अतः ये आदेश द्विवचन में जानने चाहियें ॥ उदा०—ग्रामो वां स्वम् (=ग्राम तुम दोनों की मिल्कियत है) । जनपदो नौ स्वम् (=जनपद हम दोनों की मिल्कियत है) । ग्रामो वां दीयते (=ग्राम तुम दोनों के लिये दिया जाता है) । जनपदो नौ दीयते (=जनपद हम दोनों के लिये दिया जाता है) । ग्रामो वां पश्यति (=ग्राम तुम दोनों को देखता है) । ग्रामो नौ पश्यति (=ग्राम हम दोनों को देखता है) ॥ सर्वत्र ग्राम या जनपद से उत्तर आदेश हुये हैं । षष्ठी में युवयोः, आवयोः, चतुर्थी में युवाभ्याम्, आवाभ्याम् तथा द्वितीया में युवाम् आवाम् के स्थान में ये आदेश क्रमशः हुये हैं ॥

यहाँ से 'युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः' की अनुवृत्ति ८।१।२६ तक जायेगी ॥

बहुवचनस्य वस्नसौ ॥८।१।२१॥

बहुवचनस्य ६।१॥ वस्नसौ १।२॥ स०—वस् च नस् च वस्नसौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—पदादुत्तरयोर्बहुवचनान्तयोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं वस् नस् इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ भवतः ॥

उदा०—षष्ठी—ग्रामो वः स्वम् । जनपदो नः स्वम् । चतुर्थी—ग्रामो वो दीयते । जनपदो नो दीयते । द्वितीया—ग्रामो वः पश्यति । जनपदो नः पश्यति ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर अपादादि में वर्त्तमान जो [बहुवचनस्य] बहुवचन में षष्ठ्यन्त चतुर्थ्यन्त एवं द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् पद उनको (सम्पूर्ण को) क्रमशः [वस्नसौ] वस् नस् आदेश होते हैं, और वे आदेश अनुदात्त होते हैं ॥ 'ग्रामो वः स्वम्' की सिद्धि परि० १।१।५५ में देखें । सर्वत्र स्थानिवत् कार्य इसी प्रकार जान लेना चाहिये । षष्ठी में युष्माकम् अस्माकम्, चतुर्थी में युष्मभ्यम् अस्मभ्यम्, तथा द्वितीया में युष्मान् अस्मान् के स्थान में क्रमशः वस् नस् आदेश जानें । सर्वत्र पद से उत्तर है ही ॥

तेमयावेकवचनस्य ॥८।१।२२॥

तेमयौ १।२॥ एकवचनस्य ६।१॥ स०—तेश्च मेश्च तेमयौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीस्थयोः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—पदादुत्तरयोरेकवचनान्तयोः षष्ठीचतुर्थीस्थयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं ते मे इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ भवतः ॥ उदा०—षष्ठी—ग्रामस्ते स्वम् । ग्रामो मे स्वम् । चतुर्थी—ग्रामस्ते दीयते । ग्रामो मे दीयते ॥ द्वितीयान्तस्यादेशान्तरविधानान् नोदाह्रियते ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर अपादादि में वर्त्तमान जो [एकवचनस्य] एकवचनवाले षष्ठ्यन्त चतुर्थ्यन्त युष्मद् अस्मद् पद उनको क्रमशः [तेमयौ] ते मे आदेश होते हैं, और वे आदेश अनुदात्त होते हैं ॥ द्वितीयान्त को अन्य आदेश आगे कहेंगे । अतः यहाँ 'द्वितीया' की अनुवृत्ति का सम्बन्ध नहीं लगेगा ॥ षष्ठी में तव मम, तथा चतुर्थी में तुभ्यम् मह्यम् के स्थान में क्रमशः ते मे आदेश होते हैं ॥

यहाँ से 'एकवचनस्य' की अनुवृत्ति ८।१।२३ तक जायेगी ॥

त्वामौ द्वितीयायाः ॥८।१।२३॥

त्वामौ १।२॥ द्वितीयायाः ६।१॥ स०—त्वाश्च माश्च त्वामौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—एकवचनस्य, युष्मदस्मदोः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—द्वितीयाया यदेकवचनं तदन्तयोरपादादौ वर्त्तमानयोर्युष्मदस्मदोः पदयोर्यथासङ्ख्यं त्वा मा इत्येतावादेशौ भवतोऽनुदात्तौ च तौ ॥ उदा०—ग्रामस्त्वा पश्यति । ग्रामो मा पश्यति ॥

भाषार्थः—पद से उत्तर अपादादि में वर्त्तमान [द्वितीयायाः] द्वितीया विभक्ति का जो एकवचन तदन्त युष्मद् अस्मद् पद को यथासङ्ख्य करके [त्वामौ]

त्वा मा आदेश होते हैं, और वे अनुदात्त होते हैं ॥ द्वितीया एकवचनान्त त्वाम् माम् को क्रमश: त्वा मा आदेश यहाँ हुये हैं ॥

न चवाहाहैवयुक्ते ॥८।१।२४॥

न अ० ॥ चवाहाहैवयुक्ते ७।१॥ स०—चश्च वाश्च हश्च अहश्च एवश्च चवाहाहैवा:, तैर्युक्तं चवाहाहैवयुक्तम्, तस्मिन् ''द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुष: ॥ अनु०—युष्मदस्मदो: षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयो:, पदस्य, पदात् ॥ अर्थ:—च, वा, ह, अह, एव एभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वान्नावादय आदेशा न भवन्ति ॥ पूर्वै: सूत्रै: प्राप्ता: प्रतिषिध्यन्ते ॥ उदा०—ग्रामस्तव च स्वम्, ग्रामो मम च स्वम् । ग्रामो युवयोश्च स्वम्, ग्राम आवयोश्च स्वम् । ग्रामो युष्माकं च स्वम्, ग्रामोऽस्माक च स्वम् । ग्रामस्तुभ्यं च दीयते, ग्रामो मह्यं च दीयते । ग्रामो युवाभ्यां च दीयते, ग्राम आवाभ्यां च दीयते । ग्रामो युष्मभ्यं च दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यं च दीयते । ग्रामस्त्वां च पश्यति, ग्रामो मां च पश्यति । ग्रामो युवां च पश्यति, ग्राम आवां च पश्यति । ग्रामो युष्मांश्च पश्यति, ग्रामोऽस्मांश्च पश्यति । वा—ग्रामस्तव वा स्वम्, ग्रामो मम वा स्वम् । ग्रामो युवयोर्वा स्वम्, ग्राम आवयोर्वा स्वम् । ग्रामो युष्माकं वा स्वम्, ग्रामोऽस्माकं वा स्वम् । ग्रामस्तुभ्यं वा दीयते, ग्रामो मह्यं वा दीयते । ग्रामो युवाभ्यां वा दीयते, ग्राम आवाभ्यां वा दीयते । ग्रामो युष्मभ्यं वा दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यं वा दीयते । ग्रामस्त्वां वा पश्यति, ग्रामो मां वा पश्यति । ग्रामो युवां वा पश्यति, ग्राम आवां वा पश्यति । ग्रामो युष्मान् वा पश्यति, ग्रामोऽस्मान् वा पश्यति । ह—ग्रामस्तव ह स्वम्, ग्रामो मम ह स्वम् । ग्रामो युवयोर्ह स्वम्, ग्राम आवयोर्ह स्वम् । ग्रामो युष्माकं ह स्वम्, ग्रामोऽस्माकं ह स्वम् । ग्रामस्तुभ्यं ह दीयते, ग्रामो मह्यं ह दीयते । ग्रामो युवाभ्यां ह दीयते, ग्राम आवाभ्यां ह दीयते । ग्रामो युष्मभ्यं ह दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यं ह दीयते । ग्रामस्त्वां ह पश्यति, ग्रामो मां ह पश्यति । ग्रामो युवां ह पश्यति, ग्राम आवां ह पश्यति । ग्रामो युष्मान् ह पश्यति, ग्रामोऽस्मान् ह पश्यति । अह—ग्रामस्तवाह स्वम्, ग्रामो ममाह स्वम् । ग्रामो युवयोरह स्वम्, ग्राम आवयोरह स्वम् । ग्रामो युष्माकमह स्वम्, ग्रामोऽस्माकमह स्वम् । ग्रामस्तुभ्यमह दीयते, ग्रामो मह्यमह दीयते । ग्रामो युवाभ्यामह दीयते, ग्राम आवाभ्यामह दीयते । ग्रामो युष्मभ्यमह दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यमह दीयते । ग्रामस्त्वामह पश्यति, ग्रामो मामह पश्यति । ग्रामो युवामह पश्यति, ग्राम आवामह पश्यति । ग्रामो युष्मान् अह पश्यति, ग्रामोऽस्मान् अह पश्यति । एव—ग्रामस्तवैव स्वम्, ग्रामो ममैव स्वम् । ग्रामो युवयोरेव स्वम्, ग्राम आवयोरेव स्वम् । ग्रामो युष्माकमेव स्वम्, ग्रामोऽस्माकमेव स्वम् । ग्रामस्तुभ्यमेव दीयते, ग्रामो मह्यमेव दीयते । ग्रामो युवाभ्यामेव दीयते, ग्राम आवाभ्यामेव दीयते । ग्रामो युष्मभ्यमेव दीयते, ग्रामोऽस्मभ्यमेव दीयते । ग्रामस्त्वामेव पश्यति,

ग्रामो मामेव पश्यति । ग्रामो युवामेव पश्यति, ग्राम आवामेव पश्यति । ग्रामो युष्मान् एव पश्यति, ग्रामोऽस्मान् एव पश्यति ॥

भाषार्थः—[चवाहाहैवयुक्ते] च, वा, ह, अह, एव इनके योग में षष्ठ्यन्त, चतुर्थ्यन्त, द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् शब्दों को पूर्व सूत्रों से प्राप्त वाम् नौ आदि आदेश [न] नहीं होते ॥ एकवचन, द्विवचन, बहुवचन में जो भी आदेश पूर्व सूत्रों से कह आये हैं, उन सब का च वा आदि के योग में प्रतिषेध हो जाता है । सो उसी प्रकार उदाहरण सभी वचनों में दर्शा दिये हैं ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।१।२६ तक जायेगी ॥

पश्यार्थैश्चानालोचने ॥८।१।२५॥

पश्यार्थैः ३।१॥ च अ० ॥ अनालोचने ७।१॥ स०—पश्योऽर्थो येषां ते पश्यार्थाः, तैः ... बहुव्रीहिः ॥ दर्शनं पश्यः, अस्मादेव निपातनात्, **कृत्यल्युटो बहुलम्** (३।३। ११३) इति वा भावे शप्रत्ययः । **पाघ्राध्मा०** (७।३।७८) सूत्रेण च पश्यादेशः ॥ न आलोचनमनालोचनम्, तस्मिन् ... नञ्तत्पुरुषः ॥ दर्शनं ज्ञानम् । आलोचनं चक्षुर्विज्ञानम् ॥ **अनु०**—न, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, पदस्य, पदात् ॥ **अर्थः**—अनालोचनेऽर्थे वर्त्तमानैः पश्यार्थैः=ज्ञानार्थैर्धातुभिर्योगे युष्मदस्मदोर्वाम्नावादयो न भवन्ति ॥ **उदा०**—ग्रामस्तव स्वं समीक्ष्यागतः, ग्रामो मम स्वं समीक्ष्यागतः । एवं सर्वत्र द्विवचने बहुवचनेऽपि उदाहार्यम् । ग्रामस्तुभ्यं दीयमानं समीक्ष्यागतः, ग्रामो मह्यं दीयमानं समीक्ष्यागतः । ग्रामस्त्वां समीक्ष्यागतः, ग्रामो मां समीक्ष्यागतः ॥

भाषार्थः—[अनालोचने] अनालोचन=न देखना अर्थ में वर्तमान [पश्यार्थैः] पश्य=दर्शन=ज्ञान अर्थवाले धातुओं के योग में [च] भी युष्मद् अस्मद् को पूर्व सूत्रों से प्राप्त वाम् नौ आदि आदेश नहीं होते ॥ आलोचन चक्षु द्वारा देखने को कहते हैं । पश्यार्थ अर्थात् दर्शनार्थक=ज्ञानार्थक । साधारणतया 'पश्य' का देखना अर्थ ही लिया जाता है, पर यहाँ अनालोचन निषेध के कारण पश्य से देखना अर्थ नहीं लेना, किन्तु यहाँ ज्ञान अर्थ गृहीत है । तभी तो अनालोचन विषय सम्भव है ॥ उदाहरणों में 'समीक्ष्य' ज्ञानार्थक धातु का योग है, अतः वाम् नौ आदि आदेश नहीं हुए । 'ग्रामस्तव स्वं समीक्ष्यागतः' का अर्थ है—ग्राम तुम्हारी मिल्कियत है, ऐसा मन से निरूपण=ज्ञान करके आ गया । इस प्रकार यहाँ 'समीक्ष्य' का अनालोचन अर्थ है । इसी प्रकार अन्य उदाहरणों का भी अर्थ जानें ॥

सपूर्वायाः प्रथमाया विभाषा ॥८।१।२६॥

सपूर्वायाः ५।१॥ प्रथमायाः ५।१॥ विभाषा १।१॥ स०—सह=विद्यमानं

पूर्वं यस्याः सा सपूर्वा, तस्याः — बहुव्रीहिः । तेन सहेति० (२।२।२८) इत्यनेनात्र समासः, वोपसर्जनस्य (६।३।८०) इत्यनेन च सहस्य 'स' आदेशः ॥ अनु०—न, युष्मदस्मदोः षष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्थयोः, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—विद्यमानपूर्वात् प्रथमान्तात् पदादुत्तरयोर्युष्मदस्मदोर्विभाषा वान्नावादय आदेशा न भवन्ति ॥उदा०—ग्रामे कम्बलस्ते स्वम् । पक्षे—ग्रामे कम्बलस्तव स्वम् । ग्रामे कम्बलो मे स्वम्, ग्रामे कम्बलो मम स्वम् । एवं सर्वत्र द्विवचनबहुवचनेऽपि पूर्ववदुदाहार्यम् । ग्रामे कम्बलस्ते दीयते, ग्रामे कम्बलस्तुभ्यं दीयते । ग्रामे कम्बलो मे दीयते, ग्रामे कम्बलो मह्यं दीयते । ग्रामे छात्रास्त्वा पश्यन्ति, ग्रामे छात्रास्त्वां पश्यन्ति । ग्रामे छात्राः मा पश्यन्ति, ग्रामे छात्राः मां पश्यन्ति ॥

भाषार्थः—[सपूर्वायाः] विद्यमान है पूर्व में (कोई पद) जिससे, ऐसे [प्रथमायाः] प्रथमान्त पद से उत्तर षष्ठ्यन्त चतुर्थ्यन्त तथा द्वितीयान्त युष्मद् अस्मद् शब्द को [विभाषा] विकल्प से वाम् नौ आदि आदेश नहीं होते, अर्थात् विकल्प से होते हैं ॥ ग्रामे कम्बलस्ते स्वम् आदि सभी उदाहरणों में प्रथमान्त कम्बल शब्द से पूर्व 'ग्रामे' पद है । अतः सपूर्व=विद्यमान पूर्ववाले, कम्बल प्रथमान्त पद से उत्तर विकल्प से वाम्-नौ आदि आदेश हो गये ॥ सर्वत्र एकवचनान्त उदाहरण ही दिखा दिये हैं, इसी प्रकार पूर्व सूत्रों से कहे आदेश द्विवचनान्त बहुवचनान्त को भी विकल्प से होंगे । सभी वचनों में उदाहरण हमने न चवा०. (८।१।२४) में दिखाये हैं, तद्वत् ही जान लेना चाहिये ॥

तिङो गोत्रादीनि कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः ॥८।१।२७॥

तिङः ५।१॥ गोत्रादीनि १।३॥ कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः ७।२॥ स०—गोत्र आदिर्येषां तानि गोत्रादीनि, बहुव्रीहिः । कुत्सनञ्च आभीक्ष्ण्यञ्च कुत्सनाभीक्ष्ण्ये, तयोः... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—कुत्सने आभीक्ष्ण्ये चार्थे वर्त्तमानानि तिङन्तात् पदात् पराणि गोत्रादीनि अनुदात्तानि भवन्ति ॥ उदा०—कुत्सने—पचति गोत्रम्, जल्पति गोत्रम् । पचति ब्रुवम्, जल्पति ब्रुवम् । आभीक्ष्ण्ये—पचति पचति गोत्रम्, जल्पति जल्पति गोत्रम् ॥

भाषार्थः—[तिङः] तिङन्त पद से उत्तर [कुत्सनाभीक्ष्ण्ययोः] कुत्सन (=निन्दा) तथा आभीक्ष्ण्य (=पौनःपुन्य) अर्थ में वर्त्तमान [गोत्रादीनि] गोत्रादिगण-पठित पदों को अनुदात्त होता है ॥ जो अपने पुरुषार्थ को त्यागकर अपने गोत्र की उच्चतादि[1] बताकर जीवन-यापन करता है, उसे 'पचति गोत्रम्' कहते

---

[1]. गोत्र बताकर जीविका यापन करना निन्दित है । मनुस्मृति में कहा है—
न भोजनार्थं स्वे विप्रः कुलगोत्रे निवेदयेत् ।
भोजनार्थं हि ते शंसन् वान्ताशीत्युच्यते बुधैः ॥ मनु० ३।१०९॥

हैं। पच् धातु यहाँ व्यक्त=स्थापन अर्थ में है, ब्रुव शब्द भी निन्दार्थवाची है। अतः 'पचति ब्रुवम्' का अर्थ—'बुरा खाक पकाता है' ऐसा होगा। 'पचति-पचति' गोत्रम् का अर्थ है—विवाहादि-विषय में पुनः-पुनः गोत्रोच्चारण करता है॥ नित्यवीप्सयोः (८।१।४) से नित्यता=आभीक्ष्ण्य अर्थ में पचति पचति द्वित्व हुआ है। ब्रुव के विषय में ६।३।४२ देखें॥

तिङ्ङतिङः॥८।१।२८॥

तिङ् १।१॥ अतिङः ५।१॥ स०—न तिङ् अतिङ्, तस्मात् नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ अर्थः—अतिङन्तात् पदादुत्तरं तिङन्तं पदमनुदात्तं भवति॥ उदा०—देवदत्तः पचति। यज्ञदत्तः पचति॥

भाषार्थः—[अतिङः] अतिङ् पद से उत्तर जो [तिङ्] तिङ् पद उसको (सम्पूर्ण को) अनुदात्त होता है॥ सर्वत्र सूत्रार्थ में 'अपादादौ' का सम्बन्ध लगा लेना चाहिये॥ उदाहरण में देवदत्त यज्ञदत्त अतिङ् पद से उत्तर पचति तिङ् पद है। सो उस सब स्वर हटकर सर्वानुदात्त=निघात हो गया। निघात करने से पूर्व पचति का क्या स्वर था, यह परि० ३।१।४ में देखें॥ यहाँ से आगे इस सूत्र के अपवाद सूत्र कहे जायेंगे॥

यहाँ से 'तिङ्' की अनुवृत्ति ८।१।६६ तक जायेगी॥

न लुट्॥८।१।२९॥

न अ०॥ लुट् १।१॥ अनु०—तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ अर्थः—पदात् परं लुडन्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ पूर्वेणातिप्रसक्ते प्रतिषेध आरभ्यते॥ उदा०—श्वः कर्ता, श्वः कर्तारौ, मासेन कर्तारः॥

भाषार्थः—पद से उत्तर [लुट्] लुडन्त तिङन्त को अनुदात्त [न] नहीं होता॥ पूर्व सूत्र से अतिप्रसक्ति प्राप्त थी, यहाँ से उसका प्रतिषेध आरम्भ करते हैं॥ कर्ता कर्तारौ कर्तारः की स्वरसिद्धि सूत्र ६।१।८० में देखें॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।१।६६ तक जायेगी॥

निपातैर्यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम्॥८।१।३०॥

निपातैः ३।३॥ यद्यदिहन्तकुविन्नेच्चेच्चण्कच्चिद्यत्रयुक्तम् १।१॥ स०—यत् च यदिश्च हन्तश्च कुवित् च नेत् च चेत् च चण् च कच्चित् च यत्रश्च यद्यदि...यत्राः, तैर्युक्तं यद्यदि...युक्तम्, द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः॥ अनु०—न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ अर्थः—यत्, यदि, हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण्, कच्चित्, यत्र इत्येतैर्निपातैर्युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ उदा०—यत्—यत्

कुरोति, यत् पचति । यदग्ने स्यामहं त्वम् (ऋ० ८।४४।२३) । यदि—यदि कुरोति, यदि पचति । युवा यदी कृथः (ऋ० ५।७४।५) । हन्त—हन्त कुरोति, हन्त पचति । कुवित्—कुवित् कुरोति, कुवित् पचति । नेद्—नेज्जिह्मायन्तो नरकं पताम । चेत्—स चेद् भुङ्क्ते, स चेदधीते । चण्—अयं च मरिष्यति । कच्चित्—कच्चिद् भुङ्क्ते, कच्चिदधीते । आचित्तिभिश्चकृमा कच्चित् (ऋ० ४।१२।४) । यत्र—यत्र भुङ्क्ते, यत्राधीते । पुत्रासो यत्र पितरो भवन्ति (ऋ० १।८९।९) ॥

भाषार्थः—[यद्य ··· युक्तम्] यत्, यदि, हन्त, कुवित्, नेत्, चेत्, चण, कच्चित्, यत्र इन [निपातैः] निपातों से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्ववत् प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ सिद्धि परिशिष्ट में देखें ॥

अनुदात्त निषेध **नह प्रत्यारम्भे ॥८।१।३१॥**

नह अ० ॥ प्रत्यारम्भे ७।१॥ अनु०—न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ प्रत्यारम्भः=पुनरारम्भः ॥ नह इति निपातसमुदायः ॥ अर्थः—नह इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति प्रत्यारम्भे ॥ उदा०—नह भोक्ष्यसे, नहाध्येष्यसे ॥

भाषार्थः—[नह] नह से युक्त तिङन्त को [प्रत्यारम्भे] प्रत्यारम्भ होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ प्रत्यारम्भ पुनः आरम्भ को कहते हैं । खाओ या पढ़ो, ऐसी आज्ञा देने के पश्चात् मनाकर देने पर क्रोध से या उपहास से पुनः प्रतिषेध से सम्बन्धित वाक्य 'नह भोक्ष्यसे'=नहीं खाओगे (अर्थात् खाना पड़ेगा) ऐसा कहता है, यही प्रत्यारम्भ पुनः आरम्भ है ॥ नह शब्द न तथा ह मिलकर दो निपातों के समुदायरूप में निर्दिष्ट है ॥ भोक्ष्यसे अध्येष्यसे, यहाँ थास् को से (३।४।८० से) होकर 'स्य' के अनुपदेश होने से तास्यनुदात्तेत्० (६।१।१८०) से 'से' अनुदात्त, तथा स्य प्रत्ययस्वर से उदात्त है । पश्चात् से को स्वरित (८।४।६५ से) हो गया ॥

अनुदात्त निषेध **सत्यं प्रश्ने ॥८।१।३२॥**

सत्यम् १।१॥ प्रश्ने ७।१॥ अनु०—न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—सत्यमित्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति, प्रश्ने सति ॥ उदा०—सत्यं भोक्ष्यसे, सत्यमध्येष्यसे ॥

भाषार्थः—[सत्यम्] सत्यम् शब्द से युक्त तिङन्त को [प्रश्ने] प्रश्न होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ सत्यं भोक्ष्यसे (=सचमुच खाओगे ?), सत्यमध्येष्यसे (=सचमुच पढ़ोगे ?), यहाँ प्रश्न किया जा रहा है ॥ सिद्धि पूर्व सूत्र में देखें ॥

अनुदात्त निषेध **अङ्गाप्रातिलोम्ये ॥८।१।३३॥**

अङ्ग अ० ॥ अप्रातिलोम्ये ७।१॥ स०—न प्रातिलोम्यम् अप्रातिलोम्यं, तस्मिन्

नञ्तत्पुरुषः ॥ प्रातिलोम्यं प्रतिकूलता, तदभावोऽप्रतिकूलताऽनुकूल्यमिति यावत् । गुणवचनब्रा०-(५।१।१२३) इत्यनेन ष्यञ् ॥ अनु०—न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—अप्रातिलोम्ये गम्यमानेऽङ्ग इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—अङ्ग कुरु, अङ्ग पच, अङ्ग पठ ॥

भाषार्थः—[अप्रातिलोम्ये] अप्रातिलोम्य=अनुकूलता गम्यमान हो, तो [अङ्ग] अङ्ग शब्द से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता। कुरु की सिद्धि सूत्र ६।४।१०६ में देखें। कुरु प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है, अर्थात् विकरण उ उदात्त है। पच पठ धातुस्वर से आद्युदात्त हैं। पच शप् हि, यहाँ हि का अतो हेः (६।४।१०५) से लुक् हुआ है तथा शप् पहले पित्स्वर से अनुदात्त था, पश्चात् स्वरित हो गया है॥ अङ्ग कुरु=अर्थात् हाँ तुम करो। यही यहाँ अनुकूलता है॥

यहाँ से 'अप्रातिलोम्ये' की अनुवृत्ति ८।१।३४ तक जायेगी॥

हि च ॥८।१।३४॥ अनुदात्त निषेध

हि अ०॥ च अ० ॥ अनु०—अप्रातिलोम्ये, न, तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—हि इत्यनेन युक्तं तिङन्तमप्रातिलोम्ये गम्यमाने नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—स्वं हि कुरु, स्वं हि पठ ॥

भाषार्थः—[हि] हि से युक्त तिङन्त को [च] भी अप्रातिलोम्य गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता॥ पूर्ववत् स्वरसिद्धियाँ हैं॥

यहाँ से 'हि' की अनुवृत्ति ८।१।३५ तक जायेगी॥

छन्दस्यनेकमपि साकाङ्क्षम् ॥८।१।३५॥ अनुदात्त निषेध

छन्दसि ७।१॥ अनेकम् १।१॥ अपि अ० ॥ साकाङ्क्षम् १।१॥ स०—न एकम् अनेकम्, नञ्तत्पुरुषः । सह आकाङ्क्षया वर्त्तते=साकाङ्क्षम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—हि, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—हियुक्तं साकाङ्क्षं तिङन्तमनेकमपि नानुदात्तं भवति, अपिग्रहणात् एकमपि क्वचिद् न भवति छन्दसि विषये । कदाचिदेकं कदाचिदनेकमित्यर्थः ॥ उदा०—अनेकं तावत्—अनृतं हि मत्तो वदति पाप्मा एनं विपुनाति । एकमपि—अग्निर्हि अग्रे उदजयत्, तमिन्द्रोऽनूदजयत् । अजा ह्यग्नेरजनिष्ट गर्भात्, सा वा अपश्यज्जनितारमग्रे (तै० सं० ४।२।१०३)॥

भाषार्थः—हि से युक्त [साकाङ्क्षम्] साकाङ्क्ष [अनेकम्] अनेक तिङन्तों को [अपि] भी तथा अपि ग्रहण से एक को भी कहीं-कहीं अनुदात्त नहीं होता [छन्दसि] वेद-विषय में॥

'अनृतं हि मत्तो वदति' तथा 'पाप्मा एनं विपुनाति', यहाँ वदति तथा विपुनाति दोनों तिङन्त हेतुहेतुमद्भाव (फल) होने से साकाङ्क्ष हैं, एवं दोनों 'हि' से युक्त हैं। हेतु है—क्योंकि मत्त=पागल झूठ बोलता है, अतः पाप्मा=मत्तपन उस को शुद्ध करता है। अर्थात् मत्तता के कारण अनृतदोष का भागी नहीं होता—यह हेतुमद्भाव है। यहाँ दोनों साकाङ्क्ष तिङन्तों को अनुदात्त नहीं होता। अतः वदति पचति के समान आद्युदात्त है, एवं विपुनाति का 'ना' प्रत्ययस्वर से उदात्त है। 'वि' उपसर्ग को तिङि चोदा० (८।१।७१) से निघात हो ही जायेगा। अग्निर्हि अग्रे ···यहाँ भी दोनों उदजयत् अनूदजयत् तिङन्त 'हि' से युक्त तथा पूर्ववत् ही हेतुहेतुमद्भाव से साकाङ्क्ष हैं। अर्थ है—क्योंकि अग्नि पहले जय को प्राप्त हुआ, अतः अग्नि के पश्चात् इन्द्र ने जय को प्राप्त किया। यहाँ यद्यपि पूर्ववत् दोनों तिङन्त 'हि' से युक्त हैं, किन्तु सूत्र में अपि ग्रहण से एक को ही (=उदजयत् को ही) अनुदात्त का निषेध प्रकृत सूत्र से हुआ। द्वितीय अनूदजयत् को तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से प्राप्त निघात ही हुआ। उत्पूर्वक जि धातु का लङ् में उदजयत् रूप बना है, सो अजयत् आद्युदात्त है। क्योंकि अट् लुङ्लङ्० (६।४।७१) से उदात्त होता है। शेष अच् पूर्ववत् अनुदात्त हो गये। अनु उत्पूर्वक 'जि' से लङ् में ही अनूदजयत् बनेगा॥ अजा ह्यग्ने···यहाँ भी पूर्ववत् साकाङ्क्षत्व जानें। अर्थ है—'क्योंकि अजा, अग्नि के गर्भ से उत्पन्न हुई, उसने (=अजा ने) उत्पन्न करनेवाले को देखा (=अनुभव किया) पहले (प्रथम)। इस प्रकार अजनिष्ट अपश्यत् दोनों के 'हि' से युक्त एवं साकाङ्क्ष होने पर भी 'अपि' ग्रहण से एक अजनिष्ट तिङ् को ही निघात प्रतिषेध हुआ, अपश्यत् को नहीं। सो अपश्यत् तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से निघात, एवं अजनिष्ट पूर्ववत् आद्युदात्त है, अर्थात् अट् उदात्त है। 'जनी प्रादुर्भावे' धातु से लुङ् में सिच् को इट् आगमादि होकर अ ज न् इ ष् त=अजनिष्ट बना है। अपश्यत् दृशिर् धातु के लङ् में पाघ्राध्मा० (७।३।७८) से पश्य आदेश होकर अ पश्य अ त्=अपश्यत् बना है॥

यावद्यथाभ्याम् ॥८।१।३६॥

यावद्यथाभ्याम् ३।२॥ स०—यावत् च यथा च यावद्यथे, ताभ्याम्···इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ अर्थः—यावत् यथा इत्येताभ्यां युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ उदा०—यावद् भुङ्क्ते। यथा भुङ्क्ते। यावदधीते। यथाऽधीते। देवदत्तः पचति यावत्। देवदत्तः पचति यथा॥

भाषार्थः—[यावद्यथाभ्याम्] यावत् यथा इनसे युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता॥ स्वरसिद्धि परि० (८।१।३०) में देखें॥

यहां से 'यावद्यथाभ्याम्' की अनुवृत्ति ८।१।३८ तक जायेगी॥

पूजायां नानन्तरम् ॥८।१।३७॥ अनुदात्त

पूजायाम् ७।१॥ न अ० ॥ अनन्तरम् १।१॥ स०—न अन्तरम् विद्यतेऽस्य तदनन्तरम्, बहुव्रीहिः ॥ अनु० —यावद्यथाभ्याम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—यावद् यथा इत्येताभ्यां युक्तमनन्तरं तिङन्तं पूजायां विषये नानुदात्तं न भवति, अर्थादनुदात्तमेव भवति ॥ उदा०—यावत् पचति शोभनम्, यावत् करोति चारु । यथा पचति शोभनम्, यथा करोति चारु ॥

भाषार्थः—यावत् और यथा से युक्त [अनन्तरम्] अनन्तर=अव्यवहित तिङन्त को [पूजायाम्] पूजा-विषय में, अननुदात्त [न] नहीं होता, अर्थात् अनुदात्त ही होता है ॥ दो प्रतिषेध हो जाने से अनुदात्त ही होता है, ऐसा अर्थ निकला ॥ पूर्व सूत्र से अननुदात्त की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ॥ तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से निघात ही हो गया । उदाहरणों में यावत् और यथा से अनन्तर ही तिङ् है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।३८ तक जायेगी ॥

उपसर्गव्यपेतं च ॥८।१।३८॥ अनुदात्त

उपसर्गव्यपेतम् १।१॥ च अ० ॥ स०—उपसर्गेण व्यपेतमुपसर्गव्यपेतम्, तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—पूजायां नानन्तरम्, यावद्यथाभ्याम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—यावद्यथाभ्यां युक्तमुपसर्गेण व्यपेतं=व्यवहितं चानन्तरं तिङन्तं पूजायां विषये नानुदात्तं न भवति, अर्थादनुदात्तमेव भवति ॥ उदा०—यावत् प्रपचति शोभनम्, यावत् प्रकरोति चारु । यथा प्रपचति शोभनम्, यथा प्रकरोति चारु ॥

भाषार्थः—यावत् और यथा से युक्त, एवं [उपसर्गव्यपेतम्] उपसर्ग से व्यपेत=व्यवहित अनन्तर तिङन्त को [च] भी पूजा-विषय में अननुदात्त नहीं होता, अर्थात् अनुदात्त होता है ॥ पूर्व सूत्र से अनन्तर=अव्यवधान में ही कहा था, यहाँ केवल उपसर्ग का व्यवधान होने पर भी कह दिया । सर्वत्र उदाहरणों में यावत्, यथा एवं तिङ् के मध्य में प्र उपसर्ग का व्यवधान है । शोभनम् चारु कहने से यहाँ स्पष्ट पूजा अर्थ है ही । अतः पूर्ववत् तिङ् को अनुदात्त हो जायेगा ॥

तुपश्यपश्यताहैः पूजायाम् ॥८।१।३९॥ अनुदात्त निषेध

तुपश्यपश्यताहैः ३।३॥ पूजायाम् ७।१॥ स०—तुपश्य० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—तु, पश्य, पश्यत, अह इत्येतैर्युक्तं तिङन्तं पूजायां विषये नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—तु—माणवकस्तु

अनुदात्त - निषेध

भुङ्क्ते शोभनम्। पश्य—पश्य माणवको भुङ्क्ते शोभनम्। पश्यत—पश्यत माणवको भुङ्क्ते शोभनम्। अह—अह माणवको भुङ्क्ते शोभनम्॥

भाषार्थः—[तुपश्यपश्यताहैः] तु, पश्य, पश्यत, अह इनसे युक्त तिङन्त को [पूजायाम्] पूजा-विषय में अनुदात्त नहीं होता॥ पूर्ववत् तिङ्ङतिङः से प्राप्त अनुदात्त का प्रतिषेध होकर यथाप्राप्त स्वर हो गया॥ भुङ्क्ते की स्वरसिद्धि परि० (८।१।३०) में देखें॥

यहाँ से 'पूजायाम्' की अनुवृत्ति ८।१।४० तक जायेगी॥

अनुदात्त निषेध

अहो च॥८।१।४०॥

अहो अ०॥ च अ०॥ अनु०—पूजायाम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ अर्थः—अहो इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति पूजायां विषये॥ उदा०—अहो देवदत्तः पचति शोभनम्। अहो विष्णुमित्रः करोति चारु॥

भाषार्थः—[अहो] अहो से युक्त तिङन्त को [च] भी पूजा-विषय में अनुदात्त नहीं होता॥ सिद्धियाँ परि० ८।१।३० में देखें॥

यहाँ से 'अहो' की अनुवृत्ति ८।१।४१ तक जायेगी॥

अनुदात्त विकल्प

शेषे विभाषा॥८।१।४१॥

शेषे ७।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—अहो, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ अर्थः—अहो इत्यनेन युक्तं तिङन्तं शेषे विकल्पेन नानुदात्तं भवति॥ यदन्यत् पूजायाः स शेषः॥ उदा०—कटमहो करिष्यसि, मम गेहमेष्यसि। पक्षेऽनुदात्तमेव—कटमहो करिष्यसि, मम गेहमेष्यसि॥

भाषार्थः—अहो से युक्त तिङन्त को पूजा-विषय से [शेषे] शेष विषयों में [विभाषा] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता॥ पूर्व सूत्र में पूजा-विषय में कहा था, यहाँ 'शेषे' ग्रहण से पूजा-विषय से ही शेष लिया जायेगा॥ पक्ष में यथाप्राप्त (८।१।२८) अनुदात्त ही होगा। अनुदात्त-निषेध पक्ष में करिष्यसि आदि का 'स्य' प्रत्यय स्वर से उदात्त है। पित्स्वर से 'सि' अनुदात्त था, पश्चात् स्वरित हो गया॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ८।१।४२ तक जायेगी॥

अनुदात्त निषेध

पुरा च परीप्सायाम्॥८।१।४२॥

पुरा अ०॥ च अ०॥ परीप्सायाम् ७।१॥ अनु०—विभाषा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ अर्थः—पुरा इत्यनेन युक्तं तिङन्तं परीप्सायामर्थे विभाषा नानुदात्तं भवति॥ परीप्सा त्वरा॥ उदा०—अधीष्व माणवक पुरा विद्योतते विद्युत्, पुरा स्तनयति स्तनयित्नुः। पुरा विद्योतते विद्युत्, पुरा स्तनयति स्तनयित्नुः॥

भावार्थः—[पुरा] पुरा से युक्त तिङन्त को [च] भी [परीप्सायाम्] परीप्सा=शीघ्रता अर्थ गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता ।। विद्योतते आदि में भविष्यत् के अर्थ में यावत्पुरानिपातयोर्लट् (३।३।४) से लट् लकार हुआ है । अतः 'अधीष्व माणवक ...' आदि वाक्यों का अर्थ है—'बच्चो पढ़ो, नहीं तो अभी बिजली चमकेगी' । यहाँ पुरा शब्द भविष्यत् काल की आसन्नता को प्रकट करता है, सो परीप्सा अर्थ गम्यमान है ।। विद्योतते का 'ते' तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेश० (६।१।१८०) से अनुदात्त है । इस प्रकार द्योतते धातुस्वर से आद्युदात्त है, और तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) से वि अनुदात्त है ।। चुरादिगणस्थ अदन्त स्तन धातु से णिच् आकर, एवं अकारलोप (६।४।४८ से) होकर, सनाद्यन्ता० (३।१।३२), से 'स्तनि' धातु बनी । सो धातोः (६।१।१५६) से अन्तोदात्त, अर्थात् स्तनि का 'इ' उदात्त हुआ । शप् तिप् आकर स्तने अ ति=स्तनय् अ ति=स्तनयति बना । अर्थात् इ को गुण तथा 'अय्' कर लेने पर 'न' का 'अ' उदात्त रहा । अनुदात्त पक्ष में वि उपसर्ग स्वर से उदात्त होगा ।।

नन्वित्यनुज्ञैषणायाम् ।।८।१।४३।। अनुदात्त-निषेध

ननु अ० ।। इति अ० ।। अनुज्ञैषणायाम् ७।१।। स०—अनुज्ञाया एषणा=प्रार्थना अनुज्ञैषणा, तस्याम् ...षष्ठीतत्पुरुषः ।। किंचित् कर्त्तुं स्वयमेवोद्यतस्यैवं क्रियतामित्यनुज्ञानमनुज्ञा ।। अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—अनुज्ञैषणायां विषये ननु इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ।। उदा०—ननु करोमि भोः ।।

भावार्थः—[अनुज्ञैषणायाम्] अनुज्ञैषणा-विषय में [ननु] ननु [इति] इस शब्द से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ।। कुछ कार्य स्वयं ही करने को उद्यत हुये को कहना कि 'ऐसा करें' यह अनुज्ञा है । एषणा अर्थात् प्रार्थना । अनुज्ञा की प्रार्थना अनुज्ञैषणा है । 'ननु करोमि भोः' का अर्थ है—श्रीमन्, क्या मैं करूं ? सिद्धि पूर्व सूत्रों में देखें ।। अनुदात्त-निषेध

किं क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धम् ।।८।१।४४।।

किम् १।१।। क्रियाप्रश्ने ७।१।। अनुपसर्गम् १।१।। अप्रतिषिद्धम् १।१।। स०—क्रियायाः प्रश्नः क्रियाप्रश्नः, तस्मिन् ...षष्ठीतत्पुरुषः । न विद्यते उपसर्गोऽस्य तदनुपसर्गम्, बहुव्रीहिः । प्रतिषेधः प्रतिषिद्धम्, भावे निष्ठा नपुंसके० (३।३।११४) इत्यनेन । न प्रतिषिद्धमस्येत्यप्रतिषिद्धम्, बहुव्रीहिः ।। अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—क्रियाप्रश्ने वर्त्तमानेन किंशब्देन युक्तमनुपसर्गम-

प्रतिषिद्धं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—किं देवदत्तः पचति[1] आहोस्विद् भुङ्क्ते ? किं देवदत्तः शेते आहोस्विदधीते ? ॥

भाषार्थः—[क्रियाप्रश्ने] क्रिया के प्रश्न में वर्त्तमान जो [किम्] किम् शब्द उससे युक्त [अनुपसर्गम्] उपसर्ग से रहित, तथा [अप्रतिषिद्धम्] अप्रतिषिद्ध= प्रतिषेधरहित तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ।। 'किं देवदत्तः...'का अर्थ है—क्या देवदत्त पकाता है, अथवा खाता है ? यहाँ किम् से पकाता है अथवा खाता है क्रिया का प्रश्न किया जा रहा है । अतः किम् शब्द क्रियाप्रश्न में वर्त्तमान है । पचति आदि तिङ् यहां उपसर्ग से रहित, एवं प्रतिषेध से रहित भी हैं, सो अनुदात्त नहीं हुआ ।। शेते की स्वरसिद्धि तास्यनुदात्ते० (६।१।१८०) सूत्र में देखें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।४५ तक जायेगी ॥

लोपे विभाषा ॥८।१।४५॥

लोपे ७।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—किं क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—किमो लोपे सति क्रियाप्रश्नेऽनुपसर्गमप्रतिषिद्धं तिङन्तं विभाषा नानुदात्तं भवति ॥ यत्र किमोऽर्थो गम्यते न च प्रयुज्यते, तत्र किमो लोपो ज्ञेयः ॥ उदा०—देवदत्तः पचति आहोस्वित् पठति ? पक्षे—देवदत्तः पचति आहोस्वित् पठति ? ॥

भाषार्थः—किम् का [लोपे] लोप होने पर क्रिया के प्रश्न में अनुपसर्ग अप्रतिषिद्ध तिङन्त को [विभाषा] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता ।। पक्ष में यथाप्राप्त (८।१।२८) अनुदात्त ही होगा ।। यहां किसी सूत्र से किम् के लोप का तात्पर्य नहीं है । किन्तु जहां किम् का अर्थ गम्यमान हो, किन्तु उसका प्रयोग न हो रहा हो, वहीं किम् का अदर्शन=अर्थात् लोप समझा जायेगा । इस प्रकार उदाहरण में 'क्या देवदत्त पकाता है, अथवा पढ़ता है' ? ऐसा अर्थ होने से किम् का अर्थ है, किन्तु वह प्रयुक्त नहीं है । इसलिये किम् का लोप ही माना गया । स्वरसिद्धियां पूर्ववत् जानें ॥

एहिमन्ये प्रहासे लृट् ॥८।१।४६॥

एहिमन्ये लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ प्रहासे ७।१॥ लृट् १।१॥ स०—एहिश्च मन्ये

---

१. उदाहरणों में कोई-कोई किम् से युक्त पूर्ववाला तिङन्त ही मानते हैं, द्वितीय नहीं । अतः पूर्ववाले पचति को ही अनुदात्त का प्रतिषेध होगा, द्वितीय भुङ्क्ते को नहीं । तथा कोई-कोई दोनों तिङों को ही किम् से युक्त मानते हैं । अतः उनके मत में दोनों को ही अनुदात्त नहीं होगा । हमने वाक्य-स्थित दोनों ही तिङन्तों को किम् से युक्त मानकर निघात के प्रतिषेध का स्वर दिखाया है ॥

च एहिमन्ये, इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—एहिमन्ये इत्यनेन युक्तं लृडन्तं तिङन्तं प्रहासे गम्यमाने नानुदात्तं भवति ।। प्रकृष्टो हासः प्रहासः ।। उदा०—एहि मन्ये ओदनं भोक्ष्यसे नहि भोक्ष्यसे, भुक्तः सोऽतिथिभिः । एहि मन्ये रथेन यास्यसि नहि यास्यसि, यातस्तेन पिता ।।

भाषार्थः—[एहिमन्ये] एहि तथा मन्ये से युक्त [लृट्] लृडन्त तिङन्त को [प्रहासे] प्रहास (=हँसी) गम्यमान हो तो अनुदात्त नहीं होता ।। मन धातु का 'मन्ये' उत्तम पुरुष का रूप है, एवं इण् का लोट् मध्यम पुरुष का 'एहि' है। सो 'एहि-मन्ये' क्रियापदों में अनुकरण मानकर समस्त निर्देश किया है । इस प्रकार 'एहिमन्ये' ऐसे समुदाय के उपपद रहते भोक्ष्यसे अनुदात्त नहीं हुआ । भोक्ष्यसे की स्वरसिद्धि सूत्र ८।१।३१ में देखें।। यास्यसि में भी सिप् को पित्स्वर से अनुदात्तत्व, तथा स्य को प्रत्ययस्वर से उदात्तत्व होगा । पश्चात् 'सि' को स्वरित हो जायेगा ।। मन्यसे के स्थान पर मन्ये, एवं भोक्ष्ये के स्थान पर भोक्ष्यसे, यह पुरुषव्यत्यय प्रहासे च मन्यो० (१।४।१०५) से हुआ है । उदाहरणार्थ वहीं देखें, जिससे प्रहास स्पष्ट हो जायेगा ।।

जात्वपूर्वम् ।।८।१।४७।।

जातु अ० ।। अपूर्वम् १।१।। स०—अविद्यमानं पूर्वं यस्मात् तद् अपूर्वम्, बहुव्रीहिः ।। अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—अविद्यमानपूर्वेण जातु इत्यनेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ।। उदा०—जातु भोक्ष्यसे, जातु करिष्यामि ।।

भाषार्थः—[अपूर्वम्] जिससे पूर्व कोई पद विद्यमान नहीं है, ऐसे [जातु] शब्द से युक्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ।। सिद्धियों में पूर्ववत् प्रत्ययस्वर से 'स्य' उदात्त है ।।

यहाँ से 'अपूर्वम्' की अनुवृत्ति ८।१।५० तक जायेगी ।।

किंवृत्तं च चिदुत्तरम् ।।८।१।४८।।

किंवृत्तम् १।१।। च अ० ।। चिदुत्तरम् १।१।। स०—किमो वृत्तं किंवृत्तम्, षष्ठीतत्पुरुषः ।। वृत्तमित्यधिकरणे (३।४।७६) क्तः, तेनाधिकरणवा० (२।३।६८) इति 'किमः' इत्यत्र षष्ठी । अधिकरणवाचिना च (२।२।१३) इत्यनेन समास प्रतिषेधे प्राप्तेऽस्मादेव निपातनात् समासः ।। चित् उत्तरं यस्मात् तत् चिदुत्तरम्, बहुव्रीहिः ।। अनु०—अपूर्वम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—अविद्यमानपूर्वं चिदुत्तरं यत् किंवृत्तं तेन युक्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ।। किंवृत्तग्रहणेन विभक्त्यन्तं डतरडतमप्रत्ययान्तं च किमो रूपं गृह्यते ।। उदा०—

कश्चिद् भुङ्क्ते, कश्चिद् भोजयति, कश्चिद् अधीते। केनचित् करोति। कस्मैचिद् ददाति। डतर— कतरश्चित् करोति। डतम—कतमश्चिद् भुङ्क्ते॥

भाषार्थः—[चिदुत्तरम्] जिससे उत्तर 'चित्' है, तथा जिससे पूर्व कोई शब्द नहीं है, ऐसे [किंवृत्तम्] किंवृत्त शब्द से युक्त तिङन्त को [च] भी अनुदात्त नहीं होता॥ 'किंवृत्त' से किम् शब्द से उत्पन्न जो विभक्तियां तद्विभक्त्यन्त शब्द, तथा डतर डतम प्रत्ययान्त किम् शब्द का ग्रहण है॥ वृत्तं में अधिकरण में क्त हुआ है। वर्त्ततेऽस्मिन्निति वृत्तम्। किमो वृत्तं=किम् का (उसमें) रहना किंवृत्त है॥ भुङ्क्ते आदि की स्वरसिद्धि परि० ८।१।३० में देखें। भोजयति णिजन्त धातु है, सो धातु-स्वर से 'भोजि' का 'इ' उदात्त रहा। पश्चात् गुण अयादेश करके 'ज' का अ उदात्त हो गया। ददाति को आद्युदात्त अनुदात्ते च (६।१।१८४) से होता है॥

अनुदात्त-निषेध आहो उताहो चानन्तरम्॥८।१।४९॥

आहो अ०॥ उताहो अ०॥ च अ०॥ अनन्तरम् १।१॥ स०—अविद्यमान-मन्तरं व्यवधानं यस्य तदनन्तरम्, बहुव्रीहिः॥ अनु०—अपूर्वम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ अर्थः—आहो, उताहो इत्येताभ्याम् अविद्यमान-पूर्वाभ्याम् युक्तमनन्तरं तिङन्तं नानुदात्तं भवति॥ उदा०—आहो भुङ्क्ते। उताहो भुङ्क्ते। आहो पठति। उताहो पठति॥

भाषार्थः—अविद्यमान पूर्ववाले [आहो उताहो] आहो उताहो से युक्त जो [अनन्तरम्] अव्यवहित=व्यवधानरहित तिङ्, उसको [च] भी अनुदात्त नहीं होता है॥ पूर्ववत् स्वर-सिद्धियां हैं॥

यहां से 'आहो उताहो' की अनुवृत्ति ८।१।५० तक जायेगी॥

शेषे विभाषा॥८।१।५०॥ अनुदात्त-विकल्प

शेषे ७।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—आहो उताहो, अपूर्वम्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥ अर्थः—आहो उताहो इत्येताभ्यामपूर्वाभ्यां युक्तं तिङन्तं शेषे विभाषा नानुदात्तं भवति॥ अनन्तरापेक्षं शेषत्वम्॥ उदा०—आहो देवदत्तः पचति। पक्षे—आहो देवदत्तः पचति। उताहो देवदत्तः पठति। पक्षे—उताहो देवदत्तः पठति॥

भाषार्थः—पूर्व सूत्र में 'आहो उताहो' से अनन्तर तिङ् को अननुदात्त कहा था। यहां 'शेषे' ग्रहण अनन्तर की अपेक्षा से रखा है॥ अविद्यमानपूर्व आहो उताहो शब्दों से युक्त तिङन्त को [शेषे] अनन्तर से शेष विषय (अर्थात् व्यवधान) में [विभाषा] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता॥ इस प्रकार पक्ष में अनुदात्त यथा-

प्राप्त होता है ॥ उदाहरणों के आहो उताहो एवं तिङन्त के मध्य में 'देवदत्तः' पद का व्यवधान होने पर विकल्प से अननुदात्त हो गया । पूर्वसूत्र से अप्राप्त था, विकल्प कर दिया ॥

अनुदात्त-निषेध

गत्यर्थलोटा लृण्न चेत् कारकं सर्वान्यत् ॥८।१।५१॥

गत्यर्थलोटा ३।१॥ लृट् १।१॥ न अ० ॥ चेत् अ० ॥ कारकम् १।१॥ सर्वान्यत् १।१॥ स०—गतिरर्थो येषां ते गत्यर्थाः, बहुव्रीहिः । गत्यर्थानां लोट् गत्यर्थलोट्, तेन···षष्ठीतत्पुरुषः । सर्वञ्च तदन्यत् च सर्वान्यत्, कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—गत्यर्थलोटा युक्तं लृडन्तं तिङन्तं नानुदात्तं भवति, न चेत् कारकं सर्वमन्यद् भवति ॥ यस्मिन् कारके (= कर्त्तरि कर्मणि वा) लोट्, तस्मिन्नेव कारके यदि लृडपि स्यादित्यर्थः ॥ उदा०—आगच्छ देवदत्त ग्रामं द्रक्ष्यस्येनम् । आगच्छ देवदत्त ग्राममोदनं भोक्ष्यसे । कर्मणि—उह्यन्तां देवदत्तेन शालयस्तेनैव भोक्ष्यन्ते । उह्यन्तां यज्ञदत्तेन शालयो देवदत्तेन भोक्ष्यन्ते ॥

भाषार्थः—[गत्यर्थलोटा] गति अर्थवाले धातुओं के लोट् लकार से युक्त [लृट्] लृडन्त तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता, [चेत्] यदि [कारकम्] कारक [सर्वान्यत्] सारा अन्य [न] न हो तो ॥

तिङ् से वाच्य कर्त्ता और कर्म कारक होते हैं । अतः यहां कारक से कर्त्ता कर्म का ही ग्रहण है । जिस कारक = कर्त्ता अथवा कर्म में लोडन्त हो, उसी कारक में यदि लृडन्त (जिसे अनुदात्त का निषेध कर रहे हैं) वह भी हो तो, अर्थात् लोडन्त एवं लृडन्त तिङ् का वाच्य कारक भिन्न-भिन्न न हो, यही 'सर्वान्यत्' का तात्पर्यार्थ है । पूर्व दो उदाहरणों में 'आगच्छ', एवं 'द्रक्ष्यसि भोक्ष्यसे', दोनों (लोडन्त एवं लृडन्त) तिङन्त कर्तृवाच्य (कारक) में हैं । एवं पश्चात् के उदाहरणों में उह्यन्तां लोडन्त तथा भोक्ष्यन्ते लृडन्त दोनों कर्मवाच्य में हैं ॥ इस प्रकार 'सर्वान्यत्' नहीं है । गम् तथा वह् गत्यर्थक धातुएं हैं । सो लोट्प्रत्ययान्त आगच्छ आदि से युक्त लृडन्त पद है ही, अतः उसे अननुदात्त हो गया ॥ 'उह्यन्तां देवदत्तेन ...' का अर्थ है—देवदत्त के द्वारा धान लाई (= ढोई) जावे, उसी के द्वारा खाई जावे । द्रक्ष्यसि में सृजिदृशो० (६।१।५७) से दृश् को अम् आगम, व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से षत्व, तथा षढोः कः सि (८।२।४१) से कत्व हुआ है । प्रत्ययस्वर से 'स्य' सर्वत्र उदात्त है । भुज् का कर्त्ता अथवा कर्म में भोक्ष्यते ही रूप बनेगा । चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व ग्, एवं खरि च (८।४।५४) से चर्त्व क् यहां हुआ है ॥

अन्तिम वाक्य में दोनों क्रियाओं का वाच्य कर्म एक ही है। अतः कर्त्ता में भेद होने पर भी सूत्र प्रवृत्त हो जाता है ॥

यहां से 'गत्यर्थलोटा न चेत् कारकं सर्वान्यत्' की अनुवृत्ति ८।१।५३ तक जायेगी ॥

अनुदात्त-निषेध लोट् च ॥८।१।५२॥

लोट् १।१। च अ०। अनु०—गत्यर्थलोटा न चेत् कारकं सर्वान्यत्, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—गत्यर्थलोटा युक्तं लोडन्तं च तिङन्तं नानुदात्तं भवति, न चेत् कारकं सर्वान्यद् भवति ॥ उभयोर्लोडन्तयोरेकं कारकं यदि भवतीत्यर्थः ॥ उदा०—आगच्छ देवदत्त ग्रामं पश्य। आव्रज विष्णुमित्र ग्रामं शाधि। आगम्यतां देवदत्तेन ग्रामो दृश्यतां यज्ञदत्तेन ॥

भाषार्थः—गत्यर्थक धातुओं के लोडन्त से युक्त [लोट्] लोडन्त तिङन्त को [च] भी अनुदात्त नहीं होता, यदि कारक (दोनों तिङों के) सारे अन्य न हों तो ॥ पूर्व सूत्र से लृडन्त को ही अननुदात्त प्राप्त था, लोडन्त को भी कह दिया। 'न चेत् कारकं सर्वान्यत्' की व्याख्या पूर्ववत् समझें। यहां आगच्छ आदि से युक्त 'पश्य' आदि लोडन्त हैं। आगम्यताम् दृश्यताम् में कर्मवाच्य में लकार है ॥ लोट् मध्यम पुरुष में दृश् को 'पश्य्' आदेश, तथा हि लुक् (६।४।१०५ से) होकर पश्य् अ रहा। अब 'पश्य' आदेश धातुस्वर से उदात्त है, सो शप् के अनुदात्त होने से आद्युदात्त पद हुआ। शाधि की सिद्धि सूत्र ६।४।२२ में देखें। यह "हि" के अपित् होने से प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त है। आमेतः (३।४।९०) आदि लगकर दृश् यक् ताम्=दृश्य-ताम् बना। 'दृश् ताम्' यहां 'ताम्' का 'आ' प्रत्ययस्वर से उदात्त है। यक् विकरण 'ताम्' के पश्चात् हुआ है। अतः सतिशिष्ट (वा० ६।१।१५२) होने से 'य' को उदात्त होना चाहिये। किन्तु 'सतिशिष्टोऽपि विकरणस्वरो लसार्वधातुकस्वरं न बाधते' (महाभाष्य ६।१।१५२) इस भाष्यवचन से विकरणस्वर सार्वधातुकस्वर को नहीं बाधता। अतः "ताम्" को स्वर की प्राप्ति होने पर तास्यनुदात्तेन्ङिददुपदेशा० (६।१।१८६) से ताम् अनुदात्त हो जाता है। अतः मध्योदात्त ही दृश्यताम् का स्वर रहता है ॥

यहां से 'लोट्' की अनुवृत्ति ८।१।५४ तक जायेगी ॥

अनुदात्त विकल्प विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम् ॥८।१।५३॥

विभाषितम् १।१। सोपसर्गम् १।१। अनुत्तमम् १।१। स०—उपसर्गेण सह वर्त्तते सोपसर्गम्, बहुव्रीहिः। न उत्तममनुत्तमम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—लोट्,

गत्यर्थलोटा न चेत् कारकं सर्वान्यत्, तिङ्, न; अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य॥
अर्थः—गत्यर्थलोटा युक्तं सोपसर्गमुत्तमपुरुषवर्जितं लोडन्तं तिङन्तं विभाषा नानुदात्तं भवति, न चेत् कारकं सर्वान्यद् भवति ॥ प्राप्तविभाषेयम् ॥ विभाषाशब्देन समानार्थो विभाषितशब्दः ॥ उदा०—आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रविश । पक्षे—आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रविश । आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रशाधि । पक्षे—आगच्छ देवदत्त ग्रामं प्रशाधि ॥

भाषार्थः—गत्यर्थक धातुओं के लोडन्त से युक्त [सोपसर्गम्] उपसर्गसहित, एवं [अनुत्तमम्] उत्तमपुरुषवर्जित जो लोडन्त तिङन्त, उसे [विभाषितम्] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता, यदि कारक सभी अन्य (=भिन्न भिन्न) न हों तो। पूर्व सूत्र से नित्य प्रतिषेध प्राप्त था, सोपसर्ग में विकल्प कह दिया, सो यह प्राप्तविभाषा है ॥ 'विभाषित' शब्द विभाषा का समानार्थक है। प्रशाधि के अन्तोदात्त स्वर की सिद्धि पूर्ववत् जानें। प्र को तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) से निघात होगा। प्र पूर्वक विश् (तुदा०) धातु से लोट् में हि लोप हो जाने पर विकरण स्वर और प्र को निघात हुआ। प्रविश् श=प्रविश, यहाँ श विकरण प्रत्ययस्वर से उदात्त है; अतः अन्तोदात्त 'प्रविश' पद रहा। पक्ष में तिङन्त को यथाप्राप्त निघात होगा, और 'प्र' उपसर्ग स्वर (फिट्० ८०) से उदात्त होगा ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।५६ तक जायेगी ॥

हन्त च ॥८।१।५४॥ अनुदात्त - विकल्प

हन्त अ० ॥ च अ० ॥ अनु०—विभाषितं सोपसर्गमनुत्तमम्, लोट्, तिङ्, न; अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—हन्त इत्यनेन च युक्तं सोपसर्गमुत्तमवर्जितं लोडन्तं तिङन्तं विभाषितं नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—हन्त प्रविश । पक्षे—हन्त प्रविश । हन्त प्रशाधि । पक्षे—हन्त प्रशाधि ॥

भाषार्थः—[हन्त] हन्त से युक्त सोपसर्ग उत्तमपुरुषवर्जित लोडन्त तिङन्त को [च] भी विकल्प से अनुदात्त नहीं होता ॥ निपातैर्यद्यदि० (८।१।३०) से यहाँ नित्य निघातप्रतिषेध प्राप्त था, विकल्प कर दिया ॥ पूर्ववत् सिद्धियाँ जानें ॥

आम एकान्तरमामन्त्रितमनन्तिके ॥८।१।५५॥

आमः ५।१॥ एकान्तरम् १।१॥ आमन्त्रितम् १।१॥ अनन्तिके ७।१॥ स०—एकं (पदम्) अन्तरं यस्य तदेकान्तरम्, बहुव्रीहिः । न अन्तिकमनन्तिकम्, तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—आमः परमेकपदान्तरमनन्तिके वर्तमानमामन्त्रितं नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—

आम् पचसि देवदत्त । आम् भो देवदत्त ।। अनन्तिके इत्यनेन सामीप्यार्थस्य प्रतिषेधः क्रियते । सूत्रलाघवाय 'दूरे' इत्यस्यानुक्तत्वात् यन्न समीपं यच्च न दूरं तादृग् अर्थो गृह्यते । तेनात्रैकश्रुतेः प्राप्त्यभावे प्राप्तमनुदात्तत्वमेव प्रतिषिध्यते ।।

भाषार्थः - [आमः] आम् से उत्तर [एकान्तरम्] एक पद का अन्तर=व्यवधान है जिसके मध्य में ऐसे [आमन्त्रितम्] आमन्त्रित-संज्ञक पद को [अनन्तिके] अनन्तिक (=जो समीप नहीं, अर्थात् न दूर न समीप) अर्थ में अनुदात्त नहीं होता ।। उदाहरणों में आम् से उत्तर एवं आमन्त्रितसंज्ञक 'देवदत्त' के मध्य में 'पचसि' वा 'भोः' एक पद का व्यवधान है । अतः एकपदान्तरित=एक पद से व्यवहित आमन्त्रित पद है ही । सो अनुदात्त का निषेध होने से षाष्ठिक आमन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से आमन्त्रित पद आद्युदात्त हो गया । 'भोः' आमन्त्रित है, उस को आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् (८।१।७२) से अविद्यमानवद्भाव प्राप्त होने पर एकान्तरितत्व नहीं रहता । अतः यहाँ भो के अविद्यमानवत्व का नामन्त्रिते समानाधिकरणे (८।१।७३) से निषेध जानना चाहिये ।।

अन्तिक का अर्थ है—'समीप । सो अनन्तिक का अर्थ होगा=जो न दूर न समीप । अनन्तिक से यहाँ समीप अर्थ से भिन्न दूर अर्थ अभिप्रेत नहीं है[1] । यदि 'दूर' अर्थ ही अभिप्रेत हो, तो सूत्र में स्पष्ट 'दूरे' कहते । अतः यहाँ नञिवयुक्तम्० (परि० ६५) परिभाषा के नियम से जो 'न दूर न समीप' यही अर्थ लेना है । अतः एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ (१।२।३३) से विहित एकश्रुति, एवं दूराद्धूते च (८।२।८४) से विहित प्लुत नहीं हुआ । उदाहरण में 'भोः' के ह के र् को भोभगोअघो० (८।३।१७) से य्, तथा हलि सर्वेषाम् (८।३।२२) से उस य् का लोप होकर 'भो' बना है।।

यद्धितुपरं छन्दसि ।।८।१।५६।।

यद्धितुपरम् १।१।। छन्दसि ७।१।। स०—यत् च हिश्च तुश्च यद्धितवः, इतरेतरद्वन्द्वः । यद्धितवः परे यस्मात् तत् यद्धितुपरम्, बहुव्रीहिः ।। अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—यत्परं हिपरं तुपरं च तिङन्तं

---

१. महाभाष्य में 'अनन्तिक' में विरुद्ध अर्थ में नञ् मानकर दूर अर्थ करके एकश्रुति की भी प्राप्ति दिखाकर उस एकश्रुति का भी इस सूत्र से प्रतिषेध दिखाया है । इस पक्ष में दूराद्धूते च (८।२।८४) से आमन्त्रित को प्लुत होगा ही । हमने सादृश्य अर्थ में नञ् का अर्थ करके 'न दूर न समीप' यह अर्थ अनन्तिक का किया है । ये दोनों ही पक्ष भाष्य में होने से प्रमाण हैं । प्रथमावृत्ति से पृथक् विषय होने से यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है ।।

छन्दसि विषये नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—यत्परम्—गवां गोत्रमुदसृजो यदङ्गिरः (ऋ० २।२३।१८)। हिपरम्—इन्दवो वामुशन्ति हि (ऋ० १।२।४)। तुपरम्—आख्यास्यामि तु ते ॥

भाषार्थः—[यद्धितुपरम्] यत्परक हिपरक तथा तुपरक तिङ् को [छन्दसि] वेद-विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ यत्परक तिङन्त को निपातैर्यद्य० (८।१।३०) से, तथा हिपरक को हि च (८।१।३४) से, एवं तुपरक को तुपश्यपश्यताहैः० (८।१. ३९) से निघात-प्रतिषेध सिद्ध ही था। पुनः यह सूत्र नियमार्थ है कि—'छन्द में पर के योग में भी यदि प्रतिषेध हो, तो इन्हीं के योग में हो, अन्यों के नहीं'। उदाहरणों में तिङन्त से परे यत्, हि, तु हैं ही ॥ उदसृजः, यह उत्पूर्वक सृज (तुदा०) धातु का लङ् सिप् में बना रूप है। अतः पूर्ववत् इसको 'अट्' उदात्त है। यत् परे रहते संन्धि में हशि च (६।१।११०),और आद् गुणः (६।१।८४) लगकर 'उदसृजो' बना है॥ 'वश कान्तौ' (अदा०) से लट् बहुवचन में उशन्ति[1] बना है। ग्रहिज्यावयि० (६।१। १६) से व् को सम्प्रसारण, तथा शप् का लुक् २।४।७२ से हुआ है। इस प्रकार अन्ति का 'अ' प्रत्ययस्वर से उदात्त है,सो मध्योदात्त पद रहा ॥ आख्यास्यामि आङ्-पूर्वक 'ख्या प्रकथने' से लृट् में बना है, सो पूर्ववत् स्य उदात्त है। तिङन्त के उदात्त होने पर उपसर्ग तिङि चोदात्तवति (८।१।७१) से अनुदात्त हो जाता है ॥

चनचिदिवगोत्रादितद्धिताम्रेडितेष्वगतेः ॥८।१।५७॥

चन···डितेषु ७।३॥ अगतेः ५।१॥ स०—गोत्रं आदिर्येषां ते गोत्रादयः, बहुव्रीहिः। चनश्च चित् च इवश्च गोत्रादयश्च तद्धिताश्च आम्रेडितञ्च चनचि··· डितानि, तेषु···इतरेतरद्वन्द्वः। न गतिरगतिः, तस्मात्···नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—चन, चित्, इव, गोत्रादि, तद्धित, आम्रेडित इत्येतेषु परतोऽगतेरुत्तरं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ उदा०—देवदत्तः पचति चन। चित्—देवदत्तः पचति चित्। इव—देवदत्तः पचति इव। गोत्रादि—देवदत्तः पचति गोत्रम्, देवदत्तः पचति ब्रुवम्, देवदत्तः पचति प्रवचनम्। तद्धित—देवदत्तः पचतिकल्पम, देवदत्तः पचतिरूपम्। आम्रेडित—देवदत्तः पचति पचति ॥

भाषार्थः—[चन···डितेषु] चन, चित्, इव, तथा गोत्रादिगण-पठित शब्द, तद्धित प्रत्यय, एवं आम्रेडित-संज्ञक शब्दों के परे रहते [अगतेः] गति-संज्ञक से भिन्न किसी पद से उत्तर तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता ॥ पचतिकल्पम् में पचति तिङन्त

१. संहितापाठ के स्वरनियम से यहां उशन्ति के ति को स्वरित न दिखाकर अनुदात्त दिखाया है ॥

से ईषदसमाप्तौ० (५।३।६७) से कल्पप्, तथा पचतिरूपम् में प्रशंसायां० (५।३।६६) से रूपप् तद्धित प्रत्यय हुआ है। पित् होने से ये प्रत्यय अनुदात्त हैं, पश्चात् एकश्रुति स्वरितात्० (१।२।३६) से हो ही जायेगी। पचति की स्वरसिद्धि पूर्ववत् है। देवदत्तः पचति पचति, यहाँ नित्यवीप्सयोः (८।१।४) से पचति को द्वित्व हुआ है। सो परवाला पचति आम्रेडितसंज्ञक है, उसके परे रहते पूर्ववाले पचति के निघात का निषेध हो गया ॥

यहाँ से 'अगतेः' की अनुवृत्ति ८।१।५८ तक जायेगी ॥

चादिषु च ॥८।१।५८॥

चादिषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—च आदिर्येषां ते चादयः, तेषु ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—अगतेः, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—चादिषु च परतोऽगतेरुत्तरं तिङन्तं नानुदात्तं भवति ॥ चादयो न चवाहाहैवयुक्ते (८।१।२४) इत्यत्र ये निर्दिष्टास्त एव गृह्यन्तेऽत्र ॥ उदा०—चशब्दे—देवदत्तः पचति च खादति च। वा—देवदत्तः पचति वा खादति वा। ह—देवदत्तः पचति ह खादति ह। अह—देवदत्तः पचत्यह खादत्यह। एव—देवदत्तः पचत्येव खादत्येव ॥

भाषार्थः—[चादिषु] चादियों के परे रहते [च] भी गतिभिन्न पद से उत्तर तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता॥ चादि गणपाठ में पठित शब्द भी हैं, तथा 'न चवाहाहैवयुक्ते' (८।१।२४) सूत्र निर्दिष्ट च वा आदि शब्द भी 'चादि' से कथित हैं। सो यहाँ समीपस्थ होने से सूत्रनिर्दिष्ट च वा आदि शब्द ही 'चादि' से लेना है। चादि (१।४।५७) गणपठित शब्द नहीं, ऐसा समझें॥

यहाँ चादि परे रहते अगति से उत्तर तिङन्त पद को निघात का प्रतिषेध होता है। चवायोगे प्रथमा (८।१।५९) सूत्र का विषय च वा के पूर्व प्रयोग और गति से उत्तर का विषय होने से उसकी यहाँ प्रवृत्ति नहीं होती। सर्वत्र खादति में भिन्न वाक्य होने से निघात का प्रसङ्ग नहीं है॥

चवायोगे प्रथमा ॥८।१।५९॥

चवायोगे ७।१॥ प्रथमा १।१॥ स०—चश्च वाश्च चवौ, ताभ्यां योगः चवायोगः, तस्मिन् ... द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—च वा इत्येताभ्यां योगे प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति ॥ उदा०—गर्दभांश्च कालयति वीणां च वादयति। गर्दभान् वा कालयति वीणां वा वादयति ॥

भाषार्थः—[चवायोगे] च तथा वा के योग में [प्रथमा] प्रथम तिङन्त को

अनुदात्त नहीं होता ॥ उदाहरण-वाक्यों में दो तिङन्त शब्द हैं, उनमें से प्रथम तिङन्त को निघात का निषेध प्रकृत सूत्र से होता है। द्वितीय तिङन्त को तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से प्राप्त निघात ही होगा। पूर्ववत् (सूत्र ८।१।४२-४८) भोजयति स्तनयति के समान कालयति का स्वर जानें ॥

यहाँ से 'प्रथमा' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी ॥

॥ हेति क्षियायाम् ॥८।१।६०॥

ह अ० ॥ इति अ० ॥ क्षियायाम् ७।१॥ अनु०—प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—ह इत्यनेन युक्ता प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति, क्षियायां गम्यमानायाम् ॥ क्षिया निन्दा, सा चेहाचारव्यतिक्रमरूपा ॥ उदा०—स्वयं ह रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति । स्वयं ह्योदनं भुङ्क्ते ३ उपाध्यायं सक्तून् पाययति ॥

भाषार्थः—[ह] ह [इति] इससे युक्त प्रथम तिङन्त (विभक्ति) को [क्षियायाम्] क्षिया गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं होता ॥ पूर्ववत् वाक्यस्थ प्रथम तिङन्त को अननुदात्त होगा। सो 'याति' धातुस्वर से आद्युदात्त है, एवं भुङ्क्ते का स्वर पूर्व दिखाया जा चुका है ॥ याति भुङ्क्ते में क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम् (८।२।१०४) से तिङन्त को स्वरित प्लुत होता है। याति में 'ति' को स्वरित होने पर धातुस्वर की दृष्टि में असिद्ध होने से 'या' उदात्त रहता है ॥

क्षिया—शिष्टाचार के व्यतिक्रम को कहते हैं। सो उदाहरणों में स्वयं रथ से जाना, एवं आचार्य को पैदल ले चलना; इसी प्रकार स्वयं उत्तम पदार्थ चावल खाना, तथा आचार्य जी को सक्तु पिलाना, यह स्पष्ट शिष्टाचार का व्यतिक्रम है ॥

यहाँ से 'क्षियायाम्' की अनुवृत्ति ८।१।६१ तक जायेगी ॥

॥ अहेति विनियोगे च ॥८।१।६१॥

अह अ० ॥ इति अ० ॥ विनियोगे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—क्षियायाम्, प्रथमा, तिङ्, न अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—अह इत्यनेन युक्ता प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति, विनियोगे गम्यमाने, चकारात् क्षियायां च गम्यमानायाम् ॥ उदा०—विनियोगे—त्वमह ग्रामं गच्छ३ त्वमहारण्यं गच्छ । क्षियायाम्—स्वयमह रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति । स्वयमहोदनं भुङ्क्ते ३ उपाध्यायं सक्तून् पाययति ॥

भाषार्थः—[अह] अह [इति] इससे युक्त (वाक्यस्थ) प्रथम तिङन्त को [विनियोगे] विनियोग [च] तथा चकार से क्षिया गम्यमान होने पर अनुदात्त नहीं

होता ।। अनेक प्रयोजन के लिये प्रैष देने को विनियोग कहते हैं । उदाहरण में—'तुम ग्राम को जाओ, तुम अरण्य को जाओ', यहाँ अनेक प्रयोजन के लिये प्रैष है ।। 'गच्छ' (लोट् मध्यम पुरुष) धातुस्वर से आद्युदात्त है। लोट् में 'हि' का लुक् आदि पूर्ववत् (६।४।१०५) जानें। प्लुतत्व भी यहाँ क्षियाशीः० (८।२।१०४) सूत्र से ही प्रैष मानकर हुआ है । एवं याति ३ आदि में पूर्ववत् क्षियानिमित्तक प्लुत है ही।।

चाहलोप एवेत्यवधारणम् ।।८।१।६२।।

चाहलोपे ७।१।। एव अ० ।। इति अ० ।। अवधारणम् १।१।। स०—चश्च अहश्च चाहौ, तयोर्लोपः चाहलोपः, तस्मिन् द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०— प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—च अह इत्येतयोर्लोपे प्रथमा तिङ्विभक्तिर्नानुदात्ता भवति, एवशब्दश्चेदवधारणार्थं प्रयुज्यते ।। यत्र गम्यते चार्थो न च प्रयुज्यते तत्रानयोर्लोप इति ज्ञेयम् ।। उदा०—चलोपे—देवदत्त एव ग्रामं गच्छतु देवदत्त एवारण्यं गच्छतु । अहलोपे— देवदत्त एव ग्रामं गच्छतु यज्ञदत्त एवारण्यं गच्छतु ।।

भाषार्थः—[चाहलोपे] च तथा अह शब्द का लोप होने पर प्रथम (वाक्यस्थ) तिङन्त को अनुदात्त नहीं होता, यदि [एव] एव [इति] यह शब्द वाक्य में [अवधारणम्] अवधारण अर्थ में प्रयुक्त किया गया हो तो ।। 'चाहलोपे' कहने से जहाँ 'च' तथा 'अह' का अर्थ तो हो किन्तु उसका प्रयोग न किया गया हो, वहाँ 'च अह' का लोप हुआ है, ऐसा माना जायेगा।'च' समुच्चय अर्थ में होता है, तथा 'अह' केवल अर्थ में । सो उसी प्रकार उदाहरणों का अर्थ 'च अह' के प्रयोग के बिना ही यहाँ है । 'देवदत्त एव ' देवदत्त ही ग्राम को जावे एवं देवदत्त ही जङ्गल को', यहाँ समुच्चय । तथा 'देवदत्त ही केवल ग्राम को जावे एवं यज्ञदत्त ही केवल अरण्य को', यहाँ लुप्त अह का केवलार्थ है । यहाँ सर्वत्र एव शब्द अवधारण (=निश्चय) अर्थ में प्रयुक्त है ।। प्रथम 'गच्छतु' पद धातुस्वर से आद्युदात्त है, पचति के समान इसका स्वर जान लें । द्वितीय गच्छतु पद यथाप्राप्त (८।१।२८ से) अनुदात्त होगा ही ।।

चादिलोपे विभाषा ।।८।१।६३।।

चादिलोपे ७।१।। विभाषा १।१।। स०—च आदिर्येषां ते चादयः, चादीनां लोपः चादिलोपः, तस्मिन् बहुव्रीहिगर्भषष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०— प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—चादिलोपे प्रथमा तिङ्विभक्तिर्विभाषा नानुदात्ता भवति ।। उदा०— चलोपे—शुक्ला व्रीहयो भवन्ति (पक्षे—भवन्ति) श्वेता गा आज्याय दुहन्ति । वालोपे— व्रीहिभिर्यजेत (पक्षे—यजेत) यवैर्यजेत । एवं शेषेष्वपि यथाप्राप्तमुदाहर्त्तव्यम् ।।

भाषार्थः- [चादिलोपे] चादियों के लोप होने पर प्रथम तिङन्त को [विभाषा] विकल्प करके अनुदात्त नहीं होता ॥ चादि से यहाँ न चवाहाहैवयुक्ते (८।१।२४) सूत्र में निर्दिष्ट च वा ह आदि शब्द गृहीत हैं, गणपठित चादि नहीं । लोप का तात्पर्य पूर्ववत् ही—'जहाँ चादियों का अर्थ हो पर प्रयोग न हो' यही लेना है ॥ ह अह आदि के लोप होने पर प्रथम तिङ् को विकल्प कहने से अनुदात्तवाले उदाहरण भी प्रयोग मिलने पर साधु समझने चाहियें ॥ अवन्ति में एक पक्ष में अदुपदेश से परे 'अन्ति' को निघात होने से धातुस्वर से आद्युदात्त रहेगा, तथा पक्ष में अनुदात्त होगा ही । यजेत, यहाँ 'त' को लसार्वधातुकानुदात्तत्व करने से धातुस्वर से यजेत आद्युदात्त है ।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी ॥

वैवावेति च च्छन्दसि ॥८।१।६४॥

वैवाव लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ स०—वैश्च वावश्च वैवावं, द्वन्द्वः ॥ अनु०— विभाषा, प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः— वै वाव इत्येताभ्यां युक्ता प्रथमा तिङ्विभक्तिर्विकल्पेन नानुदात्ता भवति, छन्दसि विषये ॥ उदा०—अहर्वै देवानामासीत् रात्रीरसुराणामासीत् । पक्षे—अहर्वै देवानामासीत् रात्रीरसुराणामासीत् । बृहस्पतिर्वै देवानां पुरोहित आसीत् (पक्षे - आसीत्) शण्डामर्कावसुराणाम् । वाव—अयं वाव ह आसीत् नेतर आसीत् । पक्षे—अयं वाव ह आसीत्, नेतर आसीत् ॥

भाषार्थः—[वैवाव] वै तथा वाव [इति] इनसे युक्त (वाक्यस्थ) प्रथम तिङन्त को [च] भी विकल्प से [छन्दसि] वेद-विषय में अनुदात्त नहीं होता ॥ प्रथम आसीत् का 'आट्' उदात्त रहेगा, तथा पक्ष में अनुदात्त होगा ही । आसीत् की सिद्धि सूत्र ७।३।९६ में देखें ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।१।६५ तक जायेगी ॥

एकान्याभ्यां समर्थाभ्याम् ॥८।१।६५॥

एकान्याभ्याम् ३।२॥ समर्थाभ्याम् ३।२॥ स०—एकश्च अन्यश्च एकान्यौ, ताभ्यां इतरेतरद्वन्द्वः । समस्तुल्योऽर्थो ययोस्तौ समर्थौ, ताभ्यां बहुव्रीहिः ॥ अनु०—छन्दसि, विभाषा, प्रथमा, तिङ्, न, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—एक अन्य इत्येताभ्यां समर्थाभ्यां युक्ता प्रथमा तिङ्विभक्तिर्विभाषा नानुदात्ता भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—प्रजामेका जिन्वति ऊर्जमेका रक्षति । पक्षे—प्रजा-

मेका जिन्वति ऊर्जमेका रक्षति । अन्य—तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति (पक्षे—स्वाद्वत्ति), अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति (ऋ० १।१६४।२०) ॥

भाषार्थः—[समर्थाभ्याम्] समान अर्थवाले [एकान्याभ्याम्] एक तथा अन्य शब्दों से युक्त प्रथम तिङन्त को विकल्प से छन्द-विषय में अनुदात्त नहीं होता॥ उदाहरणों में 'एक' तथा 'अन्य' दोनों समान = तुल्य अर्थवाले हैं ॥ जिवि प्रीणनार्थक धातु को इदित् होने से नुम् (७।१।५८ से) होकर लट् में शप् तिप् आकर जिन्वति बना है । सो पचति के समान धातुस्वर से जिन्वति पक्ष में आद्युदात्त है । अद धातु से अत्ति यह भी धातुस्वर से आद्युदात्त है । स्वादु+अत्ति=स्वाद्वत्ति । पक्ष में आद्युदात्तत्व होगा ही ॥

यद्वृत्तान्नित्यम् ॥८।१।६६॥

यद्वृत्तात् ५।१॥ नित्यम् १।१॥ स०—यदो वृत्तं यद्वृत्तं, तस्मात्·· षष्ठीतत्पुरुषः ॥ वर्त्ततेऽस्मिन्निति वृत्तम् ॥ किंवृत्तञ्च० (८।१।४८) इत्यत्र प्रदर्शिता किंवृत्तशब्दस्य या व्युत्पत्तिस्तद्वदत्रापि ज्ञेया ॥ अनु०—तिङ्, न, अनुदात्तं, सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य,॥ अर्थः—यद्वृत्तादुत्तरं तिङन्तं नित्यं नानुदात्तं भवति ॥ यद्वृत्तग्रहणेनात्र तद्विभक्त्यन्तं गृह्यते ॥ उदा०—यो भुङ्क्ते, यं भोजयति, येन भुङ्क्ते, यस्मै ददाति, यत्कामास्ते जुहुमः (ऋ० १०।१२१।१०) ॥

भाषार्थः—[यद्वृत्तात्] यद्वृत्त शब्द से उत्तर तिङन्त को [नित्यम्] नित्य ही अनुदात्त नहीं होता ॥ यद्वृत्त से यहाँ 'यद्' शब्द से उत्पन्न जो विभक्तियाँ तद्विभक्त्यन्त शब्द लिये गये हैं ॥ यद्वृत्त की व्युत्पत्ति ८।१।४८ सूत्र में दी हुई किंवृत्त की व्युत्पत्ति के समान जानें । स्वरसिद्धियाँ भी उसी सूत्र में देखें ॥ जुहुमः हु धातु के लट् मस् में बना है । सो प्रत्ययस्वर (३।१।३) से अन्तोदात्त यह शब्द है ॥

पूजनात् पूजितमनुदात्तम् ॥८।१।६७॥

पूजनात् ५।१॥ पूजितम् १।१॥ अनुदात्तम् १।१॥ अनु०—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ॥ अर्थः—पूजनात् परं पूजितमनुदात्तं भवति ॥ उदा०—काष्ठाध्यापकः काष्ठाभिरूपकः । दारुणाध्यापकः, दारुणाभिरूपकः ॥

भाषार्थः—[पूजनात्] पूजनवाची शब्दों से उत्तर [पूजितम्] पूजितवाची शब्दों को [अनुदात्तम्] अनुदात्त होता है ॥ दारुणम् अध्यापयतीति दारुणाध्यापकः, काष्ठाभिरूपकः, यहाँ दारुण काष्ठ आदि शब्द क्रियाविशेषण द्वितीयान्त हैं । सो यहाँ वैयधिकरण्य होने से समास नहीं हुआ है, किन्तु मलोपश्च (वा० ८।१।

६७) इस वार्त्तिक से दारुणम् काष्ठम् के मकार का लोप हुआ है[1]। पश्चात् सवर्णदीर्घत्व हो गया ।। 'काष्ठं' शब्द अद्भुतवाची है; अतः पूजनवचनता है । अध्यापक अभिरूपक शब्द पूजितवाची हैं ही । काष्ठाध्यापकः, अर्थात् काष्ठा[2]=सीमा=अन्त (=किसी विषय की अन्तिम सीमा तक) अर्थात् आश्चर्यजनक पढ़ानेवाला ।। 'दारुण' शब्द क्लिष्टवाची है, अतः अत्यन्त क्लिष्ट ग्रन्थ को पढ़ानेवाला ऐसा अर्थ होगा । अध्यापक अभिरूपक शब्द ण्वुलन्त हैं, अतः लित् स्वर को प्राप्ति थी, अनुदात्त कह दिया ।।

यहाँ से 'पूजनात् पूजितम्' की अनुवृत्ति ८।१।६८ तक जायेगी ।।

सगतिरपि तिङ् ।।८।१।६८।।

सगतिः १।१।। अपि अ० ।। तिङ् १।१।। स०—गतिना सह सगतिः, बहुव्रीहिः। तेन सहेति० (२।२।२८) इत्यनेन समासः ।। अनु०—पूजनात् पूजितम्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदात्, पदस्य ।। अर्थः—पूजनात् परं सगतिरगतिरपि पूजितं तिङन्तमनुदात्तं भवति ।। उदा०—अगतिः—यत्काष्ठं पचति, यद्दारुणं पचति । सगतिः—यत्काष्ठं प्रपचति । यद्दारुणं प्रपचति ।। सगतिग्रहणात् गतिरपि निहन्यते ।।

भाषार्थः—पूजनवाचियों से उत्तर [सगतिः] गतिसहित [तिङ्] तिङन्त को, तथा (अपि ग्रहण से) गतिभिन्न तिङन्त को [अपि] भी, अनुदात्त होता है ।। तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से निघात प्राप्त ही था, पुनः निपातैर्यद्यदि० (८।१।३०) से निघात प्रतिषेध प्राप्त होने पर इस सूत्र का विधान है ।। भाष्यानुसार पूर्वोक्त मलोपश्च (वा० ८।१।६७) वार्त्तिक अतिङ् परे रहते ही प्रवृत्त होता है । अतः 'यत्काष्ठं पचति' आदि में मकारलोप नहीं हुआ ।। सगति ग्रहण से गतिसहित निघात होता है ।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।६९ तक जायेगी ।।

कुत्सने च सुप्यगोत्रादौ ।।८।१।६९।।

कुत्सने ७।१।। च अ० ।। सुपि ७।१।। अगोत्रादौ ७।१।। स०—गोत्र आदिर्यस्य स गोत्रादिः, बहुव्रीहिः । न गोत्रादिरगोत्रादिः, तस्मिन् नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—सगति-

---

१. उपपद समास यहां मानने पर कृदुत्तरपद स्वर का यह बाधक होगा, ऐसा समझना चाहिये ।।

२. सूत्र वा गण में नपुंसकलिङ्ग काष्ठ शब्द भी काष्ठा=सीमा का वाचक है ऐसा समझना चाहिये ।।

रपि तिङ्, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदस्य ॥ पदादन्न निवृत्तम् ॥ अर्थः—गोत्रादिवर्जिते कुत्सने च सुबन्ते परतः सगतिरगतिरपि तिङनुदात्तं भवति ॥ उदा०—पचति पूति, प्रपचति पूति, पचति मिथ्या, प्रपचति मिथ्या॥

भाषार्थः—[अगोत्रादौ] गोत्रादिवर्जित (=गणपठित शब्दों को छोड़कर) [कुत्सने] कुत्सन=निन्दावाची [सुपि] सुबन्त शब्दों के परे रहते [च] भी सगतिक एवं अगतिक (दोनों) तिङन्तों को अनुदात्त होता है ॥ यहाँ से 'पदात्' अधिकार की अनुवृत्ति समाप्त हो गई। अतः उदाहरणों में पद से उत्तर न होने से अगति में तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से निघात की प्राप्ति ही नहीं थी, और सगति में प्र को मानकर तिङ्मात्र को निघात प्राप्त था, विधान कर दिया ॥ पूति शब्द के 'सु' का स्वमोर्नपुं० (७।१।२३) से लुक् हुआ है। पचति पूति, अर्थात् खराब पकाती है, सो यहाँ उसकी क्रिया की कुत्सा=निन्दा हो रही है ॥

गतिर्गतौ ॥८।१।७०॥

गतिः १।१॥ गतौ ७।१॥ अनु०—अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदस्य ॥ अर्थः—गतौ परतो गतिरनुदात्तो भवति ॥ उदा०—अभ्युद्धरति, समुदानयति, अभिसम्पर्याहरति ॥

भाषार्थः—[गतौ] गतिसंज्ञक के परे रहते [गतिः] गतिसंज्ञक को अनुदात्त होता है ॥ 'अभि' उपसर्ग को उपसर्गाश्चाभिवर्जम् सूत्र में निषेध करने से फिषोऽन्त उदात्तः (फिट्० १) से अन्तोदात्त प्राप्त था। उत् गतिसंज्ञक के परे रहते अनुदात्त हो गया। पश्चात् यणादेश होने के कारण अभि का 'भ' हीं अनुदात्त रहा। एवं 'उत्' का 'उ' उपसर्गाश्चाभिवर्जम् (फिट्० ८०) से उदात्त हो गया। समुदानयति में भी उपसर्गाश्चाभिवर्जम् से ही सम् के स को उदात्त प्राप्त था, आङ् गतिसंज्ञक के परे रहते सम् उत् दोनों को अनुदात्त हो गया, एवं आङ् पूर्ववत् उदात्त रहा। इसी प्रकार अभिसम्पर्याहरति में पूर्ववत् अभि को अन्तोदात्त प्राप्त था, आङ् परे रहते अभि सम् परि तीनों को अनुदात्त हो गया॥

यहाँ से 'गतिः' की अनुवृत्ति ८।१।७१ तक जायेगी ॥

तिङि चोदात्तवति ॥८।१।७१॥

तिङि ७।१॥ च अ० ॥ उदात्तवति ७।१॥ उदात्तोऽस्मिन्नस्तीति=उदात्तवान्, तस्मिन्···(मतुप्प्रत्ययः) ॥ अनु०—गतिः, अनुदात्तं सर्वमपादादौ, पदस्य ॥ अर्थः—उदात्तवति तिङन्ते च परतो गतिरनुदात्तो भवति ॥ उदा०—यत् प्रपचति, यत् प्रकरोति ॥

भाषार्थ:—[उदात्तवति] उदात्तवान् [तिङि] तिङन्त के परे रहते [च] भी गतिसंज्ञक को निघात होता है ॥ उदाहरण में पचति करोति तिङन्त को निपातैर्यद्यदि० (८।१।३०) अथवा अद्वृत्ताभित्यम् (८।१।६९) से निघात का प्रतिषेध हो जाने से ये उदात्तवान् हैं। अतः इनके परे रहते 'प्र' गतिसंज्ञक को अनुदात्त हो गया है। इस प्रकार उपसर्गाश्चा० (फिट्० ८०) से 'प्र' उदात्त नहीं हुआ। पचति करोति की स्वरसिद्धि परि० ८।१।३० में देखें ॥

आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् ॥८।१।७२॥

आमन्त्रितम् १।१॥ पूर्वम् १।१॥ अविद्यमानवत् अ० ॥ स०—न विद्यमानम् अविद्यमानम्, नञ्तत्पुरुषः। अविद्यमानेन तुल्यम् अविद्यमानवत् ॥ अनु०—पदस्य ॥ अर्थः—आमन्त्रितं पदं पूर्वमविद्यमानवद् भवति, तस्मिन् सति यत् कार्यं प्राप्नोति तन्न भवति, असति यत्तद्भवतीत्यर्थः ॥ उदा०—देवदत्त यज्ञदत्त। देवदत्त पचसि। देवदत्त तव ग्रामः स्वम्। देवदत्त मम ग्रामः स्वम्। यावद् देवदत्त प्रचसि। देवदत्त जातु पचसि। आहो देवदत्त पचसि। उताहो देवदत्त पचसि। आम् भोः पचसि देवदत्त॥

भाषार्थ:—किसी पद से (जिसे निघातादि कार्य कहे हों) [पूर्वम्] पूर्व [आमन्त्रितम्] आमन्त्रितसंज्ञक पद हो, तो वह आमन्त्रित पद [अविद्यमानवत्] अविद्यमान (=न होना) के समान माना जावे ॥ अर्थात् उस आमन्त्रित को मानकर जो कार्य प्राप्त हो रहे हों, वे कार्य उसके अविद्यमानवत् होने से नहीं होते। एवं जो कार्य उसके न रहने पर प्राप्त होते हैं, वे हो जाते हैं ॥

देवदत्त यज्ञदत्त, यहाँ दोनों ही पद आमन्त्रितसंज्ञक (२।३।४८ से) हैं, सो आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से देवदत्त पद से उत्तर 'यज्ञदत्त' को निघात प्राप्त था। किन्तु पूर्ववाला आमन्त्रित पद देवदत्त, यज्ञदत्त की अपेक्षा से अविद्यमानवत् हो गया। तो पद से उत्तर न मिलने से 'यज्ञदत्त' को निघात नहीं हुआ, किन्तु षाष्ठिक आमन्त्रितस्य च से आद्युदात्त पद रहा। इसी प्रकार देवदत्त पचसि में देवदत्त के अविद्यमानवत् होने से तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से पचसि को (पद से उत्तर न होने से) निघात नहीं हुआ। 'देवदत्त तव ग्रामः स्वम्' आदि में तव मम को तेमयावेक० (८।१।२२) से पूर्वोक्तानुसार ते मे आदेश नहीं हुये। 'यावद् देवदत्त पचसि' यहाँ देवदत्त के अविद्यमानवत् होने से यावत् से अनन्तर (=अव्यवहित) तिङन्त है, तो पूजायां नानन्तरम् (८।१।३७) से पचसि को अनुदात्त नहीं हुआ। 'देवदत्त जातु पचसि' यहाँ भी देवदत्त के अविद्यमानवत् होने से 'जातु' अविद्यमानपूर्व है। सो जात्वपूर्वम् (८।१।४८) से पचसि को निघात निषेध हो गया। इसी प्रकार 'आहो

देवदत्त पचसि' आदि में देवदत्त को अविद्यमानवत् होकर आहो उताहो० (८।१।४९) से पचसि को अननुदात्त हो गया है। 'आम् भोः पचसि देवदत्त' यहाँ 'भोः' आमन्त्रित को अविद्यमानवत् होने से आम् से उत्तर एकपदान्तर आमन्त्रित 'देवदत्त' हो जाता है। सो उसे आम एकान्तरमा० (८।१।५५) से अननुदात्त हो जाता है। 'भोः' को अविद्यमानवत् न मानने से यहाँ 'भोः पचसि' इन दो पदों के कारण एकपदान्तरता न रह पाती ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।१।७४ तक जायेगी ॥

नामन्त्रिते समानाधिकरणे ॥८।१।७३॥

न अ० ॥ आमन्त्रिते ७।१॥ समानाधिकरणे ७।१॥ स०—समानम् अधिकरणं यस्य तत् समानाधिकरणं, तस्मिन् ...बहुव्रीहिः ॥ अनु०—आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्, पदस्य ॥ अर्थः—समानाधिकरण आमन्त्रितान्ते परतः पूर्वमामन्त्रितान्तं नाविद्यमानवद् भवति ॥ पूर्वेण प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—[1]अग्ने गृहपते (मं० सं० १।४।२) । माणवक जटिलकाध्यापक ॥

भाषार्थः—[समानाधिकरणे] समान अधिकरणवाला [आमन्त्रिते] आमन्त्रित पद परे हो, तो उससे पूर्ववाला आमन्त्रित पद अविद्यमानवद् [न] न हो, किन्तु विद्यमानवत् ही होता है ॥ अग्ने तथा गृहपते पद आमन्त्रितसंज्ञक एवं समानाधिकरणवाले भी हैं। अतः 'अग्ने' पद विद्यमानवत् ही रहा, सो 'गृहपते' को आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से निघात हो गया। इसी प्रकार द्वितीय उदाहरण में जानें ॥

यहाँ से 'आमन्त्रिते समानाधिकरणे' की अनुवृत्ति ८।१।७४ तक जायेगी ॥

सामान्यवचनं विभाषितं विशेषवचने ॥८।१।७४॥

सामान्यवचनम् १।१॥ विभाषितम् १।१॥ विशेषवचने ७।१॥ स०—सामान्यस्य वचनं सामान्यवचनम्, षष्ठीतत्पुरुषः। एवं विशेषवचन इत्यत्रापि ज्ञेयम् ॥ अनु०—आमन्त्रिते समानाधिकरणे, आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्, पदस्य ॥ अर्थः—विशेषवचने समानाधिकरण आमन्त्रितान्ते परतः पूर्वं सामान्यवचनमामन्त्रितं विभाषितमविद्यमानवद् भवति ॥ उदा०—देवाः शरण्याः । पक्षे—देवाः शरण्याः । ब्राह्मणा वैयाकरणाः । पक्षे—ब्राह्मणा वैयाकरणाः ॥

१. हे गृहपते अग्ने ! हे जटावान् अध्यापक माणवक ! यहां गृहपति अग्नि गृहपति सामान्य का, और जटिलकाध्यापक माणवक माणवक सामान्य का विशेषण है। उदाहरणों में गृहपते और जटिलकाध्यापक में पूर्वस्वरितानुसार एकश्रुत्यभाव का निर्देश सुकरता के लिये किया है ॥

भाषार्थः—[विशेषवचने] विशेषवाची समानाधिकरण आमन्त्रित परे रहते [सामान्यवचनम्] सामान्यवचन आमन्त्रित को [विभाषितम्] विकल्प से अविद्यमानवत् होता है ॥ उदाहरणों में पहले आमन्त्रित देव एवं ब्राह्मण सामान्यरूप से सभी देवत्व एवं ब्राह्मणत्व गुणवालों को कहते हैं, अतः सामान्य वचन हैं। एवं शरण्य (=शरण देने में जो साधु) देव तथा वैयाकरण (ब्राह्मण) विशेषवाची परे हैं। परस्पर ये शब्द समानाधिकरण हैं ही, सो विकल्प से पूर्ववाले सामान्यवचन आमन्त्रित देव एवं ब्राह्मण विद्यमानवत् हो गये। जिस पक्ष में ये विद्यमानवत् हुये, उस पक्ष में आमन्त्रितस्य च (८।१।१९) से शरण्य तथा वैयाकरण निघात हुये। एवं अविद्यमानवत् हुयें, तो षाष्ठिक आमन्त्रितस्य च (६।१।१९२) से दोनों पदों को आद्युदात्त हो गया ॥

इति प्रथमः पादः ॥

—:०:—

द्वितीयः पादः

पूर्वत्रासिद्धम् ॥८।२।१॥

पूर्वत्र अ० ॥ असिद्धम् १।१॥ स०—न सिद्धमसिद्धम्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः— अधिकारोऽयम् आ अध्यायपरिसमाप्तेः । तत्र येयं सपादसप्ताध्याय्यनुक्रान्ता एतस्यामयं पादोनोऽध्यायोऽसिद्धो भवतीति वेदितव्यम्, सिद्धकार्यं न करोतीत्यर्थः। इत उत्तरं चोत्तरोत्तरो योगः पूर्वत्र पूर्वत्रासिद्धो भवति ॥ उदा०—अस्मा उद्धर। द्वा अत्र। द्वा आनय। असा आदित्यः। अमुष्मै, अमुष्मात्, अमुष्मिन्। शुष्किका, शुष्कजङ्घा, क्षामिमान्, औजढत्, गुडलिण्मान् ॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है, अध्याय की समाप्ति-पर्यन्त जायेगा ॥ यहाँ से आगे अध्याय की समाप्तिपर्यन्त ३ पाद के सूत्र [पूर्वत्र] पूर्व-पूर्व की दृष्टि में अर्थात् सवा सात अध्याय में कहे गये सूत्रों की दृष्टि में [असिद्धम्] असिद्ध होते हैं, सिद्ध के समान कार्य नहीं करते, यह तात्पर्य है। प्रतिसूत्र में अधिकार होने से यहाँ से आगे (इन तीन पादों में) भी उत्तर-उत्तर के सूत्र उससे पूर्व-पूर्व की दृष्टि में असिद्ध होते जाते हैं, ऐसा अर्थ भी इस सूत्र का जानना चाहिये ॥ अस्मा उद्धर, द्वा अत्र, द्वा आनय, असा आदित्यः, यहाँ सर्वत्र अस्मै द्वौ असौ के एच् को एचोऽयवा-

याव: (६।१।७५) से जो आय् आव् आदेश हुये थे, उनके य् व् का लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) से लोप हो जाने पर, आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश, एवं असा आदित्यः में सवर्णदीर्घत्व नहीं होता। क्योंकि लोपः शाकल्यस्य इन तीन पादों में है, सो वह 'आद् गुणः और अकः सवर्णे०' की दृष्टि में असिद्ध रहेगा। उन्हें इस सूत्र से विहित य् व् लोप नहीं दीखेगा, तो गुण एकादेश सवर्णदीर्घत्व नहीं हो सकते। इसी प्रकार अमुष्मै आदि में अदसोऽसे० (८।२।८०) से द् को म् तथा दकार से उत्तर 'अ' को उत्व हुआ है। सो अदसोऽसेर्दादु दो मः सूत्र के त्रिपादिस्थ होने से सर्वनाम्नः स्मै, ङसिङ्योः स्मात्स्मिनौ (७।१।१४-१५) की दृष्टि में असिद्ध हो गया। अर्थात् इन्हें 'अद ङे' ऐसा अदन्त अङ्ग ही दीखा, तो अदन्त अङ्ग से उत्तर मानकर स्मै आदि आदेश हो गये॥ शुष्किका, यहां शुषः कः (८।२।५१) सूत्र उदीचामातः स्थाने० (७।३।४६) की दृष्टि में असिद्ध रहता है, तो प्रत्ययस्थात्० (७।३।४४) से पाणिनि मुनि के मत में नित्य इत्व होता है। 'शुष्का' निष्ठान्त स्त्रीलिङ्ग से अज्ञातादि अर्थ में क, तथा केऽणः (७।४।१३) से ह्रस्वत्व होकर पुनः टाप्, एवं इत्व शुष्किका में हुआ है॥ शुष्के जङ्घेऽस्याः सा शुष्कजङ्घा, यहां शुषः कः (८।२।५१) के न कोपधायाः (६।३।३५) की दृष्टि के असिद्ध होने से पुंवद्भाव-प्रतिषेध नहीं होता॥ क्षामस्यापत्यं क्षामिः, क्षामिः अस्य अस्मिन् वास्तीति क्षामिमान्, यहां क्षा धातु से उत्पन्न निष्ठा को जो क्षायो मः (८।२।५२) से 'म' हुआ था। वह इस त्रिपादी में ही मादुपधाया० (८।२।९) की दृष्टि में असिद्ध रहा, तो वत्व नहीं हुआ। इस प्रकार इस त्रिपादी में भी उत्तर उत्तर सूत्र के कार्य पूर्व पूर्व सूत्र की दृष्टि में असिद्ध रहते हैं॥

औजढत्, यहाँ ऊढ शब्द से तत्करोति० (वा० ३।१।२६) से णिच्, एवं तदन्त से लुङ् हुआ है। ऊढः की सिद्धि ६।१।१५ सूत्र में देखें। णाविष्ठवत्० (वा० ६।४।१५५) से 'ऊढ' के टि का लोप पटयति (परि० १।१।५५) के समान हुआ। शेष णि आदि का लोप अपीपचत् के समान (देखो—परि० ६।१।११) होकर जब ऊढ् को चङि से द्वित्व करने लगे, तो चङि की दृष्टि में 'ऊढ' में किये हुये ढत्व, ष्टुत्व, ढलोप कार्य त्रिपादीस्थ होने से असिद्ध हो गये, अर्थात् उसे ऊ ह् त ही दिखा। णि परे रहते जो टिलोप हुआ था, वह भी णौ कृतं स्थानिवद्० (महा० भा० १।१।५८) से स्थानिवत् हो गया, अर्थात् 'ऊ ह् त' रहा। इस प्रकार अजादेर्द्वि० (६।१।२) लगकर 'ह् त' द्वित्व हुआ, यही इस सूत्र का फल है। आट् ऊ ह् त ह् चङ् त्, हलादि शेष होकर—आ ऊ ह् ढ् अ त्, कुहोश्चुः (७।४।६२) से ह् को झ्, अभ्यासे चर्च (८।४।५३) से ज्, तथा वृद्धि एकादेश होकर औजढत् बन गया। यहाँ अक् लोप (टि लोप होने से) हुआ है, अतः सन्वल्लघुनि० (७।४।९५) से सन्वद्भाव नहीं होता है॥

गुडलिहोऽस्य सन्तीति=गुडलिण्मान्, यहाँ पहले गुड लेढि विग्रह करके गुड-लिह् शब्द से क्विप् हुआ, तदन्त से मतुप् हुआ है । सो यहाँ भी 'ह्' को ढत्व, झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व 'ड्' हुआ है । सो ये ढत्व जश्त्व झयः (८।२।१०) की दृष्टि में जब असिद्ध हो गये, तो मतुप् को वत्व नहीं हुआ । पश्चात् यरोऽनुनासिके० (८।४।४४) से ड् को ण् हो गया ॥

इस सूत्र को हम अनुवृत्ति में सर्वत्र नहीं दिखायेंगे, क्योंकि प्रत्येक सूत्र में इसका भी अर्थ करना कोई उपयोगी नहीं । पाठकों को यहाँ इसे समझ लेना चाहिये कि सर्वत्र ही इन तीन पादों में यथावश्यकता इस सूत्र का उपयोग होगा ॥

नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिषु कृति ॥८।२।२॥

नलोपः १।१॥ सुप्...विधिषु ७।३॥ कृति ७।१॥ स०—नकारस्य लोपः नलोपः, षष्ठीतत्पुरुषः । सुप् च स्वरश्च संज्ञा च तुक् च सुप्स्वरसंज्ञातुकः, इतरेतरद्वन्द्वः । इत्येतेषां विधयः सुप्...विधयः, तेषु...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—असिद्धः ॥ अर्थः—सुब्विधौ स्वरविधौ संज्ञाविधौ तुग्विधौ च कृति नलोपः पूर्वत्रासिद्धो भवति ॥ उदा०—सुब्विधौ—राजभिः, तक्षभिः । राजभ्याम्, तक्षभ्याम् । राजसु, तक्षसु । स्वरविधौ—राजवती । पञ्चार्मम्, दशार्मम् । पञ्चबीजी । संज्ञाविधौ—पञ्च ब्राह्मण्यः, दश ब्राह्मण्यः । तुग्विधौ—वृत्रहभ्याम्, वृत्रहभिः ॥

भाषार्थः—[सुप्...विधिषु] सुप्विधि स्वरविधि संज्ञाविधि तथा [कृति] कृत् विषयक तुक् की विधि करने में [नलोपः] नकार का लोप असिद्ध होता है ॥ 'कृति' का सम्बन्ध यहाँ सम्भव होने से तुक्विधि के साथ ही लगता है, अन्यों के साथ नहीं ॥ पूर्वसूत्र से ही असिद्धत्व सिद्ध था, पुनर्वचन नियमार्थ है । अर्थात्—नकार का लोप इन्हीं विधियों में असिद्ध होता है, अन्य विधियों में नहीं ॥ सुप्-विधि से सुप् के स्थान में होनेवाली विधि, एवं सुप् के परे रहते जो विधि सभी का ग्रहण है ॥ राजभि तक्षभिः में राजन् और तक्षन् के नकार का लोप (८।२।७) असिद्ध हो जाता है, तो अदन्त अङ्ग न होने से अतो भिस ऐस् (७।१।९) से भिस् सुप् के स्थान में ऐस् नहीं होता । इसी प्रकार राजभ्याम् राजसु आदि में क्रमशः सुपि च, बहुवचने झल्येत् (७।३।१०२,१०३) से सुप् परे रहते दीर्घत्व, एत्व नहीं होता ॥ मतुप्प्रत्ययान्त

---

१. हमने यहां बहुत से उदाहरण कठिन होने पर भी समझाने के लिये दे दिये हैं । किन्तु सारे उदाहरण सभी को प्रथमावृत्ति में ही समझा देने अभीष्ट नहीं हैं । चाहें तो अमुष्मिन् तक ही बतावें, शेष छोड़ दें । पश्चात् कभी इन्हें समझा जा सकता है ॥

'राजवती'; यहाँ नलोप स्वरविधि में असिद्ध होने से अन्तोऽवत्याः (६।१।२१४) से अन्तोदात्त नहीं होता। क्योंकि असिद्ध होने पर 'अवती' शब्दान्त राजवती नहीं रहेगा। पञ्चार्मम् दशार्मम्, यहाँ नलोप असिद्ध होने से अर्मे चावर्ण० (६।२।९०) से अवर्णान्त पूर्वपद न होने से पूर्वपद को आद्युदात्त नहीं होता। पञ्चार्मम् दशार्मम् में दिक्सङ्ख्ये० (२।१।४९) से समास हुआ है। पञ्चानां बीजिनां समाहारः पञ्च-बीजी, यहाँ बीज शब्द से जो अत इनिठनौ (५।२।११५) से इनि हुआ था, उस के नकार का लोप हुआ है। सो उसके असिद्ध हो जाने से इगन्तता नहीं रहती, अतः इगन्तकालकपाल० (६।२।२९) से पूर्वपद को प्रकृतिस्वर नहीं होता॥ पञ्च ब्राह्मण्य., यहाँ नलोप करने के पश्चात् नान्त न होने से षट्संज्ञा पञ्च की प्राप्त नहीं थी। संज्ञाविधि में असिद्ध होने से हो गई, तो न षट्स्वस्रा० (४।१।१०) से पञ्च को प्राप्त टाप् (४।१।४) का प्रतिषेध हो गया॥ वृत्रहभ्याम् वृत्रहभिः में कृत्-विषयक तुक्विधि ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (६।१।६९) से करने में वृत्रहन् का नलोप असिद्ध हो गया, तो तुक् आगम नहीं हुआ। कृत् परे रहते तुक् आगम ह्रस्वस्य पिति० में कहा है, अतः यह कृत्-विषयक तुक् है॥

न मु ने ॥८।२।३॥

न अ०॥ मु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः॥ ने ७।१॥ अनु०—असिद्धः॥ अर्थः—ने परतो यत् प्राप्नोति तस्मिन् कर्त्तव्ये मुभावो नासिद्धो भवति, किन्तु सिद्ध एव॥ उदा०—अमुना॥

भाषार्थः—[ने] 'ना परे रहते [मु] मुभाव असिद्ध [न] नहीं होता, अर्थात् सिद्ध ही रहता है। अमुना, यहाँ अदसोऽसेर्दा० (८।२।८०) से जो द् को म् तथा द् से उत्तर अ को उ हुआ था। वह 'मु' पूर्वत्रासिद्धम् से सुपि च (७।३।१०२) की दृष्टि में असिद्ध हो जाये, तो आङो नाऽस्त्रियाम् (७।३।११९) से हुये 'ना भाव' के परे रहते 'अमु' अङ्ग को दीर्घत्व सुपि च से प्राप्त होवे। किन्तु प्रकृतसूत्र से ना परे रहते मुभाव सिद्ध होने से नहीं होता॥

यहाँ प्रश्न है कि प्रथम तो यहाँ आङो नाऽस्त्रियाम् की दृष्टि में भी पूर्वत्रा-सिद्धम् से मुभाव के असिद्ध हो जाने से 'अमु' की घिसंज्ञा (१।४।७) न होने से नाभाव प्राप्त ही नहीं हो सकता। पुनः 'ना' परे रहते मुभाव को असिद्ध कहना व्यर्थ है, क्योंकि 'ना' परे मिलेगा ही नहीं। इसका उत्तर है कि—यहाँ ना परे रहते

१. ना + ङि = ने। यथा क्त्वायां च कित्प्रतिषेधः (भा० वा० १।२।१) में आकार का लोप नहीं हुआ, तद्वत्॥

असिद्धत्व का निषेध कहा है,जो कि सम्भव ही नहीं । सो यह सूत्र व्यर्थ होकर ज्ञापक निकलता है कि यहाँ "इसी सूत्र से नाभाव करने में भी मुभाव सिद्ध ही रहता है।" तभी यह सूत्र सार्थक होगा ।।

उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य ।।८।२।४।।

उदात्तस्वरितयोः ६।२।। यणः ५।१।। स्वरितः १।१।। अनुदात्तस्य ६।१।। स०—उदात्तश्च स्वरितश्च उदात्तस्वरितौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ।। अर्थः—उदात्तस्य स्थाने यो यण्, स्वरितस्य च स्थाने यो यण्, ततः परस्यानुदात्तस्य स्वरित आदेशो भवति ।। उदात्तयणः—कुमार्यै[1], कुमार्याः । स्वरितयणः—सकूल्व्याशा, खलप्व्याशा ।।

भाषार्थः—[उदात्तस्वरितयोः] उदात्त तथा स्वरित के स्थान में जो [यणः] यण्, उससे उत्तर [अनुदात्तस्य] अनुदात्त के स्थान में [स्वरितः] स्वरित आदेश होता है ।। कुमार्यै कुमार्याः, यहाँ कुमारी शब्द उदात्त-निवृत्तिस्वर से अन्तोदात्त है । सिद्धि इसकी ६।१।१५५ सूत्र में देख लें । अब इस कुमारी के 'ई' को अनुदात्त (३।१।४) ऐ, एवं 'आस्' परे रहते यणादेश होता है । सो यह उदात्त के स्थान में यण् है, अतः उससे उत्तर अनुदात्त 'ऐ' एवं 'आस्' को स्वरित होता है ।। सकूल्व्याशा खलप्व्याशा, यहाँ लू पू (धातुस्वर से अन्तोदात्त) धातुओं से क्विप् (३।२।७६) हुआ है । पश्चात् सकूत् एवं खल शब्दों के साथ उपपदमतिङ् (२।२।१९) से समास होकर सकूल्लू खलपू बना । अब ये शब्द गतिकारको० (६।२।१३८) से प्रकृतिस्वर होने से अन्तोदात्त (धातुस्वर के कारण) हैं । अतः जब इनके उदात्त ऊकार के स्थान में अनुदात्त 'ङि' के परे रहते यणादेश हुआ, तो अनुदात्त ङि के 'इ' को प्रकृतसूत्र से स्वरित आदेश हो गया । अब सकूल्व्वि खलप्वि स्वरितान्त से परे आशा शब्द रहते पुनः स्वरित 'इ' के स्थान में यणादेश हुआ । आशा शब्द आशाया अदिगाख्या चेत् (फिट्० १८) से अन्तोदात्त है । अतः अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से अनुदात्त 'आ' हुआ । सो सकूल्वि आशा = सकूल्व्याशा खलप्व्याशा, यहाँ इकार के स्थान में हुये स्वरितयण् से उत्तर आशा के अनुदात्त 'आ' को स्वरित आदेश हो गया ।।

यहां से 'अनुदात्तस्य' की अनुवृत्ति ८।२।६ तक जायेगी ।।

एकादेश उदात्तेनोदात्तः ।।८।२।५।।

एकादेशः १।१।। उदात्तेन ३।१।। उदात्तः १।१।। स०—एकश्चासावादेशश्च एकादेशः, कर्मधारयतत्पुरुषः ।। अनु०—अनुदात्तस्य ।। अर्थः—उदात्तेन सह अनुदा-

---

१. कुमार्यै कुमार्याः की सिद्धि भाग २, परि० ४।१।२. में देखें ।।

तस्य य एकादेशः स उदात्तो भवति ॥ आन्तरतम्यात् स्वरिते प्राप्त इदमारभ्यते ॥ उदा०—अग्नी, वायू । वृक्षैः, प्लक्षैः ॥

भाषार्थः—[उदात्तेन] उदात्त के साथ जो अनुदात्त का [एकादेशः] एकादेश वह [उदात्त] उदात्त होता है ॥ उदात्त एवं अनुदात्त का एकादेश अन्तरतम होने से स्वरितत्व प्राप्त था, उदात्त कह दिया ॥ 'अग्नि औ', यहाँ अग्नि शब्द प्रातिपदिकस्वर (फिट्० १) या प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है, एवं 'औ' अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।३) से अनुदात्त है। अतः दोनों को हुआ प्रथमयोः० (६।१।९८) से पूर्वसवर्ण दीर्घ एकादेश प्रकृत सूत्र से उदात्त ही हुआ । इसी प्रकार वायू में जानें । वृक्षैः प्लक्षैः में वृद्धिरेचि (६।१।८५) से वृद्धि एकादेश हुआ है ॥

यहां से 'एकादेश उदात्तेन' की अनुवृत्ति ८।२।६ तक जायेगी ॥

स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ ॥८।२।६॥

स्वरितः१।१॥ वा अ०॥ अनुदात्ते७।१॥ पदादौ७।१॥स०—पदस्य आदिः पदादिः, तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—एकादेशः उदात्तेन, अनुदात्तस्य ॥ अर्थः—उदात्तेन सह योऽनुदात्ते पदादौ एकादेशः स स्वरितो भवति विकल्पेन । पक्षे पूर्वेण प्राप्तत्वादुदात्तो भवति ॥ उदा०—सु उत्थितः=सूत्थितः । पक्षे—सूत्थितः । वि ईक्षते=वीक्षते, वीक्षते । वसुकः असि=वसुकोऽसि, वसुकोऽसि ॥

भाषार्थः—[पदादौ] पदादि [अनुदात्ते] अनुदात्त के परे रहते उदात्त के साथ में हुआ जो एकादेश (अर्थात् उदात्त एवं पदादि अनुदात्त इन दोनों के स्थान में हुआ एकादेश), वह [वा] विकल्प करके [स्वरितः] स्वरित होता है । पक्ष में पूर्वसूत्र से प्राप्त उदात्त ही होगा ॥ सूत्थितः, यहाँ सु शब्द सुः पूजायाम् (१।४।९३) से कर्मप्रवचनीयसंज्ञक है । उसका कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास होकर तत्पुरुषे तुल्या० (६।२।२) से अव्यय मानकर पूर्वपद को प्रकृतिस्वरत्व, अर्थात् निपाता आद्युदात्ताः (फिट्० ७९) से उदात्तत्व होकर, शेष पद को अनुदात्तं० (६।१।१५२) से अनुदात्त हो गया । इस प्रकार पद के आदि में उकार 'अनुदात्त' अक्षर परे है, सो दोनों के एकादेश (६।१।९७) को विकल्प से स्वरितत्व हो गया ॥ वीक्षते वसुकोऽसि, यहाँ तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से 'ईक्षते तथा असि' निघात हैं, सो दोनों स्थलों में अनुदात्त पदादि परे है । 'वि' उपसर्गाश्चा० (फिट्० ८०) से, एवं वसुकः प्रातिपदिक स्वर से अन्तोदात्त हैं ही । इस प्रकार दोनों के एकादेश को विकल्प से स्वरित हो गया ॥

१. सु की कर्मप्रवचनीय संज्ञा होने से गति संज्ञा का बाध हो जाता है, तो गतिर्गतौ (८।१।७०) से 'सु' को निघात नहीं होता, यही प्रयोजन है ॥

नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य ॥८।२।७॥

न लुप्तषष्ठयन्तः[1] ॥ लोपः १।१॥ प्रातिपदिक, इति लुप्तषष्ठीकम् ॥ अन्तस्य ६।१॥ अनु०—पदस्य ॥ अर्थः—प्रातिपदिकस्य पदस्य योऽन्त्यो नकारस्तस्य लोपो भवति ॥ उदा०—राजा, राजभ्याम्, राजभिः । राजता, राजतरः, राजतमः ॥

भाषार्थः—[प्रातिपदिकान्तस्य] प्रातिपदिक पद के अन्त [नलोपः] नकार का लोप होता है ॥ उदाहरणों में स्वादिष्व० (१।४।१७) से राजन् की पद-संज्ञा भ्याम् आदि परे रहते है, सो प्रातिपदिक पद के अन्त न् का लोप हो गया । सिद्धियां परि० १।४।१७ में देखें ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।२।८ तक जायेगी ॥

न ङिसम्बुद्धयोः ॥८।२।८॥

न अ० ॥ङिसम्बुद्धयोः ७।२॥ स०—ङिश्च सम्बुद्धिश्च ङिसम्बुद्धी, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य, पदस्य ॥ अर्थः—प्रातिपदिकस्य पदस्य योऽन्त्यो नकारस्तस्य ङौ सम्बुद्धौ च परतो लोपो न भवति ॥ उदा०—ङौ—आर्द्रे चर्मन्, रोहिते चर्मन् (काठ० २४।२) । सम्बुद्धौ—हे राजन्, हे तक्षन् ॥

भाषार्थः—प्रातिपदिक पद के अन्त का जो नकार उसको [ङिसम्बुद्धयोः] ङि तथा सम्बुद्धि परे रहते लोप [न] नहीं होता ॥ उदाहरण में चर्मन् के ङि का सुपां सुलुक्० (७।१।३९) से लुक् हो गया है । हे राजन् आदि में सु का हल्ङ्यादिलोप हो गया है ॥ पूर्वसूत्र से नकारलोप की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया है ॥

मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः ॥८।२।९॥

मात् ५।१॥ उपधायाः ५।१॥ च अ० ॥ मतोः ६।१॥ वः १।१॥ अयवादिभ्यः ५।३॥ स०—मश्च अश्च मम्, तस्मात् समाहारद्वन्द्वः । यव आदियेषां ते यवादयः, बहुव्रीहिः । न यवादयोऽयवादयः, तेभ्यः नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—पदस्य ॥ अर्थः—मकारान्ताद् मकारोपधाद् अवर्णान्तादवर्णोपधाच्च प्रातिपदिकात् उत्तरस्य मतोर्व इत्ययमादेशो भवति, यवादिभ्यस्तु उत्तरस्य न भवति ॥ उदा०—मकारान्तात्—किंवान्, शंवान् । मकारोपधात्—शमीवान्, दाडिमीवान् । अवर्णान्तात्—वृक्षवान्, प्लक्षवान्, खट्वावान्, मालावान् । अवर्णोपधात्—पयस्वान्, यशस्वान्, भास्वान् ॥

भाषार्थः—[मात्] मकारान्त एवं अवर्णान्त [च] तथा मकार एवं अवर्ण

१. नस्य लोपो नलोप इत्यसमर्थसमासो भवति । नकारस्य 'प्रातिपदिकान्तस्य' पदेन सहान्वयात्, अतएव पृथक् पदं कल्प्यते ॥

[उपधायाः] उपधावाले प्रातिपदिक से उत्तर [मतोः] मतुप् को [वः] वकारादेश होता है, किन्तु [अयवादिभ्यः] यवादि शब्दों से उत्तर मतुप् को व नहीं होता ॥ यहाँ 'मात्' को सामर्थ्य से 'उपधायाः' का विशेषण बनाना है, एवं स्वतन्त्र रूप से "मकारान्त तथा अवर्णान्त" ऐसा भी अर्थ करना अभीष्ट है। तद्वत् उदाहरण प्रत्येक के पृथक्-पृथक् दर्शा दिये हैं॥ मतुप् का 'मत्' शेष रहता है। त् का भी संयोगान्त-लोप हो जाता है। सर्वत्र तस्मादित्युत्तरस्य, आदेः परस्य (१।१।६६-५३) के नियम से मतुप् के म को ही व् होगा॥ सिद्धियाँ भाग २, सूत्र ५।२।६४ में देखें॥ पयस् यशस् को 'वान्' परे तसौ मत्वर्थे (१।४।१९) से भ-संज्ञा हो जाती है, पदसंज्ञा नहीं होती। अतः ससजुषो रुः (८।२।६६) नहीं लगा॥

यहाँ से 'मतोः' की अनुवृत्ति ८।२।१६ तक, तथा 'वः' की ८।२।१५ तक जायेगी॥

झयः ॥८।२।१०॥

झयः ५।१॥ अनु०—मतोर्वः, पदस्य॥ अर्थः—झयन्तादुत्तरस्य मतोर्व इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—अग्निचित्वान् ग्रामः। उदश्वित्वान् घोषः। विद्युत्वान् बलाहकः। इन्द्रो मरुत्वान्। दृषद्वान् देशः॥

भाषार्थः—[झयः] झयन्त प्रत्याहार से उत्तर मतुप् को वकारादेश हो जाता है॥ विद्युत्वान् उदश्वित्वान् की सिद्धि परि० १।४।१९ में देखें, तद्वत् अन्य सिद्धियां भी हैं॥ विद्युत् आदि शब्द झय् प्रत्याहार अन्तवाले हैं ही॥

संज्ञायाम् ॥८।२।११॥

संज्ञायाम् ७।१॥ अनु०—मतोर्वः, पदस्य॥ अर्थः—संज्ञायां विषये मतोर्व इत्ययमादेशो भवति॥ उदा०—अहीवती, कपीवती, ऋषीवती, मुनीवती॥

भाषार्थः—[संज्ञायाम्] संज्ञा-विषय में मतुप् को वकारादेश होता है॥ उदाहरणों में नद्यां मतुप् (४।२।८४) से मतुप्, शरादीनां च (६।३।११८) से अहि कपि आदि को दीर्घ, तथा उगितश्च (४।१।६) से मतुबन्त को ङीप् हुआ है॥

यहाँ से 'संज्ञायाम्' की अनुवृत्ति ८।२।१३ तक जायेगी॥

आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वच्चर्मण्वती ॥८।२।१२॥

आसन्दीवत्० सर्वाण्यत्र चर्मण्वतीं विहाय लुप्तप्रथमान्तानि पदानि पृथक्-पृथक् निर्दिष्टानि॥ चर्मण्वती १।१॥ अनु०—संज्ञायाम्॥ अर्थः—आसन्दीवत्, अष्ठीवत्, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, चर्मण्वती इत्येतानि संज्ञायां विषये निपात्यन्ते॥ मतोर्वत्वं तु पूर्वेणैव सिद्धमादेशार्थानि निपातनानि॥ आसन्दीवत् इत्यत्र आसनशब्दस्य

'आसन्दी' भावो निपात्यते। अष्ठीवत् इत्यत्र अस्थिशब्दस्य 'अष्ठी' भावो निपात्यते। चक्रीवत् इत्यत्र चक्रशब्दस्य 'चक्री' भावः। कक्षीवत् इत्यत्र कक्ष्याशब्दस्य सम्प्रसारणं निपात्यते। कृते च सम्प्रसारणे हलः (६।४।२) इति दीर्घः। रुमण्वत् इत्यत्र लवण-शब्दस्य 'रुमण्' भावो निपात्यते। चर्मण्वती इत्यत्र चर्मणो नलोपाभावो णत्वञ्च निपात्यते॥ उदा०—आसन्दीवान् ग्रामः, आसन्दीवदहिस्थलम्। संज्ञाविषयादन्यत्र—आसनवान्। अष्ठीवान्। अस्थिमान् इत्येवान्यत्र। चक्रीवान् राजा। अन्यत्र चक्रवान्। कक्षीवान्नाम ऋषिः। कक्ष्यावान् इत्येवान्यत्र। रुमण्वान्। अन्यत्र—लवणवान्। चर्मण्वती नाम नदी। अन्यत्र—चर्मवती॥

भाषार्थः—संज्ञा-विषय में [आसन्दीवत्...ण्वती] आसन्दीवत्, अष्ठीवत्, चक्रीवत्, कक्षीवत्, रुमण्वत्, चर्मण्वती ये शब्द निपातन किये जाते हैं॥ पूर्वसूत्र से ही संज्ञा-विषय होने से सर्वत्र मतुप् को वत्व सिद्ध था, आदेशार्थ यह निपातन है। इस प्रकार आसन्दीवत् शब्द में आसन शब्द को आसन्दी आदेश निपातित है। अष्ठी-वत् में अस्थि शब्द को अष्ठी आदेश निपातन है। चक्रीवत् में चक्र को चक्रीभाव निपातन है। कक्षीवत् में कक्ष्या शब्द को सम्प्रसारण निपातित है। सम्प्रसारण कर लेने पर हलः (६।४।२) से दीर्घत्व हो जायेगा। रुमण्वत् यहाँ लवण शब्द को रुमण् भाव निपातित है। चर्मण्वती, यहाँ चर्मन् शब्द के नकारलोप का अभाव एवं णत्व निपातित है। क्योंकि मतुप् परे रहते पद संज्ञा होने से नलोपः प्राति० (८।२।७) से नकारलोप प्राप्त था, एवं रषाभ्यां नो णः० (८।४।१) से प्राप्त णत्व का पदान्तस्य (८।४।३६) से प्रतिषेध प्राप्त था। अतः ये विधियां न हो जायें, इसलिये निपातन कर दिया॥ सु विभक्ति परे रहते आसन्दीवान् आदि प्रयोग बन ही जायेंगे॥

उदन्वानुदधौ च॥८।२।१३॥

उदन्वान् १।१॥ उदधौ ७।१॥ च अ०॥ अनु०—संज्ञायाम्॥ अर्थः—उदन्वान् इति निपात्यते, उदकशब्दस्य उदन्भावो मतौ परतः, उदधावर्थे संज्ञायां विषये च निपात्यतेऽत्र॥ उदा०—संज्ञायाम्—उदन्वान् नाम ऋषिः। उदधौ—उदन्वान्॥

भाषार्थः—[उदन्वान्] उदन्वान् शब्द [उदधौ] उदधि [च] तथा संज्ञा-विषय में निपातन है। मतुप् परे रहते उदक शब्द को उदन् भाव यहाँ निपातित है॥ 'उदधि सामान्यरूप से समुद्र घट मेघ आदि का वाचक है। परन्तु उदधि का सामान्यार्थ उदकं धीयते यत्र मानकर उदन्वान् का भी सामान्यार्थ में प्रयोग देखा जाता है॥'

राजन्वान् सौराज्ये ॥८।२।१४॥

राजन्वान् १।१॥ सौराज्ये ७।१॥ स०—शोभनो राजा यस्मिन् देशे स सुराजा, बहुव्रीहिः । तस्य कर्म सौराज्यम्, ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्, नस्तद्धिते (६।४।१४४) इति टिलोपश्च ॥ अर्थः—राजन्वान् इति निपात्यते सौराज्ये गम्यमाने । नलोपाभावोऽत्र निपातनेन भवति ॥ उदा०—शोभनो राजा यस्मिन् स राजन्वान् देशः । राजन्वती पृथिवी । 'राजवान्' अन्यत्र भवति ॥

भाषार्थः—[राजन्वान्] राजन्वान् शब्द को [सौराज्ये] सौराज्य गम्यमान होने पर निपातन किया है ॥ मतुप् परे रहते राजन् के नकार का लोप ८।२।७ से प्राप्त था, उसका अभाव यहाँ निपातित है । अथवा नलोप करके नुट् आगम यहाँ निपातित है ॥ अच्छे राजा का कर्म सौराज्य कहाता है । अतः राजन्वान् वह देश कहाता है, जिसका राजा श्रेष्ठ हो ॥

छन्दसीरः ॥८।२।१५॥

छन्दसि ७।१॥ इरः ५।१॥ स०—इश्च रश्च इर्, तस्मात् ... समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—मतोर्वः ॥ अर्थः—इवर्णान्तात् रेफान्ताच्चोत्तरस्य मतोर्वत्वं भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—इवर्णान्तात्—त्रिवती याज्यानुवाक्या भवति । हरिवो मेदिनं त्वा (ऋ० खि० पा० १०।१२८।१) । अधिपतिवती जुहोति । चरुरग्निवानिव (ऋ० ७।१०४।२) । आरेवानेतु मा विशत् । सरस्वतीवान् भारतीवान् (ऐ० ब्रा० २।२४)। दधीवांश्चरुः । रेफान्तात्—गीर्वान्, धूर्वान्, आशीर्वान् ॥

भाषार्थः—[इरः] इवर्णान्त तथा रेफान्त शब्दों से उत्तर [छन्दसि] वेद-विषय में मतुप् को वकारादेश होता है ॥ हरिवो मेदिनम्, यहाँ हरि इकारान्त शब्द से मतुप् होकर—हरिमन्त् सु रहा । हल्ङ्यादिलोप, संयोगान्तलोप, एवं प्रकृत सूत्र से वत्व होकर—हरिवन् बना । अब मतुवसो रु० (८।३।१) से हरिवन् के न् को (१।१।५१) रु हो गया । पश्चात् मेदिनम् का 'म्' परे रहते हशि च (६।१।११०) से रु को उत्व, एवं आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर 'हरिवो' बन गया । यहाँ हशि च की दृष्टि में संयोगान्तलोप संयोगान्तस्य लोपे रोरुत्वे सिद्धो वक्तव्यः (वा० ८।२।३) इस वार्त्तिक से सिद्ध ही रहता है । नहीं तो असिद्ध होने पर (८।२।१) त् परे माना जाता, जो कि हश् में नहीं है । तो हशि च से उत्व न हो सकता, ऐसा जानना चाहिये ॥ रेवान्, यहाँ रयि को मतुप् परे रहते रयेर्मतौ बहुलम् (वा० ६।१।३६) इस वार्त्तिक से सम्प्रसारण होकर 'र् इ वन्त्' रहा । आद्गुणः (६।१।८४) लगकर रेवान् बन गया ॥ धूः की सिद्धि परि० ३।२।१७७ में की है । सो यहाँ मतुप् परे रहते

विसर्जनीय न होने से पूर्ववत् बन गया। गृ तथा आङ् पूर्वक शासु से सम्पदादिभ्यः क्विप् (वा० ३।३।९४) से क्विप् प्रत्यय हुआ है। गृ को ऋत इद्धातोः (७।१।१००) से इत्व रपरत्व, एवं र्वोरुपधायाः० (८।२।७६) से दीर्घ होकर गीर् बना। मतुप् आकर गीर्वान् बन गया। आशास् क्विप्, यहाँ शास इत्व आशासः क्वौ० (आ० वा० ६।४।३४) से शास् की उपधा को इत्व होकर आशिस् रहा। स् को रुत्व (८।२।६६) से, एवं पूर्ववत् दीर्घत्व, तथा मतुप् होकर—आशीर्वान् बन गया ॥८॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।२।१७ तक जायेगी ॥

अनो नुट् ॥८।२।१६॥

अनः ५।१॥ नुट् १।१॥ अनु०—छन्दसि, मतोः ॥ अर्थः—छन्दसि विषये ऽनन्तादुत्तरस्य मतोर्नुडागमो भवति ॥ उदा०—अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायः (ऋ० १०।७१।७)। अस्थन्वन्तं यदनस्था बिभर्ति (ऋ० १।१६४।४)। अक्षण्वता लाङ्गलेन। शीर्षण्वती। मूर्द्धन्वती ॥

भाषार्थः—वेद-विषय में [अनः] अन् अन्तवाले शब्द से उत्तर मतुप् को [नुट्] नुट् आगम होता है ॥ अक्षण्वता अस्थन्वन्तम् की सिद्धि सूत्र ७।१।७६ में देखें। अक्षण्वन्तः भी तद्वत् जानें। शीर्षन् शब्द शीर्षंश्छन्दसि (६।१।५९) सूत्र में निपातित है। उसको मतुप् परे रहते नुट् होकर पश्चात् अक्षण्वता के समान ही नलोपादि हो गये। उगितश्च (४।१।६) से ङीप् होकर शीर्षण्वती बन गया। इसी प्रकार मूर्द्धन्वती बन गया ॥

यहाँ से 'नुट्' की अनुवृत्ति ८।२।१७ तक जायेगी ॥

नाद् घस्य ॥८।२।१७॥

नात् ५।१॥ घस्य ६।१॥ अनु०—नुट्, छन्दसि ॥ अर्थः—नकारान्तादुत्तरस्य घसंज्ञकस्य छन्दसि विषये नुडागमो भवति ॥ उदा०—सुपथिन्तरः। दस्युहन्तमम् (ऋ० ६।१६।१५, ८।३९।८, १०।१०७।२) ॥

भाषार्थः—[नात्] नकारान्त शब्द से उत्तर [घस्य] घसंज्ञक को वेद-विषय में नुट् आगम होता है ॥ सुपथिन् शब्द से तरप् (५।३।५७) प्रत्यय होकर तरप् घ (१।१।२१) को नुट् आगम, तथा सुपथिन् के न् का लोप पूर्ववत् होकर सुपथिन्तरः बन गया। दस्यु हतवान् =दस्युहन् शब्द से तमप् होकर इसी प्रकार दस्युहन्तमम् बन गया ॥

कृपो रो लः ॥८।२।१८॥

कृपः ६।१॥ रः ६।१॥ लः १।१॥ अर्थः—कृपेर्धातोः रेफस्य लकारादेशो भवति ॥ उदा०—क्लृप्ता, क्लृप्तारौ, क्लृप्तारः । क्लृप्तः, क्लृप्तवान् ॥

भाषार्थः—[कृपः] कृप धातु के [रः] रेफ को [लः] लकारादेश होता है ॥ 'रः' से यहाँ सामान्यरूप से रेफ लिया गया है। सो ऋकार में जो रेफश्रुति, एवं ऋ को गुण रपरत्व होकर जो रेफ, दोनों को लश्रुति वा लत्व होता है ॥ सिद्धियां लुटि च क्लृपः (१।३।९३) सूत्र में देखें। गुण होकर करप् ता=कल्प्ता बना। निष्ठा में जहां गुण नहीं हुआ, वहां ऋ की रेफश्रुति को लश्रुति होकर क्लृप्तः क्लृप्तवान् बना ॥

यहाँ से 'रो लः' की अनुवृत्ति ८।२।२२ तक जायेगी ॥

उपसर्गस्यायतौ ॥८।२।१९॥

उपसर्गस्य ६।१॥ अयतौ ७।१॥ अनु०—रो लः ॥ अर्थः—अयतौ परत उपसर्गस्य यो रेफस्तस्य लकारादेशो भवति ॥ उदा०—प्लायते, पलायते, पल्ययते ॥

भाषार्थः—[अयतौ] अय धातु के परे रहते [उपसर्गस्य] उपसर्ग का जो रेफ उसको लकारादेश (=लत्व) होता है ॥ प्र अयते=प्ल अयते=प्लायते। परा अयते=पलायते। परि अयते,यणादेश तथा लत्व होकर=पल्ययते बन गया ॥

ग्रो यङि ॥८।२।२०॥

ग्रः ६।१॥ यङि ७।१॥ अनु०—रो लः ॥ अर्थः—गृ इत्येतस्य धातोः रेफस्य लत्वं भवति यङि परतः ॥ उदा०—निजेगिल्यते, निजेगिल्येते, निजेगिल्यन्ते ॥

भाषार्थः—[ग्रः] गृ धातु के रेफ को [यङि] यङ् परे रहते लत्व होता है ॥ सिद्धि भाग १, परि० ३।१।२४ में देखें ॥

यहाँ से 'ग्रः' की अनुवृत्ति ८।२।२१ तक जायेगी ॥

अचि विभाषा ॥८।२।२१॥

अचि ७।१॥ विभाषा १।१॥ अनु०—ग्रः, रो लः ॥ अर्थः—अजादौ प्रत्यये परतो गृ इत्येतस्य रेफस्य विभाषा लकारादेशो भवति ॥ उदा०—निगिरति, निगिलति। निगरणम्, निगलनम्। निगारकः, निगालकः ॥

भाषार्थः—[अचि] अजादि प्रत्यय परे रहते गृ धातु के रेफ को [विभाषा] विकल्प करके लत्व होता है ॥ गृ धातु तुदादिगणस्थ है, अतः श विकरण(३।१।७७)

होकर—'नि गृ अ ति' रहा। अपित् सार्वधातुक परे होने से गुण न होकर ऋत इद्धातोः (७।१।१००) से इत्व होकर—नि गिर् अ ति रहा। अब यहाँ अच् परे है, सो पक्ष में लत्व एवं पक्ष में न होकर—निगिरति निगिलति बन गया। ल्युट् परे रहते निगरणम् निगलनम्, तथा ण्वुल् परे वृद्धि (७।२।११५ से) होकर निगारकः निगालकः बन गया ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ८।२।२२ तक जायेगी ॥

परेश्च घाङ्कयोः ॥८।२।२२॥

परेः ६।१॥ च अ०॥ घाङ्कयोः ७।२॥ स०—घा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—विभाषा, रो लः ॥ अर्थः—परि इत्येतस्य च यो रेफस्तस्य घशब्दे अङ्कशब्दे च परतो विकल्पेन लत्वं भवति॥ उदा०—घशब्दे—परिघः, पलिघः। अङ्कशब्दे—परिगतोऽङ्कः=पर्यङ्कः, पल्यङ्कः ॥ अङ्कशब्दस्य साहचर्यात् घशब्दो गृह्यते, न तरप्तमपोः संज्ञा ॥

भाषार्थः—[परेः] परि के रेफ को [घाङ्कयोः] घ तथा अङ्क शब्द परे रहते विकल्प से लत्व होता है ॥ अङ्क शब्द के साहचर्य से 'घ' से यहां घ शब्दस्वरूप का ग्रहण है, घ-संज्ञक तरप् तमप् प्रत्ययों का नहीं। परिघः पलिघः में परौ घः (३।३।८४) से अप् प्रत्यय, तथा हन् को घ आदेश, एवं टि-लोप हुआ है। अकि धातु को इदित्वात् नुम् तथा पचाद्यच् होकर—'अङ्कः' बना है। पश्चात् कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से परि के साथ समास, एवं यणादेश होकर—पर्यङ्कः पल्यङ्कः बन गया ॥

संयोगान्तस्य लोपः ॥८।२।२३॥

संयोगान्तस्य ६।१॥ लोपः १।१॥ स०—संयोगोऽन्ते यस्य तत् संयोगान्तं, तस्य, बहुव्रीहिः ॥ अनु०—पदस्य ॥ अर्थः—संयोगान्तस्य पदस्य लोपो भवति ॥ उदा०—गोमान्, यवमान्, कृतवान्, हतवान् ॥

भाषार्थः—[संयोगान्तस्य] संयोग अन्तवाले पद का [लोपः] लोप होता है ॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् का ही लोप होगा। कृतवान् की सिद्धि परि० १।१।५ में देखें। तद्वत् हन् धातु से अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७) से अनुनासिक-लोप होकर—हतवान् बना है। गोमान् यवमान् में मतुप् प्रत्यय हुआ है। हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७) से संयोग-संज्ञा होती है ॥

यहाँ से 'संयोगान्तस्य' की अनुवृत्ति ८।२।२४ तक, तथा 'लोपः' की ८।२।२९ तक जायेगी ॥

रात्सस्य ॥८।२।२४॥

रात् ५।१॥ सस्य ६।१॥ अनु०—संयोगान्तस्य लोपः, पदस्य ॥ अर्थः—संयोगान्तस्य पदस्य यो रेफस्तस्मादुत्तरस्य सकारस्य लोपो भवति ॥ नियमार्थोऽयमारम्भः। रात् सस्यैव लोपो भवति नान्यस्य ॥ उदा०—मातुः, पितुः। गोभिरक्षाः (ऋ० ६।१०७।६)। प्रत्यञ्चमत्साः (ऋ० १०।२८।४) ॥

भाषार्थः—संयोग अन्तवाले पद का जो [रात्] रेफ उससे उत्तर [सस्य] सकार का लोप होता है ॥ पूर्व सूत्र से ही संयोगान्त पद का लोप सिद्ध था, पुनर्वचन नियमार्थ है। अर्थात्—रेफ से उत्तर यदि संयोगान्तलोप हो, तो सकार का ही हो, किसी अन्य का नहीं। अतः ऊर्क् आदि में रेफ से उत्तर ककार आदि का लोप नहीं होता ॥

मातृ पितृ शब्द से ङस् अथवा ङसि विभक्ति आकर मातुः पितुः बना है। सिद्धि-प्रकार होतुः के समान ६।१।१०७ सूत्र में देखें॥ अक्षाः अत्साः की सिद्धि ७।३।६७ सूत्र में देखें ॥

यहाँ से 'सस्य' की अनुवृत्ति ८।२।२८ तक जायेगी ॥

धि च ॥८।२।२५॥

धि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—सस्य, लोपः ॥ अर्थः—धकारादौ च प्रत्यये परतः सकारस्य लोपो भवति ॥ उदा०—अलविध्वम्, अलविढ्वम्। अपविध्वम्, अपविढ्वम् ॥

भाषार्थः—[धि] धकारादि प्रत्यय के परे रहते [च] भी सकार का लोप होता है ॥ अलविध्वम्, यहाँ आत्मनेपद में अट् लू इट् सिच् ध्वम्, गुण होकर—अ लो इ स् ध्वम्=अ लव् इ स् ध्वम् रहा। ध्वम् धकारादि प्रत्यय के परे रहते सिच् के स् का लोप होकर—अलविध्वम् बन गया। विभाषेटः (८।३।७९) से पक्ष में ध्वम् के ध् को मूर्धन्य आदेश होकर—अलविढ्वम् बन गया। इसी प्रकार अपविध्वम् अपविढ्वम् में जानें ॥

झलो झलि ॥८।२।२६॥

झलः ५।१॥ झलि ७।१॥ अनु०—सस्य, लोपः ॥ अर्थः—झल उत्तरस्य सकारस्य झलि परतो लोपो भवति ॥ उदा०—अभित्त, अभित्थाः। अच्छित्त, अच्छित्थाः। अवात्ताम्, अवात्त ॥

भाषार्थः—[झलः] झल् से उत्तर सकार का लोप होता है [झलि] झल् परे रहते ॥ भिदिर् छिदिर् से लुङ् आत्मनेपद में अ भिद् स् त, यहाँ झल् से उत्तर

सिच् का स् है, तथा झल् परे भी है। अतः स् लोप, तथा खरि च (८।४।५४) से चर्त्व होकर अभित्त अच्छित्त बन गया। अच्छित्त में छे च (६।१।१७१) से तुक् आगम, एवं श्चुत्व हुआ है। थास् परे रहते अभित्थाः बना। वस् से इसी प्रकार तस् को ताम् (३।४।१०१ से) होकर, तथा 'स्' लोप सः स्यार्धधातुके (७।४।४९) की दृष्टि में असिद्ध माना जाने से वस् के स् को त् होकर आवात्ताम् बना है। वदव्रज० (७।२।३) से यहां वृद्धि भी होती है। इसी प्रकार 'थ' को ३।४।१०१ से ही त होकर अवात्त बना है॥

यहाँ से 'झलि' की अनुवृत्ति ८।२।२८ तक जायेगी॥

ह्रस्वादङ्गात् ॥८।२।२७॥

ह्रस्वात् ५।१॥ अङ्गात् ५।१॥ अनु०—झलि, सस्य, लोपः॥ अर्थः—ह्रस्वान्तादङ्गादुत्तरस्य सकारस्य झलि परतो लोपो भवति॥ उदा०—अकृत, अकृथाः। अहृत, अहृथाः॥

भाषार्थः—[ह्रस्वात्] ह्रस्वान्त [अङ्गात्] अङ्ग से उत्तर सकार का झल् परे रहते लोप होता है॥ सिद्धि उश्च (१।२।१२) सूत्र में देखें॥

इट ईटि ॥८।२।२८॥

इटः ५।१॥ ईटि ७।१॥ अनु०—सस्य, लोपः॥ अर्थः—इट उत्तरस्य सकारस्य लोपो भवति ईटि परतः॥ उदा०—अदेवीत्, असेवीत्, अकोषीत्, अमोषीत्॥

भाषार्थः—[इटः] इट् से उत्तर सकार का लोप होता है; [ईटि] ईट् परे रहते॥ अदेवीत् आदि में नेटि (७।२।४) से वृद्धि का प्रतिषेध होता है। सिद्धि प्रकार परि० १।१।१ के अलावीत् के समान जानें॥

स्कोः संयोगाद्योरन्ते च ॥८।२।२९॥

स्कोः ६।२॥ संयोगाद्योः ६।२॥ अन्ते ७।१॥ च अ०॥ स०—सश्च कश्च स्कौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः। संयोगस्य आदी संयोगादी, तयोः ... षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—झलि, लोपः, पदस्य॥ अर्थः—पदान्ते झलि च परतो यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपो भवति॥ उदा०—सकारस्य—लग्नः, लग्नवान्, साधुलक्। ककारस्य—तक्षः—तष्टः, तष्टवान्, काष्ठतट्॥

भाषार्थः—पद के [अन्ते] अन्त में [च] तथा झल् परे रहते जो [संयोगाद्योः] संयोग उसके आदि के [स्कोः] सकार तथा ककार का लोप होता है॥ लग्नः लग्नवान् की सिद्धि सूत्र ७।२।१४ में देखें। यहां झल् निष्ठा परे है॥ साधुलक्, यहां ओलस्जी से क्विप् (३।२।७६) हुआ है। शेष पूर्ववत् है। यहां पदान्त में संयोग है,

अतः उसके आदि स् का लोप हुआ है। तक्ष् धातु के आदि 'क्' का लोप एवं ष्टु-त्व होकर निष्ठा में तष्टः तष्टवान्, एवं पूर्ववत् क्विप् में काष्ठ उपपद रहते झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से 'ष्' को जश्त्व 'ड्', एवं वाऽवसाने (८।४।५५) से चर्त्व 'ट्' होकर 'काष्ठतट्' बना है ॥

यहाँ से 'अन्ते च' की अनुवृत्ति ८।२।३८ तक जायेगी ॥

चोः कुः ॥८।२।३०॥

चोः ६।१॥ कुः १।१॥ अनु०—झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ अर्थः—चवर्गस्य स्थाने कवर्गादेशो भवति, झलि परतः पदान्ते च ॥ उदा०—झलि—पक्ता, पक्तुम्, पक्तव्यम् । वक्ता, वक्तुम्, वक्तव्यम् । पदान्ते—ओदनपक्, वाक् ॥

भाषार्थः—[चोः] चवर्ग के स्थान में [कुः] कवर्ग आदेश होता है, झल् परे रहते या पदान्त में ॥ वाक् की सिद्धि परि० १।२।४१ में देखें । शेष सिद्धियां स्पष्ट ही हैं ॥

हो ढः ॥८।२।३१॥

हः ६।१॥ ढः १।१॥ अनु०—झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ अर्थः—हकारस्य ढकारादेशो भवति, झलि परतः पदान्ते च॥ उदा०—सोढा, सोढुम्, सोढव्यम् । वोढा, वोढुम्, वोढव्यम् । पदान्ते—तुराषाट्, प्रष्ठवाट्, दित्यवाट् ॥

भाषार्थः—[हः] हकार के स्थान में [ढः] ढकार आदेश होता है, झल् परे रहते या पदान्त में ॥ सोढा वोढा आदि में सहिवहोरो० (६।३।११०) से धातु के अवर्ण को ओत् हुआ है, सिद्धि वहीं देखें । तुराषाट् प्रष्ठवाट् की सिद्धि सूत्र ३।२।६३—६४ में देखें ॥

यहाँ से 'हः' की अनुवृत्ति ८।२।३५ तक जायेगी ॥

दादेर्धातोर्घः ॥८।२।३२॥

दादेः ६।१॥ धातोः ६।१॥ घः १।१॥ स०—दकार आदिर्यस्य स दादिः, तस्य···बहुव्रीहिः ॥ अनु०—हः, झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ अर्थः—दकारादेर्धातोर्हकारस्य स्थाने घकारादेशो भवति, झलि परतः पदान्ते च ॥ उदा०—दह—दग्धा, दग्धुम्, दग्धव्यम् । दुह—दोग्धा, दोग्धुम्, दोग्धव्यम् । पदान्ते—काष्ठधक्, गोधुक् ॥

भाषार्थः—[दादेः] दकार आदि में है जिस [धातोः] धातु के उसके हकार के स्थान में [घः] घकार आदेश होता है, झल् परे रहते या पदान्त में ॥ पूर्व सूत्र से ढकारादेश प्राप्त था, घकार-विधान तदपवाद है ॥ गोधुक् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें । इसी प्रकार दह धातु से क्विप् (३।२।७६ से) होकर काष्ठधक् बनेगा ।

बग्धा आदि में पूर्ववत् झषस्तथो० (८।२।४०) से त् को ध्, तथा झलां जश् झशि (८।४।५२) से घ् को जश्त्व ग् हुआ है। शेष कार्य तृजन्तादि सिद्धियों के समान हैं॥

यहाँ से 'घः' की अनुवृत्ति ८।२।३३ तक, तथा 'धातोः' की ८।२।३८ तक जायेगी॥

वा द्रुहमुहष्णुहष्णिहाम् ॥८।२।३३॥

वा अ० ॥ द्रुह...हाम् ६।३॥ स०—द्रुहश्च मुहश्च ष्णुहश्च ष्णिह् च द्रुह...ष्णिहः, तेषाम्...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोर्घः, हः, झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ अर्थः—द्रुह, मुह, ष्णुह, ष्णिह इत्येतेषां धातूनां हकारस्य स्थाने विकल्पेन घकारादेशो भवति, झलि परतः पदान्ते च ॥ उदा०—द्रुह—द्रोग्धा, द्रोढा। मित्रध्रुक्, मित्रध्रुट्। मुह—उन्मोग्धा, उन्मोढा। उन्मुक्, उन्मुट्। ष्णुह—उत्स्नोग्धा, उत्स्नोढा। उत्स्नुक्, उत्स्नुट्। ष्णिह—स्नेग्धा, स्नेढा। स्निक्, स्निट्॥

भाषार्थः—[द्रुह...ष्णिहाम्] द्रुह जिघांसायाम्, मुह वैचित्ये, ष्णुह उद्गिरणे, ष्णिह प्रीतौ इन धातुओं के हकार के स्थान में [वा] विकल्प से घकारादेश होता है, झल् परे रहते तथा पदान्त में॥ द्रुह धातु दकारादि है। अतः उसे नित्य घत्व पूर्व सूत्र से प्राप्त था, तथा अन्य धातुओं को अप्राप्त ही था, विकल्प विधान कर दिया। विकल्प कहने से पक्ष में यथाप्राप्त हो ढः (८।२।३१) से ढ होता है॥ घ करने पर पूर्ववत् द्रोग्धा आदि, एवं ढ करने पर धत्व ष्टुत्वादि करके द्रोढा आदि रूप बनेंगे। मित्रध्रुक् की सिद्धि ३।२।६१ में देखें। ढ करने पर मित्रध्रुट् भी इसी प्रकार बनेगा। सभी सिद्धियाँ इसी प्रकार हैं। पदान्तवाले उदाहरणों में सर्वत्र क्विप् (३।२।७६) हुआ जानें। ष्णुह ष्णिह के ष् को धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से स् होता है। पश्चात् न् को ष् के संयोग से जो ण् बना था, उसे न् हो जायेगा॥

नहो धः ॥८।२।३४॥

नहः ६।१॥ धः १।१॥ अनु०—धातोः, हः, झलि, अन्ते च, पदस्य ॥ अर्थः—नहो हकारस्य स्थाने धकारादेशो भवति, झलि परतः पदान्ते च ॥ उदा०—नद्धम्, नद्धुम्, नद्धव्यम्। उपानत्, परीणत्॥

भाषार्थः—[नहः] णह बन्धने धातु के हकार को [धः] धकारादेश होता है, झल् परे रहते या पदान्त में॥ णो नः (६।१।६३) से णह् के ण को न होता है। नध् त, त को झषस्त० (८।२।४०) से ध, तथा झलां जश्० (८।४।५२) से पूर्व के ध् को जश्त्व द् होकर नद्धम् आदि रूप बन गये। उपानत् परीणत् की सिद्धि ६।३।११४ में देखें॥

आहस्थः ॥८।२।३५॥

आहः ६।१॥ थः १।१॥ अनु०—धातोः, हः, झलि ॥ अर्थः—आहो हकारस्य थकारादेशो भवति झलि परतः ॥ उदा०—किमात्थ, इदमात्थ ॥

भाषार्थः—[आहः] आह के हकार के स्थान में [थः] थकारादेश होता है, झल् परे रहते ॥ आत्थ की सिद्धि परि० ३।४।८४ भाग १ में देखें ॥

व्रश्चभ्रस्जसृजमृजयजराजभ्राजच्छशां षः ॥८।२।३६॥

व्रश्च···च्छशाम् ६।३॥ षः १।१॥ स०—व्रश्चश्च भ्रस्जश्च सृजश्च मृजश्च यजश्च राजश्च भ्राजश्च छश्च शश्च व्रश्च···शः, तेषाम्···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, झलि, अन्ते अ, पदस्य ॥ अर्थः—ओव्रश्चू, भ्रस्ज, सृज, मृजूष्, यज, राजृ, टुभ्राजृ इत्येतेषां, छकारान्तानां शकारान्तानाञ्च षकार आदेशो भवति, झलि परतः पदान्ते च ॥ उदा०—ओव्रश्चू—व्रष्टा, व्रष्टुम्, व्रष्टव्यम्, मूलवृट् । भ्रस्ज—भ्रष्टा, भ्रष्टुम्, भ्रष्टव्यम्, धानाभृट् । सृज—स्रष्टा, स्रष्टुम्, स्रष्टव्यम्, रज्जुसृट् । मृजूष्—मार्ष्टा, मार्ष्टुम्, मार्ष्टव्यम्, कंसपरिमृट् । यज—यष्टा, यष्टुम्, यष्टव्यम्, उपयट् । राजृ—सम्राट्, स्वराट्, विराट् । टुभ्राजृ—विभ्राट् । छकारान्तानाम्—प्रच्छ—प्रष्टा, प्रष्टुम्, प्रष्टव्यम्, शब्दप्राट् । शकारान्तानाम्—लिश्—लेष्टा, लेष्टुम्, लेष्टव्यम्, लिट् । विश्—वेष्टा, वेष्टुम्, वेष्टव्यम्, विट् ॥

भाषार्थः—[व्रश्च···शाम्] ओव्रश्चू, भ्रस्ज, सृज, मृजूष्, यज, राजृ, टुभ्राजृ इन धातुओं को, तथा छकारान्त एवं शकारान्त धातुओं को भी झल् परे रहते, एवं पदान्त में [षः] षकारादेश होता है । अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् को ष् सर्वत्र होगा ॥ राजि भ्राजि का सूत्र में पदान्तार्थ ही ग्रहण है, अतः झल् परे का उदाहरण नहीं दिया ॥ स्रष्टा की सिद्धि सूत्र ६।१।५७ में देखें । मार्ष्टा मार्ष्टुम् मार्ष्टव्यम् में मृजेर्वृद्धिः (७।२।११४) से वृद्धि हुई है । शेष ष्टुत्वादि कार्य सब में समान हैं । व्रष्टा, यहाँ व्रश्च् तृच् इस स्थिति में ऊदित् होने से जब पक्ष में इट् का अभाव (७।२।४४) रहा, तो उस पक्ष में च् को षत्व कर लेने पर—'व्रस् ष् तृ' रहा । अर्थात् च् के हटने पर श्चुत्व हुआ जो श् उसको भी 'स्' रह गया । स्कोः संयो० (८।२।२९) से अब इस स् का लोप, तथा शेष ष्टुत्वादि कार्य होकर व्रष्टा भ्रष्टा आदि रूप बन गये । मूलवृट् धानाभृट् में ग्रहिज्या० (६।१।१६) से व्रश्च भ्रस्ज को सम्प्रसारण, एवं सलोप भी हुआ है ॥ सम्राट् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें । तद्वत् स्वराट् आदि समझें । उपयट् की सिद्धि सूत्र ३।२।७३ में देखें । विभ्राट् की सिद्धि ३।२।१७७ में देखें । शब्दप्राट् की सिद्धि परि० ६।४।१९ में

देखें । लिट् विट् में अन्येभ्योऽपि०(३।२।१७८) से क्विप्, तथा मूलभृट् आदि में क्विप् च (३।२।७६) से क्विप् हुआ है ।।

एकाचो बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः ।।८।२।३७।।

एकाचः ६।१।। बशः ६।१।। भष् १।१।। झषन्तस्य ६।१।। स्ध्वोः ७।२।। स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, तस्य···बहुव्रीहिः । झष् अन्ते यस्य स झषन्तः, तस्य···बहुव्रीहिः । सश्च ध्वश्च स्ध्वौ, तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—धातोः, झलि, अन्ते च, पदस्य ।। अर्थः—धातोरवयवो य एकाच् झषन्तस्तदवयवस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति, झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः पदान्ते च । एकाच इत्यत्रावयवषष्ठी, तेनावयवार्थः सम्पद्यते ।। उदा०—बुध्—भोत्स्यते, अभुद्ध्वम्, अर्थभुत् । गुह्—निघोक्ष्यते, न्यघूढ्वम्, पर्णघुट् । दुह्—धोक्ष्यते, अधुग्ध्वम्, गोधुक् । अजर्घाः । गर्द्धप् ।।

भाषार्थः—धातु का अवयव जो [एकाचः] एक अच्वाला तथा [झषन्तस्य] झषन्त उसके अवयव [बशः] बश् के स्थान में [भष्] भष् आदेश होता है, झलादि [स्ध्वोः] सकार तथा झलादि ध्व शब्द के परे रहते, एवं पदान्त में ।। 'एकाचः' में अवयवषष्ठी है, अतः अवयव अर्थ सूत्रार्थ में निकल आता है ।। सिद्धियाँ परिशिष्ट में देखें ।।

यहाँ से 'बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः' की अनुवृत्ति ८।२।३८ तक जायेगी ।।

दधस्तथोश्च ।।८।२।३८।।

दधः ६।१।। तथोः ७।२।। च अ० ।। स०—तश्च थश्च तथौ, तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—बशो भष् झषन्तस्य स्ध्वोः, धातोः, झलि ।। अर्थः—दध इत्येतस्य झषन्तस्य बशः स्थाने भष् आदेशो भवति तकारथकारयोः परतः, चकारात् झलि सकारे ध्वशब्दे च परतः ।। दध इति डुधाञ् इत्येषः कृतद्विर्वचनो निर्दिश्यते ।। उदा०—धत्तः, धत्थः । धत्से, धत्स्व, धद्ध्वम् ।।

भाषार्थः—'दधः' यह डुधाञ् धातु का द्विर्वचन करके सूत्र में निर्देश है ।। [दधः] दध जो झषन्त धातु उसके बश् के स्थान में भष् आदेश होता है [तथोः] तकार तथा थकार परे रहते, [च] तथा झलादि सकार एवं ध्व परे रहते भी ।। डुधाञ् को द्वित्व तथा अभ्यास को जश्त्व, एवं धा के आ का श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) से लोप होकर 'दध्' झषन्त है । सो बश् को भष् होकर धध् तस् रहा । खरि च (८।४।५४) से चर्त्व होकर धत्तः बन गया । थस् में धत्थः, एवं आत्मनेपद में थास् को से (३।४।८० से) आदेश करके धत्से बना । लोट् में सवाभ्यां

वामो (३।४।९१) लगकर षत्व षड्ढ्वम् बन गया। ष् को ड् झलां जश्० (८।४।५२) से हो जायेगा ॥

झलां जशोऽन्ते ॥८।२।३९॥

झलाम् ६।३॥ जशः १।३॥ अन्ते ७।१॥ अनु०—पदस्य ॥ अर्थः—पदस्यान्ते वर्त्तमानानां झलां जश आदेशा भवन्ति ॥ उदा०—वागत्र, श्वलिडत्र, अग्निचिदत्र, त्रिष्टुबत्र ॥

भाषार्थः—पद के [अन्ते] अन्त में वर्त्तमान [झलाम्] झलों को [जशः] जश आदेश होता है ॥

झषस्तथोर्धोऽधः ॥८।२।४०॥

झषः ५।१॥ तथोः ६।२॥ धः १।१॥ अधः ५।१॥ स०—तथोरित्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । अध इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अर्थः—झष उत्तरयोस्तकारथकारयोः स्थाने धकार आदेशो भवति, डुधाञ् इत्येतं धातुं वर्जयित्वा ॥ उदा०—डुलभष्—लब्धा, लब्धुम्, लब्धव्यम्; अलब्ध, अलब्धाः । दुह—दोग्धा, दोग्धुम्, दोग्धव्यम्; अदुग्ध, अदुग्धाः । लिह—लेढा, लेढुम्, लेढव्यम्; अलीढ, अलीढाः । बुध—बोद्धा, बोद्धुम्, बोद्धव्यम्; अबुद्ध, अबुद्धाः ॥

भाषार्थः—[झषः] झष् (प्रत्याहार) से उत्तर [तथोः] तकार तथा थकार को [धः] धकार आदेश होता है, किन्तु [अधः] डुधाञ् धातु से उत्तर धकारादेश नहीं होता ॥ अदुग्ध की सिद्धि परि० ३।१।६३ में देखें, तद्वत् थास् में अदुग्धाः, एवं तृच् इत्यादि में दोग्धा आदि बने हैं । अबुद्ध की सिद्धि परि० १।२।११ में देखें, तद्वत् थास् में अबुद्धाः बना । अलीढ अलीढाः (थास्) की सिद्धि सूत्र ७।३।७३ में देखें, लेढा आदि भी इसी प्रकार हैं । अलब्ध अलब्धाः भी अबुद्ध के समान ही जानें । तृच् इत्यादि में बोद्धा आदि की (धत्व जश्त्व करके) सिद्धियाँ जानें ॥

षढोः कः सि ॥८।२।४१॥

षढोः ६।२॥ कः १।१॥ सि ७।१॥ स०—षश्च ढश्च षढौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अर्थः—षकारढकारयोः स्थाने ककारादेशो भवति सकारे परतः ॥ उदा०—षकारस्य—पिष्—पेक्ष्यति, अपेक्ष्यत्, पिपिक्षति । ढकारस्य—लिह—लेक्ष्यति, अलेक्ष्यत्, लिलिक्षति ॥

भाषार्थः—[षढोः] षकार तथा ढकार के स्थान में [कः] क आदेश होता है, [सि] सकार परे रहते ॥ पिष् स्य ति—पेक् ष्य ।—पेक्ष्यति । लृट्

में अपेक्ष्यत, तथा सन्नन्त में पिपिक्षति बनेगा। इसी प्रकार लिह् के ह् को हो ढः (८।२।३१) से ढत्व, एवं सब कार्य होकर लेक्ष्यति आदि रूप बने॥

[निष्ठाविकार-प्रकरणम्]

रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः ॥८।२।४२॥

रदाभ्याम् ५।२॥ निष्ठातः ६।१॥ नः १।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ च अ०॥ दः ६।१॥ स०—रश्च दश्च रदौ ताभ्याम्...इतरेतरद्वन्द्वः। निष्ठायाः तकारः निष्ठात्, तस्य...षष्ठीतत्पुरुषः॥ **अर्थः**—रेफदकाराभ्यामुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने नकारादेशो भवति, [निष्ठायाः तकारात्] पूर्वस्य दकारस्य च स्थाने नत्वं भवति॥ उदा०—रेफान्तात्—आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम्। शॄ—विशीर्णम्। गॄ—निगीर्णम्। गुरी—अवगूर्णम्। दकारान्तात्—भिदिर्—भिन्नः, भिन्नवान्। छिदिर्—छिन्नः, छिन्नवान्॥

भाषार्थः—[रदाभ्याम्] रेफ तथा दकार से उत्तर [निष्ठातः] निष्ठा के तकार को [नः] नकारादेश होता है, [च] तथा निष्ठा के तकार से [पूर्वस्य] पूर्व [दः] दकार को भी नकारादेश होता है॥ आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम् की सिद्धि सूत्र ७।१।१०० में देखें। तद्वत् विशीर्णम् निगीर्णम् में भी जानें। इसी प्रकार 'गुरी उद्यमने' से अव गुर् न=अवगूर्णम्; यहाँ केवल आर्धधातु० (७।२।३५) से प्राप्त इट् का श्वीदितो निष्ठायाम् (७।२।१४) से प्रतिषेध हुआ है, यह विशेष है। भिद् त=भिन् न=भिन्नः, छिन्नः॥

यहाँ से 'निष्ठातो नः' की अनुवृत्ति ८।२।६१ तक जायेगी॥

संयोगादेरातो धातोर्यण्वतः ॥८।२।४३॥

संयोगादेः ५।१॥ आतः ५।१॥ धातोः ५।१॥ यण्वतः ५।१॥ स०—संयोग आदिर्यस्य स संयोगादिः, तस्मात्...बहुव्रीहिः॥ यण् अस्यास्तीति यण्वान्, तस्मात्...॥ अनु०—निष्ठातो नः॥ **अर्थः**—संयोगादिर्यो धातुराकारान्तो यण्वान् तस्मादुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति॥ उदा०—द्रा—प्रद्राणः, प्रद्राणवान्। ग्लै—ग्लानः, ग्लानवान्॥

भाषार्थः—[संयोगादेः] संयोग आदि में है जिसके ऐसे [आतः] आकारान्त एवं [यण्वतः] यण्वान् [धातोः] धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है॥ ग्लै को आदेच उप० (६।१।४४) से आत्व कर लेने पर 'ग्ला' रहा। अब ग्ला एवं द्रा धातु संयोगादि आकारान्त तथा ल, र के होने से यण्-

वान् भी हैं। अतः इनसे उत्तर निष्ठा के त को न हो गया। अट्कुप्वा० (८।४।२) से द्राणः में णत्व हुआ है॥

ल्वादिभ्यः ॥८।२।४४॥

ल्वादिभ्यः ५।३॥ स०—लूञ् आदिर्येषां ते ल्वादयः, तेभ्य···बहुव्रीहिः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ अर्थः—ल्वादिभ्य उत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने नकारादेशो भवति ॥ उदा०—लूञ्—लूनः, लूनवान्। धूञ्—धूनः, धूनवान्। ज्या—जीनः, जीनवान् ॥

भाषार्थः—[ल्वादिभ्यः] लूञ् इत्यादि धातुओं से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है। धातुपाठ में पढ़े 'लूञ् छेदने' से लेकर 'वृञ् वरणे' तक ल्वादि धातु मानी गई हैं॥ जीनः की सिद्धि परि० ६।१।१६ में देखें॥

ओदितश्च ॥८।२।४५॥

ओदितः ५।१॥ च अ० ॥ स०—ओत् इत् यस्य स ओदित्, तस्मात्···बहुव्रीहिः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ अर्थः—ओदितो धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ उदा०—ओलस्जी—लग्नः, लग्नवान्। ओविजी—उद्विग्नः, उद्विग्नवान्। ओप्यायी—आपीनः, आपीनवान् ॥

भाषार्थः—[ओदितः] ओकार इत्वाले धातुओं से उत्तर [च] भी निष्ठा के त् को नकारादेश होता है॥ ओप्यायी के प्या को प्यायः पी (६।१।२८) से पी आदेश होकर पीनः पीनवान् बना है। लग्नः उद्विग्नः आदि की सिद्धि सूत्र ७।२।१४ में देखें॥

क्षियो दीर्घात् ॥८।२।४६॥

क्षियः ५।१॥ दीर्घात् ५।१॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ अर्थः—दीर्घात् क्षियो धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ उदा०—क्षीणाः क्लेशाः, क्षीणो जाल्मः, क्षीणस्तपस्वी ॥

भाषार्थः—[दीर्घात्] दीर्घ [क्षियः] क्षि धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है॥ क्षीणाः क्लेशाः में निष्ठायाम० (६।४।६०) से, तथा क्षीणो जाल्मः आदि में वाऽऽक्रोशदै० (६।४।६१) से क्षि धातु को दीर्घ होता है। सिद्धियाँ वहीं देखें॥

श्योऽस्पर्शे ॥८।२।४७॥

श्यः ५।१॥ अस्पर्शे ७।१॥ स०—न स्पर्शोऽस्पर्शः, तस्मिन्···नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ अर्थः—श्यैङो धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति, अस्पर्शेऽर्थे ॥ उदा०—शीनं घृतम्। शीनं मेदः। शीना वसा ॥

भाषार्थ:—[श्यः] श्यैङ् धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है [अस्पर्शे] स्पर्श अर्थ को छोड़कर ॥ सिद्धिसूत्र ६।१।२४ में देखें ॥

अञ्चोऽनपादाने ॥८।२।४८॥

अञ्चः ५।१॥ अनपादाने ७।१॥ स०—न अपादानमनपादानं तस्मिन्...नञ्-तत्पुरुषः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ अर्थः—अञ्चु इत्येतस्माद् धातोरुत्तरस्य निष्ठा-तकारस्य नकारादेशो भवति, न चेदपादानं तत्र स्यात् ॥ उदा०—समक्नौ शकुनेः पादौ । तस्मात् पशवो न्यक्नाः ॥

भाषार्थ:—[अञ्चः] अञ्चु धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है, यदि अञ्चु के विषय में [अनपादाने] अपादान कारक का प्रयोग न हो रहा हो तो ॥ समक्नः अर्थात् सङ्कुत । समक्नौ, न्यक्नाः में अञ्चु के अनुनासिक का अनिदितां० (६।४।२४) से लोप, तथा यस्य विभाषा (७।२।१५) से इट् प्रतिषेध होता है ॥ नि अच् त=न्यच् त, चोः कुः (८।२।३०) से च् को क् होकर न्यक् त=नत्व होकर न्यक्न जस्=न्यक्नाः, समक्नौ बना ॥

दिवोऽविजिगीषायाम् ॥८।२।४९॥

दिवः ५।१॥ अविजिगीषायाम् ७।१॥ स०—न विजिगीषा अविजिगीषा, तस्याम्...नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ अर्थः—दिव उत्तरस्य निष्ठातका-रस्य नकारादेशो भवति, अविजिगीषायामर्थे ॥ उदा०—आद्यूनः, परिद्यूनः ॥

भाषार्थ:—[दिवः] दिव् धातु से उत्तर [अविजिगीषायाम्] अविजिगीषा अर्थ में निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ॥ विजिगीषा जीतने की इच्छा को कहते हैं, सो उससे भिन्न अविजिगीषा है ॥ दिव् धातु से आद्यूनः (=खूब खाऊ= पेटू), परिद्यूनः (=क्षीण पेटवाला) की सिद्धि में च्छ्वोः शूड० (६।४।१९) से वकार को ऊठ् हुआ है, सिद्धि प्रकार वहीं देख लें ॥

निर्वाणोऽवाते ॥८।२।५०॥

निर्वाणः १।१॥ अवाते ७।१॥ स०—न वातोऽवातः, तस्मिन्...नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ अर्थः—निस्पूर्वात् वाधातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य नकारो निपात्यते वातश्चेदभिधेयो न भवति ॥ उदा०—निर्वाणोऽग्निः, निर्वाणः प्रदीपः, निर्वाणो भिक्षुः ॥

भाषार्थ:—निस्पूर्वक वा धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को नकार आदेश करके [निर्वाणः] निर्वाण शब्द [अवाते] वात अभिधेय न होने पर निपातित है ॥ उदा०—निर्वाणोऽग्निः (=शान्त हो गया=बुझ गया), यहाँ वात अर्थ

अभिधेय नहीं है, वात अर्थ अभिधेय होने पर निर्वातो वातः (=वायु शान्त हो गई) में नत्व नहीं होता ।।

शुषः कः ।।८।२।५१।।

शुषः ५।१।। कः १।१।। अनु०—निष्ठातः ।। अर्थः—शुष इत्येतस्माद् धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने ककार आदेशो भवति ।। उदा०—शुष्कः, शुष्कवान् ।।

भाषार्थः—[शुषः] शुष शोषणे धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को [कः] ककारादेश होता है ।।

पचो वः ।।८।२।५२।।

पचः ५।१।। वः १।१।। अनु०—निष्ठातः ।। अर्थः—डुपचष् पाके इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य वकारादेशो भवति ।। उदा०—पक्वः, पक्ववान् ।।

भाषार्थः—[पचः] डुपचष् धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को [वः] वकारादेश होता है ।। चोः कुः (८।२।३०) लगकर पक्वः पक्ववान् बनेगा।।

क्षायो मः ।।८।२।५३।।

क्षायः ५।१।। मः १।१।। अनु०—निष्ठातः ।। अर्थः—क्षैधातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य स्थाने मकारादेशो भवति ।। उदा०—क्षामः, क्षामवान् ।।

भाषार्थः—[क्षायः] क्षै धातु से उत्तर निष्ठा के तकार को [मः] मकारादेश होता है ।। आदेच उपदेशे० (६।१।४४) से आत्व होकर क्षामः, क्षामवान् बन गया ।।

यहाँ से 'मः' की अनुवृत्ति ८।२।५४ तक जायेगी ।।

प्रस्त्योऽन्यतरस्याम् ।।८।२।५४।।

प्रस्त्यः ५।१।। अन्यतरस्याम् ७।१।। स०—प्रपूर्वः स्त्याः प्रस्त्याः तस्मात्... तत्पुरुषः ।। अनु०—मः, निष्ठातः ।। अर्थः—प्रपूर्वात् स्त्यै इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य निष्ठातकारस्य विकल्पेन मकारादेशो भवति ।। उदा०—प्रस्तीमः, प्रस्तीमवान् । पक्षे—प्रस्तीतः, प्रस्तीतवान् ।।

भाषार्थः—[प्रस्त्यः] प्रपूर्वक स्त्यै धातु से उत्तर [अन्यतरस्याम्] विकल्प से निष्ठा के तकार को मकारादेश होता है ।। सिद्धियाँ सूत्र ६।१।२३ में देखें ।।

अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः ।।८।२।५५।।

अनुपसर्गात् ५।१।। फुल्ल...ल्लाघाः १।३।। स०—न उपसर्गोऽनुपसर्गः, तस्मात् ...नञ्तत्पुरुषः । फुल्ल इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—निष्ठातः ।। अर्थः—फुल्ल,

क्षीब, कृश उल्लाघ इत्येते शब्दा निपात्यन्ते न चेदुपसर्गादुत्तरा भवन्ति ॥ फुल्ल इत्यत्र ञिफला विशरणे इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य क्तप्रत्ययस्य तकारस्य लत्वं निपात्यते । क्षीब, कृश, उल्लाघ इत्यत्र क्रमेण क्षीबकृशिभ्यामुत्पूर्वाच्च लाघेः क्तप्रत्ययस्य तकारलोप इडागमाभावश्च निपात्यते ॥ फुल्लः, क्षीबः, कृशः, उल्लाघः ॥

भाषार्थः—[अनुपसर्गात्] उपसर्ग से उत्तर न होने पर [फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः] फुल्ल, क्षीब, कृश तथा उल्लाघ शब्द निपातन किये जाते हैं ॥ ञिफला धातु से उत्तर क्त को लत्व फुल्ल शब्द में निपातित है । फल् ल, यहाँ ति च (७।४।८९) से फ के अ को उत्व होकर फुल्लः बन गया । आदितश्च (७।२।१६) से, यहाँ इट् आगम का अभाव भी होता है ॥ क्षीब, कृश उल्लाघ, यहाँ क्रमशः क्षीब् कृश तथा उत्पूर्वक लाघृ धातु से उत्तर क्त प्रत्यय के त का लोप, एवं त लोप के पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) से इट् आगम की दृष्टि में असिद्ध हो जाने से आर्धधातुक० (७।२।३५) से इट् आगम प्राप्त है, उसका अभाव भी निपातन है । अथवा यहाँ इट् आगम करके 'इत्' भाग का लोप भी निपातन किया जा सकता है । क्षीब् इ त= क्षीब् अ=क्षीबः आदि बन गये । उल्लाघः में द् को ल् तोलि (८।४।५९) से हुआ है ॥

नुदविदोन्दत्राघ्राह्रीभ्योऽन्यतरस्याम् ॥८।२।५६॥

नुद…भ्यः ५।३॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—नुदश्च विदश्च उन्दश्च त्राश्च घ्राश्च ह्रीश्च नुद…ह्रियः तेभ्यः… इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ अर्थः—नुद प्रेरणे, विद विचारणे, उन्दी क्लेदने, त्रैङ् पालने, घ्रा गन्धोपादाने, ह्री लज्जायाम् इत्येतेभ्यो धातुभ्य उत्तरस्य विकल्पेन निष्ठातकारस्य नकारादेशो भवति ॥ उदा०—नुद—नुन्नः, नुत्तः । विद—विन्नः, वित्तः । उन्दी—समुन्नः, समुत्तः । त्रा—त्राणः, त्रातः । घ्रा—घ्राणः, घ्रातः । ह्री—ह्रीणः, ह्रीतः । क्तवतु—नुन्नवान्, नुत्तवान् । विन्नवान्, वित्तवान् । समुन्नवान्, समुत्तवान् । त्राणवान्, त्रातवान् । घ्राणवान्, घ्रातवान् । ह्रीणवान्, ह्रीतवान् ॥

भाषार्थः—[नुद…ह्रीभ्यः] नुद, विद, उन्दी, त्रैङ्, घ्रा, ह्री इन धातुओं से उत्तर [अन्यतरस्याम्] विकल्प से निष्ठा के तकार को नकारादेश होता है ॥ समुन्नः समुत्तः में अनिदितां हल० (६।४।२४) से अनुनासिक लोप होता है ॥ नुद, विद एवं उन्दी को रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से तथा त्रा (=त्रैङ् को आदेच उप० ६।१।४४ से आत्व करके), एवं घ्रा को संयोगादेरातो० (८।२।४३) से नित्य नत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया, किन्तु ह्री को अप्राप्त ही विकल्प कहा है ॥

न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम् ॥८।२।५७॥

न अ० ॥ ध्या···मदाम्, ६।३॥ स०—ध्यैश्च ख्याश्च पॄ च मूर्च्छिश्च मद् च ध्या···मदः, तेषां···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ अर्थः—ध्यै चिन्तायाम्, ख्या प्रकथने, (ख्याञ् आदेशोऽपि गृह्यते) पॄ पालनपूरणयोः, मुर्च्छा मोहसमुच्छ्राययोः, मदी हर्षे इत्येतेषां धातूनां निष्ठातकारस्य नकारादेशो न भवति ॥ उदा०—ध्यातः, ध्यातवान् । ख्यातः, ख्यातवान् । पूर्त्तः, पूर्त्तवान् । मूर्त्तः, मूर्त्तवान् । मत्तः, मत्तवान् ॥

भाषार्थः—[ध्या···मदाम्] ध्यै, ख्या, पॄ मुर्च्छा, मदी इन धातुओं के निष्ठा के तकार को नकार आदेश [न] नहीं होता ॥ ख्या से यहाँ ख्या प्रकथने धातु, एवं चक्षिङः ख्याञ् (२।४।५४) से किया हुआ ख्याञ् आदेश दोनों का ग्रहण है ॥ ध्या ख्या को संयोगादे० (८।२।४३) से निष्ठा को नत्व प्राप्त था, एवं अन्यों को रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से प्राप्त था, निषेध कर दिया । मुर्च्छ् के छ् का राल्लोपः (६।४।२१) से लोप कर देने के पश्चात् 'मुर्' रेफान्त हो जाता है, तब रदाभ्यां० से नत्व प्राप्ति होती है, उसका निषेध हो गया । सिद्धि ६।४।२१ सूत्र पर ही देख लें । पूर्त्तः, पूर्त्तवान् में उदोष्ठ्य० (७।१।१०२) से पॄ को उत्व अथ कः किति (७।२।११) से इट् निषेध तथा हलि च (८।२।७७) से दीर्घत्व होता है । पॄ त=पुर् त=पूर्त; अचो रहा० (८।४।४५) से त् को द्वित्व होकर बन गया। मत्तः मत्तवान् में भी श्वीदितो० (७।२।१४) से इट्-प्रतिषेध होता है, ऐसा जानें ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।२।६१ तक जायेगी ॥

वित्तो भोगप्रत्यययोः ॥८।२।५८॥

वित्तः १।१॥ भोगप्रत्यययोः ७।२॥ स०—भोग० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, निष्ठातो नः ॥ अर्थः—वित्त इत्यत्र विद्लृ लाभे इत्येतस्मादुत्तरस्य क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते, भोगे प्रत्यये चाभिधेये ॥ भुज्यते इति भोगः । प्रतीयते इति प्रत्ययः॥ उदा०—भोगे—वित्तमस्य बहु । प्रत्यये—वित्तोऽयं मनुष्यः ॥

भाषार्थः—[वित्तः] वित्त शब्द में विद्लृ लाभे धातु से उत्तर क्त प्रत्यय के नत्व का अभाव [भोगप्रत्यययोः] भोग तथा प्रत्यय (प्रतीति) अभिधेय होने पर निपातित है ॥ रदाभ्यां० (८।२।४२) से नत्व प्राप्ति थी, अभाव का निपातन कर दिया ॥ वित्तमस्य बहु=अर्थात् इसके पास धन बहुत है । धन का जो उपयोग किया जाता है, अतः वह उसका भोग है । वित्तोऽयं मनुष्यः=अर्थात् यह मनुष्य प्रतीत=ज्ञात है । यहाँ भी मनुष्य प्रतीत किया जाता है, अतः वह प्रत्यय है, ऐसा जानें ॥

भित्तं शकलम् ॥८।२।५९॥

भित्तम् १।१॥ शकलम् १।१॥ अनु०—न, निष्ठातो नः ॥ अर्थः—भित्तमिति भिदेरुत्तरस्य क्तस्य नत्वाभावो निपात्यते शकलं चेत्तद्भवति ॥ उदा०—भित्तं तिष्ठति, भित्तं प्रपतति ॥

भाषार्थः—[भित्तम्] भित्तम् शब्द में भिदिर् धातु से उत्तर क्त के नत्व का अभाव निपातन है, यदि भित्तम् से [शकलम्] शकल=खण्ड टुकड़ा कहा जा रहा हो तो ॥ पूर्ववत् ही नत्व प्राप्त था, अभाव कर दिया ॥ भित्तं तिष्ठति अर्थात् टुकड़ा रखा है ॥

ऋणमाधमर्ण्ये ॥८।२।६०॥

ऋणम् १।१॥ आधमर्ण्ये ७।१॥ स०—अधमः ऋणे=अधमर्णः सप्तमीतत्पुरुषः। अस्मादेव निपातनादत्र सप्तम्यन्तस्य परनिपातः ॥ अधमर्णस्य भावः आधमर्ण्यम् तस्मिन् ··· ब्राह्मणादित्वात् ष्यञ्प्रत्ययः ॥ अनु०—निष्ठातो नः ॥ अर्थः—ऋणमित्यत्र ऋ इत्येतस्माद्धातोरुत्तरस्य क्तस्य नत्वं निपात्यते, आधमर्ण्ये विषये ॥ उदा०—ऋणं ददाति, ऋणं धारयति ॥

भाषार्थः—[ऋणम्] ऋणम् शब्द में ऋ धातु से उत्तर क्त के तकार को नकारादेश निपातन है,-[आधमर्ण्ये] आधमर्ण्य विषय में ॥ कर्ज लेनेवाले का ही ऋण अधम=दुःख होने से आधमर्ण्य कहलाता है । ऋणम् में नत्व कर लेने पर णत्व ऋवर्णाच्चेति० (वा० ८।४।१) से हो ही जायेगा ॥

नसत्तनिषत्तानुत्तप्रतूर्त्तसूर्त्तगूर्त्तानि छन्दसि ॥८।२।६१॥

नसत्त···गूर्त्तानि १।३॥ छन्दसि ७।१॥ स०—नसत्तञ्च निषत्तञ्च अनुत्तञ्च प्रतूर्त्तञ्च सूर्त्तञ्च गूर्त्तञ्च नसत्त···गूर्त्तानि, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, निष्ठातो नः ॥ अर्थः—नसत्त, निषत्त, अनुत्त, प्रतूर्त्त, सूर्त्त, गूर्त्त इत्येतानि शब्दरूपाणि छन्दसि विषये निपात्यन्ते ॥ नसत्त निषत्त इत्यत्र सदेर्नञ्पूर्वान्निपूर्वाच्च नत्वाभावो निपात्यते । अनुत्तमिति उन्देर्नञ्पूर्वात् नत्वाभावो निपात्यते । प्रतूर्त्तमिति प्रपूर्वात् त्वरतेः, तुर्वी इत्येतस्माद्वा पूर्ववत् नत्वाभावो निपात्यते । सूर्त्तमिति सृ इत्येतस्य उत्वं नत्वाभावश्च निपात्यते । गूर्त्तमिति गुरी इत्येतस्मात् पूर्ववत् नत्वाभावो निपात्यते ॥ उदा०—नसत्तमञ्जसा । नसन्नमिति भाषायाम् ॥ निषत्तमस्य चरतः (ऋ० १।१४६।१;) निषण्णमिति भाषायाम् । अनुत्तमा ते मघवन् (ऋ० १।१६५।९), अनुन्नमिति भाषायाम् । प्रतूर्त्तं वाजिन् (यजु० ११।१२) प्रतूर्णमिति भाषायाम् । सूर्त्ता गावः। सृता गाव इति भाषायाम् । गूर्त्ता अमृतस्य । गूर्णमिति भाषायाम् ॥

भाषार्थः—[नसत्त॰॰ गूर्तानि॰] नसत्त, निषत्त, अनुत्त, प्रतूर्त्त, सूर्त्त गूर्त्त ये शब्द [छन्दसि] वेद-विषय में निपातन किये जाते हैं ।। नसत्त निषत्त, यहाँ क्रमशः नञ्पूर्वक एवं निपूर्वक षद्लृ धातु से क्त के नत्व का अभाव निपातन है । षद्लृ के ष को धात्वादेः० (६।१।६२) से स हुआ है । निषत्तम् में सदिरप्रतेः (८।३।६६) से षत्व होता है ।। अनुत्तम्, यहाँ नञ्पूर्वक उन्दी के क्त को नत्वाभाव निपातन है । अनिदितां हल॰ (६।४।२४) से न् लोप भी यहाँ होता है, चर्त्व होकर द् को त् सर्वत्र हो ही जायेगा ।। प्रतूर्त्तम्, यहाँ भी ञित्वरा अथवा तुर्वी धातु के क्त का नत्वाभाव निपातन है । त्वर से निपातन मानने पर ज्वरत्वर (६।४।२०) से व् एवं उपधा 'अ' को ऊठ् होकर प्रतूर्त्त बन गया, तथा तुर्वी से मानने पर राल्लोपः (६। ४।२१) से व् का लोप, एवं दीर्घत्व (८।२।७७) हो जायेगा ।। सूर्त्तम्, यहाँ सृ धातु को उत्व, एवं नत्वाभाव निपातन है । सुर् त=पूर्ववत् दीर्घत्व करके सूर्त्तम् बना ।। गूर्त्तम्, यहां गुरी धातु के क्त के नत्व का अभाव निपातन है ।। सर्वत्र जहाँ-जहाँ नत्वाभाव निपातन है, वहाँ-वहाँ रदाभ्यां निष्ठातो॰ (८।२।४२) से नत्व प्राप्ति थी, अभाव कह दिया ।।

क्विन्प्रत्ययस्य कुः ।।८।२।६२।।

क्विन्प्रत्ययस्य ६।१।। कुः १।१।। स०—क्विन् प्रत्ययो यस्मात् (धातोः) स क्विन्प्रत्ययः, तस्य बहुव्रीहिः ।। अनु०—पदस्य ।। अर्थः—क्विन्प्रत्ययस्य पदस्य कवर्गादेशो भवति ।। उदा०—घृतस्पृक्, हलस्पृक्, मन्त्रस्पृक् ।।

भाषार्थः—[क्विन्प्रत्ययस्य] क्विन् प्रत्यय हुआ है जिस धातु से, उस पद को [कुः] कवर्गादेश होता है ।। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् को ही कवर्गादेश होता है ।। सिद्धियाँ परि० १।२।४१ में देखें ।।

यहाँ से 'कुः' की अनुवृत्ति ८।२।६३ तक जायेगी ।।

नशेर्वा ।।८।२।६३।।

नशेः ६।१।। वा अ० ।। अनु०—कुः, पदस्य ।। अर्थः—नशेः पदस्य वा कवर्गादेशो भवति ।। उदा०—सा वै जीवनग् आहुतिः । सा वै जीवनड् आहुतिः ।।

भाषार्थः—[नशेः] नश् पद को [वा] विकल्प से कवर्गादेश होता है ।। पूर्ववत् अन्त्य अल् को कवर्ग होगा ।। णश अदर्शने धातु से सम्पदादिभ्यः क्विप् (वा० ३।३।९४) इस वार्त्तिक से भाव में क्विप् होकर, पक्ष में कुत्व, तथा पक्ष में व्रश्चभ्रस्ज॰ (८।२।३६) से षत्व, एवं जश्त्व (८।२।३९) चर्त्व होकर नक् नट् बना, पश्चात् जीवस्य नाशो जीवनग्, जीवनड् आहुति षष्ठीसमास हो गया ।।

मो नो धातोः ॥८।२।६४॥

मः ६।१॥ नः १।१॥ धातोः ६।१॥ अनु०—पदस्य ॥ अर्थः—मकारान्तस्य धातोः पदस्य नकारादेशो भवति ॥ उदा०—प्रशान्, प्रतान्, प्रदान् ॥

भाषार्थः—[मः] मकारान्त [धातोः] धातु पद को [नः] नकारादेश होता है ॥ अन्त्य अल् को यहाँ भी न् होगा । सिद्धि सूत्र ६।४।१५ में देखें ॥

यहाँ से 'मो नो धातोः' की अनुवृत्ति ८।२।६५ तक जायेगी ॥

म्वोश्च ॥८।२।६५॥

म्वोः ७।२॥ च अ० ॥ स०—मश्च वश्च म्वौ, तयोः "इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—मो नो धातोः ॥ अर्थः—मकारे वकारे च परतो मकारान्तस्य धातोर्नकारादेशो भवति ॥ उदा०—आगन्म तमसः परम् । अगन्व । जगन्वान् ॥

भाषार्थः—[म्वोः] मकार तथा वकार परे रहते [च] भी मकारान्त धातु को नकारादेश होता है ॥ अपदान्तार्थ इस सूत्र का आरम्भ है ॥ गम् धातु से लङ् मस् वस् में बहुलं छन्दसि (२।४।७३) से शप् का लुक् तथा नित्यं ङितः (३।४।९९) से सकार लोप तथा नत्व होकर अगन्म, अगन्व बन गया । जगन्वान् की सिद्धि सूत्र ७।२।६८ में देखें । क्वसु होकर द्वित्व अभ्यास कार्य करके ज गम् वान् = जगन्वान् बन गया ॥

ससजुषो रुः ॥८।२।६६॥

ससजुषोः ६।२॥ रुः १।१॥ स०—सश्च सजुष् च ससजुषौ तयोः "इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पदस्य ॥ अर्थः—सकारान्तस्य पदस्य सजुष् इत्येतस्य च रुर्भवति ॥ उदा०—सकारान्तस्य—अग्निरत्र, वायुरत्र । सजुषः—सजूऋषिभिः, सजूर्देवेभिः ॥

भाषार्थः—[ससजुषोः] सकारान्त पद को तथा सजुष् पद को [रुः] रु आदेश होता है ॥ पूर्ववत् अन्त्य अल् को रुत्व होगा ॥ अग्नि सु = अग्नि स् अत्र = अग्निर् अत्र = अग्निरत्र । सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४) से 'अग्निस्' की पद संज्ञा है । सह जुषते इति सजुष्, यहाँ क्विप् (३।२।७६) प्रत्यय, तथा सहस्य सः० (६।३।७६) से सह को सभाव हुआ है । पश्चात् रुत्व होकर र्वोरुपधाया० (८।२।७६) से दीर्घ करके 'सजूर्' बन गया ॥ सजुष् सकारान्त नहीं, अतः इसका पृथक् सूत्र में ग्रहण है ॥ यह सूत्र जश्त्व का अपवाद है ॥

यहाँ से 'रुः' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी ॥

अवयाःश्वेताःपुरोडाश्च ॥८।२।६७॥

अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः, सर्वाणि अनुकरणरूपाणि प्रथमान्तानि पदानि ॥ च

अ० ॥ अनु०—पदस्य ॥ अर्थः—अववयाः, श्वेतवाः, पुरोडा इत्येते शब्दाः कृतदीर्घाः निपात्यन्ते, सम्बुद्धौ ॥ उदा०—हे अववयाः, हे श्वेताः, हे पुरोडाः ॥

भाषार्थः—[अवया···डाश्च] अवयाः, श्वेतवाः [च] तथा पुरोडाः ये शब्द दीर्घ किये हुये सम्बुद्धि में निपातन हैं ॥ श्वेतवाः, पुरोडाः (प्रथमा एकवचन में) की सिद्धि सूत्र ३।२।७१ में तथा 'अवयाः' की सूत्र ३।२।७२ में की है । यहाँ सम्बुद्धि का सु परे है, एवं वहाँ प्रथमा एकवचन का सु परे था, यही अन्तर है । इस प्रकार यहां सम्बुद्धि में भी सिद्धि प्रक्रिया सम्पूर्ण वही रहेगी, केवल सम्बुद्धि परे रहते अत्वसन्तस्य० (६।४।१४) से उपधा दीर्घत्व प्राप्त नहीं था, क्योंकि वहाँ 'असम्बुद्धौ' की अनुवृत्ति है, अतः यहाँ दीर्घत्व करने के लिये ही निपातन किया है, शेष सब सिद्ध ही हैं ॥

अहन् ॥८।२।६८॥

अहन् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ अनु०—रुः, पदस्य ॥ अर्थः—अहन् इत्येतस्य पदस्य रुर्भवति ॥ उदा०—अहोभ्याम्, अहोभिः । दीर्घाहा निदाघः । हे दीर्घाहोऽत्र॥

भाषार्थः—[अहन्] अहन् पद को (अन्त्य अल् को) रु होता है ॥ अहन् भ्याम्=अहरु भ्याम्=हशि च (६।१।११०) आद् गुणः (६।१।८४) लगकर अहोभ्याम् अहोभिः बन गया । दीर्घाणि अहानि यस्मिन् स दीर्घाहा निदाघः (=ग्रीष्म काल), यहाँ बहुव्रीहि समास करके 'दीर्घाहन् सु' रहा । रुत्व दीर्घत्व (६।४।८) तथा हल्ङ्यादि लोप करके दीर्घाहार् रहा । रुत्व असिद्ध होने से सर्वनामस्थाने० (६।४।८) से दीर्घत्व हो ही जायेगा । पश्चात् निदाघ परे रहते भोभगोऽघो० (८।३।१७) एवं हलि सर्वेषाम् (८।३।२२) लगकर दीर्घाहा निदाघः बन गया । दीर्घाहोऽत्र में अतो रोर० (६।१।१०९) से रु को उत्व, एवं आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होगा । शेष सब पूर्ववत् है ॥

यहाँ से 'अहन्' की अनुवृत्ति ८।२।६९ तक जायेगी ॥

रोऽसुपि ॥८।२।६९॥

रः १।१॥ असुपि ७।१॥ स०—न सुप् असुप् तस्मिन्···नञ्तत्पुरुषः॥अनु०—अहन् ॥ अर्थः—अहन् इत्येतस्य रेफादेशो भवति, असुपि परतः ॥ उदा०—अहर्ददाति, अहर्भुङ्क्ते ॥

भाषार्थः—अहन् को [रः] रेफ आदेश होता है [असुपि] सुप् परे न हो तो ॥ 'अहन् सु' 'अहन् अम्', यहाँ स्वमो० (७।१।२३) से लुक् करके अहन् ददाति रहा । अब न् को सुप् परे न होने से रेफ होकर अहर्ददाति बन गया ॥ पूर्व सूत्र का यह

अपवाद है। रु करने पर हशि च (६।१।११०) से उत्व प्राप्त होता था, वह रेफ विधान करने पर नहीं होगा, यही भेद है ॥ 'रः' में अकार उच्चारणार्थ है ॥ अह: यहाँ प्रत्ययलक्षण से सुप् (सु) परे होना सम्भव है, उसको निवृत्ति अह्नो रविधौ लुमता लुप्ते प्रत्ययलक्षणं न भवति (भा० वा० १।१।६२) से प्रत्ययलक्षण का प्रतिषेध हो जाने से होती है ॥

यहाँ से 'र' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी ॥

अम्नरूधरवरित्युभयथा छन्दसि ॥८।२।७०॥

अम्न...वर् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ इति अ० ॥ उभयथा अ० ॥ छन्दसि ७।१॥ स०—अम्नश्च ऊधश्च अवश्च अम्नरूधरवर्, तस्य समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—रः, रुः, पदस्य ॥ अर्थः—अम्नस् ऊधस्, अवस् इत्येतेषां पदानां छन्दसि विषये उभयथा भवति, रुर्वा रेफो वा ॥ ससजुषो रुः (८।२।६६) इत्यनेन नित्यं रुत्वे प्राप्ते पक्षे रेफादेशार्थमिदम् ॥ अम्न एव, अम्नरेव । ऊधस्—ऊध एव, ऊधरेव । अवस्—अव एव, अवरेव ॥

भाषार्थः—[अम्न...वर्] अम्नस्, ऊधस्, अवस् [इति] इन पदों को [छन्दसि] वेद-विषय में [उभयथा] दोनों प्रकार से, अर्थात् रु एवं रेफ दोनों ही होते हैं। ससजुषो रुः (८।२।६६) से 'स्' को नित्य रुत्व प्राप्त था, पक्ष में रेफ-विधानार्थ यह सूत्र है ॥ जब 'रु' होगा, तो भोभगो० (८।३।१७) से रु के रेफ को य्, तथा लोपः शाक० (८।३।१९) से उस य् का लोप होकर—'अम्न एव' बनेगा। रेफ करने पर 'अम्नरेव' बनेगा। अन्य को ये आदेश जानें ॥

यहाँ से 'उभयथा छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।२।७१ तक जायेगी ॥

भुवश्च महाव्याहृतेः ॥८।२।७१॥

भुवः अविभक्तिनिर्देशः ॥ च अ० ॥ महाव्याहृतेः ६।१॥ अनु०—उभयथा छन्दसि, रः, रुः, पदस्य ॥ अर्थः—भुवस् इत्येतस्य महाव्याहृतेश्छन्दसि विषये उभयथा =रुर्वा रेफो वा भवति ॥ भूर् भुवस् स्वर् इति तिस्रो महाव्याहृतयः, मध्यमाया इह ग्रहणम् ॥ उदा०—भुव इत्यन्तरिक्षम् । भुवरित्यन्तरिक्षम् ॥

भाषार्थः—[महाव्याहृतेः] महाव्याहृति जो [भुवः] भुवस् शब्द उसको [च] भी वेद-विषय में दोनों प्रकार से अर्थात् रु एवं रेफ दोनों ही होते हैं ॥ भूर्, भुवस्, स्वर्, महस्, जनस्, तपस्, सत्यम् ये ७ व्याहृतियां कहाती हैं। इनमें से आदि की तीन महाव्याहृतियां कहाती हैं। क्योंकि इनका वेद में साक्षात् प्रयोग मिलता है, तथा इनका वाच्य पृथिवी अन्तरिक्ष एवं द्यु है। इनके अन्तर्गत अन्य व्याहृतिवाच्य

लोकों का भी समावेश हो जाता है । उनसे अन्तरिक्षवाचिका भुवस् महाव्याहृति को यहाँ रुत्व एवं रेफ कह दिया । पूर्ववत् रुत्व करने पर र् को य् एवं य् का लोप करके 'भुव इत्यन्तरिक्षम्' बना ॥

वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहां दः ॥८।२।७२॥

वसुस्रंसुध्वंस्वनडुहाम् ६।३॥ दः १।१॥ स०—वसु० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पदस्य ॥, ससजुषो रुः इत्यतः 'सः' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—सकारान्तस्य वस्वन्तस्य पदस्य, स्रंसु ध्वंसु अनडुह् इत्येतेषां च दकारादेशो भवति ॥ उदा०—वसु—विद्वद्भ्याम्, विद्वद्भिः; पपिवद्भ्याम्, पपिवद्भिः । स्रंसु—उखास्रद्भ्याम्, उखास्रद्भिः । ध्वंसु—पर्णध्वद्भ्याम्, पर्णध्वद्भिः । अनडुह्—अनडुद्भ्याम्, अनडुद्भिः ॥

भाषार्थः—[वसु···डुहाम्] सकारान्त वस्वन्त पद को, तथा स्रंसु ध्वंसु एवं अनडुह् पदों को [दः] दकारादेश होता है ॥ इस सूत्र में ससजुषो रुः से 'स' की अनुवृत्ति लाते हैं । जिसको वसु का ही विशेषण बना कर अर्थ होगा—'सकारान्त वस्वन्त पद को' । शेष स्रंसु ध्वंसु सर्वत्र सकारान्त ही रहते हैं, एवं अनडुह् सकारान्त है ही नहीं । अतः सकार विशेषण इन पदों में अनावश्यक है ॥

शतृ को विदेः शतुर्वसुः (७।१।३६) से वसु आदेश करके 'विद्वस्' शब्द बना, जिसके अन्त्य अल् को भ्याम् परे रहते स्वादिष्व० (१।४।१७) से पद-संज्ञा होकर दकारादेश हो गया । पपिवान् की सिद्धि सूत्र ३।२।१०७ में है । सो यहाँ पपिवस् बनकर भ्याम् परे रहते स् को दत्व हो गया है । उखास्रत् पर्णध्वत् की सिद्धि परि० ३।२।७६ में देखें । तद्वत् भ्याम् भिस् परे रहते पद-संज्ञा (१।४।१७ से) होकर रूप जानें । अनडुह् के अन्त्य अल् 'ह्' को द् हुआ है ॥

यहाँ से 'दः' की अनुवृत्ति ८।२।७५ तक जायेगी ॥

तिप्यनस्तेः ॥८।२।७३॥

तिपि ७।१॥ अनस्तेः ६।१॥ स०—न अस्तिरनस्तिः, तस्य··· नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—दः, पदस्य । 'सः' अत्राप्यनुवर्त्तते पूर्ववत् ॥ अर्थः—अनस्तेः सकारान्तस्य पदस्य तिपि परतो दकारादेशो भवति ॥ उदा०—अचकाद् भवान्, अन्वशाद् भवान् ॥

भाषार्थः—[अनस्तेः] अस् (धातु) को छोड़कर जो सकारान्त पद उसको [तिपि] तिप् परे रहते दकारादेश होता है ॥ चकासृ तथा अनुपूर्वक शासु धातु के लङ् में अदादित्वात् शप् का लुक् होकर 'अ चकास् त्' रहा । प्रकृत सूत्र से स्

को द्, तथा हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६) से तिप् के त् का लोप होकर—अचकाद्, अन्वशाद् बन गया ॥

सिपि धातो रुर्वा ॥८।२।७४॥

सिपि ७।१॥ धातोः ६।१॥ रुः १।१॥ वा अ० ॥ अनु०—दः, पदस्य, 'सः' इत्यपि च पूर्ववत् ॥ अर्थः—सकारान्तस्य पदस्य धातोः रुरित्ययमादेशो विकल्पेन भवति, सिपि परतः पक्षे दकारो वा ॥ उदा०—अचकास्त्वम्, अचकात् त्वम् । अन्वशास्त्वम्, अन्वशात् त्वम् ॥

भाषार्थः—सकारान्त पद जो [धातोः] धातु उसको [सिपि] सिप् परे रहते [रुः] रु आदेश [वा] विकल्प से होता है । पक्ष में प्रकरण-प्राप्त दकारादेश होगा ॥ रु करने पर रेफ को विसर्जनीय (८।२।६६ से) करके त्वम् परे रहते विसर्जनीयस्य सः (८।३।३४) से विसर्जनीय को स् हो गया, एवं दत्व करने पर द् को चर्त्व होकर त् हो गया है ॥

यहाँ से 'सिपि रुर्वा" की अनुवृत्ति ८।२।७५ तक, तथा 'धातोः' की ८।२।७६ तक जायेगी ॥

दश्च ॥८।२।७५॥

दः ६।१॥ च अ० ॥ अनु०—सिपि धातो रुर्वा, दः, पदस्य ॥ अर्थः—दकारान्तस्य च धातोः पदस्य सिपि परतो रुर्भवति दकारो वा ॥ उदा०—अभिनस्त्वम्, अभिनत् त्वम् । अच्छिनस्त्वम्, अच्छिनत् त्वम् ॥

भाषार्थः—[दः] दकारान्त पद जो धातु उसको [च] भी सिप् परे रहते विकल्प से रु होता है । पक्ष में दत्व होगा ॥ परि० ६।१।६६ में 'अभिनोऽत्र' की सिद्धि की है, तद्वत् यहाँ भी 'अभिनर्' बनकर पूर्ववत् विसर्जनीय एवं सत्व त्वम् परे रहते हो गया । पक्ष में दत्व होकर अभिनत् त्वम् बनेगा ही ॥

र्वोरुपधाया दीर्घ इकः ॥८।२।७६॥

र्वोः ६।२॥ उपधायाः ६।१॥ दीर्घः १।१॥ इकः ६।१॥ स०—रश्च वश्च र्वौ, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—धातोः, पदस्य ॥ अर्थः—रेफान्तस्य वकारान्तस्य च धातोः पदस्य उपधाया इको दीर्घो भवति ॥ उदा०—रेफान्तस्य—गीः, घूः, पूः, आशीः । वकारग्रहणमुत्तरार्थं, तेन तत्रैवोदाहरिष्यते ॥

भाषार्थः—[र्वोः] रेफान्त तथा वकारान्त जो धातु पद उसकी [उपधायाः] उपधा [इकः] इक् को [दीर्घः] दीर्घ होता है ॥ वकार-ग्रहण यहाँ अगले सूत्र के लिये है ॥ घूः पूः की सिद्धि परि० ३।२।१७७ में देखें । गीर्वान् आशीर्वान् की

सिद्धि मतुप् में सूत्र ८।२।१५ में की है। तद्वत् यहां भी क्विप् करके 'सु' का हल्ङ्यादि लोप करके गीः आशीः बनेगा ॥

यहां से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।२।७६ तक जायेगी ॥

हलि च ॥८।२।७७॥

हलि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—र्वोरुपधाया दीर्घ इकः, धातोः ॥ अर्थः—हलि च परतो रेफवकारान्तस्य धातोरुपधाया इको दीर्घो भवति ॥ उदा०—रेफान्तस्य—आस्तीर्णम्, विस्तीर्णम्, विशीर्णम्, अवगूर्णम् । वकारान्तस्य—दीव्यति, सीव्यति ॥

भाषार्थः—[हलि] हल् परे रहते [च] भी रेफान्त एवं वकारान्त धातु की उपधा जो इक् उसको दीर्घ होता है ॥ आस्तीर्णम् आदि की सिद्धियां ७।१।१००, एवं ८।२।४२ में देखें, तथा दीव्यति सीव्यति की परि० ३।१।६९ में देखें ॥ पूर्व सूत्र से पदान्त में जो रेफ एवं वकार उनकी उपधा को दीर्घत्व प्राप्त था, यह सूत्र अपदान्तार्थ है ॥

यहां से 'हलि' की अनुवृत्ति ८।२।७८ तक जायेगी ॥

उपधायां च ॥८।२।७८॥

उपधायाम् ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—हलि, र्वोरुपधाया दीर्घ इकः, धातोः ॥ अर्थः—हलि परतो यौ धातोरुपधाभूतौ रेफवकारौ तयोरुपधाया इको दीर्घो भवति ॥ उदा०—हुर्छा—हूर्छिता । मुर्छा—मूर्छिता । उर्वी—ऊर्विता । धुर्वी—धूर्विता ॥

भाषार्थः—हल् परे रहते जो धातु के [उपधायाम्] उपधाभूत रेफ एवं वकार उनकी (=रेफ एवं वकार की) उपधा इक् को [च] भी दीर्घ होता है ॥ हुर्छा मुर्छा धातुओं की उपधा रेफ है, उस रेफ की उपधा इक् 'उ' को दीर्घ प्रकृत सूत्र से होता है । इसी प्रकार उर्वी धुर्वी का उर्व् धुर्व् शेष रहकर रेफ की उपधा इक् को दीर्घ हुआ है ॥ वकार उपधावाली धातु के अभाव में उदाहरण नहीं दिखाया ॥

न भकुर्छुराम् ॥८।२।७९॥

न अ० ॥ भकुर्छुराम् ६।३॥ स०—भश्च कुर् च छुर् च भकुर्छुरः, तेषां… इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—र्वोरुपधायाः दीर्घ इकः, धातोः ॥ अर्थः—रेफवकारान्तस्य भस्य कुर् छुर् इत्येतयोश्चोपधायाः दीर्घो न भवति ॥ उदा०—भस्य—धुरं वहति धुर्यः, धुरि साधुधुर्यः । कुर्—कुर्यात् । छुर्—छुर्यात् ॥

भाषार्थः—रेफ तथा वकारान्त [भकुर्छुराम्] भसंज्ञक को, एवं कुर् छुर् धातु की उपधा को दीर्घ [न] नहीं होता ॥ सर्वत्र उदाहरणों में हलि च से

दीर्घत्व की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया । कुर्यात् की सिद्धि सूत्र ६।४।१०९ में देखें । तद्वत् छुर धातु से छुर्यात् बनेगा । धुर्यः में धुरो यड्ढकौ (४।४।७७) तथा तत्र साधुः (४।४।९७) से यत् प्रत्यय हुआ है । अतः 'धुर्' यचि भम् (१।४।१८) से भसंज्ञक है ।।

अदसोऽसेर्दादु दो मः ॥८।२।८०॥

अदसः ६।१।। असेः ६।१।। दात् ५।१।। उ लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ।। दः ६।१।। मः १।१।। स०—अविद्यमानः सिः सकारो यस्य स असिः, तस्य ... बहुव्रीहिः ।। 'सि' इत्यत्र इकार उच्चारणार्थः ।। अर्थः—असकारान्तस्यादसो दादुत्तरस्य वर्णस्य उवर्णादेशो भवति, दकारस्य च मकारादेशो भवति ।। उदा०—अमुम्, अमू, अमून्, अमुना, अमूभ्याम् ।।

भाषार्थः—[असेः] असकारान्त जो [अदसः] अदस् शब्द उसके [दात्] दकार से उत्तर जो वर्ण उसके स्थान में [उ] उवर्ण आदेश होता है, तथा [दः] दकार को [मः] मकारादेश भी होता है ।। यहां उवर्ण आदेश करने से दकार से उत्तर एकमात्रिकवाले वर्ण को ह्रस्व 'उ' तथा दो मात्रिकवाले को दीर्घ 'ऊ' होता है, ऐसा जानें । यह बात परि० १।१।४९ के प्रमाणकृत आन्तर्य के उदाहरण अमुष्मै अमूभ्याम् से सुस्पष्ट हो जाती है, सो वहीं देखें । अमू की सिद्धि परि० १।१।१२ में देखें । एवं अमुना की सिद्धि न मु ने (८।२।३) सूत्र में देखें । अमून् में तस्माच्छसो० (६।१।९९) से शस् के स् को न् हुआ है ।।

यहां से 'अदसोऽसेर्दात् दो मः' की अनुवृत्ति ८।२।८१ तक जायेगी ।।

एत ईद् बहुवचने ॥८।२।८१॥

एतः ६।१।। ईत् १।१।। बहुवचने ७।१।। अनु०—अदसोऽसेर्दात् दो मः ।। अर्थः—असकारान्तस्यादसो दादुत्तरस्य एकारस्य ईकारादेशो भवति, दकारस्य च मकारः बहुवचने ।। उदा०—अमी, अमीभिः, अमीभ्यः, अमीषाम्, अमीषु ।।

भाषार्थः—असकारान्त अदस् शब्द के दकार से उत्तर [एतः] एकार के स्थान में [ईत्] ईकारादेश होता है, एवं दकार को मकार भी होता है, [बहुवचने] बहुवचन में, अर्थात् बहुत पदार्थों को कहने में ।। अमी की सिद्धि परि० १।१।१२ में देखें । तद्वत् भिस् आदि विभक्तियों में भी जानें ।। बहुवचने झल्येत् (७।३।१०३) से एत्व कर लेने पर अमीभिः आदि में ईत्व होता है । अमीषाम्, यहां 'अद आम्' इस अवस्था में ही आमि सर्वनाम्नः० (७।१।५२) से सुट् आगम होकर पश्चात् अन्य कार्य होते हैं ।।

वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः ॥८।२।८२॥

वाक्यस्य ६।१॥ टेः ६।१॥ प्लुतः १।१॥ उदात्तः १।१॥ **अनु०**—पदस्य ॥
अर्थः—अधिकारोऽयमापादपरिसमाप्तेः । यदित ऊर्ध्वमनुक्रमिष्यामो वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्त इत्येवं तद्वेदितव्यम् ॥ **उदा०**—वक्ष्यति–प्रत्यभिवादेऽशूद्रे—अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः, आयुष्मानेधि देवदत्त ३ ॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है। पाद की समाप्तिपर्यन्त (८।२।१०८) इसका अधिकार जायेगा। अतः सर्वत्र [वाक्यस्य] वाक्य की [टेः] टि को [प्लुतः] प्लुत [उदात्तः] उदात्त होता है, ऐसा अर्थ होता जायेगा॥ उदाहरण में 'देवदत्त३' वाक्य का अन्तिम पद है, अतः उसकी 'टि' को उदात्त प्लुत हो गया। 'पदस्य' का अधिकार आ ही रहा है, अतः "वाक्यान्त पद की टि को प्लुत उदात्त हो" यह अर्थ सङ्गत हो जायेगा॥ ऊकालोऽज्झ्रस्व० (१।२।२७) से त्रिमात्रिक की प्लुत-संज्ञा कही है, सो टि को त्रिमात्रिकत्व एवं उदात्तत्व हो जायेगा। जहाँ हलन्त टिसंज्ञक होगा, वहां भी हल् से पूर्व अच् को ही प्लुत होगा। क्योंकि प्लुत-संज्ञा अच् की कही है॥

प्रत्यभिवादेऽशूद्रे ॥८।२।८३॥

प्रत्यभिवादे ७।१॥ अशूद्रे ७।१॥ स०—न शूद्रोऽशूद्रः, तस्मिन्…नञ्तत्पुरुषः॥
अनु०—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ **अर्थः**—प्रत्यभिवादे यद्वाक्यमशूद्रविषयकं तस्य टेः प्लुतो भवति, स च उदात्तः॥ अभिवाद्यमानो यदाशीर्वचः प्रयुङ्क्ते स प्रत्यभिवादः॥ **उदा०**—अभिवादये देवदत्तोऽहम् भोः, आयुष्मानेधि देवदत्त३ ॥

भाषार्थः—[अशूद्रे] अशूद्र-विषय में [प्रत्यभिवादे] प्रत्यभिवाद वाक्य के पद की टि को प्लुत होता है, और वह प्लुत उदात्त होता है॥ अभिवादन करने के पश्चात् जिसका अभिवादन किया गया है, उसके द्वारा जो आशीर्वचन कहा जाता है, वही 'प्रत्यभिवाद' है। इस प्रकार उदाहरण में पहले 'अभिवादये…'=मैं देवदत्त आपका अभिवादन करता हूँ,ऐसा अभिवादन वाक्य प्रयुक्त हुआ।पश्चात् अभिवाद्यमान ने प्रत्यभिवादन रूप में आशीर्वचन कहा—"हे देवदत्त तुम चिरञ्जीवी हो", सो यहां प्रत्यभिवाद वाक्य के अन्तिम पद देवदत्त की टि को प्लुत उदात्त हो गया॥

दूराद्धूते च ॥८।२।८४॥

दूरात् ५।१॥ हूते ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—दूराद् हूते=आह्वाने यद् वाक्यं वर्त्तते, तस्य टेः प्लुतो भवति, स च उदात्तः॥ उदा०—आगच्छ भो माणवक देवदत्त ३ । आगच्छ भो माणवक यज्ञदत्त ३॥ अन्त्यं वर्जयित्वा अन्यत्रैकश्रुतिर्भवति अनुदात्ततरं विहाय ॥

भाषार्थः—[दूरात्] दूर से [हूते] बुलाने में जो प्रयुक्त वाक्य उसकी टि को [च] भी प्लुत उदात्त होता है ॥ देवदत्त३ यज्ञदत्त३ को यहां प्लुत उदात्त हो गया। क्योंकि वाक्य में दूर से आह्वान हो रहा है ॥ एकश्रुति दूरात् सम्बुद्धौ (१।२।३३) से टि को छोड़कर अन्यत्र एकश्रुति होती है, और टि से पूर्व को अनुदात्ततर (१।२।४०) होता है ॥

यहां से 'दूराद्धूते' की अनुवृत्ति ८।२।८५ तक जायेगी ॥

हैहेप्रयोगे हैहयोः ॥८।२।८५॥

हैहेप्रयोगे ७।१॥ हैहयोः ६।२॥ स०—हैश्च हेश्च हैहयौ, तयोः प्रयोगः हैहेप्रयोगः, तस्मिन्...द्वन्द्वगर्भषष्ठीतत्पुरुषः। हैश्च, हेश्च हैहयौ, तयोः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—दूराद्धूते, प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—हैहयोः प्रयोगे दूराद्धाह्वाने यद्वाक्यं तत्र हैहयोरेव प्लुतोदात्तो भवति ॥ उदा०—है३ देवदत्त, देवदत्त है३। हे३ देवदत्त, देवदत्त हे३ ॥

भाषार्थः—[हैहेप्रयोगे] है तथा हे के प्रयोग होने पर जो दूर से बुलाने में प्रयुक्त वाक्य उसमें [हैहयोः] है तथा हे को ही प्लुत उदात्त होता है ॥ "वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' का अधिकार होने से वाक्य के अन्त में प्रयुक्त 'है हे' को ही प्लुत उदात्त होता, किन्तु यहाँ 'हैहयोः' कह देने से वाक्य के आदि अथवा अन्त कहीं भी 'है हे' हों, उन्हें प्लुत उदात्त हो जायेगा ॥

गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् ॥८।२।८६॥

गुरोः ६।१॥ अनृतः ६।१॥ अनन्त्यस्य ६।१॥ अपि अ० ॥ एकैकस्य ६।१॥ प्राचाम् ६।३॥ स०—न ऋत् अनृत्, तस्य...नञ्तत्पुरुषः। न अन्त्योऽनन्त्यः, तस्य...नञ्तत्पुरुषः ॥ एकैकस्य इत्यत्र वीप्सायामर्थे द्वित्वम्, एकं बहुव्रीहिवत् (८।१।९) इति बहुव्रीहिवद्भावश्च ॥ अनु०—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—ऋकारवर्जितस्य गुरोरनन्त्यस्य, एकैकस्य, अपिग्रहणादन्त्यस्यापि टेः (सम्बोधने वर्त्तमानस्य) प्राचामाचार्याणां मतेन प्लुतोदात्तो भवति ॥ प्रत्यभिवादेऽशूद्रे इत्येवमादिना यः प्लुतो विहितस्तस्यैवायं स्थानविशेष उच्यते ॥ उदा०—आयुष्मानेधि दे३वदत्त। देवद३त्त। देवदत्त३। य३ज्ञदत्त। यज्ञद३त्त। यज्ञदत्त३ ॥

भाषार्थः—[अनृतः] ऋकार को छोड़कर वाक्य के [अनन्त्यस्य] अनन्त्य (जो अन्त में न हो ऐसे) [गुरोः] गुरुसंज्ञक वर्ण को [एकैकस्य] एक एक करके अर्थात् पर्याय से, तथा अन्त्य के टि को [अपि] भी [प्राचाम्] प्राचीन आचार्यों के मत में प्लुत उदात्त होता है ॥

प्रत्यभिवादेऽशूद्रे आदि तीन सूत्रों से जो वाक्य के अन्तिम पद के टि को प्लुत कहा है, उसका इस सूत्र से प्राचीन आचार्यों के मत में अन्य स्थानविशेष भी कहते हैं। 'प्राचाम्' कहने से पाणिनि मुनि के मत में केवल अन्त्य को प्लुतोदात्त होगा। अर्थात् 'आयुष्मानेधि देवदत्त३' ऐसा ही रहेगा॥ इस प्रकार इस सूत्र से प्राचीन आचार्यों के मत में 'देवदत्त' के अनन्त्य गुरुसंज्ञक वर्ण 'दे' के 'ए' को एवं 'द' के 'अ' को प्लुत होता है। तथा 'अपि' ग्रहण से पूर्व सूत्रों से प्राप्त अन्त्य टि को अर्थात् त्त के अ को भी पर्याय से प्लुत होता है। अन्त्य के साथ यहाँ गुरु का सम्बन्ध न लगकर टि का ही लगाना है। अतः गुरुसंज्ञा न होने पर भी अन्त्य टि को प्लुत होता है॥ दीर्घं च (१।४।१२) से 'दे' की गुरु-संज्ञा, तथा संयोगे गुरु (१।४।११) से त्त परे रहते 'द' की गुरु-संज्ञा है। इसी प्रकार यज्ञदत्त में भी जानें; यहाँ संयोगे गुरु से ही गुरु-संज्ञा है॥

ओमभ्यादाने ॥८।२।८७॥

ओम् अ० ॥ अभ्यादाने ७।१॥ अनु०—प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—अभ्यादाने य ओम्शब्दस्तस्य प्लुत उदात्तो भवति ॥ अभ्यादानम् = प्रारम्भः॥ उदा०—ओ३म् अग्निमीडे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१)॥

भाषार्थः—[अभ्यादाने] अभ्यादान = प्रारम्भ में वर्त्तमान [ओम्] ओम् शब्द को प्लुत उदात्त होता है॥ प्रारम्भ से अभिप्राय वैदिक मन्त्रों के प्रारम्भ से है॥ अचश्च (१।२।२८) परिभाषा सूत्र से सर्वत्र अच् को प्लुत होगा॥

ये यज्ञकर्मणि ॥८।२।८८॥

ये लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः॥ यज्ञकर्मणि ७।१॥ स०—यज्ञस्य कर्म = क्रिया यज्ञकर्म, तस्मिन्...षष्ठीतत्पुरुषः॥ अनु०—प्लुत उदात्तः, पदस्य॥ अर्थः—ये इत्येतस्य पदस्य यज्ञकर्मणि प्लुतोदात्तो भवति॥ उदा०—ये३ यजामहे, समिधाग्नि दुवस्यत (ऋ० ८।४४।१)॥

भाषार्थः—[ये] ये शब्द को [यज्ञकर्मणि] यज्ञ की क्रिया में प्लुत उदात्त होता है॥ श्रौत यज्ञकर्म में याज्या = जिस मन्त्र से आहुति दी जाती है, उसके आरम्भ में 'ये३ यजामहे' बोला जाता है॥

यहाँ से 'यज्ञकर्मणि' की अनुवृत्ति ८।२।९२ तक जायेगी॥

प्रणवष्टेः ॥८।२।८९॥

प्रणवः १।१॥ टेः ६।१॥ अनु०—यज्ञकर्मणि, वाक्यस्य प्लुत उदात्तः, पदस्य॥ अर्थः—यज्ञकर्मणि वाक्यस्य पदस्य टेः प्रणवः = ओम् इत्यादेशो भवति, स च प्लुतो-

दात्तो भवति ॥ उदा०—अपां रेतांसि जिन्वतो३म् (ऋ० ८।४४।१६); देवान् जिगाति सुम्नयो३म् ॥

भाषार्थ:—यज्ञकर्म में अन्तिम पद की [टे:] टि को [प्रणव:] प्रणव अर्थात् ओम् आदेश होता है, और वह प्लुत उदात्त होता है॥

विशेष:—सामिधेन्यादि (=समूहविशेष रूप में पठित) ऋचा विशेषों में ही टि को प्रणव (=ओङ्कार) यज्ञकर्म में होता है, सभी मन्त्रों को नहीं। अत: सभी मन्त्रों के अन्त में टि को ओ३म् करके यज्ञकर्म में बोलना अवैदिक क्रिया है, ऐसा समझना चाहिये। यह ओ३म् आदेश वहीं होता है, जहाँ ऋक्समूह का पाठमात्र होता है, वौषट् या स्वाहा शब्द का प्रयोग नहीं होता, यह श्रौतकर्म का नियम है॥ जिन्वति में इकार टि है, एवं 'सुम्नयुस्' में 'उस्', अत: इन्हीं को उदाहरणों में ओ३म् हो गया है। जिन्वति की सिद्धि पूर्व दिखा आये हैं॥

यहाँ से 'टे:' की अनुवृत्ति ८।२।९० तक जायेगी॥

याज्यान्त: ॥८।२।९०॥

याज्यान्त: १।१॥ स०—याज्यानामन्त: याज्यान्त:, षष्ठीतत्पुरुष: ॥ अनु०—टे:, यज्ञकर्मणि, वाक्यस्य प्लुत उदात्त:, पदस्य ॥ अर्थ:—याज्याकाण्डे ये पठिता: मन्त्रास्ते याज्या: । तेषामन्त्यस्य टे: प्लुत उदात्तो भवति यज्ञकर्मणि ॥ उदा०—स्तोमैर्विधेमाग्नया३इ (ऋ० ८।४३।११) । जिह्वामग्ने चकृषे हव्यवाहा३म् (ऋ० १०।८।६) ॥

भाषार्थ:—याज्यानुवाक्याकाण्ड[1] में पढ़े हुये मन्त्र याज्या[2] नाम से यहाँ स्मृत हैं। [याज्यान्त:] याज्या नाम की ऋचाओं के अन्त की टि को यज्ञकर्म में प्लुत उदात्त होता है॥ याज्याकाण्ड में ऋचाओं के वाक्यसमवायरूप में याज्या मन्त्र पढ़े हैं। सो यहाँ 'अन्त' ग्रहण करने से उस समुदाय के अन्त के टि को प्लुत उदात्त होता है। अन्यथा प्रत्येक वाक्य के अन्त के टि को हो जाता॥

---

१. अन्य संहिताओं में याज्यानुवाक्या मन्त्र बिखरे हुये हैं। परन्तु मैत्रायणी संहिता ४।१०–१४ (ग्रन्थान्ते) में सब एक स्थान पर पठित हैं। यह याज्यानुवाक्या-काण्ड ही कहाता है।

२. याज्या वे मन्त्र कहाते हैं, जिनसे श्रौतकर्म में यजन=आहुति-प्रदान किया जाता है॥

ब्रूहिप्रेष्यश्रौषड्वौषडावहानामादेः ॥८।२।९१॥

ब्रूहि ··· हानाम् ६।३॥ आदेः ६।१॥ स०— ब्रूहि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०— यज्ञकर्मणि, प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट्, आवह इत्येतेषामादेः प्लुत उदात्तो भवति, यज्ञकर्मणि ॥ उदा०—ब्रूहि—अग्नयेऽनुब्रू३हि । प्रेष्य—अग्नये गोमयान् प्रे३ष्य । श्रौषट्—अस्तु श्रौ३षट् । वौषट्—सोमस्याग्ने वीहि वौ३षट् । आवह—अग्निमा३वह ॥

भाषार्थः—[ब्रूहि···नाम्] ब्रूहि, प्रेष्य, श्रौषट्, वौषट्, आवह इन पदों के [आदेः] आदि को यज्ञकर्म में प्लुत उदात्त होता है ॥ श्रौषट् वौषट् शब्द निपात, तथा अन्य शब्द लोडन्त हैं ॥

यहाँ से 'आदेः' की अनुवृत्ति ८।२।९२ तक जायेगी ॥

अग्नीत्प्रेषणे परस्य च ॥८।२।९२॥

अग्नीत्प्रेषणे ७।१॥ परस्य ६।१॥ च अ० ॥ स०—अग्नीधः प्रेषणमग्नीत्प्रेषणं, तस्मिन्—षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—आदेः, यज्ञकर्मणि, प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—अग्नीधः प्रेषणे आदेः प्लुत उदात्तो भवति तस्मात् परस्य च, यज्ञकर्मणि ॥ अग्नीद् ऋत्विग्विशेषस्तस्य प्रेषणम्=यज्ञकर्मणि नियोजनम् ॥ उदा०—आ३श्रा३वय। ओ३ श्रा३वय ॥

भाषार्थः—[अग्नीत्प्रेषणे] अग्नीध् के प्रेषण=नियोजन (=कार्यार्थ प्रैष करने) में पद के आदि को प्लुत उदात्त होता है, [च] तथा उससे [परस्य] परे को भी होता है, यज्ञकर्म में ॥ अग्नीध् यज्ञ के ऋत्विग्-विशेष की संज्ञा है ॥

विभाषा पृष्टप्रतिवचने हेः ॥८।२।९३॥

विभाषा १।१॥ पृष्टप्रतिवचने ७।१॥ हेः ६।१॥ स०—पृष्टस्य प्रतिवचनम्=आख्यानं पृष्टप्रतिवचनं, तस्मिन्··· षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—प्लुत, उदात्तः पदस्य ॥ अर्थः—पृष्टस्य प्रतिवचने=प्रत्युत्तरे हेः विभाषा प्लुत उदात्तो भवति ॥ उदा०—अकार्षीः कटं देवदत्त ? अकार्षं हि३ । अकार्षं हि । अलावीः केदारं देवदत्त ? अलाविषं हि३ । अलाविषं हि ॥

भाषार्थः - [पृष्टप्रतिवचने] पृष्ट=पूछे गये प्रश्न के प्रतिवचन=प्रत्युत्तर-वाक्य में जो [हेः] हि उसको [विभाषा] विकल्प करके प्लुत, उदात्त होता है ॥ 'अकार्षं हि, अलविष हि' ये पृष्टप्रतिवचन में वाक्य कहे गये हैं । अतः 'हि' को विकल्प से प्लुत उदात्त हो गया ॥

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ८।२।९४ तक जायेगी ॥

निगृह्यानुयोगे च ॥८।२।९४॥

निगृह्य अ० ॥ अनुयोगे ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—विभाषा, वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ स्वपक्षात् प्रच्यावनमपनयनं निग्रहः । यस्मादसौ प्रच्यावित-स्तस्यैव मतस्याऽऽविष्करणं शब्देन प्रकाशनम् अनुयोगः । निगृह्य इति ल्यबन्तमेतत् ॥ अर्थः—निगृह्यानुयोगे यद् वाक्यं वर्त्तते, तस्य टेः विभाषा प्लुत, उदात्तो भवति ॥ उदा०—अनित्यः शब्द इति केनचित् प्रतिज्ञातम्, तं वादिनमुपपत्तिभिर्निगृह्य स्वमतात् प्रच्याव्य उपालिप्सुः सामर्षमनुयुङ्क्ते—अनित्यः शब्द इत्यात्थ३ । अनित्यः शब्द इत्यात्थ । अद्यामावास्येत्यात्थ३ । अद्यामावास्येत्यात्थ ॥

भावार्थः—[निगृह्यानुयोगे] निग्रह करने के पश्चात् अनुयोग में वर्त्तमान जो वाक्य उसकी टि को [च] भी विकल्प से प्लुत उदात्त होता है ॥ निगृह्य शब्द ल्यबन्त है । तर्क एवं हेतु द्वारा किसी को स्वमत से हटा देने को, अर्थात् उसके पक्ष का खण्डन कर देने को 'निग्रह' कहते हैं । एवं जिस पक्ष से वह निगृहीत (=पकड़ा गया) हुआ है, उसी मत का शब्दों द्वारा आविष्कार=प्रकाश करना 'अनुयोग' कहाता है । इस प्रकार निगृह्य=निगृहीत करके जो अनुयोग है, उसमें जो वाक्य उसकी 'टि' को प्लुत उदात्त होता है । उदाहरण में किसी ने 'शब्द अनित्य है' ऐसी प्रतिज्ञा की । ऐसा कहनेवाले के पक्ष का तर्क एवं हेतु द्वारा खण्डन कर दिया, यह निग्रह हुआ । अब जिस पक्ष से अर्थात् 'अनित्य शब्द है' इस प्रतिज्ञा से, वह हटाया गया, उसी पक्ष का क्रोधयुक्त निन्दा से वह उपालिप्सु=उपालम्भ देनेवाला प्रकाश करता है । यथा—'अनित्यः···'शब्द अनित्य है ऐसा कहता है; 'आज अमावास्या है' ऐसा कहता है । इस प्रकार यहाँ निगृह्यानुयोग स्पष्ट है ।

आम्रेडितं भर्त्सने ॥८।२।९५॥

आम्रेडितम् १।१॥ भर्त्सने ७।१॥ अनु०—प्लुत उदात्तः ॥ अर्थः—भर्त्सने यद् यदाम्रेडितं प्लवते उदात्तश्च भवति ॥ वाक्यादेरा० (८।१।८) इत्यनेन भर्त्सने द्विर्वचनमुक्तं, तस्याम्रेडितस्यात्र प्लुतो भवति ॥ उदा०—चौर चौर३, वृषल वृषल३, दस्यो दस्यो३ घातयिष्यामि त्वा बन्धयिष्यामि त्वा ॥

भावार्थः—[भर्त्सने] भर्त्सन में [आम्रेडितम्] आम्रेडित को (टि को) प्लुत उदात्त होता है ॥ वाक्यादेरामन्त्रितस्या० से भर्त्सन की गम्यमानता में द्वित्व कहा है । सो उस द्वित्व किये हुये के आम्रेडित-संज्ञक (८।१।२) को प्रकृत सूत्र से प्लुत उदात्त हो गया ॥

यहाँ से 'भर्त्सने' की अनुवृत्ति ८।२।९६ तक जायेगी ॥

अङ्गयुक्तं तिङाकाङ्क्षम् ॥८।२।९६॥

अङ्गयुक्तम् १।१॥ तिङ् १।१॥ आकाङ्क्षम् १।१॥ स०—अङ्ग इत्यनेन युक्तमङ्गयुक्तम्, तृतीयातत्पुरुषः। आकाङ्क्षतीति आकाङ्क्षम्, पचाद्यच् भवति ॥ अनु०—भर्त्सने, प्लुत उदात्तः ॥ अर्थः—अङ्ग इत्यनेन युक्तमाकाङ्क्षं तिङन्तं भर्त्सने प्लवते, उदात्तश्च स भवति ॥ उदा०—अङ्ग कूज३, अङ्ग व्याहर३, इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म ॥

भाषार्थः—[अङ्गयुक्तम्] अङ्ग शब्द से युक्त जो [तिङाकाङ्क्षम्] आकाङ्क्षा रखनेवाला तिङन्त उसको (उसके टि को) प्लुत होता है ॥ कूज व्याहर (लोडन्त) तिङन्त अङ्ग शब्द से युक्त तथा आकाङ्क्ष (=किसी अन्य बात की अपेक्षा रखते हैं) हैं, अतः इन्हें प्लुत हो गया ॥ किसी ने किसी को कहा—'अङ्ग कूज३' खूब बोल लो तुम, अभी पता चलेगा ॥

विचार्यमाणानाम् ॥८।२।९७॥

विचार्यमाणानाम् ६।३॥ अनु०—वाक्यस्य टेः प्लुतः उदात्तः ॥ प्रत्यक्षादिप्रमाणेन वस्तुपरीक्षणं विचारः, तेन विचारेण विषयीक्रियमाणानि ज्ञानानि विचार्यमाणानि, तेषां विचार्यमाणानाम् ॥ अर्थः—विचार्यमाणानां वाक्यानां टेः प्लुत उदात्तो भवति ॥ उदा०—होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ। तिष्ठेद्यूपा३इ। अनुप्रहरेद्यूपा३इ ॥

भाषार्थः—[विचार्यमाणानाम्] विचार्यमाण वाक्य के टि को प्लुत उदात्त होता है ॥ प्रत्यक्षादि प्रमाणों के द्वारा किसी वस्तु का परीक्षण करना, अर्थात् यह कैसा है कैसा नहीं यह सोचना विचार है। उस विचार का विषयरूप जो ज्ञान वह विचार्यमाण (=विचार किया जानेवाला) ज्ञान है। अतः ऐसे वाक्य के टि को प्लुत कह दिया। विपूर्वक चर धातु से कर्म में यक् शानच् होकर विचार्यमाण बना है। होतव्यं यहाँ विचार किया जा रहा है कि—'दीक्षित के घर में यज्ञ करना चाहिये या नहीं।' यूपे तिष्ठेत् यहाँ 'क्या यूप पर रहे अथवा यूप पर प्रहार करे' यह विचार हो रहा है; अतः ये विचार्यमाण वाक्य हैं। अगले सूत्र में 'भाषायाम्' कहने से यह सूत्र छन्द में ही होगा, ऐसा जानें ॥ उदाहरणों में 'गृहे' 'यूपे' के एकार को प्रकृत सूत्र से प्लुत विधान करने पर एचोऽप्रगृह्य० (८।२।१०७) ने कहा कि—'एच् को प्लुत जब कहें, तो उस एच् के पूर्ववाले आधे अंश को अकार हो जाये और वह प्लुत हो, तथा उत्तरवाले अंश को इकार उकार हो जाये। सो यहाँ 'ए' के उत्तरांश को इ

तथा पूर्व को अकार होकर प्लुत हो गया। एच् की दो मात्रायें हैं, अतः एक-एक मात्रा को दोनों कार्य हो गये ॥

यहाँ से 'विचार्यमाणानाम्' की अनुवृत्ति ८।२।६८ तक जायेगी ॥

पूर्वं तु भाषायाम् ॥८।२।६८॥

पूर्वम् १।१॥ तु अ०॥ भाषायाम् ७।१॥ अनु०—विचार्यमाणानाम्, वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ अर्थः—विचार्यमाणानां वाक्यानां भाषायां विषये पूर्वमेव वाक्यं प्लवते उदात्तश्च भवति ॥ उदा०—अहिर्नु ३ रज्जुर्नु । लोष्टो नु ३ कपोतो नु ॥

भाषार्थः—विचार्यमाण वाक्यों के [पूर्वम्] पूर्ववाले वाक्य की टि को [तु] ही [भाषायाम्] भाषा विषय में प्लुत उदात्त होता है ॥ पूर्व सूत्र से ही सिद्ध होने पर नियमार्थ यह सूत्र है कि—'पूर्ववाले वाक्य की टि को ही प्लुत हो परवाले को नहीं'। प्रयोग की अपेक्षा से पूर्वत्व समझना चाहिये। अतः अहिर्नु ३, लोष्टो नु ३ पूर्व प्रयुक्त वाक्य को प्लुत हुआ है। यह सर्प है अथवा रज्जु है; ढेला है अथवा कपोत है, ऐसा उदाहरणों का अर्थ है। 'नु' शब्द वितर्क अर्थ में यहाँ है ॥

प्रतिश्रवणे च ॥८।२।६६॥

प्रतिश्रवणे ७।१॥ च अ०॥ अनु०—वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, पदस्य ॥ प्रतिश्रवणमभ्युपगमः=अङ्गीकारः, श्रवणाभिमुख्यं च ॥ अर्थः—प्रतिश्रवणे यद्वाक्यं वर्त्तते, तस्य टेः प्लुत उदात्तो भवति ॥ उदा०—गां मे देहि भोः ! अहं ते ददामि ३ । देवदत्त भोः ! किमात्थ ३ ॥

भाषार्थः—[प्रतिश्रवणे] प्रतिश्रवण में वर्त्तमान वाक्य की टि को [च] भी प्लुत उदात्त होता है ॥ प्रतिश्रवण स्वीकार=अङ्गीकार करने को तथा अच्छी प्रकार सुनने में प्रवृत्ति को भी कहते हैं, सो दोनों अर्थों में यह सूत्र प्रवृत्त होता है। पूर्व उदाहरण में किसी ने कहा—'गौ मुझे दान करो', तो दूसरे ने उसे स्वीकार करके कहा—अहं ते ददामि=हाँ तुम्हें गौ देता हूँ। सो यह अङ्गीकार अर्थ में प्रतिश्रवण वाक्य है। द्वितीय उदाहरण में कोई देवदत्त को सम्बोधित करता है। सुननेवाला पूछता है क्या कहा ? इससे उसके अच्छी प्रकार सुनने की चेष्टा व्यक्त हो रही है, अतः टि को प्लुत उदात्त हो गया ॥

अनुदात्तं प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ॥८।२।१००॥

अनुदात्तम् १।१॥ प्रश्नान्ताभिपूजितयोः ७।२॥ स०—प्रश्नार्थे वाक्ये प्रश्नशब्दो

वर्तते, तस्य अन्तः प्रश्नान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रश्नान्तश्च अभिपूजितश्च प्रश्नान्ताभिपूजितौ, तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वाक्यस्य टेः प्लुतः, पदस्य ॥ अर्थः—प्रश्नवाक्ये यच्चरमं पदं प्रयुज्यते स प्रश्नान्तः, तस्मिन् प्रश्नान्तेऽभिपूजितेऽर्थे यद्वाक्यं तत्र च विधीयमानः प्लुतोऽनुदात्तो भवति, न तूदात्तः ॥ अनन्त्यस्यापि प्रश्ना० (८।२।१०५) इत्यनेन प्रश्नान्ते प्लुतो विधीयते; अभिपूजिते तु दूराद्धूते० (८।२।८४) इति । तत्रोभयत्रानेनानुदात्तं क्रियते ॥ उदा०—अगमः३ पूर्वा३न् ग्रा३मा३न् अग्निभूता३इ । अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् पट३उ । अभिपूजिते—शोभनः खल्वसि माणवक३ ॥

भाषार्थः—[प्रश्नान्ताभिपूजितयोः] प्रश्नान्त तथा अभिपूजित में विधीयमान प्लुत को [अनुदात्तम्] अनुदात्त होता है ॥ प्रश्नान्त से यहाँ प्रश्न किये जानेवाले वाक्य के अन्तिम पद से अभिप्राय है । सो ऐसे वाक्य के अन्तिम पद को विधीयमान, एवं अभिपूजित अर्थ में वर्त्तमान जो वाक्य उसको विधीयमान जो प्लुत उसे इस सूत्र से अनुदात्त कह दिया । प्लुत को 'प्लुत उदात्तः' का अधिकार होने से उदात्त ही प्राप्त था, अतएव अनुदात्त विधानार्थ यह सूत्र है ॥

अनन्त्यस्यापि प्रश्ना० (८।२।१०५) से प्रश्नान्त में प्लुत का विधान है । अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः सूत्र से वाक्यस्य अन्त्य एवं अनन्त्य सभी पदों के टि को प्लुत स्वरित कहा है । सो यहाँ इस वचनप्रामाण्य से प्रश्नवाक्य के अन्तिम पद को पक्ष में प्लुत अनुदात्त भी हो जाता है, पक्ष में स्वरितत्व रहेगा ही । इस प्रकार अन्तिम पद को प्लुत स्वरित एवं प्लुत अनुदात्त होकर दो पक्ष बनेंगे । अभिपूजित (= सत्कार) में सम्बोधन के पद को दूराद्धूते (८।२।८४) से उदात्त प्लुत प्राप्त था, इस सूत्र से अनुदात्त प्लुत हो गया है ॥ हे अग्निभूते हे पटो, यहाँ प्लुत करने पर पूर्ववत् (८।२।९७ के अनुसार) एचोऽप्रगृह्यस्या० (८।२।१०७) से पूर्व को प्लुत 'अ' एवं उत्तर को इकार उकार होकर—'अग्निभूता३ इ, पटा३उ' बना है ॥ "हे अग्निभूति! हे पटु! क्या तुम पूर्व ग्रामों को गये थे" ऐसा अर्थ अगमः३ पूर्वा३न् ···वाक्यों का है ॥ उत्तरांश को किये हुए इकार उकार उदात्त ही होते हैं, ऐसा समझना चाहिये ॥

यहाँ से 'अनुदात्तम्' की अनुवृत्ति ८।२।१०२ तक जायेगी ॥

चिदिति चोपमार्थे प्रयुज्यमाने ॥८।२।१०१॥

चित् अ० ॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ उपमार्थे ७।१॥ प्रयुज्यमाने ७।१॥ स०—उपमायाः अर्थः उपमार्थः, तस्मिन्···षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अनुदात्तम्, वाक्यस्य टेः प्लुतः, पदस्य ॥ अर्थः—चिदित्येतस्मिन् निपाते उपमार्थे प्रयुज्यमाने वाक्यस्य टेरनुदात्तः प्लुतो भवति ॥ उदा०—अग्निचिद् भाया३त् । राजचिद् भाया३त् ॥

भाषार्थः—[चित्] चित् [इति] यह निपात [च] भी जब [उपमार्थे] उपमा के अर्थ में [प्रयुज्यमाने] प्रयुक्त हो, तो वाक्य के टि को अनुदात्त प्लुत होता है ॥ यहाँ इसी सूत्र से अनुदात्त एवं इसी से प्लुत दोनों का विधान हो रहा है ॥ अग्निश्चिद् भायाऽ३त् आदि का अर्थ है—'अग्नि के समान प्रकाशित हो, राजा के समान दीप्तिमान् हो।' इस प्रकार यहाँ चित् उपमार्थ में प्रयुक्त है ॥

उपरि स्विदासीदिति च ॥८।२।१०२॥

उपरि अ० ॥ स्वित् अ० ॥ आसीत् क्रियापदम् ॥ इति अ० ॥ च अ० ॥ अनु०—अनुदात्तम्, वाक्यस्य टेः प्लुतः ॥ अर्थः—उपरि स्विदासीत् इत्येतस्य टेरनुदात्तः प्लुतो भवति ॥ उदा०—अधः स्विदासीऽ३त्, उपरि स्विदासीऽ३त् (ऋ० १०।१२९।५) ॥

भाषार्थः—[उपरि स्विदासीत्] 'उपरि स्विदासीत्' [इति] इसकी टि को [च] भी प्लुत अनुदात्त होता है ॥ 'उपरि स्वित् आसीत्' ऐसा वेदमन्त्र का भाग है। यहाँ 'स्वित्' अव्यय वितर्क अर्थ में है। मन्त्रभाग का अर्थ है कि—'इस जगत् के उत्पन्न होने से पूर्व जो तमस्[1] (=प्रकृति) था, वह स्रष्टा के उपरि (=उससे अधिक) था, अथवा अधः=अल्प था'? ऐसा वितर्क यहाँ किया जा रहा है। अतः विचार्यमाण वाक्य होने से दोनों वाक्यों के 'आसीत्' पद की टि को विचार्यमाणानाम् (८।२।९७) से प्लुत हुआ है। इस प्रकार दोनों के प्लुत को उदात्त भी ८।२।९७ से ही प्राप्त था। प्रकृत सूत्र से 'उपरि स्विदासीत्' के प्लुत को अनुदात्त हो गया। तब अधः स्विदासीत् वाला प्लुत यथावत् उदात्त ही रहा ॥

स्वरितमाम्रेडितेऽसूयासम्मतिकोपकुत्सनेषु ॥८।२।१०३॥

स्वरितम् १।१॥ आम्रेडिते ७।१॥ असू० नेषु ७।३॥ स०—असूया च सम्मतिश्च कोपश्च कुत्सनञ्च असूया० कुत्सनानि, तेषु इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—टेः प्लुतः ॥ अर्थः—आम्रेडिते परतः स्वरितः प्लुतो भवति, असूयायां सम्मतौ कोपे कुत्सने च गम्यमाने ॥ उदा०—असूयायाम्—माणवकऽ३ माणवक, अभिरूपकऽ३ अभिरूपक! रिक्तं त आभिरूप्यम्। सम्मतौ—माणवकऽ३ माणवक, अभिरूपकऽ३ अभिरूपक! शोभनः खल्वसि। कोपे—माणवकऽ३ माणवक, अविनीतकऽ३ अविनी-

---

१. देखो—तम आसीत्तमसा० (ऋ० १०।१२९।३) मन्त्र में प्राचीन सांख्याचार्यों के मत में तमः प्रकृति की संज्ञा है। (द्र०—दुर्ग निरुक्त टीका ७।३ में उद्धृत पारमर्ष सूत्र) ॥

तक ! इदानीं ज्ञास्यसि जाल्म । कुत्सने—शाक्तीक३ शाक्तीक, याष्टीक३ याष्टीक! रिक्ता ते शक्तिः ॥

भाषार्थः—[आम्रेडिते] आम्रेडित परे रहते पूर्वपद की टि को [स्वरितम्] स्वरित प्लुत होता है [असूया…नेषु] असूया=निन्दा, स्मति=पूजा, कोप तथा कुत्सन गम्यमान होने पर ॥ उदाहरणों में वाक्यादेरामन्त्रि० (८।१।८) से द्वित्व होता है । अतः परवाले पद आम्रेडित (८।१।२) के परे रहते पूर्व टि को प्लुत स्वरित हो गया ॥ सर्वत्र उदाहरणों में असूयादि अर्थों की प्रतीति हो रही है, यथा प्रथम उदाहरण में 'ए सुन्दर माणवक ! तेरा सब सौन्दर्य समाप्त हो गया' यहाँ स्पष्ट असूया है ॥

यहाँ से 'स्वरितम्' की अनुवृत्ति ८।२।१०५ तक जायेगी ॥

क्षियाशीःप्रैषेषु तिङाकाङ्क्षम् ॥८।२।१०४॥

क्षियाशीःप्रैषेषु ७।३॥ तिङ् १।१॥ आकाङ्क्षम् १।१॥ स०—क्षिया च आशीश्च प्रैषश्च क्षियाशीःप्रैषाः, तेषु…इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वरितम्, टेः प्लुतः ॥ अर्थः—क्षिया, आशीः, प्रैष इत्येतेषु गम्यमानेषु यद् आकाङ्क्षं तिङन्तं तस्य टेः स्वरितः प्लुतो भवति ॥ उदा०—क्षियायाम्—स्वयं रथेन याति३ उपाध्यायं पदातिं गमयति । स्वयं ह ओदनं भुङ्क्ते३ उपाध्यायं सक्तून् पाययति । आशिषि—सुतांश्च लप्सीष्ठा३ धनं च तात । छन्दोऽध्येषीष्ठा३ व्याकरणं च भद्र । प्रैषे—कटं कुरु३ ग्रामं च गच्छ । यवान् लुनीहि३ सक्तूंश्च पिब ॥

भाषार्थः—[क्षियाशीःप्रैषेषु] क्षिया, आशीः तथा प्रैष गम्यमान हो, तो [तिङाकाङ्क्षम्] आकाङ्क्ष तिङन्त की टि को स्वरितप्लुत होता है ॥ क्षिया आचार के उल्लङ्घन को कहते हैं ॥ 'सुतांश्च…यहाँ पुत्रों को प्राप्त करो और धन को प्राप्त करो' यह आशीर्वाद दिया जा रहा है । सर्वत्र पहले वाक्य का तिङन्त पद दूसरे वाक्य की अपेक्षा रखता है । अतः आकाङ्क्ष होने से प्लुत स्वरित हो गया ॥

अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः ॥८।२।१०५॥

अनन्त्यस्य ६।१॥ अपि अ० ॥ प्रश्नाख्यानयोः ७।२॥ स०—न अन्त्यमनन्त्यम्, तस्य…नञ्तत्पुरुषः । प्रश्नश्च आख्यानञ्च प्रश्नाख्याने, तयोः…इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्वरितम्, वाक्यस्य टेः प्लुतः, पदस्य ॥ अर्थः—वाक्यस्य अनन्त्यस्यापि अन्त्यस्यापि पदस्य टेः स्वरितः प्लुतो भवति प्रश्ने आख्याने च ॥ उदा०—प्रश्ने—अगम३ः पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ, पटा३उ । आख्याने—अगम३म् पूर्वा३न् ग्रामा३न् भोः ३ ॥

भाषार्थः—वाक्यस्य [अनन्त्यस्य] अनन्त्य एवं 'अपि' ग्रहण से अन्त्य पद की टि को [अपि] भी [प्रश्नाख्यानयोः] प्रश्न एवं आख्यान होने पर स्वरित प्लुत होता है। 'पदस्य' एवं 'वाक्यस्य' दोनों का अधिकार होने से वाक्यान्त पद को ही स्वरित प्लुत की प्राप्ति थी। 'अनन्त्यस्य' ग्रहण से वाक्यस्थ सभी पदों को स्वरित प्लुत हो गया॥ प्रश्न वाक्य के अन्तिम पद की टि को पक्ष में अनुदात्त प्लुत भी, अनुदात्तं प्रश्नान्ता० (८।२।१००) से जैसे होता है, वह उसी सूत्र में देखें॥ 'आख्यान' कथन उत्तर को कहते हैं। सो 'अगम३ः' का अर्थ होगा—'हाँ मैं पूर्व के ग्रामों में गया था'। पहले वाक्य में पूछे गये वाक्य का यह उत्तर है॥

प्लुतावैच इदुतौ ॥८।२।१०६॥

प्लुतौ १।२॥ ऐचः ६।१॥ इदुतौ १।२॥ स०—इत् च उत् च इदुतौ, इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—प्लुतः॥ अर्थः—ऐचः प्लुतप्रसङ्गे तदवयवभूतौ इदुतौ प्लुतौ भवतः॥ उदा०—ऐ३तिकायन। औ३पगव॥

भाषार्थः—[ऐचः] ऐच् के स्थान में जब प्लुत का प्रसङ्ग हो, तो उस ऐच् = ऐ औ के अवयवभूत जो [इदुतौ] इकार उकार उनको [प्लुतौ] प्लुत होता है॥ अवर्ण तथा इवर्ण के मेल से ए ऐ, एवं अवर्ण तथा उवर्ण के मेल से ओ औ बनते हैं, अर्थात् एच् समाहार वर्ण हैं। अतः दूराद्धूते च (८।२।८४) इत्यादि सूत्रों से विहित जो प्लुत वहाँ यदि ऐ औ को प्लुत करने का प्रसङ्ग हो, तो ऐ औ के अवयवभूत इवर्ण और उवर्ण को ही प्लुत हो। तत्स्थित अवर्ण को न हो, एतदर्थ यह सूत्र है॥ उदाहरणों में अनन्त्य गुरुसंज्ञक 'ऐ औ' को गुरोरनृतो० (८।२।८६) से प्लुत प्राप्त हुआ, तो प्रकृत सूत्र ने उस ऐच् के 'इ उ' भाग को प्लुत कर दिया॥

एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ ॥८।२।१०७॥

एचः ६।१॥ अप्रगृह्यस्य ६।१॥ अदूरात् ५।१॥ हूते ७।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ अर्धस्य ६।१॥ आत् १।१॥ उत्तरस्य ६।१॥ इदुतौ १।२॥ स०—अप्रगृह्यस्य, अदूरात् उभयत्र नञ्तत्पुरुषः। इदुतौ इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—प्लुतः॥ अर्थः—अप्रगृह्यस्य एचोऽदूराद्धूते प्लुतविषये पूर्वस्यार्धस्य आकार आदेशो भवति स च प्लुतः, उत्तरस्येकारोकारौ आदेशौ भवतः॥ उदा०—अगमः३ पूर्वा३न् ग्रामा३न् अग्निभूता३इ, पटा३उ। भद्रं करोषि माणवक३ अग्निभूता३इ, पटा३उ। होतव्यं दीक्षितस्य गृहा३इ। आयुष्मानेधि अग्निभूता३इ, पटा३उ। उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे, स्तोमैर्विधेमाग्नया३इ (ऋ० ८।४३।११)॥

भाषार्थः—[अप्रगृह्यस्य] अप्रगृह्यसंज्ञक [एचः] एच्, जो [अदूराद्धूते] दूर से बुलाने के विषय में न हो, तो प्लुत करने के प्रसङ्ग में उस एच् के [पूर्वस्यार्धस्य] पूर्वार्ध भाग को [आत्] आकारादेश होता है, और वह प्लुत होता है, तथा [उत्तरस्य] उत्तरवाले भाग को [इदुतौ] इकार उकार आदेश होते हैं ॥ ये एच् समाहार (=मिले हुये) वर्ण हैं, ऐसा पूर्व सूत्र में कह चुके हैं। सो उनके पूर्ववाले आधे भाग को आकार, एवं उत्तरभाग को इकार उकार हो गया। पूर्व सूत्रों से उदात्त अनुदात्त स्वरित जैसा प्लुत कहा है, वैसा ही आकार आदेश यहां होता है। इकार उकार तो उदात्त ही होते हैं, ('उदात्तः' के अधिकार से सम्बन्धित होने से) ऐसा जानना चाहिये ॥ प्रथम उदाहरण में अनुदात्तं प्रश्ना० (८।२।१००) से प्लुत को अनुदात्त, द्वितीय में भी (अभिपूजित में) इसी सूत्र से प्लुत को अनुदात्त हुआ है। तृतीय उदाहरण में विचार्यमाणानाम् (८।२।९७) से उदात्त प्लुत, चतुर्थ में प्रत्यभिवादेऽशूद्रे से, तथा पञ्चम में याज्यान्तः (८।२।९०) से उदात्त प्लुत हुआ है, ऐसा जानें। भाष्य में इस सूत्र के विषय का परिगणन कर दिया है। सो हमने भी तद्वत् ही उदाहरण दर्शा दिये हैं ॥

तयोर्य्वावचि संहितायाम् ॥८।२।१०८॥

तयोः ६।२॥ य्वौ १।२॥ अचि ७।१॥ संहितायाम् ७।१॥ स०—यश्च वश्च य्वौ, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—प्लुतः ॥ अर्थः—तयोरिदुतोर्यकारवकारादेशौ भवतोऽचि परतः, संहितायां विषये ॥ उदा०—अग्ना३याशा, पटा३वाशा, अग्ना३यिन्द्रम्, पटा३वुदकम् ॥

भाषार्थः—[तयोः] उनके अर्थात् प्लुत के प्रसङ्ग में एच् के उत्तरार्ध को जो इकार उकार पूर्व सूत्र से विधान कर आये हैं, उन इकार उकार के स्थान में क्रमशः [य्वौ] य् व् हो जाते हैं, [अचि] अच् परे रहते [संहितायाम्] सन्धि के विषय में ॥ इको यणचि (६।१।७४) की दृष्टि में ये इकार उकार पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) से असिद्ध हैं। अतः इको यणचि से यणादेश हो नहीं सकता था, इसलिये यह सूत्र बनाया ॥ अग्ने आशा, पटो आशा, यहां पूर्व सूत्रोक्तानुसार प्रश्नान्त (८।२।१००) अभिपूजितादि किसी अर्थ में प्लुत होकर पूर्व सूत्र से आकारादेश, एवं उत्तरार्ध को इकार उकार होकर 'अग्ना३इ आशा, पटा३उ आशा' रहा। प्रकृत सूत्र से अच् परे रहते य् व् होकर अग्ना३याशा, पटा३वाशा आदि प्रयोग बन गये। अग्ना३इ इन्द्रम्, पटा३उ उदकम्, यहां अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) की दृष्टि में

इ उ असिद्ध होने से सवर्णदीर्घ नहीं होता । इसी से य् व् आदेश हो जाते हैं ।

यहाँ से 'संहितायाम्' का अधिकार अध्याय की समाप्ति पर्यन्त ८।४।६७ तक जायेगा ॥

इति द्वितीयः पादः ॥

—:o:—

तृतीयः पादः

मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि ॥८।३।१॥

मतुवसोः ६।२॥ रु लुप्तप्रथमान्तनिर्देशः ॥ सम्बुद्धौ ७।१॥ छन्दसि ७।१॥ स०—मतुश्च वस् च मतुवसौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—संहितायाम्, पदस्य ॥ अर्थः—मत्वन्तस्य वस्वन्तस्य च पदस्य रुरित्ययमादेशो भवति, संहितायां सम्बुद्धौ परतः छन्दसि विषये ॥ उदा०—मत्वन्तस्य—इन्द्र मरुत्व इह पाहि सोमम् (ऋ० ३।५१।७) । हरिवो मेदिनं त्वा (ऋ० खिल० १०।१२८।१) । वस्वन्तस्य—मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड (ऋ० २।३३।१४) ॥

भाषार्थः—[मतुवसोः] मत्वन्त तथा वस्वन्त पद को संहिता में [सम्बुद्धौ] सम्बुद्धि परे रहते [छन्दसि] वेद-विषय में [रु] रु आदेश होता है ॥ हरिवो मेदिनम् की सिद्धि सूत्र ८।२।१५ में देखें । मरुत्व, यहाँ भी उसी प्रकार मरुत् शब्द से मतुप् नुमागमादि, एवं झयः (८।२।१०) से मतुप् को वत्व होकर मरुत्वान् रहा । न् को प्रकृत सूत्र से रु, तथा उस रु को 'इह' परे रहते भो भगो० (८।३।१७) से य्, एवं उस य् का लोप लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) से लोप होकर 'मरुत्व इह' बना । 'मीढ्वस्तोकाय' की सिद्धि सूत्र ६।१।१२ में देखें । मिह् से लिट् के स्थान में क्वसु, एवं निपातन से अद्विर्वचनादि करके मीढ्वस् सु=मीढ्वन् रहा । यह वस्वन्त पद है, अतः प्रकृत सूत्र से न् को रुत्व हो गया। पश्चात् विसर्जनीय एवं सत्व हो गये ॥

यहाँ से 'रु' की अनुवृत्ति ८।३।१२ तक जायेगी ॥

अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा ॥८।३।२॥

अत्र अ० ॥ अनुनासिकः १।१॥ पूर्वस्य ६।१॥ तु अ० ॥ वा अ० ॥ अनु०—

रु, संहितायाम् ।। अर्थः—इतं उत्तरं यस्य स्थाने रुर्विधीयते, ततः पूर्वस्य तु वर्णस्य वाऽनुनासिकादेशो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ।। अधिकारसूत्रमिदम् ।। उदा०—वक्ष्यति—समः सुटि—सँस्स्कर्त्ता, संस्स्कर्त्ता । सँस्स्कर्त्तुम्, संस्स्कर्त्तुम् । सँस्स्कर्त्तव्यम् संस्स्कर्त्तव्यम् ।।

भाषार्थः—[अत्र] यहाँ से आगे जिसको रु विधान करेंगे, उससे [पूर्वस्य] पूर्व के वर्ण को [तु] तो [वा] विकल्प से [अनुनासिकः] अनुनासिक आदेश होता है, ऐसा अधिकार इस रुत्व-विधान के प्रकरण में समझना चाहिये ।। इस प्रकार इस सूत्र का अधिकार ८।३।१२ तक समझ लेना चाहिये । प्रत्येक सूत्र में अनुवृत्ति में या सूत्रार्थ में इसे कहने की आवश्यकता नहीं। क्योंकि यह इस 'रु प्रकरण' का सार्वत्रिक नियम है, जिसे एक स्थान पर समझने से काम चल जाता है ।। 'रु' का यहाँ विभक्तिविपरिणाम से पञ्चमी में अर्थ होगा ।। सँस्स्कर्त्ता, अनुनासिक[1] होकर तथा पक्ष में जब अनुनासिक नहीं होगा, तो ८।३।४ से अनुस्वार होकर संस्स्कर्त्ता प्रयोग बनेगा । अनुस्वार पक्ष में तीन प्रयोग बनेंगे, यह हम सुट् कात् पूर्वः (६।१।१३१) सूत्र में सिद्धिसहित दिखा चुके हैं, वहीं देख लें । अनुनासिक पक्ष में भी दो सकार, तथा अनचि च (८।४।४६) से द्वित्व होकर तीन सकारवाले सँस्स्कर्त्ता सँस्स्स्कर्त्ता प्रयोग बनते हैं । हमने उदाहरणों में द्विसकारक ही प्रयोग दर्शा दिये हैं। किन्तु इनके सकारभेद से अनुनासिकपक्ष में दो[2]; एवं अनुस्वारपक्ष में तीन प्रयोग होकर (देखो—६।१।१३१) कुल ५ प्रयोग बनेंगे, ऐसा जानें ।। वा शरि (८।३।३६) में व्यवस्थित विभाषा होने से यहाँ विसर्जनीय पक्ष नहीं बनता । इसका विशेष व्याख्यान द्वितीयावृत्ति का विषय है ।।

आतोऽटि नित्यम् ।।८।३।३।।

आतः ६।१।। अटि ७।१।। नित्यम् १।१।। अनु०—अनुनासिकः पूर्वस्य, रु, संहितायाम् ।। अर्थः—अटि परतो रोः पूर्वस्याकारस्य स्थाने नित्यमनुनासिकादेशो भवति संहितायां विषये ।। उदा०—महाँ 'असि' (ऋ० १।६६।१६; ३।४६।२)। महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० ८।६।१) । देवाँ अच्छा दीद्यत् (ऋ० ३।१।१) ।।

---

१. वर्णोच्चारणशिक्षा में ँ इस चिह्न से युक्त वर्ण की अनुनासिक-संज्ञा कही है ।

२. समो वा लोपमेक इच्छन्ति (भा० वा० ८।२।५) इस वार्तिक से वस्तुतः अनुनासिक पक्ष में भी 'म्' लोप होने से एक सकार होकर तीन प्रयोग होते हैं । इस प्रकार कुल ६ प्रयोग हुये ।।

भाषार्थः—[अटि] अट् परे रहते रु से पूर्व [आतः] आकार को [नित्यम्] नित्य 'अनुनासिक आदेश होता है। महान् और देवान् के न् को दीर्घादटि समानपादे (८।३।९) से रु हुआ है। अतः उस 'रु' से पूर्व आ को विकल्प से अनुनासिक पूर्व सूत्र से प्राप्त था। नित्य विधान करने के लिये यह सूत्र है॥ रु को य (८।३।१७), एवं उसका लोप पूर्ववत् उदाहरणों में हो ही जायेगा॥

अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः ॥८।३।४॥

अनुनासिकात् ५।१॥ परः १।१॥ अनुस्वारः १।१॥ अनु०—पूर्वस्य, रु, संहितायाम् ॥ अर्थः—रोः पूर्वोऽनुनासिकादन्यो यो वर्णः, यस्यानुनासिको न विहितः, ततः परोऽनुस्वार आगमो भवति संहितायां विषये॥ उदा०—संस्स्कर्त्ता, संस्स्कर्त्तव्यम्। पुंस्कामा, भवांश्चरति॥

भाषार्थः—रु से पूर्व वर्ण जो [अनुनासिकात्] अनुनासिक से अन्य है, अर्थात् जिसे अनुनासिक नहीं विधान किया, उससे [परः] परे [अनुस्वारः] अनुस्वार आगम होता है, संहिता में॥ 'अन्य' शब्द का अध्याहार करके सूत्रार्थ यहाँ सम्पन्न होगा॥ जिस पक्ष में अत्रानुनासिकः पूर्वस्य० (८।३।२) से अनुनासिक आदेश नहीं होता, उस पक्ष में अनुस्वार आगम हो जायेगा, ऐसा जानें। क्योंकि तभी रु से पूर्व अनुनासिक से अन्य वर्ण मिल सकेगा॥ सिद्धि प्रकार एवं विशेष परिज्ञान के लिये ८।३।२ एवं ६।१।१३१ सूत्र देखें॥

समः सुटि ॥८।३।५॥

समः ६।१॥ सुटि ७।१॥ अनु०—रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—सम् इत्येतस्य रुर्भवति सुटि परतः संहितायां विषये॥ उदा०—सँस्स्कर्त्ता, संस्स्कर्त्तुम्, सँस्स्कर्त्तव्यम्॥

भाषार्थः—[समः] सम् को रु होता है, [सुटि] सुट् परे रहते संहिता-विषय में॥ अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् को रु होगा॥ अनुस्वार एवं अनुनासिक, तथा सकार के भेद से कुल ६ प्रयोग बनते हैं, जो कि सूत्र ८।३।२, एवं ६।१।१३१ में दिखा दिये हैं॥

पुमः खय्यम्परे ॥८।३।६॥

पुमः ६।१॥ खयि ७।१॥ अम्परे ७।१॥ स०—अम् (प्रत्याहारः) परो

१. नित्य ग्रहण प्रायिकत्व द्योतनार्थ है। अतः क्वचित् अनुस्वार भी देखा जाता है। 'वा' ग्रहण से समान कोटिक विकल्प होता है।

अस्मात् स अम्परः, तस्मिन् ··· बहुव्रीहिः ॥ अनु०—रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—पुम् इत्येतस्य रुर्भवति अम्परे खयि परतः संहितायाम् ॥ उदा०—पुंसि कामोऽस्याः पुँस्कामा, पुँस्स्कामा, पुंस्कामा, पुंस्स्कामा। पुँस्पुत्रः, पुँस्स्पुत्रः, पुंस्पुत्रः, पुंस्स्पुत्रः। पुंसः चली पुँश्चली, पुँश्श्चली, पुंश्चली, पुंश्श्चली॥

भाषार्थः—[अम्परे] अम् प्रत्याहार परे है जिससे ऐसे [खयि] खय् (प्रत्याहार) के परे रहते [पुमः] पुम् को (अन्त्य अल् को) रु होता है, संहिता में ॥ 'पुम् कामा' यहाँ पुम् से परे क् खय् प्रत्याहार में, तथा उससे परे 'आ' अम् में है। अतः अम्परक खय् परे रहते म् को रु हो गया। पूर्ववत् रु को विसर्जनीय, तथा विसर्जनीयस्य सः (८।३।३४) से सत्व करके पूर्व वर्ण को पक्ष में अनुनासिक एवं अनुस्वार, तथा पक्ष में अनचि च (८।४।४६) से स् को द्वित्व करने के भेद से चार प्रयोग बनेंगे। इसी प्रकार सब में जानें। पुँश्चली आदि में स् को स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) से श् भी हुआ है ॥ पुँस्कामा आदि में कुप्वोः ⌣क ⌣पौ च (८।३।३७) की प्रवृत्ति व्यवस्थित विभाषा होने से नहीं होती। यथा ८।३।२ के उदाहरणों में वा शरि (८।३।३६) से पाक्षिक विसर्जनीय नहीं हुआ था ॥

यहाँ से 'अम्परे' की अनुवृत्ति ८।३।८ तक जायेगी ॥

नश्छव्यप्रशान् ॥८।३।७॥

नः ६।१॥ छवि ७।१॥ अप्रशान् १।१, षष्ठ्यर्थे प्रथमा ॥ स०—न प्रशान् अप्रशान्, नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अम्परे, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्रशान्-वर्जितस्य नकारान्तस्य पदस्य रुर्भवत्यम्परे छवि परतः संहितायां विषये ॥ उदा०—भवाँश्छादयति, भवांश्छादयति। भवाँश्चिनोति, भवांश्चिनोति। भवाँष्टीकते, भवांष्टीकते। भवाँस्तरति, भवांस्तरति ॥

भाषार्थः—[अप्रशान्] प्रशान् को छोड़कर जो [नः] नकारान्त पद उनको अम्परक [छवि] छव् प्रत्याहार परे रहते रु होता है, संहिता में ॥ पूर्ववत् यहाँ भी अनुनासिक एवं अनुस्वार का विकल्प ही दिया है। रु को विसर्जनीय एवं ८।३।३४ से पूर्ववत् सत्व करके यथाप्राप्त श्चुत्व ष्टुत्व हुये हैं। शेष सब पूर्ववत् हैं ॥

यहाँ से 'नः' की अनुवृत्ति ८।३।१२ तक, तथा 'छवि' की ८।३।८ तक जायेगी ॥

उभयथर्क्षु ॥८।३।८॥

उभयथा अ० ॥ ऋक्षु ७।३॥ अनु०—नश्छवि, अम्परे, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥

अर्थः—नकारान्तस्य पदस्याम्परे छवि परत उभयथा ऋक्षु भवति रुर्वा नकारो वा ॥ पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्प्यते ॥ उदा०—तस्मिंस्त्वा दधाति । तस्मिँस्त्वा दधाति । तस्मिन्त्वा दधाति ॥

भाषार्थः—नकारान्त पद को अम्परक छव् प्रत्याहार परे रहते [ऋक्षु] पाद-युक्त मन्त्रों[1] में [उभयथा] दोनों प्रकार ही होता है । अर्थात् एक पक्ष में रु, एक पक्ष में नकार ही रहता है ॥ पूर्व सूत्र से नित्य प्राप्त था, विकल्प कर दिया ॥ पूर्ववत् छव् त् से परे अम् प्रत्याहार व परे है ही, अतः विकल्प हो गया ॥

यहाँ से 'ऋक्षु' की अनुवृत्ति ८।३।६ तक जायेगी ॥

दीर्घादटि समानपादे ॥८।३।६॥

दीर्घात् ५।१॥ अटि ७।१॥ समानपादे ७।१॥ स०—समानश्च असौ पादश्च समानपादः, तस्मिन् ... कर्मधारयस्तत्पुरुषः ॥ अनु०—ऋक्षु, नः, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—दीर्घादुत्तरस्य पदान्तस्य नकारस्य ऋक्षु रुर्भवत्यटि परतः, तौ चेन्निमित्तनिमित्तिनौ समानपादे भवतः ॥ उदा०—परिधीँरति (ऋ० ६।१०७।१६)। देवाँ अच्छा दीद्यत् (ऋ० ३।१।१) । महाँ इन्द्रो य ओजसा (ऋ० ८।६।१) ॥

भाषार्थः—[दीर्घात्] दीर्घ से उत्तर नकारान्त पद को [अटि] अट् परे रहते पादबद्ध मन्त्रों में रु होता है, यदि निमित्त (=जिसको मानकर कार्य हो) तथा निमित्ती (=अर्थात् जिसको विधि करनी है) दोनों [समानपादे] एक ही पाद में हों ॥ समान शब्द का यहाँ एक अर्थ गृहीत है । तथा पाद से ऋचा (=मन्त्र) का पाद लिया जायेगा ॥ देवाँ महाँ उदाहरणों में आतोऽटि नित्यम् (८।३।३) से नित्य ही रु से पूर्व वर्ण को अनुनासिक हुआ है ॥

नृन्पे ॥८।३।१०॥

नॄन् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ पे ७।१॥ अनु०—नः, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—नॄन् इत्येतस्य नकारस्य रुर्भवति पशब्दे परतः संहितायां विषये ॥ उदा०—नॄँः पाहि, नॄंः पाहि । नॄँः प्रीणीहि, नॄंः प्रीणीहि ॥

भाषार्थः—[नॄन्] नॄन् शब्द के नकार को [पे] प परे रहते रु होता है ॥

---

१. ऋक् शब्द से पादबद्ध मन्त्रों का ग्रहण होता है, केवल ऋग्वेद का ही नहीं । ऋक् का लक्षण जैमिनि ने 'यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था सा ऋक्' (मी० २।१।३५) अर्थात् जिन मन्त्रों में अर्थानुकूल पादव्यवस्था होती है, वे ऋक् शब्द वाच्य होते हैं, किया है ।

'प' में अकार उच्चारणार्थ है ॥ रु को विसर्जनीय (८।३।१५से), होकर उस विसर्जनीय को पक्ष में प् परे रहते उपध्मानीय आदेश होकर, तथा पक्ष में विसर्जनीय ही रहकर नॄँः पाहि, नॄँ ⌒पाहि दो प्रयोग बनेंगे। उनके भी अनुनासिक एवं अनुस्वार का भेद करके दो प्रयोग होंगे। इस प्रकार कुल ४ प्रयोग बनेंगे, ऐसा जानें। मूल उदाहरणों में दो ही दर्शाये हैं ॥

स्वतवान्पायौ ॥८।३।११॥

स्वतवान्, लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ पायौ ७।१॥ अनु०—नः, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—स्वतवान् इत्येतस्य नकारस्य रुर्भवति, पायुशब्दे परतः संहितायां विषये ॥ उदा०—भुवस्तस्य स्वतवाँ पायुरग्ने (ऋ० ४।२।६) ॥

भाषार्थः—[स्वतवान्] स्वतवान् शब्द के नकार को रु होता है [पायौ] पायु शब्द परे रहते ॥ स्वतवान् यह वैदिक उदाहरण है। अतः इसका अनुस्वार एवं उपध्मानीय पक्ष का उदाहरण वैदिक प्रयोगों में प्राप्त होने पर ही देना शक्य है ॥ सिद्धि सूत्र ७।१।८३ में देखें ॥

कानाम्रेडिते ॥८।३।१२॥

कान्, लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ॥ आम्रेडिते ७।१॥ अनु०—नः, रु, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—कान् इत्येतस्य नकारस्य रुर्भवति, आम्रेडिते परतः संहितायां विषये ॥ उदा०—कांस्कानामन्त्रयते। कांस्कान् भोजयति। काँस्कानामन्त्रयते, काँस्कान् भोजयति ॥

भाषार्थः—[कान्] कान् शब्द के नकार को रु होता है [आम्रेडिते] आम्रेडित परे रहते ॥ किम् शब्द के द्वितीया बहुवचन का 'कान्' रूप है। वीप्सा अर्थ में (८।१।४से) द्वित्व होकर कान् कान् (किस-किसको) बना। अब कान् आम्रेडित के परे रहते पूर्ववाले कान् के न् को रुत्व, एवं रु को विसर्जनीय, तथा विसर्जनीयस्य सः (८।३।३४) से विसर्जनीय को सत्व, एवं पूर्व वर्ण को अनुनासिक, और अनुस्वार होकर कांस्कान् बन गया। यहाँ कांस्कान् का कस्कादि गण में पाठ मानने से पक्ष में कुप्वोः⌒क⌒पौ च (८।३।३७) से, जिह्वामूलीय आदेश नहीं होता। क्योंकि कस्कादि गण में पढ़े होने से इस्कादिषु च (८।३।४८) से सकार को सकार ही रहता है, अर्थात् जिह्वामूलीय नहीं होता ॥

ढो ढे लोपः ॥८।३।१३॥

ढः ६।१॥ ढे ७।१॥ लोपः १।१॥ अनु०—संहितायाम् ॥ अर्थः—ढकारे परतो ढकारस्य लोपो भवति, संहितायां विषये ॥ उदा०—लीढम्, उपगूढम् ॥

भाषार्थः—[ढे] ढकार परे रहते [ढः]-ढकार का [लोपः] लोप होता है संहिता में ।। सिद्धियाँ सूत्र ६।३।१०९ में देखें ।।

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ८।३।१४ तक जायेगी ।।

रो रि ।।८।३।१४।।

रः ६।१।। रि ७।१।। अनु०—लोपः, पदस्य, संहितायाम् ।। अर्थः—पदस्य रेफस्य रेफे परतो लोपो भवति संहितायां विषये ।। उदा०—नीरक्तम्, दूरक्तम्, अग्नी रथः, इन्दू रथः, पुना रक्तं वासः, प्राता राजक्रयः, अजर्घाः ।।

भाषार्थः—पद के [रः] रेफ का [रि] रेफ परे रहते लोप होता है संहिता में ।। पद के रेफ कहने से पद के अवयवरूप पदान्त अपदान्त सभी रेफों का लोप होता है ।। नीरक्तम् आदि की सिद्धि सूत्र ६।३।१०९ में, तथा अजर्घाः की परि० ८।२।३७ में देखें । यहाँ अपदान्त रेफ का लोप हुआ है ।।

यहाँ से 'रः' की अनुवृत्ति ८।३।१७ तक जायेगी ।।

खरवसानयोर्विसर्जनीयः ।।८।३।१५।।

खरवसानयोः ७।२।। विसर्जनीयः १।१।। स०—खर् च अवसानं च खरवसाने, तयोः ··· इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—रः, पदस्य, संहितायाम् ।। अर्थः—रेफान्तस्य पदस्य खरि परतोऽवसाने च विसर्जनीयादेशो भवति, संहितायां विषये ।। उदा०—वृक्षश्छादयति, प्लक्षश्छादयति; वृक्षस्तरति, प्लक्षस्तरति । अवसाने—वृक्षः, प्लक्षः ।।

भाषार्थः—रेफान्त पद को [खरवसानयोः] खर् परे रहते तथा अवसान में [विसर्जनीयः] विसर्जनीय आदेश होता है संहिता में ।। वृक्षश्छादयति आदि में वृक्ष के सु का रुत्व विसर्जनीय होकर, उस विसर्जनीय को विसर्जनीयस्य सः (८।३।३४) से सत्व होकर श्चुत्व हुआ है । वृक्षः के स्वाद्युत्पत्ति आदि की प्रक्रिया परि० १।१।१ के भागः के समान जानें । विरामोऽवसानम् (१।४।१०९) से अवसान-संज्ञा होती है ।। अलोऽन्त्यस्य (१।१।५१) से अन्त्य अल् रेफ को ही विसर्जनीय सर्वत्र होगा ।।

यहाँ से 'विसर्जनीयः' की अनुवृत्ति ८।३।१६ तक जायेगी ।।

रोः सुपि ।।८।३।१६।।

रोः ६।१।। सुपि ७।१।। अनु०—विसर्जनीयः, रः, संहितायाम् ।। अर्थः—रु इत्येतस्य रेफस्य सुपि परतो विसर्जनीयादेशो भवति ।। उदा०—पयस्—पयःसु । सर्पिस्—सर्पिःषु । यशस्—यशःसु ।।

भाषार्थः—[रोः] 'रु' के रेफ को [सुपि] सुप् परे रहते विसर्जनीय आदेश होता है ।। 'सुपि' से यहाँ सप्तमीबहुवचन सुप् विभक्ति का ग्रहण है, न कि २१ सुपों का ।। पूर्व सूत्र से ही रु के रेफ को विसर्जनीय आदेश सिद्ध था, पुनर्वचन नियमार्थ है । अर्थात् सुप् (७।३) परे रहते रु के रेफ को ही विसर्जनीय हो, अन्य किसी रेफ को न हो ।। सर्पिःषु में नुम्विसर्ज० (८।३।५८) से षत्व हुआ है । पयस्+सु=पय रु सु=पयर् सु=पयःसु ।।

यहाँ से 'रोः' की अनुवृत्ति ८।३।१७ तक जायेगी ।।

भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ।।८।३।१७।।

भोभगोअघोअपूर्वस्य ६।१।। यः १।१।। अशि ७।१।। स०—भोश्च भगोश्च अघोश्च अश्च भोभगोअघोआः, इतरेतरद्वन्द्वः । भोभगोअघोआः पूर्वाः यस्य स भोभ··· अपूर्वः, तस्य··· बहुव्रीहिः ।। अनु०—रोः, रः, संहितायाम् ।। अर्थः—भो भगो अघो इत्येवंपूर्वस्य अवर्णपूर्वस्य च रोः रेफस्य यकारादेशो भवति, अशि परतः संहितायां विषये ।। उदा०—भो अत्र । भगो अत्र । अघो अत्र । भो ददाति । भगो ददाति । अघो ददाति । अवर्णपूर्वस्य—क आस्ते, ब्राह्मणा ददति, पुरुषा ददति ।।

भाषार्थः—[भोभ··· पूर्वस्य] भो भगो अघो तथा अवर्ण पूर्व में है जिस रु के, उस रु के रेफ को [यः] यकार आदेश होता है [अशि] अश् परे रहते ।। भोस् अत्र=भोर् अत्र, र् को य् होकर—भो य् अत्र, यहाँ य् का लोप ओतो गार्ग्यस्य (८।३।२०) से हो गया, तो 'भो अत्र' बना । भो य् ददाति में हलि सर्वेषाम् (८।३।२२) से य् का लोप हुआ है । इसी प्रकार भगो अत्र, भगो ददाति आदि में जानें । क र् आस्ते आदि में र् से पूर्व अवर्ण तथा अश् परे है । ब्राह्मणा ददति प्रयोग बहुवचन जस् में है ।। भोभगोअघो, यहाँ सूत्र में सन्धि कार्य सौत्र मानकर नहीं हुये ।। भोस् भगोस् अघोस् शब्द विभाषा भवद्० (भा० वा० ८।३।१) से निष्पन्न होते हैं, अथवा निपात हैं ।।

यहाँ से 'भोभगोअघोअपूर्वस्य' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक, तथा 'अशि' की ८।३।२० तक जायेगी ।।

व्योर्लघुप्रयत्नतरः शाकटायनस्य ।।८।३।१८।।

व्योः ६।२।। लघुप्रयत्नतरः १।१।। शाकटायनस्य ६।१।। स०—वश्च यश्च व्यौ, तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः । लघुः प्रयत्नो यस्य स लघुप्रयत्नः, बहुव्रीहिः । अतिशयेन लघुप्रयत्नो लघुप्रयत्नतरः ।। अनु०—भोभगोअघोअपूर्वस्य, अशि, पदान्तस्य, संहितायाम् ।। अर्थः—भोभगोअघोअवर्णपूर्वयोः पदान्तयोः वकारयकारयोर्लघुप्रयत्नतर

आदेशो भवति अशि परतः, शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन ॥ लघुप्रयत्नतरत्वमुच्चारणे स्थानकरणशैथिल्यम् ॥ उदा०—भोयत्र, भगोयत्र, अघोयत्र । अवर्णपूर्वस्य—कयास्ते, क आस्ते । काक आस्ते, काकयास्ते । अस्मायुद्धर, अस्मा उद्धर । असावादित्य:, असा आदित्य: । द्वावत्र, द्वा अत्र । द्वावानय, द्वा आनय ॥

भाषार्थ:—भो भगो अघो तथा अवर्ण पूर्ववाले जो पदान्त के [व्यो:] वकार यकार उनको [लघुप्रयत्नतर:] लघुप्रयत्नतर आदेश होता है अश् परे रहते, [शाकटायनस्य] शाकटायन आचार्य के मत में ॥ उच्चारण में स्थान (तालु आदि) करण (जिह्वामूलादि) की शिथिलता, अर्थात् जिसके उच्चारण में थोड़ा बल पड़े, उसे 'लघुप्रयत्न' कहते हैं, अतिशय लघुप्रयत्न लघप्रयत्नतर कहाता है । यह वर्णोच्चारणशिक्षा का विषय है । इस प्रकार उदाहरणों में पूर्व सूत्र से य् होकर उसे लघुप्रयत्नतर आदेश करने पर स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से य् को य् एवं व् को व् ही लघप्रयत्नतर आदेश हुआ, अर्थात् लोप नहीं हुआ । अस्मै उद्धर से लेकर आगे के सब उदाहरणों में एचोऽयवायाव: (६।१।७५) से आय् आव् होकर य् व् को लघुप्रयत्नतर आदेश हुआ है, शेष में पूर्व सूत्र से य् हुआ है । य् व् का उत्तर सूत्र ८।३।१९ से शाकल्य के मत में लोप कहा है, एवं शाकल्य ग्रहण वहाँ विकल्पार्थ है । अत: लोप एवं लघुप्रयत्नतर के दो पक्ष (विकल्प) कयास्ते आदि में दिखाये हैं । ओकार से उत्तर 'अलघुप्रयत्नतर य् व् का ओतो गार्ग्यस्य (८।३।२०) से नित्य लोप

१. भोभगोअघो० सूत्र से विहित य् अलघुप्रयत्नतर=सामान्य प्रयत्नवाला है । उसका लोप: शाकल्यस्य से विकल्प से लोप होता है । अलोप पक्ष में य व् को लघुप्रयत्नतर आदेश हो जाता है । ओकारान्तों से गार्ग्य के मत में नित्य लोप होता है ।

वस्तुत: य् व् का त्रिविध उच्चारण होता है । पदादि में पूर्णप्रयत्न से, पदमध्य में लघुप्रयत्न से, पदान्त में लघुतरप्रयत्न से, यह त्रिविध उच्चारण स्वाभाविक है । इसे ही याज्ञवल्क्य-शिक्षा में क्रमशः गुरु लघु और लघुतर कहा है । पदादि गुरु वकारोच्चारण को दर्शाने के लिये माध्यन्दिनपाठ में उसे द्वित्व रूप से लिखा जाता है—'व्वायुवस्थ' । पदादि यकार को भी पुरा काल में द्वित्व रूप से ही लिखा जाता था—'य्यजमानस्य' (द्र०—हमारा संवत् १४७१ का पदपाठ) । उत्तरकाल में यकार को षकार के समान मध्योदररेखा से युक्त लिखने की परिपाटी चल पड़ी । पदादि यकार को गुरु उच्चारण करते हुये ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न के स्थान पर प्रमाद से निहन=प्रयत्नाधिक्यरूप दोष से स्पृष्ट प्रयत्न में उसकी परिणति हो जाने से यजुर्वेद में य के स्थान में जकार का उच्चारण होने लग गया । अपभ्रंशों में पदादि यकार की जकार में परिणति का भी यही कारण है, यथा—जमुना जजमान । यु० मी० ॥

होता है। सो उसके भो अत्र आदि रूप बनेंगे। लघुप्रयत्नतर आदेशवाले य् व् के तो भोयत्र भगोयत्र ही रूप बनेंगे। अतः इनके पाक्षिक रूप नहीं दर्शाये हैं।।

यहाँ से 'व्योः' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक जायेगी ।।

लोपः शाकल्यस्य ॥८।३।१९॥

लोपः १।१।। शाकल्यस्य ६।१।। अनु०—व्योः, अपूर्वस्य अशि, पदस्य, संहितायाम् ।। अर्थः—पदान्तयोर्वकारयकारयोरवर्णपूर्वयोर्लोपो भवति, शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन अशि परतः ।। उदा०—क आस्ते, कयास्ते । काक आस्ते, काकयास्ते । अस्मा उद्धर, अस्मायुद्धर । द्वा अत्र, द्वावत्र । असा आदित्यः, असावादित्यः ।।

भाषार्थः—अवर्ण पूर्ववाले पदान्त यकार, वकार का [शाकल्यस्य] शाकल्य आचार्य के मत में [लोपः] लोप होता है।। सिद्धियाँ पूर्व सूत्र में ही देख लें ।।

विशेषः—शाकल्य ग्रहण विकल्पार्थ है । उसके बिना भी पूर्व सूत्र में लघुप्रयत्नतर आदेश, एवं इस सूत्र में लोप कह देने से दो पक्ष सिद्ध ही थे। पुनः शाकल्य ग्रहण के विकल्प से (अर्थात् पाणिनि मुनि के मतानुसार) लोप विकल्प होकर अलघुप्रयत्नतर का एक पक्ष में लोप, एवं एक पक्ष में श्रवण होकर तीन प्रयोग बनते हैं, अर्थात्—एक पक्ष लघुप्रयत्नतर आदेश का, एवं द्वितीय अलघुप्रयत्नतर के लोप, तथा तृतीय अलघुप्रयत्नतर के श्रवण का ।।

यहाँ से 'लोपः' की अनुवृत्ति ८।३।२२ तक जायेगी ।।

ओतो गार्ग्यस्य ।।८।३।२०।।

ओतः ५।१।। गार्ग्यस्य ६।१।। अनु०—लोपः, व्योः, अशि, पदस्य, संहितायाम्।। अर्थः—ओकारादुत्तरस्य यकारस्य लोपो भवति गार्ग्यस्याचार्यस्य मतेनाशि परतः ।। उदा०—भो अत्र, भगो अत्र, भो इदम्, भगो इदम् ।। नित्यार्थोऽयमारम्भः, ओकारात् परस्य वकारस्यासंभवात् यकारस्य नित्यं लोप एव भवति, लघुप्रयत्नतरादेशस्तु भवत्येव ।।

भाषार्थः—[ओतः] ओकार से उत्तर यकार का लोप होता है, [गार्ग्यस्य] गार्ग्य आचार्य के मत में ।। ओकार से उत्तर 'व्' का सम्भव ही न होने से केवल य् का सम्बन्ध सूत्रार्थ में किया है । प्रकृत भो भगो अघो के ओकार से उत्तर य् का ही लोप उदाहरणों में हुआ है।। यहाँ गार्ग्य ग्रहण पूजार्थ है, अतः नित्य ही लोप होता है ।।

विशेषः—पूर्वसूत्र में ही 'भोभगोअघो' की अनुवृत्ति आकर लोप सिद्ध था, पुनः यह नित्यार्थ सूत्र है । सो य् का नित्य लोप हो जाता है । लघुप्रयत्नतर यकारादेश(८।३।१८से)भी नहीं होता । इस विषय में ८।३।१८ सूत्र की टिप्पणी द्रष्टव्य है।।

उञि च पदे ॥८।३।२१॥

उञि ७।१॥ च अ० ॥ पदे ७।१॥ अनु०—लोपः, व्योः, अपूर्वस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवर्णपूर्वयोः पदान्तयोर्व्योर्लोपो भवति उञि च पदे परतः ॥ उदा०—स उ एकविंशतिः, स उ एकाग्निः ॥

भाषार्थः—अवर्ण पूर्ववाले पदान्त य् व् का [उञि] उञ् [पदे] पद के परे रहते [च] भी लोप होता है ॥ लोपः शाकल्यस्य (८।३।१९) से विकल्प से लोप प्राप्त था, नित्यार्थ यह सूत्र है। अतः लघुप्रयत्नतर आदेश नहीं होता ॥

हलि सर्वेषाम् ॥८।३।२२॥

हलि ७।१॥ सर्वेषाम् ६।३॥ अनु०—लोपः, व्योः, भोभगोअघोअपूर्वस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—भोभगोअघोअपूर्वस्य पदान्तस्य यकारस्य हलि परतः सर्वेषामाचार्याणां मतेन लोपो भवति ॥ उदा०—भो हसति । भगो हसति । अघो हसति । भो याति । भगो याति । अघो याति । बालका हसन्ति ॥

भाषार्थः—भो भगो अघो तथा अवर्ण पूर्ववाले पदान्त यकार का [हलि] हल् परे रहते [सर्वेषाम्] सब आचार्यों के मत में लोप होता है ॥

विशेषः—'सर्वेषाम्' ग्रहण से शाकटायन के मत में भी हल् परे रहते लोप होता है, अर्थात् लघुप्रयत्नतर नहीं होता ॥

यहां से 'हलि' की अनुवृत्ति ८।३।२३ तक जायेगी ॥

मोऽनुस्वारः ॥८।३।२३॥

मः ६।१॥ अनुस्वारः १।१॥ अनु०—हलि, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—पदान्तस्य मकारस्य अनुस्वारादेशो भवति हलि परतः ॥ उदा०—कुण्डं हसति, वनं हसति । कुण्डं याति, वनं याति ॥

भाषार्थः—पदान्त [मः] मकार को [अनुस्वारः] अनुस्वार आदेश होता है, हल् परे रहते सन्धि करने में[1] ॥

यहां से 'अनुस्वारः' की अनुवृत्ति ८।३।२४ तक, तथा 'मः' की ८।३।२६ तक जायेगी ॥

---

१. इस सूत्र से जो अनुस्वार होता है, उसको वा पदान्तस्य (८।४।५८) से परसवर्ण आदेश विकल्प से होता है। उत्तर सूत्र से होनेवाले अनुस्वार को अनुस्वारस्य० (८।४।५७) से नित्य परसवर्ण होता है। वेद में पदान्त अनुस्वार का परसवर्ण

नश्चापदान्तस्य झलि ॥८।३।२४॥

नः ६।१॥ च अ० ॥ अपदान्तस्य ६।१॥ झलि ७।१॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पदान्तोऽपदान्तः, तस्य नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—मोऽनुस्वारः, संहितायाम् ॥ अर्थः—नकारस्य मकारस्य चापदान्तस्यानुस्वारादेशो भवति झलि परतः ॥ उदा०—नकारस्य—पयांसि, यशांसि । सर्पींषि, धनूंषि । मकारस्य—आक्रंस्यते, आचिक्रंसते । अधिजिगांसते ॥

भाषार्थः—[अपदान्तस्य] अपदान्त [नः] नकार को [च] तथा चकार से मकार को भी [झलि] झल् परे रहते अनुस्वार आदेश होता है ॥ पयांसि यशांसि आदि की सिद्धि परि० १।१।४६ में देखें । आङ्पूर्वक क्रम् धातु के लृट् लकार में आङ उद्गमने (१।३।४०) से आत्मनेपद होकर आक्रंस्यते, तथा सन् में पूर्ववत्सनः (१।३।६२) से आत्मनेपद होकर आचिक्रंसते बना है । अधिजिगांसते की सिद्धि सूत्र २।४।४८ में देखें । यहाँ तीनों स्थलों में मकार को अनुस्वार हुआ है ॥

मो राजि समः क्वौ ॥८।३।२५॥

मः १।१॥ राजि ७।१॥ समः ६।१॥ क्वौ ७।१॥ अनु०—मः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—समो मकारस्य मकार आदेशो भवति, क्विप्प्रत्ययान्ते राजधातौ परतः ॥ उदा०—सम्राट्, साम्राज्यम् ॥

भाषार्थः—[समः] सम् के मकार को [मः] मकारादेश [क्वौ] क्विप् प्रत्ययान्त [राजि] राज् धातु के परे रहते होता है ॥ सम्राट् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें । साम्राज्यम् में क्विबन्त सम्राज् शब्द से गुणवचनब्रा०(५।१।१२३)

भी व्यवस्थित है । तदनुसार ऋग्वेद में अनुस्वार रहता है, शुक्ल यजुर्वेद में नित्य परसवर्ण होता है । (यहाँ वैदिक पाठ ही अभिप्रेत है । योरोपियन संस्करण तथा उनके आधार पर छपे अन्य संस्करणों में पदान्त में अनुस्वार देखा जाता है, वह वैदिक पाठ से विपरीत है) अपदान्त में तो नित्य परसवर्ण होता ही है । तदनुसार यजुर्वेद में केवल 'र श ष स ह' इन पाँच वर्णों के परे ही अनुस्वार रहता है । यजुर्वेद में अनुस्वार का भी गुरु लघु भेद से द्विविध उच्चारण होता है । अतः यजुर्वेद में र श ष स ह से पूर्व प्रयुक्त विशिष्ट चिह्न अनुस्वार के ही द्विविध उच्चारण के द्योतक हैं, स्वतन्त्र वर्ण नहीं हैं । 'ग्वम्' ऐसा उच्चारण तो सर्वथा ही अशास्त्रीय है ।

युं० मी० ।

से ष्यञ् प्रत्यय हुआ है। यहाँ मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से अनुस्वार की प्राप्ति थी, वह मकार को मकार कहने से नहीं हुआ ॥

यहाँ से 'मः' की अनुवृत्ति ८।३।२७ तक जायेगी ॥

हे मपरे वा ॥८।३।२६॥

हे ७।१॥ मपरे ७।१॥ वा अ० ॥ स० — मः परो यस्मात् स मपरः, तस्मिन् … बहुव्रीहिः ॥ अनु० — मः, मः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः — मकारपरे हकारे परतः पदान्तस्य मकारस्य वा मकार आदेशो भवति ॥ उदा० — किम् ह्मलयति, किं ह्मलयति । कथम् ह्मलयति, कथं ह्मलयति ॥

भाषार्थः — [मपरे] मकार परे है जिससे, ऐसे [हे] हकार के परे रहते पदान्त मकार को [वा] विकल्प से मकारादेश होता है ॥ पक्ष में पूर्व सूत्र (८।३।२३) से प्राप्त अनुस्वार हो जायेगा ॥ किम् कथम् से परे ह्मलयति में मकारपरक हकार है, अतः विकल्प हो गया ॥

यहाँ से 'हे' की अनुवृत्ति ८।३।२७ तक, तथा 'वा' की ८।३।३१ तक जायेगी ॥

नपरे नः ॥८।३।२७॥

नपरे ७।१॥ नः १।१॥ स० — नः परो यस्मात् स नपरः, तस्मिन् … बहुव्रीहिः ॥ अनु० — हे, वा, मः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः — नकारपरे हकारे परतः पदान्तस्य मकारस्य वा नकारादेशो भवति ॥ उदा० — किन्ह् नुते, किंह् नुते । कथन्ह् नुते, कथं ह् नुते ॥

भाषार्थः — [नपरे] नकारपरक हकार परे रहते पदान्त मकार को विकल्प से [नः] नकारादेश होता है । पक्ष में अनुस्वार हो जायेगा ॥

ङ्णोः कुक्टुक् शरि ॥८।३।२८॥

ङ्णोः ६।२॥ कुक्टुक् १।१॥ शरि ७।१॥ स० — ङश्च णश्च ङ्णौ, तयोः … इतरेतरद्वन्द्वः । कुक् च टुक् च कुक्टुक्, समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु० — वा, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः — पदान्तयोः ङकारणकारयोः क्रमेण कुक् टुक् इत्येतावागमौ विकल्पेन भवतः शरि परतः ॥ उदा० — ङकारस्य — प्राङ्क्शेते, प्राङ्शेते । प्राङ्क्षष्ठः, प्राङ् षष्ठः । प्राङ्क्साये, प्राङ् साये । णकारस्य — वण्ट्शेते, वण् शेते ॥

भाषार्थः — पदान्त [ङ्णोः] ङकार तथा णकार को यथासङ्ख्य करके [कुक्टुक्] कुक् तथा टुक् आगम विकल्प करके [शरि] शर् प्रत्याहार परे रहते होता है ॥

प्राङ् आदि ङकारान्त पद हैं, सो शेते आदि के परे रहते कुक् आगम अन्त को (१।१।४५) होकर—प्राङ् कुक् शेते=प्राङ्क्शेते बना। वण् को टुक् होकर वण्ट्शेते बन गया ॥

डः सि धुट् ॥८।३।२९॥

डः ५।१॥ सि ७।१॥ धुट् १।१॥ अनु०—वा, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—डकारान्तात् पदादुत्तरस्य सकारादेः पदस्य वा धुट् आगमो भवति ॥ उदा०—श्वलिट्त्साये, श्वलिट्साये । मधुलिट्त्साये, मधुलिट्साये ॥

भाषार्थः—[डः] डकारान्त पद से उत्तर [सि] सकारादि पद को विकल्प से [धुट्] धुट् का आगम होता है ॥ श्वलिट् धुक् साये=श्वलिट्त्साये ॥

यहाँ से 'सि धुट्' की अनुवृत्ति ८।३।३० तक जायेगी ॥

नश्च ॥८।३।३०॥

नः ५।१॥ च अ० ॥ अनु०—सि धुट्, वा, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—नकारान्तात् पदादुत्तरस्य सकारादेः पदस्य वा धुडागमो भवति ॥ उदा०—भवान्त्साये, भवान्साये । महान्त्साये, महान्साये ॥

भाषार्थः—[नः] नकारान्त पद से उत्तर [च] भी सकारादि पद को विकल्प से धुट् का आगम होता है ॥

यहाँ से 'नः' की अनुवृत्ति ८।३।३१ तक जायेगी ॥

शि तुक् ॥८।३।३१॥

शि ७।१॥ तुक् १।१॥ अनु०—नः, वा, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—पदान्तस्य नकारस्य शकारे परतो वा तुक् आगमो भवति ॥ उदा०—भवाञ्च्शेते, भवाञ्शेते । भवाञ्च्छेते, भवाञ्छेते । छत्वस्यासिद्धत्वात् तत्पक्षेऽपि तुग्वा भवति ॥

भाषार्थः—पदान्त नकार को [शि] शकार परे रहते [तुक्] तुक् आगम विकल्प से होता है ॥ भवान् तुक् शेते=भवान् त् शेते, यहाँ शश्छोऽटि (८।४।६२) से श् को छ् विकल्प से होकर भवान्त्छेते, भवान्त्शेते रहा । परत्वात् छत्व पहले करने पर उसे असिद्ध मानकर तुक् होगा । पश्चात् स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) लगकर त् को च्, एवं च् कर लेने पर न् को ञ् (८।४।३९ से) हो गया । जब तुक् नहीं हुआ, तो भवाञ्शेते यहाँ भी पूर्ववत् श्चुत्व हो गया ।

ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम् ॥८।३।३२॥

ङमः ५।१॥ ह्रस्वात् ५।१॥ अचि ७।१॥ ङमुट् १।१॥ नित्यम् १।१॥ अनु०—

पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—ङम इति ङमुडित्युभयत्रापि प्रत्याहारग्रहणम् । उडिति प्रत्येकं ङकारादिभिः सम्बध्यते ॥ ह्रस्वात् परो यो ङम् तदन्तात् पदादुत्तरस्याचो नित्यं[1] ङमुडागमो भवति ॥ ङणनेभ्यो यथासङ्ख्यं ङुट्, णुट्, नुट् इत्येते आगमा भवन्ति ॥ उदा०—ङकारान्तात् ङुट्—प्रत्यङ्ङास्ते ॥ णकारान्ताण्णुट्—वण्णास्ते, वण्णवोचत् ॥ नकारान्तान्नुट्—कुर्वन्नास्ते, कुर्वन्नवोचत् ॥ कृषन्नास्ते, कृषन्नवोचत् ॥

भाषार्थः—[ह्रस्वात्] ह्रस्व पद से उत्तर जो [ङमः] ङम् तदन्त पद से उत्तर [अचि] अच् को [नित्यम्] नित्य ही [ङमुट्] ङमुट् आगम होता है ॥ ङम् तथा ङमुट् दोनों ही स्थलों में प्रत्याहार का ग्रहण किया गया है । ङमुट् यहाँ ङम् अर्थात् ङ् ण् न् इन प्रत्येक अक्षरों के साथ उट् का सम्बन्ध करके ङुट्, णुट्, नुट् ये आगम बन जाते हैं । ङ् ण् न् ये तीन अक्षर ङम् प्रत्याहार में हैं । अतः ङ् से ङुट्, ण् से णुट्, तथा न् से नुट् आगम होता है ॥ प्रत्यङ् ङुट् आस्ते=प्रत्यङ्ङास्ते । वण् णुट् आस्ते=वण्णास्ते । कुर्वन् नुट् आस्ते=कुर्वन्नास्ते ॥

यहाँ से 'अचि' की अनुवृत्ति ८।३।३३ तक जायेगी ॥

मय उञो वो वा ॥८।३।३३॥

मयः ५।१॥ उञः ६।१॥ वः १।१॥ वा अ० ॥ अनु०—अचि, संहितायाम् ॥ अर्थः—मय उत्तरस्य उञो विकल्पेन वकारादेशो भवति, अचि परतः ॥ उदा०—शमु अस्तु वेदिः, शम्वस्तु वेदिः । तदु अस्य परेतः, तद्वस्य परेतः । किमु आवपनम्, किम्वावपनम् ॥

भाषार्थः—[मयः] मय् प्रत्याहार से उत्तर [उञः] उञ् अव्यय को अच् परे रहते [वा] विकल्प करके [वः] वकारादेश होता है ॥ उञ् के ञ् की इत्संज्ञा होकर 'उ' शेष रहता है । सो उस उ को विकल्प से व हो गया । शम् उ अस्तु=शम्वस्तु वेदिः । वः में अकार उच्चारणार्थ है ॥ उञ को उञ ऊँ (१।१।१७) से प्रगृह्य-संज्ञा हुई है । अतः प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् (६।१।१२१) से प्रकृतिभाव होने से इको यणचि (६।१।७४) से यणादेश प्राप्त था, एतदर्थ यह सूत्र है ॥

विसर्जनीयस्य सः ॥८।३।३४॥

विसर्जनीयस्य ६।१॥ सः १।१॥ अनु०—संहितायाम् । खरवसानयोः० इत्यतः 'खरि' इत्यनुवर्त्तते मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—खरि परतो विसर्जनीयस्य सकार

---

१. नित्यप्रहसितः, नित्यप्रज्वलित इतिवत् प्रायिकार्थोऽयं नित्यशब्दः, तेन क्वचिन्न भवति । यथा—अणुदित् सवर्णस्य० (१।१।६८) इति तिङन्त इति च ।

आदेशो भवति ॥ उदा०—वृक्षश्छादयति, प्लक्षश्छादयति । वृक्षष्ठकारः, प्लक्षष्ठकारः । वृक्षस्थकारः, प्लक्षस्थकारः । वृक्षश्चिनोति, प्लक्षश्चिनोति । वृक्षष्टीकते, प्लक्षष्टीकते । वृक्षस्तरति, प्लक्षस्तरति ॥

भाषार्थः—खर् परे रहते [विसर्जनीयस्य] विसर्जनीय को [सः] सकार आदेश होता है ॥ सत्व कर लेने पर यथायोग श्चुत्व ष्टुत्व हो ही जायेंगे ॥ वस्तुतः खर् में से छ, ठ, थ, च, ट, त इनके परे रहते ही विसर्जनीय को सत्व होता है। क्योंकि अन्य अक्षरों के परे रहते अन्य आदेश कहेंगे ॥

यहाँ से 'विसर्जनीयस्य' की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी ॥

शर्परे विसर्जनीयः ॥८।३।३५॥

शर्परे ७।१॥ विसर्जनीयः १।१॥ स०—शर् परो यस्मात् स शर्परः, तस्मिन्… बहुव्रीहिः ॥ अनु०—विसर्जनीयस्य, संहितायाम् । पूर्ववत् खरीत्यनुवर्तते ॥ अर्थः—शर्परे खरि परतो विसर्जनीयस्य विसर्जनीय आदेशो भवति ॥ उदा०—शशः क्षुरम्, पुरुषः क्षुरम् । अद्भिः प्सातम्, वासः क्षौमम् । पुरुषः त्सरुः । घनाघनः क्षोभणश्चर्षणीनाम् ॥

भाषार्थः—[शर्परे] शर् (प्रत्याहार) परे है जिससे, ऐसे खर् के परे रहते विसर्जनीय को [विसर्जनीयः] विसर्जनीय आदेश होता है ॥ विसर्जनीय को विसर्जनीय कहने से पूर्वसूत्र से प्राप्त सत्व, एवं कुप्वोः० (८।३।३७) से प्राप्त जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय नहीं होते ॥ सर्वत्र उदाहरणों में खर् से परे शर्=श, ष, स हैं ही ॥

यहाँ से 'विसर्जनीयः' की अनुवृत्ति ८।३।३७ तक जायेगी ॥

वा शरि ॥८।३।३६॥

वा अ० ॥ शरि ७।१॥ विसर्जनीयः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—विसर्जनीयस्य विकल्पेन विसर्जनीयादेशो भवति, शरि परतः ॥ उदा०—वृक्षः शेते, वृक्षश्शेते । प्लक्षः शेते, प्लक्षश्शेते । कवयः षट्, कवयष्षट् । धार्मिकाः सन्तु, धार्मिकास्सन्तु ॥

भाषार्थः—विसर्जनीय को [वा] विकल्प से विसर्जनीय आदेश होता है, [शरि] शर् परे रहते ॥ पक्ष में जब विसर्जनीय को विसर्जनीय नहीं हुआ, तो यथाप्राप्त ८।३।३४ से सत्व हो गया । पश्चात् श्चुत्व ष्टुत्व हो ही जायेंगे ॥

कुप्वोः ≍क≍पौ च ॥८।३।३७॥

कुप्वोः ७।२॥ ≍क≍पौ १।२॥ च अ० ॥ स०—कुश्च पुश्च कुपू, तयोः…

इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—विसर्जनीयः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—कवर्गे पवर्गे च परतो विसर्जनीयस्य यथासङ्ख्यं ≍(जिह्वामूलीयः) ≍(उपध्मानीयः) इत्येतावादेशौ भवतः, चकाराद्विसर्जनीयश्च ॥ उदा०—वृक्ष≍करोति, वृक्षः करोति। वृक्ष≍खनति, वृक्षः खनति। वृक्ष≍पचति, वृक्षः पचति। वृक्ष≍फलति, वृक्षः फलति ॥

भाषार्थः—[कुप्वोः] कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्जनीय को यथासङ्ख्य करके [≍क≍पौ] ≍क अर्थात् जिह्वामूलीय तथा ≍प अर्थात् उपध्मानीय आदेश होते हैं, [च] तथा चकार से विसर्जनीय भी होता है ॥ ≍क≍पौ यहाँ जिह्वामूलीय उपध्मानीय के चिह्नों के साथ क एवं प को उच्चारणार्थ रखा है। वस्तुतः आदेश ≍, ≍ यही होते हैं ॥ खरवसान० (८।३।१५) से खर् परे रहते विसर्जनीय होता है। अतः खर् में से ही कवर्ग पवर्ग के अक्षर कौन-कौन हैं, देखने हैं। क्योंकि अन्यत्र विसर्जनीय होगा नहीं। इस प्रकार कवर्ग में क ख तथा पवर्ग में प फ अक्षर ही परे मिलेंगे जिनके परे रहते विसर्जनीय को क्रमशः अर्थात् कवर्ग के क ख परे रहते जिह्वामूलीय, एवं पवर्ग के प फ परे रहते उपध्मानीय आदेश होते हैं ॥

यहाँ से 'कुप्वोः' की अनुवृत्ति ८।३।४९ तक जायेगी ॥

सोऽपदादौ ॥८।३।३८॥

सः १।१॥ अपदादौ ७।१॥ स०—पदस्य आदिः पदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः। न पदादिर् अपदादिः, तस्मिन्...नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—विसर्जनीयस्य, कुप्वोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अपदाद्योः कुप्वोः परतो विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति ॥ उदा०—पयस्पाशम्, यशस्पाशम्। पयस्कल्पम्, यशस्कल्पम्। पयस्कम्, यशस्कम्। पयस्काम्यति, यशस्काम्यति ॥

भाषार्थः—[अपदादौ] अपदादि (=जो पद के आदि का नहीं) कवर्ग तथा पवर्ग परे रहते विसर्जनीय को [सः] सकारादेश होता है ॥ पूर्व सूत्र का यह अपवाद है ॥ याप्ये पाशप् (५।३।४७) से पयस्पाशम् में पाशप् प्रत्यय, तथा ईषदसमाप्तौ० (५।३।६७) से पयस्कल्पम् में कल्पप् प्रत्यय हुआ है। पयस्कम् में प्रागिवात्कः (५।३।७०) से क, तथा पयस्काम्यति में काम्यच्च (३।१।९) से काम्यच् प्रत्यय हुआ है। सर्वत्र पयस् यशस् के स् को रुत्व विसर्जनीय करके अपदादि विसर्जनीय होने से प्रकृतसूत्र से स् हो गया है ॥

यहाँ से 'सः' की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक, तथा 'अपदादौ' की ८।३।३९ तक जायेगी ॥

इणः षः ॥८।३।३९॥

इणः ५।१॥ षः १।१॥ अनु०—अपदादौ, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—इण उत्तरस्य विसर्जनीयस्य षकारादेशो भवति, अपदाद्योः कुप्वोः परतः ॥ उदा०—सर्पिष्पाशम्, यजुष्पाशम् । सर्पिष्कल्पम्, यजुष्कल्पम् । सर्पिष्कम्, यजुष्कम् । सर्पिष्काम्यति, यजुष्काम्यति ॥

भाषार्थः—[इणः] इण् से उत्तर विसर्जनीय को [षः] षकारादेश होता है, अपदादि कवर्ग पवर्ग के परे रहते ॥ पूर्व सूत्र से सत्व प्राप्त था, इण् से उत्तर तदपवाद षत्व कह दिया ॥ पूर्ववत् उदाहरणों में पाशप् आदि प्रत्यय हुये हैं । सो सर्पिस् यजुस् के स् को विसर्जनीय होकर षत्व हो गया है ॥

यहाँ से 'षः' की अनुवृत्ति ८।३।४८ तक जायेगी ॥

यहाँ से आगे 'षः' तथा 'सः' दोनों की अनुवृत्ति चलती है । सो इण् से उत्तर विसर्जनीय जहाँ हो वहाँ 'षः' का सम्बन्ध, तथा अन्यत्र 'सः' का सम्बन्ध लगेगा, ऐसा जानें । तद्वत् ही अनुवृत्ति हम दिखायेंगे ॥

नमस्पुरसोर्गत्योः ॥८।३।४०॥

नमस्पुरसोः ६।२॥ गत्योः ६।२॥ स०—नम० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—नमस् पुरस् इत्येतयोर्गतिसंज्ञकयोर्विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ उदा०—नमस्कर्त्ता, नमस्कर्त्तुम्, नमस्कर्त्तव्यम् । पुरस्कर्त्ता, पुरस्कर्त्तुम्, पुरस्कर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[नमस्पुरसोः] नमस् तथा पुरस् [गत्योः] गतिसंज्ञक शब्दों के विसर्जनीय को सकारादेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ नमस् की साक्षात्प्रभृतीनि च (१।४।७३) से, तथा पुरस् की पुरोऽव्ययम् (१।४।६६) से गतिसंज्ञा होती है ॥ नमः कर्त्ता = नमस्कर्त्ता ॥

इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य ॥८।३।४१॥

इदुदुपधस्य ६।१॥ च अ० ॥ अप्रत्ययस्य ६।१॥ स०—इच्च उच्च इदुतौ, इतरेतरद्वन्द्वः । इदुतौ उपधे यस्य स इदुदुपधः, तस्य…बहुव्रीहिः । न प्रत्ययोऽप्रत्ययः, तस्य…नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—षः, कुप्वोः विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—इकारोपधस्य उकारोपधस्य चाप्रत्ययस्य विसर्जनीयस्य षकार आदेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ उदा०—निस्—निष्कृतम्, निष्पीतम् । दुस्—दुष्कृतम्, दुष्पीतम् । बहिस्—बहिष्कृतम्, बहिष्पीतम् । आविस्—आविष्कृतम्, आविष्पीतम् । चतुर्—

चतुष्कृतम्, चतुष्कपालम्, चतुष्कण्टकम्, चतुष्कलम् । प्रादुस्—प्रादुष्कृतम्, प्रादुष्पीतम् ॥

भाषार्थः—[इदुदुपधस्य] इकार और उकार उपधा हैं जिसके, ऐसे [अप्रत्ययस्य] प्रत्ययभिन्न समुदाय के विसर्जनीय को [च] भी षकार आदेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ सर्वत्र उदाहरणों में निः दुः आदि के विसर्जनीय से पूर्व अर्थात् उपधा इकार उकार हैं, अतः षत्व हो गया है । स् को रुत्व, विसर्जनीय, तत्पश्चात् षत्व करने की प्रक्रिया पूर्ववत् है ॥

तिरसोऽन्यतरस्याम् ॥८।३।४२॥

तिरसः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—सः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ नमस्पुरसोर्गत्योः (८।३।४०) इत्यतः गतिरित्यनुवर्त्तते, मण्डूकप्लुतगत्या ॥ अर्थः—गतिसंज्ञकस्य तिरसो विसर्जनीयस्य विकल्पेन सकारादेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ उदा०—तिरस्कर्त्ता, तिरस्कर्त्तुम्, तिरस्कर्त्तव्यम् । तिरःकर्ता, तिरःकर्त्तुम्, तिरःकर्त्तव्यम् ॥

भाषार्थः—[तिरसः] तिरस् के विसर्जनीय को [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके सकारादेश होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ तिरस् की विभाषा कृञि (१।४।७१) से गति-संज्ञा है । पक्ष में विसर्जनीय ही रहेगा । कुप्वोः० (८।३।३७) की प्राप्ति में यह सूत्र है ॥

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ८।३।४४ तक जायेगी ॥

द्विस्त्रिश्चतुरिति कृत्वोऽर्थे ॥८।३।४३॥

द्विस्त्रिश्चतुः अविभक्त्यन्तनिर्देशः[1] ॥ इति अ० ॥ कृत्वोऽर्थे ७।१॥ स०—द्विश्च त्रिश्च चतुश्च द्विस्त्रिश्चतुः, समाहारद्वन्द्वः । कृत्वसः अर्थः कृत्वोऽर्थः, तस्मिन् षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, षः, कुप्वोः, पदस्य, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—द्विस्, त्रिस्, चतुर् इत्येतेषां कृत्वोऽर्थे वर्त्तमानानां विसर्जनीयस्य विकल्पेन षकार आदेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ उदा०—द्विष्करोति, द्विः करोति । त्रिष्करोति, त्रिः करोति । चतुष्करोति, चतुःकरोति । द्विष्पचति, द्विःपचति । त्रिष्पचति, त्रिः पचति । चतुष्पचति, चतुः पचति ॥

१. इतिग्रहणं स्वरूपनिर्देशार्थम्, स्वरूपनिर्देशाय चाविभक्त्यन्तो निर्देशः । यद्वा 'इतिना' इति शुक्लयजुःप्रातिशाख्ये वर्णानामितिना निर्देशः क्रियते, तथेहापि निर्देशार्थं इति शब्दः, तेन चाविभक्त्यन्तः ।

भाषार्थः—[कृत्वोऽर्थे] कृत्वसुच् के अर्थ में वर्त्तमान [द्विस्त्रिश्चतुः] द्विस् त्रिस् तथा चतुर् [इति] इनके विसर्जनीय को षकारादेश विकल्प करके होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ।। द्वि त्रि तथा चतुर् शब्दों से द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् (५।४।१८) से सुच् प्रत्यय होकर द्विस् त्रिस् चतुर् बनता है । चतुर् सुच्=चतुर् स्, यहाँ सुच् के स् का रात्सस्य (८।२।२४) से लोप होकर चतुर्=चतुः बना । पश्चात् इस विसर्जनीय को करोति पचति परे रहते षत्व हो गया ।।

इसुसोः सामर्थ्ये ।।८।३।४४।।

इसुसोः ६।२।। सामर्थ्ये ७।१।। स०—इस् च उस् च इसुसौ, तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः ।। समर्थस्य भावः सामर्थ्यम्, तस्मिन्, ब्राह्मणादित्वात् (५।१।१२३) ष्यञ् ।। अनु०—अन्यतरस्याम्, षः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ।। अर्थः—इस् उस् इत्येतयोर्विसर्जनीयस्यान्यतरस्यां षकारादेशो भवति, सामर्थ्ये सति कुप्वोः परतः।। उदा०—सर्पिष्करोति, सर्पिः करोति । यजुष्करोति, यजुः करोति ।।

भाषार्थः—[इसुसोः] इस् तथा उस् के विसर्जनीय को विकल्प से षकारादेश होता है, [सामर्थ्ये] सामर्थ्य होने पर, कवर्ग पवर्ग परे रहते ।। अभिप्राय यह है कि इसन्त उसन्त शब्द (जिसका विसर्जनीय हुआ है) का कवर्ग पवर्गादि शब्द जो कि परे हैं, उनके साथ परस्पर सामर्थ्य=सम्बद्धार्थता होने पर षत्व हो ।। सर्पिस् यजुस् शब्द इसन्त उसन्त हैं ही ।।

यहाँ से 'इसुसोः' की अनुवृत्ति ८।३।४५ तक जायेगी ।।

नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य ।।८।३।४५।।

नित्यम् १।१।। समासे ७।१।। अनुत्तरपदस्थस्य ६।१।। स०—उत्तरपदे तिष्ठतीति उत्तरपदस्थः, तत्पुरुषः । न उत्तरपदस्थोऽनुत्तरपदस्थः, तस्य··· नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—इसुसोः, षः, कुप्वोः विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ।। अर्थः—समासे इसुसोरनुत्तरपदस्थस्य विसर्जनीयस्य नित्यं षत्वं भवति, कुप्वोः परतः ।। उदा०—सर्पिषः कुण्डिका—सर्पिष्कुण्डिका, धनुष्कपालम्, सर्पिष्पानम्, धनुष्फलम् ।।

भाषार्थः [अनुत्तरपदस्थस्य] अनुत्तरपदस्थ (=जो उत्तरपद में स्थित न हो) इस् उस् के विसर्जनीय को [समासे] समास-विषय में [नित्यम्] नित्य ही षत्व होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।४७ तक जायेगी ।।

अतः कृकमिकंसकुम्भपात्रकुशाकर्णीष्वनव्ययस्य ॥८।३।४६॥

अतः ५।१॥ कृकमि···कर्णीषु ७।३॥ अनव्ययस्य ६।१॥ स०—कृ च कमिश्च कंसश्च कुम्भश्च पात्रञ्च कुशा च कर्णी च कृकमि···कर्ण्यः, तासु ; इतरेतरद्वन्द्वः । न अव्ययमनव्ययं, तस्य···नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य, सः, विसर्जनीयस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—अकारादुत्तरस्य समासेऽनुत्तरपदस्थस्यानव्ययस्य विसर्जनीयस्य नित्यं सकारादेशो भवति, कृ, कमि, कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा, कर्णी इत्येतेषु परतः ॥ उदा०—कृ—अयस्कारः, पयस्कारः । कमि—अयस्कामः, पयस्कामः । कंस—अयस्कंसः, पयस्कंसः । कुम्भ—अयस्कुम्भः, पयस्कुम्भः । पात्र—अयस्पात्रम्, पयस्पात्रम् । कुशा—अयस्कुशा, पयस्कुशा । कर्णी—अयस्कर्णी, पयस्कर्णी ॥

भाषार्थः—[अतः] अकार से उत्तर समास में जो अनुत्तरपदस्थ [अनव्ययस्य] अनव्यय का विसर्जनीय उसको नित्य ही सकारादेश होता है, [कृकमि···कर्णीषु] कृ, कमि (धातु), कंस, कुम्भ, पात्र, कुशा, कर्णी इन-इन शब्दों के परे रहते ॥ कुप्वोः ≍क ≍पौ च (८।३।३७) की प्राप्ति में ही इस प्रकरण से सत्व षत्व कहा गया है । अतः यह सूत्र भी तदपवाद है ॥

अधःशिरसी पदे ॥८।३।४७॥

अधःशिरसी १।२, षष्ठ्यर्थे प्रथमाऽत्र ॥ पदे ७।१॥ स०—अधस् च शिरस् च अधःशिरसी, इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नित्यं समासेऽनुत्तरपदस्थस्य, सः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—अधस् शिरस् इत्येतयोर्विसर्जनीयस्य समासेऽनुत्तरपदस्थस्य सकार आदेशो भवति, पदशब्दे परतः ॥ उदा०—अधस्पदम्, शिरस्पदम् । अधस्पदी, शिरस्पदी ॥

भाषार्थः—समास में अनुत्तरपदस्थ [अधःशिरसी] अधस् तथा शिरस् के विसर्जनीय को सकार आदेश होता है, [पदे] पद शब्द परे रहते ॥ अधस्पदम् तथा शिरस्पदम् षष्ठी तत्पुरुष समास हुआ है ॥

कस्कादिषु च ॥८।३।४८॥

कस्कादिषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—कस्क आदिर्येषां ते कस्कादयः, तेषु··· बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सः, षः, कुप्वोः, विसर्जनीयस्य, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—कस्कादिषु गणपठितेषु च विसर्जनीयस्य सकारः षकारो वा यथायोगमादेशो भवति, कुप्वोः परतः ॥ उदा०—कस्कः, कौतस्कुतः, भ्रातुष्पुत्रः ॥

भाषार्थः—[कस्कादिषु] कस्कादि गणपठित शब्दों के विसर्जनीय को [च] भी सकार अथवा षकार आदेश यथायोग से होता है, कवर्ग पवर्ग परे रहते ॥ इणः षः (८।३।३९) सूत्र में कहे अनुसार इण् से उत्तर जहाँ होगा, वहाँ विसर्जनीय को षकार तथा अन्यत्र सकार होगा। कस्कः में किम् को क(७।२।१०३ से) आदेश होकर 'कः' को वीप्सा में द्वित्व, तथा कौतस्कुतः में कुतः को वीप्सा में द्वित्व हुआ है। पुनः उसी विसर्जनीय को सत्व हो गया। कुतस्कुतः होकर तत आगतः (४।३।७४) से अण्, तथा अव्ययानां च (वा० ६।४।१४४) से कुतस्कुतः के टि भाग 'अस्' का लोप होकर कौतस्कुतः बना है। भ्रातुष्पुत्रः में ऋतो विद्या० (६।३।२१) से षष्ठी का अलुक् होकर षत्व हुआ है ॥

छन्दसि वाऽप्राम्रेडितयोः ॥८।३।४९॥

छन्दसि ७।१॥ वा अ० ॥ अप्राम्रेडितयोः ७।२॥ स०—प्रश्च आम्रेडितञ्च प्राम्रेडिते, न प्राम्रेडिते अप्राम्रेडिते, तयोः द्वन्द्वगर्भनञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सः, कुप्वोः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्रशब्दम् आम्रेडितञ्च वर्जयित्वा कुप्वोः परतश्छन्दसि विषये विसर्जनीयस्य वा सकारादेशो भवति ॥ उदा०—अयः पात्रम्, अयस्पात्रम्। विश्वतःपात्रम्, विश्वतस्पात्रम्। उरुणः कारः, उरुणस्कारः ॥

भाषार्थः—[अप्राम्रेडितयोः] प्र तथा आम्रेडित को छोड़कर जो कवर्ग तथा पवर्ग परे हों, तो [छन्दसि] वेदविषय में विसर्जनीय को [वा] विकल्प से सकारादेश होता है ॥ अयःपात्रम् आदि में षष्ठीतत्पुरुष समास कर लेने पर अतः कृकमि० (८।३।४६) से नित्य सत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया। 'उरुणः', यहाँ उरु शब्द से उत्तर अस्मद् को बहुवचनस्य वस्नसौ (८।१।२१) से नस् आदेश, तथा नश्च धातुस्थो० (८।४।२६) से णत्व, एवं विसर्जनीय होकर उरुणःकारः बना। पक्ष में सत्व होकर उरुणस्कारः बन गया ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी ॥

कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः ॥८।३।५०॥

कःकरत्...कृतेषु ७।३॥ अनदितेः ६।१॥ स०—कःकर० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः। न अदितिरनदितिः, तस्याः...नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—कः, करत्, करति, कृधि, कृत इत्येतेषु परतोऽनदितेर्विसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति, छन्दसि विषये ॥ उदा०—कः—विश्वतस्कः। करत्—विश्वतस्करत्। करति—पयस्करति। कृधि—उरुणस्कृधि (ऋ० ८।७५।११) कृत—सदस्कृतम् ॥

भाषार्थः—[कः ...तेषु] कः, करत्, करति, कृधि, कृत इनके परे रहते [अनदितेः] अदिति को छोड़कर जो विसर्जनीय उसको सकारादेश होता है, वेदविषय में ॥ 'कः' कृ का लुङ् में च्लि का लुक् (२।४।८०) से, बहुलं० (६।४।७५) से अड्भाव, गुण एवं ६।१।६६ से तिप् का त् लोप करके रूप है ॥ नस् आदेश (८।१।२१) के विसर्जनीय को यहां सत्व, तथा नश्च धातु० (८।४।२६) से न को ण हुआ है ॥

पञ्चम्याः परावध्यर्थे ॥८।३।५१॥

पञ्चम्याः ६।१॥ परौ ७।१॥ अध्यर्थे ७।१॥ स०—अधेरर्थोऽध्यर्थः, तस्मिन्—षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—अध्यर्थे वर्त्तमानो यः परिस्तस्मिन् परतः पञ्चमीविसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति, छन्दसि विषये ॥ उदा०—दिवस्परि प्रथमं जज्ञे (ऋ० १०।४५।१) । अग्निर्हिमवतस्परि । दिवस्परि, महस्परि ॥

भाषार्थः—[अध्यर्थे] अधि के अर्थ में वर्त्तमान जो [परौ] परि शब्द उसके परे रहते [पञ्चम्याः] पञ्चमी के विसर्जनीय को सकारादेश होता है, वेदविषय में ॥ अधि ऊपर अर्थ में है । सो यहां उदाहरण में 'परि' अधि के अर्थ में अर्थात् ऊपर अर्थ में है । दिवस्परि ... अर्थात् अग्नि पहले द्यु लोक से परि=ऊपर उत्पन्न हुआ । इसी प्रकार 'अग्नि हिमवान् से ऊपर' ऐसा अर्थ है ॥

यहां से 'पञ्चम्याः' की अनुवृत्ति ८।३।५२ तक जायेगी ॥

पातौ च बहुलम् ॥८।३।५२॥

पातौ ७।१॥ च अ० ॥ बहुलम् १।१॥ अनु०—पञ्चम्याः, छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—पातौ च धातौ परतः पञ्चमीविसर्जनीयस्य बहुलं सकार आदेशो भवति छन्दसि विषये ॥ उदा०—दिवस्पातु । राजस्पातु । बहुलग्रहणात् न च भवति—परिषदः पातु ॥

भाषार्थः—[पातौ] पा धातु के प्रयोग परे हों, तो [च] भी पञ्चमी के विसर्जनीय को [बहुलम्] बहुल करके सकार आदेश होता है, वेदविषय में ॥

षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु ॥८।३।५३॥

षष्ठ्याः ६।१॥ पति...षेषु ७।३॥ स०—पति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस्, पोष इत्येतेषु परतश्छन्दसि विषये षष्ठीविसर्जनीयस्य सकारादेशो भवति ॥ उदा०—पति—वाचस्पतिं विश्वकर्माणमूतये (ऋ० १०।८१।७) । पुत्र—दिवस्पुत्राय सूर्याय

(ऋ० १०।३७।१)। पृष्ठ—दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णम् । पार—अगन्म तमसस्पारम् । पद—इडस्पदे समिध्यसे (ऋ० १०।१९१।१) । पयस्—सूर्यं चक्षुर्दिवस्पयः । पोष—रायस्पोषं यजमानेषु धत्तम् (ऋ० ८।५९।७) ॥

भाषार्थः—[पति···पोषेषु] पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस्, पोष इन शब्दों के परे रहते वेदविषय में [षष्ठ्याः] षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को सकारादेश होता है ॥ सर्वत्र षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को सत्व हुआ है । वाचः पतिम्= वाचस्पतिम्, अर्थात् वाणी का स्वामी ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।५४ तक जायेगी ॥

इडाया वा ॥८।३।५४॥

इडायाः ६।१॥ वा अ० ॥ अनु०—षष्ठ्याः पतिपुत्रपृष्ठपारपदपयस्पोषेषु, छन्दसि, सः, पदस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—इडायाः षष्ठीविसर्जनीयस्य वा सकार आदेशो भवति पतिपुत्रादिषु परतः, छन्दसि विषये ॥ उदा०—इडायास्पतिः, इडायाः-पतिः । इडायास्पुत्रः, इडायाः पुत्रः । इडायास्पृष्ठम्, इडायाः पृष्ठम् । इडायास्पारम्, इडायाः पारम् । इडायास्पदम्, इडायाः पदम् । इडायास्पयः, इडायाः पयः । इडायास्पोषम्, इडायाः पोषम् ॥

भाषार्थः—[इडायाः] इडा शब्द के षष्ठी विभक्ति के विसर्जनीय को [वा] विकल्प से सकार आदेश होता है । पति, पुत्र, पृष्ठ, पार, पद, पयस्, पोष शब्दों के परे रहते, वेदविषय में ॥ पूर्वसूत्र से नित्य सत्व प्राप्त था, विकल्पार्थ यह सूत्र है ॥

अपदान्तस्य मूर्धन्यः ॥८।३।५५॥

अपदान्तस्य ६।१॥ मूर्धन्यः १।१॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । न पदान्तोऽपदान्तः, तस्य···नञ्तत्पुरुषः ॥ मूर्धनि भवो मूर्धन्यः, शरीरावयवाच्च (४।३।५५) इति यत्प्रत्ययः ॥ अर्थः—आपादपरिसमाप्तेरपदान्तस्य मूर्धन्यादेशो भवतीत्यधिकारो वेदितव्यः ॥ उदा०—वक्ष्यति—आदेशप्रत्यययोः(८।३।५९)—सिषेच, सुष्वाप । अग्निषु, वायुषु ॥

भाषार्थः—[अपदान्तस्य] अपदान्त को [मूर्धन्यः] मूर्धन्य आदेश होता है, ऐसा अधिकार पाद की समाप्तिपर्यन्त (=८।३।११९ तक) जाता है, ऐसा जानना चाहिये ॥

मूर्धन्य से अभिप्राय मूर्धा से बोले जानेवाले अक्षर से है । सो 'स्' का मूर्धन्य 'ष्' आदेश उदाहरणों में हुआ है ॥

'षिचिर् क्षरणे' 'ञिष्वप् शये' से लिट् में धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से ष् को स्

होकर सिषेच तथा सुष्वाप बना है। स्वप् के अभ्यास को लिट्यभ्यास० (६।१।१७) से सम्प्रसारण होकर सु स्वप् णल् = सु स्वाप् अ; तथा सि सेच् अ रहा। अब यहाँ धात्वादेः षः सः से ष् को स् होने से आदेश का स् मानकर आदेशप्रत्यय० से मूर्धन्य आदेश होकर सिषेच तथा सुष्वाप बन गया। अग्निषु वायुषु में प्रत्यय का स् मानकर षत्व हुआ है॥

सहेः साडः सः ॥८।३।५६॥

सहेः ६।१॥ साडः ६।१॥ सः ६।१॥ अनु०—अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—सहेर्धातोर्यत् साड्रूपं तस्य सकारस्य मूर्धन्य आदेशो भवति ॥ उदा०—जलाषाट्, तुराषाट्, पृतनाषाट् ॥

भाषार्थः—[सहेः] सह धातु का बना हुआ जो [साडः] साड् रूप उसके [सः] सकार को मूर्धन्य आदेश होता है॥ जल इत्यादि उपपद रहते सह धातु से छन्दसि सहः (३।२।६३) से ण्वि होकर, एवं सह् की उपधा को वृद्धि, तथा हो ढः (८।२।३१) से ढत्व, तथा जश्त्व होकर 'साड्' रूप बना है, उसी को यहाँ षत्व हुआ है। अन्येषामपि० (६।३।१३५) से जल आदि को दीर्घ होकर जलाषाट्, तुराषाट्, पृतनाषाट् बन गया॥

यहाँ से 'सः' की अनुवृत्ति ८।३।११९ तक जायेगी॥

इण्कोः ॥८।३।५७॥

इण्कोः ५।१॥ स०—इण् च कुश्च इण्कु, तस्मात्...समाहारद्वन्द्वः॥ अर्थः—इतोऽग्रे वक्ष्यमाणानि कार्याणि इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य भवन्तीत्यधिकारो वेदितव्यः, आपादपरिसमाप्तेः॥ कु इत्यनेन कवर्गस्य ग्रहणम्। इण् इति परणकारेण प्रत्याहारो गृह्यते॥ उदा०—सिषेच, सुष्वाप, अग्निषु, वायुषु, कर्तृषु, गीर्षु, वाक्षु, त्वक्षु॥

भाषार्थः—यह अधिकारसूत्र है। यहाँ से आगे जो भी कार्य कहेंगे, वे [इण्कोः] इण् और कवर्ग से उत्तर होते हैं, ऐसा अधिकार पाद की समाप्ति-पर्यन्त जानना चाहिये॥ अग्निषु आदि में इण् से उत्तर, तथा वाक्षु त्वक्षु में कवर्ग से उत्तर के उदाहरण हैं। वाच् त्वच् के च् को चोः कुः (८।२।३०) से क् हुआ है। सो सर्वत्र आदेशप्र० (८।३।५९) से षत्व हो गया॥ इण् से पर णकारवाले (लण् तक के) प्रत्याहार का ग्रहण है॥

नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि ॥८।३।५८॥

नुम्वि...वाये ७।१॥ अपि अ० ॥ स०—नुम् च विसर्जनीयश्च शर् च

नुम्वि···शरः, इतरेतरद्वन्द्वः । नुम्विसर्जनीयशर्भिः व्यवायः नुम्वि···शर्व्यवायः, तस्मिन्··· तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—नुम्व्यवायेऽपि विसर्जनीयव्यवायेऽपि शर्व्यवायेऽपि इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—नुम्व्यवाये—सर्पींषि, यजूंषि, हवींषि । विसर्जनीय-व्यवाये—सर्पिःषु, यजुःषु, हविःषु । शर्व्यवाये—सर्पिष्षु, यजुष्षु, हविष्षु ॥

भाषार्थः—[नुम्वि···वाये] नुम्, विसर्जनीय तथा शर् (प्रत्याहार) का व्यवधान होने पर [अपि] भी, इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ अभिप्राय यह है कि इण् और कवर्ग से उत्तर जिसें षत्व करना है, उसके मध्य में नुम् आदि का व्यवधान हो, तो भी षत्व हो जाये ॥ सर्पींषि आदि में सर्पिस् शब्द से जश्शसोः शिः (७।१।२०) से शि, तथा नपुंसकस्य झलचः (७।१।७२) से नुम्, एवं सान्तमहतः० (६।४।१०) से दीर्घ होकर—'सर्पी न् स् इ' रहा । अब यहाँ नुम् के व्यवधान में भी षत्व, तथा न् को अनुस्वार (८।३।२४ से) होकर सर्पींषि बन गया । सर्पिःषु आदि में वा शरि (८।३।३६) से पक्ष में स् को विसर्जनीय, तथा पक्ष में सत्व (८।३।३४) होकर सर्पिष्षु बना है । इनके व्यवधान में भी षत्व कर लेने पर सर्पिष्षु आदि में मध्य के स् को ष् (८।४।४० से) भी हो गया ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।११९ तक जायेगी ॥

आदेशप्रत्यययोः ॥८।३।५९॥

आदेशप्रत्यययोः ६।२॥ स०—आदेशश्च प्रत्ययश्च आदेशप्रत्ययौ, तयोः·· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य, आदेशो यः सकारः प्रत्ययस्य च यः सकारस्तस्य मूर्धन्यादेशो भवति, संहितायाम् ॥ उदा०—आदेशस्य—सिषेच, सुष्वाप । प्रत्ययस्य—अग्निषु, वायुषु, कर्तृषु, हर्तृषु ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [आदेशप्रत्यययोः] आदेशरूप जो सकार, तथा प्रत्यय का जो सकार उसे मूर्धन्यादेश होता है ॥ सिद्धियाँ ८।३।५५ सूत्र पर आ चुकी हैं ॥

शासिवसिघसीनां च ॥८।३।६०॥

शासिवसिघसीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ स०—शासिश्च वसिश्च घसिश्च शासिवसिघसयः, तेषां···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—शासि वसि घसि इत्येतेषां च सकारस्य इण्कोरुत्तरस्य

मूर्धन्यादेशो भवति ॥ अनादेशार्थमिदं सूत्रम् ॥ उदा०—शासि—अन्वशिषत्, अन्वशिषताम्, अन्वशिषन् । शिष्टः, शिष्टवान् । वसि—उषितः, उषितवान्, उषित्वा । घसि—जक्षतुः, जक्षुः, अक्षन्नमीमदन्त पितरः ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [शासि · सीनाम्] शासु वस तथा घस् के सकार को [च] भी मूर्धन्य आदेश होता है ॥ आदेश का स् न होने से पूर्व सूत्र से षत्व प्राप्त नहीं था, विधान कर दिया॥अशिषत् की सिद्धि परि० ३।१।५६ में, तथा शिष्टः शिष्टवान् को सूत्र ६।४।३४ में देखें । उषितः उषितवान् में वचिस्वपि० (६।१।१५) से सम्प्रसारण, एवं वसति० (७।२।५२) से इट् हुआ है । जक्षतुः जक्षुः तथा अक्षन् की सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें । घसि से यहाँ 'घस्लृ अदने' धातु तथा घस्लृ आदेश दोनों का ही ग्रहण है ॥

स्तौतिण्योरेव षण्यभ्यासात् ॥८।३।६१॥

स्तौतिण्योः ६।२॥ एव अ० ॥ षणि ७।१॥ अभ्यासात् ५।१॥ स०—स्तौतिश्च णिश्च स्तौतिणी, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अभ्यासादिण उत्तरस्य स्तौतेर्ण्यन्तानां च षत्वभूते सनि परत आदेशसकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः ॥ उदा०—तुष्टूषति । ण्यन्तानाम्—सिषेचयिषति । सिषञ्जयिषति। सुष्वापयिषति ॥

भाषार्थः—[अभ्यासात्] अभ्यास के इण् से उत्तर [स्तौतिण्योः] स्तु (ष्टुञ्) तथा ण्यन्त धातुओं के आदेश सकार को [एव] ही षत्वभूत [षणि] सन् परे रहते मूर्धन्य आदेश होता है ॥ आदेश का सकार होने से आदेशप्रत्यय० (८।३।५९) से ही षत्व सिद्ध था, पुनः यह सूत्र नियमार्थ है । अर्थात्—षत्वभूत सन् के परे रहते, तथा अभ्यास के इण् से उत्तर यदि षत्व हो, तो स्तौति एवं ण्यन्त धातुओं को ही हो, अन्यों को नहीं ॥ सो सिसिक्षति में नहीं होता । सन् को षत्व णत्व करके सूत्र में 'षणि' निर्देश किया है ॥ तुष्टूषति की सिद्धि परि० १।२।९ में, तथा सुष्वापयिषति की सूत्र ७।४।६७ में देखें । इसी प्रकार षिच् से सिचं सेचयि ष=सिषेचयिषति, एवं षञ्ज से सिषञ्जयिषति बनेगा । षञ्ज के अभ्यास को सन्यतः (७।४।७९) से इत्व होता है ॥

यहाँ से 'णेः[1] षण्यभ्यासात्' की अनुवृत्ति ८।३।६२ तक जायेगी ॥

---

१. एकस्य पदस्यानुवृत्तत्वादेकवचनम् ॥

सः स्विदिस्वदिसहीनां च ॥८।३।६२॥

सः[1] १।१॥ स्विदिस्वदिसहीनाम् ६।३॥ च अ० ॥ स०—स्विदि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—णेः षण्यभ्यासात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य, संहितायाम् ॥ अर्थः—अभ्यासादिण उत्तरस्य स्विदि स्वदि सहि इत्येतेषां ण्यन्तानां सकारस्य सकारादेशो भवति, षत्वभूते सनि परतः ॥ उदा०—सिस्वेदयिषति । सिस्वादयिषति । सिसाहयिषति ॥

भाषार्थः—अभ्यास के इण् से उत्तर [स्विदि...हीनाम्] ञिष्विदा ष्वद तथा षह इन ण्यन्त धातुओं के सकार को [सः] सकारादेश होता है, षत्वभूत सन् के परे रहते [च] भी ॥ धात्वादेः षः सः (६।१।६२) से धातुओं के ष् को स् हुआ है । अतः आदेश का सकार मानकर पूर्व सूत्र से षत्व प्राप्त था, सकार को सकार ही कह देने से उसकी निवृत्ति हो गई ॥

प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि ॥८।३।६३॥

प्राक् अ० ॥ सितात् ५।१॥ अड्व्यवाये ७।१॥ अपि अ० ॥ स०—अटा व्यवायः अड्व्यवायः, तस्मिन्...तृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्राक् सितशब्दाद् अड्व्यवायेऽपि मूर्धन्यो भवति, अपि ग्रहणादनड्व्यवायेऽपि ॥ उदा०—वक्ष्यति—उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) इति षत्वं, तत्राड्व्यवायेऽपि भवति—अभ्यषुणोत्, पर्यषुणोत्, व्यषुणोत्, न्यषुणोत् ॥ अनड्व्यवायेऽपि—अभिषुणोति, परिषुणोति, विषुणोति, निषुणोति ॥

भाषार्थः—[सितात्] सित शब्द से [प्राक्] पहले-पहले [अड्व्यवाये] अट् का व्यवधान होने पर, तथा 'अपि' ग्रहण से अट् का व्यवधान न होने पर [अपि] भी सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ तात्पर्य यह है कि इण् और कवर्ग से उत्तर जिसे षत्व करना है, उसके मध्य में अट् का व्यवधान हो तो भी षत्व हो जाये ॥ सित से परिनिविभ्यः सेवसित० (८।३।७०) का सित लिया है । सो उससे पूर्व-पूर्व अट् के व्यवधान में भी षत्व होगा ॥ अभि अषुणोत्=अभ्यषुणोत् ॥

यहाँ से 'अड्व्यवायेऽपि' की अनुवृत्ति ८।३।७० तक, तथा 'प्राक् सितात्' की ८।३।६४ तक जायेगी ॥

स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ॥८।३।६४॥

स्थादिषु ७।३॥ अभ्यासेन ३।१॥ च अ० ॥ अभ्यासस्य ६।१॥ स०—स्था

1. न्यासपदमञ्जर्योः 'स स्विदि' पाठः । तयाऽविभक्त्यन्तम् ॥

आदिर्येषां ते स्थादयः, तेषु···बहुव्रीहिः ।। अनु०—प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—स्थादिषु प्राक् सितशब्दादभ्यासेन व्यवाये सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अभ्याससकारस्य च भवतीत्येवं वेदितव्यम् ।। उदा०—अभितष्ठौ, परितष्ठौ । अभिषिषेणयिषति, परिषिषेणयिषति । अभिषिषिक्षति, परिषिषिक्षति ।।

भाषार्थः—सित से पहले-पहले [स्थादिषु] स्था इत्यादियों में, अर्थात् स्था से लेकर सितपर्यन्त [अभ्यासेन] अभ्यास का व्यवधान होने पर भी मूर्धन्य आदेश होता है, [च] तथा [अभ्यासस्य] अभ्यास सकार को भी मूर्धन्य होता है, ऐसा जानना चाहिये ।। स्था से उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) में जो स्था कहा है, उसका ग्रहण है । सो उस स्था से लेकर सितपर्यन्त अभ्यास के व्यवाय में भी षत्व होगा ।। अभितष्ठौ में इण् प्रत्याहार अन्तवाला अभ्यास न होने से षत्व की प्राप्ति नहीं थी, कह दिया । एवं षिच धातु से अभिषिषिक्षति में स्तौतिण्योरेव० (८।३।६१) के नियम की व्यावृत्ति से षत्व प्राप्त नहीं था, प्रकृत सूत्र से हो गया ।। अभितष्ठौ की सिद्धि सूत्र ७।१।३४ में देखें ।। अभिषेणयति की सिद्धि सूत्र ३।१।२५ में देखें ।। तद्वत् 'अभिसेन णिच्' रहा । णाविष्ठवत् प्राति०-(वा० ६।४।१५५) से टि लोप होकर—अभिसेन् इ इट् सन् रहा । गुण अयादेश करके 'सेनयिष' धातु बनी । द्वित्व एवं अभ्यासकार्य होकर—'अभि सि सेनयिष' रहा । अब यहां आदेश का सकार न होने से आदेशप्र०(८।३।५९) से षत्व प्राप्त नहीं था । प्रकृत सूत्र से होकर—अभिषिषेणयिषति बन गया ।।

सूत्र में 'अभ्यासस्य' ग्रहण नियमार्थ है । क्योंकि अभ्यास को षत्व तो उपसर्गात् सुनोति० से उपसर्ग से उत्तर सिद्ध ही था । सो नियम हुआ कि—स्थादियों में ही अभ्यास के सकार को मूर्धन्य हो, अन्यों को नहीं ।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।७० तक जायेगी ।।

उपसर्गात् सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिचसञ्जस्वञ्जाम् ।।८।३।६५।।

उपसर्गात् ५।१।। सुनोति···स्वञ्जाम् ६।३।। स०—सुनोति० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य सुनोति, सुवति, स्यति, स्तौति, स्तोभति, स्था, सेनय, सेध, सिच, सञ्ज, स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि, स्थादिषु अभ्यासेन चाभ्यासस्य ।। उदा०—सुनोति—अभिषुणोति, परिषुणोति । अभ्यषुणोत्, पर्यषुणोत् । सुवति—अभिषुवति, परिषुवति ।

अभ्यषुवत्, पर्यषुवत् । स्यति—अभिष्यति, परिष्यति । अभ्यष्यत्, पर्यष्यत् । स्तौति—अभिष्टौति, परिष्टौति । अभ्यष्टौत्, पर्यष्टौत् । स्तोभति—अभिष्टोभते, परिष्टोभते । अभ्यष्टोभत, पर्यष्टोभत । स्था—अभिष्ठास्यति, परिष्ठास्यति । अभ्यष्ठात्, पर्यष्ठात् । अभ्यासेन व्यवाये—अभितष्ठौ, परितष्ठौ । सेनय—अभिषेणयति, परिषेणयति । अभ्यषेणयत्, पर्यषेणयत् । अभिषिषेणयिषति, परिषिषेणयिषति । सेध—अभिषेधति, परिषेधति । अभ्यषेधत्, पर्यषेधत् । अभिषिषेध, परिषिषेध । सिच—अभिषिञ्चति, परिषिञ्चति । अभ्यषिञ्चत्, पर्यषिञ्चत् । अभिषिषिक्षति, परिषिषिक्षति । सञ्ज—अभिषजति, परिषजति । अभ्यषजत्, पर्यषजत् । अभिषिषङ्क्षति, परिषिषङ्क्षति । स्वञ्ज—अभिष्वजते, परिष्वजते । अभ्यष्वजत, पर्यष्वजत । अभिषिष्वङ्क्षते, परिषिष्वङ्क्षते ॥

भाषार्थः—[उपसर्गात्] उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर [सुनोति ··· स्वञ्जाम्] सुनोति, सुवति, स्यति, स्तौति, स्तोभति, स्था, सेनय, सेध (षिध्), सिच, सञ्ज, स्वञ्ज इनके सकार को मूर्धन्यादेश होता है, अट् के व्यवाय में भी तथा स्थादियों के अभ्यास के व्यवाय में, एवं अभ्यास को भी ॥ षत्व कर लेने पर रषाभ्यां नो णः० (८।४।१), अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से णत्व सर्वत्र यथायोग करके हो जायेगा ॥ अड्व्यवाय में सर्वत्र लङ् के उदाहरण दिये हैं । सू धातु के लङ् में अचिश्नु० (६।४।७७) से उवङ् करके अभिषुवति आदि प्रयोग बने हैं । षो धातु के ओकार का ओतः श्यनि (७।३।७१) से लोप होकर अभिष्यति आदि प्रयोग जानें । अभिष्ठास्यति (लृट्) आदि में षत्व कर लेने पर ष्टुत्व भी हो जायेगा । स्तौति की वृद्धि परि० १।१।६० में की है, तद्वत् अभिष्टौति आदि में समझें । अभिषेणयति आदि प्रयोग पूर्व सूत्र में देखें । षिच् धातु से सिञ्चति में शे मुचादीनाम् (७।१।५९) से नुम् आगम होता है ॥ षञ्ज धातु से दंशसञ्ज० (६।४।२५) से नकारलोप होकर अभिषजति आदि प्रयोग बनेंगे । सन् परे रहते नकारलोप नहीं होगा, तो नश्चापदान्तस्य० (८।३।२४) से अनुस्वार एवं अनुस्वारस्य ययि० (८।४।५७) लगकर अभिषिषङ्क्षति बन गया । चोः कुः (८।२।३०) से यहाँ ज् को ग् तथा चर्त्व क् (८।४।५४ से) भी हो गया है । इसी प्रकार ष्वञ्ज से अभिषिष्वङ्क्षते बनेगा ॥ इण् और कवर्ग से उत्तर षत्व होता है, अतः ये षत्व के निमित्त हैं । सो उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर कहने का अभिप्राय यह है कि 'यदि इण् अथवा कवर्ग उपसर्ग में स्थित हों, तो उनसे उत्तर ···' ॥

यहाँ से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति ८।३।७७ तक जायेगी ॥

सदिरप्रतेः ॥८।३।६६॥

सदिः १।१॥ अत्र षष्ठ्याः स्थाने प्रथमा॥ अप्रतेः ५।१॥ स०—न प्रतिरप्रतिः, तस्मात् नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—उपसर्गात्, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादप्रतेरुत्तरस्य सदेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य॥ उदा०—निषीदति, विषीदति। न्यषीदत्, व्यषीदत्। निषसाद, विषसाद॥

भाषार्थः—[अप्रतेः] प्रतिभिन्न उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर [सदिः] षद्लृ धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, अड्व्यवाय एवं अभ्यास के व्यवाय में भी॥ सात् पदाद्योः (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह वचन है। निषीदति आदि में पाघ्राध्मा० (७।३।७८) से सद को सीद आदेश हुआ है। निषसाद (लिट्) में शित् परे न होने से आदेश नहीं हुआ। सदेः परस्य लिटि (८।३।११८) के प्रतिषेध से यहाँ अभ्यास से परेवाले सकार को षत्व नहीं हुआ है॥

स्तन्भेः ॥८।३।६७॥

स्तन्भेः ६।१॥ अनु०—उपसर्गात्, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य स्तन्भेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य॥ उदा०—अभिष्टभ्नाति, परिष्टभ्नाति। अभ्यष्टभ्नात्, पर्यष्टभ्नात्। अभितष्टम्भ, परितष्टम्भ॥

भाषार्थः—उपसर्गस्थ निमित्त से उत्तर [स्तन्भेः] स्तन्भु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, अट् के व्यवाय एवं अभ्यास व्यवाय में भी॥ स्तन्भु सौत्र धातु है। स्तन्भुस्तुन्भु० (३।१।८२) से श्ना विकरण, तथा अनिदितां० (६।४।२४) से अनुनासिक लोप होकर अभिष्टभ्नाति आदि प्रयोग बने हैं। अभितष्टम्भ (लिट्), यहाँ शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) से अभ्यास का खय् का शेष रहा है॥

यहाँ से 'स्तन्भेः' की अनुवृत्ति ८।३।६८ तक जायेगी॥

अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः ॥८।३।६८॥

अवात् ५।१॥ च अ०॥ आलम्बनाविदूर्ययोः ७।२॥ स०—आलम्बनञ्च आविदूर्यञ्च आलम्बनाविदूर्ये, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—स्तन्भेः, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः—आलम्बन आविदूर्ये चार्थे, अवोपसर्गादुत्तरस्य स्तन्भेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति॥ आलम्बनमाश्रयणम्,

अविदूरस्य भाव आविदूर्यम्, ष्यञ्प्रत्ययः ।। उदा०—आलम्बने—अवष्टभ्यास्ते। अवष्टभ्य तिष्ठति। आविदूर्ये—अवष्टब्धा सेना, अवष्टब्धा शरत् ।।

भाषार्थः—[अवात्] अव उपसर्ग से उत्तर [च] भी स्तन्भु के सकार को [आलम्बनाविदूर्ययोः] आलम्बन तथा आविदूर्य अर्थ में मूर्धन्य आदेश होता है ।। आलम्बन अर्थात् आश्रयण, एवं आविदूर्य अर्थात् समीपता ।। अवष्टभ्यास्ते (=आश्रयण करके बैठा है); यहाँ अवष्टभ्य ल्यबन्त है। अवष्टब्धा सेना (=सेना समीप है), यहाँ क्त प्रत्यय करके झषस्त० (८।२।४०) से धत्व, झलां जश् झशि (८।४।५२) से भ् को ब्, एवं टाप् होकर अवष्टब्धा बना है ।।

यहाँ से 'अवात्' की अनुवृत्ति ८।३।६६ तक जायेगी ।।

वेश्च स्वनो भोजने ।।८।३।६९।।

वेः ५।१।। च अ० ।। स्वनः ६।१।। भोजने ७।१।। अनु०—अवात्, उपसर्गात्, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, अड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—वेरुपसर्गादवाच्चोत्तरस्य भोजनार्थे स्वनधातोः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, अड्व्यवायेऽपि स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ।। उदा०—विष्वणति। व्यष्वणत्। विषष्वाण। अवात्—अवष्वणति। अवाष्वणत्। अवषष्वाण ।।

भाषार्थः—[वेः] वि उपसर्ग से उत्तर, तथा [च] चकार से अव उपसर्ग से उत्तर [भोजने] भोजन अर्थ में [स्वनः] स्वन धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, अड्व्यवाय एवं अभ्यास-व्यवाय में भी ।। अवष्वणति का अर्थ है—'मुँह से (=मुँह चलाने का) शब्द (=आवाज) करते हुये खाता है'। इस प्रकार स्वन धातु शब्दार्थक होते हुये भी भोजन अर्थ में है। अट्कु० (८।४।२) से णत्व यहाँ हुआ है ।।

परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् ।।८।३।७०।।

परिनिविभ्यः ५।३।। सेव···ञ्जाम् ६।३।। स०—सेवश्च सितश्च सयश्च सिवुश्च सहश्च सुट् च स्तुश्च स्वञ्ज् च सेव···स्वञ्जः, तेषां···इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—उपसर्गात्, स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य, प्राक् सितादड्व्यवायेऽपि, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—परि, नि, वि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरेषां सेव, सित, सय, सिवु, सह, सुट्, स्तु, स्वञ्ज इत्येतेषां सकारस्य मूर्धन्य आदेशो भवति, प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य ।। उदा०—सेव—परिषेवते, निषेवते, विषेवते। पर्यषेवत, न्यषेवत, व्यषेवत। परिषिषेविषते, निषिषेविषते, विषिषेविषते। सित—परिषितः, निषितः, विषितः। सय—परिषयः,

निषयः, विषयः । सिवु—परिषीव्यति, निषीव्यति, विषीव्यति । पर्यषीव्यत्, न्यषीव्यत्, व्यषीव्यत् । पर्यसीव्यत्, न्यसीव्यत्, व्यसीव्यत् । सह—परिषहते, निषहते, विषहते । पर्यषहत, न्यषहत, व्यषहत । पर्यसहत, न्यसहत, व्यसहत । सुट्—परिष्करोति । पर्यष्करोत् । पर्यस्करोत् । स्तु—परिष्टौति, निष्टौति, विष्टौति । पर्यष्टौत्, न्यष्टौत्, व्यष्टौत् । पर्यस्तौत्, न्यस्तौत्, व्यस्तौत् । स्वञ्ज—परिष्वजते, निष्वजते, विष्वजते । पर्यष्वजत, न्यष्वजत, व्यष्वजत । पर्यस्वजत, न्यस्वजत, व्यस्वजत ।।

भाषार्थः—[परिनिविभ्यः] परि नि तथा वि उपसर्ग से उत्तर [सेव… स्वञ्जाम्] सेव सित सय सिवु सह (षह), सुट्, स्तु, तथा स्वञ्ज के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, सित शब्द से पहले पहले अट् व्यवाय, एवं अभ्यास व्यवाय में भी होता है ।। तद्वत् उदाहरण सित से पूर्व-पूर्व के दिखा दिये हैं ।। षेवृ धातु का 'सेव', तथा 'षिञ् बन्धने' के निष्ठा का 'सित', एवं षिञ् का ही एरच् (३।३।५६) से अच् करके 'सय' निर्देश सूत्र में है । अतः तद्वत् क्तान्त एवं अच्प्रत्ययान्त शब्दों को षत्व होगा । परिषिषेविषते आदि पूर्ववत् णिजन्त के सन् के रूप हैं । सिवु (षिवु) से आगे के प्रयोगों में सिवादीनां वाड्० (८।३।७१) से अट् के व्यवाय में विकल्प से षत्व होता है । अतः अट् के व्यवाय के दो-दो प्रयोग दिखाये हैं । सम्परिभ्यां० (६।१।१३२) से परि से उत्तर सुट् कहा है, नि वि से उत्तर नहीं । अतः परि का ही उदाहरण दिखाया है ।। स्तु तथा स्वञ्ज को उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से ही षत्व प्राप्त था । अगले सूत्र से अड्व्यवाय में षत्व का विकल्प करने के लिये इनका ग्रहण है । अन्यथा ८।३।६५ से नित्य ही षत्व होता । परिष्वजते आदि में दंशसञ्ज० (६।४।२५) से अनुनासिक लोप होगा ।।

यहाँ से 'परिनिविभ्यः' की अनुवृत्ति ८।३।७१ तक जायेगी ।।

सिवादीनां वाऽड्व्यवायेऽपि ।।८।३।७१।।

सिवादीनाम् ६।३।। वा अ० ।। अड्व्यवाये ७।१।। अपि अ० ।। स०—सिवु आदिर्येषां ते सिवादयः, तेषां… बहुव्रीहिः । अटा व्यवायोऽड्व्यवायः, तस्मिन्… तृतीयातत्पुरुषः ।। अनु०—परिनिविभ्यः, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—परिनिविभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरेषां सिवादीनामड्व्यवायेऽपि सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ।। पूर्वसूत्रोक्ताः सिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम् इति सिवादयः ।। पूर्वसूत्रे तथैवोदाहृतमत्रापि द्रष्टव्यम् ।।

भाषार्थः—परि नि वि उपसर्गों से उत्तर [सिवादीनाम्] सिवादियों के सकार को [अड्व्यवाये] अट् के व्यवधान होने पर [अपि] भी [वा] विकल्प से

मूर्धन्य आदेश होता है ।। सिवादि से पूर्व सूत्र में कहे हुये सिवु से लेकर स्वञ्ज तक का ग्रहण है ।।

यहां से 'वा' की अनुवृत्ति ८।३।७६ तक जायेगी ।।

अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु ।।८।३।७२।।

अनुविपर्यभिनिभ्यः ५।३।। स्यन्दतेः ६।१।। अप्राणिषु ७।३।। स०—अनुश्च विश्च परिश्च अभिश्च निश्च अनु...नयः, तेभ्यः...इतरेतरद्वन्द्वः । न प्राणिनोऽप्राणिनः, तेषु नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—अनु, वि, परि, अभि, नि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्यः अप्राणिषु स्यन्दतेः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ।। उदा०—अनुष्यन्दते, विष्यन्दते, परिष्यन्दते, अभिष्यन्दते, निष्यन्दते ।। पक्षे—अनुस्यन्दते, विस्यन्दते, परिस्यन्दते, अभिस्यन्दते, निस्यन्दते ।।

भाषार्थः—[अनु...भ्यः] अनु, वि, परि, अभि, नि उपसर्गों से उत्तर [स्यन्दतेः] स्यन्दू धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है, यदि [अप्राणिषु] प्राणि का कथन न हो रहा हो तो ।।

वेः स्कन्देरनिष्ठायाम् ।।८।३।७३।।

वेः ५।१।। स्कन्देः ६।१।। अनिष्ठायाम् ७।१।। स०—अनिष्ठा० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—वेरुपसर्गादुत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवत्यनिष्ठायाम् ।। उदा०—विष्कन्ता, विष्कन्तुम्, विष्कन्तव्यम् । पक्षे—विस्कन्ता, विस्कन्तुम्, विस्कन्तव्यम् ।।

भाषार्थः—[वेः] वि उपसर्ग से उत्तर [स्कन्देः] स्कन्दिर् धातु के सकार को [अनिष्ठायाम्] निष्ठा परे न हो, तो विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ।। वि स्कन्द् तृच्=चर्त्व होकर (८।४।५४से) विष्कन्त् ता, झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) लगकर—विष्कन्ता बना । इसी प्रकार सब में जानें ।।

यहां से 'स्कन्देः' की अनुवृत्ति ८।३।७४ तक जायेगी ।।

परेश्च ।।८।३।७४।।

परेः ५।१।। च अ० ।। अनु०—स्कन्देः, वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—परेरुपसर्गाच्चोत्तरस्य स्कन्देः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ।। उदा०—परिष्कन्ता, परिष्कन्तुम्, परिष्कन्तव्यम् । पक्षे—परिस्कन्ता, परिस्कन्तुम्, परिस्कन्तव्यम् । परिष्कण्णः, परिस्कन्नः ।।

भाषार्थः—[परेः] परि उपसर्ग से उत्तर [च] भी स्कन्द् के सकार को विकल्प से मूर्धन्यादेश होता है ॥ क्त में स्कन्द् के अनुनासिक का अनिदितां हल० (६।४।२४) से लोप, तथा निष्ठा तकार एवं पूर्व दकार को रदाभ्यां निष्ठातो० (८।२।४२) से नत्व, एवं षत्व पक्ष में णत्व (८।४।२से) होकर—परिष्कण्णः परिस्कन्नः बन गया ।

परिस्कन्दः प्राच्यभरतेषु ॥८।३।७५॥

परिस्कन्दः १।१॥ प्राच्यभरतेषु ७।३॥ स०—प्राच्याश्चामी भरताश्च प्राच्यभरताः, तेषु · कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अर्थः—परिस्कन्द इत्यत्र मूर्धन्याभावो निपात्यते, प्राच्यभरतेषु प्रयोगविषयेषु ॥ पूर्वेण मूर्धन्ये प्राप्ते तदभावो निपात्यते ॥ परिस्कन्दः ॥

भाषार्थः—[परिस्कन्दः] 'परिस्कन्द' शब्द में मूर्धन्याभाव निपातन है, [प्राच्यभरतेषु] प्राग्देशीयान्तर्गत भरतदेश के प्रयोग विषय में ॥ पूर्व सूत्र से षत्व प्राप्त था, तदभाव निपातन कर दिया । परिस्कन्दः शब्द पचाद्यच्प्रत्ययान्त है ॥

स्फुरतिस्फुलत्योर्निर्निविभ्यः ॥८।३।७६॥

स्फुरतिस्फुलत्योः ६।२॥ निर्निविभ्यः ५।३॥ स०—स्फुरतिश्च स्फुलतिश्च स्फुरतिस्फुलती, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः । निस् च निश्च विश्च निर्निवयः, तेभ्यः ... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वा, उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—निस् नि वि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरस्य स्फुरतिस्फुलत्योः सकारस्य वा मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—स्फुरति—निष्ष्फुरति, निष्फुरति, विष्फुरति। पक्षे—निस्स्फुरति, निस्फुरति, विस्फुरति । स्फुलति—निष्ष्फुलति, निष्फुलति । विष्फुलति । पक्षे—निस्स्फुलति, निस्फुलति, विस्फुलति ॥

भाषार्थः—[निर्निविभ्यः] निस् नि वि उपसर्ग से उत्तर [स्फुरतिस्फुलत्योः] स्फुरति तथा स्फुलति के सकार को विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ निस् स्फुरति =निस् ष्फुरति, ष्टुत्व होकर—निष्ष्फुरति बन गया ॥

वेः स्कभ्नातेर्नित्यम् ॥८।३।७७॥

वेः ५।१॥ स्कभ्नातेः ६।१॥ नित्यम् १।१॥ अनु०—उपसर्गात्, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—वेरुपसर्गादुत्तरस्य स्कभ्नातेः सकारस्य नित्यं मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—विष्कभ्नाति । विष्कम्भिता, विष्कम्भितुम्, विष्कम्भितव्यम् ॥

भाषार्थः—[वेः] वि उपसर्ग से उत्तर [स्कभ्नातेः] स्कन्भु (=सौत्र धातु)

के सकार को [नित्यम्] नित्य ही मूर्धन्य आदेश होता है ॥ स्तन्भुस्तुन्भु० (३।१।८२) से विष्कम्नाति में श्ना विकरण हुआ है ॥

इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात् ॥८।३।७८॥

इणः ५।१॥ षीध्वंलुङ्लिटाम् ६।३॥ धः ६।१॥ अङ्गात् ५।१॥ स०—षीध्वं च लुङ् च लिट् च षीध्वंलुङ्लिटः, तेषाम् इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु० अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—इणन्तादङ्गादुत्तरेषां षीध्वम् लुङ् लिट् इत्येतेषां यो धकारस्तस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—षीध्वम्— च्योषीढ्वम्, प्लोषीढ्वम् । लुङ्—अच्योढ्वम्, अप्लोढ्वम् । लिट्—चकृढ्वे, ववृढ्वे ॥

भाषार्थः—[इणः] इणन्त (=इण् प्रत्याहार अन्तवाले) [अङ्गात्] अङ्ग से उत्तर [षीध्वंलुङ्लिटाम्] षीध्वम् लुङ् तथा लिट् का जो [धः] धकार उसको मूर्धन्य आदेश होता है ॥ आशीर्लिङ् में च्युङ् प्लुङ् धातु से च्यु सीयुट् ध्वम् = च्यो सीय् ध्वम्, षत्व (८।३।५८ से), तथा य् का लोप (६।१।६४ से) होकर च्योषीध्वम् रहा । अब यहां प्रकृत सूत्र से षीध्वम् के ध् को मूर्धन्य होकर च्योषीढ्वम् प्लोषीढ्वम् बन गया । लुङ् में धि च (८।२।२५) से सिच् के स् का लोप, एवं ध् को मूर्धन्य होकर—अच्योढ्वम् बन गया । एकाच उपदेशे० (७।२।१०) से सर्वत्र इट् निषेध जानें । लिट् में कृ को द्वित्वादि होकर च कृ ध्वम्, टित आत्मने० (३।४।७९) से एत्व, तथा मूर्धन्य होकर—चकृढ्वे ववृढ्वे बन गया । यहाँ कृसृभृ० (७।२।१३) से इट् निषेध हुआ है । मूर्धन्य कहने से यहाँ ध् को स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से मूर्धास्थानी ढ् हो गया है ॥

यहाँ से 'इणः षीध्वंलुङ्लिटाम् धः' की अनुवृत्ति ८।३।७९ तक जायेगी ॥

विभाषेटः ॥८।३।७९॥

विभाषा १।१॥ इटः ५।१॥ अनु०—इणः षीध्वंलुङ्लिटां धः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—इणः परस्मात् इट उत्तरेषां षीध्वंलुङ्लिटां यो धकारस्तस्य विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—लविषीध्वम्, लविषीढ्वम् । पविषीध्वम्, पविषीढ्वम् । लुङ्—अलविध्वम्, अलविढ्वम् । लिट्—लुलुविध्वे, लुलुविढ्वे ॥

भाषार्थः—इण् से उत्तर जो [इटः] इट्, उससे उत्तर जो षीध्वम्, लुङ् तथा लिट् का धकार उसको [विभाषा] विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ पूर्ववत् लिङ् में लू इट् सीयुट् ध्वम्=लू इ षी ध्वम् रहा । अब यहाँ लू का ऊ इण् है, सो

उससे उत्तर जो इट् उससे परे षीध्वम् के ध् को मूर्धन्य होकर—लू इ षीढ्वम् = लो इ षीढ्वम् = लविषीढ्वम् बन गया। पक्ष में ध ही रहा। अलविध्वम्, अलविढ्वम् की सिद्धि सूत्र ८।२।२५ में देखें। लिट् में लू को द्वित्वादि कार्य, एवं अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से उवङ् होकर—लुलुविढ्वे, लुलुविध्वे बना है॥

समासेऽङ्गुलेः सङ्गः ॥८।३।८०॥

समासे ७।१॥ अङ्गुलेः ५।१॥ सङ्गः १।१॥ षष्ठ्याः स्थाने प्रथमाऽत्र व्यत्ययेन ॥ अनु०—सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—सङ्गशब्दस्य सकारस्याङ्गुलेरुत्तरस्य मूर्धन्यादेशो भवति समासे ॥ उदा०—अङ्गुलेः सङ्गः = अङ्गुलिषङ्गः। अङ्गुलिषङ्गा यवागूः। अङ्गुलिषङ्गो गाः सादयति ॥

भाषार्थः—[समासे] समास में [अङ्गुलेः] अङ्गुलि शब्द से उत्तर [सङ्गः] सङ्ग शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है॥ सङ्ग अर्थात् संश्लेष, अङ्गुलिषङ्गः =अङ्गुलि का संश्लेष॥ सात् पदाद्योः (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह सूत्र है॥

यहाँ से 'समासे' की अनुवृत्ति ८।३।८५ तक जायेगी॥

भीरोः स्थानम् ॥८।३।८१॥

भीरोः ५।१॥ स्थानम् १।१॥ षष्ठ्यर्थे प्रथमा॥ अनु०—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—स्थानसकारस्य भीरोरुत्तरस्य मूर्धन्यादेशो भवति समासे ॥ उदा०—भीरोः स्थानम् = भीरुष्ठानम्॥

भाषार्थः—[भीरोः] भीरु शब्द से उत्तर [स्थानम्] स्थान शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है॥

अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः ॥८।३।८२॥

अग्नेः ५।१॥ स्तुत्स्तोमसोमाः १।३॥ स०—स्तुत् इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः॥ अनु०—समासे, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अग्नेरुत्तरस्य स्तुत् स्तोम सोम इत्येतेषां सकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—अग्निष्टुत्, अग्निष्टोमः, अग्नीषोमौ॥

भाषार्थः—[अग्नेः] अग्नि शब्द से उत्तर [स्तुत्स्तोमसोमाः] स्तुत् स्तोम तथा सोम के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है॥ परि० १।१।६१ के अग्निचित् के समान अग्निस्तुत् बनकर पश्चात् षत्व ष्टुत्व होकर—अग्निष्टुत् हुआ। अग्निष्टोमः में षष्ठीसमास है। अग्नीषोमौ, यहाँ द्वन्द्वसमास है, तथा ईदग्नेः सोम०

म(६।३।२५) से अग्नि को ईत्व हुआ है ॥ स्तोम. सोम. शब्द १।१४० उणादि से मन्प्रत्ययान्त हैं। सात्पदाद्यो: से पदादिलक्षण प्रतिषेध सर्वत्र प्राप्त था, विधान कर दिया ॥

ज्योतिरायुष: स्तोम: ॥८।३।८३॥

ज्योतिरायुष: ५।१॥ स्तोम: १।१॥ स०—ज्योतिश्च आयुश्च ज्योतिरायु:, तस्मात् समाहारो द्वन्द्व: ॥ अनु०—समासे, स:, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्य:, संहितायाम् ॥ अर्थ:—ज्योतिस् आयुस् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्तोमसकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—ज्योतिष: स्तोम: =ज्योतिष्टोम:, आयुष्टोम: । ज्योति:ष्टोम:, आयु:ष्टोम: ॥

भाषार्थ: —[ज्योतिरायुष:] ज्योतिस् तथा आयुस् शब्द से उत्तर [स्तोम:] स्तोम शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ ज्योतिस् आयुस् के स् को विसर्जनीय होकर स्तोम परे रहते वा शरि (८।३।३६) से पक्ष में सत्व, एवं स्तोम के स को ष करने पर ष्टुत्व होकर ज्योतिष्टोम आयुष्टोम: प्रयोग बन गये। पक्ष में जब वा शरि से विसर्जनीय हुआ, तो ज्योति:ष्टोम:, आयु:ष्टोम: प्रयोग बन गये ॥ पूर्ववत् प्रतिषेध प्राप्त था, कह दिया ॥

मातृपितृभ्यां स्वसा ॥८।३।८४॥

मातृपितृभ्याम् ५।२॥ स्वसा १।१॥ अनु० —समासे, स:, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्य:, संहितायाम् ॥ अर्थ:—मातृ पितृ इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्वसृसकारस्य समासे मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—मातृष्वसा, पितृष्वसा ॥

भाषार्थ:—[मातृपितृभ्याम्] मातृ तथा पितृ शब्द से उत्तर [स्वसा] स्वसृ शब्द के सकार को समास में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ उदाहरणों में षष्ठी समास है । अनादेश का सकार होने से उत्सर्ग सूत्र (८।३।५९) से षत्व प्राप्त नहीं था, अप्राप्त विधान है । ऐसा अन्यत्र भी जहाँ किसी का अपवादरूप सूत्र न हो, समझें ॥

यहाँ से 'स्वसा' की अनुवृत्ति ८।३।८५ तक जायेगी ॥

मातु:पितुर्भ्यामन्यतरस्याम् ॥८।३।८५॥

मातु:पितुर्भ्याम् ५।२॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ स०—मातुश्च पितुश्च मातु:पितुरौ, ताभ्यां इतरेतरद्वन्द्व: ॥ अनु०—स्वसा, समासे, स:, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्य:, संहितायाम् ॥ अर्थ:—मातुर् पितुर् इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्वसृशब्दस्य सकारस्य समासे विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—मातु:ष्वसा, मातु:स्वसा । पितु:ष्वसा, पितु:स्वसा ॥

भाषार्थः—[मातुःपितुर्भ्याम्] मातुर् तथा पितुर् शब्द से उत्तर स्वसृ के सकार को समास में [अन्यतरस्याम्] विकल्प करके मूर्धन्य आदेश होता है ॥ मातुर् पितुर् यह षष्ठ्यन्त का अनुकरण है, सो वैसा ही निर्देश सूत्र में कर दिया है। मातुर् पितुर् के रेफ को विसर्जनीय पूर्ववत् उदाहरणों में हुआ है। षष्ठी विभक्ति का अलुक् यहाँ विभाषा स्वसृपत्योः (६।३।२२) से होता है। वा शरि (८।३।३६) पक्ष में जब विसर्जनीय को सत्व होगा, तो स् को ष्टुत्व होकर मातुष्ष्वसा पितुष्ष्वसा प्रयोग भी बनेंगे, ऐसा जानें ॥

यहाँ से 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति ८।३।८६ तक जायेगी ॥

अभिनिसः स्तनः शब्दसंज्ञायाम् ॥८।३।८६॥

अभिनिसः ५।१॥ स्तनः ६।१॥ शब्दसंज्ञायाम् ७।१॥ स०—अभिश्च निस् च अभिनिः, तस्मात् समाहारद्वन्द्वः। शब्दस्य संज्ञा शब्दसंज्ञा, तस्याम् षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अभि निस् इत्येतस्मादुत्तरस्य स्तनधातोः सकारस्य शब्दसंज्ञायां गम्यमानायां विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—अभिनिष्टानो वर्णः, अभिनिष्टानो विसर्जनीयः। पक्षे—अभिनिस्तानो वर्णः, अभिनिस्तानो विसर्जनीयः ॥

भाषार्थः—[अभिनिसः] अभि तथा निस् से उत्तर [स्तनः] स्तन धातु के सकार को [शब्दसंज्ञायाम्] शब्द की संज्ञा गम्यमान हो, तो विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ अभि निस् ये समुदितरूप से उदाहरणों में आयें, तभी षत्व होता है। अभिनिष्टान विसर्जनीयरूप वर्णविशेष की संज्ञा है। पूर्व उदाहरण में वर्णसामान्य का निर्देश होने पर भी विसर्जनीयरूप वर्ण की ही संज्ञा जाननी चाहिये। आपस्तम्बगृह्यसूत्र के नाम-प्रकरण में 'अभिनिष्ठानान्तम्' पद विसर्जनीय के लिये प्रयुक्त है। क्या वह पाठाशुद्धि सम्भव है ?

उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः ॥८।३।८७॥

उपसर्गप्रादुर्भ्याम् ५।२॥ अस्तिः १।१॥ यच्परः १।१॥ स०—उपसर्गश्च प्रादुश्च उपसर्गप्रादुसौ, ताभ्यां, इतरेतरद्वन्द्वः। यश्च अच् च यचौ, यचौ परौ यस्मात् स यच्परः, द्वन्द्वगर्भबहुव्रीहिः ॥ अनु०—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य प्रादुस्शब्दाच्चोत्तरस्य यकारपरस्य अच्परस्य चास्तेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—अच्परस्यास्तेः—अभिषन्ति, निषन्ति, विषन्ति। प्रादुःषन्ति। यकारपरस्यास्तेः—अभिष्यात्, निष्यात्, विष्यात्। प्रादुःष्यात् ॥

भाषार्थः—[उपसर्गप्रादुर्भ्याम्] उपसर्ग में स्थित निमित्त (अर्थात् इण् कवर्ग) से उत्तर, तथा प्रादुस् शब्द से उत्तर [यच्परः] यकारपरक एवं अच्परक [अस्तिः] अस् धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ अभिषन्ति आदि में अस् के सकार से परे अन्ति का 'अ' अच् परे है। अदादिगणस्थ होने से शप् का लुक्, तथा श्नसो-रल्लोपः (६।४।१११) से अस् के अ का लोप यहाँ होता है । अभिष्यात् आदि में यासुट् का यकार परे है, शेष पूर्ववत् है ॥ यासुट् के स् का लोप लिङः सलोपो० (७।२।७९) से होगा ॥

सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः ॥८।३।८८॥

सुविनिर्दुर्भ्यः ५।३॥ सुपिसूतिसमाः १।३॥ स०—सुश्च विश्च निर् च दुर् च सुविनिर्दुरः, तेभ्यः···इतरेतरद्वन्द्वः । सुपि० इत्यत्रा पीतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—सु, वि, निर्, दुर् इत्येतेभ्य उत्तरस्य सुपि सूति सम इत्येतेषां सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—सुषुप्तः, विषुप्तः, निःषुप्तः, दुःषुप्तः । सूति—सुषूतिः, विषूतिः, निःषूतिः, दुःषूतिः । सम—सुषमम्, विषमम्, निःषमम्, दुःषमम् ॥

भाषार्थः—[सुविनिर्दुर्भ्यः] सु, वि, निर् तथा दुर् से उत्तर [सुपिसूतिसमाः] सुपि सूति तथा सम के सकार को मूर्धन्यादेश होता है ॥ स्वप् को सम्प्रसारण (६।१।१५ से) करके सूत्र में 'सुपि' निर्देश है । षू धातु का क्तिन् में सूतिः रूप बना है, अतः क्तिन्नन्त को ही षत्व होगा ॥ सुपि सूति को सात् पदाद्योः (८।३।१११) से पदादिलक्षण निषेध प्राप्त था, षत्व कह दिया ॥ निर् दुर् उपसर्गों के र् को विसर्जनीय पूर्ववत् हुआ है ॥

निनदीभ्यां स्नातेः कौशले ॥८।३।८९॥

निनदीभ्याम् ५।२॥ स्नातेः ६।१॥ कौशले ७।१॥ स०—निश्च नदी च निनद्यौ, ताभ्याम्···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—नि नदी इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्नातेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, कौशले गम्यमाने ॥ उदा०—निष्णातः कटकरणे, निष्णातो रज्जुवर्तने । नद्यां स्नातीति नदीष्णः ॥

भाषार्थः—[निनदीभ्याम्] नि तथा नदी इनसे उत्तर [स्नातेः] 'ष्णा शौचे' धातु के सकार को [कौशले] कुशलता गम्यमान हो, तो मूर्धन्य आदेश होता है ॥ पदादि मानकर सात्पदाद्योः (८।३।१११) से निषेध प्राप्त था, विधान कर दिया ॥

निष्णातः कटकरणे = चटाई बनाने में होशियार । ष्णा के ष् को पहिले धात्वादेः० (६।१।६२) से सत्व होकर स्ना रहा । तत्पश्चात् नि नदी से उत्तर षत्व ष्टुत्व हो गया । नदीष्णः (= नदी स्नान में कुशल) में सुपि स्थः (३।२।४) के योगविभाग से ष्णा से भी क प्रत्यय हो जाता है । पश्चात् आतो लोप० (६।४।६४) से 'ष्णा' का 'आ' लोप हो जायेगा ॥

सूत्रं प्रतिष्णातम् ॥८।३।९०॥

सूत्रम् १।१॥ प्रतिष्णातम् १।१॥ अनु०—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्रतिष्णातमित्यत्र मूर्धन्यादेशो निपात्यते, सूत्रं चेत्तद् भवति ॥ उदा०—प्रतिष्णातं सूत्रम् ॥

भाषार्थः—[प्रतिष्णातम्] प्रतिष्णातम् में षत्व निपातन है, [सूत्रम्] सूत्र (= धागा) को कहने में ॥ प्रति स्ना क्त = प्रतिष्णातम् । पूर्ववत् सात्पदाद्योः से षत्व प्रतिषेध प्राप्त था, निपात कर दिया ॥ प्रतिष्णातम् अर्थात् शुद्ध सूत ॥

कपिष्ठलो गोत्रे ॥८।३।९१॥

कपिष्ठलः १।१॥ गोत्रे ७।१॥ अनु०—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—कपिष्ठल इति मूर्धन्यादेशो निपात्यते, गोत्रविषये ॥ उदा०—कपिष्ठलो नाम यस्य कापिष्ठलिः पुत्रः ॥

भाषार्थः—[कपिष्ठलः] कपिष्ठल में मूर्धन्य आदेश निपातन है, [गोत्रे] गोत्र विषय को कहने में ॥

गोत्र से यहां लौकिक गोत्र का ग्रहण है, न कि पारिभाषिक (४।१।१६२) गोत्र का । लौकिक गोत्र में जिस विशिष्ट पुरुष से सन्तति का प्रारम्भ होता है, उसको एवं उसके आगे को गोत्र-संज्ञा होती है । इस प्रकार कपिष्ठल में आदि पुरुष मानकर षत्व हो गया है । अन्यथा अपत्यं पौत्र० (४।१।१६२) के कारण कापिष्ठलिः में ही षत्व होता, कपिष्ठल में नहीं ॥

प्रष्ठोऽग्रगामिनि ॥८।३।९२॥

प्रष्ठः १।१॥ अग्रगामिनि ७।१॥ स०—अग्रे गच्छतीति अग्रगामी, तस्मिन्... तत्पुरुषः ॥ अनु०—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्रष्ठ इति निपात्यते अग्रगामिन्यभिधेये ॥ उदा०—प्रतिष्ठत इति प्रष्ठोऽश्वः ॥

भाषार्थः—[प्रष्ठः] प्रष्ठ इस शब्द में [अग्रगामिनि] अग्रगामी अभिधेय हो, तो षत्व निपातन है ॥ प्रष्ठोऽश्वः, अर्थात् आगे चलनेवाला अश्व ॥ प्रष्ठः में सुपि स्थः (३।२।४) से क प्रत्यय हुआ है ॥

वृक्षासनयोर्विष्टरः ॥८।३।९३॥

वृक्षासनयोः ७।२॥ विष्टरः १।१॥ स०—वृक्षश्च आसनञ्च वृक्षासने,तयोः··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—विष्टर इति निपात्यते, वृक्षे आसने च वाच्ये ॥ उदा०—विष्टरो वृक्षः, विष्टरमासनम् ॥

भाषार्थः—[वृक्षासनयोः] वृक्ष तथा आसन वाच्य हो, तो [विष्टरः] विष्टर शब्द में षत्व निपातन है ॥ विपूर्वक स्तृञ् से ऋदोरप् (३।३।५७) से अप् प्रत्यय करके विस्तर=विष्टर बना है ॥

यहाँ से 'विष्टरः' की अनुवृत्ति ८।३।९४ तक जायेगी ॥

छन्दोनाम्नि च ॥८।३।९४॥

छन्दोनाम्नि ७।१॥ च अ० ॥ स०—छन्दसः नाम छन्दोनाम, तस्मिन्······ षष्ठीतत्पुरुषः ॥ अनु०—विष्टरः, सः, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—छन्दोनाम्नि विष्टार इत्यत्र मूर्धन्यादेशो निपात्यते ॥ उदा०—विष्टारपङ्क्तिः छन्दः, विष्टार-बृहती छन्दः ॥

भाषार्थः—[छन्दोनाम्नि] छन्द का नाम कहना हो, तो [च] भी विष्टार शब्द में षत्व निपातन किया है ॥ यहां यद्यपि 'विष्टरः' की अनुवृत्ति आ रही थी, किन्तु विष्टार में छन्दोनाम्नि च (३।३।३४) से घञ् होने से वृद्धि (७।२।११५ से) होकर विष्टार ही बनेगा। अतः विष्टार निपातन माना है ॥ छन्द से यहाँ विष्टार-पङ्क्ति आदि छन्द (छन्दों के नाम) गृहीत हैं, न कि वेद ॥ सिद्धि के लिये ३।३।३४ सूत्र ही देखें ॥

गवियुधिभ्यां स्थिरः ॥८।३।९५॥

गवियुधिभ्याम् ५।२॥ स्थिरः १।१॥ स०—गवि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—गवि युधि इत्येताभ्यामुत्तरस्य स्थिर-सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—गवि तिष्ठतीति गविष्ठिरः । युधिष्ठिरः ॥

भाषार्थः—[गवियुधिभ्याम्] गवि तथा युधि से उत्तर [स्थिरः] स्थिर शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ गवि युधि सप्तम्यन्त के अनुकरणरूप शब्द हैं । युधिष्ठिरः में सप्तमी का अलुक् हलदन्तात्० (६।३।७) से हुआ है । तथा गो शब्द के अहलन्त होने से विभक्ति-लुक् प्राप्त था, । इसी सूत्र के निपातन से विभक्ति का अलुक् हुआ है ॥ पदादि-माजकर-सात्पदाद्योः (८।३।१११) से षत्व प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह वचन है ॥

विकुशमिपरिभ्यः स्थलम् ॥८।३।९६॥

विकुशमिपरिभ्यः ५।३॥ स्थलम् १।१॥ स०—विश्च कुश्च, शमी च, परिश्च विकु, ०रयः, तेभ्यः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः—वि, कु, शमि, परि इत्येतेभ्य उत्तरस्य स्थलसकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—विष्ठलम्, कुष्ठलम्, शमीनां स्थलम्=शमिष्ठलम्, परिष्ठलम् ॥

भाषार्थः—[विकुशमिपरिभ्यः] वि, कु, शमि तथा परि से उत्तर [स्थलम्] स्थल शब्द के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ वि कु तथा परि के साथ स्थल का कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास हुआ है । तथा शमिष्ठलम् में षष्ठीसमास हुआ है । शमिष्ठलम् में शमी को ङयापोः संज्ञा० (६।३।६१) से ह्रस्व होता है ॥ यहाँ सूत्र में 'शमी' को ह्रस्व यह दर्शाने के लिये पढ़ा है कि जब इसे ह्रस्वत्व हो, तभी षत्व हो । बहुल कहने से जब दीर्घ भी रहे, तब षत्व न हो ॥

अम्बाम्बगोभूमिसव्यापद्वित्रिकुशेकुशङ्क्वङ्गुमञ्जिपुञ्जि-
परमेबर्हिर्दिव्यग्निभ्यः स्थः ॥८।३।९७॥

अम्बा ··· ग्निभ्यः ५।३॥ स्थः १।१॥ स०—अम्बा० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अम्ब, आम्ब, गो, भूमि, सव्य, अप, द्वि, त्रि, कु, शेकु, शङ्कु, अङ्गु, मञ्जि, पुञ्जि, परमे, बर्हिस्, दिवि, अग्नि इत्येतेभ्य उत्तरस्य स्थशब्दस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—अम्बष्ठः, आम्बष्ठः, गोष्ठः, भूमिष्ठः, सव्येष्ठः, अपष्ठः, द्विष्ठः, त्रिष्ठः, कुष्ठः, शेकुष्ठः, शङ्कुष्ठः, अङ्गुष्ठः, मञ्जिष्ठः, पुञ्जिष्ठः, परमेष्ठः, बर्हिःष्ठः, दिविष्ठः, अग्निष्ठः ॥

भाषार्थः—[अम्बा ··· ग्निभ्यः] अम्ब, आम्ब, गो, भूमि, सव्य, अप, द्वि, त्रि, कु, शेकु, शङ्कु, अङ्गु, मञ्जि, पुञ्जि, परमे, बर्हिस्, दिवि, अग्नि इन शब्दों से उत्तर [स्थः] स्था के सकार को मूर्धन्य आदेश होता है ॥ स्था से क प्रत्यय तथा आकारलोप करके 'स्थः' सूत्र में निर्देश है । सो उदाहरणों में कप्रत्ययान्त का ही ग्रहण होगा । अम्बष्ठः, यहाँ अम्बा को ङयापोः संज्ञा० (६।३।६१) से ह्रस्व होगा । गोष्ठः में घञर्थे कविधानम् (वा० ३।३।५८) से क प्रत्यय, तथा अन्यत्र सुपि स्थः (३।२।४) से क हुआ है । सव्येष्ठः में हलदन्तात्० (६।३।७) से विभक्ति का अलुक् हुआ है । षत्व कर लेने पर ष्टुत्व पूर्ववत् हो ही जायेगा ॥

सुषामादिषु च ॥८।३।९८॥

सुषामादिषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—सुषामा आदिर्येषां ते सुषामादयः, तेषु···

बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, संहितायाम् ॥ अर्थः—सुषामादिषु शब्देषु सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—शोभनं साम यस्यासौ सुषामा ब्राह्मणः, निष्षामा, दुष्षामा ॥

भाषार्थः—[सुषामादिषु] सुषामादि शब्दों के सकार को [च] भी मूर्धन्य आदेश होता है ॥ निस् दुस् के सकार को विसर्जनीय होकर वा शरि (८.३।३६) से पक्ष में सत्व तथा ष्टुत्व होकर—निष्षामा दुष्षामा बना है ॥

एति संज्ञायामगात् ॥८।३।९९॥

एति ७।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अगात् ५।१॥ स०—न गः अगः, तस्मात्...नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अगकाराद् इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, एकारे परतः संज्ञायां विषये ॥ उदा०—हरयः सेना अस्य=हरिषेण, वारिषेणः, जानुषेणी॥

भाषार्थः—[अगात्] गकारभिन्न इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को [एति] एकार परे रहते [संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ उदाहरणों में 'सेना' को गोस्त्रियो० (१।२।४८) से ह्रस्वत्व हुआ है ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।३।१०० तक जायेगी ॥

नक्षत्राद् वा ॥८।३।१००॥

नक्षत्रात् ५।१॥ वा अ० ॥ अनु०—एति संज्ञायामगात्, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अगकारात् परस्य नक्षत्रवाचिनः शब्दादुत्तरस्य सकारस्य एति परतः संज्ञायां विषये विकल्पेन मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—रोहिणीषेणः, रोहिणीसेनः । भरणीषेणः, भरणीसेनः ॥

भाषार्थः—अगकार से परे [नक्षत्राद्] नक्षत्रवाची शब्दों से उत्तर सकार को एकार परे रहते संज्ञा-विषय में [वा] विकल्प से मूर्धन्य आदेश होता है ॥ रोहिणी भरणी नक्षत्रवाची शब्द हैं । अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से णत्व हो ही जायेगा ॥ पूर्वसूत्र से नित्य प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है ॥

ह्रस्वात्तादौ तद्धिते ॥८।३।१०१॥

ह्रस्वात् ५।१॥ तादौ ७।१॥ तद्धिते ७।१॥ स०—तकार आदिर्यस्य स तादिः, तस्मिन्...बहुव्रीहिः ॥ अनु०—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—ह्रस्वादिण उत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, तकारादौ तद्धिते परतः ॥ उदा०—तरप्—सर्पिष्टरम्, यजुष्टरम् । तमप्—सर्पिष्टमम्, यजु-

ष्टमम्। तय—चतुष्टये ब्राह्मणानां निकेताः। तव—सर्पिष्ट्वम्, यजुष्ट्वम्। तल्—सर्पिष्टा, यजुष्टा। तसि—सर्पिष्टः, यजुष्टः। त्यप्—आविष्ट्यो वर्द्धते॥

भाषार्थः—[ह्रस्वात्] ह्रस्व इण् से उत्तर सकार को [तादौ] तकारादि [तद्धिते] तद्धित परे रहते मूर्धन्य आदेश होता है॥ अपदान्तस्य का अधिकार होने से पदान्त स् को षत्व प्राप्त नहीं था, विधान कर दिया॥ सर्पिस् यजुस् के स् को विसर्जनीय होकर पुनः तरप् (५।३।५७), तमप् (५।३।५५) आदि परे रहते विसर्जनीय को सत्व (८।३।३४ से) होकर, पश्चात् षत्व ष्टुत्व हो गया है। चतुष्टये (७।२) में भी इसी प्रकार चतुर से सङ्ख्याया अवयवे० (५।२।४२) से तयप् प्रत्यय हुआ है। तस्य भावस्त्वतलौ (५।१।११८) से त्व तल्, अपादाने चाहीय० (५।४।४५) से सर्पिष्टः यजुष्टः (५।१) में तसि, तथा आविस् शब्द से अव्ययात् ० (४।२।१०३) में स्थित आविसश्छन्दसि वार्त्तिक से त्यप् प्रत्यय हुआ है॥

यहाँ से तादौ की अनुवृत्ति ८।३।१०४ तक जायेगी॥

निसस्तपतावनासेवने ॥८।३।१०२॥

निसः ६।१॥ तपतौ ७।१॥ अनासेवने ७।१॥ स०—न आसेवनम् अनासेवनं, तस्मिन्...नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—सः, मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः—निसः सकारस्य तपतौ परतो मूर्धन्यादेशो भवत्यनासेवनेऽर्थे॥ आसेवनं पुनः पुनः करणम्, अनासेवनं तद्विपरीतम्॥ उदा०—निष्टपति सुवर्णम्॥

भाषार्थः—[निसः] निस् के सकार को [तपतौ] तपति परे रहते [अनासेवने] अनासेवन अर्थ में मूर्धन्य आदेश होता है॥ यह सूत्र भी पूर्ववत् पदान्तार्थ है॥ आसेवन पुनः-पुनः करने को कहते हैं, अनासेवन उससे विपरीत। सो 'निष्टपति सुवर्णम्' का अर्थ है—एक बार सोने को तपाता है॥

युष्मत्तत्ततक्षुःष्वन्तःपादम् ॥८।३।१०३॥

युष्मत्तत्ततक्षुःषु ७।३॥ अन्तःपादम् १।१॥ स०—युष्मत् च तत् च ततक्षुश्च युष्मत्तत्ततक्षुः, तेषु...इतरेतरद्वन्द्वः। अन्तः=मध्ये पादस्येति अन्तःपादम्, अव्ययं विभक्ति० (२।१।६) इत्यनेन विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावसमासः॥ अनु०—तादौ, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम्॥ अर्थः—इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य तकारादिषु युष्मत् तत् ततक्षुस् इत्येतेषु परतो मूर्धन्यादेशो भवति, स चेत् सकारोऽन्तःपादं भवति॥ उदा०—युष्मद्—अग्निष्ट्वं नामासीत्। अग्निष्ट्वा वर्द्धयामसि। अग्निष्टे विश्वमानय। अप्स्वग्ने सधिष्टव (ऋ० ८।४३।९)।

तत् — अग्निष्टद्विश्वमापृणाति (ऋ० १०।२।४) । ततक्षुस् — द्यावापृथिवी निष्टतक्षुः (ऋ० १०।३१।७) ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को तकारादि [युष्मत्तत्ततक्षुःषु] युष्मद्, तत्, तथा ततक्षुस् परे रहते मूर्धन्यादेश होता है, यदि वह सकार [अन्तःपादम्] पाद के अन्तर = मध्य में वर्त्तमान हो तो ॥ उदाहरणों में सर्वत्र जिसको षत्व हुआ है, वह ऋचा के मध्य में है। तादौ की अनुवृत्ति होने से युष्मद् को हुये जो तकारादि आदेश वहीं यहाँ लिये जायेंगे। सो त्वाहौ सौ (७।२।९४) से हुआ 'त्वं', त्वामौ द्वितीयायाः (८।१।२३) से द्वितीयान्त को हुआ 'त्वा', तवममौ ङसि (७।२।९६) से हुआ 'तव', तथा तेमयावेकव० (८।१।२२) से हुये 'ते' आदेश के परे रहते सकार को मूर्धन्य हुआ है। तद्वत् क्रम से उदाहरण दिये हैं। तत् शब्द निपात है, तथा 'ततक्षुः' तक्ष धातु के उस् में बना रूप है। षत्व कर लेने पर ष्टुत्व हो ही जायेगा ॥ पदान्तार्थ ही यह सूत्र भी है ॥

यहाँ से 'युष्मत्तत्ततक्षुःषु' की अनुवृत्ति ८।३।१०४ तक जायेगी ॥

यजुष्येकेषाम् ॥८।३।१०४॥

यजुषि ७।१॥ एकेषाम् ६।३॥ अनु०—युष्मत्तत्ततक्षुःषु, तादौ, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—यजुषि विषये तादिषु युष्मत्तत्ततक्षुःषु परतः एकेषामाचार्याणां मतेन इण्कोरुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—अर्चिभिष्ट्वम्, अर्चिभिस्त्वम् । अग्निष्टेऽग्रम्, अग्निस्तेऽग्रम् । अग्निष्टत्, अग्निस्तत् । अर्चिभिष्टतक्षुः, अर्चिभिस्ततक्षुः ॥

भाषार्थः—[यजुषि] यजुर्वेद में तकारादि युष्मद् तत् तथा ततक्षुस् परे रहते इण् तथा कवर्ग से उत्तर सकार को [एकेषाम्] एक = किन्हीं आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है। एकेषाम् ग्रहण विकल्पार्थ है। अर्थात् एक के मत में होता है, एक के मत में नहीं, सो पक्ष में षत्व नहीं होता। पूर्ववत् पदान्तार्थ यह सूत्र भी है ॥ सु को विसर्जनीय, तत्पश्चात् पूर्ववत् सत्व (८।३।३४) होकर षत्व हुआ है ॥

यहाँ से 'एकेषाम्' की अनुवृत्ति ८।३।१०६ तक जायेगी ॥

स्तुतस्तोमयोश्छन्दसि ॥८।३।१०५॥

स्तुतस्तोमयोः ६।२॥ छन्दसि ७।१॥ स०—स्तुत० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—एकेषाम्, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—इण्कवर्गाभ्यामुत्तरस्य स्तुत स्तोम इत्येतयोः सकारस्य छन्दसि विषये एकेषामाचार्याणां मतेन मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—त्रिभिःष्टुतस्य, त्रिभिःस्तुतस्य । गोष्टोमं षोडशिनम्, गोस्तोमं षोडशिनम् ॥

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [स्तुतस्तोमयोः] स्तुत तथा स्तोम के सकार को [छन्दसि] वेदविषय में कई आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है ।। पूर्ववत् यहाँ भी एकेषाम् ग्रहण से विकल्प होता है ।। पदादि[1] लक्षण सात्पदाद्योः (८।३।१११) से प्रतिषेध प्राप्त था, तदर्थ यह विधान है ।।

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।३।१०९ तक जायेगी ।।

पूर्वपदात् ।।८।३।१०६।।

पूर्वपदात् ५।१।। स०—पूर्वञ्चादः पदञ्च पूर्वपदम्, तस्मात् ... कर्मधारय-तत्पुरुषः ।। अनु०—छन्दसि, एकेषाम्, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, छन्दसि विषये एकेषामाचार्याणां मतेन ।। उदा०—द्विषन्धिः, त्रिषन्धिः, मधुष्ठानम्, द्विषाहस्रं चिन्वीत । पक्षे—द्विसन्धिः, त्रिसन्धिः, मधुस्थानम्, द्विसाहस्रं चिन्वीत ।।

भाषार्थः—[पूर्वपदात्] पूर्वपद में स्थित निमित्त (इण् तथा कवर्ग) से उत्तर सकार को वेद-विषय में कई आचार्यों के मत में मूर्धन्य आदेश होता है ।। द्विषन्धिः, त्रिषन्धिः, में षष्ठीतत्पुरुष अथवा बहुव्रीहि समास है । मधुष्ठानम् में षष्ठी समास, तथा द्विषाहस्रम् में तद्धितार्थ० (२।१।५०) से समास हुआ है । अतः तत्र भवः (४।३।५३) से अण्, एवं सङ्ख्यायाः० (७।३।१५) से उत्तरपद को वृद्धि हुई है ।। पूर्ववत् यहाँ भी विकल्प होता है ।।

यहाँ से 'पूर्वपदात्' की अनुवृत्ति ८।३।१०९ तक जायेगी ।।

सुञः ।।८।३।१०७।।

सुञः ६।१।। अनु०—पूर्वपदात्, छन्दसि, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य सुञः सकारस्य छन्दसि विषये मूर्धन्यादेशो भवति ।। उदा०—अभीषुणः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।३), ऊर्ध्व ऊषुणः (ऋ० १।३६।१३) ।।

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [सुञः] सुञ् निपात के सकार को वेदविषय में मूर्धन्य आदेश होता है ।। इकः सुञि (६।३।१३२) से सुञ् से पूर्व को दीर्घ तथा नश्च धातुस्थो० (८।४।२६) से नस् के न को ण हुआ है ।।

---

१. स्तोम शब्द में अर्तिस्तु (उणा० १।१४०) से मन् प्रत्यय ष्टुञ् धातु से हुआ है, अतः पदादिलक्षण निषेध-प्राप्ति थी । स्तुत क्तान्त है ही ।

सनोतेरनः ॥८।३।१०८॥

सनोतेः ६।१॥ अनः ६।१॥ स०—अविद्यमानो नकारो यस्य स अन्, तस्य… बहुव्रीहिः ॥ अनु०—पूर्वपदात्, छन्दसि, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अनकारान्तस्य सनोतेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो भवति, छन्दसि विषये ॥ उदा०—गोषाः, नृषाः ॥

भाषार्थः—[अनः] अनकारान्त [सनोतेः] सन् धातु के सकार को वेद-विषय में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ सिद्धि सूत्र ३।२।६७ में देखें। सन् धातु के न् को आत्व हो जाने से अनकारान्त सन् उदाहरणों में है ॥ पूर्वपदात् से ही षत्व सिद्ध था, पुनः यह सूत्र नियम करता है कि—'अनकारान्त सन् को ही षत्व हो' ॥

सहेः पृतनर्त्ताभ्यां च ॥८।३।१०९॥

सहेः ६।१॥ पृतनर्त्ताभ्याम् ५।२॥ च अ० ॥ स०—पृतना च ऋतञ्च पृतनर्त्ते, ताभ्यां…इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पूर्वपदात्, छन्दसि, सः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—पृतना ऋत इत्येताभ्यामुत्तरस्य सहेः सकारस्य छन्दसि विषये मूर्धन्यादेशो भवति ॥ उदा०—पृतनाषाहम्, ऋताषाहम् ॥

भाषार्थः—[पृतनर्त्ताभ्याम्] पृतना तथा ऋत शब्द से उत्तर [च] भी [सहेः] सह धातु के सकार को वेदविषय में मूर्धन्य आदेश होता है ॥ उदाहरणों में सह् से छन्दसि सहः (३।२।६३) से ण्वि प्रत्यय, तथा ऋत को अन्येषामपि० (६।३।१३५) से दीर्घ हुआ है। द्वितीयान्त के ये रूप हैं। इण् से उत्तर न होने से पूर्वपदात् से प्राप्त नहीं था, विधान कर दिया ॥

न रपरसृपिसृजिस्पृशिस्पृहिसवनादीनाम् ॥८।३।११०॥

न अ० ॥ रपर…दीनाम् ६।३॥ स०—रः परो यस्मात् स रपरः, बहुव्रीहिः। सवनमादिर्येषां ते सवनादयः, बहुव्रीहिः। रपरश्च सृपिश्च सृजिश्च स्पृशिश्च स्पृहिश्च सवनादयश्च रपर…द्वयः, तेषां…इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—रेफपरस्य सकारस्य, सृपि, सृजि, स्पृशि, स्पृहि इत्येतेषां सवनादीनाञ्च सकारस्य मूर्धन्यो न भवति ॥ पूर्वपदात् (८।३।१०६) इति प्राप्ते प्रतिषिध्यते ॥ उदा०—रपरः—विस्रसिकायाः काण्डं जुहोति। विस्रब्धः कथयति। सृपि—पुरा क्रूरस्य विसृपः ॥ सृजि—वाचो विसर्जनात्। स्पृशि—दिविस्पृशम्। स्पृहि—निस्पृहं कथयति। सवनादीनाम्—सवने सवने, सूते सूते, सामे सामे ॥

भाषार्थः—[रपर दीनाम्] रेफ परे है जिससे उसके सकार को, तथा सृप्लृ,

सृज, स्पृश, स्पृह एवं सवनादि गणपठित शब्दों के सकार को मूर्धन्य आदेश इण् कवर्ग से उत्तर [न] नहीं होता ।। पूर्वपदात् से प्राप्ति का यह प्रतिषेध है ।। विस्रसिकायाः (६।१) यहाँ विपूर्वक स्रंसु से संज्ञायाम् (३।३।१०९) से ण्वुल् हुआ है । विस्रब्धः यह स्रम्भु धातु के क्त का रूप है । अनिदितां० (६।४।२४) से नलोप, झषस्त० (८।२।४०) से धत्व, एवं जश्त्व (८।४।५२ से) ब् होकर विस्रब्धः बना है । यस्य विभाषा (७।२।१५) से इट् प्रतिषेध भी यहाँ जानें । यहाँ स् से परे रेफ है ।। 'विसृपः' में सृपितृदोः० (३।४।१७) से कसुन् तथा 'विसर्जनात्' में ल्युट् है । दिविस्पृशम् में स्पृशोऽनु० (३।२।५८) से क्विन् हुआ है । द्वितीयान्त का यह रूप है । तत्पुरुषे कृति० (६।३।१२) से यहाँ विभक्ति का अलुक् भी हुआ है । निस्पृहम् में एरच् (३।३।५६) से अच् प्रत्यय तथा णि का लोप (६।४।५१) हुआ है । षुञ् का ल्युट् सप्तम्यन्त में सवने रूप है, वीप्सा में द्वित्व सर्वत्र हुआ है । षूङ् का क्त में सूत, तथा उणादि १।१४० से सोम बना है ।।

यहाँ से 'नः' की अनुवृत्ति ८।३।११९ तक जायेगी ।।

सात्पदाद्योः ।।८।३।१११।।

सात्पदाद्योः ६।२।। स०—पदस्य आदिः पदादिः, षष्ठीतत्पुरुषः । सात् च पदादिश्च सात्पदादी, तयोः ... इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—न, सः, इण्कोः, नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—सात् इत्येतस्य पदादेश्च सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति ।। आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) इत्यनेन प्राप्ते प्रतिषिध्यते ।। उदा०—सात्—अग्निसात्, दधिसात्, मधुसात् । पदादेः—दधि सिञ्चति, मधु सिञ्चति ।।

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [सात्पदाद्योः] सात् तथा पद के आदि के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ।। विभाषा साति कार्त्स्न्ये (५।४।५२) से साति प्रत्यय होता है । अतः प्रत्यय का सकार होने से षत्व प्राप्त था, निषेध कर दिया । एवं पदादि से आदेशलक्षण(८।३।५९ से)षत्व की जो प्राप्ति थी,उसका निषेध होता है । षिच् धातु के ष् को स् हुआ है, अतः सिञ्चति का स् आदेश का स् है । शे मुचादीनाम् (७।१।५९) से नुम् होकर सि नुम् च् अ ति; श्चुत्व होकर सिञ्चति बन गया ।।

सिचो यङि ।।८।३।११२।।

सिचः ६।१।। यङि ७।१।। अनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—इण्कोरुत्तरस्य सिचः सकारस्य यङि परतो मूर्धन्यादेशो न भवति ।। उदा०—सेसिच्यते, अभिसेसिच्यते ।।

भाषार्थः—इण् तथा कवर्ग से उत्तर [सिचः] सिच् के सकार को [यङि] यङ् परे रहते मूर्धन्य आदेश नहीं होता ।। सेसिध्यते में आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९) से सि के स् को षत्व प्राप्त था। तथा उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से अभिसेसिध्यते में प्राप्त था, निषेध कर दिया ।।

सेधतेर्गतौ ।।८।३।११३।।

सेधतेः ६।१।। गतौ ७।१।। अनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—गतावर्थे वर्त्तमानस्य सेधतेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति ।। उदा०—अभिसेधयति गाः, परिसेधयति गाः ।।

भाषार्थः—[गतौ] गति अर्थ में वर्त्तमान [सेधतेः] 'षिधु गत्याम्' धातु के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ।। 'षिधू शास्त्रे माङ्गल्ये च' तथा 'षिधु गत्याम्' इन दोनों धातुओं का उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) के सिध निर्देश से यहाँ ग्रहण हो सकता है, अतः उस सूत्र से उभयत्र षत्व प्राप्ति थी । गति अर्थवाले षिध का निषेध कर देने से यहाँ 'षिधु गत्याम्' वाले सिध् को षत्व नहीं हुआ ।।

प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ च ।।८।३।११४।।

प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ १।२।। च अ० ।। अनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—प्रतिस्तब्ध निस्तब्ध इत्यत्र मूर्धन्याभावो निपात्यते ।। स्तम्भेरिति प्राप्ते प्रतिषिध्यते ।। उदा०—प्रतिस्तब्धः, निस्तब्धः ।।

भाषार्थः—[प्रतिस्तब्धनिस्तब्धौ] प्रतिस्तब्ध निस्तब्ध शब्दों में [च] भी मूर्धन्याभाव निपातन है ।। स्तन्भेः (८।३।६७) से षत्व की प्राप्ति थी, निषेध निपातन कर दिया ।। स्तन्भु के न का लोप (६।४।२४ से), तथा निष्ठा के त को षत्व एवं जश्त्व (८।४।५२ से) होकर—प्रतिस्तब्धः निस्तब्धः बना है ।।

सोढः ।।८।३।११५।।

सोढः ६।१।। अनु०—नः सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ।। अर्थः—सोढ् इत्यस्य सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति।। सोढ्भूतः सहधातुरत्र गृह्यते सोढ इत्यनेन ।। उदा०—परिसोढः, परिसोढुम्, परिसोढव्यम् ।।

भाषार्थः—[सोढः] सोढ् के सकार को मूर्धन्यादेश नहीं होता ।। सह धातु का ढत्व करके जो सोढ् रूप बनता है, उसका ही यहाँ सूत्र में निर्देश कर दिया है ।। परिनिविभ्यः सेवसित० (८।३।७०) से यहाँ षत्व की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया।। सहिवहोरोद० (६।३।११०) से सह् के अवर्ण को ओत् होकर परिसोढः आदि प्रयोग बनेंगे । शेष हो ढः (८।२।३१) आदि से ढत्वादि कार्य बहुत बार दिखाया जा चुका है ।।

स्तम्भुसिवुसहां चङि ॥८।३।११६॥

स्तम्भुसिवुसहाम् ६।३॥ चङि ७।१॥ स०—स्तम्भुश्च सिवुश्च सह् च स्तम्भुसिवुसहः, तेषां इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—स्तम्भु, सिवु, सह इत्येतेषां सकारस्य चङि परतो मूर्धन्यादेशो न भवति॥स्तन्भेः (८।३।६७),परिनिविभ्यः० (८।३।७०) इति च प्राप्ते प्रतिषिध्यते॥ उदा०—स्तम्भु—पर्यतस्तम्भत्, अभ्यतस्तम्भत् । सिवु—पर्यसीषिवत्, न्यसीषिवत् । सह—पर्यसीषहत्, न्यसीषहत् ॥

भाषार्थः—[स्तम्भुसिवुसहाम्] स्तम्भु षिवु तथा षह धातु के सकार को [चङि] चङ् परे रहते मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ स्तम्भु को स्तन्भेः (८।३।६७) से, तथा अन्यों को परिनिविभ्यः० (८।३।७०) से षत्व प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया। उपसर्ग से उत्तर इनके अभ्यास के सकार को स्थादिष्वभ्यासेन चा० (८।३।६४) से, तथा सिवादीनां०(८।३।७१)से अट् के व्यवाय में भी षत्व की प्राप्ति थी, प्रतिषेध हो गया। अभ्यास से उत्तर तो आदेश० (८।३।५९) से षत्व हो ही जायेगा। णिजन्त के लुङ् में सिद्धियां बहुत बार परि० ६।१।११ आदि में दिखा चुके हैं, तद्वत् यहां भी जानें। पर्यतस्तम्भत् में शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहा है। सिव् को लघूपध गुण, तथा सह् की उपधा को वृद्धि णिच् परे हुई थी। सो दोनों को णौ चङ्यु० (७।४।१) से ह्रस्व, एवं सन्वद्भाव होकर अभ्यास को अपीपचत् के समान इत्वादि कार्य हुये हैं॥

सुनोतेः स्यसनोः ॥८।३।११७॥

सुनोतेः ६।१॥ स्यसनोः ७।२॥ स०—स्यश्च सन् च स्यसनौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य, मूर्धन्यः, संहितायाम् ॥ अर्थः—स्ये सनि च परतः सुनोतेः सकारस्य मूर्धन्यादेशो न भवति ॥ उदा०—अभिसोष्यति, परिसोष्यति, अभ्यसोष्यत् (लृङ्), पर्यसोष्यत् । सनि—अभिसुसूः ॥

भाषार्थः—[स्यसनोः] स्य तथा सन् परे रहते [सुनोतेः] सुनोति (षुञ्) के सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता ॥ उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से षत्व की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया। सन्नन्त के उदाहरण में 'अभि सुसू ष' परि० १।२।९ के चिचीषति के समान बना। पश्चात् 'सुसू ष' की धातु-संज्ञा होकर उससे क्विप् (३।२।७६) हुआ। क्विप् का सर्वापहारी लोप, एवं अतो लोपः (६।४।४८) लगकर तथा षत्व के असिद्ध हो जाने से ष् को स् मानकर रुत्व विसर्जनीय होकर 'अभिसुसूः' बन गया ॥

सदेः परस्य लिटि ॥८।३।११८॥

सदेः ६।१॥ परस्य ६।१॥ लिटि ७।१॥ अनु०—न, सः, इण्कोः, अपदान्तस्य

मूर्धन्य:, संहितायाम् ।। अर्थ:—सदे: धातोर्लिटि परत: परस्य सकारस्य मूर्धन्यो न भवति ।। उदा०—अभिषसाद, परिषसाद, निषसाद, विषसाद ।।

भाषार्थ:—[लिटि] लिट् परे रहते [सदे:] षद धातु के [परस्य] परवाले सकार को मूर्धन्य आदेश नहीं होता है ।। लिट् में द्विर्वचन कर लेने पर दो सकार हो जाते हैं, तो स्थादिष्वभ्या० (८।३।६४) सूत्र से अभ्यास के व्यवाय में भी सदिरप्रते: (८।३।६६) से परवाले सकार को षत्व प्राप्त था, निषेध हो गया । पूर्ववाले सकार को तो सदिरप्रते: से षत्व हो ही जायेगा, क्योंकि यहाँ परवाले का ही निषेध है ।।

निव्यभिभ्योऽड्व्यवाये वा छन्दसि ।।८।३।११९।।

निव्यभिभ्य: ५।३।। अड्व्यवाये ७।१।। वा अ० ।। छन्दसि ७।१।। स०—निश्च विश्च अभिश्च निव्यभय:, तेभ्य: इतरेतरद्वन्द्व: । अटा व्यवायोऽड्व्यवाय:, तस्मिन् ... तृतीयातत्पुरुष: ।। अनु०—न, स:, इण्को:, अपदान्तस्य, मूर्धन्य:, संहितायाम् ।। अर्थ:—नि, वि, अभि इत्येतेभ्य उपसर्गेभ्य उत्तरस्य सकारस्याड्व्यवाये छन्दसि विषये विकल्पेन मूर्धन्यादेशो न भवति ।। उदा०—न्यषीदत् पिता न: । व्यषीदत् पिता न: । व्यष्टौत्, अभ्यष्टौत् । पक्षे—न्यसीदत् (ऋ० ८।८९।११) व्यसीदत्, व्यस्तौत्, अभ्यस्तौत् ।।

भाषार्थ:—[निव्यभिभ्य:] नि वि तथा अभि उपसर्गों से उत्तर सकार को [अड्व्यवाये] अट् का व्यवधान होने पर [छन्दसि] वेदविषय में [वा] विकल्प से मूर्धन्य आदेश नहीं होता ।। अर्थात् विकल्प होता है ।। पूर्व सूत्र से 'सदे:' की अनुवृत्ति नहीं आ रही है। अत: सामान्यरूप से इन उपसर्गों से उत्तर सकार को षत्व का विकल्प होता है । इस प्रकार जिस किसी सूत्र से षत्व की प्राप्ति हो, उसी का छन्द में पक्ष में प्रतिषेध हो जाता है । षद्लृ को पाघ्राध्मा० (७।३।७८) से सीद आदेश होकर लङ् में न्यषीदत् आदि प्रयोग बने हैं । सो सदिरप्रते: (८।३।६६) से नित्य षत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया । व्यष्टौत् आदि में उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) की नित्य प्राप्ति थी, विकल्प कर दिया । वि अ स्तौ त् = (लङ्) व्यष्टौत्, व्यस्तौत्, उतो वृद्धि० (७।३।८९) से वृद्धि, एवं शप् का लुक् (२।४।७२ से) होकर बन गया है ।।

इति तृतीय: पाद: ।।

—:●:—

चतुर्थः पादः

रषाभ्यां नो णः समानपदे ॥८।४।१॥

रषाभ्याम् ५।२॥ नः ६।१॥ णः १।१॥ समानपदे ७।१॥ स०—रश्च षश्च रषौ, ताभ्यां इतरेतरद्वन्द्वः । समानञ्च तत् पदञ्च समानपदं, तस्मिन् कर्मधारयपुरुषः ॥ अनु०—संहितायाम् ॥ अर्थः—रेफषकाराभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति एकस्मिन् पदे, एकस्मिन्नेव पदे चेन्निमित्तनिमित्तिनौ भवतः ॥ उदा०—रेफात्—आस्तीर्णम्, विशीर्णम् । ऋकारान्तर्वर्तिरेफश्रुतिमाश्रित्यापि भवति[1] मातृणाम् पितृणाम् । षकारात्—कुष्णाति, पुष्णाति, मुष्णाति ॥

भाषार्थः—[रषाभ्याम्] रेफ तथा षकार से उत्तर [नः] नकार को [णः] णकार होता है, [समानपदे] एक ही पद में, अर्थात् निमित्त (=जिस रेफ षकार को मानकर णत्व हो रहा है) एवं निमित्ती (=जिस नकार को णत्व हो रहा है) दोनों एक ही पद में हों, भिन्न-भिन्न पदों में नहीं हों ॥ एक शब्द का पर्यायवाची यहाँ 'समान' पद है ॥ आस्तीर्णम् विशीर्णम् की सिद्धि सूत्र ७।१।१०० में देखें । यहाँ इत्व परत्व करके रेफ से उत्तर न् को ण् हुआ है । ऋकारगत रेफश्रुति को मानकर भी न को ण हो जाता है । यथा—मातृणाम् पितृणाम् । कुष्णाति आदि में श्नाविकरण (३।१।८१) हुआ है, उसी न् को षकार से उत्तर णत्व हो गया है ॥

यहाँ से 'रषाभ्यां नो णः' की अनुवृत्ति ८।४।३८ तक जायेगी ॥

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि ॥८।४।२॥

अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये ७।१॥ अपि अ० ॥ स०—अट् च कुश्च पुश्च आङ् च नुम् च अट्⋯नुमः, इत्येतैर्व्यवायोऽट्⋯व्यवायः, तस्मिन् द्वन्द्वगर्भतृतीयातत्पुरुषः ॥ अनु०—रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अट्, कु, पु, आङ्, नुम् इत्येतैर्व्यवायेऽपि रेफषकाराभ्यामुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति ॥ उदा०—अड्व्यवाये—करणम्, हरणम् । किरिणा, गिरिणा । कुरुणा, गुरुणा । कवर्गव्यवाये—अर्केण, मूर्खेण, गर्गेण, अर्घेण । पवर्गव्यवाये—दर्पेण, रेफेण, गर्भेण, चर्म्मणा, वर्म्मणा । आङ्व्यवाये—पर्याणद्धम्, निराणद्धम् । नुम्व्यवाये—बृंहणम्, बृंहणीयम् ॥

भाषार्थः—रेफ तथा षकार से उत्तर [अट्कु⋯वाये] अट् (प्रत्याहार), कु=कवर्ग, पु=पवर्ग, आङ् तथा नुम् का व्यवधान होने पर [अपि] भी नकार को णकार हो जाता है ॥ करणम् आदि में रेफ एवं न् के मध्य में अ, इ, उ (अट्)

१. ये ऋकारे रेफश्रुतिं नाद्रियन्ते, तेषां मते ऋकारग्रहणमत्र सूत्र उपसंख्यायते ।

का व्यवधान है, तो भी णत्व हो गया है। अर्केण आदि में रेफ से उत्तर कवर्ग एवं अट् 'ए' का व्यवधान है, तो भी णत्व हो गया ॥ अट् आदि का व्यवधान चाहे पृथक् पृथक् का हो, या अट् कवर्गादि का समुदित रूप में हो। यथा—अर्केण आदि में कवर्ग एवं अट् का है, प्रत्येक अवस्था में णत्व हो जाता है ॥ नद्धम् की सिद्धि सूत्र ८।२।३५ में देखें। तद्वत् परि-आ नद्धम्=यहाँ अट् एवं आङ् के व्यवधान में भी णत्व होकर पर्याणद्धम्, निराणद्धम् बन गया। बृहि को इदितो नुम्० (७।१।५८) से नुम्, एवं नश्चापदान्तस्य० (८।३।२४) से नुम् को अनुस्वार होकर बृंहणम्, बृंहणीयम् बना है। सो यहाँ नुम् एवं अट् के व्यवधान में भी णत्व हो गया है। यहाँ ऋकार अन्तर्गत रेफश्रुति है, उससे उत्तर व्यवधान में भी णत्व हो गया ॥

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।४।४८ तक जायेगी ॥

पूर्वपदात् संज्ञायामगः ॥८।४।३॥

पूर्वपदात् ५।१॥ संज्ञायाम् ७।१॥ अगः ५।१॥ स०—अविद्यमानो गकारो यस्मिन् स अग्, तस्मात्...बहुव्रीहिः ॥ अनु०—रषाभ्यां नो णः, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, संहितायाम् ॥ अर्थः—गकारवर्जितात् पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नकारस्य णकार आदेशो भवति, संज्ञायां विषये ॥ उदा०—द्रुणसः, वार्ध्रीणसः, खरणसः, शूर्पणखा ॥

भाषार्थः—[अगः] गकारभिन्न [पूर्वपदात्] पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [संज्ञायाम्] संज्ञाविषय में नकार को णकारादेश होता है ॥ पूर्वसूत्र से गकार के व्यवधान में भी प्राप्ति थी, 'अगः' प्रतिषेध कर दिया। रषाभ्याम्० (८।४।१) से समानपद (=एकपद) में ही णत्व प्राप्ति थी, यहाँ पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर उत्तरपद को भी णत्व विधान कर दिया ॥ सिद्धियाँ ५।४।११८ सूत्र में देखें। सभी उदाहरणों में बहुव्रीहि समास है, एवं ये किसी की संज्ञायें हैं। वार्ध्रीव नासिका यस्य स=वार्ध्रीणसः मृगविशेष को कहते हैं ॥

यहाँ से 'पूर्वपदात्' की अनुवृत्ति ८।४।१३ तक, तथा 'संज्ञायाम्' की ८।४।४ तक जायेगी ॥

वनं पुरगामिश्रकासिध्रकाशारिकाकोटराग्रेभ्यः ॥८।४।४॥

वनम् १।१॥ षष्ठीस्थाने व्यत्ययेन प्रथमा ॥ पुरगा...ग्रेभ्यः ५।३॥ स०—पुरगाश्च मिश्रकाश्च सिध्रकाश्च शारिकाश्च कोटराश्च अग्रे च पुरगा...ग्रयः, तेभ्यः...इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—पूर्वपदात् संज्ञायाम्, रषाभ्यां नो णः, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, संहितायाम् ॥ अर्थः—पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, शारिका, कोटरा,

अग्रे इत्येतेभ्यः पूर्वपदेभ्य उत्तरस्य वनशब्दस्य नकारस्य णकारादेशो भवति, संज्ञायां विषये ॥ उदा०—पुरगावणम्, मिश्रकावणम्, सिध्रकावणम्, शारिकावणम्, कोटरावणम्, अग्रेवणम् ॥

भाषार्थः—[पुरगा···ग्रेभ्यः] पुरगा, मिश्रका, सिध्रका, शारिका, कोटरा, अग्रे इन शब्दों से उत्तर [वनम्] वन शब्द के नकार को णकारादेश संज्ञाविषय में होता है ॥ पुरगावणम् आदि में षष्ठीसमास है ॥ उदाहरणों में वनगिर्योः० (६।३।११५) से पूर्वपद को दीर्घ हुआ है । अग्रेवणम् में वनस्य अग्रे यहाँ षष्ठीसमास करके राजदन्तादिषु० (२।२।३१) से वनम् का परनिपात तथा हलदन्तात् सप्तम्याः० (६।३।७) से अग्रे की सप्तमी का अलुक् हुआ है ॥

यहाँ से 'वनम्' की अनुवृत्ति ८।४।६ तक जायेगी ॥

प्रनिरन्तःशरेक्षुप्लक्षाम्रकार्ष्यखदिरपीयूक्षाभ्योऽसंज्ञायामपि ॥८।४।५॥

प्रनि···क्षाभ्यः ५।३॥ असंज्ञायाम् ७।१॥ अपि अ० ॥ स०—प्रनि० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः । असंज्ञा० इत्यत्र नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—वनम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा इत्येतेभ्य उत्तरस्य वनशब्दस्य नकारस्य संज्ञायामपि, असंज्ञायामपि णकारादेशो भवति ॥ उदा०—प्र—प्रवणे यष्टव्यम् । निर्—निर्वणे प्रतिधीयते । अन्तर्—अन्तर्वणे । शर—शरवणम् । इक्षु—इक्षुवणम् । प्लक्ष—प्लक्षवणम् । आम्र—आम्रवणम् । कार्ष्य—कार्ष्यवणम् । खदिर—खदिरवणम् । पीयूक्षा—पीयूक्षावणम् ॥

भाषार्थः—[प्रनि···क्षाभ्यः] प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्ष्य, खदिर, पीयूक्षा इनसे उत्तर वन शब्द के नकार को [असंज्ञायाम्] असंज्ञा-विषय में भी, तथा 'अपि' ग्रहण से संज्ञाविषय में [अपि] भी णकार आदेश होता है ॥ प्रवणे तथा निर्वणे में कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास हुआ है । अन्तर्वणे में विभक्त्यर्थ में अव्ययीभाव (२।१।५) समास, तथा अन्यों में षष्ठीसमास हुआ है । ये शब्द संज्ञा और असंज्ञा दोनों रूप में हैं॥

विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः ॥८।४।६॥

विभाषा १।१॥ ओषधिवनस्पतिभ्यः ५।३॥ स०—ओषधयश्च वनस्पतयश्च ओषधिवनस्पतयः, तेभ्यः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—वनम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—ओषधिवाचि यत् पूर्वपदं वनस्पतिवाचि च तत्स्थान्निमित्तादुत्तरस्य वनशब्दस्य नकारस्य विकल्पेन णकारादेशः

भवति ॥ उदा०—ओषधिवाचिभ्यः—दूर्वावणम्, दूर्वावनम्। मूर्वावणम्, मूर्वावनम्। वनस्पतिभ्यः—शिरीषवणम्, शिरीषवनम्। बदरीवणम्, बदरीवनम्॥

भाषार्थः—[ओषधिवनस्पतिभ्यः] ओषधिवाची तथा वनस्पतिवाची जो पूर्वपद, उनमें स्थित णत्व के निमित्त से उत्तर वन शब्द के नकार को [विभाषा] विकल्प करके णकार आदेश होता है ॥

अह्नोऽदन्तात् ॥८।४।७॥

अह्नः १।१, पूर्ववत् षष्ठ्याः स्थाने प्रथमा॥ अदन्तात् ५।१॥ स०—अत् अन्ते यस्य स अदन्तः, तस्मात्…बहुव्रीहिः ॥ अनु०—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अदन्तं यत्पूर्वपदं तत्स्थान्निमित्तादुत्तरस्याह्नो नकारस्य णकार आदेशो भवति ॥ उदा०—पूर्वाह्णः, अपराह्णः ॥

भाषार्थः—[अदन्तात्] अदन्त जो पूर्वपद उसमें स्थित निमित्त (रेफ षकार) से उत्तर [अह्नः] अह्न के नकार को णकार होता है ॥ सिद्धि परि० २।४।२९ में देखें। पूर्व शब्द में रेफ णत्व का निमित्त है ॥

वाहनमाहितात् ॥८।४।८॥

वाहनम् १।१॥ आहितात् ५।१॥ अनु०—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—आहितवाचि यत्पूर्वपदं तत्स्थान्निमित्तादुत्तरस्य वाहननकारस्य णकार आदेशो भवति ॥ उदा०—इक्षूणां वाहनम्=इक्षुवाहणम्, शरवाहणम्, दर्भवाहणम् ॥

भाषार्थः—[आहितात्] आहितवाची जो पूर्वपद तत्स्थ निमित्त से उत्तर [वाहनम्] वाहन शब्द के नकार को णकार आदेश होता है ॥ वाहन शकट इत्यादि को कहते हैं। और उसमें जो पदार्थ रखा (भरा) जाता है, वह आहित कहाता है ॥

पानं देशे ॥८।४।९॥

पानम् १।१॥ देशे ७।१॥ अनु०—पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य पाननकारस्य देशाभिधाने णकार आदेशो भवति ॥ उदा०—क्षीरं पानं येषां ते क्षीरपाणा उशीनराः। सुरापाणाः प्राच्याः। सौवीरपाणा बाह्लीकाः। कषायपाणा गन्धाराः ॥ पीयते इति पानम्, कृत्यल्युटो० (३।३।११३) इति कर्मणि ल्युट् ॥

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [पानम्] पान शब्द के नकार को [देशे] देश का अभिधान हो रहा हो, तो णकार आदेश होता है ॥ क्षीरपाणाः

=क्षीर पान करनेवाले उशीनर देशवासी, यहाँ देशाभिधान स्पष्ट है ।। 'पान' से यहाँ जो पिया जाये, उसका ग्रहण होता है ।।

यहाँ से 'पानम्' की अनुवृत्ति ८।४।१० तक जायेगी ।।

वा भावकरणयोः ।।८।४।१०।।

वा अ० ।। भावकरणयोः ७।२।। स०—भावश्च करणञ्च भावकरणे, तयोः... इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—पानम्, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य भावे करणे च यः पानशब्दस्तस्य नकारस्य णकार आदेशो विकल्पेन भवति ।। उदा०—भावे—क्षीरपाणं वर्त्तते,क्षीरपानम् । कषायपाणम्, कषायपानम् । सुरापाणम्, सुरापानम् । करणे—क्षीरपाणः कंसः, क्षीरपानः ।।

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [भावकरणयोः] भाव तथा करण में वर्त्तमान जो पान शब्द उसके नकार को [वा] विकल्प से णकार आदेश होता है ।। भाव में पान शब्द का विग्रह पीतिः=पानम् होगा, तथा करण में पीयते अनेन =पानः, यहाँ करणाधिकरणयोश्च (३।३।११७) से ल्युट् होता है ।।

यहाँ से 'वा' की अनुवृत्ति ८।४।११ तक जायेगी ।।

प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च ।।८।४।११।।

प्राति...क्तिषु ७।३।। च अ० ।। स०—प्रातिपदिकस्य अन्तः प्रातिपदिकान्तः, षष्ठीतत्पुरुषः । प्रातिपदिकान्तश्च नुम् च विभक्तिश्च प्राति...क्तयः, तेषु ...इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—वा, पूर्वपदात् अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य प्रातिपदिकान्ते नुमि विभक्तौ च यो नकारस्तस्य वा णकारादेशो भवति ।। उदा०—प्रातिपदिकान्ते—माषवापिणौ, माषवापिनौ । नुमि—माषवापाणि, माषवापानि । व्रीहिवापाणि, व्रीहिवापानि । विभक्तौ—माषवापेण, माषवापेन । व्रीहिवापेण, व्रीहिवापेन ।।

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [प्राति...क्तिषु] प्रातिपदिक के अन्त में जो नकार तथा नुम् एवं विभक्ति में जो नकार उसको [च] भी विकल्प से णकार आदेश होता है ।। माषवापिणौ, यहाँ माष उपपद रहते वप धातु से बहुलमाभीक्ष्ण्ये (३।२।८१) से णिनि प्रत्यय होकर माषवापिन् बो रहा । अब यह प्रातिपदिक के अन्त का नकार है, सो उसे णत्व हो गया । माषान् वपन्तीति माषवापाणि, यहाँ कर्मण्यण् (३।२।१) से अण् प्रत्यय होकर 'माष वाप' बना । तत्पश्चात् परि० १।१।४१ के कुण्डानि के समान सब कार्य होकर माषवापानि रहा । पूर्वपद में

षकार णत्व का निमित्त है, अतः नुम् के न् को णत्व होकर माषवापाणि बन गया। इसी प्रकार माषवापेण में 'इन' (७।१।१२) विभक्ति का नकार है, सो उसे णत्व हो गया ॥

यहाँ से 'प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु' की अनुवृत्ति ८।४।१३ तक जायेगी ॥

एकाजुत्तरपदे णः ॥८।४।१२॥

एकाजुत्तरपदे ७।१॥ णः १।१॥ स०—एकोऽच् यस्मिन् स एकाच्, बहुव्रीहिः। एकाच् उत्तरपदं यस्य स एकाजुत्तरपदः, तस्मिन्...बहुव्रीहिः ॥ अनु०—प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, संहितायाम् ॥ अर्थः—एकाजुत्तरपदे समासे पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु च यो नकारस्तस्य णकारादेशो भवति ॥ उदा०—वृत्रहणौ, वृत्रहणः। नुमि—क्षीरपाणि, सुरापाणि। विभक्तौ—क्षीरपेण, सुरापेण ॥

भाषार्थः—[एकाजुत्तरपदे] एक अच् है उत्तरपद में जिस समास के, वहाँ पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर प्रातिपदिकान्त नुम् तथा विभक्ति के नकार को [णः] णकार आदेश होता है। वृत्रहणौ में वृत्र उपपद रहते हन् धातु से ब्रह्मभ्रूण० (३।२।८७) से क्विप् हुआ है। यहाँ हन् एक अच्वाला पद उत्तरपद में है। क्षीरं पिबन्ति=क्षीरपाणि, यहाँ आतोऽनुपस० (३।२।३) से क प्रत्यय, एवं आतो लोप० (६।४।६४) से आकारलोप होकर 'क्षीरप' से बहुवचन में कुण्डानि के समान सिद्धि जानें ॥

कुमति च ॥८।४।१३॥

कुमति ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—प्रातिपदिकान्तनुम्विभक्तिषु, पूर्वपदात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ कुरस्मिन्नस्ति तत् कुमत्, तस्मिन्...मतुप्प्रत्ययः ॥ अर्थः—कवर्गवति चोत्तरपदे प्रादिकान्तनुम्विभक्तिषु पूर्वपदस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति ॥ उदा०—वस्त्रयुगिणौ, वस्त्रयुगिणः। स्वर्गकामिणौ, वृषगामिणौ। नुमि—वस्त्रस्य युगाणि=वस्त्रयुगाणि, खरयुगाणि। विभक्तौ—वस्त्रयुगेण, खरयुगेण ॥

भाषार्थः—पूर्वपद में स्थित निमित्त से उत्तर [कुमति] कवर्गवान् शब्द उत्तरपद रहते [च] भी प्रातिपदिकान्त नुम् तथा विभक्ति के नकार को णकार आदेश होता है ॥ पूर्वसूत्र से एकाच् उत्तरपद परे रहते ही प्राप्त था। अनेकाच् उत्तरपद परे रहते भी हो जाये, इसलिये यह वचन है। युग से अत इनिठनौ (५।२।११५) से इनि प्रत्यय होकर युगिन् बना। पश्चात् वस्त्रयोः युगिनौ=वस्त्रयुगिणौ। वस्त्रयुगिणः।

और इसी प्रकार स्वर्गकामिणौ वृषगामिणौ आदिरूप बने हैं। युगी कामी आदि शब्द कवर्गवान् हैं ही।

उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य ॥८।४।१४॥

उपसर्गात् ५।१।। असमासे ७।१।। अपि अ० ।। णोपदेशस्य ६।१।। स०—न समासोऽसमासः, तस्मिन् ··· नञ्तत्पुरुषः । ण उपदेशे यस्य (धातोः) सः णोपदेशः, तस्य ··· बहुव्रीहिः ।। अनु०—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य णोपदेशस्य धातोर्यो नकारस्तस्य णकारादेशो भवति, असमासेऽपि ।। उदा०—असमासे—प्रणमति, परिणमति । समासे—प्रणायकः, परिणायकः ।।

भाषार्थः—[उपसर्गात्] उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [णोपदेशस्य] णकार उपदेश में है जिसके ऐसे धातु के नकार को [असमासे] असमास में तथा अपि ग्रहण से समास में [अपि] भी णकार आदेश होता है ।। प्रणायकः परिणायकः में प्रादि (२।२।१८) समास हुआ है । तथा प्रणमति णम धातु से बना है । णीञ् एवं णम दोनों णोपदेश धातु हैं ।।

यहाँ से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति ८।४।२२ तक जायेगी ।।

हिनुमीना ।।८।४।१५।।

हिनु, मीना लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। अनु०—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—हिनु मीना इत्येतयोरुपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नकारस्य णकार आदेशो भवति ।। उदा०—प्रहिणोति, प्रहिणुतः । प्रमीणाति, प्रमीणीतः ।।

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [हिनु मीना] हिनु तथा मीना के नकार को णकार आदेश होता है ।। 'हि गतौ' धातु से स्वादिभ्यः श्नुः (३।१।७३) से श्नु विकरण करके सूत्र में 'हिनु' निर्देश किया है । तथा 'मीञ् हिंसायाम्' से श्ना विकरण (३।१।८१) करके 'मीना' निर्देश किया है ।। प्रमीणीतः में श्ना के आ को ई हल्यघोः (६।४।११३) से ईत्व हुआ है ।।

आनि लोट् ।।८।४।१६।।

आनि लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। लोट् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः ।। अनु०—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्ता-दुत्तरस्य लोडादेशस्य 'आनि' इत्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवति ।। उदा०—प्रवपाणि, परिवपाणि । प्रयाणि, परियाणि ।।

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [लोट्] लोडादेश जो [आनि] आनि उसके नकार को णकारादेश होता है ॥ मेर्निः (३।४।८९) से मि को नि तथा आडुत्तमस्य० (३।४।९२) से आट् आगम होकर जो 'आनि' रूप बनता है, उसका यहाँ ग्रहण है ॥

नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यति-चिनोतिदेग्धिषु च ॥८।४।१७॥

नेः ६।१॥ गद⋯देग्धिषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—गदनद० इत्यत्रेतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नेरित्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवति, गद, नद, पत, पद, घु, मा, स्यति, हन्ति, याति, वाति, द्राति, प्साति, वपति, वहति, शाम्यति, चिनोति, देग्धि इत्येतेषु परतः ॥ उदा०—गद—प्रणिगदति, परिणिगदति । नद—प्रणिनदति, परिणिनदति । पत—प्रणिपतति, परिणिपतति । पद—प्रणिपद्यते, परिणिपद्यते । घु—प्रणिददाति, परिणिददाति । प्रणिदधाति, परिणिदधाति । माङ्—प्रणिमिमीते, परिणिमिमीते । मेङ्—प्रणिमयते, परिणिमयते । मा इत्यनेन माङ्मेङोर्द्वयोरपि ग्रहणम् । स्यति—प्रणिष्यति, परिणिष्यति । हन्ति—प्रणिहन्ति, परिणिहन्ति । याति—प्रणियाति, परिणियाति । वाति—प्रणिवाति, परिणिवाति । द्राति—प्रणिद्राति, परिणिद्राति । प्साति—प्रणिप्साति, परिणिप्साति । वपति—प्रणिवपति, परिणिवपति । वहति—प्रणिवहति, परिणिवहति । शाम्यति—प्रणिशाम्यति, परिणिशाम्यति । चिनोति—प्रणिचिनोति, परिणिचिनोति । देग्धि—प्रणिदेग्धि, परिणिदेग्धि ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [नेः] नि के नकार को णकार आदेश होता है, [गद⋯देग्धिषु] गद, नद, पत, पद, घुसंज्ञक, मा, स्यति (षो), हन्ति, याति, वाति, द्राति, प्साति, वपति, वहति, शाम्यति (शम), चिनोति एवं देग्धि ('दिह उपचये') धातुओं के परे रहते [च] भी ॥ 'घु' से यहाँ घुसंज्ञक धातुओं का ग्रहण है । एवं 'मा' से माङ् एवं मेङ् दोनों का ग्रहण होता है ॥ प्रणिददाति आदि की सिद्धि परि० १।१।१९ में देखें । 'प्रणिष्यति' में उपसर्गात् सुनोति० (८।३।६५) से षत्व हुआ है, सिद्धि वहीं देखें । प्रणिशाम्यति में शमामष्टानां० (७।३।७४) से दीर्घ होता है । प्रणिदेग्धि, यहाँ दिह् धातु के ह् को दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से घ्, तथा झषस्तथो० (८।२।४०) से धत्व, शप् का लुक् (२।४।७२ से), एवं झलां जश्० (८।४।५२) से जश्त्व गकार हुआ है । मिमीते की सिद्धि ७।४।७६ सूत्र में की है, तद्वत् प्रणिमिमीते भी जानें ॥

यहाँ से 'नेः' की अनुवृत्ति ८।४।१८ तक जायेगी ॥

शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे ॥८।४।१८॥

शेषे ७।१॥ विभाषा १।१॥ अकखादौ ७।१॥ अषान्ते ७।१॥ उपदेशे ७।१॥ स०—कश्च खश्च कखौ, इतरेतरद्वन्द्वः । कखौ आदी यस्य स कखादिः, बहुव्रीहिः । न कखादिरकखादिः, तस्मिन्... नञ्तत्पुरुषः । ष अन्ते यस्य स षान्तः, बहुव्रीहिः । न षान्तोऽषान्तः, तस्मिन्... नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—नेः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—अककारादिरखकारादिरषकारान्तश्च उपदेशे यो धातु शेषः, तस्मिन् परत उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य नेर्नकारस्य विभाषा णकार आदेशो भवति ॥ उदा०—प्रणिपचति, प्रनिपचति । प्रणिभिनत्ति, प्रनिभिनत्ति ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर जो [उपदेशे] उपदेश में [अकखादौ] ककार तथा खकार आदिवाला नहीं है, एवं [अषान्तः] षकारान्त भी नहीं है, ऐसे [शेषे] शेष धातु के परे रहते नि के नकार को [विभाषा] विकल्प से णकारादेश होता है ॥ शेष यहाँ पूर्वसूत्रोक्त धातुओं की अपेक्षा से रखा है । सो उनसे शेष धातुओं के परे रहते णत्व होगा ॥ उदाहरणों में पच् एवं भिद् धातु ककार खकार आदिवाले नहीं हैं, तथा अषान्त भी हैं, अतः णत्व हो गया ॥ भिनत्ति की सिद्धि परि० १।१।४६ में देखें ॥

अनितेरन्तः ॥८।४।१९॥

अनितेः ६।१॥ अन्तः १।१॥ अनु०—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य अनितेर्नकारस्य पदान्ते वर्त्तमानस्य णकारादेशो भवति ॥ उदा०—हे प्राण्, हे पराण् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तरपद के [अन्तः] अन्त में वर्त्तमान [अनितेः] अन धातु के नकार को णकार आदेश होता है ॥ पदान्तस्य (८।४।३६) से पद के अन्त में णत्व का निषेध किया है । सो उसी की अपेक्षा से यहाँ 'अन्तः' पद सूत्र में रखा है, अतः 'पदान्त' ऐसा सूत्रार्थ किया है । इस प्रकार यह सूत्र पदान्तस्य का अपवाद है । अथवा 'अन्तः' शब्द को समीपवाची मानकर भी (यथा हलन्ताच्च १।२।१० में है) सूत्रार्थ किया जा सकता है । ऐसा अर्थ करने पर सूत्रार्थ होगा कि —रेफ एवं षकार के समीपस्थ अनिति के नकार को णकारादेश होता है, तो प्राणिति, पराणिति में रेफ एवं नकार के मध्य में एक वर्ण 'अ' होने पर भी णत्व हो जाता है । एवं पर्यनिति में दो वर्णों का व्यवधान होने से नहीं होता । ये दोनों ही पक्ष भाष्य में 'अपर आह' करके दिखाये हैं ॥

अन धातु से क्विप् करके सम्बुद्धि में हे प्राण् हे पराण् बनता है। तथा इसी धातु से शप् का लुक् (२।४।७२ से), एवं रुदादिभ्य:० (७।२।७६) से इट् आगम होकर अन् इट् ति=प्र अन् इ ति=प्राणिति, पराणिति बना है।।

यहाँ से 'अनितेः' की अनुवृत्ति ८।४।२० तक जायेगी।।

उभौ साभ्यासस्य ॥८।४।२०॥

उभौ १।२।। साभ्यासस्य ६।१।। स०—अभ्यासेन सह साभ्यासः, तस्य... बहुव्रीहिः।। अनु०—अनितेः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य साभ्यासस्य अनितेरुभयोर्नकारयोर्णकार आदेशो भवति ।। उदा०—प्राणिणिषति, प्राणिणत् । पराणिणिषति, पराणिणत् ।।

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [साभ्यासस्य] अभ्याससहित अन् धातु के [उभौ] दोनों नकारों को णकार आदेश होता है। अर्थात् अभ्यास के एवं उससे उत्तर के दोनों नकारों को।। द्विर्वचन कर लेने पर अभ्यास का व्यवधान होने से णत्व प्राप्ति नहीं थी, विधान कर दिया।। प्राणिणिषति—प्र अन् इ स, यहाँ अजादेर्द्वि० (६।१।२) से 'नि नि' द्वित्व हुआ है। प्राणिणत्, यह णिजन्त के लुङ् का रूप है, जो कि पूर्व की गई सिद्धियों के अनुसार है।।

हन्तेरत्पूर्वस्य ॥८।४।२१॥

हन्तेः ६।१।। अत्पूर्वस्य ६।१।। स०—अत् पूर्वो यस्मात् (नकारात्) स अत्पूर्वः, तस्य बहुव्रीहिः।। अनु०—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य अकारपूर्वस्य हन्तिनकारस्य णकार आदेशो भवति ।। उदा०—प्रहण्यते, परिहण्यते; प्रहणनम्, परिहणनम् ।।

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [अत्पूर्वस्य] अकार पूर्व है जिससे ऐसे [हन्तेः] हन् धातु के नकार को णकारादेश होता है।। अकार पूर्व इसलिये कह दिया कि जहाँ हन् की उपधा अकार का लोप हो, वहाँ णत्व न हो।। परि हन् यक् त=परिहण्यते ।।

यहाँ से सम्पूर्ण सूत्र की अनुवृत्ति ८।४।२२ तक जायेगी ।।

वमोर्वा ॥८।४।२२॥

वमोः ७।२।। वा अ० ।। स०—वश्च मश्च वमौ, तयोः इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—हन्तेरत्पूर्वस्य, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—वकारमकारयोः परतोऽत्पूर्वस्य हन्तिनकारस्योपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तर-

स्य विकल्पेन णकारादेशो भवति ।। उदा०—प्रहण्वः, परिहण्वः । पक्षे—प्रहन्वः, परिहन्वः । म—प्रहण्मः, परिहण्मः । प्रहन्मः, परिहन्मः ।।

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर अकार पूर्ववाले हन् धातु के नकार को [वा] विकल्प से [वमोः] व तथा म परे रहते णकार आदेश होता है ।। पूर्व सूत्र से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्प कर दिया ।। उदाहरणों में वस् मस् का व म परे हैं ।।

अन्तरदेशे ।।८।४।२३।।

अन्तः अ० ।। अदेशे ७।१।। स०—न देशोऽदेशः, तस्मिन् ... नञ्तत्पुरुषः ।। अनु०—हन्तेरत्पूर्वस्य, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—अन्तःशब्दादुत्तरस्यात्पूर्वस्य हन्तिनकारस्य णकारादेशो भवति अदेशाभिधाने ।। उदा०—अन्तर्हण्यते, अन्तर्हणनं वर्त्तते ।।

भाषार्थः—[अन्तः] अन्तर् शब्द से उत्तर अकार पूर्ववाले हन् धातु के नकार को णकारादेश होता है, [अदेशे] देश को न कहा जा रहा हो तो ।। अन्तर्हणनम्, यहाँ भाव में ल्युट् प्रत्यय तथा अन्तरपरिग्रहे (१।४।६४) से अन्तर् शब्द की गति-संज्ञा होने से कुगतिप्रादयः (२।२।१८) से समास हुआ है ।।

यहाँ से 'अन्तरदेशे' की अनुवृत्ति ८।४।२४ तक जायेगी ।।

अयनं च ।।८।४।२४।।

अयनम् १।१।। च अ० ।। अनु०—अन्तरदेशे, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—अन्तःशब्दादुत्तरस्य अयनशब्दस्य नकारस्यादेशाभिधाने णकारादेशो भवति ।। उदा०—अन्तरयणं वर्त्तते, अन्तरयणं शोभनम् ।।[1]

भाषार्थः—अन्तः शब्द से उत्तर [अयनम्] अयन शब्द के नकार को [च] भी णकार आदेश होता है; देश का अभिधान न हो तो ।। अय अथवा इण् धातु के ल्युट् का अयनम् रूप है ।। कृत्यचः (८।४।२८) से ही णत्व सिद्ध था, अदेशाभिधानार्थ यह सूत्र है ।।

---

१. अयन शब्द उस गतिविशेष का नाम है, जहाँ से गति आरम्भ हुई, वहीं वापस आकर समाप्त हो जाये । रामायण में राम की गति=गमन अयोध्या से आरम्भ हुई और अयोध्या में लौटकर समाप्त हुई, इसी रामस्य अयनम् के कारण ग्रन्थ का नाम भी रामायण हुआ । दक्षिणायन और उत्तरायण में भी यही गति है । अयन के गति विशेष-अर्थ को न समझकर हिन्दी के कवियों ने "कृष्णायन" सदृश जो नामकरण किया, वह अशुद्ध है ।।

छन्दस्यृदवग्रहात् ॥८।४।२५॥

छन्दसि ७।१॥ ऋदवग्रहात् ५।१॥ स०—ऋच्चासौ अवग्रहश्च ऋदवग्रहः, तस्मात् ··· कर्मधारयतत्पुरुषः ॥ अवगृह्यते विच्छिद्य पठ्यते=अवग्रहः ॥ अनु०—अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्, पूर्वपदात् संज्ञा० (८।४।३) इत्यतः 'पूर्वपदात्' इत्यप्यनुवर्त्तते ॥ अर्थः—छन्दसि विषये ऋकारान्तादवग्रहात् पूर्वपदादुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो भवति ॥ उदा०—नृमणाः । पितृयाणम् ॥

भाषार्थः—[छन्दसि] वेदविषय में [ऋदवग्रहात्] ऋकारान्त अवगृह्यमाण पूर्वपद से उत्तर नकार को णकार आदेश होता है ॥ अवगृह्यमाण अर्थात् जिसका पदपाठ काल में अवग्रह=पद को अलग-अलग किया जाये। केवल ऋ पद नहीं है, अतः ऋकारान्त सूत्रार्थ में कहा है ॥ अवग्रह से तात्पर्य यहाँ इतना ही है, कि जिस पद में ऋकार पर अवग्रह सम्भव हो, उस ऋकारान्त पद से उत्तर । इसका यह तात्पर्य नहीं है कि अवग्रह की अवस्था में ही णत्व हो ॥ उदाहरणों में नृ, पितृ ऋकारान्त पद हैं, जो अवगृहीत होते हैं । यथा नृमणाः—नृमना इति नृ मनाः । पितृयाणम्—पितृयानमिति पितृ यानम् । यह याजुष पदपाठ के नियमानुसार अवग्रह दर्शाया है ॥

यहाँ से 'छन्दसि' की अनुवृत्ति ८।४।२६ तक जायेगी ॥

नश्च धातुस्थोरुषुभ्यः ॥८।४।२६॥

नः अविभक्त्यन्तनिर्देशः ॥ च अ० ॥ धातुस्थोरुषुभ्यः ५।३॥ स०—धातौ तिष्ठति, धातुस्थः, तत्पुरुषः । धातुस्थश्च उरुश्च षुश्च धातुस्थोरुषवः, तेभ्यः ··· इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—छन्दसि, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—धातुस्थान्निमित्तादुत्तरस्योरुशब्दात् षुशब्दाच्चोत्तरस्य छन्दसि विषये नस् इत्येतस्य नकारस्य णकारादेशो भवति ॥ उदा०—धातुस्थात्—अग्ने रक्षा णः (ऋ० ७।१५।१३) । शिक्षा णो अस्मिन् (ऋ० ७।३२।२६) । उरुशब्दात्—उरु णस्कृधि (ऋ० ८।७५।११) । षुशब्दात्—अभी षु णः सखीनाम् (ऋ० ४।३१।३) । ऊर्ध्व ऊ षु ण ऊतये (ऋ० १।३६।१३) ॥

भाषार्थः—[धातुस्थोरुषुभ्यः] धातु में स्थित निमित्त से उत्तर तथा उरु एवं षु शब्द से उत्तर [नः] नस् के नकार को [च] भी वेदविषय में णकार आदेश होता है ॥ बहुवचनस्य वस्नसौ (८।१।२१) से अस्माकम् के स्थान में हुये नस् का यहाँ ग्रहण है ॥ रक्षा शिक्षा, लोट् मध्यम पुरुष के रूप हैं, द्व्यचोऽत० (६।३।१३३)

से इन्हें दीर्घ हो गया है, इस प्रकार धातु में स्थित निमित्त से उत्तर उदाहरणों में नस् है। उरुणस्कृधि की सिद्धि सूत्र ६।४।१०२ में देखें। ६।३।१३२ से ग्रभी में दीर्घ जानें। षु से यहाँ 'सुञ्' निपात का ग्रहण है, सुञः (८।३।१०७) से इसे षत्व होता है॥

यहाँ से 'नः' की अनुवृत्ति ८।४।२७ तक जायेगी॥

उपसर्गाद्‌नोत्परः ॥८।४।२७॥

उपसर्गात् ५।१॥ अनोत्परः १।१॥ स०—ओकारात् परः ओत्परः, पञ्चमी-तत्पुरुषः। न ओत्परः अनोत्परः, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—नः, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवाये-ऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्यानोत्परस्य नसो नकारस्य णकारादेशो भवति॥ उदा०—प्रणः शूद्रः, प्रणसः, प्रणो राजा॥

भाषार्थः—[उपसर्गात्] उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर जो [अनोत्परः] ओकार से परे नहीं ऐसे नस् के नकार को णकारादेश होता है॥ उदाहरणों में ओकार से परे नस् का नकार नहीं है॥

विशेषः—'प्र नो मुञ्चतम्' यहाँ भी नकार को णकार न हो जाये इसके लिये 'अनोत्परः' का विग्रह 'ओकारः परोऽस्मात् स ओत्परः (बहुव्रीहिः) न ओत्परो-ऽनोत्परः' किया जा सकता है। वस्तुतः यह शङ्कासमाधान का विषय है, अतः यहाँ उपर्युक्त व्याख्या ही पर्याप्त है॥

यहाँ से 'उपसर्गात्' की अनुवृत्ति ८।४।३३ तक जायेगी॥

कृत्यचः ॥८।४।२८॥

कृति ७।१॥ अचः ५।१॥ अनु०—उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम्॥ अर्थः—अच उत्तरो यः कृत्स्थो नकारस्तस्य उपसर्गस्थान्निमि-त्तादुत्तरस्य, णकारादेशो भवति॥ उदा०—प्रयाणम्, परियाणम्, प्रमाणम्, परि-माणम्। प्रयायमाणम्, परियायमाणम्। प्रयाणीयम्, परियाणीयम्। अप्रयाणिः, अपरियाणिः। प्रयायिणौ, परियायिणौ। प्रहीणः, परिहीणः, प्रहीणवान्, परिहीण-वान्॥

भाषार्थः—[अचः] अच् से उत्तर [कृति] कृत् में स्थित जो नकार उसको उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर णकारादेश होता है॥ प्रयाणम् आदि में ल्युट् (अन) प्रत्यय, तथा प्रयायमाणम् में कर्म में शानच् हुआ है, सो मुक् (७।२।८२) आगम होकर प्र या यक् मुक् आन=प्रयायणाम् बना है। प्रयायणीयम् में अनीयर् (३।१।९६) प्रत्यय तथा अप्रयाणिः में आक्रोशे नञ्यनिः (३।३।११२) से अनि

प्रत्यय एवं नञ् समास हुआ है। प्रयायिणौ में सुप्यजातौ णि० (३।२।७८) से णिनि प्रत्यय तथा आतो युक्० (७।३।३३) से युक् आगम होकर प्र या युक् इन्= प्रयायिन् औ=प्रयायिणौ बना है। प्रहीणः आदि में ओहाक् धातु से निष्ठा होकर ओदितश्च (८।२।४५) से निष्ठा को नत्व एवं घुमास्थागा० (६।४।६६) से ईत्व होकर प्र ह् ई न=प्रहीणः बना है।। सर्वत्र उदाहरणों में उपसर्ग में स्थित निमित्त (रेफ) है, एवं उससे उत्तर अन, मान, अनीयर् आदि का अच् है, सो उस अच् से उत्तर कृत्संज्ञक (३।१।९३) नकार को णकार हो गया है ।।

यहाँ से 'कृत्यचः' की अनुवृत्ति ८।४।३३ तक जायेगी ।।

णेर्विभाषा ।।८।४।२९।।

णेः ५।१।। विभाषा १।१।। अनु०—कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—ण्यन्ताद् यो विहितः कृत्प्रत्ययस्तत्स्थस्याचः परस्य नकारस्य उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य विभाषा णकारादेशो भवति ।। उदा०—प्रयापणम्, प्रयापनम् । परियापणम्, परियापनम् । प्रयाप्यमाणम् । प्रयाप्यमानम् । प्रयापणीयम्, प्रयापनीयम् । अप्रयापणिः, अप्रयापनिः । प्रयापिणौ, प्रयापिनौ ।।

भाषार्थः—[णेः] ण्यन्त धातु से विहित जो कृत् प्रत्यय उसमें स्थित जो अच् से उत्तर नकार उसको उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [विभाषा] विकल्प से णकार आदेश होता है ।। प्रपूर्वक या धातु से णिच् तथा अर्त्तिह्री० (७।३।३६) से पुक् आगम होकर यापि ण्यन्त धातु बनी, तत्पश्चात् पूर्वसूत्र अनुसार ही ल्युट् शानच् आदि प्रत्यय हुये, सो प्रयापणम् आदि प्रयोग बन गये । सर्वत्र प्रयापणम् आदि में णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप हुआ है । प्रयापि यक् मुक् आन=प्र याप् य म् आन=प्रयाप्यमान=प्रयाप्यमाणम् ।।

यहाँ से 'विभाषा' की अनुवृत्ति ८।४।३० तक जायेगी ।।

हलश्चेजुपधात् ।।८।४।३०।।

हलः ५।१।। च अ० ।। इजुपधात् ५।१।। स०—इच् उपधा यस्य स इजुपधः, तस्मात् ··· बहुव्रीहिः ।। अनु०—विभाषा, कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—हलादिर्यो धातुरिजुपधस्तस्मात्परो यः कृत्प्रत्ययस्तत्स्थस्य नकारस्याचः परस्योपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य विभाषा णकारादेशो भवति ।। उदा०—प्रकोपणम्, परिकोपणम् । प्रकोपनम्, परिकोपनम् ।।

भाषार्थः—[इजुपधात्] इच् उपधावाला जो [हलः] हलादि धातु उससे

विहित जो कृत् प्रत्यय तत्स्थ जो अच् से उत्तर नकार उसको [च] भी उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर विकल्प से णकारादेश होता है ॥ कुप क्रोधे धातु हलादि एवं इच् उपधावाला है, सो उससे विहित कृत् प्रत्यय जो ल्युट्=अन उसके नकार को अच् से उत्तर विकल्प से णकार उदाहरणों में हुआ है ॥ कृत्यचः (८।४।२८) से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है ॥

यहाँ से 'हलः' की अनुवृत्ति ८।४।३१ तक जायेगी ॥

इजादेः सनुमः ॥८।४।३१॥

इजादेः ५।१॥ सनुमः ५।१॥ स०—इच् आदिर्यस्य स इजादिः, तस्मात्... बहुव्रीहिः । नुमा सह सनुम्, तस्मात्... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—हलः, कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—इजादेः सनुमो हलन्ताद्धातोर्विहितो यः कृत्प्रत्ययस्तत्स्थस्याचः परस्य नकारस्य उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य णकारादेशो भवति ॥ उदा०—प्रेङ्खणम्, परेङ्खणम् । प्रेङ्गणम्, परेङ्गणम् । प्रोम्भणम्, परोम्भणम् ॥

भावार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [इजादेः] इच् आदि वाला जो [सनुमः] नुम् सहित हलन्त धातु उससे विहित जो कृत् प्रत्यय तत्स्थ नकार को अच् से उत्तर णकार आदेश होता है ॥ कृत्यचः (८।४।२८) से ही णत्व सिद्ध था, पुनर्वचन नियमार्थ है, अर्थात्—नुम् सहित इजादि धातुओं से उत्तर ही कृत्स्थ न को ण हो, अन्यों से उत्तर नहीं ॥ पूर्व सूत्र में 'हलः' पद से हलादि अर्थ लिया गया है, किन्तु यहाँ 'इजादेः' कह देने से हलः में तदन्तविधि (१।१।७१) होकर 'हलन्त' ऐसा सूत्रार्थ हुआ है ॥ इखि तथा इगि धातु से इदितो नुम्धातोः (७।१।५८) से नुम् होकर इन्ख् इन्ग् बना । नश्चाऽपदान्तस्य० (८।३।२४) एवं अनुस्वारस्य (८।४।५७) लगकर प्र इङ्ख् अन, प्र इङ्ग् अन=प्रेङ्खणम्, प्रेङ्गणम् बन गया । उम्भ धातु से प्रोम्भणम् आदि बना । वस्तुतः नुम् यहाँ अनुस्वार का उपलक्षण है, अतः उम्भ में यद्यपि नुम् नहीं हुआ है, किन्तु पहले से ही नकार पठित है, तो भी उस नकार को णकार हो जाता है ॥

वा निसनिक्षनिन्दाम् ॥८।४।३२॥

वा अ० ॥ निसनिक्षनिन्दाम् ६।३॥ स०—निसश्च निक्षश्च निन्द च निस...निन्दः, तेषाम्... इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्तादुत्तरस्य निस निक्ष निन्द इत्येतेषां नकारस्य वा णकारादेशो भवति, कृति परतः ॥ उदा०—प्रणिसनम्, प्रनिसनम् । प्रणिक्षणम्, प्रनिक्षणम् । प्रणिन्दनम्, प्रनिन्दनम् ॥

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [निसनिक्षनिन्दाम्] निस, निक्ष तथा निन्द धातु के नकार को [वा] विकल्प से णकारादेश होता है, कृत् परे रहते ।। णिसि-चुम्बने, (उदा०) णिक्ष चुम्बने तथा णिदि कुत्सायाम् धातु से निस्, निक्ष्, एवं निन्द् बनकर आगे ल्युट् प्रत्यय हुआ है ।। णो नः (६।१।६३) से, पहले ण् को न् एवं इदित् को नुम् होकर निस् निन्द बना है । प्र निस् अन=प्रणिंसनम् पूर्ववत् नुम् को अनुस्वार होकर बन गया ।। णिसि आदि के णोपदेश धातु होने से उपसर्गादस० (८।४।१४) से नित्य णत्व प्राप्त था, विकल्पार्थ यह वचन है ।।

न भाभूपूकमिगमिप्यायीवेपाम् ।।८।४।३३।।

न अ० ।। भाभू···वेपाम् ६।३।। स०—भाश्च भूश्च पूश्च कमिश्च गमिश्च प्यायीश्च वेप् च भाभू···वेपः, तेषाम्···इतरेतरद्वन्द्वः ।। अनु०—कृत्यचः, उपसर्गात्, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—उपसर्गस्थान्निमित्ता-दुत्तरस्य भा भू पू कमि गमि प्यायी वेप् इत्येतेभ्यो विहितस्य कृत्स्थस्य नकारस्याचः परस्य णकारादेशो न भवति ।। उदा०—भा—प्रभानम्, परिभानम् । भू—प्रभव-नम्, परिभवनम् । पूञ्—प्रपवनम्, परिपवनम् । कमि—प्रकमनम्, परिकमनम् । गमि—प्रगमनम्, परिगमनम् । प्यायी—प्रप्यायनम्, परिप्यायनम् । वेप—प्रवेपनम्, परिवेपनम् ।।

भाषार्थः—उपसर्ग में स्थित निमित्त से उत्तर [भाभू वेपाम्] भा, भू, पूञ्, कमि, गमि, ओप्यायी तथा वेप जो धातु इनसे विहित कृत्स्थ नकार को अच् से उत्तर णकार आदेश [न] नहीं होता ।। कृत्यचः (८।४।२८) से णत्व की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ।।

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।३८ तक जायेगी ।।

षात्पदान्तात् ।।८।४।३४।।

षात् ५।१।। पदान्तात् ५।१।। स०—पदे अन्तः पदान्तः, तस्मात्···सप्तमी-तत्पुरुषः ।। अनु०—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—षकारात्पदान्तादुत्तरस्य नकारस्य णकारादेशो न भवति ।। उदा०—निष्पानम्, दुष्पानम् । सर्पिष्पानम्, यजुष्पानम् ।।

भाषार्थः—[पदान्तात्] पदान्त [षात्] षकार से उत्तर नकार को णकार आदेश नहीं होता ।। निस् दुस् के स् को विसर्जनीय करके तत्पश्चात् उस विसर्ज-नीय को इदुदुपधस्य० (८।३।४१) से षत्व हुआ है, सो षकारान्त पद बन गया, इस प्रकार कृत्यचः (८।४।२८) से णत्व की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया । सर्पि-

ष्पानम्, यजुष्पानम् में नित्यं समासे० (८।३।४५) से षत्व हुआ है । यहाँ वा भावकरणयोः (८।४।१०) से णत्व की प्राप्ति थी, निषेध कर दिया । 'सर्पिष्पानम्' में षष्ठी समास एवं 'यजुष्पानम्' में कर्तृकरणे कृता० (२।१।३१) से तृतीयासमास हुआ है ।।

नशेः षान्तस्य ।।८।४।३५।।

नशेः ६।१।। षान्तस्य ६।१।। स०—ष् अन्ते यस्य स षान्तः, तस्य बहुव्रीहिः।। अनु०—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—षकारान्तस्य नशेः नकारस्य णकारादेशो न भवति ।। उदा०—प्रनष्टः, परिनष्टः ।।

भाषार्थः—[षान्तस्य] षकारान्त [नशेः] नश धातु के नकार को णकारादेश नहीं होता ।। णश अदर्शने धातु से निष्ठा में मस्जिनशोर्झलि (७।१।६०) से नुम् होकर प्र न नुम् श् त रहा । व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से श् को ष् होकर प्र न न् ष् त रहा, अनिदितां० (६।४।२४) से नकार लोप तथा ष्टुत्व होकर प्रनष्टः बन गया ।। उपसर्गादस० (८।४।१४) से णत्व प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ।।

पदान्तस्य ।।८।४।३६।।

पदान्तस्य ६।१।। स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, तस्य षष्ठीतत्पुरुषः।। अनु०—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—पदान्तस्य नकारस्य णकारादेशो न भवति ।। उदा०—वृक्षान्, प्लक्षान्, अरीन्, गिरीन् ।।

भाषार्थः—[पदान्तस्य] पद के अन्त के नकार को णकार आदेश नहीं होता ।। अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से णत्व प्राप्ति थी, निषेध कर दिया ।।

पदव्यवायेऽपि ।।८।४।३७।।

पदव्यवाये ७।१।। अपि अ० ।। स०—पदेन व्यवायः पदव्यवायः, तस्मिन् तृतीयातत्पुरुषः ।। अनु०—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ।। अर्थः—निमित्तनिमित्तिनोः पदव्यवायेऽपि सति नकारस्य णकारादेशो न भवति ।। उदा०—माषकुम्भवापेन, चतुरङ्गयोगेन, प्रावनद्धम्, पर्यवनद्धम्, प्रगान्नयामः, परिगान्नयामः ।।

भाषार्थः—निमित्त (र ष) तथा निमित्ती (न) के मध्य [पदव्यवाये] पद का व्यवधान होने पर [अपि] भी नकार को णकार नहीं होता ।। माषाणां कुम्भः माषकुम्भः, तं वपतीति माषकुम्भवापस्तेन माषकुम्भवापेन; यहाँ कर्मण्यण् (३।२।१) से अण् प्रत्यय होकर तृतीया का 'टा' हुआ है, सो प्रातिपदिकान्त० (८।४।११) से

(कुम्भ के अट्कुप्वाङ्० में गृहीत होने से) विभक्ति के न् को णत्व प्राप्त था, कुम्भ पद का व्यवधान होने से निषेध हो गया। चत्वारि अङ्गानि अस्य=चतुरङ्गः तेन योगः चतुरङ्गयोगस्तेन चतुरङ्गयोगेन, यहां कुमति च (८।४।१३) से प्राप्ति थी, अङ्ग पद का व्यवधान होने से नहीं हुआ। नद्धम् की सिद्धि ८।२।३४ सूत्र में देखें, तद्वत् प्र अव नद्धम्=प्रावनद्धम् में गतिसमास (२।२।१८) होकर उपसर्गाद्० (८।४।१४) से णत्व प्राप्ति थी, 'अव' पद का व्यवधान होने से निषेध हो गया। प्रगान्नयामः, यहां प्र निमित्त एवं नयामः के न् निमित्ती के मध्य में गाम् द्वितीयान्त पद का व्यवधान है, सो उपसर्गादि० (८।४।१४) से णत्व प्राप्त था, निषेध हो गया। यह छान्दस उदाहरण है। गाम् के म् को अनुस्वार एवं परसवर्ण पूर्ववत् यहां हो जायेगा॥

क्षुभ्नादिषु च ॥८।४।३८॥

क्षुभ्नादिषु ७।३॥ च अ० ॥ स०—क्षुभ्ना आदिर्येषां ते क्षुभ्नादयः, तेषु ... बहुव्रीहिः ॥ अनु०—न, अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि, रषाभ्यां नो णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—क्षुभ्ना इत्येवमादिषु शब्देषु नकारस्य णकारादेशो न भवति ॥ उदा०—क्षुभ्नाति, क्षुभ्नीतः, क्षुभ्नन्ति। नॄन्=मनुष्यान् नमयतीति नॄनमनः॥

भाषार्थः—[क्षुभ्नादिषु] क्षुभ्नादिगण में पठित शब्दों के नकार को [च] भी णकारादेश नहीं होता॥ रषाभ्यां नो णः० (८।४।१) इत्यादि सूत्रों से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया॥ क्षुभ्नाति क्षुभ्नीतः आदि में अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से प्राप्ति थी, एवं नॄनमनः में पूर्वपदात्० (८।४।३) अथवा छन्दस्यृद० (८।४।२५) से णत्व प्राप्त था, प्रतिषेध कर दिया॥ क्षुभ्नीतः में ई हल्यघोः (६।४।११३) से श्ना को ईत्व एवं क्षुभ्नन्ति में श्नाभ्यस्तयो० (६।४।११२) से श्ना के आ का लोप हुआ है॥

स्तोः श्चुना श्चुः ॥८।४।३९॥

स्तोः ६।१॥ श्चुना ३।१॥ श्चुः १।१॥ स० सश्च तुश्च स्तुः, तस्य समाहार द्वन्द्वः। शश्च चुश्च श्चुः, तेन समाहारद्वन्द्वः। एवं 'श्चुः' इत्यत्रापि ज्ञेयम्॥ अनु०—संहितायाम्॥ अर्थः—सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शकारचवर्गौ आदेशौ भवतः॥ उदा०—सकारस्य शकारेण—वृक्षस्शेते=वृक्षश्शेते, प्लक्षश्शेते। सकारस्य चवर्गेण—वृक्षस्चिनोति=वृक्षश्चिनोति, प्लक्षश्चिनोति। वृक्षस्छादयति=वृक्षश्छादयति, प्लक्षश्छादयति। तवर्गस्य शकारेण—अग्निचित् शेते=अग्निचिच्छेते, सोमसुच्छेते। तवर्गस्य चवर्गेण—अग्निचिच्चिनोति, सोमसुच्चिनोति। अग्निचिच्छादयति, सोमसुच्छादयति। अग्निचिज्जयति, सोमसुज्जयति। अग्निचिज्झकारः, सोमसुज्झ-

कारः । अग्निचिञ्ञकारः । सोमसुञ्ञकारः । मस्जेः—मज्जति । भ्रस्जेः—भृज्जति । यजेः—यज्ञः । याचेः—याच्ञा ॥

भाषार्थः—[श्चुना] शकार और चवर्ग के योग में [स्तोः] सकार और तवर्ग के स्थान में [श्चुः] शकार और चवर्ग आदेश होते हैं ॥ यथासंख्य यहाँ इष्ट नहीं है, अतः सकार को शकार अथवा चवर्ग दोनों के योग में शकार हो जाता है। यथा—वृक्षश्शेते एवं वृक्षश्चिनोति आदि में दिखाया है । तवर्ग को भी शकार एवं चवर्ग दोनों के योग में चवर्ग हो जाता है । यथा—अग्निचित् शेते=अग्निचिच्छेते, एवं अग्निचिच्चिनोति आदि में है । शश्छोऽटि (८।४।६२) से अग्निचिच्छेते में श को छ भी हुआ है । मज्जति भृज्जति आदि में झलां जश० (८।४।५२) से स् को द्, एवं प्रकृत सूत्र से द् को ज् हुआ है । यज्ञः, याच्ञा में यजयाच० (३।३।९०) से नङ् हुआ है। सो ज् के योग में न तवर्गीय वर्ण को चवर्ग अर्थात् ञ् हो गया है ॥ यहाँ यह समझ लेना चाहिये कि 'श्चुना' कहने से शकार एवं चवर्ग का सकार एवं तवर्ग के साथ पूर्व से अथवा पर से, अर्थात् शकार चवर्ग सकार तवर्ग के पूर्व में हों अथवा पर में सकार, तवर्ग को शकार एवं चवर्ग हो जायेगा । यज्ञः याच्ञा में चवर्ग का तवर्ग के साथ पूर्व से योग है ॥ सकार को शकार एवं तवर्ग को चवर्ग आदेश यथासङ्ख्य करके होते हैं, जैसा कि हमने अग्निचिच्चिनोति आदि उदाहरणों में दिखाया है ॥ अग्निचिञ्झकारम् में पहले त् को झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व द् करके, श्चुत्व होकर द् को ज् होगा ॥

यहाँ से 'स्तोः' की अनुवृत्ति ८।४।४१ तक जायेगी ॥

ष्टुना ष्टुः ॥८।४।४०॥

ष्टुना ३।१॥ ष्टुः १।१॥ स०—षश्च टुश्च ष्टुः, तेन...समाहारद्वन्द्वः ॥ अनु०—स्तोः, संहितायाम् ॥ अर्थः—सकारतवर्गयोः षकारटवर्गाभ्यां योगे षकारटवर्गौ आदेशौ भवतः ॥ उदा०—षकारेण सकारस्य—वृक्षस्षण्डे=वृक्षष्षण्डे, प्लक्षष्षण्डे । सकारस्य टवर्गेण—वृक्षस् टीकते=वृक्षष्टीकते, प्लक्षष्टीकते । वृक्षष्ठकारः, प्लक्षष्ठकारः । तवर्गस्य षकारेण—पेष्टा, पेष्टुम्, पेष्टव्यम् । कृषीष्ट, कृषीष्ठाः । तवर्गस्य टवर्गेण—अग्निचिट्टीकते, सोमसुट्टीकते । अग्निचिट्ठकारः, सोमसुट्ठकारः । अग्निचिड्डीनः, सोमसुड्डीनः । अग्निचिड्ढौकते, सोमसुड्ढौकते । अग्निचिण्णकारः, सोमसुण्णकारः । अतट्ते=अट्टते । अदड्ति=अड्डति ॥

भाषार्थः—[ष्टुना] षकार और टवर्ग के योग में सकार और तवर्ग के स्थान में [ष्टुः] षकार और टवर्ग आदेश हो जाते हैं ॥ पूर्ववत् यहाँ भी संख्यातानुदेश

इष्ट नहीं है; अतः सकार को षकार एवं टवर्ग दोनों के योग में ष् होता है। यथा—वृक्षष्षण्डे में है। तवर्ग को भी षकार एवं टवर्ग दोनों के योग में टवर्ग आदेश होता है। यथा—पेष्टा, पेष्टुम् आदि में है॥ इस सूत्र की सम्पूर्ण व्याख्या पूर्वसूत्रानुसार जानें॥

यहाँ से 'ष्टुः' की अनुवृत्ति ८।४।४१ तक जायेगी॥

न पदान्ताट्टोरनाम् ॥८।४।४१॥

न अ० ॥ पदान्तात् ५।१॥ टोः ५।१॥ अनाम् लुप्तषष्ठ्यन्तनिर्देशः॥ स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, तस्मात्... षष्ठीतत्पुरुषः। न नाम् अनाम्, नञ्तत्पुरुषः॥ अनु०—ष्टुः, स्तोः, संहितायाम्॥ अर्थः—पदान्ताट्टवर्गादुत्तरस्य स्तोः ष्टुत्वं न भवति नामित्येतद् वर्जयित्वा॥ उदा०—श्वलिट् साये, मधुलिट् तरति॥

भाषार्थः—[पदान्तात्] पदान्त [टोः] टवर्ग से उत्तर सकार और तवर्ग को षकार और टवर्ग [न] नहीं होता, [अनाम्] 'नाम्' को छोड़ कर॥ श्वलिट्, मधुलिट् के पदान्त में टकार है, सो उससे उत्तर त् को ष्टुत्व ट् नहीं हुआ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।४३ तक जायेगी॥

तोः षि ॥८।४।४२॥

तोः ६।१॥ षि ७।१॥ अनु०—न, संहितायाम्॥ अर्थः—तवर्गस्य षकारे परतो यदुक्तं तन्न भवति॥ उदा०—अग्निचित्षण्डे, भवान् षण्डे, महान् षण्डे॥

भाषार्थः—[तोः] तवर्ग को [षि] षकार परे रहते जो कुछ भी कहा है, वह नहीं होता, अर्थात् ष्टुत्व नहीं होता॥

यहाँ से 'तोः' की अनुवृत्ति ८।४।४३ तक जायेगी॥

शात् ॥८।४।४३॥

शात् ५।१॥ अनु०—तोः, न, संहितायाम्॥ अर्थः—शकारादुत्तरस्य तवर्गस्य यदुक्तं तन्न भवति॥ उदा०—प्रश्नः, विश्नः॥

भाषार्थः—[शात्] शकार से उत्तर तवर्ग को जो कुछ भी कहा है, वह नहीं होता। अर्थात् स्तोः श्चुना० (८।४।३९) से प्राप्त श्चुत्व नहीं होता। अन्यथा 'प्रश्ञः' अशुद्ध रूप बनता॥ सिद्धि ३।३।९० सूत्र में देखें॥

यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ॥८।४।४४॥

यरः ६।१॥ अनुनासिके ७।१॥ अनुनासिकः १।१॥ वा अ०॥ अनु०—संहितायाम्॥ न पदान्ता० (८।४।४१) इत्यतः 'पदान्तात्' इत्यप्यनुवर्तते मण्डूकप्लुतगत्या॥

अर्थः—पदान्तस्य यरोऽनुनासिके परतो वाऽनुनासिकादेशो भवति ॥ उदा०—वाङ् नयति, वाग् नयति। श्वलिण् नयति, श्वलिड् नयति। अग्निचिन्नयति, अग्निचिद् नयति। त्रिष्टुम्नयति, त्रिष्टुब् नयति ॥

भाषार्थः—पदान्त [यरः] यर् (प्रत्याहार) को [अनुनासिके] अनुनासिक परे रहते [वा] विकल्प से [अनुनासिकः] अनुनासिक आदेश होता है। उदाहरणों में नयति का न् अनुनासिक परे है, अतः ग् ड आदि यरों को अन्तरतम (१।१।४९) अनुनासिक आदेश विकल्प से हो गया है ॥

यहाँ से 'यरो वा' की अनुवृत्ति ८।४।४६ तक जायेगी ॥

अचो रहाभ्यां द्वे ॥८।४।४५॥

अचः ५।१॥ रहाभ्याम् ५।२॥ द्वे १।२॥ स०—रश्च हश्च रहौ, ताभ्याम् इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—यरो वा, संहितायाम् ॥ अर्थः—अच उत्तरौ यौ रेफहकारौ ताभ्यामुत्तरस्य यरो द्वे वा भवतः ॥ उदा०—अर्कः, अर्क्कः। मर्कः, मर्क्कः। ब्रह्मा, ब्रह्म्मा। अपह्नुते, अपह्न्नुते ॥

भाषार्थः—[अचः] अच् से उत्तर जो [रहाभ्याम्] रेफ और हकार उनसे उत्तर यर् को विकल्प से [द्वे] द्वित्व होता है ॥ अर्कः यहाँ अच् से उत्तर रेफ है, उससे उत्तर क् यर् को द्वित्व हुआ है, इसी प्रकार अन्यों में जानें। अपह्नुते यहाँ हकार से उत्तर यर् है ॥

यहाँ से 'अचः' की अनुवृत्ति ८।४।४६ तक, तथा 'द्वे' की ८।४।५१ तक जायेगी ॥

अनचि च ॥८।४।४६॥

अनचि ७।१॥ च अ० ॥ स०—न अच् अनच्, तस्मिन्...नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—अचो द्वे, यरो वा, संहितायाम् ॥ अर्थः—अच उत्तरस्य यरो वा द्वे भवतोऽनचि परतः ॥ उदा०—दद्ध्यत्र, दध्यत्र। मद्ध्वत्र, मध्वत्र ॥

भाषार्थः—अच् से उत्तर यर् को विकल्प करके [अनचि] अच् परे न हो, तो [च] भी द्वित्व हो जाता है ॥ सिद्धि परि० १।१।५७ में देखें। यहाँ अनच् 'य्' परे रहते 'ध्' यर् को द्वित्व हुआ है ॥

नादिन्याक्रोशे पुत्रस्य ॥८।४।४७॥

न अ० ॥ आदिनी लुप्तसप्तम्यन्तनिर्देशः ॥ आक्रोशे ७।१॥ पुत्रस्य ६।१॥ अनु०—द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—आक्रोशे गम्यमाने आदिनी परतः पुत्रशब्दस्य द्वे न भवतः ॥ उदा०—पुत्रादिनी त्वमसि पापे ॥

भाषार्थ:—[आक्रोशे] आक्रोश गम्यमान हो, तो [आदिनी] आदिनी शब्द परे रहते [पुत्रस्य] पुत्र शब्द को द्वित्व [न] नहीं होता ॥ ताच्छील्य अर्थ में णिनि होकर आदिन् रहा, पश्चात् ङीप् होकर आदिनी बना है ॥ पूर्व सूत्र से प्राप्ति थी, निषेध कर दिया है ॥

यहाँ से 'न' की अनुवृत्ति ८।४।५१ तक जायेगी ॥

शरोऽचि ॥८।४।४८॥

शरः ६।१॥ अचि ७।१॥ अनु०—न, द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—अचि परतः शरो न द्वे भवतः ॥ उदा०—कर्षति, वर्षति । आकर्षः, आदर्शः ॥

भाषार्थः—[अचि] अच् परे रहते [शरः] शर् (प्रत्याहार) को द्वित्व नहीं होता ॥ अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४५) से प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ॥ आकर्षः आदर्शः में अधिकरण में घञ् हुआ है ॥

त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य ॥८।४।४९॥

त्रिप्रभृतिषु ७।३॥ शाकटायनस्य ६।१॥ स०—त्रयः प्रभृतयः येषां ते त्रिप्रभृतयः, तेषु··· बहुव्रीहिः ॥ अनु०—न, द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—त्रिप्रभृतिषु संयुक्तेषु वर्णेषु शाकटायनस्याचार्यस्य मतेन द्वित्वं न भवति ॥ उदा०—इन्द्रः, चन्द्रः, उष्ट्रः, राष्ट्रम्, भ्राष्ट्रम् ॥

भाषार्थः—[त्रिप्रभृतिषु] तीन मिले हुये=संयुक्त वर्णों को [शाकटायनस्य] शाकटायन आचार्य के मत में द्वित्व नहीं होता ॥ इन्द्र में न् द् र् तीन संयुक्त वर्ण हैं, इसी प्रकार अन्यों में भी समझें। इन्द्र आदि शब्दों में अनचि च (८।४।४६) से द्वित्व प्राप्ति थी, निषेध हो गया ॥ शाकटायन ग्रहण पूजार्थ है ॥

सर्वत्र शाकल्यस्य ॥८।४।५०॥

सर्वत्र अ० ॥ शाकल्यस्य ६।१॥ अनु०—न, द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—शाकल्यस्याचार्यस्य मतेन सर्वत्र द्वित्वं न भवति ॥ उदा०—अर्कः, मर्कः, ब्रह्मा, अपह्नुते ॥

भाषार्थः—[शाकल्यस्य] शाकल्य आचार्य के मत में [सर्वत्र] सर्वत्र अर्थात् त्रिप्रभृति अथवा अत्रिप्रभृति सर्वत्र द्वित्व नहीं होता ॥ अर्कः इत्यादि में अचो रहाभ्यां द्वे (८।४।४५) से द्वित्व प्राप्ति थी, प्रतिषेध हो गया ॥

दीर्घादाचार्याणाम् ॥८।४।५१॥

दीर्घात् ५।१॥ आचार्याणाम् ६।३॥ अनु०—न, द्वे, संहितायाम् ॥ अर्थः—

दीर्घादुत्तरस्याचार्याणां मतेन द्वित्वं न भवति ॥ उदा०—दात्रम्, पात्रम्, सूत्रम्, मूत्रम् ॥

भाषार्थः—[दीर्घात्] दीर्घ से उत्तर [आचार्याणाम्] सभी आचार्यों के मत में द्वित्व नहीं होता ॥ दात्रम् आदि में अनचि च (८।४।४६) से द्वित्व प्राप्ति थी, निषेध हो गया ॥

झलां जश् झशि ॥८।४।५२॥

झलाम् ६।३॥ जश् १।१॥ झशि ७।१॥ अनु०—संहितायाम् ॥ अर्थः—झलां स्थाने जश् आदेशो भवति झशि परतः ॥ उदा०—लब्धा, लब्धुम्, लब्धव्यम् । दोग्धा, दोग्धुम्, दोग्धव्यम् । वोद्धा, वोद्धुम्, वोद्धव्यम् ॥

भाषार्थः—[झलाम्] झलों के स्थान में [झशि] झश् परे रहते [जश्] जश् आदेश होता है ॥ लब्धा में लभ् के भ् को ब् जश्त्व हुआ है । शेष धत्वादि (८।२।४० से) हो ही जायेंगे । दोग्धा में दुह् को दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से ह् को घ् होकर पश्चात् घ् को ग् जश्त्व हुआ है ॥

यहाँ से 'झलाम्' की अनुवृत्ति ८।४।५५ तक, तथा 'जश्' की ८।४।५३ तक जायेगी ॥

अभ्यासे चर्च ॥८।४।५३॥

अभ्यासे ७।१॥ चर् १।१॥ च अ० ॥ अनु०—झलाम्, जश्, संहितायाम् ॥ अर्थः—अभ्यासे वर्त्तमानानां झलां चर् आदेशो भवति, चकारात् जश् च ॥ उदा०—चिखनिषति, चिच्छित्सति, टिठकारयिषति, तिष्ठासति, पिफकारयिषति । जश्—बुभूषति, जिघत्सति, डढौकिषते ॥

भाषार्थः—[अभ्यासे] अभ्यास में वर्त्तमान झलों को [चर्] चर् आदेश होता है, तथा चकार से जश् [च] भी होता है ॥ चिखनिषति में खन् धातु से सन् आकर द्वित्वादि होकर 'ख खनिष' रहा । कुहोश्चुः (७।४।६२) से अभ्यास को चुत्व छ् होकर, पश्चात् उस छ् को प्रकृत सूत्र से च् हो गया है । छिद् से चिच्छित्सति में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम, एवं श्चुत्व होकर बना है । ठकार एवं फकार से पटयति (द्र०—परि० १।१।५६) के समान णिच् प्रत्यय आकर, एवं टिलोप होकर ठकारय फकारय धातु बने । पश्चात् सन् इट् तथा 'ठ ठकारयिष' 'फ फकारयिष' द्वित्व एवं प्रकृत सूत्र से चर् होकर टिठकारयिषति, पिफकारयिषति बन गया । तिष्ठासति में शर्पूर्वाः खयः (७।४।६१) से अभ्यास का खय् शेष रहा है । बुभूषति आदि में अभ्यास को जश् हुआ है । जिघत्सति की सिद्धि परि० २।४।३७ में देखें । डढौकिषते—ढौकृ धातु से अभ्यास को ह्रस्वः (७।४।५९) से ह्रस्व

होकर बना है ॥ स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) के नियम से वर्ग के प्रथम द्वितीय वर्ण के स्थान में चर् उस वर्ग का प्रथम, और तृतीय चतुर्थ वर्ण के स्थान में जश् अर्थात् तृतीय आदेश होता है ॥

यहाँ से 'चर्' की अनुवृत्ति ८।४।५५ तक जायेगी ॥

खरि च ॥८।४।५४॥

खरि ७।१॥ च अ० ॥ अनु०—चर्, झलाम्, संहितायाम् ॥ अर्थः—खरि परतो झलां चर् आदेशो भवति ॥ उदा०—भेत्ता, भेत्तुम्, भेत्तव्यम् । युयुत्सते, आरिप्सते, आलिप्सते ॥

भाषार्थः—[खरि] खर् परे रहते [च] भी झलों को चर् आदेश होता है ॥ भेत्ता आदि में द् को त्, एवं युयुत्सते में ध् को त्, तथा आरिप्सते आलिप्सते में भ को प् चर् हुआ है । आरिप्सते आलिप्सते की सिद्धि ७।४।५४ सूत्र में देखें ॥

वावसाने ॥८।४।५५॥

वा अ० ॥ अवसाने ७।१॥ अनु०—चर्, झलाम्, संहितायाम् ॥ अर्थः—अवसाने वर्त्तमानानां झलां वा चर् आदेशो भवति ॥ उदा०—वाच्—वाक्, वाग् । त्वच्—त्वक्, त्वग् । श्वलिड्—श्वलिट्, श्वलिड् । त्रिष्टुभ्—त्रिष्टुप्, त्रिष्टुब् ॥

भाषार्थः—[अवसाने] अवसान में वर्त्तमान झलों को [वा] विकल्प करके चर् आदेश होता है ॥ जब पक्ष में चर् नहीं होगा, तो झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से हुआ जश् ही रहेगा । वाक् की सिद्धि परि० १।२।४१ में देखें । तद्वत् अन्य सिद्धियाँ हैं ॥

यहाँ से 'वावसाने' की अनुवृत्ति ८।४।५६ तक जायेगी ॥

अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः ॥८।४।५६॥

अणः ६।१॥ अप्रगृह्यस्य ६।१॥ अनुनासिकः १।१॥ स०—न प्रगृह्यम् अप्रगृह्यम्, तस्य ···नञ्तत्पुरुषः ॥ अनु०—वावसाने, संहितायाम् ॥ अर्थः—अप्रगृह्यसंज्ञकस्याणोऽवसाने वर्त्तमानस्य वाऽनुनासिकादेशो भवति ॥ उदा०—दधिँ, दधि । मधुँ, मधु । कुमारीँ, कुमारी ॥

भाषार्थः—अवसान में वर्त्तमान [अप्रगृह्यस्य] प्रगृह्यसंज्ञक से भिन्न [अणः] अण् को विकल्प से [अनुनासिकः] अनुनासिक आदेश होता है ॥ अण् में यहाँ पूर्व णकार (अइउणवाला) का ग्रहण है । दधि तथा मधु के सु का स्वमोर्नपुंसकात् (७।१।२३) से लुक् हुआ है ॥

अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ॥८।४।५७॥

अनुस्वारस्य ६।१॥ ययि ७।१॥ परसवर्णः १।१॥ स०—परस्य सवर्णः पर-

सवर्णः, षष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—संहितायाम् ।। अर्थः—अनुस्वारस्य ययि परतः परसवर्णादेशो भवति ।। उदा०—शङ्किता, शङ्कितुम्, शङ्कितव्यम् । उञ्छिता, उञ्छितुम्, उञ्छितव्यम् । कुण्डिता, कुण्डितुम्, कुण्डितव्यम् । नन्दिता, नन्दितुम्, नन्दितव्यम् । कम्पिता, कम्पितुम्, कम्पितव्यम् ।।

भाषार्थः—[अनुस्वारस्य] अनुस्वार को [ययि] यय् (प्रत्याहार) परे रहते [परसवर्णः] परसवर्ण, अर्थात् परे जो वर्ण हो उसका सवर्ण वर्ण आदेश होता है ।। शकि, उछि, कुडि, टुनदि, कपि ये सभी धातुएं इदित् हैं, अतः इदितो नुम्धातोः (७।१।५८) से इन्हें नुम् आगम होकर, न् को नश्चापदान्तस्य० (८।३।२४) से अनुस्वार हो गया। पश्चात् प्रकृत सूत्र से अनुस्वार को परसवर्ण आदेश होने से शङ्किता में क् का सवर्ण ङ्, उञ्छिता में छ् का सवर्ण ञ्, कुण्डिता में ड् का सवर्ण ण्, एवं नन्दिता कम्पिता में इसी प्रकार क्रमशः न् म् परसवर्ण आदेश हो गये हैं ।।

यहाँ से 'अनुस्वारस्य ययि' की अनुवृत्ति ८।४।५८ तक, तथा 'परे' की ८।४।५९, एवं 'सवर्णः' की ८।४।६१ तक जायेगी ।।

वा पदान्तस्य ।।८।४।५८।।

वा अ० ।। पदान्तस्य ६।१।। स०—पदस्य अन्तः पदान्तः, तस्य... षष्ठीतत्पुरुषः ।। अनु०—अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः, संहितायाम् ।। अर्थः—पदान्तस्यानुस्वारस्य ययि परतो वा परसवर्णादेशो भवति ।। उदा०—तङ्कथञ्चित्रपक्षण्डयमानन्नभःस्थम्पुरुषोऽवधीत् । पक्षे—तं कथं चित्रपक्षं डयमानं नभःस्थं पुरुषोऽवधीत् ।।

भाषार्थः—[पदान्तस्य] पदान्त के अनुस्वार को यय् परे रहते [वा] विकल्प से परसवर्णादेश होता है ।। पूर्वसूत्र से नित्यप्राप्ति थी, विकल्प कर दिया ।। मोऽनुस्वारः (८।३।२३) से पदान्त म् को अनुस्वार उदाहरणों में सर्वत्र हुआ है ।।

तोर्लि ।।८।४।५९।।

तोः ६।१।। लि, ७।१।। अनु०—परसवर्णः, संहितायाम् ।। अर्थः—तवर्गस्य लकारे परतः परसवर्णादेशो भवति ।। उदा०—अग्निचिल्लुनाति, सोमसुल्लुनाति । भवाँल्लुनाति, महाँल्लुनाति ।।

भाषार्थः—[तोः] तवर्ग के स्थान में [लि] लकार परे रहते, परसवर्ण आदेश होता है ।। अग्निचिल्लुनाति में त को परसवर्ण ल्, एवं भवाँल्लुनाति में न् को परसवर्ण स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से सानुनासिक[1] ल् होता है । अतः 'भवाँल्लुनाति' ऐसा होता है ।।

---

१. अन्तस्थ अर्थात् य ल व सानुनासिक एवं निरनुनासिक के भेद से दो

उदः स्थास्तम्भोः पूर्वस्य ॥८।४।६०॥

उदः ५।१॥ स्थास्तम्भोः ६।२॥ पूर्वस्य ६।१॥ स०—स्थाश्च स्तम्भ् च स्थास्तम्भौ, तयोः···इतरेतरद्वन्द्वः ॥ अनु०—सवर्णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—उद उत्तरयोः स्था स्तम्भ इत्येतयोः पूर्वसवर्णादेशो भवति ॥ उदा०—स्था–उत्थाता, उत्थातुम्, उत्थातव्यम् । स्तम्भेः—उत्तम्भिता, उत्तम्भितुम्, उत्तम्भितव्यम् ॥

भाषार्थः—[उदः] उत् उपसर्ग से उत्तर [स्थास्तम्भोः] स्था तथा स्तम्भ को [पूर्वस्य] पूर्वसवर्ण आदेश होता है ॥ आदेः परस्य (१।१।५३) से स्था तथा स्तम्भ के सकार को पूर्वसवर्ण होगा । सो अघोष[1] तथा महाप्राण प्रयत्नवाले सकार का अन्तरतम अर्थात् उसी प्रयत्नवाला थकार पूर्वसवर्ण हो गया, तो उत् थ् थाता= उत्थ्थाता रहा । झरो झरि सवर्णे (८।४।६४) से पक्ष में एक थकार का लोप हो गया, तो उत्थाता बना । पक्ष में जब थकार का लोप नहीं होगा, तो उत्थ्थाता[2] बनेगा। इसी प्रकार उत्तम्भिता, उत्त्तम्भिता रूप भी बनेंगे ॥

यहाँ से 'पूर्वस्य' की अनुवृत्ति ८।४।६१ तक जायेगी ॥

झयो होऽन्यतरस्याम् ॥८।४।६१॥

झयः ५।१॥ हः ६।१॥ अन्यतरस्याम् ७।१॥ अनु०—पूर्वस्य, सवर्णः, संहितायाम् ॥ अर्थः—झय उत्तरस्य हकारस्य पूर्वसवर्णादेशो भवति विकल्पेन ॥ उदा०—वाग्हसति, वाग्घसति । श्वलिड्हसति, श्वलिड्ढसति । अग्निचिद्हसति, अग्निचिद्धसति । सोमसुद्हसति, सोमसुद्धसति । त्रिष्टुब्हसति, त्रिष्टुब्भसति ॥

भाषार्थः—[झयः] झय् (प्रत्याहार) से उत्तर [हः] हकार को [अन्यतरस्याम्] विकल्प से पूर्वसवर्ण आदेश होता है ॥ सर्वत्र स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) से अन्तरतम पूर्वसवर्ण होगा । और यह आन्तर्य वर्णोच्चारणशिक्षा में उल्लिखित स्थान और प्रयत्न के अनुसार होता है । अर्थात् जिस वर्ण का जिस वर्ण के साथ

प्रकार के होते हैं । देखो—वर्णो० ७५, पृष्ठ १६ । इसीलिये निरनुनासिक एवं सानुनासिक दो प्रकार का ल् यहाँ इष्ट है ॥

१. देखो—वर्णो० ६१, ६२, पृ० १४॥

२. कई आचार्य बाह्य प्रयत्न की समानता की उपेक्षा करके सकार का पूर्वसवर्ण तकार ही करते हैं । उनके मत में उत्त्थाता उत्त्तम्भिता रूप बनता है । थकार पक्ष में पूर्वसवर्ण के असिद्ध होने से चर्त्व नहीं होता ॥

स्थान एवं प्रयत्न मिल जाये, वही ग्रान्तर्य है। इस प्रकार ग् से उत्तर महाप्राण[1] ह् को पूर्वसवर्ण घ्, ड् से उत्तर ह् को ढ्, द् से उत्तर ह् को ध्, एवं ब् से उत्तर ह् को भ् ये महाप्राण अपने वर्ग के चतुर्थ अक्षर हुये हैं॥

यहाँ से 'झयः' की अनुवृत्ति ८।४।६२ तक, तथा 'अन्यतरस्याम्' की ८।४।६४ तक जायेगी॥

शश्छोऽटि ॥८।४।६२॥

शः ६।१॥ छः १।१॥ अटि ७।१॥ अनु०—झयोऽन्यतरस्याम्, संहितायाम् ॥ अर्थः—झय उत्तरस्य शकारस्य अटि परतश्छकारादेशो भवति विकल्पेन॥ उदा०—वाक्छेते, वाक्शेते। अग्निचिच्छेते, अग्निचिच्शेते[2]। सोमसुच्छेते, सोमसुच्शेते[2]। श्वलिट्छेते, श्वलिट्शेते। त्रिष्टुप्छेते, त्रिष्टुप्शेते॥

भाषार्थः—झय् प्रत्याहार से उत्तर [शः] शकार के स्थान में [अटि] अट् परे रहते, [छः] छकार आदेश विकल्प से होता है॥ उदाहरणों में झय् से उत्तर श् है, एवं श् से परे अट् प्रत्याहार है ही। अतः छत्व हो गया है॥

हलो यमां यमि लोपः ॥८।४।६३॥

हलः ५।१॥ यमाम् ६।३॥ यमि ७।१॥ लोपः १।१॥ अनु०—अन्यतरस्याम्, संहितायाम्॥ अर्थः—हल उत्तरेषां यमां यमि परतो लोपो भवति विकल्पेन॥ उदा०—शय्या, शय्य्या। आदित्यः, आदित्य्यः। आदित्य्यः, आदित्य्य्यः॥

भाषार्थः—[हलः] हल् से उत्तर [यमाम्] यम् का [यमि] यम् परे रहते विकल्प से [लोपः] लोप होता है॥ शय्या की सिद्धि सूत्र ३।३।९९ में देखें। यहाँ विशेष यह है कि जब अनचि च (८।४।४६) से पक्ष में य् को द्वित्व हुआ, तो तीन यकार हो गये। सो उनमें से एक य् से उत्तर एक य् के परे रहते मध्यवाले य् का विकल्प से लोप हो गया। सो दो एवं तीन यकारों की पर्याय से श्रुति होती है॥ अदितेरपत्यम् आदित्यः, यहाँ दित्यदित्या० (४।१।८५) से ण्य प्रत्यय हुआ है। अब यणो मयो द्वे भवत इति वक्तव्यम् (वा० ८।४।४६) से य् को द्वित्व होकर आदित्य्यः बन गया। तो पक्ष में त् हल् से उत्तर य् परे रहते य् का लोप हो गया। इस प्रकार दो यकार एवं एक यकारवाले प्रयोग बन गये॥ आदित्य्यः, यहाँ अपत्य अर्थ में आदित्य शब्द पूर्ववत् बनकर, पुनः सास्य देवता अर्थ में ४।१।८५ सूत्र से ही ण्य

1. देखो—वर्णो०—'एके अल्पप्राणा इतरे महाप्राणाः', ६२॥
2. जब संहिता विवक्षित नहीं होगी, तब 'अग्निचित् शेते', सोमसुत् शेते' होगा॥

होकर 'आदित्य्यः' दो यकारवाला प्रयोग बना। पुनः उसमें पूर्ववत् वार्त्तिक से द्वित्व होकर आदित्य्य्यः तीन यकार हो गये[1]। तब पक्ष में एक य् का लोप करके आदित्य्यः आदित्य्य्यः प्रयोग बन गये। यहाँ भी जब य् को पक्ष में द्विर्वचन न होगा तो उस पक्ष में भी एक य् का प्रकृतसूत्र से लोप होकर आदित्यः एक यकारवान् रूप ही बनेगा ॥

यहाँ से 'हलः लोपः' की अनुवृत्ति ८।४।६४ तक जायेगी ॥

झरो झरि सवर्णे ॥८।४।६४॥

झरः ६।१॥ झरि ७।१॥ सवर्णे ७।१॥ अनु०—हलः लोपः, अन्यतरस्याम्, संहितायाम् ॥ अर्थः—हल उत्तरस्य झरो विकल्पेन लोपो भवति सवर्णे झरि परतः ॥ उदा०— प्रत्तम्, प्रत्त्तम् । अवत्तम्, अवत्त्तम् । मरुत्तम्, मरुत्त्तम् ॥

भाषार्थः—हल् से उत्तर [झरः] झर् का विकल्प से लोप होता है, [सवर्णे] सवर्ण [झरि] झर् परे रहते ॥ प्रत्तम्, अवत्तम् की सिद्धि सूत्र ७।४।४७ में देखें। प्रत्तम् अवत्तम् में पहले तीन तकार थे हीं, द्वित्व (८।४।४६ से) करने पर चार हो गये, तो प्रकृत सूत्र से एक त् का लोप कर देने पर 'प्रत्त्तम्', एवं एक त् का लोप कर देने के पश्चात् दूसरे का भी लोप कर देने पर प्रत्तम् दो प्रयोग बने। मरुत् शब्द का मरुत्-शब्दस्योपसङ्ख्यानम् (वा० १।४।५८) से उपसर्गों में उपसङ्ख्यान माना है। सो उपसर्ग-सामर्थ्य से अजन्त न होने पर भी मरुत्- से उत्तर पूर्ववत् दा के आ को त् होकर मरुत् द् त् त = मरुत् त् त् त रहा। अब यहाँ चार तकार हैं। पूर्ववत् द्वित्व करने पर पाँच हो गये, तो एक का (मध्यवाले का) लोप करने पर चार तकार, दो का लोप करने पर तीन, तथा तीन का लोप करने पर दो शेष रहेंगे। इस प्रकार प्रथम उदाहरण में दो बार प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति होगी। तथा इस उदाहरण में तीन बार प्रवृत्ति होगी। क्योंकि तीनों बार सवर्ण झर् परे एवं हल् से उत्तर झर् मिल जाता है ॥ इसी प्रकार उत्थाता की सिद्धि में (सूत्र ८।४।६० में) भी प्रकृतसूत्र की प्रवृत्ति दिखाई जा चुकी है। सुगम होने से वह भी यहाँ समझाया जा सकता है ॥

उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः ॥८।४।६५॥

उदात्तात् ५।१॥ अनुदात्तस्य ६।१॥ स्वरितः १।१॥ अर्थः—उदात्तादुत्तरस्यानुदात्तस्य स्वरितादेशो भवति ॥ उदा०—गार्ग्यः, वात्स्यः, पचति, पठति ॥

१. शाकटायन आचार्य के मत में आदित्य्य्यः में पुनः द्वित्व नहीं होता—त्रिप्रभृतिषु शाकटायनस्य (८।४।४९)। अतः उसके मत में सूत्र से एक यकार का लोप होकर आदित्यः आदित्य्यः दो रूप ही बनते हैं ॥

भाषार्थ:—[उदात्तात्] उदात्त से उत्तर [अनुदात्तस्य] अनुदात्त को [स्वरित:] स्वरित आदेश होता है ।। गार्ग्य: वात्स्य: में यञ् प्रत्यय (४।१।१०५ से) हुआ है, अत: ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१) से ये शब्द आद्युदात्त हैं। सो अनुदात्तं पदम० (६।१।१५२) लगकर प्रकृतसूत्र से उदात्त से उत्तर अनुदात्त 'य' को स्वरित हो गया । पचति पठति की सिद्धि परि० ३।१।४ में देखें ।।

यहाँ से 'अनुदात्तस्य स्वरित:' की अनुवृत्ति ८।४।६६ तक जायेगी ।।

नोदात्तस्वरितोदयमगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ।।८।४।६६।।

न अ० ।। उदात्तस्वरितोदयम् १।१।। अगार्ग्यकाश्यपगालवानाम् ६।३।। स०—उदात्तश्च स्वरितश्च उदात्तस्वरितौ, इतरेतरद्वन्द्व: । उदात्तस्वरितौ उदयौ यस्मात्, तत्, बहुव्रीहि: । गार्ग्यश्च काश्यपश्च गालवश्च । गार्ग्य...लवा:, इतरेतरद्वन्द्व: । न गार्ग्य...लवा: अगार्ग्यकाश्यपगालवा:, तेषाम् ... नञ्तत्पुरुष: ।। अनु०—अनुदात्तस्य स्वरित: ।। अर्थ:—उदात्तोदयस्य स्वरितोदयस्य चानुदात्तस्य स्वरितो न भवति, अगार्ग्यकाश्यपगालवानां मतेन ।। उदयशब्द: परशब्देन समानार्थकोऽत्र गृह्यते पूर्वाचार्यप्रसिद्ध्या ।। पूर्वेण प्राप्ति: प्रतिषिध्यते ।। उदा०—उदात्तोदय:—गार्ग्यस्तत्र, वात्स्यस्तत्र । स्वरितोदय:—गार्ग्य: क्व, वात्स्य: क्व ।।

भाषार्थ:—[उदात्तस्वरितोदयम्] उदात्त उदय=परे है जिससे, एवं स्वरित उदय=परे है जिससे, ऐसे अनुदात्त को स्वरित आदेश [न] नहीं होता [अगार्ग्यकाश्यपगालवानाम्] गार्ग्य, काश्यप तथा गालव आचार्यों के मत को छोड़कर । अर्थात् इन आचार्यों के मत में स्वरित होता ही है । पूर्व सूत्र से स्वरित की प्राप्ति थी, प्रतिषेध कर दिया ।। उदय शब्द प्रातिशाख्य ग्रन्थों में पर का समानार्थक है । सो यहाँ भी पर अर्थवाला उदय शब्द ही गृहीत है ।।

गार्ग्यस्तत्र, यहाँ तत्र शब्द ५।३।१० से त्रल् प्रत्ययान्त है । अत: लित्स्वर (६।१।१८७) से आद्युदात्त है । इस प्रकार गार्ग्य का य, जो पूर्ववत् अनुदात्त (६।१। १५२ से) था, उससे परे उदात्त तत्र का 'त' है । अत: पूर्व सूत्र से जो 'य' को स्वरित प्राप्त था, वह उदात्त परे होने से नहीं हुआ, तो गार्ग्यस्तत्र रहा । इसी प्रकार वात्स्यस्तत्र में जानें । गार्ग्य: क्व, यहाँ क्व शब्द स्वरित है, जिसकी सिद्धि परि० १।२।३१ में देखें । गार्ग्य: का य पूर्ववत् अनुदात्त है ही । इस प्रकार अनुदात्त य से परे स्वरित क्व है । सो य को पूर्व सूत्र से प्राप्त स्वरित नहीं हुआ, अनुदात्त ही रहा ।।

अ अ ।।८।४।६७।।

अ अ० ।। अ अ० ।। अर्थ:—अकारो विवृत: संवृतो भवति ।। एकोऽत्र विवृतोऽपर: संवृत:, तत्र विवृतस्य संवृत: क्रियते ।। 'संवृतस्त्वकार:' (वर्णो० ५९) इति

वर्णोच्चारणशिक्षासूत्रेण अकारस्य संवृतप्रयत्नत्वमुक्तम्। विवृतकरणाः स्वराः (वर्णो० २७) इत्यनेन तु दीर्घाऽकारस्य प्लुतस्य च विवृतप्रयत्नत्वम् उक्तम्। तयोः ह्रस्वदीर्घयोः प्रयत्नभेदात् सवर्णसंज्ञा न प्राप्नोति; अतः 'अइउण्' सूत्रे कार्यार्थं शास्त्रेऽकारो विवृतः प्रतिज्ञातः। तस्य तथाभूतस्यैव लोके प्रयोगो मा भूद्, इति संवृतताप्रत्यापत्तिः क्रियते॥ उदा०—वृक्षः, प्लक्षः॥

भाषार्थः—[अ] विवृत अकार [अ] संवृत होता है॥

'संवृतस्त्वकारः' सूत्र से ह्रस्व 'अ' का प्रयत्न संवृत (कण्ठ को संकोच करके बोलना) है। एवं दीर्घ तथा प्लुत का 'विवृतकरणाः स्वराः' से विवृत प्रयत्न (कण्ठ को विकसित करके बोलना) है। अतः ह्रस्व अ से दीर्घ प्लुत के प्रयत्न का भेद होने से इनकी परस्पर तुल्यास्य० (१।१।९) से सवर्ण संज्ञा, तथा अणुदित्० (१।१।६८) से सवर्ण ग्रहण नहीं हो सकता था। सो शास्त्र में सवर्ण रूप से आ अ ३ के गृहीत न होने से कार्य कैसे होता? इसीलिये 'अइउण्' प्रत्याहार सूत्र में पाणिनि मुनि ने अकार की विवृत प्रतिज्ञा की है, अर्थात् विवृत रूप से पढ़ा है। जिससे अकार से उसके सवर्ण आ अ ३ का भी ग्रहण शास्त्र में कार्यार्थ हो सके। अब उस विवृत प्रतिज्ञात ह्रस्व 'अ' का विवृतरूप में ही लोक में भी प्रयोग न होने लगे, इसलिये इस सूत्र से आचार्य ने अइउण् में पठित विवृत अकार की प्रयोगार्थ संवृत प्रत्यापत्ति कर दी। अर्थात् प्रयोग में वह संवृत ही बोला जाये, ऐसा कह दिया॥ उदाहरण वृक्षः प्लक्षः में संवृत रूप में अकार बोला जायेगा, विवृत रूप में नहीं, यही प्रयोजन है। शास्त्र में कार्यार्थ भले ही वह अइउण् में विवृत प्रतिज्ञात होने से विवृत रूप से गृहीत हो, परन्तु लोक में संवृत ही उच्चरित होगा॥

॥ इत्यष्टमाध्यायः समाप्तः॥

—:o:—

अथ षष्ठाध्याय-परिशिष्टम्

परि० १— एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१)

जजागार (=वह जागा)

जागृ निद्राक्षये जागृ लिट् जागृ तिप् जागृ णल्=अ	भूवादयो धातवः (१।३।१), धातोः (३।१।९१), परोक्षे लिट् (३।२।११५) पूर्ववत् सब सूत्र लगकर लिट् के स्थान में तिप्। तथा परस्मैपदानां णल० (३।४।८२) से तिप् के स्थान में णल् हुआ। ऋ को अचो० (७।२।११५) से वृद्धि हुई। वृद्धिरादैच्, उरण्रपरः (१।१।५०)।—
जागार् अ	
	अब लिटि धातोरनभ्यासस्य (६।१।८), एकाचो द्वे प्रथमस्य, (६।१।१) से लिट् परे रहते प्रथम एक अच्वाली समुदाय जो 'जाग्' था, उसे द्वित्व हुआ, 'आर्' को द्वित्व नहीं हुआ। क्योंकि उसे लेकर तो जागार् दो अचोंवाला समुदाय हो जाता, एकाच् (समुदाय) नहीं रहता।
जाग् जागार् अ	पूर्ववत् अभ्यासकार्य आदि होकर
जजागार	बना॥

इसी प्रकार 'डुपचष् पाके' धातु से पपाच (= उसने पकाया) बनेगा। यहाँ एकाच् समुदाय 'पच्' है। सो उसे ही 'पच् पच्' ऐसा द्वित्व होगा। अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि होगी। शेष पूर्ववत् ही जानें॥

इयाय (=वह गया)

इण् गतौ	पूर्ववत् 'णल्' आकर, अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि एवं आयादेश होकर—
आय् णल्	लिटि धातोरन० एकाचो द्वे प्रथमस्य से द्वित्व प्राप्त, द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) से रूपातिदेश होकर—
इ आय् अ	अभ्यासस्यासवर्णे (६।४।७८), ह्रस्व (१।१।४२) से अभ्यास

के 'इ' को इयङ् आदेश होकर—

इयङ् आय् अ=इय् आय् अ=इयाय बना।।

आर (=वह गया)

ऋ गतौ	पूर्ववत् णल् आकर, तथा वृद्धि (७।२।११५ से) होकर
आर् अ	द्वित्व प्राप्त, द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) लगाकर रूपातिदेश हुआ।
ऋ आर् अ	उरत् (७।४।६६), हलादिः शेषः (७।४।६०),
अ आर	अत आदेः (७।४।७०) से अभ्यास को दीर्घ,
आ आर	अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।८७) से सवर्ण दीर्घ होकर
आर	बना।।

—:०:—

परि०—अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२)

अटिटिषति (=घूमना चाहता है)

अट	भूवादयो० (१।३।१), धातोः कर्मणः समा० (३।१।७),
अट् सन्	आर्धधातुकम्० (३।४।११४), आर्धधातुकस्ये० (७।२।३५),
अट् इट् सन्	आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५), आदेशप्रत्यययोः (८।३।५९),
अट् इ ष	सन्यङोः (६।१।९), अजादेर्द्वितीयस्य से सन्नन्त अटिष् समुदाय के द्वितीय एकाच् समुदाय टिष् को द्वित्व हुआ। 'अ' प्रथम था, अतः इस से द्वित्व नहीं हुआ।
अ टिष् टिष् अ	पूर्ववत् अभ्यास कार्य, एवं सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२)
अटि टिष् अ	से धातुसंज्ञा हुई। सो शप् तिप् आकर,

अटिटिष शप् तिप्=अटिटिषति बना।।

इसी प्रकार अश धातु से 'शिष् शिष्' द्विर्वचन होकर अशिशिषति बना है।। ऋ धातु से सन् आकर गुण रपरत्व, एवं इट् आगम होकर—'अर् इट् सन्' रहा। पूर्ववत् अजादि होने के कारण द्वितीय एकाच् समुदाय 'रिष्' को द्वित्व होकर—अ रिष् रिष् अ शप् तिप्=अरिरिषति बन गया।।

—:०:—

परि०—उभे अभ्यस्तम् (६।१।५)

ददति, यहाँ परि० १।१।१६ की प्रणिददति की सिद्धि के समान डुदाञ् धातु से झि एवं द्वित्वादि होकर—'द दा झि' रहा। अब यहाँ 'ददा' द्वित्व किये हुये समुदाय की अभ्यस्त संज्ञा होने से अदभ्यस्तात् (७।१।४) से झि के झ् को अत् आदेश हो गया। तब ददा अत् इ रहा। पुनः अभ्यस्त संज्ञा मानकर श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) से दा के आ का लोप होकर दद् अति=ददति बन गया।

ददत् में भी शतृ प्रत्यय को ददा अत् बनकर पूर्ववत् अभ्यस्त संज्ञा होने से आकार का लोप (६।४।११२ से) होकर—ददत् बन गया है।

दधतु में डुधाञ् धातु से परि० १।१।१६ के समान झि लोट् लकार में द्वित्वादि होकर—'दधा झि' रहा। पूर्ववत् अभ्यस्त संज्ञा होने से अदभ्यस्तात् (७।१।४) से अत् आदेश, एवं श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) से आकार लोप होकर—दध् अति रहा। एरुः (३।४।८६) लगकर दधतु बन गया।

—:०:—

परि०—जक्षित्यादयः षट् (६।१।६)

जक्षति (=वे सब खाते हैं)

जक्ष	भूवादयो० (१।३।१), (पूर्ववत् तिबाद्युत्पत्ति के सूत्र लगाकर)
जक्ष् शप् झि	अदिप्रभृतिभ्यः शपः (२।४।७२) प्रत्ययस्य लु० (१।१।६०)
जक्ष् झि	जक्षित्यादयः षट् से जक्ष की अभ्यस्त संज्ञा होकर, अदभ्यस्तात् (७।१।४) से झ् को अत् हो गया। यही अभ्यस्त संज्ञा का फल है। तो —
जक्ष् अत् इ=	जक्षति बना।

इसी प्रकार 'जागृ अत् इ', यहाँ इको यणचि (६।१।७४) लगकर जाग्रति (=वह सब जागते हैं) बना। दरिद्रा धातु से 'दरिद्रा अति' इस अवस्था में श्नाभ्यस्तयोरातः (६।४।११२) से आकारलोप होकर—दरिद्र् अति=दरिद्रति (=वे सब दरिद्र हैं) बन गया। चकास् धातु से चकासति (=वे प्रकाशित होते हैं)।

शासु धातु से शासति (=वे अनुशासन करते हैं) बनेगा। पूर्ववत् ही अभ्यस्त संज्ञा का प्रयोजन है॥

दीध्यते (=वे प्रकाशित होते हैं)

दीधीङ्	पूर्ववत् सब सूत्र लगकर आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५) यहाँ 'दीधी'
दीधी अत् अ	की अभ्यास-संज्ञा बिना किये ही, आत्मनेपदेष्वनतः (७।१।५) से अत् आदेश सिद्ध ही है, पुनः अभ्यस्त संज्ञा का फल अभ्यस्तानामादिः (६।१।१८३) से अभ्यस्त के आदि को स्वर करना है, सो अभ्यस्त का
दीधी अत् अ	आदि का 'ई' उदात्त हो गया।
दीध्‌ी अत अ	अनुदात्तं पदमेक० (६।१।१५२), एरनेकाचो० (६।४।८२), उदात्तादनुदात्त० (८।४।६५), स्वरितात्० (१।२।३९), टित आत्मनेपदानां (३।४।७९) लगकर
दीध्यते	बना॥

इसी प्रकार वेव्यते में भी जानें॥

दीध्यत् (=वह प्रकाशित हो रहा है), यहाँ दीधीङ् धातु से ही शतृ प्रत्यय व्यत्यय से (लटः शतृशा० ३।२।१२४ से शतृ प्रत्यय दीधीङ् धातु के आत्मनेपदी होने से प्राप्त नहीं था। क्योंकि आत्मनेपदी धातुओं से आत्मनेपदसंज्ञक तङानावात्मने० १।४।९९ से शानच् ही होता है। अतः व्यत्ययो बहुलम् ३।१।८५ से व्यत्यय से शतृ किया है। होकर—'दीधी शप् अत् सु' रहा। अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से शप् का लुक् हुआ। उगिदचां सर्व० (७।१।७०) से जो नुम् आगम प्राप्त था, उसका दीधी की अभ्यस्त संज्ञा होने से नाभ्यस्ताच्छतुः (७।१।७८) से निषेध हो गया॥ एरनेकाचो० (६।४।८२) लगकर दीध्यत् बन गया॥

—:०:—

परि०—तुजादीनां० (६।१।७)

तूतुजानः (=वृद्धि को प्राप्त हुआ)

तुज	भूवादयो० (१।३।१), धातोः (३।१।९१), छन्दसि लिट् (३।२।१०५)—

तुज् लिट् (१) लिटः कानज्वा (३।२।१०६) से कानच् आदेश लिट् के स्थान में हुआ।

तुज् कानच् स्थानिवदादेशोऽन० (१।१।५५), लिटि धातोर० (६।१।८),

तुज् तुज् आन पूर्ववत् अभ्यासकार्य होकर

तु तुज् आन प्रकृतसूत्र से अभ्यास को दीर्घ, एवं स्वाद्युत्पत्ति होकर

तूतुजानः बन गया ।।

इसी प्रकार 'मह पूजायाम्' धातु से मामहानः, डुधाञ् धातु से दाधानः बनेगा। 'डुमिञ् प्रक्षेपणे' धातु से लिट् लकार में पूर्ववत् तिप् के स्थान में णल्, अचो ञ्णिति (७।२।११५) से वृद्धि आयादेश होकर—'माय् णल्' रहा । द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) लगकर रूपातिदेश होकर—मि माय् अ रहा । अब प्रकृत सूत्र से दीर्घ होकर—मीमाय बना। यहाँ मीनाति० (६।१।४९) से प्राप्त आत्व का अभाव छान्दस है । तु धातु से तूताव, एवं 'धृञ् धारणे' धातु से दाधार भी इसी रीति से जान लें ।।

—:o:—

परि०—सन्यङोः (६।१।९)

सनन्त की सिद्धि परि० १।१।५७, परि० १।२।८, एवं परि० ६।१।२ आदि में बहुत जगह दिखा चुके हैं । सो सब प्रक्रिया उसी प्रकार है । जहाँ सेट् धातु होगी, वहाँ इट् आगम हो जायेगा । पच् धातु अनिट् है, सो इट् आगम न होकर, एवं च् को चोः कुः (८।२।३०) से क् होकर—पिपक्षति बना है । शेष पत्लृ धातु से पिपतिषति, ऋ से अरिरिषति (द्र०—परि० ६।१।२), उन्द धातु से उन्दिदिषति (द्र०—सूत्र ६।१।३) आदि पूर्ववत् ही जानें ।।

पापच्यते (=बार-बार पकाता है)

डुपचष् भूवादयो० (१।३।१), धातोरेकाचो हलादेः क्रिया० (३।१।२२),

पच् यङ्=य सन्यङोः (६।१।९), एकाचो द्वे प्रथमस्य (६।१।१) से यङन्त जो 'पच् य' एकाच् समुदाय उसे द्वित्व हुआ।

पच् य पच् य पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४), हलादिः शेषः (७।४।६०), दीर्घोऽकितः (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ हुआ।

पापच्य सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), धातोः (३।१।९१) पूर्ववत्

	सब सूत्र लगकर, एवं अनुदात्तङित-आत्मनेपदम् (१।३।१२) से आत्मनेपद का प्रत्यय 'त' आया।
पापच्य शप् त	टित-आत्मनेपदानां टेरे (३।४।७९), अचोऽन्त्यादि टि (१।१।६३), अतो गुणे (६।१।९४) लगकर
पापच्य अ ते	
पापच्यते	बना।

इसी प्रकार यज धातु से यायज्यते में जानें ॥

अटाट्यते (=पुनः-पुनः घूमता है)

अट-	भूवादयो० (१।३।१), अट् धातु के हलादि न होने में यहाँ पूर्वसूत्र (३।१।२२) से यङ् प्रत्यय नहीं प्राप्त था। तब यङ्विधौ सूचि-सूत्रिमूत्र्यट्यर्त्यशूर्णोतीनामुपसङ्ख्यानम् (वा० ३।१।२२) इस वार्त्तिक से यङ् प्रत्यय हुआ।
अट् यङ्=य	सन्यङोः, अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से यङन्त के द्वितीय एकाच् 'ट्य' को द्वित्व हुआ। पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४),
अ ट्य ट्य	हलादिः शेषः (७।४।६०),
अ ट[1] ट्य	दीर्घोऽकितः (७।४।८३) से अभ्यास को दीर्घ हुआ।
अ टा ट्य	सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से धातु-संज्ञा, तथा पूर्ववत् 'शप् त' आकर—
अटाट्यते	बना॥

अरार्यते (=पुनः-पुनः जाता है)

ऋ गतौ	पूर्ववत् ही ऋ धातु के हलादि न होने से वार्त्तिक से यङ् प्रत्यय हुआ।
ऋ यङ्=य	सार्वधातुकार्ध०, (७।३।८४) से यङ् को मानकर गुणप्राप्ति हुई। पर यङ् के ङित् होने से क्ङिति च (१।१।५) से

१. हलादिः शेषः अभ्यास का आदि हल् शेष रहे ऐसा कहता है। सो शेष हल् का लोप हो जाता है। अचों को तो कुछ कहता नहीं, अतः अचों का लोप नहीं होगा। सो यहाँ यङ् के 'य्' हल् का तो लोप हो गया है; पर यङ् के 'अ' का नहीं हुआ। वही 'अ' ट् में मिलकर "अटाट्य" बना है। यही बात अरार्यते में समझें॥

निषेध हो गया। तब यङि च (७।४।३०) से गुण हुआ,

उरण्रपरः (१।१।५०),

अर् य	सन्यङोः, अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) से 'द्वितीय एकाच् 'र्य' को द्वित्व प्राप्त हुआ। पर न न्द्राः संयोगादयः (६।१।३) से 'र्' को छोड़कर केवल 'य' को द्वित्व पाया। तब यकारपरस्य रेफस्य प्रतिषेधो न भवतीति वक्तव्यम् (वा० ६।१।३) इस वार्त्तिक से 'र्य' में जो यकारपरक रेफ उसको द्वित्व का प्रतिषेध नहीं हुआ। तो 'र्य' में
अ र्य र् य	द्वित्व होगा।
	पूर्ववत् हलादि शेष, एवं दीर्घोऽकितः (७।४।८३) आदि लगे।
अरार्य् शप् त	शेष सब पूर्ववत् होकर
अरार्यते	बना॥

प्रोर्णोनूयते (=वह आच्छादित करता है)

ऊर्णु अ	पूर्ववत् यहाँ भी वार्त्तिक से ही यङ् प्रत्यय आया।
प्र ऊर्णु यङ्	सन्यङोः, अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२), न न्द्राः संयोगादयः (६।१।३),
प्र ऊर् नु नु य	पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) से पूर्ववाले 'नु' की अभ्यास संज्ञा होकर, गुणो यङ्लुकोः (७।४।८२) से अभ्यास को गुण होकर अदेङ् गुणः (१।१।२),
प्र ऊर् नो नु य	हुआ,
	अकृत्सार्वधातुकयोः (७।४।२५) से नु के 'उ' को दीर्घ होकर,
प्र ऊ र्नोनूय	रषाभ्यां नो णः (८।४।१) से णत्व, तथा शेष सब पूर्ववत् होकर, तथा आद् गुणः (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर
प्रोर्णोनूयते	बना॥

—:o:—

परि०—चङि (६।१।११)

आदिटत् की सिद्धि परि० १।१।५८ में की है। सो उसी प्रकार अश धातु से

प्राशिशत्, तथा अर्द धातु से आर्दिदत् (=उसने पीड़ित कराया) बनेगा। नन्द्राः संयोगादयः (६।१।३) से अर्द धातु के रेफ को छोड़कर 'दि द' द्वित्व होकर आर्दिदत् बनेगा। शेष पूर्ववत् है॥

अपीपचत् (=उसने पकवाया)

डुपचँष्	भूवादयो० (१।३।१), पूर्ववत् अनुबन्ध लोप होकर,
पच् णिच्=इ	हेतुमति च (३।१।२६) से णिच्, तथा अत उपधायाः (७।२।११६), वृद्धिरादैच् (१।१।१) से वृद्धि होकर,
पाच् इ	सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२) से 'पाचि' की धातु-संज्ञा
पाचि लुङ्=ल	होकर, धातोः (३।१।६१), लुङ् (३।२।११०), प्रत्ययः, परश्च, च्लि लुङि, णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्त्तरि चङ् (३।१।४८) से चङ् आदेश होकर,
पाचि चङ् ल्	पूर्ववत् अङ्ग-संज्ञा होकर, लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडु० (६।४।७१), आद्यन्तौ टकितौ (१।१।४५) से अङ्ग के आदि में अट्
अट् पाचि चङ् ल्	आगम हुआ। णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप होकर,
अ पाच् चङ् ल्	हुआ।
अ पाच् अ ल्	णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः (७।४।१) से उपधा को ह्रस्वत्व हो गया,
अ पच् अ ल्	पूर्ववत् लकार के स्थान में तिप् आकर, इतश्च (३।४।१००),
अ पच् अ तिप्	अब चङि से द्वित्व होगया।
अ पच् पच् अ त्	पूर्वोऽभ्यासः, हलादिः शेषः (७।४।६०), सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे (७।४।९३) से सन्वद्भाव होकर सन्यतः (७।४।७९)
अ प पच् अ त्	से अभ्यास को इत्व हो गया।
अपिपचत्	दीर्घो लघोः (७।४।९४) से अभ्यास को दीर्घ होकर,
अपीपचत्	बन गया॥

इसी प्रकार पठ धातु से अपीपठत् बन गया॥ यद्यपि परि० १।४।१० में अचीकरत् की सिद्धि है, उसी के समान अपीपचत् है। तो भी हमने यहाँ स्पष्टार्थ पुनः कर दी है॥

—:o:—

परि०—ग्रहिज्यावयि० (६।१।१६)

गृहीतः गृहीतवान्—में निष्ठा परे रहते ग्रह को सम्प्रसारण तथा इट् आगम

आदि सब होकर—गृह् इ त रहा। ग्रहोऽलिटि दीर्घ: (७।२।३७) से इट् को दीर्घ होकर— गृहीत: गृहीतवान् पूर्ववत् बन गया ॥ गृह्णाति में ग्रह् धातु से शप्, तिप् पूर्ववत् होकर, शप् के स्थान में क्र्यादिभ्य: श्ना (३।१।८१) से श्ना हो गया। अब सार्वधातुकमपित् (१।२।४) से श्ना ङित् माना गया। तब प्रकृत सूत्र से ग्रह को सम्प्रसारण होकर—ग् ऋ अ ह् ना ति, सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४) लगकर गृह्नाति, अट्कुप्वाङ्० (८।४।२) से णत्व होकर—गृह्णाति बन गया।

यङ् में जरीगृह्यते की सिद्धि परि० ६।१।१९ के 'पापच्यते' के समान ही जानें। केवल यहां अभ्यास को रीगृदुपधस्य च (७।४।९०) से रीक् आगम, तथा यङ् के परे रहते सम्प्रसारण होना यही विशेष है। गृह् य, गृह् गृह् य=ग् गृह् य, उरत् (७।४।६६) लगकर गर् गृह् य=ज रीक् गृह् य शप् त=जरीगृह्यते बन गया।

जीन:, जिनाति, जेजीयते—ज्या धातु को निष्ठा परे सम्प्रसारण होकर, तथा निष्ठा के तकार को ल्वादिभ्य: (८।२।४४) से नत्व, एवं हल: (६।४।२) से दीर्घ होकर—जीन: जीनवान् बन गया। जिनाति जेजीयते—क्रमश: श्ना एवं यङ् में पूर्ववत् जानें ॥

ऊयतु: ऊयु: की सिद्धि परि० २।४।४१ में देखें ॥

विद्ध:—व्यध धातु में दो यण् हैं, तो न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् (६।१।३९) से सम्प्रसारण परे रहते पूर्व यण् को सम्प्रसारण का निषेध होने से परवाले यण् (य) को ही सम्प्रसारण हुआ, यही विशेष है। विध् त, झषस्तथोर्धो० (८।२।४०) से त् को ध् होकर—विध् ध्। झलां जश् झशि (८।४।५२) से ध् को द् होकर— विद्ध: बन गया है ॥

उष्ट: में वश् धातु से तस् आया। व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से श् को ष्, तथा १।२।४ से ङित् होकर प्रकृतसूत्र से सम्प्रसारण, तथा ष्टुत्व होकर—उष्ट: बन गया ॥

वृक्ण: वृक्णवान्—में निष्ठा परे रहते व्रश्च धातु से निष्ठा के तकार को नकार, ओदितश्च (८।२।४५) से नत्व होकर, तथा सम्प्रसारण होकर—वृश्च् न रहा। पुन: स्को: संयोगाद्योरन्ते च (८।२।२९) से सकार लोप, तथा चो: कु: (८।२।३०) से कुत्व होकर—'वृक् न' रहा। पूर्ववत् णत्व होकर—वृक्ण: वृक्णवान् बन गया।

यहां यह ध्यान रखना चाहिये कि व्रश्च् में वस्तुत: स् ही है। स्तो: श्चुना श्चु: (८।४।३९) से स् को श्चुत्व हुआ है। अत: स मानकर उसका लोप (८।२।२९ से) हो गया है ॥

वरीवृश्च्यते की सिद्धि यङन्त की सिद्धि के समान ही है। यहां अभ्यास को रीक् आगम रीगृदुपधस्य च (७।४।९०) सूत्र से ऋकार उपधा न होने के कारण नहीं हो सकता था। अतः रीगृत्वत इति वक्तव्यम् (वा० ७।४।९०) इस वार्त्तिक से हुआ है, यही विशेष है॥

पृष्टः पृष्टवान्—यहां झलादि निष्ठा (क्त, क्तवतु) प्रत्यय परे रहते च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९) से प्रच्छ धातु के 'च्छ्' के स्थान में श् होकर—प्रश् त, प्रश् तवत् रहा। अब व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से श् को ष्; तथा सम्प्रसारण होकर—'पृष् त, पृष् तवत्'=पृष्टः, पृष्टवान् बन गया॥

पृच्छति—आदि में छे च (६।१।७१) से तुक् आगम भी हुआ है। परीपृच्छ्यते की सिद्धि में सब पूर्ववत् ही जानें।

भृष्टः भृष्टवान्—में पृष्टः के समान ही ८।२।३६ से ज् को श्, तथा ष्टुत्व कार्य समझें। भृष्ट्, यहां सकार लोप स्कोः संयोगाद्यो० (८।२।२९) से हो ही जायेगा॥

भृज्जति, बरीभृज्ज्यते—में सब पूर्ववत् है। केवल यहां भ्रस्ज् के सकार को झलां जश् झशि (८।४।५२) से दकार होकर, पुनः श्चुत्व होकर जकार हो गया है। भ्रज्ज् शप् तिप्=भृज्जति बनता॥

परि०--णौ च संश्चङोः (६।१।३१)

शुशावयिषति (=बढ़ाने की इच्छा करता है)

टुओश्वि	भूवादयो० आदि सब सूत्र लगकर, हेतुमति च (३।१।२६),
श्वि णिच्=इ	सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), धातोः कर्मणः समानकर्त्तृकादि० (३।१।७), प्रत्ययः, परश्च,
श्वि इ सन्	णौ च संश्चङोः से सन्परक णि के परे रहते सम्प्रसारण, इग्यणः सम्प्रसारणम् (१।१।४४),
श् उ इ इ सन्	सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०४)
शु इ सन्	अचो ञ्णिति (७।२।११५), वृद्धिरादैच् (१।१।१), स्थानेऽन्तरतमः (१।१।४९) लगकर,

शो इ स — एचोऽयवायाव: (६।१।७५), आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५),
शावि इट् स — सन्यङो: (६।१।९), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८),
शु शावि इट् स — अब सन् परे रहते सार्वधातुकार्ध० (७।३।८४) से शावि के इ को गुण हुआ, अदेङ् गुण: (१।१।२),
शु शावे इ स — एचोऽयवायाव: (६।१।७५), आदेशप्रत्यययो: (८।३।५९),
शुशावयिष — सनाद्यन्ता धातव: (३।१।३२) से धातु संज्ञा होकर पूर्ववत् शप् तिप् आकर—
शुशावयिषति — बना ॥

इसी प्रकार शिश्वाययिषति की सिद्धि जानें। केवल यहाँ सम्प्रसारण नहीं होगा, यही विशेष है। श्वि णिच् सन्=श्वै इ इट् सन्=श्वायि इ स, द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) लगकर—"श्वि श्वायि इ स" बना। शेष सब पूर्ववत् हो ही जायेगा॥

अशूशवत् की सिद्धि परि० ६।१।११ के अपीपचत् के समान जानें। केवल यहाँ यही विशेष है कि 'अ श्वि णिच् चङ् ल्' इस अवस्था में प्रकृतसूत्र से सम्प्रसारण होकर 'शु' को 'औ' वृद्धि, तथा आवादेश हो गया। सो 'अ शाव् इ अ ल्' रहा। अब चङि (६।१।११), द्विर्वचनेऽचि (१।१।५८) लगकर—शु शाव द्वित्व हुआ। शेष परि० ६।१।११ के समान ही जानें। जब सम्प्रसारण नहीं हुआ, तो अशिश्वयत् पूर्ववत् बन गया। श्वि धातु को णि को मानकर वृद्धि (७।२।११५ से) तथा आयादेश होकर, णौ चङ्युपधाया ह्रस्व: (७।४।१) लगकर स्थानिवत् मानकर 'श्वि श्वय' द्वित्व हो गया। शेष कार्य पूर्ववत् होकर—अशिश्वयत् बन गया॥

—:०:—

परि०—हल्ङ्याब्भ्यो० (६।१।६६)

राजा तक्षा की सिद्धि भाग १, पृ० ७११; तथा कुमारी गौरी की पृ० ७७२, एवं भाग २ के पृ० ५२७ में देखें। शार्ङ्गरवी में शार्ङ्गरवादिभ्यो ङीन् (४।१।७३) से ङीन् प्रत्यय हुआ है। शेष 'कुमारी' के समान जानें। खट्वा बहुराजा की सिद्धि भाग २, पृ० ५२६, तथा कारीषगन्ध्या की पृ० ५२० में देखें॥

अबिभर्भवान् (=आपने पोषण किया)

भृञ्	पूर्ववत् लङ् लकार के सब कार्य होकर, तथा जुहोत्यादिभ्य: श्लु: (२।४।७५) लगकर, प्रत्ययस्य० (१।१।६०),
भृ ति	श्लौ (६।१।१०) से पूर्ववत् द्वित्व हुआ। उरत् (७।४।६६),
भृ भृ ति	उरण् रपर: (१।१।५०),
भर् भृ त्	हलादि: शेष: (७।४।६०), भृञामित् (७।४।७६), अभ्यासे चर्च (८।४।५३),
बि भृ त्	सार्वधातुकार्धधातुकयो: (७।३।८४), उरण्रपर: (१।१।५०) लगकर तथा अट् का आगम होकर,
अट् बिभर् त्	अपृक्त एकाल्प्रत्यय: (१।२।४१), हल्ङ्याब्भ्यो० से अपृक्त 'त्' का लोप हो गया, और
अबिभर्	बना। आगे भवान् पद रखकर
अबिभर्भवान्	बन गया॥

इसी प्रकार जागृ धातु से अजागर्भवान् बना। केवल अदादिगणस्थ धातु होने से यहाँ द्विर्व नहीं होता। तथा जाग्रोऽविचिण्णल्ङि० (७।३।८५) से गुण होता है॥

अभिनोऽत्र (=यहाँ तूने फाड़ा)

भिदिर्	पूर्ववत् लङ् लकार में सब कार्य होकर,
भिद् सिप्	रुधादिभ्य: श्नम् (३।१।७८), मिदचोऽन्त्यात्० (१।१।४६),
भि श्नम् द् स्	= भिन द स, अट् का आगम, हल्ङ्याब्भ्यो० से अपृक्त 'सि' का
अट् भिनद्	लोप होकर, तथा दश्च (८।२।७५) से द् को रु होकर,
अभिनर्	अत्यो रोरप्लुतादप्लुते (६।१।१०९),
अभिन उ अत्र	आद् गुण: (६।१।८४) से गुण एकादेश होकर,
अभिनो अत्र	एङ: पदान्तादति (६।१।१०५) से पूर्वरूप होकर
अभिनोऽत्र	बना॥

—:o:—

परि०—एङ्ह्रस्वात्० (६।१।६७)

हे अग्ने

अग्नि	पूर्ववत् प्रातिपदिक संज्ञादि होकर सम्बोधने च (२।३।४७) से सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति आई।

हे अग्ने ह्रस्वस्य गुणः (७।३।१०८),
हे अग्ने स् एङ्ह्रस्वात्० से स् का लोप होकर
हे अग्ने ॥
इसी प्रकार हे वायो में जानें ।

हे नदि, हे वधु — नदी वधू को सम्बुद्धि परे रहने अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः (७।३।१०७) से ह्रस्व होकर प्रकृतसूत्र से सम्बुद्धि का लोप होता है ।

हे कुण्ड — यहाँ सु को अतोऽम् (७।१।२४) से अम् कर देने के पश्चात्, अमि पूर्वः (६।१।१०३) से पूर्वरूप कर लेने पर हे कुण्डम् रहा । अब प्रकृतसूत्र से हल्मात्र जो सम्बुद्धि का (स्थानिवत् से) मकार है, उसका लोप हो जाता है ॥

—:०:—

परि०—बहुव्रीहौ० (६।२।१)

कार्ष्णोत्तरासङ्गः (=कृष्णमृगचर्म ऊपर बांधने का वस्त्रस्थानी है जिसको)

कृष्ण मृग को कहते हैं, 'उसका जो विकार' इस अर्थ में प्राणिरजतादिभ्योऽञ् (४।३।१५२) से अञ् प्रत्यय होकर कार्ष्ण बना है । कार्ष्णः उत्तरासङ्गो यस्य, यहाँ बहुव्रीहि समास करके कार्ष्णोत्तरासङ्गः बना । अब यहाँ समासस्य (६।१।२१७) से अन्तोदात्त की प्राप्ति में प्रकृतसूत्र ने पूर्वपदप्रकृतिस्वर विधान कर दिया । अतः कार्ष्ण के अञ्प्रत्ययान्त होने से ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१) से कार्ष्ण आद्युदात्त हो गया । शेष को निघात, तथा उदात्त से उत्तर अनुदात्त को स्वरित होकर—कार्ष्णोत्तरासङ्गः बना । आगे स्वरितात्संहितायां० (१।२।३९) से उत्तर सब अनुदात्तों को एकश्रुति हो गई ॥

—:—

यूपवलजः (=यूप सेना बल है जिसका)

यहाँ पूर्वपद यूप शब्द कुयुभ्याञ्च (उणा० ३।२७) इस उणादि से प प्रत्ययान्त है । इस सूत्र में उणा० ३।२५—२६ से दीर्घ, तथा नित् की अनुवृत्ति आ रही है । अतः नित् वत् होने से यूप शब्द ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१) से पूर्ववत् आद्युदात्त है । शेष सब प्रक्रिया पूर्ववत् जानें ॥

—:—

ब्रह्मचारिपरिस्कन्दः (=ब्रह्मचारी रथ का रक्षक है जिसका)

ब्रह्म उपपद रहते चर धातु से व्रते (३।२।८०) सूत्र से णिनि प्रत्यय ब्रह्म-

चारिन् शब्द में हुआ है। उपपद समास ब्रह्मचारिन् में होने से गतिकारकोप० (६।२।१३८) से उत्तरपद के प्रकृतिस्वर को बाधकर यहां णिनि (६।२।७९) से पूर्वपद-प्रकृतिस्वर प्राप्त हुआ। परन्तु प्रवृद्धा० (६।२।१४७) के आकृतिगण होने के कारण उससे 'चारिन्' अन्तोदात्त अर्थात् रि का इ उदात्त हो गया। तत्पश्चात् ब्रह्मचारिन् एवं परिस्कन्द का बहुव्रीहि समास करने से प्रकृतसूत्र से पूर्वपदप्रकृतिस्वर अर्थात् रि का इ ही उदात्त रह गया। शेष पूर्ववत् जाने ॥

स्नातकपुत्रः (=स्नातक पुत्र है जिसका)

स्नात शब्द से यावादिभ्यः कन् (५।४।२९) से कन् प्रत्यय हुआ है। यावादि गण में 'स्नात वेदसमाप्तौ' ऐसा पढ़ा है। अर्थात् वेदसमाप्ति अर्थ में स्नात शब्द से कन् हो। इस प्रकार स्नातक शब्द कन्प्रत्ययान्त होने से ञ्नित्यादिर्नित्यम् (६।१।१९१) से आद्युदात्त है। अतः बहुव्रीहि समास होने पर प्रकृतिस्वर से आद्युदात्त ही रहा ॥

अध्यापकपुत्रः (=अध्यापक पुत्र है जिसका)

यहां पूर्वपद अध्यापक शब्द में अधिपूर्वक णिजन्त इण् धातु है। उसके ण्वुल् (३।१।१३३) प्रत्ययप्राप्त होने से लिति (६।१।१८७) से प्रत्यय से पूर्व 'आ' को उदात्त है। पश्चात् गतिसमास होकर कृदुत्तरपदप्रकृतिस्वर में 'आ' ही उदात्त होगा। अध्यापि धातु भाग १, पृ० ८५३ के समान बना लें ॥

श्रोत्रियपुत्रः, यहां पूर्वपद स्थित श्रोत्रिय शब्द श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते (५।२।८४) सूत्र से नित्प्रत्ययान्त निपातित है, अतः पूर्ववत् आद्युदात्त है। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है ॥

मनुष्यनाथः (=मनुष्य नाथ=रक्षक है जिसका), यहां पूर्वपद मनुष्य शब्द मनोर्जातावञ्यतौ० (४।१।१६१) से यत्प्रत्ययान्त होने से तित्स्वरितम् (६।१।१७९) से अन्तस्वरित है। शेष पूर्ववत् जानें ॥

चित्रश्रवस्तमः, यहां 'चित्रं श्रवो यस्य स चित्रश्रवाः' ऐसा विग्रह करके बहुव्रीहि समास हुआ। चित्र शब्द प्रातिपदिक स्वर (फिट्० १) से अन्तोदात्त है। तत्पश्चात् सर्वनिघात तमप् प्रत्यय होकर—चित्रश्रवस्तमः बना ॥

—:o:—

परि०--तत्पुरुषे तुल्यार्थ० (६।२।२)

तुल्यश्वेतः

तुल्य शब्द नौवयोधर्म० (४।४।९१) से यत्प्रत्ययान्त होने से यतोऽनावः (६।१।२०७) से आद्युदात्त है। अतः प्रकृतसूत्र से प्रकृतिस्वर होकर यही स्वर रहा। इसी प्रकार तुल्यलोहितः आदि में जानें। सदृक्श्वेतः--में पूर्वपद सदृक् शब्द समानान्ययोश्चेति वक्तव्यम् (वा० ३।२।६०) इस वार्तिक से क्विन्प्रत्ययान्त है। अतः गतिकार० (६।२।१३८) से उत्तरपद को प्रकृतिस्वर है। समान को स भाव दृग्दृशवतुषु (६।३।८७) से हुआ है। इसी प्रकार अन्यों में जानें। सदृशश्वेतः यहाँ भी सदृश शब्द त्यदादिषु दृशो० (३।२।६०) से कञ्प्रत्ययान्त है। अतः सदृक्श्वेतः के समान स्वर हुआ॥

शङ्कुलाखण्डः

शङ्कुला में शङ्कुपूर्वक ला धातु से घञर्थे कविधानम्० (वा० ३।३।५८) इस वार्तिक से क प्रत्यय हुआ है। अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त शङ्कुला शब्द है। तृतीयातत्पुरुष समास तृतीया तत्कृता० (२।१।२९) से हुआ है॥

किरिकाणः, यहाँ पूर्वपदस्थ किरि शब्द में कृगृशॄपृकुटिभिदिछिदिभ्यश्च (उणा० ४।१४३) से 'इ' प्रत्यय, तथा इकार को कित्वत् भी हुआ है। अतः प्रत्ययस्वर से किरि अन्तोदात्त है। सो तृतीयातत्पुरुष समास करके पूर्वपद को प्रकृतिस्वर होने पर 'रि' ही उदात्त रहा॥

अक्षशौण्डः में अक्ष शब्द अशेर्देवने (उणा० ३।६५) से स प्रत्ययान्त है। अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। व्रश्चभ्रस्जसृ० (८।२।३६) से अश् धातु के श् को ष्, तथा षढोः कः सि (८।२।४१) से ष् को कत्व, एवं प्रत्यय सकार को मूर्धन्य (८।३।५९ से) होकर अक्ष बनता है॥

पानशौण्डः में पूर्ववत पान शब्द ल्युटप्रत्ययान्त होने से लिति (६।१।१८७) सूत्र से प्रत्यय से पूर्व 'पा' धातु को उदात्त है, अर्थात् आद्युदात्त है॥ दोनों उदाहरणों में समास सप्तमी शौण्डैः (२।१।३९) से हुआ है॥

शस्त्रीश्यामा, यहाँ शस्त्री शब्द दाम्नीशस० (३।२।१८२) से ष्ट्रन्प्रत्ययान्त है। अतः षित्वात् ङीषन्त होने से प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है ।। कुमुदश्येनी, यहाँ कुमुद शब्द को मोदते इति कुमुदः ऐसा विग्रह करके कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्यः (वा० ३।२।५) इस वार्त्तिक से क प्रत्यय हुआ है। अतः कृदुत्तरपद थाथघञ्० (६।२।१४३) से अन्तोदात्त, अथवा नब्विषयस्यानिसन्तस्य (फिट् २६) से आद्युदात्त है ।।

हंसगद्गदा में हंस शब्द में वृतवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः (उणा० ३।६२) से हन् धातु से स प्रत्यय हुआ है। अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है ।। न्यग्रोधपरिमण्डला, यहाँ न्यग्रोध शब्द से न्यक् रोहतीति ऐसा विग्रह करके पचाद्यच् प्रत्यय हुआ है। न्यग्रोधस्य च केवलस्य (७।३।५) इस सूत्र के न्यग्रोध निपातन से हकार को धकार और मध्योदात्त स्वर हो जाता है ।। दूर्वाकाण्डश्यामा में दूर्वाकाण्ड शब्द षष्ठी तत्पुरुष समासवाला है। अतः षट् च काण्डादीनि (६।२।१३४) से उत्तरपद को आद्युदात्त अर्थात् 'का' का आ उदात्त है। शरकाण्डगौरी में भी इसी प्रकार जानें। इन सब उदाहरणों में उपमानानि सामान्यवचनैः (२।१।५४) से समास होता है ।।

अव्यय के सम्पूर्ण उदाहरण अब्राह्मणः आदि में पूर्वपद निपाता आद्युदात्ताः (फिट्० ७९) से आद्युदात्त है ।।

मुहूर्त्तसुखम् आदि उदाहरणों में द्वितीयातत्पुरुष समास अत्यन्तसंयोगे च (२।१।२८) से हुआ है। पूर्वपद मुहूर्त्त शब्द पृषोदरादीनि यथो० (६।३।१०७) से अन्तोदात्त है ।। सर्वरात्रकल्याणी आदि में सर्वरात्र शब्द अहःसर्वैकदेश० (५।४।८७) से टच्प्रत्ययान्त है। अतः प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है ।।

भोज्योष्णम् भोज्यलवणम् में भोज्य शब्द ऋहलोर्ण्यत् (३।१।१२४) से ण्यत्प्रत्ययान्त होने से तित्स्वरितम् (६।१।१७९) से अन्तस्वरितवाला है। पानीयशीतम्, हरणीयशीतम् में पानीय हरणीय शब्द अनीयरप्रत्ययान्त हैं। अतः उपोत्तमं रिति (६।१।२११) से उपोत्तम ईकार ही उदात्त है ।।

सर्वत्र तत्पुरुषे तुल्यार्थ० से पूर्वपदप्रकृतिस्वर विधान होने से पूर्वपद की सिद्धि हमने दिखाई है। समासस्य (६।१।१२७) के सभी अपवाद हैं ।।

—:o:—

परि०--मात्रोपज्ञो० (६।२।१४)

भिक्षामात्रम्

मात्र शब्द यहाँ तुल्य प्रमाण अर्थ है। अतः अर्थ होगा—भिक्षायाः तुल्यप्रमाणं= भिक्षा के बराबर प्रमाण। षष्ठीतत्पुरुष समास अस्वपदविग्रह होकर होगा। अब पूर्वपद भिक्षा शब्द गुरोश्च हलः (३।३।१०३) से अप्रत्ययान्त है। अतः प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त है।

समुद्रमात्रम् में भी समुद्र शब्द पाटलापालङ्काम्बा० (फिट् २) से अन्तो-दात्त है॥

पाणिनोपज्ञम्—पणिनोऽपत्यमिति पाणिनः, यहाँ तस्यापत्यम् (४।१।९२) से अण् प्रत्यय हुआ है, अतः प्रत्ययस्वर से यह शब्द अन्तोदात्त है॥

व्याड्युपज्ञं, यहाँ व्यडस्यापत्यं ऐसा विग्रह करके व्याडि शब्द इञन्त (४।१।९५) है। अतः ञित्स्वर से (६।१।१९१) आद्युदात्त है। इसी प्रकार आपि-शल्युपज्ञं, यहाँ आपिशलि में समझें। सर्वत्र षष्ठीसमास हुआ है॥

आढ्योपक्रमम्, यहाँ आढ्य शब्द में आङ्पूर्वक ध्या धातु से घञर्थे क विधा-नम्० (वा० ३।३।५८) से क प्रत्यय हुआ है। अतः थाथघञ्क्ता० (६।२।१४३) से अन्तोदात्त शब्द है। ध् को ढ् पृषोदरादीनि यथो० (६।३।१०७) से होता है॥

दर्शनीयोपक्रमम्, यहाँ दर्शनीय शब्द के अनीयर्प्रत्ययान्त होने से उपोत्तमं रिति (६।१।२११) से उपोत्तम को उदात्त है॥ सुकुमारोपक्रमम्, यहाँ सुकुमार शब्द बहुव्रीहि समासवाला है। अतः नञ्सुभ्याम् (६।२।१७२) से अन्तोदात्त है॥

नन्दोपक्रमाणि, यहाँ नन्द शब्द पचाद्यच्प्रत्ययान्त होने से अन्तोदात्त है। ये शब्द भी षष्ठीसमासवाले हैं। नपुंसकलिङ्गता यहाँ उपज्ञोपक्रमं० (२।४।२१) से होती है॥

इषुच्छायम् में इषु शब्द इषेः किच्च (उणा० १।१३) से उप्रत्ययान्त है। इस सूत्र में नित् की अनुवृत्ति होने से नित्स्वर से इषु शब्द आद्युदात्त है॥ धनु-श्छायम्, यहाँ भी धनुः शब्द नब्विषयस्या० (फिट्० २६) से आद्युदात्त है। ये भी षष्ठीसमासवाले शब्द हैं। छाया बाहुल्ये (२।४।२२) से यहाँ नपुंसकलिङ्गता होती है॥

—:०:—

परि०—च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९)

प्रश्नः विश्नः की सिद्धि सूत्र ३।३।९१ भाग १ में देखें। यहाँ अनुनासिकादि नङ् प्रत्यय हुआ है ॥

स्योनः में सिव् धातु से बाहुलक से औणादिक (उणा० ३।६) न प्रत्यय होकर 'सिव् न' रहा। प्रकृतसूत्र से व् के स्थान में ऊठ् आदेश होकर—सि ऊठ् न = सि ऊ न रहा। अब यणादेश होकर स्यून, एवं गुण होकर स्योनः बन गया ॥

शब्दं पृच्छतीति=शब्दप्राट् (=शब्द पूछनेवाला)

शब्द उपपद रहते प्रच्छ धातु से यहाँ क्विब्वचिप्रच्छ्यायतस्तुकटप्रुजुश्रीणां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च (वा० ३।२।१७८) इस वार्त्तिक से क्विप् प्रत्यय एवं दीर्घत्व होकर 'शब्दप्राच्छ्' रहा। प्रकृतसूत्र से क्विप् परे होने से (प्रत्ययलक्षण मानकर) शत्व होकर शब्दप्राश्, एवं व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से श् को ष् होकर शब्दप्राष् बना। पश्चात् जश्त्व चर्त्व होकर—शब्दप्राट् बन गया ॥

गोवित्, यहाँ भी विच्छ धातु से क्विप् च (३।२।७६) से क्विप्, एवं पूर्ववत् सब होकर—गोविट् बन गया ॥

अक्षद्यूः—इसी प्रकार क्विप् च (३।२।७६) से दिव् धातु से क्विप् होकर, एवं वकार को प्रकृतसूत्र से ऊठ् यणादेश (६।१।७४) होकर—अक्षद्यूः, हिरण्यद्यूः बन गया ॥

पृष्टः पृष्टवान्—की सिद्धि परि० ६।१।१६ में देखें। झलादि क्त्वा प्रत्यय परे पृष्ट्वा की सिद्धि भी इसी प्रकार जानें। दिव् धातु से व् को ऊठ् होकर इसी प्रकार द्यूतः द्यूतवान् द्यूत्वा की सिद्धि जानें ॥

—:o:—

परि०—अयामन्ता० (६।४।५५)

कारयाञ्चकार हारयाञ्चकार की सिद्धि भाग १, परि० ३।१।४० के पाठयाञ्चकार के समान जानें ॥ गण्डयन्त: मण्डयन्त: में गडि मडि णिजन्त धातुओं से तृभूवहि० (उणा० ३।१२८) इस उणादि से झच् प्रत्यय होता है। इदित्वात् नुम् होकर गण्ड् णिच् झच् = गण्ड् इ झ रहा। झ को झोऽन्त: (७।१।३) से अन्तादेश होकर 'गण्ड् इ अन्त' बना। प्रकृतसूत्र से णि लोप को बाधकर अयादेश होकर— गण्डयन्त:, मण्डयन्त: बन गया ॥

स्पृहयालु:, यहाँ स्पृह चौरादिक अदन्त धातु से णिच् होकर स्पृहिगृहि० (३।२।१५८) से आलुच् प्रत्यय होता है। अतो लोप: (६।४।४८) से ह के 'अ' का लोप होने से लघूपधगुण नहीं होता। तथा णि को अय् होकर स्पृहयालु: बनता है ॥ स्पृहयाय्य:, यहाँ श्रुदक्षिस्पृहि० (उणा० ३।९६) से आय्य प्रत्यय होता है ॥

स्तनयित्नु:, यहाँ चुरादिगण की स्तन धातु से स्तनिहृषिपुषिगदि० (उणा० ३।२९) से इत्नु प्रत्यय हुआ है। अदन्त होने से अतो लोप: (६।४।४८) से न के 'अ' का लोप, तथा अयादेश होकर स्तनयित्नु: बन गया। अकार लोप होने से उपधावृद्धि करते समय अकारलोप के स्थानिवत् माने जाने से वृद्धि नहीं होती ॥

पोषयिष्णव: की सिद्धि 'पुष पुष्टौ' धातु से भाग १, परि० ३।२।१३७, पृ० ९०२ के पारयिष्णव: के समान जानें ॥

—:o:—

परि०—स्यसिच्० (६।४।६२)

चायिष्यते, यहाँ परि० १।४।१३, पृ० ८२५ के करिष्यति के समान सब कार्य जानें। अन्तर केवल इतना है कि यह भाव या कर्मवाच्य का प्रयोग है, वहाँ कर्तृवाच्य का था। प्रकृतसूत्र से चिण्वत् कार्य होने से जिस प्रकार चिण् को णित् मानकर वृद्धि होती है, उसी प्रकार यहाँ भी वृद्धि (७।२।११५ से) हो गई है। पश्चात् आयादेश, एवं भावकर्मणो: (१।३।१३) से आत्मनेपद होकर—चाय् इट् ष्य ते= चायिष्यते बन गया। पक्ष में जब चिण्वत् कार्य न हुआ, तो इट् आगम भी न होकर चेष्यते (भाव या कर्म में) बना। अचायिष्यत आदि भी लृङ् लकार में इसी प्रकार जानें ॥

दायिष्यते, यहाँ चिण्वत् कार्य होने से आतो युक् चिण्कृतोः (७।३।३३) से युक् आगम होता है। यथा 'प्रदायि' आदि में चिण् परे रहते होता है ॥

शामिष्यते शमिष्यते—'शामि' णिजन्त धातु से ('अजन्त मानकर') पूर्ववत् ही सिद्धि जानें। यहाँ जनिजृष्० ('धातुपाठ') से शामि के मित्संज्ञक होने से चिण्णमुलोर्दीर्घो० '(६।४।९३)' से विकल्प से दीर्घ होता है। दीर्घ करना ही यहाँ चिण्वद्भाव का फल है। इस प्रकार तीन रूप बनेंगे। प्रथम दीर्घ पक्ष में चिण्वद्भाव होकर शामिष्यते, अदीर्घ पक्ष में चिण्वद्भाव होकर शमिष्यते। तथा जब पक्ष में चिण्वद्भाव नहीं हुआ, तो शमयिष्यते बना। चिण्वद्भाव पक्ष में णेरनिटि (६।४।५१) से णि का लोप होता है। इस सूत्र से हुआ इट् णेरनिटि की दृष्टि में असिद्ध हो जाने से अनिडादि आर्धधातुक परे मिल ही जाता है। चिण्वद् अभाव पक्ष में णि को गुण अयादेश होकर—शमयिष्यते बन ही जायेगा ॥

घानिष्यते, यहाँ चिण्वद्भाव होने से हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु (७।३।५४) से ह् को कुत्व हो जाता है, यथा चिण् परे णित् मानकर हो जाता है ॥

ग्राहिष्यते में चिण्वद्भाव पक्ष में अत उपधायाः (७।२।११६) से वृद्धि होगी। चिण्वद् अभाव पक्ष में आर्धधातुकस्येड्० (७।२।३५) से हुये इट् को ग्रहोऽलिटि दीर्घः (७।२।३७) से दीर्घ होता है। प्रकरणस्थ इट् को ही इस सूत्र से दीर्घ होता है। अतः प्रकृतसूत्र से हुये इट् को इस सूत्र से दीर्घ नहीं होता। इसलिये चिण्वद्भाव पक्ष में दीर्घ नहीं हुआ है ॥

दर्शिष्यते—दृश को चिण्वद्भाव विधान इट् करने के लिये ही है। इट् होने पर अझलादि होने से सृजिदृशो० (६।१।५७) से अम् आगम नहीं होता। चिण्वद् अभाव पक्ष में सृजिदृशो० (६।१।५७) से अम् आगम, एवं व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से श् को ष्, तथा षढोः कः सि (८।२।४१) से ष् को क् होकर— द्रक्ष्यते बनेगा ॥

इसी प्रकार सर्वत्र सिच् सीयुट् तास् परे रहते भी सिद्धि की प्रक्रिया समझते जायें। एवं चिण्वद्भाव का पूर्वोक्त फल जान लें ॥

दायिषाताम् की सिद्धि परि० १।२।१७, पृ० ७७२ के अदित के समान जानें ॥

घानिषाताम्, यहाँ आत्मनेपदे० (२।४।४४) से हन् को विकल्प से वध आदेश होता है। घानिषाताम्, यहाँ वधादेश के अभाव में चिण्वद्भाव पक्ष में पूर्ववत् कुत्व हो जायेगा ॥

अदृक्षाताम्, यहाँ लिङ्सिचा० (१।२।११) से सिच् को कित् होने से गुण, एवं अम् आगम (६।१।५७ से) नहीं होता ॥

चायिषीष्ट आदि में जैसे भाग १, परि० १।२।११ में लिङ् लकार में सीयुट् आगम करके सिद्धियाँ दिखाई हैं, उसी प्रकार प्रक्रिया जान लें। शेष चिण्वद्भाव के विशेष कार्य पूर्ववत् ही हैं। इसी प्रकार तास् परे के उदाहरण भी समझ लें, कोई विशेष नहीं है॥

महाभाष्य में चिण्वद्भाव के प्रयोजन का परिगणन कर दिया है। जो इस प्रकार है—

"चिण्वद् वृद्धिर्युक्च हन्तेश्च घत्वं दीर्घश्चोक्तो यो मितां वा चिणीति"। इन सभी प्रयोजनों का दिग्दर्शन हमने पूर्व कर ही दिया है॥

—:०:—

परि०—सूर्यतिष्या० (६।४।१४९)

सौरी बलाका

सूर्येण एकदिक्, ऐसा विग्रह करके सूर्य शब्द से तेनैकदिक् (४।३।११२) से तद्धितविहित अण् प्रत्यय हुआ। आदि अच् को वृद्धि, एवं अण् परे रहते यस्येति लोप होकर 'सौर्य् अ' रहा। पश्चात् टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् होकर 'सौर्य ई' रहा। अब पुनः 'ई' परे अण् के अकार का लोप होकर 'सौर्य् ई' रहा। पश्चात् जब प्रकृतसूत्र ने सूर्य-सम्बन्धी उपधा यकार का लोप करने को कहा, तो 'ई' परे रहते जो अकार लोप हुआ था, वह असिद्धवद० (६।४।२२) से य् लोप की दृष्टि में असिद्ध माना गया, अतः उपधा (१।१।६४) य् मिल गया। सो य् लोप होकर सौर् ई= सौरी बन गया॥[1]

तैषम्, यहाँ तिष्य से नक्षत्रेण युक्तः० (४।२।३) से अण्, तथा टिड्ढाणञ्० (४।१।१५) से ङीप् होता है। पूर्ववत् यस्येति लोप, एवं असिद्धत्व करके उपधा यकार का लोप भी जानें। सौरी के समान तैषी में भी समझें॥

आगस्ती—अगस्त्यस्यापत्यं स्त्री आगस्ती, यहाँ ऋष्यन्धक० (४।१।११४) से अण्, तथा पूर्ववत् ङीप् जानें। शेष सौरीवत् जानें। आगस्तीयम्, यहाँ अणन्त आगस्त्य शब्द से वृद्धाच्छः (४।२।११३) से छ हुआ है। शेष पूर्ववत् जानें॥

मत्सी, यहाँ मत्स्य से षिद्गौरादि० (४।१।४१) से ङीष् प्रत्यय हुआ है। मत्स्य ई=मत्स्य् ई, अकार असिद्धत्व होकर य् लोप हो गया, तो मत्सी बन गया॥

—:०:—

१. अण् परे जो यस्येति लोप हुआ था, वह व्याश्रय होने से असिद्ध नहीं होता, अतः ई परेवाला ही असिद्ध होगा॥

अथ सप्तमाध्याय-परिशिष्टम्

परि०—ङे प्रथमयोरम् (७।१।२८)

तुभ्यम्, मह्यम्

तुभ्यम् मह्यम्—यहाँ ङे परे रहते मपर्यन्तस्य (७।२।९१) से युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त अर्थात् युष्म् अस्म् को तुभ्यमह्यौ ङयि (७।२।९५) से तुभ्य मह्य आदेश होकर 'तुभ्य अद् ङे, मह्य अद् ङे' रहा। तब शेष बचे अद् भाग का लोप शेषे लोपः (७।२।९०) से हो गया। एवं ङे को अम् आदेश होकर—तुभ्यम् मह्यम् बन गया। अमि पूर्वः (६।१।१०३) से पूर्वरूप सर्वत्र हो ही जायेगा॥

त्वम् अहम्—यहाँ भी त्वाहौ सौ (७।२।९४) से युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त को क्रमशः त्व अह आदेश हो गये। शेष प्रक्रिया पूर्ववत् है॥

युवाम् आवाम्—प्रथमा द्विवचन में युवावौ द्विवचने (७।२।९२) से मपर्यन्त को युव आव आदेश क्रमशः होते हैं। प्रथमायाश्च द्विवचने० (७।२।८८) से युष्मद् अस्मद् को आकारादेश भी कहा है। अतः अवशिष्ट अद् के अन्तिम अल् (१।१।५१) द् के स्थान में आत्व होकर—'युव अ आ औ, आव अ आ औ' रहा। पश्चात् सवर्ण दीर्घ (६।१।९७ से) होकर, एवं 'औ' को प्रकृत सूत्र से अम् होकर—युवाम् आवाम् बन गया॥

यूयम् वयम्—बहुवचन जस् परे पूर्ववत् युष्मद् अस्मद् के मपर्यन्त को क्रमशः यूयवयौ जसि (७।२।९३) से यूय वय आदेश हो गये। शेष सब पूर्ववत् होकर, तथा प्रकृतसूत्र से अम् होकर—यूयम् वयम् बन गया॥

त्वाम् माम्—यहाँ अम् विभक्ति परे रहते त्वमावेकवचने (७।२।९७) से त्व म आदेश पूर्ववत् मपर्यन्त युष्म् अस्म् को होते हैं। द्वितीयायां च (७।२।८७) से पूर्ववत् आत्व भी होकर 'त्व अ आ अम्, म अ आ अम्' रहा। पूर्ववत् प्रकृतसूत्र से अम् को अम् आदेश, तथा अमि पूर्वः (६।१।१०३) लगकर—त्वाम् माम् बन गया॥

युवाम् आवाम्—यहाँ द्वितीया द्विवचन की औट् विभक्ति परे रहते पूर्ववत् प्रथमा द्विवचन के युवाम् आवाम् के समान ही सब कार्य युव आव आदेश इत्यादि जानें॥

—:o:—

परि०—लोपस्त० (७।१।४१)

अदुह की सिद्धि ७।१।८ सूत्र में की है, सो वहीं देखें ॥ दुहाम्—यह दुह् धातु से लोट् एकवचन का रूप है। दुह् शप् त, यहाँ अदिप्रभृतिभ्यः० (२।४।७२) से शप् का लुक्, तथा 'त' की टि को टित आत्मने० (३।४।७९) से एत्व होकर दुह् ते रहा। प्रकृतसूत्र से 'त्' लोप होकर दुह् ए रहा। पश्चात् आमेतः (३।४।९०) से ए को आम् होकर 'दुहाम्' बन गया ॥ शये लट् लकार के एकवचन का रूप है। सो पूर्ववत् शी शप् त रहा। शप् का लुक् (२।४।७२), तथा पूर्ववत् टि को एत्व, एवं शी को गुण होकर शे ते रहा। त का लोप होकर शे ए=शय् ए=शये बन गया ॥

—:०:—

परि०—तितुत्रतथ० (७।२।९)

तन्तिः—में क्तिच्क्तौ० (३।३।१७४) से तन् धातु से क्तिच् प्रत्यय हुआ है। यहाँ अनुदात्तोपदेश० (६।४।३७) से जो अनुनासिकलोप प्राप्त था, तथा अनुनासिकस्य० (६।४।१५) से दीर्घ प्राप्त था, उन दोनों का निषेध न क्तिचि दीर्घश्च (६।४।३९) से हो जाता है ॥ दीप्तिः—में स्त्रियां क्तिन् (३।३।९४) से क्तिन् प्रत्यय हुआ है ॥ सक्तुः—यहाँ सच धातु से सितनिगमिमसिसच्य० (उणा० १।६९) से तुन् प्रत्यय हुआ है। चोः कुः (८।२।३०) से कुत्व हो ही जायेगा ॥ पत्रम्—यहाँ दाम्नीशस० (३।२।१८२) से ष्ट्रन् प्रत्यय। तथा तन्त्रम्, यहाँ तन धातु से सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् (उणा० ४।१५९) से ष्ट्रन् प्रत्यय हुआ है ॥

हस्तः लोतः पोतः धूर्तः में हसिमृग्रिण्वामिद० (उणा० ३।८६) से तन् प्रत्यय हुआ है ॥

काष्ठम् कुष्ठः—में हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् (उणा० २।२) से क्थन् प्रत्यय हुआ है। कुष् क्थन्=कुष् थ, ष्टुत्व होकर कुष्ठः बन गया। काश् क्थन्= काश् थ, यहाँ व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से श् को ष् होकर ष्टुत्व हुआ है, सो काष्ठम् बन गया ॥ कुक्षिः—यहाँ प्लुषिशुषिकुषिभ्यः क्सिः (उणा० ३।१५५) से क्सि प्रत्यय हुआ है। कुष् क्सि=कुष् सि, षढोः कः सि (८।२।४१) से कत्व, तथा आदेशप्र० (८।३।५९) से षत्व होकर—कुक्षिः बन गया ॥ इक्षुः—यहाँ इष धातु से इषेः क्सुः (उणा० ३।१५७) से क्सु प्रत्यय हुआ है, शेष पूर्ववत् समझें ॥ अक्षरम् यहाँ अशेः सरन् (उणा० ३।७०) से सरन् प्रत्यय हुआ है। अश् सरन्=अश् सर, यहाँ व्रश्चभ्रस्ज० से श् को ष्, तथा स को भी ष पूर्ववत् होकर—अक्षरम् बन गया ॥

शल्कः, यहाँ 'शल गतौ' धातु से इण्भीकापा० (उणा० ३।४३) से कन् प्रत्यय हुआ है ।। वत्सः, यहाँ वद धातु से वृतृवदिवचिवसि० (उणा० ३।६२) से 'स' प्रत्यय हुआ है । खरि च (८।४।५४) से द् को त् हो ही जायेगा ।।

—:०:—

परि०–सनीवन्तर्ध० (७।२।४९)

दिवु धातु से इट् पक्ष में दिदेविषति की सिद्धि जानें । अनिट् पक्ष में दुद्यूषति बनेगा—

दुद्यूषति

दिव् सन् पूर्ववत् होकर, सनीवन्तर्ध० से इवन्त होने से पक्ष में इट् नहीं हुआ । तब हलन्ताच्च (१।२।१०) से सन् को कित्वत् होकर, च्छ्वोः शूडनुनासिके च (६।४।१९) से व् को ऊठ् हुआ ।

दि ऊठ् सन्=दि ऊ स, इको यणचि (६।१।७४)

द्यू स सन्यङोः (६।१।९) से द्वित्व होकर

द्यूस द्यूस हलादिः शेषः (७।४।६०), एवं ह्रस्वः (७।४।५९) लगकर

दुद्यूष पूर्ववत् शप् तिप् आकर

दुद्यूषति बना ।।

इसी प्रकार सिव् से सुस्यूषति बना ।।

अर्दिधिषति

ऋध् सन् प्रकृत सूत्र से पक्ष में इट्, तथा लघूपध गुण होकर

अर्ध् इ स अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२), न न्द्राः संयोगादयः (६।१।३) लगकर प्रथम अक्षर, एवं रेफ् को भी छोड़कर 'धिस्' द्वित्व हुआ ।

अर् धिस् धिस् अ अभ्यासकार्य होकर—

अर् दि धिष अ ति=अर्दिधिषति बना ।।

अनिट् पक्ष में, ईर्त्सति बनेगा—

ईर्त्सति

ऋध् सन्=ऋध् स सनीवन्तर्ध० से इडभाव पक्ष में हलन्ताच्च से सन् कित् होकर

गुण का प्रतिषेध होता है। आञ्जप्यृधामीत् (७।४।५५), उरण्रपरः (१।१।५०) से ऋध् अङ्ग के अच् को ईत्व हो गया,

ईर् ध् स — अजादेर्द्वितीयस्य से 'ध्स' को द्वित्व होकर—

ईर् धस ध् स — हलादिः शेषः (७।४।६०), सन्यतः (७।४।७९), अभ्यासे

ईर् दि ध् स — चर्च (८।४।५३), अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७।४।५८)

ईर् घ् स — खरि च (८।४।५४) से चर्त्व होकर—

ईर् त् स शप् तिप्=ईर्त्सति बना ॥

बिभ्रञ्जिषति

भ्रस्ज सन् — प्रकृतसूत्र से पक्ष में इट् आगम, एवं द्वित्वादि होकर—

भ्रस्ज् भ्रस्ज् इ स=ब भ्रस्ज् इ स, सन्यतः (७।४।७९)

बिभ्रस्जि ष शप् तिप्, झलां जश् झशि (८।४।५२)

बिभ्रद् जिष् अ ति, स्तोः श्चुना श्चुः (८।४।३९) लगकर

बिभ्रज्जिषति बना ॥

अनिट् पक्ष में बिभ्रक्षति रूप बनेगा। 'बि भ्रस्ज् स', यहां स्कोः संयो० (८।२।२९) से सकार लोप, तथा व्रश्चभ्रस्ज० (८।२।३६) से ज् को ष्, एवं षढोः कः सि (८।२।४१) से ष् को क् होकर बिभ्रक् ष अ ति=बिभ्रक्षति बन गया ॥

इट् पक्ष में एक बार भ्रस्जो रोपधयो० (६।४।४७) से रम् आगम होकर— बि भ् अ रम् ज् इ स=बिभर् ज् इ ष रहा। शप् तिप् आकर बिभर्जिषति बन गया। अचो रहाभ्यां० (८।४।४५) से द्वित्व होकर बिभर्ज्जिषति बनेगा ॥

अनिट् पक्ष में भी जब पक्ष में रम् आगम हुआ, तो सकार लोपादि सब बिभ्रक्षति के समान होकर बिभर्क्षति रूप बन गया। केवल यहां रम् आगम ही विशेष है। इस प्रकार इट् पक्ष बिना रम् आगम, इट् पक्ष रम् आगम, अनिट् पक्ष बिना रम् का, एवं अनिट् पक्ष रम् आगम का ये चार रूप इट् एवं रम् दोनों का विकल्प होने से सिद्ध हुये ॥

दम्भ धातु से इट् पक्ष में दिदम्भिषति बनेगा। अनिट् पक्ष में धिप्सति धीप्सति दो रूप बनगे—

धिप्सति

दम्भ सन् — दम्भ इच्च (७।४।५६) से अच् को इत् होकर

विम्भ् स — हलन्ताच्च (१।२।१०) से सन् को कित्वत् होने से अनिदितां हल० (६।४।२४) से अनुनासिक लोप,
विभ् स — तथा पूर्ववत् द्वित्व, एवं अभ्यास कार्य होकर
वि दिभ् स — अत्र लोपोऽभ्यासस्य (७।४।५८),
धिभ् स — एकाचो बशो भष्० (८।२।३७), खरि च (८।४।४४)
धिप् स शप् तिप् = धिप्सति बना ।।

जब दम्भ इच्च (७।४।५६) से ईकारादेश होगा, तो इसी प्रकार सब होकर धीप्सति प्रयोग बनेगा ।।

श्रिञ् से इट् पक्ष में 'उत् श्रे इ ष' = उत् शि श्रयि ष रहा । शश्छोऽटि (८।४।६२), एवं स्तोः श्चुना० (८।४।३९) लगकर उच्छिश्रयिषति बन गया । अनिट् पक्ष में इको झल् (१।२।९) से कित्व, एवं अज्झनगमां० (६।४।१६) से दीर्घत्व होकर—उच्छिश्रीषति बन गया ।।

सिस्वरिषति में स्वृ स्, द्वित्व एवं अभ्यास को उरत् (७।४।६६), उरण्रपरः (१।१।५०) लगकर स्वर् स्वर् इ ष रहा । सन्यतः (७।४।७९) से इत्व, हलादि शेष होकर सिस्वरिषति बन गया । अनिट् पक्ष में अज्झन० से दीर्घ, उदोष्ठ्यपूर्वस्य (७।१।१०२) से स्वृ को उत्व रपरत्व, तथा स्वूर्ष् स्वूर्ष् द्वित्व, एवं हलि च (८।३।७७) से दीर्घ होकर—सुस्वूर्षति बन गया ।।

इट् पक्ष यियविषति में ओः पुयण्ज्यपरे (७।४।८०) से अभ्यास को इत्व हुआ है ।।

ऊर्णुञ् से इट् पक्ष में गुण इत्यादि होकर प्रोर्णुनविषति बना । जब विभाषोर्णोः (१।२।३) से पक्ष में सन् प्रत्यय ङित् हुआ, तो गुण न होकर अचि श्नुधातु० (६।४।७७) से उवङ् होकर—प्रोर्णुनुविषति बना । अनिट् पक्ष में प्रोर्णुनूषति बन गया। सर्वत्र अजादेर्द्वितीयस्य (६।१।२) लगकर नुस् नुस् द्वित्व होगा ।।

स्वादिगणस्थ भृञ् धातु से इट् पक्ष में बिभरिषति, तथा अनिट् पक्ष में पूर्ववत् उत्व रपरत्व होकर—बुभूर्षति बनेगा ।।

णिजन्त ज्ञा धातु से अर्त्तिह्रीव्ली० (७।३।३६) से पुक् आगम होकर ज्ञपि धातु बनी । ततः सन् होकर इट् पक्ष में जिज्ञपयिषति बनेगा । अनिट् पक्ष में अत्र लोपो० (७।४।५८) से अभ्यासलोप तथा आप्ज्ञप्यृधामीत् (७।४।५५) से अङ्ग के अच् को ईत्व होकर—ज्ञीप्सति बन गया ।।

सन् धातु से अनिट् पक्ष में जनसनखनां० (६।४।४२) से आत्व होकर 'स स आ स = सि सा स = सिषासति' बन गया ।।

—:०:—

अथ अष्टमाध्याय-परिशिष्टम्

परि०—निपातैर्यद्यदि० (८।१।३०)

करोति—करोति पद प्रत्ययस्वर से मध्योदात्त है। कर् उ ति, यहाँ तिप् अनुदात्तौ सुप्पितौ (३।१।४) से अनुदात्त, एवं कर् को 'अ' अनुदा० (६।१।१५२) से अनुदात्त है। केवल विकरण सतिशिष्ट० (वा० ६।१।१५२) से उदात्त है। अतः उदात्तादनु० (८।४।६५) से 'ति' स्वरित हो गया ॥

पचति की स्वरसिद्धि परि० ३।१।४ में देखें ॥

पताम —पताम पत्लृ धातु के लेट उत्तम पुरुष का रूप है। पत् शप्, मस्, यहाँ स उत्तमस्य० (३।४।९८) से सलोप, तथा लेटोऽडाटौ (३।४।९४) से हुये आट् आगम को अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।९७) से दीर्घ होकर पताम बना। अब यहाँ मस् लसार्वधातुक को तास्यनुदात्ते० (६।१।१८०) से अनुदात्त होकर, तथा शप् को पित् होने से अनुदात्तत्व (३।१।४ से) होकर पताम धातुस्वर (६।१।१५५) से आद्युदात्त है ॥

भुङ्क्ते—भुङ्क्ते की सिद्धि सूत्र १।३।६६ में देखें। स्वरसिद्धि इस प्रकार है— 'ते' को पूर्ववत् लसार्वधातुक अनुदात्तत्व (६।१।१८० से) करके, जब प्रत्ययस्वर से उदात्त 'श्नम्' का लोप श्नसोरल्लोपः (६।४।१११) से किया, तो अनुदात्तस्य च यत्रो० (६।१।१५५) से 'ते' उदात्त हो गया ॥

अधीते—अधिपूर्वक इङ् धातु से अधीते, यहाँ तास्यनुदात्ते० (६।१।१८०) सूत्र में 'अह्नविङो:' प्रतिषेध करने से लसार्वधातुक अनुदात्त न होकर 'त' प्रत्ययस्वर से उदात्त हो गया। शेष अनुदात्तं पद० (६।१।१५२) से अनुदात्त हो ही जायेगा ॥

मरिष्यति—'मृङ् प्राणत्यागे' से लृट् में मरिष्यति की सिद्धि परि० १।४।१३ के करिष्यति के समान है। स्य यहाँ प्रत्ययस्वर से उदात्त है। शेष को अनुदात्त एवं उदात्त से उत्तर अनुदात्त तिप् को (८।४।६५ से) स्वरित हो गया ॥

सर्वत्र तिङ्ङतिङः (८।१।२८) से सर्वानुदात्तत्व की प्राप्ति थी, यथाप्राप्त स्वर हो गये ॥

वैदिक उदाहरण 'स्याम्', यहाँ अस धातु से लिङ् लकार अम् (मिप् को) यासुट् आगम, तथा श्नसो० (६।४।१११) से अकारलोप हुआ है। यासुट् परस्मैपदे० (३।४।१०३) में यासुट् को उदात्त कहा है। अतः स्याम् पद उदात्त रहा।

यदी कृथः—यहाँ 'यदि' निपात को निपातस्य च (६।३।१३४) से दीर्घ हुआ है। कुरुथ: के अर्थ में कृथ: कृ धातु से थस् में बना है। बहुलं छन्दसि (२।४।७३) से शप् का लुक् होने से उसके स्थान पर होनेवाला 'उ' विकरण नहीं हुआ। प्रत्यय-स्वर से अन्तोदात्त यह शब्द है ॥

चकृमा—यह कृ धातु के लिट् लकार के मस् का रूप है। अत: प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। अन्येषा० (३।३।१३७) से दीर्घ हुआ है। मस् को म आदेश परस्मैपदानां० (३।४।८२) से हो ही जायेगा। महर्षि दयानन्द सरस्वती ने कुर्याम के अर्थ में चकृम माना है ॥

भवन्ति—यहाँ अनुदात्त शप् के अदुपदेश होने से अन्ति को तास्यनुदात्तेन्ङिद० (६।१।१८०) से अनुदात्त हो गया। धातुस्वर से आद्युदात्त है ॥

आसन्—अस् धातु के लङ् प्रथम पुरुष बहुवचन का रूप है। यहाँ आट् आगम उदात्त हुआ है, सो आद्युदात्त पद है ॥

—:o:—

परि०–एकाचो बशो० (८।२।३७)

भोत्स्यते—बुध धातु से लृट् लकार में सब कार्य होकर 'बुध् स्य त' रहा। बुध धातु एक अच्वाला, एवं झष् प्रत्याहारान्त है। अत: उसके अवयव बश् के स्थान में भष् प्राप्त हुआ, जो कि स्थानेऽन्तरतम: (१।१।४९) से अन्तरतम अर्थात् ओष्ठ स्थानी ब के स्थान में ओष्ठस्थानी भ हुआ, सो 'भोध् स्य त' रहा। खरि च (८।४।५४) से ध् को त् होकर—भोत्स्यते बन गया ॥

अभुद्ध्वम्—बुध से लुङ् में 'अ बुध् सिच् ध्वम्' रहा। धि च (८।२।२५) से सिच् के स् का लोप, तथा प्रकृतसूत्र से बश् को भष् होकर अभुध् ध्वम् रहा। झलां जश्० (८।४।५२) से जश्त्व होकर—अभुद्ध्वम् बन गया। यहाँ बुध् को गुण लिङ्-सिचावात्म० (१।२।११) से सिच् को कित् होने से नहीं होता, ऐसा समझें ॥

अर्थभुत् में क्विप् प्रत्यय (३।२।७६ से) हुआ है। शेष बश् को भष्, एवं ध को चर्त्व त् पूर्ववत् ही जानें ॥

निघोक्ष्यते—यहाँ भी गुह धातु के लृट् में 'नि गोह् स्य त' रहा। हो ढः (८।२।३१) से ह् को ढ्, तथा बश् ग् को भष् होकर 'निघोढ् स्य त' रहा। षढोः कः सि (८।२।४१) से ढ् को क् होकर निघोक् स्य ते, षत्व होकर—निघोक्ष्यते बन गया ॥

न्यघूढ्वम्—यह लुङ् का रूप है, सो पूर्ववत् 'नि अ गुह् च्लि ध्वम्' रहा। शल इगुपधादनिटः क्सः (३।१।४५) से च्लि को क्स होकर 'न्य गुह् क्स ध्वम्' रहा। लुग्वा दुहदिह० (७।३।७३) से 'क्स' का लुक् होकर 'न्य गुह् ध्वम्' रहा। हो ढः (८।२।३१) से ह् को ढ् होकर 'न्य घुढ् ध्वम्' रहा। ष्टुना ष्टुः (८।४।४०) लगकर ध्वम् के ध् को ढ् तथा ढो ढे लोपः (८।३।१३) से एक ढकार का लोप होकर न्यघुढ्वम् रहा। ढ्रलोपे पूर्वस्य० (६।३।१०९) से दीर्घ होकर—न्यघूढ्वम् बन गया ॥

पर्णघुट्—में इसी प्रकार क्विप् तथा भष् एवं ह् को ढ्, तथा झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से जश्त्व एवं चर्त्व हुआ है ॥

धोक्ष्यते—यहां दुह् के ह् को दादेर्धातोर्घः (८।२।३२) से घ् होकर 'दुघ् स्य त' रहा। प्रकृतसूत्र से बश् द् को भष् ध् होकर, एवं घ् को चर्त्व (८।३।५५ से) होकर धोक् स्य ते, षत्व होकर—धोक्ष्यते बन गया ॥

अधुग्ध्वम्—लुङ् में इसी प्रकार ह् को घ् तथा पूर्ववत् च्लि को क्स होकर 'अ धु घ् क्स ध्वम्' रहा। क्स का पूर्ववत् लुक्, तथा घ् को जश्त्व (८।४।५३ से) ग् होकर अधुग्ध्वम् बन गया ॥ गोधुक् की सिद्धि परि० ३।२।६१ में देखें ॥

—:०:—

अजर्घाः

गृधु	भूवादयो,० धातोरेकाचो हलादेः० (३।१।२२)
गृध् यङ्	परि० (२।४।७४) के समान यहां यङ्लुक् एवं द्वित्वादि
गृध् गृध्=गृ गृध्	होकर उरत् (७।४।६६), कुहोश्चुः (७।४।६२),
जर् गृध्	हलादिः शेषः (७।४।६०), रुग्रिकौ च लुकि (७।४।९१)
	से रुक् आगम होकर
ज रुक् गृध्=जर् गृध्	सनाद्यन्ता धातवः (३।१।३२), अनद्यतने लङ् (३।२।१११)
जर्गृध् लङ्	पूर्ववत् लङ् लकार के सब कार्य 'जर्गृध्' धातु से होकर
अट् जर् गृध् शप् सिप्	पुगन्तलघूपधस्य च (७।३।८६) से गृ को गर् गुण

अ जर् गर् घ् स् होकर चर्करीतञ्च (धातुपाठ) से शप् का लुक् होकर, हल्ङ्यादि लोप होकर

अ जर् गर् घ् एकाचो बशो भष् (८।२।३७) से ग् को घ् भष् होकर

अ जर् घर् घ् झलां जशोऽन्ते (८।२।३९) से घ् को द् होकर

अ जर् घर् द् दश्च (८।२।७५) से द् को रु होकर

अ जर् घर् रु = अ जर् घर् र् रो रि (८।३।१४) से पूर्ववाले रेफ का लोप होकर

अजर्घर् ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽण: (६।३।१०९) से दीर्घ हुआ।

अजर्घार् खरवसानयोर्विसर्जनीय: (८।३।१५) लग कर

अजर्घा: बन गया।

गर्धप् — गर्दभ शब्द से पटयति (परि० १।१।५६) के समान सब कार्य होकर गर्दभि धातु बना। उससे आगे क्विप् करके णिलोप होकर गर्दभ् बना। पुन: द् (बश्) को ध् (भष्), तथा भ् को प् चर्त्व होकर गर्धप् बना। आगे अचो रहा० (८।४।४५) से ध् को द्वित्व, एवं एक ध् के परे रहते पूर्व ध् को जश्त्व (८।४।५३) होकर गर्द्धप् बन जायेगा॥ बश् में ब, ग, ड, द चार अक्षर हैं, तथा भष् में भ, घ, ढ, ध चार हैं। सो सर्वत्र ब को भ, ग को घ, तथा द को ध उदाहरणों में हुआ है॥

इति पदवाक्यप्रमाणज्ञै: श्रीपण्डितब्रह्मदत्तजिज्ञासुभि: समारब्धेऽ-
ष्टाध्यायीभाष्ये तदन्तेवासिन्या श्रीप्रज्ञादेव्या कृत:
षष्ठसप्तमाष्टमाध्यायात्मकस् तृतीयो भाग:

पूर्तिमगात्॥

—:०:—

रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा

प्रकाशित और प्रसारित ग्रन्थ

वेद-विषयक ग्रन्थ

१. **ऋग्वेदभाष्य-** प्रथमभाग - यन्त्रस्थ, द्वितीयभाग ८०.००
तृतीय भाग १००.००

२. **ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका**-सं०-यु०मी० १००.००

३. **भूमिकाभास्कर**-स्वा० विद्यानन्द सरस्वती- दो भागों में-
प्रथमभाग २००.००, द्वितीयभाग १५०.००

४. **ऋग्वेदानुक्रमणी**-वेङ्कटमाधवकृत- व्याख्याकार- पं० विजयपाल जी ५०.००

५. **कात्यायनीया ऋक्सर्वानुक्रणी**-षड्गुरुशिष्य विरचित संस्कृत टीका सहित १५०.००

६. **ऋग्वेद की ऋक्संख्या**-यु०मी० ५.००

७. **ऋग्वेदपरिचय**-पं० विश्वनाथ २५.००

८. **यजुर्वेदभाष्य-विवरण**- प्रथमभाग ३००.००
द्वितीयभाग २००.००

९. **माध्यन्दिनपदपाठः** (यजुर्वेद-पदपाठ) १००.००

१०. **तैत्तिरीयसंहिता** (मूल) मन्त्रसूचीसहित १२०.००

११. **तैत्तिरीय-संहिता-पदपाठः** १८०.००

१२. **अथर्ववेदभाष्य**-पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय १-३ काण्ड ७५.००, ४-५ काण्ड ७५.००, ६ काण्ड ७५.००, ७-८ काण्ड ७५.००, ९-१० काण्ड ७५.००,११-१३ काण्ड ७५.००, १४- ७७ काण्ड ७५.००, १८-१९ काण्ड ७५.००, २० काण्ड ७५.००

१३. **अथर्ववेदीय-दन्त्योष्ठ्यविधि** अर्थात् अथर्ववेद का चतुर्थ लक्षण ग्रन्थ-पं० रामगोपाल शास्त्री ५.००

१४. **अथर्ववेदीया बृहत्सर्वानुक्रमणिका**- भूमिका तथा सूचियों सहित-पं० रामगोपाल शास्त्री ६०.००

१६. **गोपथब्राह्मण** (मूल) ८०.००

१७. **वैदिक-निघण्टु-संग्रह**-डॉ० धर्मवीर १००.००

१७. **वैदिक-सिद्धान्त-मीमांसा**-यु०मी०- वेदविषयक संत्रह निर्बन्धों का संग्रह-
प्रथमभाग ७५.०० द्वितीयभाग १००.००

१८. वैदिक-साहित्य-सौदामिनी-	७०.००
१९. वेद-श्रुति-आम्नाय-संज्ञामीमांसा-यु०मी०	५.००
२०. वैदिकछन्दोमीमांसा-यु०मी०	६०.००
२१. वैदिकस्वरमीमांसा-यु०मी०	६०.००
२२. वैदिक वाङ्मय में प्रयुक्त विविध स्वरांकन प्रकार- युधिष्ठिर मीमांसक-	१२.००
२३. वेदों का महत्त्व तथा उनके प्रचार के उपाय- युधिष्ठिर मीमांसक-	१५.००
२४. देवापि और शान्तनु के वैदिक आख्यान का वास्तविक स्वरूप-ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	८.००
२५. वेद और निरुक्त-ब्रह्मदत्त जिज्ञासु	५.००
२६. निरुक्तकार और वेद में इतिहास	५.००
२७. त्वाष्ट्री-सरण्यू के आख्यान का वास्तविक स्वरूप- पं० धर्मदेव निरुक्ताचार्य	५.००
२८. वेद के आख्यानों का यथार्थ स्वरूप- वैद्य रामगोपाल शास्त्री	८.००
२९. वैदिक-जीवन- पं० विश्वनाथ	४०.००
३०. वैदिक-गृहस्थाश्रम- पं० विश्वनाथ	५०.००
३१. वैदिक-पीयूषधारा- श्री देवेन्द्र कपूर	१५.००
३२. क्या वेद में आर्यों और आदिवासियों के युद्धों का वर्णन है ?- पं० रामगोपाल शास्त्री	१५.००
३३. उरु-ज्योतिः-वासुदेवशरण अग्रवाल	२५.००
३४. वेदों की प्रामाणिकता-श्रीनिवास जी	४.००
३५. Anthology of Vedic Hymns- स्वामी भूमानन्द सरस्वती	१००.००

कर्मकाण्ड-विषयक ग्रन्थ

३६. बौधायन-श्रौतसूत्रम्- (दर्शपूर्णमास)	६०.००
३७. बौधायन-श्रौतसूत्रम् (संस्कृत) आधान प्रकरण की व्याख्या एवं पद्धति सहित	६०.००
३८. दर्शपूर्णमास-पद्धति-पं० भीमसेन	३०.००
३९. कात्यायन-गृह्यसूत्रम् (मूल)	अप्राप्य
४०. श्रौतपदार्थनिर्वचनम् (संस्कृत)	५०.००
४१. श्रौतयज्ञ-मीमांसा- (संस्कृत-हिन्दी)	५०.००

४२. **अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त श्रौतयज्ञों का संक्षिप्त परिचय**- ३५.००

४३. **यजुर्वेद का स्वाध्याय तथा पशुयज्ञ समीक्षा** २०.००

४४. **शतपथ ब्राह्मणस्थ अग्निचयनसमीक्षा**- पं० विश्वनाथ वेदोपाध्याय ६०.००

४५. **संस्कार-विधि**-ऋषि दयानन्द कृत २०.००

४६. **संस्कार-भास्कर**- स्वामी विद्यानन्द सरस्वती कृतसंस्कार-विधि की व्याख्या १५०.००

४७. **संस्कार-विधि-मण्डनम्**-पं० रामगोपाल- १५.००

४८. **वेदोक्त-संस्कारप्रकाश**-पं० बाला जी विट्ठल गावस्कर कृत मराठी का हिन्दी अनुवाद ३०.००

४९. **वैदिक-नित्यकर्मविधि**-(पञ्च महायज्ञविधि के मन्त्रों की पदार्थ व भावार्थ सहित व्याख्या) २०.००

५०. **वैदिक-नित्यकर्मविधि**-ऋ०द०कृत ३.००

५१. **पञ्चमहायज्ञविधि**-ऋ०द०कृत १५.००

५२. **सन्ध्योपासन-अग्निहोत्रविधि**-(हिन्दी-अंग्रेजी व्याख्यासहित) डॉ० विजयपाल १५.००

५३. **वैदिकयज्ञों का स्वरूप**- डॉ० कृष्णलाल १०.००

५४. **वर्णोच्चारण-शिक्षा**- ऋषि दयानन्द ३.००

५५. **शिक्षासूत्राणि-आपिशल-पाणिनीय-चान्द्र** १०.००

५९. **निघण्टु-निर्वचनम्**- देवराजयज्वाकृत १५०.००

६०. **निरुक्त-श्लोकवार्त्तिकम्**- नीलकण्ठ १५०.००

६१. **निरुक्त-समुच्चय**- वररुचिकृत ३०.००

६२. **अष्टाधयायीसूत्रपाठः** १२.००

६३. **अष्टाधयायीभाष्य**- (संस्कृत-हिन्दी) प्रथमभाग १४०.०० द्वितीयभाग ८०.००, तृतीयभाग १००.००

६४. **माधवीया-धातुवृत्ति**-आचार्य सायण रचित धातुपाठ की प्रामाणिक व्याख्या- सं०- विजयपाल विद्यावारिधि यन्त्रस्थ

६५. **पारिभाषिकः**-व्याख्याकार-आचार्य प्रद्युम्न। व्याकरण की परिभाषाओं की प्रामाणिक व्याख्या- ६०.००

६६. **काशिका**-वामनजयादित्य- ५००.००

६७. **भागवृत्तिंकसलनम्**- अष्टाधयायीवृत्ति २०.००

६८. **महाभाष्य**-यु०मी० कृत हिन्दीव्याख्यासहित प्रथमभाग(१) ६५.००
(२) ६०.००, द्वितीयभाग ८०.००, तृतीयभाग ८०.००

६९. **माहेश्वरव्याकरणम्**- जगदीशाचार्य ३०.००

७०. **काशिका-महापरिस्कार**- प्रथमभाग ७०.००

७१. **धातुपाठः** (धातुसूचीसहित) १०.००

७२. **क्षीरतरंगिणी** (धातुपाठ-व्याख्या) ८०.००

७३. **धातुप्रदीप-धातुपाठवृत्ति**- मैत्रेयरक्षित ६०.००

७४. **संस्कृत-धातु-कोष**-यु०मी० ३०.००

७५. **संस्कृतपठन-पाठन की अनुभूत सरलतम विधि** - प्रथमभाग ३५.००
द्वितीयभाग ५०.००
प्रथमभाग का अंग्रेजी अनुवाद ८०.००

७६. **उणादिकोष**-ऋषि दयानन्द ४०.००

७७. **दशपाद्युणादिवृत्ति-संग्रह**-प्रथमभाग (माणिक्यदेव विरचित अति प्राचीन वृत्ति, अनेक परिशिष्टों के साथ) सं०- यु०मी०, चन्द्रदत्त शर्मा ६०.००
द्वितीय भाग में तीन प्राचीन वृत्तियों का संग्रह ६०.००

७८. **गणरत्नावली**- भट्टयज्ञेश्वरकृत पाणिनीय गणपाठ की व्याख्या। सं०- चन्द्रदत्त शर्मा ७५.००

७९. **वामनीयं लिङ्गानुशासनम्** १५.००

८०. **दैवं पुरुषकार-वार्त्तिकोपेतम्** १५.००

८१. **अष्टाध्यायीशुक्लयजुःप्रातिशाख्ययोर्मतविमर्शः**- डॉ० विजयपाल विद्यावारिधि ५१.००

८२. **शब्दरूपावली**-बिना रटे स्मरण करने योग्य ८.००

८३. **पिंगलनागछन्दोविचितिभाष्यम्**-यादव प्रकाश विरचित ५०.००

८४. **प्रश्नोत्तर-मञ्जरी** ३०.००

अध्यात्म-विषयक ग्रन्थ

८५. **ईश-केन-कठ-उपनिषद्** हिन्दी-अंग्रेजी- पं० राम गोपाल वैद्य।
क्रमशः- ३.००, ३.००, ६.००

८६. **गीताभाष्यम्**- तुलसीराम स्वामी २५.००

८७. **तत्त्वमसि**-स्वा० विद्यानन्द सरस्वती-द्वैत-अद्वैत-दत्रैतवाद विषयक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ १००.००

८८. **प्रपञ्च-हृदयम् तथा प्रस्थान-भेदः**- (संस्कृत) प्रथम अज्ञातकर्तृक

(इसमें वैदिक वाङ्मय के अनेक अनुल्लिखित ग्रन्थों का वर्णन है।)
मधु सूदन सरस्वतीकृत द्वितीय ग्रन्थ में दार्शनिक मतों का वर्णन है। १५.००
८९. **ध्यानयोग-प्रकाश**– स्वा॰ लक्ष्मणानन्द ३०.००
९०. **पुरुषार्थप्रकाश**– स्वा॰ विश्वेश्वरानन्द, ब्र॰ नित्यानन्द ४०.००
९१. **अनासक्तियोग-मोक्ष की पगदण्डी** ६०.००
९२. **आर्याभिविनय**– ऋषि दयानन्द १०.००
Aryabhivinaya English Trananslation & notes—
स्वा॰ भूमानन्द १०.००
९३. **विष्णुसहस्त्रनामस्तोत्रम्**– चारों भाग ३००.००
९४. **गीता सुमन**– पं॰ रामगोपाल शास्त्री ८.००
९५. **अगम्य पन्थ के यात्री को आत्मदर्शन** १५.००
९६. **आत्मा की जीवनगाथा**– कर्मनारायण कपूर ८.००
९७. **मानवता की ओर**– शान्ति स्वरूप कपूर ८.००
९८. **विचार-सौरभ**– श्रीमती शन्नो भाटिया– प्रथमभाग १५.००
द्वितीयभाग १५.००
९९. **ज्ञान-गंगा**– श्रीमती शन्नो भाटिया १५.००
१००. **आनन्दमय पथ की ओर**– शन्नो भाटिया ३०.००
१०१. **दिव्य जीवन की राह पर**– सत्या पथरिया ४०.००

नीतिशास्त्र–इतिहास विषयक ग्रन्थ

१०२. **वाल्मीकि-रामायण**– (हिन्दी अनुवाद सहित) बाल काण्ड ५०.००
अयोधयाकाण्ड ९०.००, अरण्य-किष्किन्धाकाण्ड ११०.००
सुन्दरकाण्ड ५०.००, युद्धकाण्ड ५९.००
१०३. **शुक्रनीतिसार**– स्वा॰ जगदीश्वरानन्द १००.००
१०४. **विदुरनीति**– यु॰मी॰कृत व्याख्या ८०.००
१०५. **सत्याग्रहनीतिकाव्यम्**– (भाषानुवादसहित) ३०.००
१०६. **ऋ॰ द॰ के ग्रन्थों का इतिहास**– यु॰मी॰ ६०.००
१०७. **सत्यार्थ प्रकाश**– दो परिशिष्ट, पच्चीसों टिप्पणियों सहित
(२०×३०/१६ पेजी) ८०.००
१०८. **संस्कृत व्याकरणशास्त्र का इतिहास**– प्रथमभाग २००.००
द्वितीयभाग २००.००
१०९. **विरजानन्द-प्रकाश**– भीमसेन शास्त्री ८.००

११०. ऋषि दयानन्द सरस्वती का स्वलिखित तथा
स्वकथित आत्मचरित- सं॰- पं॰ भगवद्दत्त ३.००

दर्शन-आयुर्वेद विषयक ग्रन्थ

१११. मीमांसाशाबरभाष्यम्-(मूल-संस्कृत) प्रथमभाग (३ अध्याय) ६०.००
११२. मीमांसाशाबरभाष्यम्- यु॰मी॰कृत (हिन्दी-व्याख्यासहित)
भाग १-७, प्रतिभाग ७५.००
११३. चिकित्सा-आलोक- कृष्णदेव चैतन्य १००.००
११४. नाडीतत्त्वदर्शनम् - सत्यदेव वासिष्ठ १००.००
११५. षट्कर्मशास्त्रम् - जगदीशाचार्य १५.००
११६. स्वास्थ्य के मूलभूतसिद्धान्त- स्वा॰ वेदानन्द ४०.००
११७. मनुष्यमात्र का परममित्र स्वायम्भुव मनु-
पं॰ भगवद्दत्त रिसर्चस्कालर ५.००
११८. आहार-दर्पण-पं॰ रामगोपाल वैद्य ३.००
११९. सिद्धान्त शतकम्- जयदत्त शास्त्री १५.००
१२०. ऋ॰ द॰ के पत्र-विज्ञापन (चारभाग) १६०.००
१२१. भागवतखण्डनम्- (भाषार्थसहित) ८.००
१२२. सन्ध्या से समाधि- स्वामी वेदानन्द १००.००
१२३. जगद्गुरु दयानन्द का संसार पर जादू- ५.००
१२४. व्यवहारभानु - ऋषि दयानन्द ५.००
१२५. आर्योद्देश्यरत्नमाला- ऋषि दयानन्द १.५०
१२६. कन्योपनयनविधि-पं॰ महाराणी शंकर ६.००
१२७. ऋ॰द॰ और आ॰स॰ से सम्बद्ध अभिलेख १५.००
१२८. मेरी दृष्टि में ऋ॰द॰ और उनके कार्य- यु॰मी॰- १००.००
१२९. अथ शास्त्रार्थ और सद्धर्मविचार ३.००
१३०. पं॰ ब्रह्मदत्त जिज्ञासु-जन्मशताब्दी-स्मारिका १००.००
१३१. जिज्ञासु-रचना-मञ्जरी- प्रथमभाग ८०.००, द्वितीयभाग १००.००
१३२. आ॰स॰ के दिग्गज विद्वानों का शास्त्रार्थ २५.००

पुस्तक-प्राप्ति-स्थान-

१. रामलाल कपूर ट्रस्ट, ग्राम रेवली, पो॰ शाहपुरतुर्क, जि॰ सोनीपत-१३१००१(हरियाणा)। २. रामलाल कपूर एण्ड संस, पेपर मर्चेन्ट्स, २५९६, नई सड़क, दिल्ली। ३. गोविन्दराम हासानन्द, नई सड़क, दिल्ली-

पुस्तक सूची

यजुर्वेद भाष्य I भाग -	200/- II भाग-100/-
भूमिका भास्कर I भाग -	200/- II भाग-150/-
वेदों का महत्व तथा उनके प्रचार के उपाय -	25/-
क्या वेद में आर्यों व आदिवासियों के युद्धो -	15/-
वैदिक पीयूषधारा	20/- 15/-
क्या वेद में आर्यों व आदिवासियों के युद्धो -	15/-
संस्कार विधि	20/-
अग्निहोत्र से लेकर अश्वमेधपर्यन्त -	30/-
काशिका -	500/-
निघण्टु निर्वचनम् -	150/-
निरूक्त श्लोक वार्तिक -	150/-
निरूक्त समुच्चय -	30/-
अष्टाध्यायी मूल -	10/-
क्षीरतरङ्गिणी -	80/-
धातुप्रदीप -	60/-
सरलतम विधि -	I 30/- II 50/-
महाभाष्य I भाग	I खण्ड - 65/- II खण्ड - 60/-
	II भाग- 75/- III - 75/-
उणादिकोष -	25/-
गणरत्नावली -	75/-
संस्कृतधातुकोष -	20/-
पिङ्गलनाग-छन्दोविचिति -	50/-
तत्त्वमसि -	100/-
ध्यान योग प्रकाश -	30/-
अनासक्ति योग मोक्ष की पगडण्डी -	40/-
विष्णु सहस्रनाम चारों भाग -	200/- प्रत्येक 50/-
शुक्रनीति सार -	100/-
विदुर नीति -	80/-
ऋ. द. के ग्रन्थों का इतिहास -	40/-
आत्म परिचय -	100/-
नाड़ी तत्त्व दर्शनम् -	60/-
सत्यार्थ भास्कर - I भाग	400/- II भाग-300/-